श्रीकृष्णाय नमः

श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्



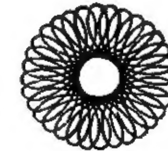
शुद्धाद्वैतब्रह्मवादनिर्गुणभक्तिमार्गप्रवर्तकाचार्य-चक्रचूडामणिश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रणीतम्



दशदिगन्तविजयिश्रीमद्गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीत-
भाष्यप्रकाशसंपूर्णवेत्तृश्रीमद्गोस्वामिश्रीगोपेश्वर-
जिच्चरणप्रणीतभाष्यप्रकाशरश्मिपरिबृंहितम्



प्रथमो भागः



प्रकाशक :

श्रीनाथद्वारा टेंपलबोर्ड
नाथद्वारा, राजस्थान

प्रथम संस्करण : वि. सं. १९९२-९३
द्वितीय संस्करण : वि. सं. २०३८
प्रति : १५००

मूल्य : रु. ४६

मुद्रक .

वी. वरदराजन
एसोसिएटेड एडवटाइजर्स एंड प्रिंटर्स
५०५ तारदेव, आर्थर रोड,
बम्बई, ४०० ०३४.

शुद्धाद्वैतवाद तथा अणुभाष्य की प्रस्तावना

सोऽबिभेद् तस्मादेकाकी बिभेति !
सहायमीक्षांचक्रे यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमीति ।
ततएवास्य भयं वीयाय ।
कस्माद् हि अभेष्यत् ? द्वितीयाद् वै भयं भवति !
सवै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते !
स द्वितीयमैच्छत् स हैतावानास ।
यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ स इममेवात्मानं
द्वेधापातयत् । ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम् ।

(बृहदारण्यकोपनिषद्)

[अपनी एकाकितामें उसे भयकी अनुभूति हुई थी, अतएव आज भी एकाकी व्यक्ति भयभीत हो जाता है! तब उसने यह सोचा कि जब मेरे अलावा दूसरा कोई है ही नहीं तो डरनेकी बात ही क्या है। ऐसा सोचनेमात्रसे उसका भय निवृत्त हो गया। आखिर कोई क्यों डरता है? भय तो सर्वदा किसी दूसरेके कारण ही होता है! अपने अकेलेपनमें, किन्तु, उसका मन रमा नहीं, अतएव आज भी किसी एकाकी व्यक्तिका मन लगता नहीं है। उसे अपने अलावा किसी दूसरेकी कामना हुई। तब यह जो कुछ है वह सब वही बन गया! अपने एकाकिपनको दूर करनेके लिये जैसे स्त्रीपुरुष एक–दूसरेके समीप जाते हैं, वैसे ही उसने भी अपने एकाकिपनको दूर करनेके लिये स्वयम्‌को दो भागोंमें बांट लिया! तबसे एक भाग पति और दूसरा भाग पत्नी बन गया!]

एकाकिता या अद्वैत में अरति; और सद्वितीयता या द्वैत में भीति, के विरोधाभासवाली मनोवृत्ति सभी प्राणियोंके भीतर सर्वत्र सर्वदा पायी जाती है।

जड–चेतन चेतन–चेतन जगत–जगदीश माया–ब्रह्म अथवा शैतान–परमेश्वर आदि विभिन्न रूपोंमें, जब हमारी बुद्धि किसी तरहका द्वैत खड़ा कर देती है, तब वह स्वयम् हमारे ही लिये भयकी सामग्री एकत्रित कर देती है। भेद या भिन्नता के उपर, अतिवादी दृष्टिकोणवश, जितना भार दिया जाता है उतना ही, भय अपराध हीनभाव कुण्ठा विद्वेष विद्रोह संघर्ष जय–पराजय और परिणामतः शोक–मोह आदिके मनोभाव हमारी हमारी चेतना में घर बना लेते है।

दूसरे छोरपर, किन्तु, केवल अद्वैत भी हमारे हृदय बुद्धि एवं वाह्य–व्यवहारों की मांगोंको सन्तुष्ट नहीं कर पाता है।

अतएव किसी न किसी तरहके विशेषणोंको जोड़ कर द्वैतको शुष्क नीरस अद्वैतमें कोई न कोई स्थान देना ही पड़ता है। स्वाभाविकद्वैत औपाधिक–द्वैत स्वगत–द्वैत सजातीय–द्वैत विजातीय–द्वैत मायिक–द्वैत व्यावहारिक–द्वैत या प्रतिभासिक–द्वैत इत्यादि। इसे हमारी 'मानसिक नियति' कहें या जगत के 'तात्त्विक स्वरूपकी नियति' कहें कोई अन्तर नहीं पड़ता। तथ्य यही है कि द्वैतकी पूर्ण अस्वीकृति मूलतया अशक्य है। क्योंकि जगत्के प्रकट होनेमें अर्थात् मूलरूपमें ही द्वैतकामनाकी पूर्तिका प्रयोजन निहित है। अतएव सचाईसे आज तक कोई भी दार्शनिक केवल अद्वैतकी बात कर नहीं पाया है।

शून्याद्वैतकी चरम स्वीकृतिमें भी करुणाको अप्रासंगिक न माना जा सका। करुणास्पद और करुणाशील के द्वैतको अनमने मानना ही पड़ा! निर्विशेषाद्वैतमें भी उपासनार्थ कल्पित द्वैतकी मिथ्या चाटुकारिता करनी ही पड़ती है!! क्योंकि 'अद्वैत' पदके गर्भमें ही द्वैतका वास है!!!

पद 'अद्वैत' किन्तु अर्थमें द्वैत!

'अद्वैत' पदके घटक निषेधार्थक अकारके स्वयम् अनेक अर्थ सम्भव है। जैसा कि कहा जाता है :

तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥

अर्थात् निषेधार्थक 'नञ' के छह अर्थ सम्भव है :

(१) **सादृश्य** यथा गधेके जैसे घोड़ेको 'अनश्व' कहा जा सकता है।

(२) **अभाव** यथा आदरके अभावको 'अनादर' कहा जाता है।

(३) **अन्यता** यथा मनुष्यसे भिन्न किसी भी प्राणीको 'अमनुष्य' कहा जाता है।

(४) **अल्पता** यथा पतली कमरवाली किसी सुन्दर युवतीको कविजन 'अनुदरा सुन्दरी' कह देते हैं।

(५) **अप्राशस्त्य** यथा दुश्चरित्र होनेके कारण अप्रशंसनीय ब्राह्मणको 'अब्राह्मण' कहा जाता है।

(६) **विरोधिता** यथा सुर–देवताओंके विरोधी होनेके कारण दैत्य को 'असुर' कहा जाता है।

इस तरह 'अद्वैत' पदके ही छह अर्थ तो केवल निषेधार्थक नञके कारण ही उठ खड़े होते है। और फिर निषेध्य 'द्वैत' पदके भी तो अनेक अर्थ सम्भव हैं।

वैसे तो "द्विधा इतं–ज्ञातं द्वीतं, द्वीतस्य भावो द्वैतम्" व्युत्पत्तिके अनुसार तो "द्वित्वप्रकारक ज्ञान विषयता" के रूपमे एक सामान्य लक्षण हमें द्वैतका मिल जाता है। और वह यह कि "एक यह वस्तु और दूसरी वह वस्तु" ऐसी बुद्धि या अनुभूति का विषय होना ही द्वैत है। परन्तु यह द्वैत कभी भावात्मक हो सकता है तो कभी अभावात्मक भी।

उदाहरणतया, नैयायिकोंके मतमें, द्रव्य आश्रयरूप भाव–पदार्थ माना जाता है; और गुण कर्म सामान्य विशेष तथा समवाय, द्रव्यमें आश्रित होकर रहनेवाले भाव पदार्थ हैं। और इस रूपमें दोनोंके बीच द्वैत सिद्ध हो जाता है। भाव-पदार्थके अन्तर्गत भी केवल गुणोंपर दृष्टिपात करते हैं तो कुछ गुण सर्वथा ऐसे हैं कि जो द्वैतबुद्धिके विषय बने बिना अवगत ही नहीं हो सकते। यथा संख्या पृथकत्व संयोग विभाग परत्व अपरत्व आदि गुण द्वैतका अवगाहन न करनेवाली बुद्धिके विषय बन ही नहीं सकते। इसी तरह कर्म सामान्य विशेष समवाय रूप भावपदार्थ भी द्वैतका अवगाहन न करनेवाली बुद्धिके विषय नहीं बन पाते। क्योंकि सामान्य जैसा यदि कुछ होता है तो किन्ही दो के बीचमें ही। इसी तरह विशेष भी, क्योंकि उसकी तो कल्पना ही, विभिन्न परमाणुओंके बारेमें पैदा होती द्वैतबुद्धिको आधार प्रदान करनेके लिये की गयी है। समवाय–रूप भाव–पदार्थकी भी यही गति है। क्योंकि कौन एक किस दूसरेमें, समवाय सम्बन्धसे स्थित है, इस तरहके द्वैतके अवगाहन किये बिना, समवाय–रूप भाव–पदार्थका स्वरूप ही समझा नहीं जा सकता। देश में कालमें और वस्तुके अपने स्वरूपमें, ये तीन तरहकी परिच्छिनता वस्तु में अनुभूत होती हैं 'कोई वस्तु वहां होनेपर भी यहां नहीं है' ऐसा देशिक परिच्छेद अत्यन्ताभावका बोध प्रकट करता है। कालिक परिच्छेद यह कि कोई वस्तु उत्पत्तिके बाद विद्यमान हो सकती है परन्तु उत्पत्तिसे पूर्व कालमें या नाशके उत्तर कालमें उसे विद्यमान नहीं माना जा सकता। ये कालिक परिच्छेद प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव का बोध प्रकट करते हैं। एक वस्तुका जो स्वरूप अपने आपमें होता है वह दूसरी वस्तुका नहीं अनुभूत होता, अतः दोनो के बीच तादात्म्याभाव अनुभूत होता है। इस तरह देशकृत कालकृत एवम् स्वरूपकृत परिच्छेदोंके वश जो अभावपदार्थके बारेमें ज्ञान होता है, वह भी द्वैतावगाहिनी बुद्धिमें ही प्रकट होता है। नैयायिकोंको अभिमत सातों पदार्थो के बारेमें जो ज्ञान होता है, वह द्वैतमूलक है। अतः द्वैतका भान भी इन भाव और अभाव उभयविध पदार्थोंके बारेमें होता है।

यद्यपि य सात पदार्थ सभी दार्शनिकोंको मान्य है ऐसा तो नहीं है। फिर भी इन्हें वास्तविक या बाह्य पदार्थ न भी माना जाये और केवल पदोंकी सप्तविध विवक्षा मानी जाये। अर्थात् 'पृथ्वी' 'जल' 'तेज' 'वायु' 'आकाश' 'काल' 'दिशा' 'आत्मा' या 'मन' जैसे पदोंके प्रयोगमें हमारी विवक्षामें द्रव्य होता है। 'रूप', 'रस', 'गन्ध' आदि पदोंके प्रयोगके समय हमारी विवक्षामें गुण होता हैं। 'भ्रमण', 'रेचन' आदि पदोंके प्रयोग करते समय हमारी विवक्षा कर्मके बारेमें होती है। 'सत्ता', 'मनुष्यता' या 'ब्राह्मणत्व' आदि पदोंके प्रयोग करते समय हमारी विवक्षा सामान्यके बारेमें होती है। इसी तरह विशेष समवाय एवम् अभावों को भी बाह्य एवम् वास्तविक न माना जाये। यों सप्तविध पदोंके प्रयोगद्वारा प्रकट होती हमारी सप्तविध केवल विवक्षा भी इन्हे मान लें, तो भी किसी दार्शनिककी विवक्षामें एकाद पदार्थ या तो अधिक होगा या न्यून होगा, एतावता द्वैत, भावपदार्थ द्रव्य–गुणादि जैसे और अभाव-पदार्थ अत्यन्ताभाव–तादात्म्यभावादि जैसे दोनोंके ज्ञानमें भासित होता है, इस तथ्यका अस्वीकार शक्य नही।

कुल मिला कर बात इतनी ही है कि 'अद्वैत' पदमें अकारद्वारा निषेध्य द्वैतके भी अनेक प्रकार हो सकते हैं।

इस अर्थजटिलताको लक्ष्यमें रखे बिना जो लोग, 'द्वैत' या 'अद्वैत' पद को सुनते ही सोत्साह उछलने लगते है, उनकी वैसी उछलकूदके कारण, 'द्वैत' या 'अद्वैत' पदोंके ऐसे सूक्ष्म तथा जटिल अर्थोंके चिन्तनका अवकाश उन्हें नहीं मिलता!

'अद्वैत' पदमें ही निहित इस अर्थद्वैतके कारण, 'द्वैत' या 'अद्वैत' पदोंका जो भी अर्थ हमें रुचता हो लिया जा सकता है, अपनी-अपनी विवक्षाके अनुरूप फिरभी वास्तविकता तो यही है कि हमारी चेतनामें एक निगूढ़ भावना छिपी हुई हैं कि जिसके कारण न हमें केवल द्वैत चाहिये और न केवल अद्वैत ही। हमें हैं आवश्यकता निर्भयताकी जो सम्भवतया केवल अद्वैतमें मिल पाती होगी... परन्तु साथ ही साथ हमें हैं आवश्यकता रमणकी भी जो केवल अद्वैतमें कभी

सम्भव नहीं : **तस्मादेकाकी न रमते.** केवलाद्वैत कदाचित निर्भयता प्रदान कर सकता हैं पर वह नीरस निर्भयता हैं। केवल–द्वैतमें रमण सम्भव है परन्तु वह भयमिश्रित ही रहेगा : **द्वितीयाद् वै भयं भवति।** अतः निर्भय–रमणकी हमारी मूल एवम् शाश्वत आकांक्षाकी तुष्टि न तो केवल द्वैतमें सम्भव है और न केवलाद्वैतमें ही।

भौतिकवादी इस भौतिक जगतमें निर्भयरमण चाहता है। अध्यात्मवादी अपनी आध्यात्मिकतामें निर्भय–रमण चाहता है। अधिदेववादी अपने अधिदेव के साथ कर्म–ज्ञान–भक्ति–प्रपत्तिमय आधिदैविक सम्बन्धोमें अथवा आधिदैविक लोकोंमें भी निर्भय–रमण चाहता है। पर केवलद्वैत या केवलाद्वैत हमारे भीतर भरी हुई इस भीति एवम् अरति की परस्पर उलझी हुई समस्याको सुलझा नहीं पाते हैं।

महाप्रभु श्री वल्लभाचार्यका दार्शनिक उद्देश्य

आधिभौतिक आध्यात्मिक तथा आधिदैविक तीनों ही आयामोंमें इन्हीं भीति और अरति की विडम्बनासे हमारी चेतनाको मुक्ति दिलाना यह महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके शुद्धाद्वैतवादका परम एवम् चरम लक्ष्य है।

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य (वि० सं० १५३५–१५८७) ने, अतएव शुद्धाद्वैतबोधके उपदेशार्थ, भक्तकवि सूरदासके आत्मग्लानि–बोधक पदोंको सुन कर कहा था : **सूर ह्वेके काहे घिघियात है कछू भगवल्लीला गा !**

जीव और परमेश्वर के बीच भेदकी दीवार खड़ी की जानेपर, उस ओर सर्वज्ञ सर्वव्यापी सर्वसमर्थ सर्वशुभ परमेश्वरकी जो भी गति होती हो, हो जाये, कोई चिन्ताकी बात नहीं है! परन्तु भेदकी दीवारके इस ओर देश–कालकी सीमामें घिरी हुई, असमर्थ तथा पाप-पुण्य सुख-दुःख शोक-मोह आदि द्वन्द्वोंके भारसे बोझिल बिचारी जीवात्मा घिघिया जाती है। हां, वह निःसन्देह घिघिया जाती है ऐसे परमेश्वरके सामने चाहे उस परमेश्वरके परमानन्दरूप तथा परम दयालु होनेका आश्वासन ऐसी जीवात्माको कितना भी क्यों न दिया जाये!

इस घिघिया जानेकी बीमारीकी चिकित्सा केवल अद्वैतके उपदेशसे शक्य नहीं। केवलाद्वैतके तमाम बौद्धिक आश्वासनोंके बावजूद द्वैतका तथाकथित घोर ताण्डव व्यवहारमें कभी रुक नहीं पाता है। इस द्वैतताण्डव के दृश्यपर पटाक्षेप बननेमें अपनी विफलताको स्वीकारनेके बजाय, आवरणनिवृत्तिके बाद भी कभी द्वैतविक्षेपकी अनुवृत्ति तो कभी उपासनार्थ कल्पित द्वैतकी आहार्य वृत्तिके बहाने खोज कर, अन्तमें केवलाद्वैतोपदेशको सन्तुष्ट हो जाना पड़ता है। वैसे मान भी लिया जाये कि विदेहमुक्तिमें कभी द्वैतताण्डव स्थगित हो जायेगा, तोभी इस स्थगनवश उभरी नीरसताका समाधान साधकको ऐसे आश्वासनोंद्वारा देनेको बाधित होना पड़ता है कि–

अद्वैतं न सदेहोस्ति विदेहे द्वैतमस्ति नो।
जीवन्मुक्तस्य नान्यस्य द्वैताद्वैतमहोत्सवः॥

सबसे विचित्र तथ्य इस आश्वासनमें यह है कि यह द्वैताद्वैतमहोत्सव या तो जीवन्मुक्तके ही सौभाग्यकी बात है, अर्थात् परमेश्वरके भी सौभाग्यकी नहीं! क्योंकि आवरणरूप अज्ञानके निवृत्त होनेके बाद भी जीवन्मुक्तमें विक्षेपरूप द्वैत अनुवृत्त रहता है, कर्मवश। परमेश्वर, परन्तु, या तो कर्मबद्ध न होनेके दुर्भाग्यवश अथवा आवरणहित विक्षेपके अभिशापवश द्वैताद्वैत महोत्सवसे वंचित ही रहता है। ऐसी स्थितमें न तो परमेश्वरमें किसी तरह की परमता सिद्ध होती है और न ईश्वरता ही। जिस परमेश्वरके अनुग्रहवश साधक द्वैतभीतिसे बाहर निकल सकता है, उस द्वैतको निवृत्त करनेके उपाय परमेश्वरके पास उपलब्ध नहीं है। अतः **"ईश्वरानुग्रहादेषा पुंसामद्वैतवासना महाभयकृतत्राणा द्वित्राणामेव जायते"** फिरभी वह परमेश्वर आत्मानुग्रहमें असमर्थ हैं! फलतः जीवन्मुक्तिके समय साधकको अनुभूत होता द्वैताद्वैत एक महोत्सव होगा। परन्तु परमेश्वर, जो सर्वज्ञ होनेसे निरावरण होता है तथा

सर्वसमर्थ होनेसे जो कर्मबन्धनसे परे होता है, उसके लिये यही द्वैताद्वैत महोत्सव रूप न हो कर महाबन्धनरूप हो जाता है। क्योंकि वह सर्वज्ञ–सर्व समर्थ होनेपर भी निजेच्छासे इसे प्रवृत्त या निवृत्त करनेमें सक्षम नहीं!

दृश्यविहीन द्रष्टाको अपनी एकाकितामें अनुभूत होती अरतिसे जन्य यातना असह्य होती है। यह वृत्ति, जो द्रष्टाको दृष्टिविहीन बननेके लिये उकसाती है ऐसी विरतिवाली आत्मघातकी वृत्तिसे, किस अर्थमें - उचित है? द्रष्टाको निजमें अनुभूत होते शून्याद्वैत और निर्विशेषाद्वैतके बीच अन्तर भी शून्य-वत् है। शून्याद्वैत द्रष्टाको जैसे दृष्टिविहीन हो जानेको उकसाता है, वैसे ही निर्विशेषाद्वैत द्रष्टाको दृश्यविहीन होनेको उकसाता है। द्वैतके भयातिरेकसे पनपी शून्याद्वैतकी तथा निर्विशेषाद्वैतकी वृत्तियोंमें निर्भयताकी खोजमें रमणकी आकांक्षाको सर्वथा भुला दिया गया है! अतः निर्भय-रमणका दृश्य केवलाद्वैतके इन दोनोंमें से एक भी प्रकारमें सम्भव नहीं।

शुद्धब्रह्मवाद

परमकाष्ठापन्न अनुभूति अथवा स्थिति, विदेहमुक्तिमें प्राप्त होती है कि सदेहमुक्तिमें, यह प्रश्न उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि निर्भयरमण कैसे सम्भव है, यह प्रश्न महत्वपूर्ण है।

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार निर्भय-रमण केवल ब्रह्मके समुचित बोधसे सम्पन्न होनेपर ही सम्भव है। जगत्के उत्पत्ति-स्थिति-लयमें कभी निरपेक्षतया तो कभी ब्रह्मसापेक्षतया, कभी उपादानतया तो कभी निमित्त-कारणतया, इस बहु-आयामी ब्रह्मतत्त्वकी तुलनामें नितान्त क्षुद्र तथा एक-आयामी तत्त्वोंकी उत्प्रेक्षाओंपर अवलम्बित होनेवाले, प्रकृतिवाद, परमाणुवाद, मायावाद, अदृष्टवाद, कालवाद या स्वभाववाद, जैसे अनेक वाद जो प्रचलित हुए हैं, वे निर्भय-रमणकी समस्त सम्भावनाओंको निःशेष कर देते हैं। तैत्तिरीयो-

पनिषद् में यह स्पष्टतया कहा गया है:

तदात्मानं स्वयमकुरुत। तस्मात् तत्सुकृतमुच्यत इति। यद्वै तत् सुकृतम्। रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्, एष ह्येवानन्दयाति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते, अथ सोऽभयं गतो भवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति, तत्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य।

अर्थः उसने अपने-आपको सृष्टिके रूपमें घड़ा है। अतएव तो इसे उसका 'सुकृत' कहा जाता है। इस सृष्टिमें सभी कुछ उसका सुकृत है। क्योंकि रस तो वही है। उसी रसका लाभ होनेपर कोई आनन्दी बन सकता है। कौन यहां एक श्वास अन्दर लेने भरको भी जीना चाहता, यदि इस आकाशमें आनन्द भरा हुआ न होता! यही तो सभीको आनन्दित करता है। वस्तुमात्र ब्रह्मकी सत्ता तथा चैतन्य से भासित होते हैं। परन्तु ब्रह्म तो स्वसत्ता–स्वचैतन्यसे ही भासित होता है। अतः इस अर्थमें वह अदृश्य है। सब कुछ ब्रह्मात्मक है तथा ब्रह्मोपादानक है, परन्तु ब्रह्म अतएव अन्यात्मक नहीं, और इस अर्थमें वह अनात्म्य है। वस्तुमात्रकी निरुक्ति ब्रह्मकी सत्ता तथा ब्रह्मद्वारा स्वेच्छा परिगृहीत नाम-रूपोंके भेदवश शक्य होती है। परन्तु ब्रह्मसे इतर कुछ है ही नही, अतः इतरव्यावर्तक असाधारण गुणधर्मके निर्देशके शक्य न होनेसे, ब्रह्म अनिरुक्त है। सभी कुछ ब्रह्ममें आश्रित है परन्तु ब्रह्म किसीमें भी आश्रित न होनेसे अनिलयन है। ऐसे ब्रह्ममें जो अभय प्रतिष्ठा खोज पाता है, वह स्वयम् भी निर्भय बन जाता है। परन्तु जबभी कोई (ब्रह्मेतर प्रकृति परमाणु माया काल कर्म स्वभाव या पुरुष आदिकी कल्पना द्वारा[1]) ब्रह्ममें स्वल्प भी भेद खड़ा करता है तब तो उसे भयभीत होना पड़ता है। विद्वान् होकर भी ब्रह्मको न मानना ही भय है, सबसे बड़ा भय!

अतएव महाप्रभुकी धारणा है कि प्रकृति, परमाणु, माया, काल, कर्म, स्वभाव, पुरुष आदि सभी एक-आयामी तथाकथित कारण उस अनेकायामी ब्रह्म तत्त्व

---

1. कोष्ठकान्तर्गत शब्द लेखकीय हैं.

के ही अनेक रूप हैं। ब्रह्मके अलावा कोई भी तत्त्व जगत्के उत्पत्ति-स्थिति-लयका उपादान-निमित्त-आधार-कर्ता आदि रूप कारण बन नहीं सकता है :

मायिकं सगुणं कार्यं स्वतन्त्रं चेति नैकधा।
तदेवैतत्प्रकारेण भवतीति श्रुतेर्मतम् ।।

सब कुछ ब्रह्म ही है, सब कुछ ब्रह्म ही था और सब कुछ ब्रह्म ही रहेगा, यही ब्रह्मवाद है। और सारी धारणायें यदि वेदान्त दर्शनके रूपमें उपस्थापित की जाती हैं तो वह केवल भ्रान्ति ही है :

आत्मैव तदिदं सर्वं सृज्यते सृजति प्रभुः।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः ।।
'आत्मैव तदिदं सर्वं' 'ब्रह्मैव तदिदं' तथा।
इति श्रुत्यर्थमादाय साध्यं सर्वैर्यथामतिः ।।
अयमेव ब्रह्मवादः शिष्टं मोहाय कल्पते।

इस तरहके ब्रह्मको माया प्रकृति आदिके साचिव्यवश जगतकी उत्पत्ति पालन या संसार में समर्थ मानना ब्रह्मको अशुद्ध बनाने के समान है। अतएव महाप्रभु कहते हैं :

आदौ शुद्धं ब्रह्मैव अस्ति न ततोतिरिक्तं कारणं किञ्चित्, ब्रह्मैव तथा प्रादुर्भूतम् इत्यर्थः

यह शुद्धब्रह्मवाद ही वादमें शुद्धाद्वैतवाद कहलाया। शुद्धाद्वैतमार्तण्डकार गोस्वामी श्रीगिरधरजीने शुद्धाद्वैतकी परिभाषा "माया सम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते" शब्दोंमें दी है। आजकलके सभी ग्रन्थोंमें इस वचनके उद्धृत रहनेसे अधिकांश अध्येताओं एवम् विद्वानों में भी यह भ्रान्ति व्याप्त हो गई है कि 'शुद्धाद्वैत' में 'शुद्ध' पदसे व्यावर्तनीय केवल माया ही है। जबकि महाप्रभुके मतके अनुसार ब्रह्मेतरतया कल्पित सभी कारण व्यावर्तनीय होने चाहिये। परन्तु आधुनिक लेखनमें शुद्धाद्वैतकी व्याख्या देख कर कभी तो ऐसा लगता है कि यदि श्रीशंकराचार्यने मायावादका सिद्धान्त स्थापित

न किया होता तो महाप्रभु अपने सिद्धान्तका कोई स्पष्ट नाम ही निर्धारित नहीं कर पाते! तत्त्वनिर्णयार्थ की जाती चर्चाको न्याय में 'वाद' कहा जाता है। और प्रतिवादीको पराजित करनेके लिये की जाती चर्चाको 'जल्प' कहा जाता है। महाप्रभु अणुभाष्यादि ग्रन्थोंके लेखनमें श्रौतार्थ–निर्णयके लिये प्रवृत्त हुए हैं, न कि श्रीशंकराचार्यको पराजित करने। उनकी वेदान्त-व्याख्या, अतएव, शुद्धाद्वैतवाद है, शुद्धाद्वैतजल्प नहीं! अत श्रीशंकराचार्यने अपना केवलाद्वैतवाद या मायावाद यदि वेदान्त–व्याख्यामें न भी मिलाया होता, तब भी महाप्रभु अपनी विचारधारा या वेदान्त–व्याख्या का 'शुद्धाद्वैतवाद' नामाभिधान कर सकते थे। क्योंकि उन्हें 'शुद्ध' पदसे केवल मायाका व्यावर्तन विवक्षित नहीं है। वे तो स्पष्ट शब्दोंमें उन सभीका व्यावर्तन मानते हैं, जो उनके सामने ब्रह्मसे भिन्नतया कारणत्वेन प्रस्तावित हैं, या भूतकाल में थे अथवा भविष्यत्कालमें प्रस्तावित हो सकते होंगे :

अयं प्रपञ्चो न प्राकृतः नापि परमाणुजन्यः नापि विवर्तात्मा नाप्यदृष्टादिद्वारा जातः नाप्यसतः सत्तारूपः किन्तु भगवत्कार्यः परमकाष्ठापन्नवस्तुकृतिसाध्यः तादृशोपि भगवद्रूपः। (शास्त्रार्थ निबन्ध प्रकाश २३)

अतः महाप्रभुके मतका नामकरण संस्कार यदि शुद्धाद्वैतमार्तण्डकार गोस्वामी श्रीगिरधरजीने ही किया हो, तब भी इस 'शुद्धाद्वैत' पदसे व्यावर्त्य क्या है, इस बारेमें गोस्वामी श्रीगिरधरजीके वचनोंमें भी, महाप्रभुके समग्र सिद्धान्त एवम् वचनों की संगतिके विचारवश, कुछ संशोधन-परिवर्धन तो करना ही पड़ेगा। यद्यपि महाप्रभुने दशम सुबोधिनी (१०-२-३५) में "अज्ञाननाशकं विज्ञानम् आत्मानुभवः, भेदनाशकं तु भगवद्विज्ञानम्। उभयोः साक्षात्कारे देहाद्यध्यासनिवृत्तिः शुद्धाद्वैतं च स्फुरति" कहा है। यह पद-प्रयोग, किन्तु, कितना सामान्य अर्थमें और कितना पारिभाषिक अर्थमें प्रयुक्त हुआ है यह निर्णय कर पाना दुष्कर है। स्वयम् गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमजी सुबोधिनीप्रकाश (२-१-५) में–"एतेन जीवब्रह्मभेदवादो निराकृतः विशिष्टाद्वैतवादश्च। तत्रापि विशेषणत्वेन गौणत्वानपायात् नन्वेवं सति तादात्म्येपि

किञ्चिद् गौणतासत्वात् तमपि वादं विहाय **शुद्धाभेदवाद** एव स्वीकार्य.... तथा च **शुद्धाभेदवादोपि दुष्टः** इति न्यायसामञ्जस्यार्थं तादात्म्यमेव अंगीकृत्य श्रुत्यर्थो निर्णयः" लिखते है। यहां बिलकुल शुद्धाद्वैत अर्थको प्रकट करनेवाला 'शुद्धाभेद' पद शांकर वेदान्तव्याख्याके लिये प्रयुक्त हुआ है, तथा स्वमतके लिए 'तादात्म्यवाद' पद प्रयुक्त हुआ है। निश्चय ही यह श्रीपुरुषोत्तमजी की असावधानी नहीं लगती, परन्तु 'शुद्धाद्वैत' पदका स्वमतके वाचकके रूपमें रुढ़ीका अभाव ही यहां हेतु लगता है।

अतः 'शुद्ध ब्रह्म तादात्म्यवाद' के स्थानपर 'शुद्धाद्वैतवाद' नामको अभिषिक्त करना हो तो, जो कुछ उत्तरदायित्व शुद्धब्रह्मतादात्म्यवाद या ब्रह्मतादात्म्यवाद नाम वहन करते थे, वे सारे उत्तरदायित्व इस 'शुद्धाद्वैतवाद' नाम पर भी आ पड़ेंगे।

यदि शुद्धाद्वैतवाद इस उत्तरदायित्वको वहन करनेसे कतराता है, तो इसे पदभ्रष्ट भी करना पड़ेगा! अतएव हमारा आग्रह है कि "अयं प्रपञ्चो न प्राकृतः नापि परमाणुजन्यः नापि विवर्तात्मा नाप्यदृष्टादिद्वारा जातः नाप्यसतः सत्तारूपः किन्तु भगवत्कार्यः परमकाष्ठापन्न—वस्तुकृतिसाध्यः" अंशद्वारा उपलक्षणविधया जिन-जिन अर्थोंका व्यावर्तन तथा विधान महाप्रभुने किया है वे सभी 'शुद्ध' पदसे भी व्यावृत्त तथा विहित हो रहे हैं ऐसे स्वीकारना पड़ेगा। अतः केवल मायाको व्यावर्तनीय माननेपर शुद्ध पद अपने गुरुतर उत्तरदायित्वसे कतरा रहा होगा। उसी तरह "तादृशोपि भगवद्रूपः" अंशसे जो भगवद्रूपता या ब्रह्मात्मकता निरूपित हो रही है, उसे निरूपित करनेका उत्तरदायित्व 'शुद्धाद्वैत' पदके घटक 'अद्वैत' पदको सोंपना पड़ेगा। तभी 'शुद्धाद्वैत' पद वाल्लभ मतके नामाभिधानके सिंहासनपर आरूढ हो पायेगा!

इस तादात्म्यका स्वरूप 'भेदसहिष्णुरभेदः' कह कर समझाया गया है। एतावता यह सहज सम्भव है कि हम तादात्म्यमें भेद और अभेद का द्वन्द्व स्वीकार लें। परिणामतः शुद्धाद्वैतको भी द्वैताद्वैतवादरूप ही मान लें। जैसा

अणुभाष्यके प्रथम मुद्रित संस्करणके मुखपृष्ठपर सम्पादकने लिख ही दिया था! परन्तु शुद्धाद्वैतवादको द्वैताद्वैतवाद नहीं मानना चाहिये। क्योंकि महाप्रभु सुस्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं: **कार्यकारणयोः भेदाभेदमतनिराकरणाय पिण्डमणिनखनिकृन्तनग्रहणम्** (अणुभाष्य १-४-२३)। वैसे विरुद्धधर्माश्रयतावादी हैं महाप्रभु, फिरभी द्वैताद्वैतका उनका अस्वीकार इस तथ्यको सावधानीसे हमारे दृष्टिपथमें लाना चाहता है कि 'भेदसहिष्णुरभेद' रूप तादात्म्य द्वैताद्वैत नहीं है।

महाप्रभुके मतमें द्वैत एकत्वका अत्यन्ताभाव नहीं और न अद्वैत द्वैतका अत्यन्ताभाव है। क्योंकि कार्यरूप जगत तथा अभिन्ननिमित्तोपादान कारणरूप ब्रह्म के बीच जो द्वित्वसंख्या प्रतीत हो रही है, वह स्वयम् ब्रह्म के बहुभवनसंकल्पसे प्रकट हुई होनेसे वास्तविक है, फिरभी वह एकत्वको निवृत्त नहीं करती। ब्रह्म जगत्का केवल निमित्त कारण होता तो बात दूसरी थी परन्तु वह तो उपादानकारण भी है, अतः जगत्की सत्ताका आश्रय ब्रह्म ही है। ब्रह्मकी ही सत्ता जगत्के नाम-रूपात्मक होनेसे उसमें अनुगत है। अतः कारणत्वरूप धर्म तथा कार्यत्वरूप धर्मका जब बुद्धि इतरेतसापेक्षतया अवगाहन करती है तो द्वित्व प्रतीत होता है। अन्यथा केवल ब्रह्म धर्मिका अवगाहन करनेवाली बुद्धिमें ब्रह्मका एकत्व ही भासित होगा। अतः द्वैतको एकत्वका अत्यन्ताभावरूप नहीं मान लेना चाहिये। और अतएव अद्वैतको द्वित्वका अत्यन्ताभावरूप नहीं मान लेना चाहिये।

एक ही ब्रह्ममें धर्मिदृष्टिसे स्वाभाविक एकत्व या अद्वैत रह सकता है। वह ब्रह्म जब अपने संकल्प तथा सामर्थ्य से द्विधा कार्य-कारणात्मना या जगद्-जगदीशात्मना विभक्त होता है तो उसमें ऐच्छिक द्वित्व भी प्रकट हो सकता है, कार्यत्व-कारणत्व अथवा जगत्त्व-जगदीशत्व रूप धर्मोंकी दृष्टिसे। अतएव इसे द्वैत और अद्वैत न मानकर वस्तुदृष्टिसे अद्वैतमें द्वैतके प्राकटचका सिद्धान्त समझना चाहिये; तथा बोधदृष्टिसे द्वैतमें अद्वैतको अनुभूतिके रूपमें मान्य करना चाहिये।

न द्वैत न अद्वैत और न द्वैताद्वैत ही

शांकर मतमें मिथ्यात्वका निरूपण जैसे "सद्विलक्षणत्वे सति असद्विलक्षणत्वे सति सदसद्विलक्षणत्वम्" किया जा सकता है, वैसे ही वाल्लभ मतमें शुद्धाद्वैतका लक्षण "एकत्वात्यन्ताभावरूप—द्वैतविलक्षणत्वे सति द्वित्वात्यन्ताभावरूप – अद्वैतविलक्षणत्वे सति द्वैताद्वैतविलक्षणत्वम्" अभीष्ट है।

यह भावरूप अद्वैत है, जिसे प्राय: सभी दर्शन तादात्म्यके रूपमें मान्य करते ही हैं, यदि जगत् और ब्रह्म के सन्दर्भमें नहीं तो अन्यान्य सन्दर्भोंमें तो सही। मायावादी दार्शनिक माया तथा मायिक प्रपंच के बीच तादात्म्य न स्वीकारें तो मायाके निवृत्त होनेपर भी मायिक प्रपंच निवृत्त नहीं होगा। इसी तरह नैयायिकोंके मतमें कारण द्रव्य समवेत (कार्यद्रव्य गुण कर्म सामान्य) का अपने समवायी द्रव्यसे जो सम्बन्ध है उसे वे 'समवाय' कहते है, जबकि वाल्लभ वेदान्त उसे 'तादात्म्य' कहता है। विवाद, अत: नाममात्रका है। स्वयम् श्रीशंकराचार्य भी अपने पञ्चीकरणम् नामक ग्रन्थमें इस तादात्म्यको एक निषेध्य कल्पके रूपमें स्थान देते ही हैं: **न भिन्नं नाभिन्नं नापि भिन्नाभिन्नं कुतश्चित्।** अतएव तदनन्यत्वाधिकरणकी भामतीमें वाचस्पति मिश्र भी कहते हैं: **न खलु 'अनन्यत्वम्' इति अभेदं ब्रूमः किन्तु भेदं व्यासेधामः** (भामती २-१-१४)।

श्रीशंकराचार्य तथा वाचस्पति मिश्र जिस अभेदका अस्वीकार कर भेद का केवल निषेध करना चाहते हैं, महाप्रभु उसी अभेदको स्वीकारनेके लिये भेद अभेद तथा भेदाभेद तीनोंको अस्वीकार करते हैं। प्राचीन अनेक वेदान्त ग्रन्थोंमें भेदाभेदके समुच्चयकी, असावधानीवश, अनेकान्तवादके आरोप द्वारा निन्दा की गई है (दृष्टव्य: तत्वमुक्ताकलाप ३-२८ तथा भामती २-१-१४)। परन्तु अनेकान्तवादमें प्रयुक्त किसी भी एकाद कल्पको स्वीकारना यदि अनेकान्तवाद हो तो जगतके सभी मतवाद अनेकान्तवादी सिद्ध होंगे। अन्यथा

न द्वैतवादको न अद्वैतवादको न द्वैताद्वैतवादको और न द्वैताद्वैतवैलक्षण्यवाद को ही अपने-आपमें 'अनेकान्तवाद' कहा जा सकता है ऐसी स्थिति में तादात्म्यवादपर लगाये गये वाचस्पति मिश्रके आरोप भी अविचारितरमणीय ही हैं (दृष्टव्य भामती १-१-४ तथा २-१-१४)।

तथ्य इस सन्दर्भमें यह ज्ञातव्य है कि केवलाद्वैतवादी प्रतियोगी और उसके अत्यन्ताभाव की समानाधिकरणता स्वीकारते हैं अद्वैतसिद्धिमें: **स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्।** अतएव द्वैतके भी मिथ्या होनेके कारण द्वैत और उसका अत्यन्ताभाव भी ब्रह्ममें समानाधिकरणतया सिद्ध होते हैं। इस सन्दर्भमें वाल्लभ दर्शनका यह कहना है कि अत्यन्ताभाव और उसका प्रतियोगी समानाधिकरण बनते हों या नहीं, परन्तु घट और घट-भेद एक भूतलमें समानाधिकरण बन सकते है। जो भूतल घटसे भिन्न है उसी पर घट रखा हुआ हो सकता है। फलत: एक ही भूतलमें घट और घटभेद का सामानाधिकरण्य सिद्ध हो जाता है। इसमें न तो अनेकान्तवादका कोई प्रसंग है और न किसी विरोधाभासका ही। यहां सम्बन्धभेदकी कोई विवक्षा रखता हो कि भेद स्वरूपसम्बन्धसे रहता है और घट संयोग-सम्बन्धसे तो थोडेसे उदाहरणान्तर द्वारा भी इस बातका खुलासा दिया जा सकता है कि कालमें सभी कुछ कालिक सम्बन्धसे रहता है अत: घट और घटभेद भी रहेगा ही। और फिर संयोग भी तो अव्याप्यवृत्ति होता है।

नञ्के जो छह अर्थ दिये थे उनमें भी अन्यता एवम् विरोधिता के उदाहरणों में अमनुष्य प्राणी तथा मनुष्य एक भूतलपर रह सकते हैं। इसी तरह सुर और उनके विरोधी असुर कैलाशमें एकत्रित हो सकते हैं। गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमजीने इसे बहुत सुन्दर शब्दोंमें व्यक्त किया है: **तथा च यथा अमित्रो न मित्रं न मित्राभावः किन्तु मित्रविरुद्धसम्पद् एवमत्राप्येतयोः अभेदो न भेदः न भेदाभावः किन्तु भेदविरुद्धसम्पत्** (भावप्रकाशिका ३-२-२८)। स्पष्ट है कि यह विरुद्धसम्पद् अत्यन्ताभावरूप नहीं है। इस अभेदके नञ्को असुर के नञ्की तरह समझना चाहिये। यही गुणधर्म अमनुष्यके नञ्में भी है।

किन्तु भेदको समझानेके लिये ही पुनः भेदार्थक नञ्का उपयोग करना उतना सुबोध नहीं रहता, अतएव अमनुष्यके उदाहरणको छोड़ दिया गया है।

शुद्धाद्वैतवाद महाप्रभुकी मौलिक सूझ नहीं है

यह शुद्धाद्वैतवाद न तो महाप्रभुका कोई मौलिक चिन्तन है और न ऐसे किसी दावेकी कोई ऐतिहासिक पुष्टि ही सम्भव है। महाप्रभु मौलिक या स्वतन्त्र चिन्तनार्थ अणुभाष्यके लेखनमें प्रवृत्त नहीं हुए हैं। अपितु प्रामाणिक व्याख्या-प्रकटनार्थ ही प्रवृत्त हुए हैं।

भारतवर्षमें महाप्रभुसे पूर्व, और सच कहूं तो श्रीशंकराचार्यसे भी पूर्व अनेक वेदान्ती शुद्धाद्वैतवादी हुए हैं। वैसे नाम्ना 'शुद्धाद्वैतवाद' तो केवलाद्वैत के अर्थमें प्रयुक्त होता था यह अनेक ग्रन्थोंमें मिल जायेगा। यथा "ततो रज्जुसर्पवज्जगज्जीवमिथ्यात्वबोधकं **शुद्धाद्वैतम्** (श्रीकर भाष्य १-१-१०)"। परन्तु यहां 'शुद्धाद्वैत' पद भेदात्यन्ताभावरूप अथवा तदुपलक्षित माना गया है, जबकि वाल्लभ मतमें वह भेदविरुद्धसम्पद्के रूपमें लिया गया है। इस स्पष्टीकरणको लक्ष्यमें रखनेपर ब्रह्मनन्दी भर्तृप्रपञ्च ब्रह्मदत्त प्रभृति शुद्धाद्वैती वेदान्ती अनेक हुए हैं, यह हमने **शुद्धाद्वैतवाद और उसकी रूपरेखा** नामक ग्रन्थमें सिद्ध किया है।

स्वयम् महाप्रभु भी अपने-आपको 'श्रीविष्णुस्वामिमतानुवर्ती' मानते हैं। यह उनके उज्जयिनीके तीर्थपुरोहितको निजहस्ताक्षरोंमें प्रदत्त पत्रके आधार पर अकाट्यतया सिद्ध होता है। महाप्रभुके समकालिक उनके भक्तकवियों के पदसाहित्य, महाप्रभुके उपलब्ध ग्रन्थोंकी पुष्पिका तथा चरित्रग्रन्थों के साक्ष्य द्वारा भी यही सिद्ध होता है। भाग. श्रीधरीमें उपलब्ध होते कुछ वचन जो श्रीविष्णुस्वाम्युक्त माने गये हैं, उनका भी साम्य तो महाप्रभुके सिद्धान्तसे प्रतीत होता ही है।

अतः शुद्धाद्वैतवाद महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यका कोई मौलिक चिन्तन नहीं, किन्तु प्रस्थानचतुष्टयीकी प्राचीन एवम् परम्परा-प्राप्त व्याख्याका पुनःसंकलन एवम् पुनर्लेखन मात्र है।

एतदर्थ शुद्धाद्वैतवादकी कुछ प्राणभूत धारणाओंका तथा उन प्राचीन शुद्धाद्वैतवादियोंके वचनों (जो श्रीशंकराचार्य श्रीरामानुजाचार्य पार्थसारथी श्रीवेदान्तदेशिक प्रभृति प्राचीन विद्वानोंके ग्रन्थोंमें बिखरे पड़े है) का संकलन एवम् तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक है। विस्तारभयसे जिसे हम यहां नहीं दे पा रहे हैं, किन्तु विशेष जिज्ञासामें हमारे उल्लिखित **शुद्धाद्वैतवाद और उसकी रूपरेखा** में उसके मुद्रित होनेपर देखा जा सकेगा।

शुद्धाद्वैतवादकी उन प्राणभूत धारणाओंके विमर्शसे पूर्व महाप्रभुको अभिमत प्रामाण्यवाद सम्बन्धी मान्यताओंका स्पष्टीकरण आवश्यक है।

वाल्लभ दर्शनमें मान्य प्रामाण्य-व्यवस्था

महाप्रभुके लिये शुद्धाद्वैतवाद उनका स्वयम्का चिन्तन न हो कर वेदोपनिषद् गीता ब्रह्मसूत्र तथा भागवत आदि शास्त्रवचनोंकी एकवाक्यता अर्थात् समन्वयसाधिका केवल व्याख्यामात्र है। इस बातको जरा अधिक गम्भीरता से समझनेका प्रयास करना चाहिये।

अणुभाष्यके प्रारम्भमें महाप्रभु कहते हैं: **तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि इति केवलोपनिषद्वेद्यं ब्रह्म न शास्त्रान्तरवेद्यं। तद्यदि मीमांसा स्वतन्त्रा स्यात् तज्जनितं ज्ञानं न ब्रह्मज्ञानं भवेत्.....तत्र प्रतिविधास्यामः वेदार्थब्रह्मणो वेदानुकूलविचार इति। किमत्र युक्तम्। व्याख्यानमिति। व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः** (अणुभाष्य १-१-१)।

अर्थात् जो ब्रह्मजिज्ञासा की जा रही है उसका विषय ब्रह्म उपनिषत्प्रतिपाद्य तत्त्व या पुरुष है। अतः यह ब्रह्मजिज्ञासा यदि उपनिषदादि शास्त्रोंके वचनोंकी प्रामाणिक विवेचना न होकर महर्षि बादरायणकी कोई अपनी कल्पना ही केवल हो तो वह 'ब्रह्मजिज्ञासा' नहीं कहलायेगी। और तब इस मीमांसाके स्वतन्त्र होनेसे तज्जनित ज्ञान भी ब्रह्मज्ञान नहीं रह जायेगा। अतः वेदार्थरूप ब्रह्मके बारेमें जो भी विचार करना हो वह केवल वेदादिशास्त्रोंकी समुचित

व्याख्याके रूपमें ही किया जाना चाहिये। क्योंकि शास्त्रोंके गूढ़ वचनोंका स्वारस्य बिना समुचित व्याख्याके सुबोध नही बनता।

उदाहरणतया शांकर रामानुज या माध्व वेदान्तके प्रतिपाद्य तत्त्वका वास्तविक स्वरूप समझना हो तो, हम अपनी कल्पनापर भरोसा नहीं कर सकते हमें हठात् उनके ग्रन्थ अर्थात् उनके वचनोंपर ही केवल निर्भर होना पड़ेगा। और उनके वचनोंपर सचाईसे निर्भर होनेका मतलब यह होता है कि हम अपनी रुचिसे उन वचनोंको तोड़-मरोड़ कर अर्थ न निकालें। प्रत्युत जो अर्थ सहजतया उनसे निकलता हो तदनुसार पूर्वाग्रहदूषित अपनी धारणाओं को ही तोड़-मरोड़ दें! वेदादि शास्त्रोंके वचनोंकी अपनेको रुचिकर लगते अर्थोंके अनुरूप गौणी या लक्षणा वृत्तिसे व्याख्या करना 'औपनिषद दर्शन' नहीं कहा जा सकता। जैसे शांकर भाष्योंके वचनोंके तोड़-मरोड़ कर कोई उनकी यूरोपीय कल्पनावादी या अज्ञेयवादी दर्शनोंके अनुरूप व्याख्या कर दे, तो वह शांकर दर्शन नहीं रह जायेगा। तुलनात्मक अध्ययन दूसरी बात है। अतएव स्वयमेव श्रीशंकराचार्य भी इसी नीतिको मान्य करते हुए कहते हैं:

(१) **एतदेवानुमानं संसारिव्यतिरिक्तेश्वरास्तित्वादिसाधनं मन्यन्ते ईश्वरकारणिनः। नन्विहापि तदेवोपन्यस्तं जन्मादिसूत्रे। न। वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात्सूत्राणां वेदान्तवाक्यानि सूत्रैरुदाहृत्य विचार्यन्ते। वाक्यार्थविचारणाध्यवसाननिर्वृत्ता हि ब्रह्मावगतिः नानुमानादिप्रमाणान्तरनिर्वृत्ता** (शां भा १-१-२)।

(२) **अपिच क्वचिद् गौणः शब्दो दृष्टः इति नचैतावता शब्दप्रमाणकेर्थे गौणीकल्पना न्याय्या सर्वत्रानाश्वासप्रसंगात्** (शां भा १-१-६)।

वेदान्त-दर्शन वेदादिशास्त्र वचनोंकी प्रामाणिक व्याख्या करनेका प्रयास है। जड़जगत् जीवात्मा परमात्मा या उसकी प्राप्तिके साधन आदिके स्वरूपों के बारेमें स्वतन्त्रतया उत्प्रेक्षा या विचारणा का कोई आयास नहीं है। फिर भी भारतीय दर्शनकी मूलभूत धारणाओंको जाने विना कुछ लोग केवल श्रद्धा

के कारण श्रीशंकराचार्यके मतको गम्भीर चिन्तनमूलक तथा महाप्रभुके मतको अन्धश्रद्धामूलक मानते हैं (द्रष्टव्य श्रीमती मृदुला मारफतिया लिखित 'द फिलोसफी ऑफ वल्लभाचार्य, पृष्ठ १०-११ तथा ४६) वह स्वयम् उनके अज्ञानका ही द्योतन है।

महाप्रभु कहते हैं कि ब्रह्म जगत्का कर्ता है यह—"स आत्मानं स्वयमकुरुत" जैसे श्रुतिवचनोंसे सिद्ध होता है तथा वह कर्ता हो नही सकता ऐसा "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्" जैसे श्रुतिवचनोंके कारण प्रतीत होता है। इस विरोधाभासके उपशमकेलिये दो तरहकी विचारनीति अपनायी जा सकती है। प्रथम तो यह कि शास्त्र, ब्रह्मका निरूपण विरुद्धधर्मोंके आश्रयतया तथा सर्वभवन—समर्थतया करना चाहता है। अतः विरोधिगुणोंसे युक्त ब्रह्मके प्रतिपादनकी इच्छावश वचनोंके विरोधाभासी वचन होनेपर भी संगति बैठ जाती है। द्वितीय यह कि उल्लिखित दो वचनोंमें जिस वचन का अर्थ हमें रुचिकर लगे उसे अधिक प्रमाण मानकर अवशिष्ट वचनका अर्थ लक्षणा या गौणी से किसी तरह तोड़-मरोड़ कर निकाल लिया जाय। इन दोनों प्रकारोंमें प्रथम प्रकार विचारका महर्षि बादरायणको मान्य होनेसे वे कहते हैं: "गौणश्चेन्नात्मशब्दात्" (द्रष्टव्य अणुभाष्य १।१।५)।

वेदान्तवचनोंकी व्याख्या करनेकी यह नीति सभी वेदान्त—सम्प्रदायोंमें सर्वथा-सर्वदा मान्य रही है। महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यको भी यह नीति शिरोधार्य है। अतएव कहते हैं: **वेदप्रामाण्यं तु प्रतितन्त्रसिद्धत्वात् न विचार्यते। तस्माद् ब्रह्म जिज्ञासितव्यमिति सिद्धम्** (अणुभाष्य १-१-१)।

अर्थात् वेदान्तके सभी सम्प्रदायोंमें वेदादि शास्त्रोंका प्रामाण्य यदि मान्य न हो तो वे वेदार्थरूप ब्रह्मकी जिज्ञासामें प्रवृत्त ही न होंगे। अतः विविध वेदान्तसम्प्रदायोंके बीच चलती विचारणामें शास्त्रप्रामाण्य सिद्ध करना अनावश्यक है। अतः ब्रह्मकी जिज्ञासा की जा सकती है।

वेदान्त—विचारकी इस रीति-नीतिके तात्पर्यको भलीभांति समझे बिना वाल्लभ दर्शनपर लेखनी चलानेके उत्साही कुछ वाल्लभ लेखक बहुधा ऐसा भी

विधान कर देते है कि वाल्लभ मतमें केवल शब्दको ही प्रमाण माना गया है प्रत्यक्ष या अनुमान आदिको नहीं। परन्तु प्रत्यक्ष यदि प्रमाण न हो तो वेदके शब्द जो पढ़े या सुने जाते हैं वह प्रत्यक्ष भी प्रमाण नहीं होगा ! तब तो सत्यानाश हो गया ! स्वयम् वेदका प्रामाण्य भी वेदमूलक तो हो नहीं सकता। आत्माश्रय दोषके कारण। अतः प्रत्यक्ष-अनुमान आदि प्रमाणोंकी सहायता तो मांगनी ही पड़ेगी !

इस सन्दर्भमें ज्ञातव्य यही है कि वेदादि शास्त्रवचनोंसे प्रतिपादित अर्थ की सिद्धि या असिद्धि में प्रत्यक्ष-अनुमानको प्रमाण नही माना गया है। एतावता वे प्रमाण ही नहीं ऐसा निरूपण वाल्लभ वेदान्तकी बारीकियोंसे अपरिचयका द्योतन है। अतएव व्यवहारमें श्रुति प्रत्यक्ष ऐतिह्य एवम् अनुमान यों चार ज्ञानसाधनोंको प्रमाण माना गया है। तथा प्रस्थान–चतुष्टयी के वचनोंको स्वतःप्रमाण अर्थात् स्वप्रतिपाद्य विषयके बोधको पैंदा करनेमें प्रत्यक्ष-अनुमानादि प्रमाणोंकी अपेक्षा रखे विना स्वतःसमर्थ होनेके रूपमें मान्य किया गया है। (दृष्टव्य प्रस्थानरत्नाकर प्रमाणपरिच्छेद)।

इस प्रामाण्यमीमांसाके बाद अब हम उन प्राणभूत धारणाओंके विचारार्थ प्रस्तुत होते हैं।

शुद्धाद्वैतवादकी कुछ प्राणभूत धारणायें

वैसे तो वाल्लभ दर्शनमें अनेकानेक सिद्धान्त एवम् वाद ऐसे हैं, जिन्हें 'प्राणभूत धारणायें' कहा जा सकता है। उदाहरणतया श्रीकृष्ण-परब्रह्मत्ववाद कृपामात्र–लभ्यत्ववाद जीवाणुत्ववाद इत्यादि इन वादोंकी महत्ता जरा भी न्यून करते ही वाल्लभ दर्शन निष्प्राण हो जायेगा। फिर भी यहां हम इनकी गणना नहीं करना चाहते हैं। क्योंकि इनकी महत्ता वाल्लभ दर्शनमें है, परन्तु शुद्धाद्वैतवादमें नहीं। वेदान्तका एक वैष्णव सम्प्रदाय होनेके कारण महाप्रभुके चिन्तनमें श्रीकृष्णको परब्रह्म मानना एक प्रमुखतम सिद्धान्त है। परन्तु वेदान्तमें शैव सम्प्रदायी यदि शिवको परमतत्त्व मानते हों तो वह कोई

ऐसा अपराध नहीं है कि वे शिवाद्वैती नहीं हो सकते। काश्मीर शैव दर्शन, हमार हिसाबसे, शुद्धाद्वैतवादी था और इसी तरह कर्नाटकका शैव वेदान्त भी काफी अंशोंमें। अतः समग्र वाल्लभ दर्शन एवम् शुद्धाद्वैतवाद को थोड़ा पृथक्तया देखनेपर ही हमारी बात समझमें आ पायेगी। जैसे श्रीरामानुजाचार्य वैष्णव हैं और श्रीकण्ठ शैव, परन्तु हैं दोनों विशिष्टाद्वैती ही।

यह वाल्लभ मत और शुद्धाद्वैतवाद की पृथक्ता जगत् और ब्रह्म की पृथक्ताकी तरह ऐच्छिक द्वैतरूपा है स्वाभाविक अद्वैत होनेपर भी ! अस्तु।

शुद्धाद्वैतवादके अन्तर्गत महाप्रभु, हमारी समझके अनुसार, कुल नौ वादोंकी विवक्षा रखते हैं।

नामत :–

(१) ब्रह्मवाद (२) विरुद्धधर्माश्रयतावाद (३) अभिन्ननिमित्तोपादान-कारणतावाद (४) सत्कारणतावाद (५) सत्कार्यवाद (६) आविर्भाव-तिरोभाववाद (७) अविकृतस्वरूपपरिणामवाद (८) कार्यकारणतादात्म्यवाद तथा अंशांशितादात्म्यवाद (९) लीलार्थ सृष्टिवाद।

इन वादोंके कारण जो कुछ सिद्ध होता है वही महाप्रभुको शुद्धाद्वैतकी स्थापनाद्वारा सिद्ध करना है। तथा इन नौ वादोंमें जो भी वेदान्ती जितने अधिक वादोंको स्वीकृति प्रदान करता है, वह उतना पक्का शुद्धाद्वैती है। जो जितने कम वादोंको स्वीकृति देता है, उतने अंशमें उस वेदान्तीके शुद्धाद्वैती दृष्टिकोण में कुछ न्यूनता है। जिन प्राचीन वेदान्तिओंको हम शुद्धाद्वैतवादी कह रहे थे उन्हें उस रूपमें पहचाननेका परिचयपत्र भी ये नौ वाद ही हैं। इस एक स्पष्टीकरणके बाद हम इन वादोंका, क्योंकि ये महाप्रभुका स्वतन्त्र चिन्तन नहीं हैं अतः इनके श्रौतसन्दर्भ तथा महाप्रभुके निष्कर्षरूप वचनोंके भी विन्यासपूर्वक विमर्ष करेंगे।

(१) ब्रह्मवाद

श्रौतसन्दर्भ : (क) यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म (तैत्तिरीयोपनिषद् ३।१)।

(ख) सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तैत्तिरीयोपनिषद्२।१) (ग) किंस्विद् वनं क उ स वृक्ष आस, यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षु ? मनीषिणो ! मनसा पृच्छतेदु: तद् यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ? (ऋकसंहिता १०। ८१।४) । ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीद् यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षु ! मनीषिणो ! मनसा विब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन ! (तैं ब्राह्मण २।८।९।१७) (घ) सर्वं खलु इदं ब्रह्म (छान्दोग्योपनिषद् ३।१४।१) ।

निष्कर्ष आत्मैव तदिदं सर्वं सृज्यते सृजति प्रभु:, त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वर:, आत्मैव तदिदं सर्वं ब्रह्मैव तदिदं तथा, इति श्रुत्यर्थमादाय साध्यं सर्वै: यथामति:, अयमेव ब्रह्मवाद: शिष्टं मोहाय कल्पित: (सर्वनिर्णय १८३–१८४) ।

इस विषयमें पहले भी पर्याप्त लिख चुके हैं अत: अब विस्तार अनपेक्षित है।

(२) विरुद्धधर्माश्रयतावाद

श्रौतसन्दर्भ (क) अणोरणीयान् महतो महीयान्... आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वत: कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति (कठोपनिषद् १।३।२०-२१) । (ख) यदेकमव्यक्तमनन्तरूपम् (महानारायणोपनिषद् १।५) । (ग) बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति, दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् (मुण्डकोपनिषद् ३।१।७) । (घ) यदिदं किञ्च तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् निरुक्तं चानिरुक्तं च निलयनं चानिलयनंच विज्ञानं चाविज्ञानं च सत्यं चानृतं च सत्यमभवत् (तैत्तिरीयोपनिषद् ३।६) । (ङ) द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यंचामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च (छान्दोग्योपनिषद् २।३।१) ।(च) भीषास्माद् वात: पवते भीषोदेति सूर्य: भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चम इति सैषानन्दस्य मीमांसा भवति (तैत्तिरीयोपनिषद् ३।८) । (छ) नैनेन किञ्चनासंवृतं नैनेन किञ्चनानावृतं ... रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो मायाभि: पुरुरूप

ईयते युक्ता ह्यस्य हरय: शता दशेति, अयं वै हरयोयं वै दश च सहस्राणि च बहूनि चानन्तानि च, तदेतद् ब्रह्म (बृहदारण्यकोपनिषद् २।५।१८–१९) । (ज) पूर्णमद: पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते (बृहदारण्यकोपनिषद् १।१।१) । (झ) ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात् तत्सर्वमभवत् (बृहदारण्यकोपनिषद् १।४।१०) ।

निष्कर्ष ब्रह्मके विरुद्धधर्माश्रय होनेका प्रमुख तात्पर्य यही है कि ब्रह्म क्या-कैसा है इसके बारेमें हम किसी तरहकी उत्प्रेक्षा न करें। प्रत्युत श्रुतिमें जैसा स्वरूप ब्रह्मका वर्णित हुआ है उसे स्वीकार लें। यदि श्रुतिके एक ही वाक्यमें या दो विभिन्न वाक्योंमें, हमें लौकिक बुद्धिवश, परस्पर विरोधी धर्मोंका निरूपण होता प्रतीत हो रहा हो, तो हमें स्वीकार लेना चाहिये कि श्रुतिके अनुसार ब्रह्ममें वैसे परस्पर विरोधी गुण हैं। क्योंकि ब्रह्म शास्त्रेतर किसी प्रमाणसे गम्य तो नहीं है। अत: सम्भव है कि लौकिक प्रमाणोंके वश परस्पर विरोधी लगनेवाले गुण-धर्मोंको ब्रह्ममें आश्रित माननेपर विरोधका उपशम हो जाता होगा। जैसे एक ही बीजसे उद्भव होनेपर भी वृक्षके पत्र एवम् फल में परस्पर विरोधी कटु और मधुर स्वाद रह सकते हैं। अत: श्रुतिके किसी वाक्यके अर्थको लोकवत् उत्प्रेक्षाके वश बाधितार्थविषयक नहीं मान लेना चाहिये। क्योंकि ब्रह्म शब्दैकगम्य है। अत: अलौकिकत्वेन मान्य किसी भी शब्द या वाक्य का अर्थ लौकिक प्रमाणों अथवा तन्मूलक तर्क द्वारा बाधित हो नहीं सकता। शब्दको बाधितार्थविषयक माने बिना गौणी या लक्षणावृत्ति का सहारा लेनेकी आवश्यकता पड़ती नहीं। अत: परस्पर विरोधाभासी श्रुतिवचनोंकी विरुद्धार्थकता जहां तक तात्पर्यविषयीभूत विरुद्धधर्माश्रयता की धारणासे उपपन्न हो पाती हो, तब तक तात्पर्यको लौकिक प्रमाणाश्रित तर्कोंका अवलम्बनकर अनुपपन्न क्यों मानना चाहिये ?

अतएव महाप्रभु कहते हैं : नहि स्वबुद्धया वेदार्थं परिकल्प्य तदर्थं विचार: कर्तुं शक्य:, ब्रह्म पुनर्यादृशं वेदान्तेष्ववगतं तादृशमेव मन्तव्यम्, अणुमात्रान्यथा कल्पनेपि दोष:, स्यात् न च विरुद्धवाक्यानां श्रवणात् तन्निर्धारार्थं विचार:

उभयोरपि प्रामाणिकत्वेनैकतरनिर्धारस्याशक्यत्वात्। अचिन्त्यानन्तशक्तिमति सर्वभवनसमर्थे ब्रह्मणि विरोधाभावाच्च (अणुभाष्य १।१।१।)

(३) अभिन्ननिमित्तोपादानकारणतावाद

श्रौतसन्दर्भ (क) यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ..... तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते (मुण्डकोपनिषद् १।१।७–९)। (ख) सत्त्वेव सौम्य इदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति (छान्दोग्योपनिषद् ६।२।३)। (ग) यथोर्णनाभिः तन्तुनोच्चरेद् यथाग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिंगाः व्युच्चरन्ति एवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवा सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति (बृहदारण्यकोपनिषद् २।१।२०)। (घ) तदात्मानं स्वयमकुरुत (तैत्तिरीयोपनिषद्(२।७)।

निष्कर्ष नामरूपकर्मात्मिक इस जगत्की उत्पत्तिमें उपादानकारण निमित्तकारण तथा कर्ता सभी कुछ केवल ब्रह्म ही है। एकमेव अद्वितीय ब्रह्मके अलावा अन्य कोई न तो जगत्का उपादानकारण न निमित्तकारण और न कर्ता ही हो सकता है। अतएव महाप्रभु कहते हैं: जगतः समवायि स्यात्तदेव च निमित्तकं कदाचिद् रमते स्वस्मिन् प्रपञ्चेपि क्वचित् सुखं यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद् यद् यथा यदा स्यादिदं भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः (शास्त्रार्थ निबन्ध ६८–६९)।

(४) सत्कारणतावाद

श्रौतसन्दर्भ (क) सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः (छान्दोग्योपनिषद् ६।८।४)।

निष्कर्ष ब्रह्म यदि एकमेव और अद्वितीय सत् है और वही इस जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान-कारण है, तो जगत्का आविर्भाव सत्कारणसे हठात् मानना पड़ेगा। सत्कारणसे ही कार्य उत्पन्न होता है असत्कारणसे नहीं। असद् वस्तु कारणता-धर्मका निर्वाहक नहीं बन सकती। अतएव महाप्रभु कहते हैं: नाप्यसतः सत्तारूपः (शास्त्रार्थ निबन्ध प्रकाश २३)।

(५) सत्कार्यवाद

श्रौतसन्दर्भ (क) सदेव सौम्य इदमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम् कथमसतः सज्जायेत? (छान्दोग्योपनिषद् ६।२।१–२)।

निष्कर्ष श्रुतिमें इदंकारसे निर्दिष्ट इस प्रत्यक्ष जगत्के प्रादुर्भावसे पूर्व भी सत् ही केवल होनेके वर्णनसे; तथा असत् होता तो उस असत्तासे जगत्का सदात्मना प्रादुर्भाव कैसे शक्य होता? इस युक्तिसे भी सत्कार्यवाद अर्थात् उत्पत्तिसे पूर्व भी कार्यरूप नामरूपकर्मात्मिक जगत्की सत्ता उपादानकारणात्मना सिद्ध होती है। अतएव महाप्रभु कहते हैं: असद्वा इदमग्र आसीदिति श्रुत्या प्रागुत्पत्तेः कार्यस्यासत्त्वं बोध्यते इति चेन्न अव्याकृतत्वेन धर्मान्तिरेण तथा व्यपदेशः। कुतः वाक्यशेषात्। तदात्मानं स्वयमकुरुत इति स्वस्यैव क्रियमाणत्वात्। इदमासीत्पदप्रयोगाच्च (अणुभाष्य २।१।१७)।

(६) आविर्भावतिरोभाववाद

श्रौतसन्दर्भ (क) तद्धेदं तर्हि अव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत असौ नामायम् इदं रूपमिति (बृहदारण्यकोपनिषद् १।४।७)।

निष्कर्ष अपनी अव्याकृत अर्थात् उपादानकारणावस्थामें तथा नामरूपकर्मात्मना व्याकृत कार्यावस्थामें भी जब जगत् सत् ही रहता है, श्रुतिके अनुसार, तब प्रतीयमान उत्पत्ति-विनाश और आत्यन्तिक भेद हमारी केवल कल्पनामात्र सिद्ध होते हैं। देशकृत कालकृत तथा स्वरूपकृत परिच्छेदकी, अथवा नैयायिकों की भाषामें कहें तो चतुर्विध अभावकी, प्रतीतिका आधार तत्तद् देशमें कालमें तथा तत्तद्रूपेण किसी एक वस्तुका तिरोभाव ही होता है। जिस वस्तुकी जब और जहां जैसी प्रतीति या कार्यकारिता है, वहां तब उसे उस रूपमें आविर्भूत मानना पड़ता है। अन्यथा तिरोहित। यही बात महाप्रभु समझाते है: आविर्भावतिरोभावौ शक्ती वै मुरवैरिण:...सर्वाकारस्वरूपेण भविष्यामीति या हरेः, वीक्षा

यथा यतो येन तथा प्रादुर्भवत्यजः, मृदादिभगवद्रूपं घटाद्याकारसंयुतं मूलेच्छा-तस्तथा तस्मिन् प्रादुर्भावो हरेस्तथा, तिरोभावस्तथैव स्याद् रूपान्तर-विभेदतः (सर्वनिर्णय प्रकाश १४१–१४२) ।

(७) अविकृतस्वरूपपरिणामवाद

श्रौतसन्दर्भ (क) वाचारम्भणं 'विकारो', नामधेयं 'मृत्तिका' इत्येव सत्यम् (छान्दोग्योपनिषद् ६।१।४) **(ख)** सर्वं खलु इदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत (छान्दोग्योपनिषद् ३।१४।१) ।

निष्कर्ष कार्यको कारणका 'विकार' कहना वाचारम्भण–केवल कहने-भरकी बात है। क्योंकि मृत्तिकासे बने घटका सच्चा नाम तो 'मृत्तिका' ही होता है। किसी आकारविशेषमें उपादानके परिणत हो जानेपर भी, यदि मूलतत्त्वके स्वरूपमें कोई विकृति या अन्यथाभाव नहीं आता तो, ऐसा परिणाम 'अविकृत परिणाम' कहा जाता है। उदाहरणतया आभूषण या घड़ा बन जानेपर सुवर्ण तो सुवर्ण ही रहता है और मृत्तिका तो मृत्तिका ही। इस उदाहरणमें आकृति कार्यकारिता तथा कुछ गुणधर्मोंमें अन्यथाभाव तो प्रत्यक्ष-सिद्ध है, परन्तु साथ ही साथ तत्त्व भी अपने स्वरूपसे च्युत नहीं होता है यह भी प्रत्यक्षसिद्ध ही है। अन्यथा सुवर्णचोर कोई अन्य होता होगा और सुवर्ण-निर्मित आभूषणोंका चोर कोई अन्य! आभूषणार्थी केवल सुवर्णका ग्रहण कदाचित न भी करे। परन्तु सुवर्णार्थी सुवर्णके आभूषण और अव्यस्थिता-कारवाले सुवर्णखण्डमें भेददृष्टि नहीं रखता। इसी तरह जागतिक विषयार्थी ब्रह्मकी उपेक्षा कर सकता है। परन्तु ब्रह्मदर्शीके लिये जगतके सभी विषय ब्रह्म हैं। क्योंकि नाम रूप एवम् कर्मो में परिणत होनेपर भी ब्रह्म निजसत्तासे प्रच्युत नहीं होता है। अतएव सभी कुछ यहां ब्रह्म है। क्योंकि सभी कुछ एक ब्रह्मके अविकृतस्वरूपका ही परिणाम है। महाप्रभुने यह बात इसी तरह समझायी है: तदात्मानं स्वयमकुरुतेति स्वस्यैव कर्मकर्तृभावात्..... तथापि ज्ञानार्थमुपपत्तिमाह परिणामात् परिणमते कार्याकारेणेति अविकृतमेव

सुवर्णं, सर्वाणि च तैजसानि। वृद्धेश्चालौकिकत्वात्, ब्रह्मकारणत्व एव घटते। पूर्वस्यान्यथाभावस्तु कार्यश्रुत्यनुरोधादंगीकर्तव्यः, वक्ष्यति च श्रुतेस्तु शब्द-मूलत्वादिति (अणुभाष्य १।४।२६) ।

(८) कार्यकारणतादात्म्यवाद तथा अंशांशितादात्म्यवाद

श्रौतसन्दर्भ (क) त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म। ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ती.....ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति....ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति तदेतत्त्रयं सद् एकमयमात्मा, आत्मो एकः सन्नेतत्त्रयम् (बृहदारण्यकोपनिषद् १।६।३) **(ख)** स य एषोऽणिमा ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्व-मसि (छान्दोग्योनिषद् ६।९।४) ।

निष्कर्ष नाम–रूप–कर्मात्मक जडवस्तु सच्चिदानन्द ब्रह्मकी सदंशभूत हैं क्योंकि चिदंश और आनन्दांश उनमें अप्रकट–तिरोहिततया रहते हैं। जीवात्मा ब्रह्मका चिदंश है। अनुक्तसिद्ध होनेसे इसमें सत्ता या सदंशता उल्लेख-नीय नहीं है। चैतन्यकी प्रधानताके कारण भी सत्ता उल्लेखनीय नहीं है। आनन्दांश जीवात्मामें तिरोहित रहता है। सच्चिदानन्द ब्रह्मके सदंश, जब तत्तत् नाम–रूप–कर्मके साथ व्यक्त होते हैं, तो ब्रह्म और ब्रह्मके सदंशो के बीच, कार्य–कारणभावात्मक तादात्म्य रहता है, जैसा सुवर्ण और उससे बने आभूषणों के बीच रहता है। इसके विपरीत सच्चिदानन्द ब्रह्मकी चिदंशरूप जीवात्मायें, जब किसी भी प्रकारके व्यक्त एवम् निश्चित नाम–रूपोंके बिना ही अंशात्मना ब्रह्ममें से व्युच्चरित होती हैं, तो उन्हें कार्यतया सिद्ध कर पाये ऐसा गुणधर्म उनमें प्रकट होता नहीं है। अतएव जीवात्माको शास्त्रमें 'अज–अमर' कहा गया है। अतः जीवात्मा और परमात्मा के बीच कार्य-कारण-भावात्मक तादात्म्य न होनेपर भी अंशांशिभावात्मक तादात्म्य रहता है, जैसा समुद्र और उसकी लहरों के बीच पहचाना जा सकता है। अथवा जैसे पारेको उंगलीसे दबानेपर उसमें से झीने–झीने बिन्दु अनेक परिमाणवाले चारों ओर बिखर जाते हैं। ये झीने–झीने बिन्दु पारेके अंश होते हैं कार्य नहीं

और मिला देनेपर दुवारा अंशीकी अखंडैकता सिद्ध हो जाती है। वैसे तो जड नाम–रूपोंमें भी सदंशता तो है ही, फिर भी 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' नियमके अनुसार कार्यत्वरूप धर्म सदंशमें प्रधानतया व्यक्त होता है नियत नाम-रूपोंकी अभिव्यक्तिके रूपमें। अतः उन्हें 'कार्य' कहा जाता है, जबकि जीवात्माको केवल 'अंश' ही। दोनों ही ब्रह्मके साथ तादात्म्य रखते हैं। क्योंकि एक उपादानोपादेयभाववश तदात्मक है और दूसरा अंशांशिभाववश तदात्मक है। अन्यत्र परब्रह्म और अक्षरब्रह्म के बीच धर्मधर्मि-भावमूलक तादात्म्य भी सम्भव है। इस तरह तादात्म्य भी अनेकविध सम्बन्धों में सम्भव है।

महाप्रभु कहते हैं : द्विविधा हि वेदान्ते सृष्टिः, भूतभौतिकं सर्वं ब्रह्मण एव विस्फुलिंगन्यायेनैका, अपरा वियदादिक्रमेण, सा च अनामरूपात्मनो नाम-रूपत्वेन अभिव्यक्तिः, सा जडस्यैव कार्यत्वात्,। तस्य जीवस्य तु अंशत्वेनैव न नामरूपसम्बन्धः, अनित्ये (जडे) जननं, नित्ये परिच्छिन्ने (जीवात्मनि) समागमः, नित्यापरिच्छिन्नतनौ (भगवत्स्वरूपे) प्राकट्यं चेति सा त्रिधा (अणु-भाष्य २।३।१)।

तथा–"यदा अखण्डाद्वैतभानं सुवर्णग्राहकवत् तत्त्वेनैव सर्वं ग्रहणाति तदा अवान्तरविकल्पविषयिणी बुद्धिः 'घटः–पटः' इति सा बाध्यते, सर्वत्र ब्रह्मैवेति। नतु स्वरूपतोपि घटपटादिपदार्थोपि धर्मी बाध्यते इत्यर्थः (शास्त्रार्थनिबन्ध-प्रकाश ९१)।

(९) लीलार्थ सृष्टिवाद

श्रौतसन्दर्भ (क) स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत् सहैतावानास। यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधापातयत् ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम् (बृहदारण्यकोपनिषद् १।४।३)।

निष्कर्ष ब्रह्म अगणितानन्दरूप होनेसे किसी भी प्रयोजनके वश सृष्टि नहीं करता है। निष्प्रयोजन सर्वथा एक लीलाके रूपमें अपने निजानन्दकी

सहज अभिव्यक्तिके रूपमें ही सृष्टि प्रकट करता है। सूत्रकार भी अतएव कहते हैं "लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्"। महाप्रभु भी, अतएव, लीलार्थ सृष्टिवाद का स्वरूप इन शब्दोंमें देते हैं : नमो भगवते तस्मै कृष्णायाद्भुतकर्मणे रूपनामविभेदेन जगत् क्रीडति यो यतः (शा. नि. १)।

ये वाद शुद्धाद्वैतका जो स्वरूप वाल्लभ दर्शनमें अभिलषित है, उसे समझनेके लिये अनिवार्य आधारभूत धारणायें हैं। इन्हें भलीभांति समझनेपर ही शुद्धाद्वैतवादका सांगोपांग बोध सम्भव है।

'शुद्ध' तथा 'अद्वैत' पदोंके समाससे निष्पन्न 'शुद्धाद्वैत' पदका स्वारस्य इन्हीं नौ वादोंमें है। परन्तु समासविग्रह करनेके बाद 'शुद्ध' या 'अद्वैत' पद का पृथक्-पृथक् तात्पर्य क्या हो सकता है। यह अब विचारना होगा।

'शुद्ध' और 'अद्वैत' पदोंके द्वारा विवक्षित अर्थ

शुद्धाद्वैतमार्तण्डकार गोस्वामी श्रीगिरधरजीने दोनों तरहके (१)कर्म-धारय तथा (२) तत्पुरुष समास, इन दोनों पदोंके बीच शक्य माने हैं।

(१) कल्पमें 'शुद्ध' विशेषणवाचक तथा 'अद्वैत' विशेष्यवाचक पद बनता है।

(२) कल्पमें **शुद्धयोः**–शुद्ध जडजीवात्मक जगत तथा शुद्धब्रह्म का परस्पर **अद्वैतं**– द्वित्वप्रकारक ज्ञानका विषय न बनना 'शुद्धाद्वैत' के रूपमें परिभाषित किया गया है।

दोनों ही कल्पोमें 'शुद्ध' पदका अर्थ 'मायासम्बन्ध से रहित होना' किया गया है।

यहां 'माया' को प्रकृति परमाणु काल कर्म स्वभाव आदि सभीका उपलक्षण मान लें तब तो कोई आपत्ति नहीं आती। अन्यथा शुद्धाद्वैतवाद जैसी गम्भीर विचारधाराका एकमात्र प्रयोजन केवलाद्वैतवादका खण्डन ही रह जाता

है। वैसे मायावाद और ब्रह्मवाद का टकराव तो है ही। अतः सभीके गले यह बात शीघ्रतया उतर भी जाती है। शान्त चित्तसे, परन्तु, इसमें विचारणीय बात यही है कि जिस विचारधाराको हम प्रस्थानचतुष्टयीमें प्रतिपादित सिद्धान्तके मुख्य नामके रूपमें प्रस्तावित करना चाहते हैं, तथा जिसे निश्चय ही श्रीशंकराचार्यसे भी पूर्वकालिक वेदान्त-चिन्तनके रूपमें सिद्ध किया जा सकता है, ऐसी विचारधाराका नाम यदि श्रीशंकराचार्यके मायावादके स्मरण किये बिना सार्थक ही न बन पाता हो तो, तब तो बड़ी असमञ्जस स्थिति बन जाती है !

यदि स्वयम् महाप्रभुका कोई निर्णायक वचन कि शुद्धाद्वैत घटक 'शुद्ध' को मायाके व्यावर्तनार्थ ही लेना चाहिये, ऐसा मिलता होता तब तो किसी संशयको अवकाश नही मिलता। ऐसा वचन, किन्तु जबतक न दिखलाया जा सके तबतक केवल मायाके व्यावर्तनार्थ 'शुद्ध' पद का प्रयोजन घड़ना, बहुत युक्तिसंगत नहीं लगता। अतः हम आग्रह करना चाहते है कि "एकमेव अद्वितीयम्" श्रुतिमें जो 'एकमेव' का अर्थ है वही 'शुद्ध' का भी लेना चाहिये तथा जो 'अद्वितीयम्' का अर्थ है वही 'अद्वैत' का भी लेना चाहिये। यह हम दिखला ही चुके है कि कैसे 'शुद्ध' का अर्थ, महाप्रभुके शब्दोमें, "आदौ शुद्धं ब्रह्मैवास्ति न ततोरिक्तं कारणं (प्रकृति-परमाणु-माया-काल-कर्मादिरूपम्[1]) किञ्जित" दिया जा सकता है। इसी तरह 'अद्वैत' का अर्थ "ब्रह्मैव तथा प्रादुर्भूतम् (माया-प्रकृति-परमाणु-काल-कर्म-स्वभावादिकारणानां रूपैः जातम्[1]) इत्यर्थः" किया जा सकता है।

यह भी स्पष्ट शब्दोमें समझ लेना चाहिये कि महाप्रभुका 'अद्वैत' पद द्वैतात्यन्ताभावका वाचक नहीं है। वह तादात्म्यवाचक है। यह 'अद्वैत' पद, नव्यन्यायकी भाषामें कहें तो, "एकत्वात्यन्ताभाववदवृत्तिधर्मवत्त्व" रूप है। अतएव ऐसी कोई भी वस्तु कि जिसमें धर्मधर्मिभाव, अंशांशिभाव, कार्यकारण-

१ कोष्ठकान्तर्गत शब्द प्रस्तुत लेखकके हैं।

भाव, ज्ञातृज्ञेयभाव, भक्तभजनीयभाव जैसे द्वित्व रहते हों, उसका यह अद्वैत असहिष्णु नहीं है। गो. श्रीपुरुषोत्तमजीने अतएव भेदाभेदस्वरूपनिर्णयवाद में इसे भेदसहिष्णुरभेदके रूपमें परिभाषित किया है।

फिरभी कुछ विद्वानोंकी धारणा है कि 'अद्वैत' पदमें निषेधार्थक 'नञ्' द्वारा ही सभी तरहके द्वैतवादोंका, जो वाद प्रकृति परमाणु कर्म काल स्वभाव या पुरुष आदि तत्त्वोंकी कारणताकल्पनाके आधारपर प्रवृत्त हुए हैं, वारण हो जाता है। अतः अवशिष्ट मायाकी कारणताकल्पनापर अवलम्बित केवलाद्वैतवादके वारणके लिये ही 'शुद्ध' पदकी उपयोगिता है। किन्तु हमें यह व्याख्या शुद्धाद्वैतकी युक्तिसंगत नहीं लगती। क्योंकि वेदान्तके सभी सम्प्रदाय, उभयविध श्रुतिवचनोंकी संगति बैठानेके लिये, किसी न किसी तरहका अद्वैत और किसी न किसी तरहका द्वैत भी प्रतिपादित करते ही हैं।

यथा :—

(१) 'एकमेवाद्वितीयम्' + 'नेहनानास्तिकिंचन' = शांकरमत
पारमार्थिक अद्वैत + मायिक द्वैत = केवलाद्वैतवाद

(२) 'एकमेवाद्वितीयम्' + 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्......' = रामानुजमत
विशिष्ट अद्वैत + विशेषण विशेष्य द्वैत = विशिष्टाद्वैतवाद

(३) 'एकमेवाद्वितीय' + 'ज्ञाज्ञौद्वावजाविशानीशौ' = माध्वमत
औपचारिक अद्वैत + पारमार्थिकद्वैत = केवलद्वैतवाद

(४) 'एकमेवाद्वितीयं, तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' = वाल्लभमत
स्वाभाविक अद्वैत, ऐच्छिकद्वैत = शुद्धाद्वैतवाद

ऐसी स्थितिमें यदि 'अद्वैत' पदसे सभी तरहके द्वैतोंका वारण मानें तो मायिक द्वैतका भी वारण मानना चाहिये। तब तो मायाका भी 'अद्वैत' पदसे ही व्यावर्तन मानना पड़ेगा ! अन्यथा 'शुद्ध' पदसे भी तो तत्तत् प्रकारके अद्वैतका व्यावर्तन तो होता ही है। अतः केवल मायाको ही व्यावर्त्य माननेपर द्वैतवादियोंको अभिमत अद्वैतोंके प्रकारोंका भी वारण हो नहीं पायेगा। ऐसी स्थितिमें बहुत क्षुद्र प्रयोजन सिद्ध होगा, 'शुद्ध' पदसे केवल मायाको व्यावर्त्य माननेपर।

मूल प्रश्न

अब इस चर्चाके तलमें अवस्थित कुछ तथ्योंका अवगाहन भी हमें करना चाहिये। क्योंकि जब हम द्वैत अद्वैत या द्वैताद्वैत की चर्चा करते हैं तो हमारे मनके किसी अंधेरे कोनेमें एक प्रश्न तो छुपा हुआ खड़ा ही रहता हैं कि यदि द्वैत है तो किन दो वस्तुओंके बीचमें, और यदि अद्वैत है वह कैसा ?

स्पष्ट है कि औपनिषद् दर्शनमें इन प्रश्नोंके एक छोरपर जड़–जीवात्मक जगत है तथा दूसरे छोरपर ब्रह्म। अब ब्रह्म तो शास्त्रैकगम्य पदार्थ है। अतः शास्त्रको प्रमाण ही न माननेवाले मतवादोंके साथ इस विषयमें औपनिषद् दर्शनका, न तो कोई संवाद सम्भव है और न विवाद ही। परन्तु जड़–पदार्थ और चेतन–पदार्थ के बारेमें शास्त्रीय निरूपणका टकराव उन मतवादोंके साथ हो ही जाता है, जो शास्त्रके शब्दोको प्रमाण नहीं मानते। इसके अलावा केवल प्रत्यक्ष एवम् अनुमान पर अवलम्बित विचारधाराओंका भी आपसी टकराव तो है ही।

जड़–जीवात्मक जगत्सम्बन्धी इन सभी वादोंके परस्पर विवादोंमें, दो अन्तिम छोरके रूपमें हमारे सामने, एक ओर शून्यवाद आता है तथा दूसरी ओर सप्तभंगिवाद। शून्यवाद सारे विवादग्रस्त वादोंकी अस्वीकृतिका सिद्धान्त है तथा सप्तभंगिवाद उन सभी विवादग्रस्त वादोंकी स्वीकृतिका दावा करता है। यह हम इसलिए कहते हैं कि शून्यवाद अपनी अस्वीकृति परिगणित कल्पोंमें सिमित नहीं रखता, जैसा कि सप्तभंगिवाद, असफलतया, रखना चाहता है। सात कल्पोंकी स्वीकृतिके बाद भी सप्तभंगीमें शून्यताका स्वरूप कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता; तथा तीन व्यर्थ पुनरुक्ति भी लगते ही हैं, तटस्थवृत्तिसे निहारने पर। यथा–

(१) स्याद् अस्ति–सद्वाद
(२) स्याद् नास्ति–असद्वाद
(३) स्याद् अस्ति च नास्ति–सदसद्वाद

(४) स्याद् अवक्तव्यश्च–सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीयवाद
(५) स्यादस्ति चावक्तव्यश्च
(६) स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च
(७) स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च

यहां हम देख सकते हैं कि जिन्हें जैन चिन्तक पाक्षिक स्वीकृतिकी मनोवृत्तिसे उपस्थापित करना चाहते हैं उन्हीं चार भंगिमाओंके निषेधमें शून्यवादका तात्पर्य है :

न सत् नासत् न सदसत् नचाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिकाः जगुः॥

यहां यह अवधेय है कि 'अवक्तव्य' 'अनिर्वचनीयमिथ्या' 'सदसद्विलक्षण' या 'अनुभयात्मक' ये सभी पद एकार्थवाची हैं। इस चतुर्थकोटिके निषेधपर उपलब्ध होती शून्यताकोटि वही कोटी है, जिसे केवलाद्वैती 'निर्विशेष ब्रह्म' के रूपमें मान्य करते हैं, परन्तु जैन चिन्तकोंकी सप्तभंगिमामें उसे स्थान नहीं मिल पाया है, अन्तिम तीन भंगिमाओंकी पुनरुक्तिके बावजूद भी। प्रसंगोपात्त हम यह भी कहना चाहेंगे कि जो लोग शून्यको ब्रह्मोपम अथवा ब्रह्मको शून्योपम माननेसे कतराते हैं उन्हें श्रीशंकराचार्यके अधोलिखित वचनोंका भलीभांति अभ्यास करना चाहिये :

अस्तिनास्तीत्यादिकोटिभिः चतसृभिरपि अस्पृष्टो अस्त्यादिविकल्पनावर्जितः इत्येतद् येन मुनिना दृष्टो ज्ञातो वेदान्तेषु औपनिषदः पुरुषः, स सर्वदृक् सर्वज्ञः परमार्थपण्डितः इत्यर्थः (माण्डुक्य. भा. ४।२४)

ब्रह्म, केवलाद्वैतवादमें स्वप्रकाश शान्त अवाच्य निर्विशेष द्वैतात्यन्ताभावोपलक्षित माना गया है। माध्यमिक भी उनके शून्यका स्वरूप यही स्वीकारते हैं :

अपरप्रत्ययं (स्वप्रकाशं)* **शान्तं प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम्** (अवाच्यम्)*
निर्विकल्पमनानार्थम् (निर्विशेषमद्वैतम्)* **एतत्तत्त्वस्य लक्षणम्।**

* कोष्ठकान्तर्गत शब्द लेखकीय हैं।

जैन चिन्तक इसी शून्य या ब्रह्म को अपनी सात भंगिमाओंमें स्थान नहीं दे पाये हैं।

(१) इन चारों कोटियोंमें सद्वादिओंके अनुसार दृश्यमान जगत् सत् है, जो अंशतः सांख्यका मत है।

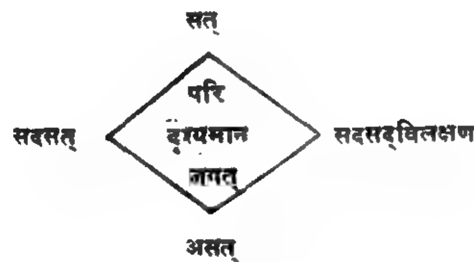
(२) असद्वादी होनेका आरोप बहुधा माध्यमिकोंपर लगाया जाता है, जिसे वे इन्कारते हैं: **शून्यत्वं नास्तिता रूपं मत्वांस्तु प्ररिकल्पयन् प्रपञ्चं वर्धयन्नेव नच वेत्ति प्रयोजनम्।** तुच्छता और शून्यता एक नहीं हैं निर्विशेष होनेके बावजूद, जैसे ब्रह्म और तुच्छ एक नहीं है।

(३) सदसद्वादी चिन्तक तो बहुसंख्यक हैं ही नैयायिकादि।

(४) सदसद्विलक्षणवादी विज्ञानवादी बौद्ध हैं और परवर्ती चिन्तकों में सर्वप्रथम भर्तृहरि तथा बादमें गौडपाद भी, सदसद्विलक्षणवादके समर्थक हुए थे।

इन चारों कोटियोंका निषेध बौद्धोंका शून्याद्वैतवाद है तथा वेदान्तियों का निर्विशेषाद्वैतवाद।

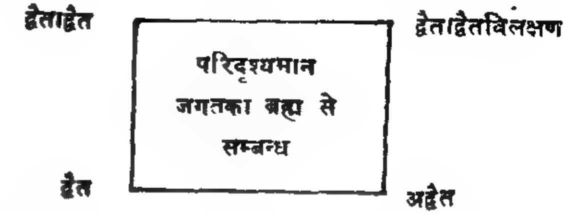
इस तरह हम देख सकते है कि इन चार कोटियोंमें जगतकी विवेचना वेदान्तेतर दर्शनोंमें हुई है, जिसका एक चतुष्कोण अधोनिर्दिष्ट रूपमें चित्रित किया जा सकता है।



जो वस्तु सत् है उसमें देशिक परिच्छेदके कारण कहीं उसका अत्यन्ताभाव मानना पड़ता है। कालिक परिच्छेदके कारण प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव। तथा वस्तुकृत परिच्छेदके कारण अन्योन्याभाव। यह हम पहले भी दिखला चुके हैं। अतएव जो वस्तु जब जहां और जैसी है वही अन्यत्र अन्यदा या अन्यथा नहीं हो सकती है। ऐसी स्थितिमें षड्विध भाव और चतुर्विध अभाव के रूप में पदार्थकी कल्पना करना नैयायिकों—वैशेषिकोंको सदसद्वादी सिद्ध करता है। इसी तरह वस्तु स्वयम् सदसदात्मक अर्थात् उभयात्मक हो नहीं सकती, अतः अनुभयात्मकताका चतुर्थ कल्प प्रसक्त होता है।

यह जगत सत् हो असत् हो सदसत् हो या सदसद्विलक्षण, इस जगतके कारण ब्रह्ममें वस्तुकृत परिच्छिन्नता है कि नहीं; तथा ब्रह्मके कारण जगतमें वस्तुकृत परिच्छिन्नता है कि नहीं, यह प्रश्न वेदान्तके विभिन्न सम्प्रदायोंके बीच विवादका विषय बन गया। साथ ही साथ एक नया चतुष्कोण इस सन्दर्भ में उभरता हुआ देख सकते हैं।

यथा—



सभी द्वैतवादी वेदान्तिओंको, ब्रह्मका स्वरूप, जड वस्तुओंसे तथा जीवात्माओंसे परिच्छिन्न मानना ही पड़ता है। अतः ब्रह्म भी सदसदात्मक हो जायेगा। ऐसा अद्वैतवादियोंका आरोप है।

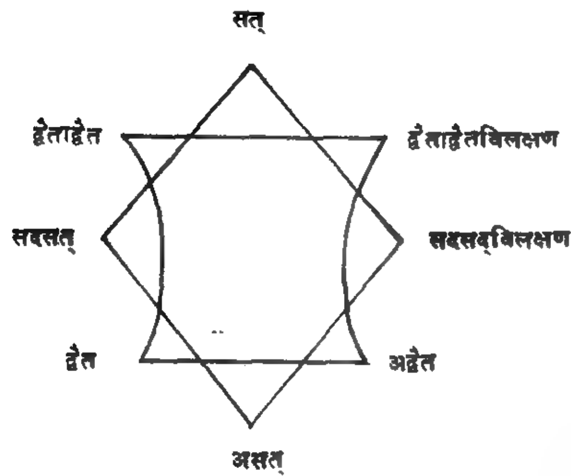
परन्तु केवलाद्वैतवादियोंके मतमें जैसे अभावरूप धर्म ब्रह्मकी निर्धर्मकताको हानि नहीं पहुचाते हैं, ऐसे ही देश-कालकृत परिच्छेदसे रहित सत् ब्रह्ममें जड़ादि वस्तुकृत परिच्छेद ब्रह्मकी सत्ताको हानि नहीं पहुंचाते हैं। क्योंकि वह परिच्छिन्नता स्वस्वरूपापेक्षया न होकर अन्य

स्वरूपापेक्षया होती है। अतः ब्रह्म सदसदात्मक नहीं है। ऐसा बचाव द्वैतवादी अपने पक्षका करना चाहेंगे।

यह एक विवादास्पद विषय है जिसके विस्तारमें जाना हमारे लेखका प्रयोजन नहीं है। इसके अलावा यह समाधान भी तो प्रस्तुत किया जा सकता है कि वस्तुकृत परिच्छेद, जो जगतके कारण ब्रह्ममें प्रतीत होता है, वह कल्पित है। क्योंकि सभी वस्तु मूलतः एकमेवाद्वितीय ब्रह्मके ही अनेक नाम-रूप हैं।

ब्रह्ममें, अतः, जड़जीवरूप-जगत्कृत स्वरूप—परिच्छिन्नता है, नहीं है, कथंचित् है और कथंचित् नहीं भी, और, कहा नहीं जा सकता कि है की नहीं। ऐसे चारों कल्प यहां भी उभरते हैं। जिन्हें चतुष्कोणमें हमने द्वैत अद्वैत द्वैताद्वैत तथा द्वैताद्वैतविलक्षण के रूपमें चित्रित किया है।

उल्लिखित दोनों चतुष्कोणोंको एक—दूसरेपर जमानेपर आठ सम्भावनाओंका रूप हमारे सामने आता है। इसमें सभी सम्भावनायें वास्तविक नहीं। कुछ केवल तार्किक सम्भावनायें भी है। यह अवधेय है। अस्तु।

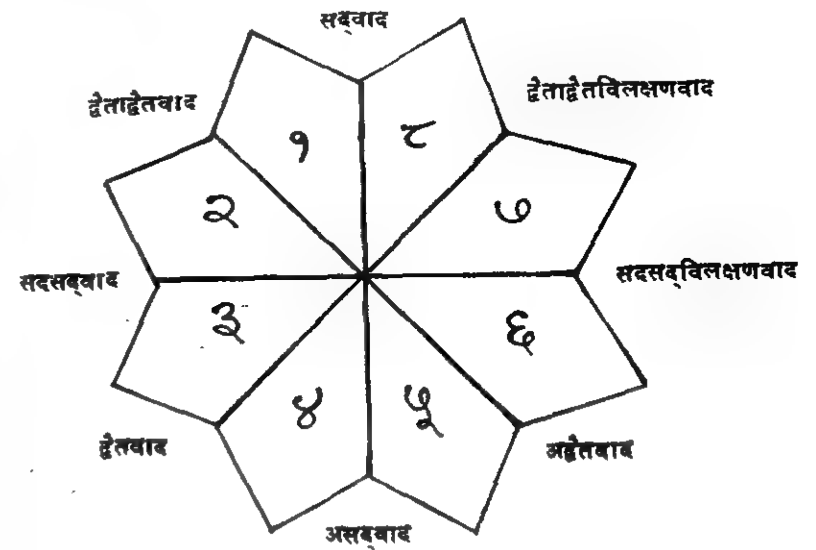


माध्यमिकोंका शून्य जैसे चतुष्कोटि विनिर्मुक्त तत्व है इसी तरह—

न द्वैतं नैव चाद्वैतं नोभयानुभयेपि वा।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं ह्यचिन्त्यं तत्त्वमुच्यते॥

यों सदसदादि सभी दृष्टियोंके निरसनार्थ जैसे शून्यवादकी प्रवृत्ति है, वैसे ही वेदान्त दर्शनमें भी द्वैत अद्वैत द्वैताद्वैत और द्वैताद्वैतविलक्षण सम्बन्धी चिन्तनकी सभी प्रक्रियाओंको स्थगित करनेको एक अचिन्त्य द्वैताद्वैत-वादको भी मान्य किया जा सकता है! अस्तु।

उल्लिखित दो चतुष्कोणोंके योगसे बनी आकृतिको अब यदि अष्टदलमें रूपान्तरित कर दें तो वह और भी सुबोध बन जायेगी :



इस अष्टदलमें हम स्पष्टतया देख सकते हैं कि कैसे चार-चार वादोंके परस्पर संश्लेषणसे वेदान्तके अष्टविध वाद बन सकते हैं।

शब्दशः—

(१) सद्वाद + द्वैताद्वैतवाद = भास्कर, रामानुज, श्रीकण्ठ, निम्बार्क मत

(२) द्वैताद्वैतवाद + सदसद्वाद = श्रीपति, विज्ञानभिक्षु आदिका मत

(३) सदसद्वाद + द्वैतवाद = माध्व मत

(४) द्वैतवाद + असद्वाद = रिक्त दल अर्थात् केवल तार्किक संभावना

(५) असद्वाद + अद्वैतवाद = " " "

(६) अद्वैतवाद + सदसद् विलक्षणवाद = शांकर मत

(७) सदसद् विलक्षणवाद + द्वैताद्वैत विलक्षणवाद = रिक्त दल

(८) द्वैताद्वैत विलक्षणवाद + सद्वाद = ब्रह्मनंदी भर्तृप्रपंच ब्रह्मदत्त का तथा वाल्लभ मत।

यह तो एक सामान्य स्वरूप है। क्योंकि, उदाहरणतया, प्रथम दलमें हमने श्रीभास्कराचार्य श्रीरामानुजाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य, श्रीकण्ठाचार्य तथा को स्थापित किया है, एतावता ये सभी सर्वथा एक ही मतके माननेवाले थे ऐसा हमारा अभिप्राय नहीं है। किन्तु जगत्को सदात्मक मानते हुए उसे ब्रह्मसे कथंचित् भिन्न एवम् कथंचित् अभिन्न माननेके बारेमें तीनों-चारोंका ऐकमत्य है। इतना ही हमारा अभिप्राय है। छठे दलमें श्रीशंकराचार्यको स्थापित करनेकी बात तो सर्वथा स्पष्ट ही है कि वे सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय मिथ्या प्रपंच, जो रजतकी तरह शुक्तिसदृश अधिष्ठानरूप ब्रह्ममें भासित हो रहा है, के द्वैतके अत्यन्ताभावसे ब्रह्मको उपलक्षित मानते हे। अतः उनका मत सदसद्विलक्षणवाद + अद्वैतवाद है। तृतीय दलमें

श्रीमध्वाचार्यकी स्थापनाकी उपपत्ति स्वयम् उनकी इन कारिकाओंके आधार पर दी जा सकती है :

स्वतन्त्रं परतन्त्रं च प्रमेयं द्विविधं मतम्।
स्वतन्त्रं भगवान्विष्णुः निर्दोषाखिलसद्गुणम्॥
द्विविधं परतन्त्रं च भावाभाव इतीरितः।
पूर्वापरसदात्वेन त्रिविधोभाव इष्यते॥
भावाभावस्वरूपत्वान्नान्योन्याभावता पृथक्।
चेतनाचेतनश्चेति भावोपि द्विविधः स्मृतः॥

आठवां तथा प्रथम दल, दोनों, सद्वादी वेदान्तिओंके दल हैं। इनमें श्रीभास्कराचार्य प्रभृति प्रथम दलके हैं। यह उनके भाष्योंके अवलोकनसे निर्णीत होता है। विस्तारभयसे हम यहाँ उस निरूपणमें नहीं पड़ना चाहते। आठवां दल शांकर भाष्यादि प्राचीन ग्रन्थोंमें उद्धृत ब्रह्मनन्दी भर्तृप्रपंच ब्रह्मदत्त तथा सर्वान्तिमें महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यको अभिमत वेदान्त सिद्धान्त है। और इस तरह 'शुद्धाद्वैत' पदका विग्रह करके अर्थ समझना हो तो निष्कर्षरूपेण हम यह कह सकते है कि—

(१) शुद्ध = सद्वाद

(२) अद्वैत = द्वैताद्वैतविलक्षण (तादात्म्य) वाद
= शुद्धाद्वैतवाद

(१) सद्वादकी विचारधाराका पूर्ण अवलम्बन करके महाप्रभु प्रतीयमान जगत्का न तो उत्पत्तिविनाश स्वीकारते हैं और न अन्योन्याभाव ही। फिर भी त्रिविध परिच्छेदकी जो प्रतीति होती है वह ब्रह्माज्ञानके कारण होती है। सर्व वस्तुका ब्रह्मसे तादात्म्य है। ब्रह्म देशकृत कालकृत एवम् वस्तुकृत परिच्छेदसे रहित है। अतः ब्रह्मात्मक होनेसे मूलतः सभी वस्तुएँ त्रिविध परिच्छेदसे रहित हैं। अर्थात् सभी कुछ सर्वत्र सर्वदा विद्यमान है और सर्व सर्वमय है : **सर्वं सर्वमयम्**। अतः सभी कुछ मूलतः सर्वथा अपरिच्छिन्न

है। परन्तु स्वेच्छया परिग्रहीत नामरूपोंमें ब्रह्मने अपनी त्रिविध अपरिच्छिन्नता छिपा रखी है। अतः ब्रह्मज्ञानके बिना वह हमें भासित नहीं होती। प्रथम और आठवें दलमें सद्वादकी स्वीकृतिके कारण अतिशय साम्य है। क्योंकि उल्लिखित नौ वादोंमें से अधिकांश वाद सद्वादकी ही शाखा है। फिर भी अतिसूक्ष्म अन्तर दोनोंमें है। वह ब्रह्मके अद्वैतके बारेमें नहीं किन्तु जगत्से ब्रह्मके द्वैतके बारेमें है।

ब्रह्मज्ञानके तीन स्तर

महाप्रभुके अनुसार ब्रह्मज्ञान तीन स्तरोंमें प्रकट होता है :

(१) **तदात्मानं स्वयमकुरुत सहैतावानास स सर्वमभवद्** इत्यादि श्रुतिवचनोंके श्रवण-मनन करनेपर ब्रह्म ही अनेकविध नाम-रूपोंमें व्यक्त हुआ है, ऐसा परोक्षज्ञान जब हमें होता है तब सत्ता और चैतन्य रूप दो धर्मों के कारण जगत और सच्चिदानन्द ब्रह्म के बीच कुछ सादृश्यका ज्ञान होता है : **'इदं हि विश्वं भगवानिव'** यह तादात्म्यका परोक्षबोध है।

(२) चित्तको अन्य सभी शास्त्रीय यम-नियमादि उपायोंसे शुद्ध तथा एकाग्र बनानेपर सखण्डाद्वैतका भान होता है। सखण्डाद्वैतके भानमें उद्देश्य तया अथवा विधेयतया नाम-रूप-कर्मोंके विकल्पोंका भान होता है। "तदेतद् (नाम रूपं कर्म) त्रयं सद् एकमयमात्मा, आत्मो एकः सन्नेतत्त्रयम्" वचनके अनुसार। साथ ही साथ इनका ब्रह्मसे तादात्म्य भी स्फुरित होता है: **'इदं विश्वं भगवान्'** यह तादात्म्यका सखण्डाद्वैतघटित अपरोक्ष बोध है।

(३) ब्रह्ममें चित्तकी पूर्ण एकाग्रता सिद्ध होनेपर निर्विकल्प समाधिकी तरह केवल अखण्डब्रह्माकारा चित्तवृत्ति बन जाती है। यह सिद्ध होनेपर न 'अहं ब्रह्मास्मि' का विकल्प भासित होता है, न 'तत्वमसि' का और न 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' का ही। अखण्डाद्वैतका भान चित्तकी परम एकाग्रतामें ही सम्भव है। जहाँ बुद्धि विकल्पोंका अवगाहन नहीं करती—न उद्देश्यतया और न विधेयतया

ही। इस तरहका भान ब्रह्मसायुज्यमें पर्यवसित हो जाता है। यह ब्रह्मात्म का अखण्डाद्वैत-घटित बोध है।

महाप्रभु कहते हैं कि "ज्ञानाद् विकल्पबुद्धिस्तु बाध्यते न स्वरूपतः।" अर्थात् इस अनुभूतिमें वस्तुका बाध नहीं किन्तु विकल्पोंका अवगाहन बुद्धि बन्द कर देती है। जैसे निर्विकल्प समाधिके सिद्ध होनेपर अखण्डाकारा वृत्ति उभरती है कि जिसमें ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञानकरण के विकल्प भासित नहीं होते फिरभी विद्यमान तो रहते ही हैं। यह हम पहले भी देख चुके हैं। इस तरह शुद्धाद्वैतकी विवेचनाके बाद अब अतिसंक्षेपमें शुद्धाद्वैतवादाभिमत प्रमेयोंका वंशवृक्ष देकर इस विषयका उपसंहार करेंगे :

(१) सच्चिदानन्द-पूर्ण पुरुषोत्तम-साकार भगवान श्रीकृष्ण
- (२) [illegible]
  - (७) गुणावतार: ब्रह्मा, विष्णु, शिव
  - (८) लीलावतार [illegible] २४
- (३) निराकार-सर्वकारण-कारणभूत-अक्षरब्रह्म
  - (९) कर्म (१०) स्वभाव (११) काल (१२) प्रकृति (१३) पुरुष
  - प्रकृति — २३ प्राकृत तत्त्व (४) ([illegible])
  - पुरुष — असंख्य जीवात्मा (५) (चिदंश); (६) (आनन्दांश)

उपर्युक्त प्रमेयोंमें से कुछकी चर्चा तो इन्हीं ब्रह्मसूत्रोंमें हुई है। अवशिष्ट प्रमेयोंको महाप्रभुने श्रीमद्भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत के आधार पर स्वीकारा है। इन सबका विस्तृत निरूपण शक्य न होनेसे ब्रह्मसूत्र, भगवद्-गीता तथा श्रीमद्भागवत की सन्दर्भसंख्या यहाँ हम लिख देते हैं, वंशवृक्ष

में दी गई संख्याके क्रमसे। विशेष जिज्ञासा होनेपर निबन्ध, प्रस्थानरत्नाकर तथा प्रमेयरत्नार्णव ग्रन्थोंका अवलोकन इस विषयमें लाभप्रद हो सकता है।

(१) ब्रह्मसूत्र १।१।२-१८, ३।२।२४-२८ गीता ४।९, ५।२९, ७।६-७, १५।१८ भाग १।३।२८, ३।९।१९

(२) ब्रह्मसूत्र १।१।१९, १।२।१८ गीता–८।२२, ११।५२-५३, १५।१७, भाग १।३।२८

(३) ब्रह्मसूत्र १।२।२१-२३, १।३।१०, ३।३।३३-३४ गीता ८।२०-२१, १२।३, १५।१६ भाग ३।११।४१

(४) ब्रह्मसूत्र २।३।१-१६, गीता ७।४ भाग २।५।१४, ३। दशमाध्याय।

(५) ब्रह्मसूत्र २।३।१७-५३ गीता ७।५, भाग २।५।१४

(६) ब्रह्मसूत्र १।२।६-८, १।२।११-१२, १।२।२८, गीता १८।६१-६२, १३।२२, भाग २।२।८

(७) भाग १।२।२३, ३।७।२७

(८) गीता ४।५-९, भाग १।३।२८, २। सप्तमाध्याय

(९) गीता ८।३ भाग २।५।१४

(१०) गीता ८।३, भाग २।५।१४

(११) गीता ११।३२, भाग २।५।१४, ३। एकादशाध्याय

(१२) गीता १३।१९-२१, भाग २।५।१४

(१३) गीता १३।१९-२१, भाग २-५-१४

इस तरह शुद्धाद्वैत-सिद्धान्त और उसमें मान्य प्रमेयोंका प्रमाण निर्देश

पुरस्सर वर्णन सम्पूर्ण हुआ। अब इस अणुभाष्य ग्रन्थके बारेमें कुछ निरूपण अवशिष्ट रह जाता है।

सर्वप्रथम इस ग्रन्थके नाम 'अणुभाष्य' के कारण ही बड़ी समस्या बनी हुई है। इस बारेमें किसी भी चर्चामें उलझनेसे पहले यह लक्ष्यमें रखना अनिवार्य है कि श्रीतेलीवालाने स्वयं प्रभुचरणोंके तथा पुरुषोत्तमजीके हस्ताक्षरवाली अणुभाष्य–चतुर्थाध्यायकी तथा प्रकाशकी भी पाण्डुलिपि देखी थी। तृतीयाध्यायके तृतीयपादके अन्तमें प्रथम Editor's Note में श्रीतेलीवाला कहते हैं: "To our great delight and satisfaction we found an almost complete Manuscript of the Aṇu Bhāshya Adhyāya IV...in the handwriting of Vitthaleshwar himself. Puroshottamji's statement in Prakash III-2-24 इत आरभ्य प्रभुणामिति is based on a firm and reliable basis. He seems to have access to the above original of Aṇu Bhāshya. On the leaves of this original manuscript there are fine paper slips. On these paper slips there are remarks. These remarks, it appears to us, are in Puroshottamji's own handwriting... though the इतिश्री in the name of Vallabhacharya in Vitthalehwar's own hand would suggest..." ऐसी स्थितिमें भाष्यकी समाप्तिपर प्रभुचरण द्वारा लिखी गई पुष्पिका तथा "प्रकाशमणुभाष्यस्य वितन्वन् पुरुषोत्तमः" यह कथन, किसी भी तरहके अवकाश बिना, इतना तो सिद्ध कर ही देता है कि 'अणुभाष्य' अभिधान प्रभुचरणके समयसे प्रचलित है। अतः रह जाती है विशेषणके पदकृत्यकी जिज्ञासा तथा एक सन्देह कि यह नाम महाप्रभु द्वारा प्रदत्त है या नहीं। कलेवरकी दृष्टिसे इसे 'अणु' कहना तो निश्चय ही कुछ अतिशयोक्ति लगती है। फिर भी कई विद्वान् एक बृहद्भाष्यकी कल्पना करते हैं और कहते हैं कि प्रकाशकारने उसे अपने प्रकाशमें समाविष्ट कर दिया है। सम्प्रदायके प्राचीन किसी भी लेखनमें ऐसा उल्लिखित न होनेसे हमें तो यह कल्पना सर्वथा अस्वीकार्य ही लगती है।

वाराणसीके पंडित रामकृष्णभट्टद्वारा लिखित तथाकथित बृहद्भाष्य के प्रारूपकी पाण्डुलिपिको प्राप्त कर लेनेके बाद स्वयं तेलीवालाको भी अपनी धारणा बदलनी पड़ी थी कि पुष्टिभक्तिसुधामें उनके द्वारा प्रकाशित श्रीमद्भाष्य बृहद्भाष्य था। "आचार्यवाचः प्रणमाभि" कहनेवाले श्रीपुरुषोत्तमजीको यदि बृहद्भाष्य वस्तुतः मिला होता, जो श्रीविठ्ठलनाथ प्रभुचरण को भी न मिल सका था (!), तो वे निश्चित ही उसपर व्याख्या लिखते। कथमपि प्रकाशमें समाविष्ट कर देनेकी अभक्तिमयी कृतघ्नता नहीं करते।

जहां तक अणुत्वको ग्रन्थकलेवरके अर्थमें न लेकर जीवपरिमाणके अर्थ में लिये जानेका प्रस्ताव है, तो वह पूर्वकल्पनाके अपेक्षा कुछ ग्राह्यतर लगता है। क्योंकि सर्वनिर्णय निबंधमें महाप्रभु भी कहते हैं–"वेदान्तैर्जीवस्वरूप विज्ञानम्"। क्योंकि वेदान्त–विचारका मुख्य प्रयोजन ब्रह्मके माहात्म्यका निर्भ्रान्त ज्ञान उत्पन्न करना है। तथा जिन दो वादोंको महाप्रभु ब्रह्मके माहात्म्यके विलोपनका हेतु मानते हैं, वे हैं :

(१) जगन्मिथ्यात्ववाद (२) जीवव्यापकत्ववाद।

"प्रपञ्चमेव मिथ्या इत्युक्त्वा शुद्धं भजनं
वारयन्ति तथा अन्ये जीवं व्यापकम् उक्त्वा"

अतः माहात्म्यके असिद्ध होनेपर वेदान्तविचारसे जायमान ज्ञान माहात्म्य ज्ञान न होनेके कारण भक्तिजनक भी न रहेगा। अतएव महाप्रभु अपने सभी ग्रन्थोंमें शारीरकात्मासे परमात्माके असाधारण माहात्म्यको सिद्ध करनेको निरन्तर संनद्ध हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि श्रीशंकराचार्यके शारीरक-भाष्य अभिधानके विरोधमें महाप्रभुद्वारा 'अणुभाष्य' नाम रखा गया है। अतएव महाप्रभु सुबोधिनीमें भी स्पष्टतया कहते हैं :

"फलमत उपपत्तेरितिन्यायेन न केवलं ज्ञानमात्रेण फलं किन्तु श्रवणादिभिर्ज्ञाते ब्रह्मणि तत्फलं प्रयच्छति। तत् चेत् **निधर्मकं शारीर**रूपं वा स्यात्, फलदाने असमर्थमेव स्यात्। (सुबो. २।१।५)

अन्य वैष्णव भाष्योंमें भी शांकरमतालोचन तो किया ही गया है। फिर भी महाप्रभु अपने अणुभाष्यमें निरन्तर मायावादकी आलोचना जैसे करते ही हैं। उसी तरह श्रीशंकराचार्य द्वारा प्रदत्त 'शारीरक भाष्य' नामगत 'शारीरक' विशेषणके प्रत्याख्यानके लिए महाप्रभुद्वारा 'अणु' विशेषण लगाया गया हो सकता है, अन्य वैष्णव भाष्योंके जीवाणुत्ववादी होने पर भी। परन्तु निश्चयपूर्वक हम नहीं कह सकते है यह अभिधान महाप्रभुद्वारा प्रदत्त है या नहीं। क्योंकि उनके जो हस्ताक्षर उनके वंशजोंमें पत्र–पत्रके रूपमें सम्पत्तिकी तरह विभक्त हो गये, उनमें भाष्यके पत्र यदि उपलब्ध होते हों तो उनके अवलोकन करनेपर ही इसका निर्णय सम्भव है अन्यथा नहीं।

परन्तु एक विचारणीय प्रश्न यहां यह है कि 'अणु' विशेषण यदि महाप्रभुका लगाया हुआ होता तो कहीं तो महाप्रभुके ग्रन्थोंमें वह उल्लिखित होता ही। ऐसे उल्लेखका अभाव हमें यह सोचनेको पुनः बाधित करता है कि किसी अन्य रीतिसे ही यह भाष्यके विशेषणके रूपमें जुड गया होना चाहिये। महाप्रभुका यह कथन कि – "श्रवणविषयत्वं न जीवपुरस्सरतया किन्तु साक्षाद् ब्रह्मणः" (सुबो. १।२।१४) भी इस तथ्यकी और संकेत करता है कि जीवप्राधान्यसे वेदान्त श्रवण या वेदान्तमनन सिद्धान्तसम्मत नहीं है। अतः जीवाणुत्वद्योतक विशेषण का विन्यास निरर्थक नहीं तो भी विचारणीय तो लगता ही है। ऐसी स्थितिमें "वेदान्तैर्जीवस्वरूप विज्ञानम्" (नि. प्र. २।८) वचनका भी तात्पर्य श्रवण–मननके मुख्य विषयतया न लेकर गौण विषयतया लेना चाहिये। अर्थात् जीव, यद्यपि गौणतया वेदान्तमें प्रतिपाद्य है, फिर भी जीवस्वरूपका निर्णय भी, ब्रह्मस्वरूपके निर्णयकी तरह वेदान्तेतर शास्त्रोंके द्वारा नहीं करना चाहिये। वह भी वेदान्तविचार द्वारा ही करना चाहिये। यही अर्थ प्रतीत होता है।

परिशेषतः 'अणु' विशेषणके प्रयोजनकी चिन्ताका निवारण श्रीमहाप्रभुकी भाष्यगत कारिकाओंके स्वरूपपर लक्ष्यपात करनेसे ही हमें सम्भव लगता है।

एक आकस्मिक कारण यह भी सम्भव है कि श्रीमध्वाचार्यविरचित अणुभाष्यके द्वितीयाध्यायमें से—

"भ्रान्तिमूलतया सर्वसमयानामयुक्तितः।।"
"न तद् विरोधात् वचनं वैदिकं शंक्यतां व्रजेत।"

कुल मिलाकर उपलब्ध ग्रन्थकलेवरको अणु मानकर अथवा गौणतया प्रतिपाद्य विषय जीव परिमाणके अणुत्वको लेकर महाप्रभु विरचित अणुभाष्य के "अणु" विशेषणका प्रयोजन खोजनेके बजाय, इन्हीं अन्तिम दो सम्भावनाओंमें हमें अधिक युक्तियुक्तता लगती है। पुनश्च, निष्कर्षरूपेण, यदि यह नाम स्वयम् महाप्रभु द्वारा प्रदत्त है, तो वह कारिकाओंके लिये ही प्रदत्त होगा जो कारिकायें तृतीय और चतुर्थाध्याय के प्रारंभमें आज मिलती हैं। बादमें उनका नाम गद्यात्मक भाष्यके लिये भी प्रयुक्त हो गया होना चाहिये। यदि यह "अणुभाष्य" नाम स्वयम् महाप्रभु द्वारा प्रदत्त नहीं तो फिर श्रीमध्वाचार्यकी उल्लिखित अणुभाष्यकारिका ही अपने साथ यह नाम भी वहाँ से ले आई है और उसे ही बादमें महाप्रभुविरचित भाष्यके साथ जोड दिया गया होना चाहिये।

वैसे तो यह भाष्य स्वयम् महाप्रभुने भी सम्पूर्ण ही लिखा था। यह सुबोधिनीमें मिलते उल्लेखोंके बलपर सिद्ध होता है। परन्तु चरित्रग्रन्थोंमें वर्णित कारणोंसे वह सम्पूर्णतया प्रभुचरणको उपलब्ध न हो पाया। फलतः महाप्रभुके विभिन्न सेवकों (नामतः दामोदरदास, कन्हैयाशाल खत्री, राणा व्यास प्रभृति) से जो भी कुछ महाप्रभुविरचित ग्रन्थसाहित्य एकत्रित हो पाया, उसमें लम्बी प्रतीक्षाके बाद भी जब ब्रह्मसूत्र ३।२।३४ से समाप्ति पर्यन्त के अवशिष्ट सूत्रोंका भाष्य न मिला होगा, तभी स्वयं प्रभुचरणने उसे पूर्ण करने की ठानी होगी। इस पूर्तिके समय सम्भव है कि आपको महाप्रभुविरचित कारिकात्मक अणुभाष्य मिल गया होगा, जिसे आधार बनाकर प्रभुचरणने समुचे गद्यात्मक भाष्यको भी अणुभाष्य कहा होगा। परन्तु जैसी क्रमबद्धता तृतीयाध्याय एवम् चतुर्थाध्याय की कारिकाओमें है, वैसी क्रमबद्धता प्रथम-द्वितीय अध्यायों की कारिकामें नहीं दिखलाई देती। क्योंकि वे गद्यात्मक भाष्यकी अंग है।

अणुभाष्यके श्रीधरपाठकवाले मूल संस्करणके परिशिष्टमें "श्रीमद् वल्लभाचार्यकारिकाः तथा श्रीमद्विठ्ठलेश्वरकारिकाः" के रूपमें इनका पृथक संकलन किया गया है। इनमें "एकस्यैव मर्मांशस्य जीवस्यैव महामते बन्धोस्याविद्ययानार्दिविद्यया च तथेतर" यह एक श्लोक भाष्यकारिका नहीं है। किन्तु शास्त्रवचनका उद्धारण है। अवशिष्ट प्रथमद्वितीय अध्यायकी कारिकाओंमें एक आनन्दमयाधिकरणकी प्रभुचरणविरचित कारिकाको छोड़कर शेष गद्यात्मक भाष्यकी ही, सुबोधिनीस्थित कारिकाओं जैसी, महाप्रभुविरचित कारिकायें हैं। तृतीयाध्यायके अन्तमें आई एकमात्र कारिका तथा चतुर्थाध्यायचतुर्थपादके अन्तमें उपसंहारात्मिका कारिकायें प्रभुचरणविरचित है। शेष तृतीयाध्याय, प्रारम्भकी तथा चतुर्थाध्यायके प्रारंभकी कारिकायें, हमारे हिसाबसे, अणुभाष्यका त्रुटित अंश है। जो प्रभुचरण द्वारा योजित किया हुआ होना चाहिये।

वैसे हमारे पास कोई ठोस आधार नहीं है फिर भी हृदयमें कभी-कभी एक भास होता है कि अवशिष्ट गद्यात्मक भाष्यमें आज उपलब्ध होती कारिकायें अणुभाष्यवाली न होकर सुबोधिनीस्थ कारिकाओंकी जैसी सारांश निरूपिका कारिकायें है। क्योंकि इन कारिकाओंमें वह क्रमबद्धता नहीं दिखलाई देती है जो तृतीयाध्याय –चतुर्थाध्यायके प्रारम्भमें उपलब्ध होती कारिकाओंमें दिखलाई देती है। तृतीय–चतुर्थके प्रारम्भमें दी गयी कारिकायें गद्यांशमें वैसी पिरोई हुई नहीं लगती, जैसी कि अवशिष्ट कारिकायें परस्पर असंबद्ध होनेपर भी तत्तद गद्यांशसे पिरोई हुई संबद्ध लगती है। हमारी इस कल्पनाके तथ्यातथ्य होनेका प्रमाण हमारे पास इससे अधिक और कुछ भी नहीं है।

इन्हीं स्पष्टीकरणोंके साथ अपनी इस भूमिकाका उपसंहार करते हुए हम उन सभी महानुभावोंका हार्दिक कृतज्ञताके साथ स्मरण करते हैं नामतः श्री मूलचन्द तेलीवाला, श्री धीरजलाल सांकलिया आदि जिन्होंने इस ब्रह्मसूत्रभाष्य–प्रकाश–रश्मी जैसे महान् ग्रन्थका प्रथमतया इतना सुन्दर सम्पादन करके वाल्लभ सम्प्रदायके इतिहासमें गो. श्री पुरुषोत्तमजी जैसी अक्षरसेवा कर पानेका सौभाग्य अर्जित किया था। तथा उन सभी नित्यलीलास्थित गोस्वामिमहानुभावोंका तथा धनिकोंका भी जिन्होंने तेलीवाला को उस समय सहयोग दिया था।

साथ ही साथ श्रीनाथद्वारा टेंपल बोर्डके सदस्यगण तथा उनके अध्यक्ष गोस्वामितिलकायित श्री १००८ श्री गोविन्दलालजी महाराजका, जिनके इस पुनःप्रकाशनके शुभसंकल्पके कारण, यह तेलीवालाके संस्करणका ओफसेट प्रोसेसद्वारा पुनर्मुद्रित संस्करण, आज दुवारा वाल्लभ वेदान्तके अध्येताओंके हाथमें उपलब्ध हो रहा है। एतदर्थ वाल्लभदर्शनके सभी प्रेमिजन इनके हृदयसे आभारी हुए हैं। तथा सभी आशा करते है कि टेंपल बोर्ड इसी तरह भविष्यमें भी साम्प्रदायिक ग्रन्थोंके प्रकाशनमें अपने गुरुतर भारका निर्वाह करेगा। तेलीवालाके संस्करणमें विषयानुक्रमणिका नहीं दी जा सकी थी। अतः उसे यहाँ नूतनतया योजित किया गया है।

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विठ्ठलेश्वरः प्रभुःश्रीमान्।
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति ॥

गोस्वामी श्याम मनोहर

अधिकरणानां सूचीपत्रम्।

श्रीमद्वाल्लभभाष्यपाठानुसारतः श्रीमद्बादरायणप्रणीत ब्रह्मसूत्राणां वर्णानुक्रमः ।

ब्रह्मसूत्राणुभाष्ययोः प्रकाशरश्मिटीकोपेतयोः

अनुक्रमणिका

॥ इति ब्रह्मसूत्राणुभाष्ययोः प्रकाशरश्मिटीकोपेतयोः प्रथमाध्याय-प्रथमपादस्य अनुक्रमणिका ॥

श्रीमद्वल्लभाचार्यकारिकाः ।

कारिकाः	अ. पा. सू.	कारिकाः	अ. पा. सू.
साङ्गे ध्येयतया ज्ञेयो वेदः सम्यग्न बोधकः ॥	१।१।१९	ब्रह्मधर्माश्च ये केचित्सिद्धा युक्त्यापि साधिताः ॥	१।३।७६१
निःसंदिग्धं तदर्थांश्च लोकवन्नाकृतेः स्फुटाः ॥	१।१।१९	निर्णायकास्ततोऽत्यन्ते चत्वारोऽत्र निरूपिताः ॥	१।३।७६१
अलौकिके हि वेदार्थो न युक्त्या प्रतिपद्यते ॥	१।१।२०	संदिग्धानां पदार्थानां पौर्वापर्येण निर्णयः ॥	१।४।८३१
तपसा वेदयुक्त्या तु प्रसादात्परमात्मनः ॥	१।१।२०	न तु संदिग्धवाक्येन सर्वव्याकुलतोचिता ॥	१।४।८३२
संदेहवारकं शास्त्रं बुद्धिदोषात्समुद्भवः ॥	१।१।४२	जीवप्रकरणं ब्रह्मप्रकरणं यतो रुच्यते ॥	१।४।८३३
विरुद्धशास्त्रसंभेदादङ्गैश्चाशक्यनिश्चयः ॥	१।१।४२	योग्यं शरीरमास्थाय यज्ञोऽस्मिन् हरेः पदम् ॥	१।४।८३३
तस्मात्सूत्रानुसारेण कर्तव्यः सर्वनिर्णयः ॥	१।१।४२	अनेकरूढिसञ्ज्ञानां वाच्यं ब्रह्मैव नापरम् ॥	१।४।८४२
अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थान्मध्यमश्च तथाविधः ॥	१।१।४२	शक्तितस्तेषां प्रयुक्ते सन्मार्गाद्विच्युताः ॥	१।४।८४२
असंदिग्धेऽपि वेदार्थे स्मृत्यादावनवस्थतः ॥	१।१।४३	भ्रान्तिमूलतया सर्वसमयानामयुक्तितः ॥	२।१।१
मीमांसानिर्णयः शास्त्रे बुद्धिरस्तु ततो दृढम् ॥	१।१।४३	न तद्विरोधाद्वचनं वैदिकं शङ्कतां व्रजेत् ॥	२।१।२
संदेहवारकं शास्त्रं वेदप्रामाण्यवादिनाम् ॥	१।१।९६	वेदोक्तादणुमात्रेऽपि विपरीतं तु यद्भवेत् ॥	२।२।१०९
क्रियाज्ञानविभागश्च संक्षिप्तेऽस्मिन् परस्थिते ॥	१।१।९६	तादृशं वा स्वतन्त्रं वेदुभयं मूलतो मृषा ॥	२।२।१०९
उत्पत्तिस्थितिनाशानां जगतः कर्तृ वै बृहत् ॥	१।१।९९	अनित्ये जननं नित्ये परिच्छिन्ने समागमः ॥	२।३।३
वेदेन बोधितं यद्धि नान्यथा भवितुं क्षमम् ॥	१।१।९९	नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्यं चेति सा त्रिधा ॥	२।३।३
नहि श्रुतिविरोधोऽस्ति क्वापि न विरुध्यते ॥	१।१।९९	व्यापकत्वश्रुतिस्तस्य भगवत्त्वेन युज्यते ॥	२।३।९८
सर्वभावसमर्थत्वादचिन्त्यैश्वर्यवद्बृहत् ॥	१।१।९९	आनन्दांशाभिव्यक्तौ तु तत्र ब्रह्माण्डकोटयः ॥	२।३।९८
साधनं च फलं चैव सर्वत्वाद् श्रुतिः स्फुटम् ॥	१।१।१७६	प्रतीयेरन्परिच्छेदो व्यापकत्वं च तस्य तत् ॥	२।३।९८
न प्रवर्तयितुं शक्यं यथा चेतरजो न हि ॥	१।१।१७६	विस्फुलिङ्गा इवाग्नेर्हि जडजीवा विनिर्गताः ॥	२।३।१२१
प्रवर्तकस्तु सर्वत्र सर्वात्मा हरिरेव हि ॥	१।१।१७६	सर्वतःपाणिपादान्तात्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखात् ॥	२।३।१२१
यज्ञ एव हि सर्वत्र योज्यते सर्वसिद्धये ॥	१।१।१७७	निरिन्द्रियात्स्वरूपेण तादृशादिति निश्चयः ॥	२।३।१२१
सिद्ध एव हि सर्वत्र वेदार्थो वेदवादिनाम् ॥	१।१।१७८	सदंशेन जडाः पूर्वं चिदंशेनेतरे अपि ॥	२।३।१२१
प्रमाणं कर्मणां चैव सर्वेषामक्रमाच्छ्रुतौ ॥	१।१।१७९	अन्यधर्मतिरोभावान्मूलेच्छातोऽस्वतन्त्रिणः ॥	२।३।१२१
श्रुतिश्च सिद्धरूपत्वं वेदः स्वार्थे च संमतः ॥	१।१।१७९	सर्वोपनिषदां सिद्धो ह्यविरोधे समन्वयः ॥	३।१।१
ज्ञापकार्थं प्रमाणानि संनिकर्षादिमार्गतः ॥	१।१।२१८	कथं बोधकता तासां सा तृतीये विचार्यते ॥	३।१।१
सर्वथाऽविषयेऽत्यन्ते व्यवहार्ये कुतः प्रमा ॥	१।१।२१८	एकं वाक्यं प्रकरणं शाखाः सर्वाः सहैव वा ॥	३।१।२
पूर्वविचारचातुर्यवतिः सन्निर्णयाविधे ॥	१।१।३०२	एका विद्यामनेका वा समवायीति चिन्त्यते ॥	३।१।२
[illegible] ॥	१।१।३०२	ससाधने हि युक्ते अन्यथा कर्मणा श्रुतौ ॥	३।१।३
संदेहवारकं शास्त्रं पदच्छेदात्तु निर्णयः ॥	१।२।५१०	केवले वा यथायोगे प्रथमं तद्विचार्यते ॥	३।१।३
जीवाद्भुतक्लेशत्वेन द्वयोर्वाक्येऽपि न क्षतिः ॥	१।२।५१०	विचारपूर्वकं तत्र ब्रह्मभावाद्धियोऽन्यथा ॥	३।१।३
[illegible] ॥	१।३।६०९	अधिकारे ततः सिद्धा विषयाश्च तथा ॥	३।१।४
[illegible] ॥	१।३।६०९	अन्तरङ्गविचारेण गुणानामुपसंहृतिः ॥	३।१।४
[illegible] ॥	१।३।६०९	बहिरङ्गविचारेण कर्मणामिति सा द्विधा ॥	३।१।४
[illegible] ॥	१।३।६०९	फलतः साधनेभ्यश्च प्रमेयाच्च प्रमाणतः ॥	३।२।१८१
कल्पाङ्गविचारेण विभिता अधिकारिणः ॥	१।३।७५७	विचारेणाहृतत्त्वं [illegible] साधयितुं क्रमः ॥	३।२।१८१
शास्त्रान्तरं च तत्रत्यं चिन्त्यते प्रकरणतः ॥	१।३।७५७		

श्रीमद्विट्ठलेश्वरकारिकाः ।

कारिकाः	अ. पा. सू.
भक्तिमार्गप्रचारैकहृदयो बादरायणः ॥	३।४।५०२
मानं भागवतं तत्र तेनैवं ज्ञेयमुत्तमैः ॥	३।४।५०२
समन्वयेनाविरोधात् साधनैर्ब्रह्मविद्यदि ॥	४।१।१
तस्याग्रिमव्यवस्था या सा च तुर्ये विविच्यते ॥	४।१।१
जीवतो म्रियमाणस्य गच्छतः सफलस्य च ॥	४।१।१
अतो ब्रह्मविदा कार्यमेवमेव न चान्यथा ॥	४।१।२
तामसीं बुद्धिमाश्रित्य ये मूढाः सर्वविप्लवम् ॥	४।१।२
वदन्ति शास्त्रनाशाय सद्भिः शोच्याश्च ये तु तान् ॥	४।१।२
ब्रह्मविद्गमनाभावः शतांशेनापि चेद्भवेत् ॥	४।१।३
शास्त्रमेतद्वृथा जातं सर्वसूत्रविनाशतः ॥	४।१।३
साफल्यस्य च संपत्तेरत्र ब्रह्मगतिश्रुती ॥	४।१।३
अन्यथा न श्रुतेरर्थः स्वयं व्यासो वदेच्च किम् ॥	४।१।४
तामसीं बुद्धिमाश्रित्य या मुक्तिः कैश्चिदुच्यते ॥	४।१।४
सा मुमुक्षुश्रुतेरर्थो मोहादेवान्यथामतिः ॥	४।१।४
अतो ब्रह्मविदः कार्यं जीवतः पूर्वमुच्यते ॥	४।१।५
आवृत्तिः श्रवणादीनां नवकृत्वोपदेशतः ॥	४।१।५
दर्शनार्थस्ततो लिङ्गादपि व्रीह्यवघातवत् ॥	४।१।५
आवृत्तौ श्रवणादीनामात्मेति स्याद् दृढा मतिः ॥	४।१।५
आपाततो दर्शनं तदभेदेनापि बोध्यते ॥	४।१।५
प्रतीकोपासनादीनां नैवंभावो हि जायते ॥	४।१।५
आलम्बनार्थं तत्रापि ब्रह्मदृष्टिर्विशिष्यते ॥	४।१।६
आदित्यादिब्रह्मदृष्टेरङ्गत्वं न स्वतन्त्रता ॥	४।१।६
मनने च निदिध्यासे विशेषश्चोच्यतेधुना ॥	४।१।६
आसनादिषडङ्गैस्तु चित्तं श्रौतार्थ एव हि ॥	४।१।६
धारयेदापतेरेवं ततः सिद्धिमवाप्स्यति ॥	४।१।७
धर्माधर्मभयं तस्य नास्त्येवेति विनिश्चयः ॥	४।१।७
अग्निहोत्रादिकं कार्यं संन्यासः फल एव हि ॥	४।१।७
योगा चेत्युक्तो व्यक्तः प्रारब्धान्ते फलं भवेत् ॥	४।१।७
एतावान्प्रथमे पादे निर्णयः सूत्रकृत्कृतः ॥	४।१।७
द्वितीये म्रियमाणस्य सर्वेन्द्रियलयः पुरा ॥	४।१।७
लिङ्गस्यापि शरीरस्थनाड्योत्क्रान्तिरिहोच्यते ॥	४।१।७
दिनायनकृतो नास्य विशेषोस्तीति चोच्यते ॥	४।१।७
तृतीये क्रममुक्तौ यो मार्गो यस्य श्रुतेर्मतः ॥	४।१।७
तद्विरोध्यमार्गाणामप्राप्यत्वं च वर्ण्यते ॥	४।१।७
गन्तव्यं च परं ब्रह्म कार्यो लोकस्तु नेति च ॥	४।१।७
तुरीये पुष्टिमर्यादाभेदेन फलमुच्यते ॥	४।१।७
प्रभोरेव फलत्वं तद्विदौर्बल्यं च वर्ण्यते ॥	४।१।७
लीलानित्यत्वतः पूर्णगुणत्वं च ततोखिलम् ॥	४।१।७
जानीत परमं तत्त्वं यशोदोत्संगलालितम् ॥	४।४।२२३
तदन्यदिति ये प्राहुरासुरांस्तानहो बुधाः ॥	४।४।२२३
नानामतध्वान्तविनाशनक्षमो ॥	४।४।२२३
वेदान्तहृत्पद्मविकासने पटुः ॥	४।४।२२३
आविष्कृतोयं भुवि भाष्यभास्करो ॥	४।४।२२३
मुधा बुधा धावत नान्यवर्त्मसु ॥	४।४।२२३
पुरन्दरमदोद्भवप्रचुरवृष्टिसंपीडित ॥	४।४।२२३
स्वकीयवरगोकुलावनपरायणो लीलया ॥	४।४।२२३
सितामृतसुवृष्टिभिः परिपुपोष तान् यो गिरिं ॥	४।४।२२३
दधार च स एव हि श्रुतिशिरःसु संराजते ॥	४।४।२२३
श्रीकृष्णकृपयैवायं सिद्धान्तो हृदि भासते ॥	४।४।२२४
तेनाधिकं वरीवर्ति न वक्तव्यं हरेर्नृणाम् ॥	४।४।२२४
भाष्यपुष्पाञ्जलिः श्रीमदाचार्यचरणाम्बुजे ॥	४।४।२२४
निवेदितस्तेन तुष्टा भवन्तु मयि ते सदा ॥	४।४।२२४

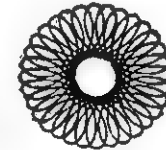
॥ आचार्याणां कारिकाः समाप्ताः ॥



श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्

◎

प्रथमो भागः



श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम् ।

भाष्यप्रकाश-रश्मि-परिबृंहितम् ।

अथ प्रथमोऽध्यायः ।

प्रथमः पादः

भाष्यप्रकाशः ।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

संगीतं श्रुतिमूर्धभिस्तदविदां वागाद्यतीतं विदां

रश्मिः ।

श्रीकृष्णाय नमः । साकारब्रह्मवादस्थापकेभ्यः श्रीमदाचार्येभ्यो नमः ।

उद्धर्तुं ज्ञानरहितान्, मादृशानपराधिनः ।
कृतश्रम इवाभासि यतस्त्वं विट्ठलेश्वरः ॥ १ ॥

जयति जयति वाणी वेदवेदान्तयुक्ता विविधमहिमशुद्धाद्वैतविद्याकृतेऽलम् ।
प्रभवति खलु वादे मायिनीतीह यस्य जयति विजितमायः श्रीमदाचार्यवर्यः ॥ २ ॥

पितृचरणोदितसरणौ साकारब्रह्मस्थापिकायां तु ।
आदिमूर्तिभजनेषु प्रतिनिधीन् विट्ठलान् नमामि ॥ ३ ॥

गुणत्रयातीतगुणाढ्यगेहे कृष्णाश्रयावाः सुरवर्यवृक्षाः ।
तदन्तरा मूलसुखार्थसारं शाखाद्विपद् शब्दसहस्रपर्णम् ॥ ४ ॥

मुक्तालिवृन्दैरभितः स्तुतं च जुष्टं रसाकाङ्क्षिशुकादिभक्तैः ।
दिव्यं पुराणं च सहस्रनामकल्पद्रुमं नौमि रसार्थकामी ॥ ५ ॥

श्रीवल्लभाचार्यपदाब्जयुग्मसंशोधिताशेषविशेषबुद्धिः ।
वेदान्तिहृत्पद्मविकासनेऽलं भाष्यप्रकाशे वितनोमि रश्मिम् ॥ ६ ॥

विविधदुरितपाशं व्याहतीकृत्य नस्त्वं प्रविश हृदयकञ्जं किंच योगं विधेहि ।
कथमिह खलु रश्मिर्मान्यतां पण्डितानां सदसि जलजपाणे लप्स्यते त्वन्यथायम् ॥ ७ ॥

भाष्याब्धिः क्वातिगम्भीरः क्वाहं मन्दमतिस्तथा ।
तथापि यामि तत्पारं कृपानौकासमाश्रितः ॥ ८ ॥

यदि भाष्यप्रकाशीयं रहस्यं वेत्तुमिच्छथ ।
तदा पश्यत विद्वांसो रश्मिं स्पष्टचमत्कृतिम् ॥ ९ ॥

अतिगूढार्थं भाष्यं विवरीतुं शास्त्रार्थत्वेनानिर्वचनीयं वस्तु निर्दिशन्ति संगीतमित्यादिना । संगीतमिति । शिवादयोपि गीता इति तद्व्युदसितुं समिति । तथा च शेषितया गीतमित्यर्थः । श्रुतिमूर्धभिरिति । वेदान्तैरित्यर्थः । 'ऋचां मूर्धानं यजुषामुत्तमाङ्गं साम्नां शिरोऽथर्वणां मुण्ड-

---

१. नामरूपयोर्भजने, यथा नामभजने श्रीमदाचार्यास्तथा स्वरूपभजने श्रीविट्ठलेश्वराः । २. पश्येति पाठः । ३. 'अयं मम ते महिमाऽनुवर्णने' इति श्रीभागवतचतुर्थस्कन्धेऽलंयोगे चतुर्थीस्थले सप्तम्यपि दृश्यते ।

भाष्यप्रकाशः।

दूरं साधनसंपदां निरुपधिस्नेहैः सुखाप्यं धृतैः।
रासोल्लासवशंवदव्रजवधूवृन्दे वसन्तं सदा
दासक्लेशहरं मुदा परतरं श्रीकृष्णदेवं श्रये ॥ १ ॥
मन्दान् वीक्ष्य जनान् विभुः श्रुतिगणं व्यस्याऽथ कारुण्यतः
स्त्रीशूद्रादिहिताय भारतमुखेनोक्त्वा तदर्थं पुनः।
बुद्धिं शोधयितुं चकार सुविदां यो ब्रह्मसूत्रात्मकं

रश्मिः।

मुण्डम्'इति कौषीतकिश्रुतेः। एतेन मुख्यं प्रमाणं प्रदर्शितम्। समन्वयरूपः प्रथमाध्यायार्थश्च दर्शितः। **तद्विदां वागाद्यतीत**मिति। वेदान्तविदां वागाद्यतीतं, न तु सर्वथेत्यर्थः। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्युक्त्वा 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इति श्रुतेः। 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति श्रुतेश्च। 'विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम्'इति स्मृतेश्च। तेन मतान्तरनिराकरणरूपो द्वितीयाध्यायार्थ उक्तः। **विदा**मित्यादि साधनानां संपद्येषां तेषां विदां दूरमित्यर्थः। 'यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः' इति श्रुतेः। 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः' इति श्रुतेश्च। तर्हि किमपि साधनं नास्तीत्याकाङ्क्षायामस्तीत्याहुः **निरुपधिस्नेहै**रिति। निरुपधिः स्नेहो येषां तैरित्यर्थः। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' इति श्रुतेः, बलं भक्तिरिति सिद्धान्तः। 'वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या' 'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः' इत्यादिस्मृतिशताच्च। किंच 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति' इत्यादावपि स्नेह एवोच्यते। प्रियत्वप्रकारकबुद्धेरेव स्नेहपदार्थत्वात्। पुत्रे स्निह्यतीत्यादौ पुत्रविषयिणीं प्रियत्वप्रकारां बुद्धिं करोतीति प्रत्ययात्। तेन साधनं दर्शितम्, तृतीयाध्यायार्थश्चोक्तः। कर्मधारयपक्षे तु बहुवचनं परिकरस्यापि साधनत्वाय। तेन भक्त्यंशानां साधनत्वम्, न तदतिरिक्तानामित्युक्तम्। तत्रापि प्रेम्णि विशेषमाहुः **सुखाप्य**मिति। अधिकारिण आहुः **धृतै**रिति। 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' इति श्रुतेस्तथेत्यर्थः। फलाध्यायार्थमाहुः **रासोल्लासे**त्यादि। रसानां समूहो रासस्तत्र तेन वा य उल्लासः परस्परमाश्लिष्य क्रीडा स रासः, रससमूहत्वात्, भावे घञ् वा, उत्तरोत्तररमणेच्छा वा। तेन **वशंवदे व्रजवधूवृन्दे सदा वसन्त**मित्यर्थः। सप्तम्यत्राभिव्यापकाधारे बोध्या। 'तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिः' इति श्रुतेः, सर्वस्मिन्नात्मास्तीति लौकिकः। तादृशोपि भक्तोन्मुख इति भजनीयत्वमाहुः **दासक्लेशहर**मिति। **सदे**त्यत्राप्यन्वेति। **परतर**मिति। 'पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः' इति श्रुतेः। **श्रीकृष्णदेव**मिति। एतच्च फलाध्यायतृतीयपादे 'समान एवं चाभेदात्' इति सूत्रे उपपादितम्। अतिधृतिरत्र जातिः। शार्दूलविक्रीडितं छन्दः। 'सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्' इति तल्लक्षणात्। **दासक्लेशहर**मितिपदेनाभिव्यज्यमानस्य भक्तनिष्ठभावस्य ग्रन्थकर्तृभावपोषणात्। भावस्य भावाङ्गत्वेन प्रेयोऽलंकारः। रसो भक्तिः। स च तृतीयाध्यायतृतीयपादे 'व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत्' इति सूत्रभाष्य उक्तः। यथास्या अतिरिक्तरसत्वं तथोपपादितं मया भक्तिमार्तण्डस्य प्रमेयप्रकरणे, एतद्ग्रन्थे चैतद्वक्ष्यते ॥ १ ॥

उपष्टम्भकं स्तुवन्तो व्यासं नमन्ति युगलेन **मन्दान्वीक्ष्ये**त्यादि। **तदर्थ**मिति वेदार्थमित्यर्थः। **बुद्धिं शोधयितु**मिति 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः' इति श्रुतेरित्यर्थः। **चकारे**ति भारतकरणसूत्रकरणयोः पूर्वापरीभावस्तु 'कृतवान् भारतं यस्त्वम्' 'जिज्ञासितमधीतं च' इति पाठक्रमात्। सोयं पूर्वतन्त्रे दशमस्य पञ्चमे पादे 'ऐन्द्रवायवस्याग्रवचनादा-

भाष्यप्रकाशः।

वेदान्तार्थविकासकाद्भुतपदं शास्त्रं गुणैरुज्ज्वलम् ॥ २ ॥
एवं सर्वहितं परमपि यदाखिद्यत्तदा नारदात्
तत्रोपायमवेत्य खेदहतये दृष्ट्वा समाधौ हरिम्।
श्रीमद्भागवतेन संशयमहन् भक्तिप्रचारोद्यत-
स्तं कृष्णं मुनिमानमामि करुणं ज्ञानावतारं हरेः ॥ ३ ॥
सर्गादौ स्वमतं समस्तविषये यं ब्रह्मवादं जगौ
कौन्तेयोद्धवयोः प्रकाश्य च पुनर्वेदान्तसारं हरिः।
तं व्यासाशयगोचरं प्रथयितुं यैर्भाष्यमाभाषितं
तानाचार्यवरान्नमामि करुणान् श्रीवल्लभाख्यान् प्रभून् ॥ ४ ॥
श्रीवल्लभप्रतिनिधिं तेजोराशिं दयार्णवम्।
गुणातीतं गुणनिधिं श्रीगोपीनाथमाश्रये ॥ ५ ॥
श्रीविट्ठलेशपादाब्जनखचन्द्ररुचः सदा।
अलंकुर्वन्तु मत्स्वान्तं मायावादतमोहराः ॥ ६ ॥

रश्मिः।

दितः प्रतिकर्षः स्यात्' इत्यधिकरणे चिन्तितः। ज्योतिष्टोमे 'उपांश्वन्तर्यामौ धाराग्रहौ' धारया गृह्णातीत्युक्तेर्विधाय, ऐन्द्रवायवो ग्रहस्तृतीयः 'ऐन्द्रवायवाग्रा ग्रहा गृह्यन्ते' इति श्रूयते। स न तयोः पूर्वं गृह्यते पाठक्रमान्न ह्ययमग्रताविधिः, किंतु ग्रहविधिरतः स्वस्थानस्यैवैन्द्रवायवस्य ग्रहणमिति। **गुणैरुज्ज्वल**मिति व्यञ्जनाकाङ्क्षाप्रभृतिभिरुज्ज्वलमुत्तममित्यर्थः ॥ २ ॥

यदाखिद्यदिति। यदाखिद्यत्तदा नारदात् तत्रोपायमवेत्य खेदहतये भक्तिप्रचारोद्यतो जात इत्यन्वयः। तेन हेतुहेतुमद्भावाभावान्न लृट्लिङौ ॥ ३ ॥

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ, तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः' इतिश्रुतिमनुसंदधानाः सर्वाचार्यशिरोमणित्वेन ब्रह्मवादप्रवर्तकानाचार्यान्नमन्ति **सर्गादा**वित्यादि। यं **ब्रह्मवाद**मिति। द्वितीयस्कन्धे नवमे चतुःश्लोक्यां ब्रह्मवित्पाठके च प्रसिद्धम्, नृसिंहोत्तरतापिनीये चेत्यर्थः। **प्रकाश्ये**ति व्यस्येत्यर्थः। अदृश्यत्वाधिकरणे स्फुटीकृत्येति यावत्। **आचार्यवरा**निति। 'जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्' इति सूत्रेण बहुवचनम्। एकस्मिन्नर्थे वर्तमानः शब्दो बहूनामर्थानां वचनं बोधको भवतीत्यतिदेशोऽयम्। परंतु भावप्रत्ययं विना जातेः प्राधान्येनाख्यामपेक्ष्यते। जातौ शक्त्यङ्गीकारे चेदमेव मानम्। तथा च महाभाष्यं 'यावद्ब्रूयादेकोर्थो वा बहवश्चेति तावदेकस्मिन्बहुवचनमिति' इति शेखरे स्पष्टम्। 'एकत्वं न प्रयुञ्जीत गुरावात्मनि चेश्वरे' इति वाक्याच्च। 'अत एव प्राणाः' इति श्रीव्याससूत्रेषु प्राणपदोत्तरबहुवचनदर्शनात्प्रमाणभूताच्च एवमेव प्रयोक्तव्यमस्तु ॥ ४ ॥

आचार्यज्येष्ठपुत्रानाश्रयन्ति **श्रीवल्लभे**त्यादि। वितानं छन्दः। 'वितानमाभ्यामन्यत्' इति लक्षणात्। आभ्यामित्युपलक्षणम्। विद्युन्मालादिभ्योऽखिलेभ्यो यदतिरिक्तमनुष्टुब्वृत्तं तदेव वितानमिति ॥ ५ ॥

मायावादतमोहरा इति। 'स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत्' इति सूत्राष्टकसहितसार्धाध्यायस्य श्रीमद्विट्ठलेश्वराचार्यप्रणीतत्वादितिभावः ॥ ६ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

तत्पुत्रान् सह सूनुभिर्निजगुरून् श्रीकृष्णचन्द्राह्वयान्
भक्त्या नौमि पितामहं यदुपतिं तातं च पीताम्बरम् ।
वन्दे च व्रजराजमन्वयमणिं यद्रोचिषा मादृशो-
ऽप्यासीन्मूर्ध्नि कृपापरः प्रभुवरः श्रीबालकृष्णः स्वयम् ॥ ७ ॥
श्रीवल्लभाचार्यपदाम्बुजाते भक्त्या मुदाऽन्तर्हृदि संनिवेश्य ।
भाष्यप्रकाशे प्रयतेऽतिदीनो निःसाधनस्तत्करुणाबलेन ॥ ८ ॥
आचार्यवाचः प्रणमामि भाष्यसुबोधिनीस्था इतराश्च यास्ताः ।
मत्स्वान्त आगत्य कृपाप्लुतास्ता मदीयवाचां रचयन्त्वलंकृतिम् ॥ ९ ॥

अथ स्वालौकिकानुभावप्रकटनहृदयस्य भगवत आज्ञया तदर्थमाविर्भूताः श्रीमदाचार्या-

रश्मिः ।

सर्वानेव मान्यान् नमन्ति तत्पुत्रानिति ॥ ७ ॥

ग्रन्थकरणे स्वप्रतिभाहेतुं वदन्तस्तत्करणं प्रतिजानते श्रीवल्लभाचार्येत्यादि । त्रिष्टुप्जातिः । इन्द्रवज्राछन्दः । 'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः' इति तल्लक्षणात् । भाष्यप्रकाश इति । प्रकाश-शब्द आतपं वक्ति । भाष्यसमाप्तौ 'आविष्कृतोऽयं भुवि भाष्यभास्करः' इति भाष्यस्य भास्करत्वोक्तेः । निमित्तत्वं सप्तम्यर्थः ॥ ८ ॥

'भूतैर्महद्भिः' इति न्यायेन प्रार्थयन्ते आचार्यवाच इत्यादि । उपजातिः । 'अनन्तरोदीरित-लक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः' इति लक्षणात् । गाथाछन्दः । वस्तुतस्तु रचयन्तु भूषामिति पाठः प्रतिभाति । तथा चाख्यानकीछन्दः 'आख्यानकी तौ जगुरू गमोजे जतावनोजे जगुरू गुरुश्चेत्' इतिलक्षणात् । ओजे विषमे पादे । अनोजे समे । हस्ताक्षरपुस्तके त्वयमपाठः, अन्याक्षरैर्लिखितश्च । आगत्य कृपाप्लुता इत्यनेन वाचामाधिदैविकत्वं ध्वन्यते ॥ ९ ॥

भाष्यमवतारयन्ति अथेत्यादिना । भाष्ये परसवर्णाभावस्तु वैकुण्ठस्थतास्फोरकः, न व्याकरण-विरोधाधायकः । सत्यलोक एव परसवर्णश्रवणात् । आकाशवाणीवत् । तथाहीति निदर्शनार्थस्यो-ल्लेखस्तु ब्रह्मभावात् । यतः सत्यलोकमभिव्याप्यैव तथाहीति प्रयोगो मया श्रुतः पूर्ववदेव । सोपि भाष्ये क्वचिदेव दृश्यते । वैकुण्ठस्थता तु श्रीमदाचार्याणां ब्रह्मभावेन सर्वरूपत्वात् स्फुटैव ।

'नमामि हृदये शेषे लीलाक्षीराब्धिशायिनम् ।
लक्ष्मीसहस्रलीलाभिः सेव्यमानं कलानिधिम्' इति-

दशमश्रीसुबोधिनीप्रारम्भश्लोकात्, असंधिस्तु शिवादिभिरपि अकरणात् तस्याः । मुक्ता सेति सारोत्र । अथेति, अथशब्दः आरम्भार्थकः, । न त्वानन्तर्यार्थकः, आचार्यैः सूत्रपाठात् पूर्वं मङ्गलाकरणात् । तथा चाहुराचार्याः सुबोधिन्यामथ व्याख्या इति । निबन्धाद्यानन्तर्यं वा तदर्थः । स्वालौकिकानुभावो ब्रह्मवादलक्षणो (पत्रावलम्बनोक्तः) मायावादव्यतिरिक्तः । स्वस्य ब्रह्मणोऽ-लौकिको लोकोत्तरोऽनुभावो ब्रह्मज्ञानमनु पश्चाद्भावो भक्तिः प्रेम च यौगिकोर्थः, रूढो भिन्नः । कीदृ-गित्याकाङ्क्षायां ब्रह्मणो वादो यत्र त्वलौकिकानुभावेन 'ज्ञानी चेद्भजते कृष्णं तस्मान्नास्त्यधिकः परः' इति

भाष्यप्रकाशः ।

स्तस्यानुभावस्य सर्ववेदान्ततात्पर्यगोचरत्वज्ञापनाय वेदार्थतामरसतरणेर्भगवतो बादरायणस्य सूत्राणि व्याकरिष्यमाणाः,

रश्मिः ।

निबन्धाज्ज्ञानमनु ब्रह्मभावो भक्तिः लक्ष्यते तेन लक्षणं, ब्रह्मवादो लक्षणं यस्य स्वालौकिकानुभावस्य लक्ष्यस्य स तथोक्तः । अनुभावस्वरूपं प्रथमे सुबोधिन्यां सप्तदशाध्याये 'इत्थंभूतानुभावः' इत्यत्रास्ति । मृतोपि जीवन् तिष्ठतीत्थंभूतानुभावः इति । [तथा चायं निष्कर्षः । उक्ते प्रतीतस्याप्रतीतस्य चार्थस्य स्वस्य ब्रह्मण आचार्याणां चालौकिको लोकानधिगतो योयमनुभावः । मानुषीं तनुमाश्रितस्य सन्मनुष्याकृतेश्च जगज्जन्मादिकर्तृत्वं सकलमतनिरासपूर्वकं अध्यायद्वयप्रतिपाद्यं साधनफलत्वे च । आचार्याणां तत्प्रतिपादकत्वं चतुर्षु अध्यायेषु स प्रथमस्कन्धारूढो यौगिकश्चेति यौगिको ज्ञानमनुभावो भक्तिस्तद्रूपोपि । तदुक्तं वल्लभाष्टके 'तस्यैवात्मानुभावप्रकटनहृदयस्याज्ञया' इति । व्याख्यातं च टीकाकृद्भिः] सर्ववेदान्तेति सर्ववेदान्तानां तात्पर्यगोचरत्वस्य ज्ञापनाय । अत्रेदं ज्ञेयम् । शक्तिलक्षणातात्पर्येषु तिसृषु वृत्तिषु तात्पर्यवृत्तिगोचरत्वमित्यम् । ननु तात्पर्यवृत्तिरेव नास्ति । तात्पर्यानुपपत्तेर्लक्षणाबीजत्वस्य 'यष्टीः प्रवेशय' 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यादिषु स्पष्टतया वृत्तेर्द्वैविध्यादिति चेत्, सत्यम्, वृत्तिद्वयपक्षोप्यस्ति । परेषामालंकारिकाणां वृत्तित्रयपक्षस्तु,

'भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य,
यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत्' इत्यादौ

व्यञ्जनावृत्तिमन्तरेण निर्वाहाभावादिष्टः । न चात्र लक्षणयैव निर्वाह इति वाच्यम् । राजासंबन्धिनि गजे तदयोगात् । दूषणानां यौक्तिकत्वेन 'युक्तं च सन्ति सर्वत्र भाषन्ते ब्राह्मणा यथा' इति कृष्णवाक्यान्मुख्यार्थस्य बाधाद्यभावाच्च । स्फुटमन्यत्प्रस्थानरत्नाकरे । एवं च वृत्तिद्वयपक्षेपीदं युक्तम् । तथा हि प्रस्थानरत्नाकरे द्वैधावृत्तिप्रपञ्चे व्यञ्जनास्थले तात्पर्यवृत्त्या निर्वाहाभिधागौणीतात्पर्यरूपास्तिस्रो वृत्तय आलंकारिकरीत्या वृत्तिपदसहिता व्यवस्थापिता इति 'भद्रात्मनः' इत्यादौ अभिधामूलव्यञ्जनास्थलेऽभिधामूलतात्पर्यवृत्तिस्वीकारः । दार्ष्टान्तिके तु तात्पर्यमात्रं न वृत्तिः । एवं च 'स्याद्वाचिको लाक्षणिकः शब्दोत्र व्यञ्जकस्तथा' इत्यत्र 'स्याद्वाचिको लाक्षणिकः शब्दस्तात्पर्यवांस्तथा' इत्येवं राद्धान्तिकपाठेपि 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति श्रुत्याऽस्यापि शब्दस्य निवृत्तेः । अतो मूले तात्पर्यमात्रमुक्तं, न वृत्तिपदम् । नन्वेवमप्यभिधामूलव्यञ्जनास्थले अभिधैव व्यापारो नातिरिक्ता व्यञ्जनेत्यादि उपपाद्य यथासंभवं तात्पर्यवृत्त्यर्थः धर्माभिधास्वन्तर्भावान्नातिरिक्ता व्यञ्जनेति पठनाद् 'भद्रात्मनः' इत्यादिस्थलेऽभिधादिवृत्तिप्राप्त्या दार्ष्टान्तिकेऽप्यभिधादिवृत्त्यावश्य-कत्वात् त्रिविधशब्दस्य यच्छब्दार्थमूलब्रह्मणो निवृत्तिरिति चेत् नैवम् । ['यतो वाचः' इत्यस्य इदमित्थतया तत्स्वरूपे निरूपणनिषेधेन परत्वमत्रैव भाष्य ईक्षत्यधिकरणे चाशब्दत्वनिषेधेन सामान्यतो यच्छब्दार्थे ब्रह्मणि निर्गुणानन्दमात्रयच्छब्दाभिधायाः स्वीकारात् । नन्वेवं सति तात्पर्य-गोचरत्वज्ञापनायेति मूलाशुद्धिरिति चेत्, न, सर्ववेदान्तपदपरत्वान्मूलस्य । एकापेक्षया बहूनाम-नुग्रहस्य न्याय्यत्वात् । 'ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः' इति गीतावाक्यादोमादाय सर्वाभि-धादानं रभसात् । 'इदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्' इति श्रुतावुपोपसर्गेण पूर्वोक्तार्थादरणात् । यत उपे-

भाष्यप्रकाशः ।

'सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः ।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः' ॥

रश्मिः ।

त्वस्य समीपार्थकत्वम् । अन्यथा यत इति श्रुतिभाष्यविरोधापातः । नन्वेवं सति विराजि नारायणादिरूपेषु 'नारायणादिरूपाणि'इत्यादिवक्ष्यमाणा वेदस्य वेदान्तानां चाभिधावृत्तिर्विराजि प्रमेयम् । 'मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते ह्यहम् । एतावान् सर्ववेदार्थः' इत्येकादशे निरुक्तात् जगद्व्यापारवर्जाधिकरणे यद्रूपमुक्तम्, तत्तु परं भावं जानतां तात्पर्यं, तदगोचरत्वं च । तत्र नूनं परस्मिन्भावेऽभिधावृत्तिर्गौणी चोङ्कारोपव्याख्यानरूपत्वात्, सर्वस्य शब्दजातस्य घटादौ शक्तिसंकोच इत्याद्युपपादयिष्यते त्वया । किंच, तात्पर्यानुपपत्तिरूपबीजस्य सत्त्वाल्लक्षणया भवितव्यमिति चेत् न । परस्मिन्वृत्तिद्वयासंगतेः । 'यतः' इति श्रुत्येदमित्थतया वागप्राप्ये तद्व्यापारद्वयासंभवादिदमित्थतांशे । एवं च भाष्यप्रकाशोक्तवाक्येषु मूर्त्या तस्य परं पदे श्रीमहाविष्णावभिधया वृत्त्या प्रवृत्तानां वैदिकानां शब्दानां परब्रह्मनिर्गुणानन्दमात्राधिपदशक्त्यै तेषां

'संयोगो, विप्रयोगश्च, साहचर्यं, विरोधिता, ।
अर्थः, प्रकरणं, लिङ्गं, शब्दस्यान्यस्य संनिधिः ॥
सामर्थ्यमौचिती, देशः, कालो, व्यक्तिः, स्वरादयः' इति

काव्यप्रकाशोदितैः प्रकरणादिभिः विशेषस्मारकैः परमस्मिन्तात्पर्येणान्येषां पदानां वैदान्तिकानां पुरुषोत्तमे प्रवृत्तिः । यथा 'भद्रात्मनः' इत्यादौ वारणपदसामर्थ्येन तात्पर्यव्यापकेनाभिधया वृत्त्या राज्ञि प्रवृत्तानामपि तात्पर्यवृत्तिर्वारणे इति । ननु व्यञ्जनावृत्तिर्वारणे न तात्पर्यवृत्तिः, सा तु ह्यभिहितान्वयवादिनां मतम् । आकाङ्क्षायोग्यतासंनिधिवशाद्वक्ष्यमाणानां पदानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसति । तत्रेति ये 'घटमानय, गामानय, शुक्लं दण्डेन देवदत्त' इत्यादौ पदानि स्वार्थमभिधायान्वितानि भवन्तीति वदन्ति तेऽभिहितान्वयवादिन इति चेत् न । यत् किंचित् घटमानय दुग्धां गामानयेत्यादौ यत्किंचित्त्वांशे दुग्धत्वांशे च तात्पर्यवृत्त्या पूर्वोक्तयैव निर्वाहात् । नन्वेवं सति जिज्ञासालक्षणसमन्वयेक्षत्यधिकरणेषु सामान्येषु विचाराभावेऽप्यानन्दमयाधिकरणेऽपि न विचारकः । परन्त्वन्तस्तद्धर्माधिकरणे सवितृमण्डलमध्यवर्तिनि शक्तिः, वैदिकानां पदानां नारायणादिरूपाणां न तात्पर्यम् । तल्लिङ्गाधिकरण आकाशादिपदानां सा, न तत् । अतिदेशाधिकरणे प्राणादिपदानां सा, न तत् । ज्योतिश्चरणाधिकरणे ज्योतिरादिपदानां शक्तिः, न तत् । अनुगमाधिकरणे प्राणपदस्य सा, न तत् । तात्पर्यं तु फलाध्याये ब्रह्मणि नित्यलीलाविशिष्टेऽतः प्रारम्भेऽभिधालक्षणशक्त्या विचारात् स्वालौकिकानुभावस्य तात्पर्यगोचरत्वं कथमिति चेत्, सत्यम् । उपासनया शुद्धान्तःकरणानां पुंसां भक्त्या पुरुषोत्तमाविर्भाव इति सिद्धान्तादुपासनाविषयाणां विभूतीनां भक्तिविषयस्य पुरुषोत्तमस्य अभिधया प्रतिपाद्यत्वेऽपि बाधकाभावात् । लौकिकानुभावत्वात् । नित्यलीलायां भक्तमनोरथपूरकस्य रसरूपस्य श्रीपुरुषोत्तमस्य तात्पर्यगोचरत्वमलौकिकानुभावत्वात् । यद्वा । निर्गुणात् सृष्टिरिति राद्धान्तात्तात्पर्यगोचरत्वमेवातिव्याप्तिवारणायेतराण्यधिकरणानीति निर्गुणत्वात् तेषां वाच्यांशे तात्पर्यगोचरत्वमेव । ननु सर्वैरेव भाष्यकृद्भिरेवं व्याख्यानात्

भाष्यप्रकाशः ।

इति भाष्यलक्षणात् सूत्रोपन्यास एवानुसरणसिद्धेः स्वकृतेरादित एव भाष्यत्वाय सूत्री-

रश्मिः ।

कथं स्वालौकिकानुभावप्रकटनमिति चेन्नैवम् । तैः सगुणब्रह्मणः सकाशात् सृष्टिरिति निरूपणान्न तात्पर्यविषयत्वम्, किंतु ह्यभिधेयत्वमिति, लौकिकत्वात् । तत्र ब्रह्मनिर्गुणादिपदानामभिधामूलं तात्पर्यम्, ब्रह्मणि नारायणादिपदानां कथमु तात्पर्यं, लक्षणाया अप्यभावेन लक्षणामूलव्यञ्जनापरपर्यायतात्पर्यस्याप्यभावादिति चेन्न । जन्यजनकभावसंबन्धस्य शक्यसंबन्धस्य सत्त्वेन लक्षणा गौणीरूपा भविष्यति, सति प्रमाणे तात्पर्यं स्वलौकिकपरमोत्कृष्टत्वे, यथा 'गङ्गायां घोष' इत्यत्र शक्यस्य प्रवाहस्य संबन्धः संयोगः, तस्य तीरे सत्त्वात्तीरे लक्षणा, शैत्यपावनादौ तदभावात्, तात्पर्यवृत्तिरालंकारिकाणां तथा तात्पर्यम् । फलं तु बृहद्वामनपुराणे उत्तरखिले च शाब्दं बोधरूपम् ।

'श्रुतय ऊचुः—नारायणादिरूपाणि ज्ञातान्यस्माभिरच्युत ।

सगुणं ब्रह्म सर्वेदं वस्तुबुद्धिर्न तेषु नः ॥ १ ॥
ब्रह्मेति पठ्यतेऽस्माभिर्यद्रूपं निर्गुणं परम् ।
वाङ्मनोगोचरातीतं ततो न ज्ञायते तु तत् ॥ २ ॥
आनन्दमात्रमिति यद्वदन्ति हि पुराविदः' इति ।

अत्रायं नारायण इत्यादौ ह्यभिधावृत्त्याऽखिलभागवतोक्तधर्मवत्त्वेन नारायणज्ञानमीप्सितम् । परं तु नराणां समूहो नारं तदयनं यस्येति सगुणनारायणपदविग्रहाभावे नारा आपः ता अयनं यस्येति विग्रहे, ब्रह्मेदमित्यादौ न तथापि तु ब्रह्मत्वेन ज्ञानमिति ह्यशेषतत्स्थधर्मवत्त्वेनाज्ञानमेव । तात्पर्यवृत्त्या तु ज्ञानमेव । 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यत्र दध्युपघातकज्ञानवत् । प्रस्थानरत्नाकरे तु स्वमतनिरूपणावसरे यदुक्तमभिधामूलव्यञ्जनास्थलेऽप्यभिधैव व्यापारो नातिरिक्ता व्यञ्जना । वक्त्रा स्वविवक्षितबोधोत्पादनाय संयोगाद्यैस्तस्या एकत्र नियमनेऽप्यभिधेयान्तराभिधाविषयकसंस्कारस्य सदृशादिभिरुद्बोधे तयैवाभिधेयान्तरस्फूर्तिसिद्धौ वृत्त्यन्तरकल्पनस्य व्यसनमात्रत्वात् । न च संयोगादीनां संस्कारोद्बोधप्रतिबन्धकत्वं शक्यवचनम् । 'अस्याननं योनिरुदारवाचाम्' इत्यत्र पदान्तरसाहचर्येऽप्यश्लीलानुसंधानजन्यजुगुप्साया अनुभूयमानत्वादिति । तत्तु 'भद्रात्मनः' इत्यादौ विलक्षणबोधस्य गजांशेऽनुभूयमानस्य तथाङ्गीकारमाश्रित्य, पूर्वोक्तं तु तमाश्रित्येति ज्ञेयम् । प्रकृतमुच्यते । द्वेधावृत्तिपक्षेऽपि जुगुप्सितावाचकत्वे तत्प्रतीतिजनकत्वस्य तात्पर्यवृत्तिलक्षणत्वात् फललक्षणादिव्यञ्जनान्तानां तात्पर्यवृत्तावेवाभिनिवेशेन शक्तिगौणीरूपं वृत्तिद्वयमस्माकं शक्तिलक्षणात्मकं तु परेषाम् । परंतु तात्पर्यस्याभिधायामन्तर्भावे, अनन्तरभावे तु वृत्तित्रयम् ।] इति भाष्यलक्षणादिति । अत्र सूत्रानुसारित्वे सति यद्वाक्यघटकं स्वपदवर्णकं तत्त्वं भाष्यलक्षणं पर्यवसन्नम् । तच्च 'साङ्गोऽध्येयः' इत्यादि स्वोक्तस्य 'अर्थज्ञानार्थम्' इत्यादिना वर्णनादत्र समन्वितम् । महाभाष्येऽपि 'अथ शब्दानुशासनम्' इत्यादिस्वोक्तस्य 'अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः' इत्यादिना वर्णनात् समन्वितम् । पुरञ्जनोपाख्यानेऽतिव्याप्तिवारणाय सत्यन्तम् । वृत्तावतिव्याप्तिवारणाय विशेष्यम् । सूत्रानुसारित्वं च न सूत्रानुगुणत्वम् । तथा सति 'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न इतीदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' इत्यादिश्रुतौ 'चमसवदविशेषात्' इति सूत्रानुगुणायामतिव्याप्तिः, अतः सूत्रानुसारिव्याख्यानत्वं तदर्थः । प्रसिद्धश्रुतावपि ज्ञेयम् । 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यादौ । तथा च सूत्राणां

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ १ ॥ (१-१-१)

भाष्यप्रकाशः ।

याथशब्देनैव मङ्गलसिद्धेश्च सूत्रमेवादौ पठन्ति **अथातो ब्रह्मजिज्ञासेति** । नच मङ्गलाचरणान्तरादर्शनाच्छिष्टाचारविरोधः शङ्कनीयः । महाभाष्ययोगभाष्ययोर्ग्रन्थकृत्कृतस्याथशब्दाति-

रश्मिः ।

श्रुत्यनुसारित्वाच्चातिव्याप्तिः आर्थिकार्थस्पर्श्यध्यासभाष्येपि न सेति । यत्तु शंकराचार्यैः 'शास्त्रयोनित्वात्' इति सूत्रांशं प्रथमान्तत्वेनानन्दमयाधिकरणं च भङ्क्त्वोत्सूत्रं व्याख्यातम्, 'भावे चोपलब्धेः' इति सूत्रं 'भावाच्चोपलब्धेः' इति पाठं भित्त्वा व्याख्यातम्, माध्वरामानुजभास्कराचार्यैः 'साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः' इति सूत्रं 'स्वाभाव्यापत्तिः' इत्येवं पाठं भित्त्वा व्याख्यातम्' तत्राव्याप्तिर्न दोषाय, अन्यत्र तु गौण्या निर्वाहः । **सूत्रमेवेति** । सर्वतः सारभूतार्थबोधकत्वे सूचकत्वे च सति स्वल्पाक्षरपदत्वमिति सूत्रलक्षणम् । 'स्वल्पहं ब्रह्म सूत्रं' सूचनात्सूत्रम्' इत्यारुणिश्रुतेः ।

'लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षरपदानि च, ।
सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः' ॥

इति स्मृतेश्च । वस्तुतस्तु यत्राभियुक्तानां सूत्रत्वव्यवहारस्तानि सूत्राणीति । अतो महति 'अचतुरविचतुर' इत्यस्मिन्पाणिनीये सूत्रे नाव्याप्तिः ॥

अथातो ब्रह्मजिज्ञासेति इति ॥ १ ॥ प्रतीकमिदम्, क्रियाविशेषणं तृतीयान्तव्यतिरिक्तम् । तृतीयान्तं तु करणमिति विवेकः । ननु ब्रह्मपदेन किमुच्यते प्राणो वा ब्रह्मैव वा । तथाहि 'एष उ एव बृहस्पतिः' इति श्रुतेः प्राण एष प्राण इत्यर्थात् । न च प्राणेत्यनया श्रुत्या बृहस्पतित्वं विहितम्, न ब्रह्मत्वमिति वाच्यम् । 'ब्रह्म वै देवानां बृहस्पतिः' इत्यारण्यकसमाप्तिग्रन्थस्थश्रुतेरिति चेत्, मैवम् । द्वितीयाध्याये चतुर्थचरणे 'श्रेष्ठश्च' इत्यधिकरणे 'न वायुक्रिये पृथगुपदेशात्' इति सूत्रे प्राणस्योपपादिततत्त्वान्तरकत्वात् । न च ब्रह्मापेक्षया ब्रह्मणस्पतिजिज्ञासा प्रस्तोतव्येति शङ्क्यम् । बृहदारण्यके 'एष उ एव ब्रह्मणस्पतिर्वाग्वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्मादु ब्रह्मणस्पतिः' इतिश्रुत्योर्ब्रह्मपदेन वाग्ग्रहणेनादोषात्, तत्त्वान्तरत्वाच्चेति । अत एव जिज्ञासासूत्रे ब्रह्मपदेन वेदान्ता गृहीताः । 'वाग्वै ब्रह्म' इति श्रुतेः । न च शुकादिप्रभृतीनां जिज्ञासा जैमिनिसूत्रानुसारेणाधिकर्तव्येति वाच्यम् । पौर्वतन्त्रीयत्वात् । 'न च वेदादृते किञ्चिच्छास्त्रं ब्रह्माभिधायकम्' इति महाकौर्म्यात् । 'नन्वेवमपि स दोषस्तदवस्थ एवेति चेत्, न । जैमिनेर्भगवतो व्यासस्य शिष्यत्वाच्छास्त्रभेदाच्च । न च वेदजिज्ञासाधिकर्तव्या नामाख्यातोपसर्गनिपातादिभिर्धर्मजिज्ञासया षडङ्गैरितराङ्गैश्च तस्या निराकाङ्क्षत्वात् । इतरत् सर्वं साधनाध्यायतुर्यपादेऽचीकॢपन्नाचार्याः अतस्ततोऽवधेयम् । **शङ्कनीय इति** तर्कितव्य इत्यर्थः । आङ्पूर्वस्याप्ययमर्थः । **ग्रन्थकृत्कृतस्येति** । तत्र ग्रन्थो नाम संबन्धप्रयोजनज्ञानाधीनशुश्रूषाजन्यश्रुतिविषयः संदर्भः ।

'सिद्धार्थं सिद्धसंबन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते ।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः संबन्धः सप्रयोजनः' ॥

१. अस्मत्सविधे द्वित्राणि रश्मेः पुस्तकानि सन्ति, तेषां रश्मिकारसंशोधितं पुस्तकं शुद्धं समीचीनं च । तत्र इत आरभ्य एकोनविंशतिः पत्राणि न लभ्यन्ते तदर्थमतीव प्रयतितेपि तत् संपादने न सफलप्रयत्ना वयम् । ग्रन्थान्तराणि तु अशुद्धिपुनरुक्तिबहुलानि न विश्वसनीयानि तथापि तदवलम्बनेन ग्रन्थसंशोधने कृते बहूनिस्खलितानि नयनपथातिथीनि भवन्ति तानि विद्वद्भिः संशोधनीयानि इत्यभ्यर्थ्यते शुद्धिकृद्भिः ।

इदमत्र विचार्यते । वेदान्तानां विचार आरम्भणीयो न वेति ।

भाष्यप्रकाशः ।

रिक्तस्य मङ्गलस्यादर्शनेन, शाबरभाष्ये च 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इति सूत्रमेवोपन्यस्य भाष्यारम्भदर्शनेन च विरोधाभावादिति । अस्यारम्भसूत्रत्वादत्राधिकारिविषयसंबन्धप्रयोजननिरूपणद्वारा शास्त्रारम्भः समर्थनीयः । शास्त्रप्रवृत्त्यावश्यकत्वहेतुरूपा संगतिश्च निरूपणीया । अन्यथा प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यभावेन शास्त्रवैयर्थ्यं स्यात् । शास्त्रस्य वैधत्वमपि विचारणीयम् । अन्यथा वेदान्तानुपयुक्तत्वं, प्रामाणिकानादरणीयत्वं च स्यात् । तदिदं सर्वं हृदि कृत्वा भगवता श्रीबादरायणाचार्येणेदमधिकरणरूपं सूत्रं प्रणीयते, न तु ब्रह्मविचारप्रतिज्ञामात्रमत्र क्रियत इत्याशयेनाहुः **इदमित्यादि** ।

विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम् ।
संगतिश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्' ॥

इति लक्षणाद् विषयादिपञ्चकघटितं वाक्यमधिकरणम् । तेनास्मिन् सूत्रे, इदं वक्ष्यमाणं बुद्धिस्थं विचार्यते । अग्रिमसूत्रेषु वेदान्तानां विचारणीयत्वादुपोद्घातेन चिन्त्यत इत्यर्थः । विषयादिकमाहुः **वेदान्तानामित्यादि** । नन्वत्रायं विषयाद्युपन्यासो न युक्तः, असौत्रत्वात् ।

रश्मिः ।

इत्युक्तेः शुश्रूषायाः संबन्धप्रयोजनज्ञानाधीनत्वम् । तर्ह्यथेति मङ्गलेनापि भाव्यं तत्राहुः **शाबरभाष्ये चेति** । **अन्यथेति** वैधत्वाभाव इत्यर्थः । **प्रणीयत इति** । स्येति शेषः । **उपोद्घातेनेति** । तेनोपोद्घातोऽत्र संगतिरित्युक्तम् । तत्त्वं च प्रकृतसिद्ध्यनुकूलचिन्ताकालावच्छेदेन प्रकृतानुकूलत्वं प्रकृतोपपादकत्वं वा । एवमपि विशेषलक्षणसमन्वयेपि सामान्यलक्षणस्यानन्तर्याभिधानघटितत्वेनास्य सूत्रस्य च प्राथम्यान्न नैयायिकलक्षणसमन्वयः । किंतु, अधिकरणस्य पञ्चावयवत्वेन 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति सावधानपुरुषप्रयुज्यमानवाक्यप्रयोजनकप्रकृतोपपादकत्वावच्छेदकेन ब्रह्मभक्तिविचारत्वेन रूपेण स्मृतस्य ब्रह्मभक्तिविचारस्योपेक्षानर्हत्वमित्येवं संगतिसिद्धान्तलक्षणसमन्वय इति बोध्यम् । इदं चेक्षत्यधिकरणे संगतिग्रन्थनिरूपणावसरे स्फुटमुपपाद्यम्, इयं चाध्यायानां पादानां च संगतिः । त्रिपदं जिज्ञासासूत्रं **अथातो ब्रह्मजिज्ञासेति** । तत्र अतःशब्दार्थः स्वयमग्रे वक्तव्यः । तस्याधिकरणरचनानुपयोगात् । **ब्रह्मशब्दार्थो वेदान्तानामिति** । जिज्ञासाशब्दार्थो विचारः । अथशब्दार्थः आरम्भः । कर्तव्यादिपदाध्याहारापेक्षयारम्भो यत्नान्तादिरत आरम्भणीयो रभिरनीयर्प्रत्ययान्तः । अत उक्तं वेदान्तानां विचार आरम्भणीयो नवेति । अत्र प्रतीतार्थग्रहिलवादी तु शङ्कते नन्वत्रेति । **असौत्रेति** । सौत्रः प्रतीतोऽर्थः तद्भिन्नत्वात् । तद्विषयादिकमाहुः **विषयादिकमाहुरिति** । सूत्रे ब्रह्मपदस्य वेदेपि वृत्तिदर्शनेन तत्संबन्धिवेदान्तानां सूचनेन ब्रह्मपरत्वेपि ब्रह्मजिज्ञासेति शेषषष्ठ्या समासस्य वक्ष्यमाणत्वेन च जिज्ञासापदस्य विचारार्थकत्वस्य च तथात्वेनाथशब्दस्यारम्भापरपर्यायाधिकारार्थत्वस्यापि तथात्वेनायमेव विषयादिरित्याशयेन विषयादिकमाहुरित्यर्थः । **वेदान्तानां विचार आरम्भणीयो न वेति** भाष्यात् । आरम्भार्थ उद्यम एवोत्तरत्रानुवृत्तिरूपाधिकारनिवेशाच्चेति । तथाहि, उद्यमत्वे सत्युत्तरत्रानुवृत्तिरासमन्तात् तादृशारम्भार्थः । भाष्ये **विचार इति** । सूत्रैर्वस्तुतत्त्वपरीक्षणमित्यर्थः । मीमांसेति यावत् । शेषे षष्ठी । अन्यथा, 'स्मृतेश्च' इत्यादिसूत्रेषु स्मृतीनां विचारकर्मता

भाष्यप्रकाशः ।

किंतु ब्रह्मजिज्ञासा कार्या न वा, ब्रह्म जिज्ञास्यं न वा, इत्येवं सूत्रानुसरणाद् युक्त इति चेन्न। तथोपन्यासे, 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व' इतिश्रुत्या तपस एवोपदेशात् तद्विहाय व्यासपादैः किमिति वेदान्तवाक्यानि विचार्यन्ते, तपः कुतो नोपदिश्यत इत्याशङ्का स्यात्, श्रुतिविरुद्धत्वं च भायात् । एवमुपन्यासे त्वधीतवेदस्य, 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः' इति श्रुतिस्फुरणादस्यां च श्रुतावर्थनिश्चयं प्रति वेदान्तविज्ञानस्य हेतुताकथनात् तस्य च विचारसाध्यत्वात् तत्स्फूर्त्याशङ्कानुदयाद् युक्त इति ।

किंच । जिज्ञासापदस्य च यौगिकार्थ एव प्रायः प्रसिद्ध इति ब्रह्मज्ञानेच्छा कर्तव्या न वा, ब्रह्म ज्ञानेच्छाविषयं कार्यं न वेति प्रथमतो बोधे, ततस्तावन्मात्रस्यापुरुषार्थत्वात् तत्रानुपपत्तौ भातायां पश्चाद् विचारं लक्षयित्वा ततस्तत्कर्तव्यत्वादिकं विचार्यम् । तदपि वेदान्तैरेव वक्ष्यमाणरीत्या विचार्यम् । अन्यथाकस्मिकता स्यात् । अत आवश्यकत्वादपि युक्तः ।

रश्मिः ।

न स्यात् । स्मृतयो विचार्यन्त इति । कर्मषष्ठ्या स्मृतीनां विचाराकर्मत्वात् । तथाच कर्मषष्ठीपरिग्रहे प्रतिज्ञाहान्याख्यनिग्रहस्थानापत्तिः । प्रकृते किंतु ब्रह्मेति । ब्रह्मपदेन वेदान्ताः । अन्वयानुपपत्त्या अध्याहारनिवृत्तये वा पक्षान्तरमाहुः ब्रह्म जिज्ञास्यं न वेति । तपसेति । नन्वियं श्रुतिः ब्रह्मप्रत्यक्षात्मकज्ञानसाधनविचारसाधनं तपः संतापात्मकमाह, द्वितीयस्कन्धनवमाध्याये तथोक्तेः । वेदान्तवाक्यानि तूपाङ्गत्वेन विचार्यन्त इति उपाङ्गविषयत्वाभावादिति चेन् तत्राहुः इत्याशङ्केति । तथा च तर्कस्यान्यथाज्ञानत्वादुपाङ्गविषयेपि प्रत्यक्षसाधकविचारसाधनतपःप्रतिपादकश्रुतिस्फुरणमिति भावः । विचार्यन्त इति । सूत्रान्तरेषु विचार्यन्त इत्यर्थः । श्रुतिस्फुरणादिति । नन्वितिकरणाभावात् कथं वेदान्तानामिति पदस्य 'वेदान्तविज्ञाने'ति श्रुतौ वेदान्तानामित्यन्तर्वर्तिविभक्तिमाश्रित्य वाक्यप्रतीकत्वमिति चेन्नैवम् । 'यावद्वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत्कराङ्घ्यादिकम्' इत्युपक्रम्य 'सर्वं विष्णुमयं गिरोङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ' इति प्रक्षिप्ताध्यायश्लोके सर्वं विष्णुमयमिति पदद्वयस्येतिकरणाभावेपि सर्वं विष्णुमयं जगदिति वाक्यप्रतीकतायाः श्रीधरैः स्वीकारात् । आचार्यैरप्येवमिति । नन्वेवमपि सूत्रेण 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व' इति श्रुतिस्फुरणस्य दुर्वारत्वेन तस्यां च तपसो ब्रह्मजिज्ञासाकारणतोपन्यासेन वेदान्तश्रुतिस्फुरणात्, तस्यां चार्थविचारस्य वेदान्तज्ञानकारणता, एवं चोभयोरर्थयोः स्फुरणमधिकम्, न तु शङ्कानुदय इत्यरुच्याहुः किंचेति । ब्रह्म, ज्ञानेच्छाविषयं कार्यं न वेति । क्रियाविशेषणत्वाद्द्वितीयान्तम्, आर्दि पचतीतिवत् । सार्थकप्रत्ययान्तधातूपस्थाप्यक्रियाविशेषणानां कर्मत्वमिति व्युत्पत्तेः । उभयलिङ्गता वा विषयपदस्य । तत्रेति यौगिकार्थ इत्यर्थः । लक्षयित्वेति स्वसाध्यत्वाख्यसंबन्धेन लक्षयित्वेत्यर्थः । नन्वेवमपि स्फुरितश्रुतिविरोधो नापैतीति चेत् न । तपो न मुख्यसाधनमित्यानन्दमयाधिकरणे वक्ष्यमाणत्वादिति, करणाभावश्रुतेरस्फुरणमेव वा । न्यायस्य काचि-

१. अन्यथेति पाठः ।

भाष्यप्रकाशः ।

किंच । व्यासप्रवृत्तिबीजबोधनार्थत्वेनापि युक्तः । तथाहि । प्रथमस्कन्धे चतुर्थाध्याये 'द्वापरे समनुप्राप्ते' इत्यारभ्य, 'एवं प्रवृत्तस्य सदा भूतानां श्रेयसि द्विजाः' इत्यन्तेन सर्वेषां श्रेयोऽर्थं प्रवृत्तिर्व्यासचरणानामुक्ता । पञ्चमे च, 'जिज्ञासितमधीतं च यत्तद् ब्रह्म सनातनम्' इति नारदेन ब्रह्मविचारान्तायाः कृतेस्तथात्वं बोधितम् । तथाच ज्ञानविधिनार्थज्ञानार्थं प्रवृत्तानपि यदा जैमिनीयादिदर्शनैरेकदेशीयविरुद्धज्ञानवतो दृष्टवांस्तदा भारतकरणोत्तरमत्र प्रवृत्तः वेदार्थनिश्चयो वेदान्तार्थनिश्चयं विना न भविष्यतीति । अत एवात्राग्रे वेदान्तवाक्यैरेव ब्रह्मविचारदर्शनं ब्रह्मणि सर्ववेदार्थत्वस्याग्रे स्थाप्यत्वाच्च । तदर्थं वेदान्तविचारावश्यकत्वमवश्यं साधनीयम् । तेन तत्र हेत्वाकाङ्क्षोपशमात् । अतस्तदुपोद्घाततयायं विचारोऽपि शेषवदन्तब्रह्मपदादेव बोध्यत इति सौत्रत्वाद् युक्त इति ।

रश्मिः ।

स्कत्वात् । वस्तुतस्तु निबन्धे विद्यापर्वसु विचाररूपतपोग्रहणादाह तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्वेति । अनशनादेर्विचारसाधकत्वात् । तस्मान्न विरोध इति । तत्त्वं तु तपसेति श्रुतिः प्रत्यक्षज्ञानसाधनं तपोरूपसंतापमाह । द्वितीयस्कन्धे नवमाध्याये यद्ब्रह्म कृतं नोपाङ्गरूपवेदान्तविचारोपयुक्तं किंचिदाह । 'अन्नं ब्रह्मेति व्यजनात्' इत्यादौ प्रत्यक्षज्ञानस्वीकारादत्र तु शाब्दमिति न 'तपसा'इत्यस्याः श्रुतेर्विषय इति । तथाप्यसौत्रत्वापरिहारो वेदान्तविचारस्येति पक्षान्तरमाह किंचेति । ज्ञानविधिनेति । ज्ञेयश्चेत्यनेनेत्यर्थः । वेदार्थेत्यादि । तथा च संहितानुक्रमणिकायां ।

'रहस्यमूलं ऋक्पर्णो यजुःपुष्पप्रवालवान् ।
यज्ञकर्मफलः श्रीमान् विप्रभ्रमरसेवितः ॥
छन्दःस्कन्धः शाखाशाखो ब्राह्मो वृक्षः साक्षादेषः ।
यस्तं विद्यान् महर्षिर्विप्रवर्य स स्वर्गं गच्छेदाप्स्वा कीर्तिम् ।' इति । रहस्यं वेदान्ताः ।

तत्रेति । अग्रिमसूत्रेषु वेदान्तविचार इत्यर्थः । युक्त इतीति । उपलक्षणमेतत् । ब्रह्म वेदवेदान्तौ, जिज्ञासा विचार इत्येवं सौत्रत्वस्य । एवं च 'जिज्ञासितमधीतं च यत् तत् ब्रह्म सनातनम्' इति वाक्यात् सूत्रेण वेदान्तानां विचार आरम्भणीयो न वेति ब्रह्मपदाद् वेदवाचकादेव लभ्यते संशयः । वेदान्तत्वेन ब्रह्मोपादाने तु द्वितीयकोटौ बीजाभावमापद्येत । यद्यपि ब्रह्मशब्दो वेदे प्रयुक्तः उक्तवाक्ये, तथापि वेदपदमपहाय यद् ब्रह्मपदमुक्तं तेनार्थरूपब्रह्मजिज्ञासापि ध्वन्यते । तद्ध्वनितार्थमादाय भाष्यप्रकाशे संदर्भः कियान्प्रवृत्तो रश्मेरुत्तरोपि । इत्थं च यस्मात् कर्मादिभ्यो ज्ञानं माहात्म्यैक्यज्ञानरूपां भक्तिं व्यापारीकृत्य यद्वा गीतोक्तं ज्ञानं पुरुषार्थस्य दुःखाभावस्य सुखस्य च साधनमतः कारणान्माहात्म्यैक्यरूपज्ञानायाथवा गीतोक्ताय ब्रह्मणां वेदान्तानां विचारः, वेदान्तानामिति शेषे षष्ठी, तथा च वेदान्तप्रतिपाद्यवस्तुतत्त्वपरीक्षणमिति वेदान्तप्रतिपाद्याभिन्नविचार इति बोधः । प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावसंबन्धे षष्ठीति सर्वं सुष्ठु । विचारान्तःप्रविष्टवस्तुरूपार्थमादायोत्तरः संदर्भो रश्मेः प्रपत्स्यते इति । पूर्वतःप्रसिद्धं विषयलक्षणमाहुः

१. आरम्भणीयानारम्भणीयविचारः ।

किं तावत् प्राप्तम् । नारम्भणीय इति । कुतः ।

साङ्गोऽध्येयस्तथा ज्ञेयो वेदः

भाष्यप्रकाशः ।

तत्र विषयो नामापाततः प्रतिपन्नः संदिग्धोऽर्थः । तादृशश्चात्र वेदान्तविचारो न तु वेदान्ताः । तेषामग्रिमसूत्रेषु विचार्यत्वात् । विशयः संशयः । एकधर्मिकविरुद्धकोटिद्वयावगाहि ज्ञानम् । तदाकारश्चात्र, आरम्भणीयो न वेत्यनेनोक्तः । पूर्वपक्षः प्रतिवादिमतम् । तदाहुः नारम्भणीय इति । तत्र पृच्छति कुत इति । 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः' इति श्रुतावर्थनिश्चयं प्रति वेदान्तविज्ञानस्य हेतुनाबोधनाद् विचारं विना च तदसंभवात् स आवश्यक इति कुतो नेत्युच्यत इत्यर्थः । एवं प्रश्ने प्रतिवादी अनारम्भणीयतामुपपादयन् गृह्णाति साङ्ग इत्यादि । अयमर्थः । वेदान्तविचारस्यारम्भणीयत्वं वदता सिद्धान्तिना विधिप्रयुक्तयारम्भणीयत्वं वक्तव्यम् । तत्र विचारे प्रत्यक्षविधेरदर्शनात् कथंचिद् कुतश्चिद् वैधत्वं साधनीयम् । ततश्च कर्मादिविधिभ्यस्तत्सिद्ध्यसंभवादध्ययनादिविधिभ्यः साधनीयम् । तत्र, 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इत्येकः । 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत' इत्यपरः । 'साङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इत्यन्यः । एते त्रयः पूर्वकाण्डस्थाः । 'श्रोतव्यः' इत्यादिरुत्तरकाण्डस्थश्चेतरः ।

तत्र भाट्टास्तावदेवं मन्यन्ते । अध्ययनविधेरक्षरग्रहणमात्रपर्यवसानेऽदृष्टकल्पनापत्तेरर्थज्ञानरूपदृष्टफलार्थतैव युक्ता । न च विमतं वेदाध्ययनमर्थज्ञानहेतुरध्ययनत्वाद् भारताध्ययनवदित्यनुमानेनाध्ययनस्य स्वाध्यायसंस्कारद्वाराऽर्थज्ञानहेतुत्वप्राप्तेर्न तावत्पर्यन्तं विधिव्यापारो युक्त इति वाच्यम् । विमतं वेदाध्ययनं नार्थज्ञानहेतुर्वेदाध्ययनत्वादाधुनिकाध्ययनवदिति प्रत्यनुमानेन तद्बाधात् । न च लोकेऽवगतसामर्थ्यानां शब्दानां वेदेऽपि बोधकत्वाल्लिखितपाठादिनाऽप्यर्थज्ञानसंभवान्न्यायबलादेव तत्प्राप्तेरर्थज्ञानांशे तस्यापूर्वविधित्वाभावान्न तत्पर्यन्तं विधिव्यापारो युज्यत

रश्मिः ।

तत्र विषय इत्यादि । **वेदान्तविचार** इति । 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यारभ्य 'अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्' इत्यन्तसूत्रजातं ब्रह्मविचारशास्त्रं तत्तादृशमित्यर्थः । **वेदान्तविज्ञाने**ति बुद्धिर्विज्ञानं मन्तव्यमिति प्रसिद्धश्रुतिमपहाय श्रुत्यन्तरोपन्यासोनेकश्रुत्यनुगृहीतत्त्वार्थः । **तदसंभवा**दिति । वेदान्तविज्ञानजन्यनिश्चितार्थे सुष्ठु (असंदिग्धोपि वेदार्थ इति भाष्येप्याह) तस्यासंभवादित्यर्थः । **गृह्णातीति** हेतून् संगृह्णातीत्यर्थः । यदि च प्रतीकमत्र कर्मत्वेनान्वेति तदा तु शेषोपि पूरणीयः । प्रथमप्रतीकेपि सूत्रविशेषणं भवितुमर्हति प्रतीकं 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'इति सूत्रमेवादौ पठन्तीति । तथा च त्रेधान्वयः प्रतीकस्य कर्मत्वेनाऽभेदेन करणत्वेन चेति सिद्धम् । **तत्र स्वाध्याय इत्यादि** । अत्राद्यं वाक्यं तैत्तिरीयब्राह्मणस्थम्, अन्यद्वाक्यद्वयं शाखान्तरीयम् । अध्यापयीतेत्यत्राध्यापयेदिति केचित् पठन्ति, तृतीयं च 'ब्राह्मणेन निष्कारणः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इति पठन्ति । **स्वाध्यायसंस्कारद्वारे**ति । 'अपहतपाप्मा स्वाध्यायो देवपवित्रमिति' श्रुतेरपहतपाप्मत्वमादिपदोक्तमयातयामत्वं च तद्रूपसंस्कारद्वारेत्यर्थः । अथवा स्वाध्याय एव संस्कारस्तद्द्वारेत्यर्थः । अध्ययनं वेदे स्वाध्यायतासंपादनं यदर्थज्ञानहेतुरिति यावत् । **विधिव्यापार** इति शाब्दी प्रवर्तनेत्यर्थः । दृष्टान्तवैषम्यान्नियमविधिमाक्षिपन् शङ्कां निषेधति

भाष्यप्रकाशः ।

इति वाच्यम् । अर्थज्ञानांशेऽस्य नियमविधित्वाङ्गीकारात् । न च यथाऽवघातनिष्पन्नैरेव तण्डुलैर्दर्शपूर्णमासापूर्वसिद्धिर्न पेषणादिनिष्पन्नैस्तथाऽध्ययनावगतेनैवार्थेन क्रत्वपूर्वसिद्धिर्नतु प्रकारान्तरावगतेनेति फलांशे नियमविधित्वं न युक्तम्, अनारभ्याधीतत्वेन श्रुत्याद्यभावेन च क्रत्वर्थताया अशक्यवचनत्वादिति वाच्यम् । वैदिकशब्दानां विलक्षणत्वेन पूर्वोक्तरीत्या सम्यगर्थज्ञानाभावे गृहस्थादीनां द्रव्यादियज्ञासिद्धेः सर्वधर्मलोपप्रसङ्गात् । अतः पूर्वोक्तदूषणेनापूर्वविधित्वनियमविधित्वयोरशक्यवचनत्वेऽपि, 'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत' इत्यादिवाक्येषु द्वितीयानिर्देशेन तेषां संस्कार्यत्वावगमात् संस्कारस्य च कार्यान्तरयोग्यतासंपादनरूपत्वादुपनयनसंस्कृतानां त्रैवर्णिकानां कार्यान्तरापेक्षत्वेन तत्संनिधिपठितस्याध्ययनस्य चानिर्दिष्टकर्तृकतया कर्त्रपेक्षत्वेन परस्पराकाङ्क्षासंनिधियोग्यत्वैस्त्रैवर्णिकानां यज्ञरूपकार्यान्तराधिकारनियमार्थत्वस्याध्ययनविधौ सुखेन संभवात् । एवं चाधानाग्निहोत्रादिविधयस्त्रैवर्णिकेषु विद्वत्सु सत्सु तानेवाधिकुर्वन्ति । अन्यथा चतुर्थादेरप्याक्षिपेरन् । सोऽयमधिकारो वक्ष्यमाणेऽपशूद्राधिकरणेऽध्ययनविधिप्रसादलभ्य इत्यध्ययनविधिरर्थज्ञानपर्यवसायीति ।

प्राभाकरास्तु, 'संमाननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः' इत्याचार्यकरणे विहितेनोपनयीतेत्यात्मनेपदेनोपनयनरूपस्य माणवकसंस्कारस्याचार्यत्वसिद्धिप्रयोजनताप्रत्ययेऽपि,

रश्मिः ।

न च यथेति । **दर्शपूर्णमासापूर्वसिद्धि**रिति । अवान्तरापूर्वद्वारेण दर्शपूर्णमासपरमापूर्वसिद्धिरित्यर्थः । **श्रुत्याद्यभावे**नेति । निरपेक्षो रवः श्रुतिः । आदिना लिङ्गादयः । **वैदिकेत्यादि** । स्वरादिकृतं वैलक्षण्यम् । स्फुटं प्रस्थानरत्नाकरे इदम् । **द्रव्यादियज्ञासिद्धे**रिति । 'द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञाः' इति गीतोदितास्त इत्यर्थः । **सर्वधर्मलोपप्रसङ्गा**दिति । अतोऽनारभ्याधीतत्वेपि क्रत्वर्थतावश्यमभ्युपेयेत्यर्थः । **अत** इति । क्रत्वर्थत्वादित्यर्थः । सर्वधर्मलोपप्रसङ्गादित्यर्थो वा । एतच्च यज्ञरूपेत्यादिनान्वेति । **पूर्वोक्तदूषणे**नेति लिखितपाठादिनार्थज्ञानसंभवरूपेण दृष्टान्तवैषम्यरूपेण चेत्यर्थः । **संस्कार्यत्वावगमा**दिति । आप्यत्वोत्पाद्यत्वयोरसंभवेन तथात्वावगमादित्यर्थः । **यज्ञरूपकार्यान्तरे**ति । स्वाध्यायब्राह्मणे 'यत्स्वाध्यायमधीयीतैकामप्यृचं यजुः साम वा तत् ब्रह्मयज्ञः संतिष्ठते' इत्युपक्रम्य 'तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' 'यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवति'इति तदुत्तरश्रुतेरिति भावः । **एवं चाधानाग्निहोत्रादिविधय** इति । 'वसन्ते ब्राह्मणोग्निमादधाति', 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति,' 'यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत'इत्येवमाद्या विधय इत्यर्थः । **तानेवाधिकुर्वन्तीति** । उक्तविधयस्तावद्विद्यार्जनमाक्षिपन्त्यनुपपत्त्या । यदा तु स्वाध्यायविधिविहिताध्ययनोपात्तविद्या द्विजन्मानो लभन्ते तदा तैरेव लब्धात्मानो न चतुर्थस्य विद्यामाक्षिपन्ति, अनुपपत्तिक्षयात् । यद्यपि चैवं विहितोपायसिद्धज्ञानवत एव विधयोऽधिकुर्वन्ति, तर्हि तदेव ज्ञानमकर्मकालोपात्तमप्यग्निवत् क्रत्वङ्गमिति तच्छून्यस्य स्वाच्छन्द्येन विद्यामर्जयतः शूद्रस्याधिकारो न सिद्ध्यतीति त्रैवर्णिकानेवाधिकुर्वन्तीत्यर्थः । **अन्यथे**ति अध्ययनविध्याक्षिप्तस्याभावे इत्यर्थः । **चतुर्थादे**रिति । अधिकारमिति शेषः । संबन्धसामान्यविवक्षया षष्ठी वा । इदमत्र श्रीजैमिन्यभिप्रायं निश्चित्य संमत्यर्थमाहुः **सोऽयमित्यादि** । **अपशूद्राधिकरण** इति । इद-

भाष्यप्रकाशः ।

'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते' ॥

इति स्मृतौ क्त्वाप्रत्ययेनोपनयनस्याध्यापनाङ्गताप्रतीतेस्तत् कथमध्यापनस्योपकरोतीत्यपेक्षायां, 'शिष्यम्' इति, 'तमध्यापयेत्' इति च द्वितीयोक्तकर्मत्वलिङ्गादुपनेयात्मसंस्कारद्वारेति निश्चीयते। उपनीतोऽपि नाकिंचित्करोऽङ्गमिति तद्व्यापारापेक्षायां वाक्यान्तर उपनयनं प्रक्रम्य विहितं वेदाध्ययनमेवाध्यापनोपकारकत्वादुपनीतव्यापारतयाऽध्यवसीयते । तदेवं स्वाङ्गमुपनयनं प्रयुञ्जानोऽध्यापनविधिस्तद्द्वारेणाध्ययनं प्रयुङ्क्ते। ततश्चाध्ययनस्यापि प्रयोजने विचार्यमाणे स्वसमवेतत्वेनान्तरङ्गत्वादर्थज्ञानमेव तथात्वेन निश्चीयते, न स्वाचार्यत्वसिद्धिर्बहिरङ्गत्वात् । न च प्रथमावगतत्वेनाचार्यत्वसिद्धिरेवाध्ययनप्रयोजनं, न तु पश्चादवगतमर्थज्ञानमिति वाच्यम्। तत्सिद्धिं विनाऽप्यध्ययनानुष्ठानसंभवेन प्रथमं तदनवगमात् । न च शब्दादवगतो नियोग एव प्रयोजनमस्त्विति वाच्यम् । अर्थज्ञानस्यापि प्रतीयमानत्वेन त्यागायोगात् । नन्वेवमध्ययनस्यार्थज्ञानार्थत्वेऽध्ययनविधिनैवार्थज्ञानप्राप्तिः किमिति नाद्रियत इति शङ्क्यम् । अध्ययनविधेरधिकारशून्यत्वादाचार्यकरणविधिप्रयुक्त्याप्यात्मलाभानङ्गीकारे विश्वजिदादिवन्नियोज्यकल्पनापत्तेः । अतोऽध्यापनविधिप्रयुक्तमेवाध्ययनमर्थज्ञानं च, नाध्ययनविधिप्रयुक्तमित्याहुः ।

एवं मीमांसकमतद्वयेऽप्यर्थज्ञानस्य वैधत्वात् तदाक्षिप्तविचारस्यापि वैधत्वम् ।

रामानुजाचार्यास्तु, अध्ययनविधिना स्वाध्यायाख्यस्य वेदस्याक्षरराशेर्ग्रहणं विधीयते। तत्रेतिकर्तव्यताकाङ्क्षायामध्यापनविधिना,

'श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वा उपाकृत्य यथाविधि।
युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान् विप्रोऽर्धपञ्चमान्' ॥

रश्मिः ।

मधिकरणं षष्ठस्य षष्ठेऽस्ति । **द्वितीयोक्तकर्मत्वलिङ्गादि**ति । तत्सामर्थ्यादित्यर्थः । **स्वे**त्यादि । स्वमात्मासन्मने मनस्तत्समवेतत्वेन स्वल्पापेक्षत्वरूपान्तरङ्गत्वादित्यर्थः । **बहिरङ्गत्वा**दिति प्रयोगोपाधित्वेन तथात्वादित्यर्थः । तथाहि, संमाननेत्याद्युक्तसूत्रे उत्सञ्जनज्ञानव्ययविगणनानि नयतेर्वाच्यानि । इतरे तु प्रयोगोपाधयः । उत्सञ्जने दण्डमुन्नयते उत्क्षिपतीत्यर्थः । 'माणवकमुपनयीत' विधिनात्मसमीपं प्रापयेदित्यर्थः । उपनयनपूर्वकेणाध्यापनेनोपनेतरि ह्याचार्यत्वं क्रियत इति । **आत्मलाभानङ्गीकार** इति अधिकारिस्वरूपलाभानङ्गीकार इत्यर्थः । **विश्वजिदादिव**दिति । एतच्चतुर्थस्य तृतीयपादे 'चोदनायां फलाश्रुतेः कर्ममात्रं विधीयेत नह्यशब्दं प्रतीयते' इत्यधिकरणे 'विश्वजिता यजेत' इत्यत्र फलाश्रवणेऽपि अध्याहृतफलान्वयमङ्गीकृत्य तत्किमित्यपेक्षायां 'स स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशेषात्' इत्यधिकरणे स्वर्गः फलमिति चिन्तितं, तेन स्वर्गकामो नियोज्य इति सिद्धं, तद्वदित्यर्थः । अत इति । प्रयोगोपाधिनाप्याचार्यत्वकामात्मलाभेन लाघवादित्यर्थः । **तदाक्षिप्ते**ति । अविचारिताश्च शब्दा नार्थं प्रत्याययन्तीति भाष्यात् । 'येन विना यदनुपपन्नं तद् तेनाक्षिप्यते' इति । **प्रौष्ठपद्या**मिति भाद्रपद्याम् । **उपाकृत्ये**ति उपकारं कृत्वेत्यर्थः । उपाकर्म कृत्वेति वार्थः । **अर्धपञ्चमा**निति । अर्धपञ्चमः पौषो माघो वा येषु भाद्रपदाश्विनकार्तिकमार्गशीर्षेषु आश्विन-

भाष्यप्रकाशः ।

इत्यादिभिश्चापेक्षितानि विधीयन्ते । तेनाचार्योच्चारणानूच्चारणरूपमध्ययनमक्षरराशिग्रहणफलकमित्यवगम्यते। तत्र चतुर्वर्गफलस्य विधिवाक्ये कर्मत्वेन बोधितस्य स्वाध्यायस्य कार्यान्तरयोग्यतासंपादनरूपः संस्कारः । तेनाध्ययनविधिरक्षरग्रहणमात्रपर्यवसायी । अध्ययनगृहीतं च स्वभावादेवार्थबोधकमिति स्वाध्यायस्यापि तथात्वात् तत्रापाततोऽवगम्यमानानामर्थानां स्वरूपप्रकारविशेषनिर्णयाय वेदवाक्यविचाररूपमीमांसाद्वयश्रवणेऽधीतवेदः पुरुषः स्वत एव प्रवर्तते । तत्र कर्मस्वरूपनिरूपणे तेषामल्पास्थिरफलत्वं दृष्ट्वाऽध्ययनगृहीतस्वाध्यायैकदेशोपनिषद्वाक्येषु चाऽमृतत्वरूपानन्तस्थिरफलापातप्रतीतेस्तन्निर्णयफलकवेदान्तविचाररूपशारीरकमीमांसायामधिकरोतीत्याहुः ।

शैवास्तु, अध्ययनविधेरक्षरग्रहणमात्रपरत्वमङ्गीकृत्याध्ययनेनाऽऽपाततोऽर्थप्रतीतेस्तदनु ब्रह्मस्थूलोपासनभूतज्योतिष्टोमादिविधायकानां सूक्ष्मोपासनभूतदहरादिविद्याविधायकानां चेतरेतरविरोधाभासं पश्यँस्तद्विचारे पुरुषार्थाकाङ्क्षी पुरुषः स्वयमेव प्रवर्ततेऽतो नानिबन्धनो विचार इत्याहुः ।

भट्टभास्कराचार्यास्तु स्वाध्यायविधेरर्थावबोधपर्यवसितत्वेऽपि ब्रह्मज्ञानं तेनाक्षेप्तुं न शक्यम् । 'यज्ञेन दानेन' इति, 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धान्वितो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्येत्' इति श्रुत्या ब्रह्मज्ञानस्योपायान्तरसापेक्षत्वात् । कर्मावबोधनसमर्थेषु पुरुषेष्वध्ययनविधेः कृतार्थत्वेनोपायान्तराक्षेपाक्षमत्वात् । 'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः' इत्यादिश्रुतेर्ब्रह्मणो दुर्ज्ञेयत्वाच्च । अतो ब्रह्मजिज्ञासा न तत्कारिता किंतु, 'श्रोतव्यो मन्तव्यः', 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः', 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्' इत्यादिवेदान्तविधिकारिता वास्त्वित्याहुः ।

तत्राध्ययनविधेरर्थज्ञानार्थत्वकल्पनमसंगतम् । 'यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवति' इतिवाक्येनाक्षरग्रहणमात्रेऽपि फलबोधने तदतिहाय फलान्तरकल्पनस्यायुक्तत्वात् ।

रश्मिः ।

कार्तिकमार्गशीर्षपौषेषु वा तादृशान् मासानित्यर्थः । चतुर्वर्गे त्वत्र बहुव्रीहिः । **विधी**ति । 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इति वाक्ये । **गृहीतं** चेति शास्त्रमित्यर्थः । **इत्याहु**रिति । तेनात्राक्षरग्रहणमधिकमिति पूर्वस्माद्विशेषः । **विरोधे**त्यादि । 'आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास इष्यते' इत्यलंकारं लक्षयित्वा 'विनापि तन्वि हारेण वक्षोजौ तव हारिणौ' मनोहारिणौ इत्युदाहरणम् । 'घटाद्विना घटीयो धनेशः संराजतेऽधुने'ति चोदाहरणम्, तत्र प्रश्लेषादाभासः । एवं चैकशास्त्राद्विरोधः । साधनयोरेकत्र सहानवस्थानलक्षणः आभासो विरोधस्यैवं कर्माणि ज्ञानप्रयोजकतया मोक्षे समुच्चीयन्त इति वक्ष्यन्ति । भगवांश्चैवाचार्य इति गुणकर्मत्वादङ्गत्वं ज्योतिष्टोमादीनामिति । **इत्याहे**ति । तेनैतन्मते विचारसार्थक्यमात्रम्, न तु तस्य वैधत्वावैधत्वविवेचनमिति । ग्रामं गच्छतीत्यादौ ग्रामसंयोगोऽवान्तरसंयोगान् गृह्णातीति तदनुसारेणाध्ययनस्याक्षरग्रहणमात्रं फलमित्याशयेनाहुः **तत्रे**ति । दूरान्वयदोषोऽपि मीमांसकमते यः सोऽपि न । **अक्षरग्रहणमात्र** इति । दृश्यमाने दृष्ट इत्यर्थः । इदानीं 'लभ्यमाने फले दृष्टे नादृष्टफलकल्पना । विधेस्तु नियमार्थत्वान्नानर्थक्यं भविष्यति' इति वाक्यात् । **स्वर्गब्रह्मज्ञानादि** तु साधनान्तरयागविज्ञानादिभिरिष्टत्वेनोक्तं भवति ।

भाष्यप्रकाशः ।

वाक्यबलेनाऽदृष्टद्वारकत्वस्याप्यदुष्टत्वात् । तेन तेन क्रत्वध्ययनेनास्याध्येतुरिष्टं मनोवाञ्छितं भवतीति इष्टफलार्थत्वस्यापि शक्यवचनत्वाच्च । नच प्रत्यक्षविरोधः । इदानीन्तनाध्ययनस्य व्यङ्ग्यत्वेनादोषात् । नच व्यङ्ग्यत्वे मानाभावः । स्वाध्यायपदस्य वेदे योगरूढ्या सुष्ठ्वासमन्तादध्यायो यस्येति **योगस्यापि** प्राप्तत्वे देशकालगुरुशिष्यनिष्ठानां शोभनगुणानां पाठार्थानुष्ठानेषु शङ्काराहित्यरूपस्य समन्तत्वस्य च ग्रहणेन स्वाध्याय इति समाख्याया एव तत्र मानत्वात् । नचैवं सत्यर्थज्ञानस्यापि प्राप्तेः कथं तदर्थन्वकल्पनस्यासंगतिरिति शङ्क्यम् । **नैस्तस्य** माणवकाधिकार-

रश्मिः ।

ननु तत्राधीत इत्यध्ययनस्य स्वर्गब्रह्मज्ञानपर्यन्तमस्थानादिष्टपदोक्तसाध्यसाधनभावव्याहतिरित्याशङ्क्याहुः **वाक्यबलेनेत्यादि** वाक्यं यं यं क्रतुमिति । अभ्युपगम्याहुः **तेन-तेनेति** इष्टफलार्थत्वेन । **इष्टफलार्थत्वस्येष्टार्थत्वस्येति** यावत् । **इति योगस्यापीति** । पूर्वकाण्डविषयत्वेन रूढे शब्दे । **देशकालेत्यादि** । यज्ञाद्यनुष्ठापका देशादयः । पूर्वतन्त्रे एकादशस्य द्वितीये पादे 'एकदेशकालकर्तृत्वं' इत्यधिकरणे समे दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजतीति समत्वपौर्णमासीत्वे देशकालयोर्गुणौ चिन्तितौ । गुरुशिष्ययोस्त्वत्रैव स्पष्टा इति । **समाख्याया इति** । यौगिकस्य शब्दस्येत्यर्थः । तन्मतमनुस्मृत्य दूषयन्ति **नैस्तस्येति** । मीमांसकैरित्यर्थः ।

सिद्धान्तस्तु प्राथमिकमध्ययनमध्यापनविधिप्रयुक्तम्, माणवकोपनयनस्याध्यापनाङ्गत्ववदध्ययनाङ्गत्वेपि तस्य बालत्वेन स्वतोध्ययने प्रवर्तनादर्शनात्, किंच 'द्वितीयं प्राप्यानुपूर्व्या जन्मोपनयनं द्विजः' इत्युपनीतमुपक्रम्य 'आचार्यं मां विजानीयात्' इति तस्याचार्ये भगवद्बुद्धिकरणं विहितम् । तथा 'गच्छेदाचार्यसंसदि' इति स्मृत्यन्तरे चाचार्यसंसद्गमनं च विहितम् । तदुभयमपि क्रीडनासक्तस्य बालस्य न संभवति । तस्माच्छ्रुतिचोदितोऽध्ययनज्ञानयोर्विधिर्न माणवकमधिकरोति । अपि च । त्रैवर्णिकाः कर्तव्यमपेक्षमाणा अध्ययनं च कर्तारमपेक्षमाणमुभये सापेक्षा अन्योन्यं भवन्ति । तत्र विद्वत्तायोग्यतदयोग्यौ कर्तारावपेक्षतेऽध्ययनम् । नाद्यः । फलोपधायकयोग्यमपेक्षमाणं न माणवकमपेक्षेत, नेतरः तादृशफलानिष्पत्तेः । न चैवं त्रैवर्णिकाधिकारनियमभङ्ग इति वाच्यम् । अष्टवर्षवाक्ये उपनयनाध्यापनयोः संनिधानादध्ययनं विना चाध्यापनासिद्धेस्तदाक्षिप्तेनैवाध्ययनेनोक्ताधिकारनियमसिद्धेः । न च स्वाध्यायवाक्यवैयर्थ्यमिति शङ्क्यम्, वेदस्य स्वाध्यायत्वबोधनेन तस्य कृतार्थत्वात् । एतेनाध्ययनविध्यभावे माणवकस्याध्ययनार्था प्रवृत्तिर्न स्यादिति प्रत्युक्तम् । स्वस्याचार्यत्वसिषाधयिषुणैव तेऽध्यापनीया इति । न च किमनेन निर्बन्धेन अध्ययनविधिरेव माणवकं प्रवर्तयत्विति शङ्क्यम्, विधिव्यापारकौण्ठ्यप्रसङ्गात् । यत्तूपनीतव्यापारापेक्षायामुपनयनमुपक्रम्य विहितमध्ययनमध्यापनोपकारकत्वेन तदङ्गं नार्थज्ञानाङ्गं साध्यद्वयस्यैकत्रासंभवादित्युक्तं तदपि न । एकस्यापि वाहनकरणकयानस्य सुखोद्देशदेशप्राप्त्योरङ्गत्वात् । तदप्यध्यापनाक्षिप्तमध्ययनं लौकिकमेवोररीकार्यम्, तावताप्यध्यापनसंभवात्; विहितस्यापि तत एवाङ्गीकारे तूद्देशाभावात् ततो नापूर्वं सिध्येदित्युक्तम्, तदपि तथा । लौकिकेन तेनाचार्यत्वासिद्धेः । वेदाध्ययनेनैव तत्स्मरणात् । न चापूर्वासिद्धिरिति वाच्यम्, आचार्यकृतोद्देशेनापि तत्सिद्धेः । पूर्वतन्त्रीयचतुर्थतार्तीयस्य 'फलसंयोगस्त्वचोदिते न स्यादशेषभूतत्वात्' इत्यधिकरणचिन्तितजातेष्टौ पितृकृतोद्देशवदिति दिक् ।

भाष्यप्रकाशः ।

त्वेनाङ्गीकारात् । **वेदस्य गुरुमुखाद्** ग्रहणदशायां तं प्रति स्वाध्यायत्वस्य भावित्वेन तदानीमभावात् । 'वेदमनूच्याऽऽचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति, सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः', इति तैत्तिरीयाणां शिक्षोपनिषच्छ्रुत्या तथानिश्चयात् । आधानाग्निहोत्रादिविधीनामपि तत्र तदाक्षेपकत्वस्याध्ययनविधिप्रसादलभ्यत्वोपगमेन प्रसादस्य च माणवके सामर्थ्याभावादभावेन तेषामप्याक्षेपकतायां कौण्ठ्याच्च । आश्रिते चैकवाक्यत्वे, ज्ञेयश्चेति विध्यन्तरस्यापि संप्राप्तत्वात् तद्बलादेवार्थज्ञानमङ्गीकार्यम् । अन्यथा तद्वैयर्थ्यादिति । अत एव प्राथमिकाध्ययनस्यापि तदर्थत्वमसंगतम् । किंत्वध्यापनप्रयुक्तत्वं यदुक्तं तन्मात्रं युक्तम् । ज्ञातुर्नियोज्यस्याचार्यत्वकामिनस्तत्रैव विधौ सत्त्वेन लिङ्प्रयोगेण च तत्र विधित्वस्यासंदिग्धत्वात् । कृत्यानां त्वावश्यकार्येऽप्यनुशासनात् । वयसा जातस्यातथ्याणां त्रैवर्णिकानामध्ययनस्यावश्यकत्वबोधनेन वाक्यसार्थक्यसिद्धेः । एवंच यद्यप्यध्यापनविधावध्यापनमात्रं श्रुतं, तथापि, 'साङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इतिश्रावणाद् गुरुणाङ्गपाठनेर्थाज्ञापने च तदसिद्ध्या वैयर्थ्ये वाक्यस्य प्रसक्ते तद्वारणाय तथाध्यापनमङ्गीकरणीयम् । आचार्यलक्षणस्मृतौ वेदस्य 'सकल्पं सरहस्यं च' इति **विशेषणाच्च** ।

रश्मिः ।

प्रकृतमनुसरामः । दूषणमाहुः **वेदस्येत्यादि** । **अभावादिति** । तथा च माणवकं प्रति स्वाध्यायसमाख्यासामर्थ्यविरहेणार्थज्ञानस्याप्यनुपलब्धेर्न तदर्थत्वकल्पनमिति भावः । ननु स्वस्यासाधारण्येन पितृपितामहादिपरंपराप्राप्ता शाखा स्वाध्याय इति योगस्य सायणीयेऽङ्गीकारात्, पूर्वोक्तं न साधीय इति शङ्कामपनुदन्तो वेदे स्वाध्यायत्वस्य भावित्वं श्रौतमित्याहुः **वेदमनूच्येत्यादि** । **तथानिश्चयादिति** वेदे स्वाध्यायत्वस्य भावित्वनिश्चयादित्यर्थः । अन्यथा स्वाध्यायमनूच्येत्येव वदेदिति भावः । तदाक्षेपकत्वस्येति विद्वत्त्रैवर्णिकाक्षेपकत्वस्येत्यर्थः । **आक्षेपकतायामिति** अर्थज्ञानाक्षेपकतायामित्यर्थः । अतः परमवशिष्टमर्थज्ञानांशे नियमविधित्वम्, तदपि प्राभाकरमतदूषणेन दूषितं भविष्यतीत्याशयेनाहुः **आश्रिते चेति** । **इतीति** । अयमत्र प्रकर्षं ब्रूते । तथा च विधिवैयर्थ्यं प्रकृष्टो हेतुरित्यर्थः । प्रत्यक्षश्रुतिलभ्यत्वसंभवे चोदकप्राप्तत्वस्वीकारस्यानुचितत्वादित्यपरः । एतच्च पूर्वतन्त्रे द्वादशस्य चतुर्थे पादे 'विप्रतिषेधे परम्' इत्यधिकरणे चिन्तितम् । यत्रार्त्विज्ययाजमानयोः कर्मणोर्युगपदात्मलाभस्तत्र ये यजमानास्ते ऋत्विज इति विहितमार्त्विज्यं चोदकप्राप्तयाजमानाद् बलीय इति । **विधाविति** उपनयीतेति विधावित्यर्थः । पूर्वतन्त्रे अपूर्वत्वोपात्तसाक्षादध्ययनविधिप्रयोजनमाहुः **कृत्यानामित्यादि** । **अनुशासनादिति** । 'आवश्यकाधमर्णयोर्णिनि' इत्येतदनन्तरं 'कृत्याश्च' इत्यनुशासनादित्यर्थः । **वाक्यसार्थक्यसिद्धेरिति** । तेन नात्र नित्यानुवादगन्धोपीत्याशयः विधिपक्षेप्युपादेय इति वक्ष्यन्ति । न चैवमनधीयाना व्रात्या भवन्तीति वाक्यवैयर्थ्यम् । 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' 'प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च' इत्यादिसूत्रैरनेकार्थेषु प्राप्तस्य तव्यस्यावश्यकार्थस्यावेदकत्वात् । वाक्यत्रयैकवाक्यतया यत्सिद्धं तदाहुः **एवं चेत्यादि** । **विशेषणाच्चेति** । अनेनाध्यापनविधौ नियोज्याभावादध्यापनसमभिव्याहृतेनोपनयीतेत्यात्मनेपदेनाचार्यकरणलाभे तत्कामिना नियोज्याकाङ्क्षा पूरणीया । तथा सत्यध्यापनस्याचार्यत्वसिद्धिः प्रयोजनं नत्वर्थज्ञापनमपि, ततश्च सिद्धे आचार्यत्वे तस्यार्थज्ञापनस्यानावश्यकत्वान्माणव-

भाष्यप्रकाशः ।

एवं साङ्गेऽधीते ज्ञाते च तस्य स्वाध्यायः सिद्ध्यति। तदोक्तं फलमपि संपद्यत इति वाक्यत्रयैकवाक्यतयावसीयते तस्मात् प्राथमिकाध्ययनमध्यापनप्रयुक्तम्, अर्थज्ञानं च प्रत्यक्षश्रुतिलभ्यमिति भाट्टप्राभाकरयोः पूर्वोक्तकल्पना असंगतैव। कृत्यप्रत्यययोर्विध्यर्थकत्वपक्षेप्युक्त एव प्रकारो युक्तः। अन्यथा विधिकौण्ठ्यप्रसङ्गात्। एवंच रामानुजाचार्यैरध्ययनविधेरक्षरग्रहणपर्यवसायित्वं, स्वाध्यायस्य च स्वभावादर्थबोधकत्वं यदुक्तं तदप्युक्तदिशैव युक्तम्। नत्वन्यथापि। एवमेव भास्कराचार्योक्ते स्वाध्यायविधेरर्थावबोधपर्यवसितत्वेपि बोध्यम्। शैवस्तु विचारसार्थक्यमात्रमाह, न तु शास्त्रप्रयोजकं कंचन विधिमपीति तन्मते वैधत्वमेवायाति। तेन तदुदासीनप्रायम्। एवं वेदान्तस्थविधावपि श्रवणपदेन शब्दग्रहणं मननपदेनावबोधोऽन्वेषणविजिज्ञासापदाभ्यां चेच्छा विधीयत इति बोद्धव्यम्। नचेच्छाया अविधेयत्वम्। 'तिस्रः खलु एषणा एषितव्याः' इति चरके पतञ्जलिनाऽभिधानात्। अतः शंकराचार्योक्ततत्तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति विधिरपि तथा। एवंच भैक्षवे ये विधय उक्ताः, 'आत्मेत्येवोपासीत,' 'स म आत्मेति विद्यात्' 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः' इति। तेऽपि ज्ञान एव, न विचारे। ये चापि मध्वाचार्यैर्जिज्ञासासूत्रे, 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च' इति तेऽपि सर्वे ज्ञान एव पर्यवस्यन्ति।

यत्तु शैवः। किमयं श्रोतव्य इति विधिर्नियमः परिसंख्या वा। नाद्यः। वेदान्तश्रवणं

रश्मिः ।

कस्याचिद्दत्तायां यज्ञाद्यनधिकार इत्याशङ्कापास्ता। फलमिति 'तेन तेनास्येष्टं भवति' 'अग्नेर्वायोरादित्यस्य वा सायुज्यं गच्छति' इति फलमित्यर्थः। वाक्यत्रयैकवाक्यतयेति। सा चेत्थम्। अष्टवर्षमिति वाक्योक्तमध्यापनप्रयुक्तमध्ययनं स्वात्मलाभाय 'साङ्गः' इति वाक्योक्तसाङ्गत्वज्ञेयत्वासक्तमवगम्यते। तदनु शङ्काद्यपनुत्त्या स्वाध्याय इति। सिद्धमाहुः तस्मादिति। उक्त एव प्रकार इति वाक्यत्रयैकवाक्यताप्रकार एवेत्यर्थः। विधिकौण्ठ्यप्रसङ्गादिति 'स्वाध्यायो' 'ज्ञेयश्च' इति विधिकौण्ठ्यप्रसङ्गादित्यर्थः। एवं चेति। 'ज्ञेयश्च' इति प्रत्यक्षविधेरकौण्ठ्यस्यावश्यकत्वे चेत्यर्थः। विचारेति आपाततः प्रतीतार्थे तत्पोषकविचारः युक्तत्वायुक्तत्वपोषणनिरासाभ्यां युक्तत्वायुक्तत्वार्थाभ्यां सह वर्तमानो विचारः सार्थकः, तस्य भावः सार्थक्यम्, सार्थक्यमेव सार्थक्यमात्रम्। शास्त्रमिति शास्त्रं वेदान्तरूपं तदुपाङ्गं मीमांसा सापि शास्त्रमवयवी अनङ्गीकारात्। तस्य प्रयोजको विधिस्तम्। अवैधत्वमिति। न च श्रोतव्य इत्यत्र ब्रह्मवाचकपदानां ब्रह्मणि शक्तितात्पर्यनिर्धारः श्रवणमिति कथं अवैधत्वमिति शङ्क्यम्, अस्य विधित्वस्य तैरनङ्गीकारात्। सोत्रैवाग्रे स्फुटः संप्राप्यत्वात्। भास्करमतीयमविरुद्धमंशं व्याकुर्वन्ति एवं वेदान्तस्थेति। तथेति इच्छाविधायकत्वेन प्रकारेणेत्यर्थः।

श्रोतव्य इत्यस्य विधित्वं निर्णेतुं तावच्छैवमतं प्रसङ्गादाहुः यत्तु शैव इति। विधिरिति अपूर्वविधिरित्यर्थः। प्रमाणान्तरेण यस्य यदर्थत्वमप्राप्तं तदर्थत्वेन तस्य विधिः सः। 'यजेत स्वर्गकामः' इति, यथा प्रमाणान्तरेण यागस्य स्वर्गार्थत्वानवगमात्लक्षणसंगतिः। नियम इति पक्षे, अप्राप्तस्य विधिः सः। व्रीहीनवहन्ति इति। यथा नखविदलनादिना वितुषीकरणपक्षेऽप्राप्तस्यावहननस्य विधानात्। स चाप्राप्तांशपूरणात्मकः परिसंख्येति। उभयस्य युगपत् प्राप्तौ इतरव्या-

शब्दाश्च बोधकाः।
निःसंदिग्धं तदर्थाश्च लोकवद् व्याकृतेः स्फुटाः॥

भाष्यप्रकाशः ।

स्वविषयमात्रावगतिसाधनं शास्त्रश्रवणत्वात् वैद्यकशास्त्रश्रवणवदित्यनुमानेनापि प्राप्ततयाऽपूर्वत्वाभावात्। न द्वितीयः। अवघातवद् दृष्टफलस्योपायान्तरस्याप्राप्तत्वात्। नेतरः। तथा सति श्रोतव्या एव वेदान्ता नाध्येया इति स्यात्। ततश्च विचारस्याप्ययोगात् पुरुषार्थासंभवः। एवं च वेदाध्ययनादिरपि निवर्तेतेति महानेवानयः स्यादिति विकल्पितवान्। तदुच्छम्। हेतोः साधारणत्वेनानुमानतोऽप्राप्तावपूर्वविधित्वस्य स्थिरत्वात्। कथं साधारणतेति चेत् वेदान्तश्रवणं न स्वविषयावगतिसाधनं शास्त्रश्रवणत्वात् मन्त्रश्रवणवदित्येवमवधेहि। किंच, श्रवणपदं शब्दग्रहणमात्रपरं वा, वाक्यार्थज्ञानपरं वा। आद्ये विधिवैयर्थ्यापत्तिः। स्वाध्यायविधिनैव चारितार्थ्यात्। नचाध्ययननियमाभावाय पुनर्विधानमिति वाच्यम्। आचारविरोधात्। त्रैवर्णिकाधिकारस्यापि त्यागापत्तेश्च। द्वितीये तु निराबाधं विधित्वम्। अन्यथा वाक्यवैयर्थ्यापत्तेरिति।

अतः पूर्वकाण्डविधेरर्थज्ञानमात्रार्थत्वेनोत्तरकाण्डीयस्यापि ब्राह्मणश्रमणन्यायेन विशेषार्थतया विचारस्यावैधत्वानारम्भणीयः। ननु संदेहाभावायाध्ययनादिविधौ विचार आक्षेप्य इत्यत आह शब्दाश्चेत्यादि।

रश्मिः ।

वृत्तिपरो विधिः सा, पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या इति। यथा। भक्षणस्य रागप्राप्तत्वात् पक्षेप्राप्तत्वाभावाच्च नापूर्वनियमोऽन्यपञ्चनखभक्षणनिवृत्तिपरत्वात् पञ्चनखापञ्चनखभक्षणस्य युगपत् प्राप्तत्वात् परिसंख्या। अत्र श्रुतस्य पञ्चनखभक्षणस्य हानाच्छ्रुतहानिः। अपञ्चनखभक्षणनिवृत्तिकल्पनादश्रुतकल्पना। अपञ्चनखभक्षणस्य बाधनात् प्राप्तबाध इति दोषत्रयवती। ततश्चेति अध्ययनाभावाच्चेत्यर्थः। अनुभयस्य युगपत्प्राप्ताबितरव्यावृत्तेरित्यर्थः। एवं चेति। पूर्वोक्तपरामर्शेनाध्यापनविधावपि परिसंख्यापत्त्येत्यर्थः। श्रवणपदमिति। इदं तव्यान्तप्रकृतिरूपं ज्ञेयम्। विधिवैयर्थ्यापत्तिरिति श्रोतव्य इति विधिवैयर्थ्यापत्तिरित्यर्थः। चारितार्थ्यादिति शब्दग्रहणस्यैवाध्ययनपदार्थत्वेन तथात्वादित्यर्थः। न चेत्यादि। श्रोतव्य इति पुनर्विधानं श्रवणेध्ययनानन्तर्यनियमाभावायेत्यर्थः। तथैवाचारमाश्रित्य हेत्वन्तरमाहुः त्रैवर्णिकेत्यादि। अध्ययने त्रैवर्णिकाधिकारात् तस्य चाभावाच्छ्रवणविधिः सर्वानप्यधिकुर्यादित्यर्थः। निराबाधमिति। वाक्यार्थज्ञानस्याध्ययनविधिनानुपलब्धेर्निराबाधं श्रोतव्य इत्यस्य विधित्वमित्यर्थः। द्वितीयार्थादरे युक्तिमप्याहुः अन्यथेति। ब्राह्मणश्रमणन्यायेनेति। ब्राह्मणाश्चेत् श्रमणास्तेन न्यायेनेत्यर्थः। यथा ब्राह्मणः सन् श्रमणो भवति, पश्चाद्भूतपूर्वगत्या श्रमण इत्युच्यते तथा। विशेषार्थेति। वेदान्तार्थज्ञानपरतयेत्यर्थः। एतावता 'साङ्गोऽध्येयस्तथा ज्ञेयः' इति भाष्यं हेतुद्वयसमर्पकं विवृतम्। शब्दाश्चेति। शब्दाश्च निःसंदिग्धं बोधकाः लोकवत् व्याकृतेर्व्याकरणात्तदर्थाश्च स्फुटा इत्यर्थः। व्याकरणत्वं च महाभाष्ये लक्ष्यलक्षणसमुदायत्वम्। लक्ष्याः प्रयोगाः सुध्युपास्यादयः। लक्षणानि सूत्राणि अइउणित्यादीनि वृद्धिरादैजित्यादीनि च। एवं लौकिकशब्दविषयं व्याकरणम्। अलौकिकशब्दविषयं तु विकल्पनादिविधिमल्लक्ष्यलक्षणसमुदायरूपम्। ननु य एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिका इति शाबरभाष्ये शब्दाभेदाल्लक्षणभेदः कुत इति चेन् न। निबन्धटीकायां वैदिकशब्दानां स्वरादिना

अर्थज्ञानार्थं विचार आरम्भणीयः। तस्य च ब्रह्मरूपत्वात् तज्ज्ञाने पुरुषार्थो भवतीति न मन्तव्यम्। विचारं विनापि वेदादेव साक्षादर्थप्रतीतेः।

भाष्यप्रकाशः ।

विशेषबोधनाय स्वोक्तं विभजते अर्थज्ञानेत्यादि । सर्वोऽपि प्रयोजनमुद्दिश्य कार्यमारभते। तत्रास्य विचारस्य प्रयोजनं वेदार्थज्ञानं वाऽन्यद् वा । तत्रान्यस्यादर्शनात्, 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः' इतिवाक्यबोधितमाद्यमेवादर्तव्यम् । तत्रापि तस्य स्वतोऽपुरुषार्थत्वात् प्रयोजनान्तरमेष्टव्यम् । तच्च प्रयोजनमनन्तविधमप्यैहिकामुष्मिकपुरुषार्थेऽन्तर्भूतत्वात् पुरुषार्थरूपम्। तच्च वेदार्थज्ञानेन भवतीति तदर्थं विचार आरम्भणीयो, न तु स्वतःपुरुषार्थत्वात् । वेदार्थश्च, 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इति, 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः,'

'वेदास्त्रिकाण्डविषया ब्रह्मात्मविषया इमे, परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं च मम प्रियम्'

इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिर्ब्रह्मरूपः । नच 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'इत्यादिस्मृतिभिर्धर्मरूप इति वाच्यम् । 'यज्ञो वै विष्णुः' इति, 'धर्मो यस्यां मदात्मकः' इति श्रुतिस्मृतिभ्यां धर्मस्यापि ब्रह्मरूपत्वबोधनात् तद्रूपेणैवार्थत्वात् । ब्रह्मणस्तु ज्ञानादेव पुरुषार्थसिद्धिः । 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' 'आनन्दं ब्रह्म'इत्युपक्रम्य, 'य एवं वेद प्रतितिष्ठति, अन्नवानन्नादो भवति महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन महान् कीर्त्या' । दहरविद्यायां दहरपुण्डरीकवेश्मस्थितस्याकाशस्यैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेत्यनेन ब्रह्मत्वमुक्त्वा, एवंवित् स्वर्गं लोकमेतीत्येवंविधेषु वाक्येष्वैहिकामुष्मिकपुरुषार्थस्य ज्ञानमात्रेणैव श्रावणात् तावतापि पुरुषार्थसिद्धेर्ब्रह्म न मन्तव्यं न विचार्यमित्यर्थः ।

रश्मिः ।

भेदकथनात् । महाभाष्येपि 'व्यत्ययो बहुलम्' इति योगविभागेन 'सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते' इति परिभाषासाधितोक्तवेदेषु विकल्पनादिविधिमल्लक्ष्यलक्षणसमुदायसत्त्वे शब्दाद्वेदे आयान्त्येव । तथा वेदेषु योगरूढिः, वेदान्ते तु योगः । तदुक्तं पत्रावलम्बने

'लौकिको वैदिकश्चैव व्यवहारो द्विधा मतः ।
लोकसिद्धं पुरस्कृत्य वैदिको बोध्यते यथा ॥
लोके शब्दार्थसंबन्धो रूपं तेषां च यादृशम् ।
न विवादस्तत्र कार्यो लोकोच्छित्तिस्तथा भवेत् ॥
ब्रह्मवादे निरुक्तिस्तु न वक्तव्यैव कुत्रचित् ।
वस्तुतो ब्रह्म सर्वं हि व्यवहारस्तु लोकतः ॥
ये धातुशब्दा यत्रार्थ उपदेशे प्रकीर्तिताः ।
तथैवार्थो वेदराशेः कर्तव्यो नान्यथा क्वचित् ॥

इति योगकथनात् । पूर्वमीमांसाकारिकासु तु लौकिकवैदिकव्यवहारकथनावसरे 'जलाग्न्योरिव संरक्षा तयोः कार्या मनीषिभिः' इत्युक्तम् । 'विचारो योगरूढितः' इत्यपि तत्र । स्वोक्तमिति स्वेन कारिकयोक्तमित्यर्थः । प्रयोजनमिति फलमित्यर्थः । तस्य इति वेदार्थज्ञानस्येत्यर्थः । तस्य चेत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति वेदार्थश्चेत्यादि । मीमांसकाशङ्कामनूद्य निषेधन्ति न चेत्यादि । तज्ज्ञान इत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति ब्रह्मणस्त्विति । वाक्यान्तरेण प्राप्तं ब्रह्मविचारं प्रत्याख्याति

नचार्थज्ञानमविहितम्, अविचारिताश्च शब्दा नार्थं प्रत्याययन्तीति वाच्यम्, ज्ञेयश्चेति विधानात् ।
'गीती शीघ्री शिरःकम्पी तथा लिखितपाठकः ।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः'
इति बाधोपलब्धेश्च । शब्दश्चक्षुरादिवन्न संदिग्धार्थप्रतिपादकः । तदर्थश्च

भाष्यप्रकाशः ।

न च श्रोतव्य इति विधिना श्रवणं विधाय तदर्थमननाय मन्तव्य इति विध्यन्तरदर्शनादवबोधसामान्यस्य तदर्थत्वेनाशक्यवचनत्वाद् युक्तिभिरनुचिन्तनमेव मननपदार्थो वक्तव्य इति विचारोऽपि प्राप्त एवेति वाच्यम् । तस्य शारीरपरत्वात् । प्रियत्वलिङ्गेन तथा निश्चयात् । नच वाक्यार्थः शारीरः परमात्मा वेति संदेहे लिङ्गादिभिस्तन्निश्चितार्थबोधार्थमेव विचार आक्षेप्य इति वाच्यम् । वेदे साङ्ग इति विशेषणादधीतनिगमनिरुक्तव्याकरणस्य विचारं विनापि तैरेव तत्संभवात् । तेषु श्रुतीनामेवोदाहृतत्वात् । न च मास्तु वाक्यार्थज्ञानार्थं विचारापेक्षा । पदार्थज्ञानार्थं त्वावश्यकः । शब्दानां प्रायशोऽनेकार्थत्वेनानेकवृत्तिकत्वेन च कया वृत्त्या कमर्थमत्र बोधयन्तीति निश्चयाभावात्, तदर्थज्ञानस्य चाविहितत्वेन तदविचारादिति शङ्कनीयम् । ध्येयत्ववत् साङ्गस्य ज्ञेयत्वविधानेन गुरुमुखादेव पदार्थज्ञानस्यापि सिद्धेः । नच विध्यभावाद् गुरुणार्थो न वक्तव्य इति शङ्का कार्या । वाक्यान्तरे बाधोपलब्धेः । तदिदमुक्तं, नचार्थेत्यादिना । नापि संदेहाभावाय तदपेक्षा । शब्दस्य निःसंदिग्धार्थबोधकत्वात् । न हि गौरित्युक्ते सत्त्वान्तरबोधो भवति ।

रश्मिः ।

न चेत्यादि । तस्येति । 'आत्मा वा अरे' इति वाक्यस्येत्यर्थः । अत्रोपक्रमं नियामकं करोति प्रियत्वेति । मैत्रेयीब्राह्मणे 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति' इत्यात्मानमुपक्रम्यास्य निर्देशेन शारीरपरत्वनिश्चयादित्यर्थः । अत्र मैत्रेय्याः स्त्रीत्वेन तदधिकारानुसारेण जीवोपक्रमात्तस्य पूर्वपक्षग्रन्थत्वान्न वाक्यान्वयाधिकरणविरोधः । तत्संभवादिति शारीरः परमात्मा वेति संदेहानुपपत्तिसंभवादित्यर्थः । तेष्विति निगमनिरुक्तव्याकरणेष्वित्यर्थः । स्पष्टम् । यद्वा तु समाहारद्वन्द्वात्, निगमे व्याकरणं यथा, अत्र च 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' इति निगमस्तत्र । न च जीवो द्रष्टव्यः श्रोतव्यः, कर्तृत्वात्, आत्मनश्च कर्मत्वादिति व्याकरणम् । एवमन्यत्रापि ।

'अहमात्मात्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि ।
अतो मयि रतिं कुर्याद्देहादिर्यत्कृते प्रियः' इति ।

भगवद्वाक्यमप्युपलक्षणविधया ज्ञेयम् । न चार्थज्ञानेत्यादिभाष्यमवतारयन्ति न च मास्त्विति । कारिकास्थं तथापदं विवृण्वन्तो 'ज्ञेयश्च' इति विधानादिति भाष्यार्थमाहुः अध्येयत्ववदिति । 'गीती शीघ्री'इति भाष्यमवतारयन्ति न चेति । वाक्यान्तरं पाणिनीयशिक्षास्थम् । यद्वा 'ज्ञेयश्च' इति वाक्यादन्यद्वाक्यं गीतीति वाक्यान्तरम् । बाधेति अधमत्वावहं बाधः । बाधश्च विपरीतप्रमेति नैयायिकाः । भेदवादमाहुः । अधमत्वनिवृत्त्यर्थं गुरुणार्थो वक्तव्य इति प्रमाया विपरीतप्रमा । तदिदमिति । न च मास्त्वित्यारभ्य विवृतमित्यर्थः । शब्दश्चक्षुरित्यादिभाष्यमवतारयन्ति नापीति । नहीति । यथेति भाष्यतात्पर्यम् । तदर्थश्चेत्यादिभाष्यं

व्याकरणादिना निश्चीयते। यथा लौकिकवाक्ये तथा वेदेऽपि। न च तद्विरुद्धं निर्णेतव्यम्, । अप्रामाणिकत्वप्रसङ्गात् । तस्माद् वेदार्थज्ञानार्थं विचारो नारम्भणीयः।

स्यादेतत्

भाष्यप्रकाशः ।

अतोऽनेकार्थत्वादिसंकटेपि व्याकरणोक्तस्वरादिना सुखेन तन्निरासात्। किंच। लोके प्रत्यक्षादिसंक्रमाच्च तथा व्याकरणापेक्षेति तद्विरुद्धमपि क्वचिन्निर्णीयते। अत एव लौकिकशब्दार्थनिर्णायकत्वेऽपि न तत्र तेषामङ्गत्वप्रसिद्धिः। वेदे तु तेषामङ्गत्वस्य शास्त्रप्रसिद्धत्वात् प्रमेयस्य चात्यन्तालौकिकत्वेन विचारवादिनोऽपि तेषामाश्रयणीयत्वात् तद्धेतुन्यायेन तैरेवार्थज्ञानसिद्धेः कृतमजागलस्तनप्रायेण विचारेणेति। तदिदमुक्तं नचेत्यादिना।

अत्रैकदेशी स्वमतेन विचारकर्तव्यतामुपपादयति स्यादेतदिति वक्ष्यमाणप्रकारेण विचार-

रश्मिः ।

विवृण्वन्ति अतं इति। व्याकरणेत्यादि। तथा च शिक्षायाम्।

'मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।

स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधात्' ॥ इति।

यथा दत्त इत्युक्ते, प्रत्ययार्थसहितं दानं संज्ञाश्चेति। संकटे आद्युदात्तत्वात्संज्ञाशब्दोऽयमिति तथा च सूत्रम् 'निष्ठा च द्व्यजनात्' इति। अथवा 'इन्द्रशत्रो' इत्यत्र स्वरेण समासनिर्णय आद्युदात्तत्वाद् बहुव्रीहिरिति, आदिना पदान्तरसमभिव्याहारादि पदान्तरसमभिव्याहार आदिर्येषां सामर्थ्यादीनां, पदान्तरससमभिव्याहारस्यादयः पदान्तरसमभिव्याहारादयः संयोगादयः, ते च ते तेषां समाहारः पदान्तरसमभिव्याहारादि, तेन 'सशङ्खचक्रो हरिः' इत्यत्र हरिशब्दो विष्णुवचन इति। न चेत्यादिभाष्यतात्पर्यमाहुः किंचेति। क्वचिदिति घटपटकालीनादिप्रयोगेषु इत्यर्थः। व्याकरणे तु घट चेष्टाभासचलनपरिमाणेषु, पट गतिभासप्रभृतिषु, कालाइञ् इति। तेषामिति। छन्दःकल्पशिक्षानिरुक्तज्योतिषव्याकरणानामित्यर्थः। तद्धेतुन्यायेनेति। 'हेतुहेतुमतो हेतौ तद्हेतोरेव हेतुता' इत्यर्थः। तदिदमिति। किंचेत्यारभ्य विवृतमित्यर्थः। अस्यानर्थहेतोः प्रहाणायात्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्त इति वदन्तो विप्लववादिनो निरसितुमिदमित्याहुः। यद्वा। केवलवैदिककृतपूर्वपक्षे षडङ्गैर्निर्वाहः, परंतु 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इति श्रुतिविरोधः, वक्ष्यमाणभाष्यार्थाध्ययनाभावात्। इति केवलवैदिकं प्रति वैदिकश्चेत् मीमांसकः, स एकदेशी तस्याक्षेपस्तमाहुः अत्रैकदेशीति। ब्रह्मपुच्छश्रद्धालुत्वाभ्यासी पूर्वमीमांसको वैदिकैकदेशीति वार्थः।

न वेदार्थज्ञानमात्राय विचारः। किंतु ब्रह्मज्ञानाय। तस्य चात्मरूपत्वात्

भाष्यप्रकाशः ।

स्यारम्भणीयत्वमुपपद्यतामित्यर्थः। तदाह न वेदार्थेत्यादि। तस्येति ब्रह्मणः। 'पटोलपत्रं पित्तघ्नं नाडी तस्य कफापहा' इत्यादिषु विशेषणमात्रस्यापि तत्पदेन ग्रहणदर्शनात्। अयमर्थः। अनुपपद्यमानत्वान्मास्तु वेदार्थमात्रत्वेन ब्रह्मज्ञानाय विचारः, परं त्वात्मत्वेन ब्रह्मज्ञानाय

रश्मिः ।

न वेदार्थेत्यादीति। अत्र न वेदार्थज्ञानमात्राय विचार इति भाष्ये। अयं षडङ्गमात्रेण वेदार्थकर्ता वैदिकः। अस्य भेदः मीमांसकपूर्वकषडङ्गैरर्थकर्ता वैदिकः। उक्ताश्रयो विषयो वेदे यद्यपि, तथापि 'स्मृतेश्च' इति सूत्रभाष्ये वेदान्तानामपि वेदत्वोक्तेः वेदान्तेपि समानाः। अत एव वेदान्तमीमांसायां वेदविधिविचारः। अत एव वेदान्ती यस्य मन्तव्य इति विधेस्त्यागः द्रष्टव्य इति प्रथमविधेः दर्शनानन्तरं प्रवर्तते। किंतु ब्रह्मज्ञानायेति भाष्ये वेदान्ते ब्रह्मोक्तं तस्य ज्ञानाय तत्र ब्रह्मणि प्रकारद्वयम्। श्रुत्युदासीनात्मत्वं वेदार्थभूतात्मत्वं चेति भाष्यार्थौ भविष्यति। तत्पदस्य पूर्वपरामर्शकत्वेन ब्रह्मज्ञानस्येत्यर्थेन भाष्यमित्याकाङ्क्षायां दृष्टान्तमाहुः पटोलपत्रमिति। वेदार्थमात्रत्वेनेति। पूर्वमीमांसका अङ्गीकुर्वन्ति वेदार्थमात्रत्वश्रुत्युदासीनात्मत्ववेदार्थभूतात्मत्वानि ब्रह्मणि धर्मान्, परंतु औपाधिकास्ते। तथाहि। पूर्वमीमांसाकारिकासु वैदिका उक्ताः, तैत्तिरीये अलूक्षा विमर्शिनः, पूर्वे उक्तास्ते पूर्वमतार्किकाः श्रद्धाऽभावात्, पद्मपुराण तर्कानादराच्च। तत्रापि व्याकरणपदपदार्थकज्ञानवन्तः। 'अलौकिको हि वेदार्थः' इति सिद्धान्तात्। श्रुत्येकशरणाः पूर्वमीमांसां नकृतवन्तः। मीमांसायाः पूर्वं जैमिनिसूत्रमात्रत्वाच्छबराचार्यप्रभृतिभिः करणात्। ते हि मीमांसारहितषडङ्गाष्टोपाङ्गपरिशिष्टविचारकाः पुरःस्फूर्तिकनिर्गुणं स्वीकुर्वन्तोपि वेदार्थमात्रत्वमङ्गीकुर्वन्ति। अन्यथा ब्रह्मज्ञानप्रसङ्गान्नापि व्यक्तिशक्तिमङ्गीकुर्वन्ति, प्रस्थानरत्नाकरस्याधुनिकत्वात्। अन्ये पुनर्मीमांसां कुर्वन्तस्तर्कं मीमांसायुतं कुर्वन्ति। तदा श्रुत्युदासीनात्मत्वमङ्गीकुर्वन्ति। भाट्टदीपिकायां मन्त्रमय्येव देवता, प्रातिपादिकार्थस्तु यः कश्चिद्भवतु। मम तु वदतोप्येवं वाणी दूष्यतीत्युक्तत्वात्। शांकरादीनां वेदान्ते तु 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति श्रुत्या तथा, अन्यासामर्थ्यवादत्वाङ्गीकारात्। किंच, वेदार्थे न निष्पन्नात्मत्वं स्वीकुर्वन्ति निर्गुणत्वेपि। पूर्वं तादृशकुबोधाभावात्। सोपाधिकत्वप्रसिद्धेरेवमुपपद्यमानत्वादिति। भाट्टनैयायिकाश्च भाष्यं भाष्यप्रकाशे सुबोधिन्यनुसारेण विवृण्वन्ति। सुबोधिनी तु ब्रह्मत्वं ब्रह्मेति निर्विकल्पकज्ञानं ब्रह्मत्वविशिष्टब्रह्मेति ज्ञानं, सविकल्पकमात्मेत्युच्यते। तत्र पूर्वं निर्विकल्पकं, केवलवैदिकत्वात्। पश्चात् सविकल्पकं, मीमांसाया सत्त्वात्। तदुक्तं पूर्वम्, तथा च वेदार्थमात्रत्वावच्छिन्नब्रह्मत्वं ब्रह्मेति स्यादेतदित्यस्मात्पूर्वभाष्यस्य विषयः। मीमांसासहितस्य साङ्गोपाङ्गसपरिशिष्टवेदार्थत्वावच्छिन्नब्रह्मत्वविशिष्टब्रह्मेति ज्ञानमात्मा स स्यादेतदित्यादिभाष्यविषयः। अनुपपद्यमानत्वादिति। षडङ्गैरेव वेदार्थसंभवात् मीमांसाप्रयोजकत्वेनुपपद्यमानो वेदार्थत्वेन ब्रह्मज्ञानाय विचारः। न च वेदार्थत्वं षडङ्गसाध्यत्वं तज्ज्ञानमात्राय विचारः।

१.. वाणिकविज्ञानवान्वैकदेशीति वार्थः।

भाष्यप्रकाशः ।

विचारो न प्रतिक्षेप्तुं शक्यः । नच संदिग्ध एव विषये विचारस्य प्रवृत्तेरात्मनश्चाहंप्रत्ययगोचरत्वेनासंदिग्धत्वादेवमप्यविचार्यत्वमेवेति शङ्क्यम् । अहंप्रत्ययस्य स्थूलोऽहं कृशोऽहं बधिरोऽहं गच्छाम्यहं श्वसिम्यहं जानाम्यहमित्यादौ देहाद्युपाधिगोचरत्वेन विपर्यस्तत्वात् तेन

रश्मिः ।

न प्रतिज्ञातत्वेपि चरममीमांसाबाधकत्वाभावादिति भाष्यार्थे संभवान्मास्तु वेदार्थमात्रत्वेत्यादिः कुत इति वाच्यम् । वेदा वेदान्तास्तदर्थज्ञानं तदपि ब्रह्म 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' इति वाक्यात् । तथा च वेदार्थमात्रत्वेन ज्ञानमात्राय ब्रह्मज्ञानाय विचारः इत्यर्थः संपन्नः । यद्वा, जैमिनिर्व्यासशिष्य इति धर्मजिज्ञासाया भाविनीत्वाद्वेदार्थकार्त्स्न्येन ज्ञानमात्ररूपाय ब्रह्मज्ञानायेत्यर्थः । अयमेव भाष्यार्थः । कर्ममार्गस्यापि भाष्ये दर्शनात् । यथा व्याकरणकार्त्स्न्यं निरुक्ते तथा वेदार्थकार्त्स्न्यं ब्रह्मज्ञाने तस्मै विचार इत्यर्थः । व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेर्न हि संदेहादलक्षणमिति महाभाष्यात् । इदमपि मास्तु ह्युद्देशसत्त्वेपि पूर्वमीमांसावत् सर्वविचाराभावात् । न चैतावदेव विचारः विस्तृतविचारस्य पूर्वमीमांसायां दर्शनेनोत्तरमीमांसाविचारमात्रायैतावतोऽसंभवात् । **किंतु ब्रह्मे**-त्यादिभाष्यार्थमाहुः **परंत्विति** । नन्वत्रापि प्रतिज्ञातब्रह्मज्ञानायेति भाष्यार्थः संभवतीति चेन् न । ब्रह्मशब्दः सोपि वेदान्तरूपः सोपि ब्रह्म, तद्व्यावृत्त्यर्थत्वादित्याहुरात्मत्वेनेति । ब्रह्म आत्मा, तस्य चात्मरूपत्वादिति भाष्यात् । ब्रह्म ब्रह्मत्वमिति निर्विकल्पज्ञानं ब्रह्म, ब्रह्मब्रह्मत्वब्रह्मत्वस्वत्वरूपसंबन्धावगाहि ज्ञानमात्मा । तथा च ब्रह्मणो वेदार्थत्वेपि तत्त्वेन ज्ञानं नासंभावनाविपरीतभावनानिवर्तकं मीमांसासहितमात्मत्वेन, ब्रह्मज्ञानं तु ह्यसंभावनाविपरीतभावनानिवृत्त्युत्तरत्वेन तन्निवर्तकम् । **आत्मत्वेनेति** 'आत्मा देहो मनो ब्रह्म' इति विश्वात् ब्रह्म प्रोक्तम् । तथाध्यात्मदेवजातिषु सूरिभिरिति च । **अहंप्रत्ययेति** । सुखी अहमिति प्रत्ययगोचरत्वेनेत्यर्थः । अहंप्रत्ययस्याहंकारविषयत्वमपि यतः कर्ताहमिति प्रत्ययात् । स चिदचिद्ग्रन्थिरूपः । **देहादीति** । स्थूलोहं कृशोहमिति देहाध्यासः; बधिरोहमिति इन्द्रियवैकल्यम्, गच्छाम्यहमिति कार्याध्यासः, श्वसिम्यहमिति प्राणाध्यासः, त एत आत्माधिष्ठानकाः । जानाम्यहमिति अहंकारे चिदध्यासः आत्मनो ज्ञानाश्रयत्वात् । 'कामः संकल्पः' इति बृहदारण्यकात् । जीवेऽन्तःकरणाध्यासो वा तदायमप्यात्माधिष्ठानकः । अहंकारानतिरिक्तजीववादिमतेनाह । जगदान्ध्यापत्तिभिया नायमहंकारमात्राश्रयः । अहंकारमात्राश्रयत्वे जडत्वेनाहंकारस्य तथा जडाश्रितस्य गोलकाश्रितव्यतिरिक्तस्याप्रकाशकत्वनियमात् । यद्वा, अहंकारस्य 'आत्मा मनसा संयुज्यते' इत्यादिप्रणाड्यभावात्, तेन जानाम्यहमित्यत्र ज्ञानकर्ताहमिति बुद्धिर्नतु ज्ञानाश्रयोऽहमिति । अन्त्यायाः प्रत्यगात्मविषयत्वात् । पूर्वस्याहंकारविषयत्वात् । **विपर्यस्तत्वादिति** । 'शङ्खः पीतः' इतिवत् 'घटो भ्रमति' इतिवच्च करणदोषविषयदोषजन्यमप्रयुक्तभिन्नार्थमात्रप्रतिपादकबाह्यज्ञानत्वादित्यर्थः संशयः । स्मृत्योर्वारणाय मात्रबाह्यपदे । तत्र विषयदोषजन्यत्वं त्यक्तुं शक्यम् । आवश्यकत्वलाघवाभ्यां तावतैव सिद्धेरिति सिद्धान्ते विशेषः । क्वचिद्विषयदोषोभ्युपेयते, यथा जीवपरमाण्वोरध्यासो दोष इति । एतच्च द्वितीयाध्याये तर्कपादे 'उभयथा न कर्मातस्तदभावः' इति सूत्रभाष्यप्रकाशे 'चरमः सद्विशेषाणाम्' इति श्लोकार्थकथनावसरे

तस्य चाविद्यावच्छिन्नत्वाद् देहात्मभावदृढप्रतीतेस्तदतिरिक्तस्य ब्रह्मणोऽभावाच्च

भाष्यप्रकाशः ।

संदेहनिवृत्तेरभावात् । नच देहादिरेवात्मेति युक्तम् । देहस्यावस्थाभेदेषु परिणामान्तरदर्शनेन नश्वरत्वनिश्चयात् । अहंवित्तिवेद्ये त्वात्मनि, यः कृशः पूर्वं स इदानीं स्थूल इति पूर्वापरकाले ऐक्यमानेन तदभावात् । नच सोऽहमिति प्रत्यभिज्ञया देहादेरात्मत्वं वक्तुं शक्यम् । प्रत्यभिज्ञायाः सोयं दीपस्तदिदं जलमितिवत् सजातीयविषयत्वेन पूर्वापरकालकतदैक्यानिश्चायकतया तदविषयत्वात् । एवं तत्तदिन्द्रियनाशेऽपि जीवनदर्शनाच्छ्वासोच्छ्वासयोर्बहिरागच्छतः प्राणस्यापि ज्ञानादर्शनेनाचेतनत्वनिश्चयाद् बुद्धिमनसोरपि करणत्वेन सिद्धतया कर्तृत्वेनासिद्धत्वाद् विषयपार्थक्यस्य सर्वानुभवसाक्षिकत्वात् सर्वेषामिदंकाराऽऽस्पदत्वाच्च । नचेदंकारास्पदानामात्मत्वं युज्यते । पुरोऽवस्थित एव विषये तथाप्रयोगदर्शनात् । आत्मनश्च प्रत्यग्वित्तिवेद्यत्वेन तथात्वाभावात् । नचैवं सिद्धे देहादिभ्यो विवेके संदेहाभावादजिज्ञास्यत्वम् । तस्याविद्यावच्छिन्नत्वाद् विदुषां शास्त्रपरिपक्वबुद्धीनामप्यहंप्रत्यये विविक्ततत्स्वरूपस्यागोचरत्वात् सुखदुःखादीनां

रश्मिः ।

वक्तव्यम् । गृह्यमाणारोप इति केचित् । स च परेण गृह्यमाणस्योत स्वयं गृह्यमाणस्य । आद्येऽतिप्रसङ्गो, ज्ञानस्य त्रिक्षणावस्थायित्वस्वीकारात् । द्वितीये तस्यैव बाधादिति । अन्यत्र गृह्यमाणस्यारोप इति चेत्, न । आन्यत्रिकग्रहणस्य तदानीं विरहाद् गृह्यमाणत्वस्याशक्यत्वात् । **न च देहादि**-रिति । प्राणेन्द्रियक्रियाबुद्धिमनोविषया आदिशब्दवाच्याः । आत्मनोऽभेदे प्रत्यभिज्ञां प्रमाणयन्ति **अहंवित्तीति** । प्रत्यभिज्ञाया ऐक्यनियामकत्वे साम्यशङ्कामादाय निषेधन्ति **न च सोऽहमिति** । नेत्याह **प्रत्यभिज्ञाया** इति । **पूर्वापरेति** । पूर्वापरौ कालौ यस्य देहस्य तस्यैक्यानिश्चायकतया पूर्ववदैक्याविषयत्वान्न साम्यमित्यर्थः । तेन व्यक्त्यवलम्बना प्रत्यभिज्ञा ऐक्यमवगाहते 'सोयं घटः' इतिवत् । या तु जातिमवलम्बते न सैक्यमवगाहते, प्रवाहे तदिदं जलमितिवदित्युक्तम् । तेन च देहो नात्मेत्युक्तम् । तर्हीन्द्रियनिकुरम्बः प्रत्येकमिन्द्रियं वा प्राणादिर्वात्मा भविष्यति तत्राह **एवमिति** । सकलेन्द्रियनाशोऽपेरर्थः । **करणत्वेनेति** । बुद्ध्या पदार्थान् जानातीति प्रत्ययेन, सुखसाक्षात्कारः सकरणकः, जन्यसाक्षात्कारत्वात् । चाक्षुषसाक्षात्कारवदित्यनुमानेन च बुद्धिमनसोः करणत्वेन सिद्धतया ज्ञानाश्रयत्वेनासिद्धत्वादित्यर्थः । **विषयेति** मृत्पाषाणादिपार्थक्यस्येत्यर्थः । साधारणं हेतुमाह **सर्वेषामिति** । नासावात्मेदंकारास्पदं पुरोवस्थितत्वाभावादित्याह **आत्मनश्चेति** । **प्रत्यग्वित्तीति** । प्रातिलोम्येन जडादिसर्ववैलक्षण्येन सच्चित्सुखात्मतयाञ्चति प्रकाशत इति प्रत्यक् जीवः, श्रीधर्यां तथा व्याख्यानं तृतीयस्कन्धे, तद्वित्तिवेद्यत्वेनेत्यर्थः । सा चाहं प्रत्यगिति । तस्य **चाविद्यावच्छिन्नत्वादिति** भाष्यमवतारयन्ति **न चैवं सिद्ध इति** । विविक्ततत्स्वरूपाज्ञाने हेतुमाहुः **अगोचरत्वादिति** । **सुखदुःखादीनामिति** ।

निबन्धे 'तत्त्वासावपि नो मुक्तिर्जाग्रत्स्वप्नवदुद्भवः ।
अविद्याविषयोस्तस्माद्भजनं सर्वथा मतम्' ॥ इति शास्त्रार्थे

४ ब्र० सू० र०

वेदमात्रादसंभावनाविपरीतभावनानिवर्तकं ज्ञानमुत्पद्यते । प्रत्युत देहात्मभावप्रबलप्रतीतेः श्रुतेरुपचरितार्थत्वं स्तुतित्वं वा कल्पयिष्यतीति ।

मैवम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

प्रादेशिकत्वस्य चाभिमानेन तथा निश्चयात् तेषामपि देहात्मभावदृढप्रतीतेरविद्यासंबन्धरहितस्य केवलस्यात्मनः प्रत्ययाभावेन दर्शनान्तरेऽपि व्यापकतया प्रतिपन्नस्य तस्यैव बृहत्त्वेन बृंहकत्वेन च तदतिरिक्तस्य ब्रह्मणोऽभावाद् विविक्ततत्स्वरूपज्ञानाय विचार आवश्यकः । अथ वेदमात्राद् विविक्तात्मस्वरूपविषयासंभावनाविपरीतभावनानिवर्तकं ज्ञानं सिध्यति । प्रत्यक्षापेक्षया शब्दस्य निर्बलत्वात् । प्रत्युत प्रबलप्रमाणेन देहात्मभावदृढप्रतीत्या शास्त्रपंक्बुद्धिरपि दर्शनान्तराभिमानेन विविक्तात्मस्वरूपबोधिकायाः श्रुतेः कल्पनोपदेशतयोपचरितार्थत्वं वा, उपासनाशेषतया स्तुतित्वं वा कल्पयिष्यति । अतोऽसंभावनाद्यपनयनेन श्रुतावुपचारादिनिवृत्त्यर्थं वेदार्थभूतात्मत्वेन ब्रह्मज्ञानाय विचार आवश्यक इति ।

एवमुक्तमेकदेशिमतं चोदकः प्रतिक्षिपति मैवमिति । यदुक्तं, न वेदार्थज्ञानमात्राय विचारः,

रश्मिः ।

तत्रासौ विद्याप्रासौ, तथा चाविद्योद्भवेनागोचरत्वात् आत्मगुणानाम् । प्रादेशिकत्वस्येति प्रदेशे भवत्वस्येत्यर्थः । अध्यात्मादेराकृतिगणत्वाट्ठञ् । तथेति अविद्योद्भवत्वस्य निश्चयात् । न चाणोर्जीवस्य धर्माणां प्रादेशिकत्वेप्यंक्षतिरिति शङ्क्यम् । परमात्मविचारादणुभाष्यत्वेपि । देहात्मेत्यादि । न च सुखदुःखजनकपूर्वजन्मीयधर्माधर्माधारतया तस्य शरीरातिरिक्तत्वसिद्धिरिति वाच्यम् । मयूरचित्रादिवत् तयोरपि स्वाभाविकतया तज्जनकधर्माधर्मासिद्धौ तदाधारस्यात्मनोप्यसिद्धेरिति प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनो लोकायतिका आहुः, तेनाविद्यास्वरूपमप्युक्तम् । अभिमानस्याविद्याकार्यत्वेनाज्ञानरूपं तत्स्वरूपमुक्तम् । दर्शनान्तर इति शैवमते भास्कराचार्यमते च । विविक्तेति । सच्चिदानन्दं ब्रह्म स्वेच्छया सदानन्दरूपं, तस्य जगज्जन्मादिकर्त्री शक्तिः चिच्छक्तिर्व्यापिका, तस्या व्यामोहिका शक्तिरित्येवमिच्छायाः पूर्वमुत्तरं च विविक्ततत्स्वरूपज्ञानाय । तेन अविद्यास्वरूपमप्युक्तम् । न वेदमात्रादिति भाष्यं विवृण्वन्ति न च वेदेति । असंभावना देहातिरिक्तात्मासंभावना । विरुद्धसर्वधर्मानाधारत्वभावना विपरीतभावना 'अज्ञानमन्यथाज्ञानं ब्रह्मगं विनिवार्यते । कृष्णगमपीति भावः । मीमांसकास्तु प्रातिपदिकार्थः कश्चिदस्तु शब्दमयी देवतेत्याहुः । निर्बलत्वादिति । न हि शब्दशतेनापि दृश्यमानो घटो वारयितुं शक्यते । प्रत्युतेति भाष्यं विवृण्वन्ति प्रत्युतेति । श्रुतेरिति तत्त्वमस्यादिश्रुतेरित्यर्थः । कल्पनेति कल्पनोपदेशस्तत्र स्पष्टः । उपासनेति मनोव्यापारविशेषो रामानुजाचार्यमतेन्यत्रापि । स्तुतिरुत्कर्षबोधकगुणवर्णनम् । अत्र पक्षे नोपचारः । वेदार्थभूतात्मत्वेनेति स्वबुद्ध्या वेदार्थं परिकल्प्य तादृशवेदार्थभूतात्मत्वेन । [अत्रैव श्रुत्युदासीनात्मत्वेन ब्रह्मज्ञानाय विचारोप्यग्रे भाष्यप्रकाशेनूद्य नोदकप्रतिक्षेपे दूषयिष्यन्ति । अधस्तनरश्मौ तु तुर्यपक्षो । अधस्तनरश्मौ व्यवहारे वयं भाट्टा इति वदतो मते भाट्टीयब्रह्मज्ञानाय] । चोदक इति । केवलवैदिकः साङ्गोपाङ्गसपरिशिष्टवेदैः कृतश्रमः प्रतिक्षिपदेकदेशिमतम् । सिद्धान्त्येकदेशीत्यर्थः । तस्य च सच्चिदानन्दात्मकं ब्रह्म निराकारमेव,

अलौकिको हि वेदार्थो न युक्त्या प्रतिपद्यते ।
तपसा वेदयुक्त्या तु प्रसादात् परमात्मनः ॥

भाष्यप्रकाशः ।

किंतु ब्रह्मज्ञानायेति । तत्र किं दर्शनान्तरवच्छ्रुत्युदासीनात्मत्वेन ब्रह्मज्ञानाय वेदान्तविचारः । ततश्च वेदार्थज्ञानमानुषङ्गिकमिति तव मनीषितम्, उत वेदार्थभूतात्मत्वेन तदर्थं स इति । तत्राद्यस्तु दर्शनान्तरैरेव सिद्धो, न विवक्षितपदवीमधिरोहति । द्वितीयश्चेत् तदापि तत्र संगच्छत इत्यर्थः । उक्तरूपस्यात्मनो वेदार्थत्वाभावे हेतुं कारिकया गृह्णाति अलौकिक इति । हिशब्दो हेतौ । अलौकिकत्वादित्यर्थः । किं तेनेत्याह न युक्त्येति । कथं तर्हि तत्प्रतिपत्तिरित्यत आह तपसेत्यादि । तपोऽनशनादिरूपम् । वेदोक्ता युक्तिर्वेदयुक्तिः न्यग्रोधफलमाहरेत्यादिरूपा । परमात्मप्रसादो मुख्यं साधनम् । अन्यथा 'तेषां प्रकृतिवैचित्र्याच्चित्रा

रश्मिः ।

सर्वभवनसामर्थ्यसंपृक्तं निमित्तान्तरमन्तरेणैवांशतो धर्मरूपेण, तदनु क्रियारूपेण, ततः प्रपञ्चरूपेण संभवतीति मतम् । तदेतत् 'अरूपवत्' सूत्रे तृतीयाध्याये वक्ष्यते । तेनात्रैवं ज्ञेयम् । भाष्ये आधिदैविकादिभेदेन नारम्भणीयः, स्यादेतत्, मैवमित्यादिग्रन्थैः त्रेधा पूर्वपक्षः । केवलवैदिककृतो नारम्भणीय इत्यादिग्रन्थविषयः । मीमांसकश्चेत् पूर्वोक्तस्तत्कृतः स्यादेतदित्यादिग्रन्थविषयः । सिद्धान्त्येकदेशिकृतो मैवमित्यादिग्रन्थविषयः । प्रथमपूर्वपक्षी वेदार्थमात्रत्वमङ्गीकरोति । द्वितीयः श्रुत्युदासीनात्मत्वमङ्गीकरोति । स्वबुद्ध्या वेदार्थं परिकल्प्य तादृशवेदार्थभूतात्मत्वं च । तृतीयस्तु वेदार्थभूतात्मत्वेन 'नाहं वेदैः' इत्यादिभिः वेदार्थभूतस्य 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' इति स्वेच्छया विरुद्धसर्वधर्माधारत्वेन वा वेदार्थभूतात्मत्वमङ्गीकरोति, स एव सिद्धान्तः । प्राज्ञादप्याधिक्यात् । मुख्यमतं कृष्णमतमित्युपनिषदोत्तरत्र [चिमनभातेपि अमतमित्यत्र मते रुचप्रचिवीति मानं ज्ञेयम् ।] प्रतिक्षिपतीति षडङ्गवेदविचारितब्रह्मौदासीन्येन स्वबुद्धिपरिकल्पितवेदार्थभूतात्मत्वे ब्रह्मज्ञानमापततीत्यरुच्या भ्रान्तत्वेन प्रतिक्षिपतीत्यर्थः [प्रतिक्षिपतीति । मीमांसाया अपि न स्वातन्त्र्यं येन देवताप्रतिपादिकोर्थो यः कश्चिदस्तु हीति युज्यतेऽपि तु 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति श्रुतेस्तर्कैः अप्रतिपाद्यवेदानुकूलमीमांसायुततर्कैः प्रतिपाद्यरूपवेदार्थभूतत्वेन प्रतिपाद्यमित्येवं प्रतिक्षिपतीत्यर्थः] दर्शनान्तरवदिति । कणभक्षाक्षचरणशास्त्रवद्युक्त्या वेदान्तविचार इत्यन्वयाज्जीवः पराभिन्नः सच्चिदानन्दरूपत्वात्परमात्मवदित्यनुमानसाध्यात्मत्वेनेव साध्यार्थातिरिक्तार्थवादश्रुत्युदासीनात्मत्वेनेत्यर्थः । अत्राहमस्मि प्रिये जानामीति प्रतीतेः सच्चिदानन्दलक्षणो जीवः, शांकराणामपि अहं ब्रह्म इत्यनुमितिः अहं पराभिन्न इत्यनुमितिः । आनुषङ्गिकमिति । स्वबुद्ध्या वेदार्थान् परिकल्प्य तदर्थविचारे तदनुषङ्गेण दीव्यतीत्यानुषङ्गिकं 'तेन दीव्यति खनति जयति जितम्' इति ठक् । वेदार्थेति । स्वबुद्ध्या वेदार्थं परिकल्प्य तादृशवेदार्थभूतात्मत्वेनेत्यर्थः । श्रुत्युदासीनात्मत्वेन ज्ञानं निरीश्वरहतमिति सांख्ययोगनैयायिकभाट्टादीनाम् । न विवक्षितेति । वेदवेदान्तदर्शनपदवीं नार्हतीत्यर्थः । विचारान्तरतां नार्हतीत्यर्थः । न संगच्छत इति यौक्तिकत्वान्न संगच्छते । आचार्यमतत्वेपि तपआदिरहितं न संगच्छते, पञ्चगीतं विना न संगच्छत इत्यर्थः । अनशनादीति । आदिना वेदार्थत्वेति उक्तवेदार्थत्वाभावे (त्रिकाय)वेदार्थत्वं त्वस्यैव गीतोक्तम् । न्यग्रोधेत्यादि । छान्दोग्ये

---

१. न्यग्रोधफले न्यग्रोधसत्ता ब्रह्मणि सर्वमितिभावः । २ अर्थान्तरं स्यादिदम् ।

न हि स्वबुद्ध्या वेदार्थं परिकल्प्य तदर्थं विचारः कर्तुं शक्यः ।

भाष्यप्रकाशः ।

वाचः स्रवन्ति हि'इतिन्यायेनान्यदेव बुद्ध्येतेति । एतदेव विभजते **न हीत्यादि** । अयमर्थः । भवान् हि श्रुतीनामनुपचरितार्थत्वाय दर्शनान्तरे आत्मगमकत्वेन स्वीकृतस्याहंप्रत्ययस्य प्रादेशिकग्राहकत्वं प्रदर्श्य तस्याविद्याख्योपाध्यवच्छिन्नात्मग्राहकत्वेन भ्रमत्वं च प्रदर्श्य तेन तन्निश्चयाभावात् कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यंशेऽपि तस्य भ्रमत्वं साधयितुं चिदेकरसस्यात्मनो ज्ञानाविषयत्वं च साधयितुमध्यासभाष्यसूचितां विषयत्वेन जडत्वेन व्याप्तिमङ्गीकृत्यैवमाह । **अहंवित्तौ** प्रकाश-

रश्मिः ।

'भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु'इति पुत्रेण श्वेतकेतुना पृष्ट आरुणिः 'तथा सोम्येति होवाच न्यग्रोधफलमाहरेतीदं भगव इति भिन्धीति भिन्नं भगव इति किमत्र पश्यसीत्यण्व्य इवेमा धाना भगव इत्यासामेकैकां भिन्धीति भिन्ना भगव इति किमत्र पश्यसीति न किंचन भगव इति तꣳ होवाच यं वै सौम्यैतमणिमानं न निभालयसे एतस्य वै सौम्यैषोणिम्न एवं महान्यग्रोधस्तिष्ठति श्रद्धत्स्व सौम्येति स एषोणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इत्येवंरूप इत्यर्थः । भगव इति संबोधनं, निभालयसे पश्यसि । **मुख्यमिति** वरणद्वारापि । **न्यायेनेति** एकादशस्कन्धोक्तेन तेनेत्यर्थः । प्राज्ञश्च केवलवैदिकैकदेशी त्वचोदकश्च तेषां वाचकानि पक्षाणि, तैरुपात्तान् तान् प्राज्ञकेवलवैदिकैकदेशिपदोपात्तान् । एकदेशीयवस्तुसूचितशांकरं प्रत्याह । तपआदीनि वेदार्थभूतात्मवादी । **भवानिति** शांकरः कश्चित् । **अनुपचरितेति** । अनुपचरितार्थत्वं यथाशास्त्रदृष्टार्थत्वं तेन अर्थवादत्वने पूर्वोक्तपक्षे अनुपचरितार्थत्वाभावेपि अरुचिः । शंकराचार्यमतेऽपि व्यवहारे भाट्टप्रतारणादर्शवादत्वं वक्ष्यमाणपक्षेऽनुपचरितार्थत्वं तस्मा इति वा । **दर्शनान्तर इति** वैदिकशास्त्रादन्यस्मिन् शांकरादिशास्त्रे । **प्रादेशिकेति** । मुख्यहमिति इदंशे भगवत्त्वस्याग्राहकत्वम् । अविद्योपाध्यवच्छिन्नविषयग्राहकत्वेन **भ्रमत्वम्** । **तेन तन्निश्चयाभावादिति** भ्रमात्मकेनाहंप्रत्ययेनात्मनिश्चयाभावादित्यर्थः । **कर्तृत्वेत्यादि** । प्राकृतिकं कर्तृत्वादिकमात्मन्यारोपितमिति तथा । **अध्यासभाष्यसूचितामिति** अध्यासभाष्यस्य तत्त्वमस्यादिवाक्यावेदितैक्यविद्याप्रतिपत्तिप्रयोजनाहितजडमिथ्यात्वमवगमयितुमात्मनि अस्मत्प्रत्ययमात्रगोचरे जडतद्धर्माध्यासः कल्पितः, शुक्तौ रजतमिव । स चाविद्यास्वरूपो वस्तुस्वरूपावधारणेन विद्यारूपेण नश्यतीति । अधिष्ठानावधारणे रजतमिव । अस्यानर्थस्य प्रहाणाय वेदान्तारम्भ इति वाच्योऽर्थः । व्याप्तिस्तु संभावनापरेण न चायमस्ति नियमः पुरोवस्थित एव विषये विषयान्तरमध्यसितव्यमित्यादिभाष्येण तात्पर्यरूपया व्यञ्जनयोच्यत इत्यर्थः । सिद्धान्ते च बुभुत्सितार्थवाचकत्वे तत्प्रतीतिजनकत्वम् । तत्प्रतीतीच्छयोपचरितत्वं तात्पर्यमित्यालंकारिकाः, वृत्तेर्द्वैविध्यात् । तेन फललक्षणादिव्यञ्जनान्तानां तात्पर्ये निवेशः । **एवमिति** वक्ष्यमाणप्रकारेणेत्यर्थः । अनर्थप्रहाणफलका वेदान्तास्तादृशारम्भकत्वे अध्यासभाष्यशक्यार्थः । अत्रानर्थप्रहाणे जडो विषयत्वात् मिथ्याजडत्वादित्यनुमानयोः प्रविष्टत्वेनैतत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वमनर्थप्रहाणकलङ्कोधमरूपारम्भे वर्तेते । अन्यथा तत्प्रहाणे जडमिथ्यात्वमवगमयितुमिति जातो; धर्माध्यासः कल्पित इति न वदेत् । अयं बुभुत्सितोर्थोपि भवति. तदवाचिकत्वे तत्प्रतीतिजनकत्वमपि तादृशार्थप्रतीतिजनकत्वमपि । ननु रूपारम्भे तत्प्रतीतिजनकत्वं नास्ति, किंत्वनर्थप्रहाणवाचकभाष्ये इति चेन्न, न ह्यारम्भः पृथगेव वाच्यः, किंतु

भाष्यप्रकाशः ।

शमानस्यात्मनो ज्ञानान्तरविषयत्वेन जडत्वापत्तिः । **सर्वास्वर्थवित्तिषु** प्रकाशाश्रयत्वेन सिद्धस्यात्मनो घटमहं जानामीत्यादौ विषयत्वायोगः । **चैत्रो ग्रामं गच्छतीत्यादौ** क्रियाफलस्य संयोगस्योभयनिष्ठत्वेऽपि ग्रामादौ परसमवेतक्रियाफलशालित्वस्य कर्मत्वेन **स्वसमवेतक्रियाफलशालिन** आत्मनः **परत्वाभावेन** आत्मानमहं जानामीत्यादौ ज्ञानविषयस्यात्मनः कर्मलक्षणानाक्रान्ततया कर्मत्वायोगः । **तस्य** कर्तृभेदाङ्गीकारे कर्मभूतस्य तस्यानात्मत्वप्रसङ्गः । **अप्रकाशमानत्वस्यैव** जडत्वेन स्वस्मिन्नप्रकाशमानतयापि जडत्वापत्तिः । **अनुभवबलेन** कर्मकर्तृविरोधे परिहृते सिद्धे चाभेदे प्रकाशाश्रयरूपकर्तृत्वेनैव प्रकाशत इत्यङ्गीकारेऽपि **यस्मिन्नर्थात्मानौ** प्रकाशेते तस्य ज्ञानरूपप्रकाशस्य स्वयमप्रकाशमानतया जडत्वे विषयाप्रकाशकत्वप्रसङ्गः । तस्मा-

रश्मिः ।

तस्यानर्थस्य प्रहाणेन सहैकीकृतस्यार्थजातस्य वाचकभाष्यस्य नयतीति जघन्यत्वात् । अध्यासभाष्यसूचितामिति भाष्यप्रकाशात् । एवं च काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यत्र दध्युपघातकत्वस्य काकेषु सत्त्वाद्धद्रात्मनः इति काव्यप्रकाशस्य वरवारणस्येत्यत्र समासान्तरस्य सत्त्वात्तद्वदत्राप्यध्यासभाष्ये तादृशारम्भत्वसत्त्वेपि अवगमयितुमित्यनेन ज्ञानबोधनेपि जडमिथ्यात्वादिपदसमभिव्याहारेणानुमितिसूचनादव्यु(भ)मिति । विशिष्टत्वसत्त्वमथीति तेन रूपेणाध्यासभाष्यस्यानुमितिविशिष्टे लक्षणा तादृशभाष्येऽनुमितिविशिष्टयां व्याप्तौ चानुमितिसत्त्वादिति । **एवमिति** अवधारितमाहेत्यर्थः । तमाह **अहंवित्ताविति** अहं ममास्मीत्याकारिकायामित्यर्थः । **जडत्वापत्तिरिति** आत्मा जडो विषयत्वात् घटवदित्यनुमानेन तथात्वापत्तिरित्यर्थः । प्रथमान्तानीमानि पदानीत्यतः फलरूपा संवित् स्वयंप्रकाशाभ्युपेतव्येत्यनेनानुपपत्तिः । स्वप्रकाशकं घटमहं जानामीत्याकारकं च सर्वमेव ज्ञानं घटादिकमिव स्वात्मानं स्वाधिकरणमात्मानं च गोचरीकुर्वत् त्रिपुटीप्रत्यक्षतां प्रपादयति । मितिमातृमेयविषयत्वात् स्वस्येति । प्राभाकरमतमाक्षिपन्ति **सर्वास्विति** । अहं घटं जानामि घटज्ञानो घटं ज्ञातवान् ज्ञातो घट इत्येवंरूपासु घटविषयकज्ञानाश्रयोऽहमित्यादिबोधात् प्रकाशाश्रयत्वेन सिद्धस्येत्यर्थः । **विषयत्वायोग इति** । स्वर्गमिच्छतीत्यादौ कर्तुस्तथात्वादर्शनात्तथेत्यर्थः । नैयायिकादीनाक्षिपति **चैत्र इति** । **उभयनिष्ठत्वेपीति** कर्तृकर्मनिष्ठत्वेपीत्यर्थः । तथाच क्रियाफलशालित्वस्य कर्मलक्षणस्यातिव्याप्तत्वमिति भावः । तन्निवृत्तये परसमवेतविशेषणविशिष्टलक्षणमित्याह **ग्रामादाविति** । तदाव्याप्तमित्याह **स्वसमवेतेति** । **परत्वाभावेनेति** । कर्मभूतात्मास्मदर्थाध्यस्यात्मनोरैक्यात्तथेत्यर्थः । ननु 'आत्मानमात्मना वेत्सि' इतिवदुपपद्यतामित्यत आह **तस्येति** । **अनात्मत्वप्रसङ्ग इति** जीवद्वयाङ्गीकारस्य निर्यौक्तिकत्वेनानात्मप्रसङ्ग इत्यर्थः । जडत्वापत्तिरूपं तत्फलमाह **अप्रकाशेति** । **स्वस्मिन्निति** । स्वविषयकप्रकाशकर्तृत्वाभावेनापि । **अनुभवबलेनेति** प्रमाणीभूतेनेत्यर्थः । **प्रकाशत इति** । कर्मापीति शेषः । **यस्मिन्निति** अहं जीव इत्यस्मिन् मुख्याद्युपाधिप्रकारकात्मविशेष्यके ज्ञाने इत्यर्थः । **स्वयमिति** धर्मरूपविषय-

भाष्यप्रकाशः।

प्रकाशमानत्वेऽपि निलीयचक्षुरादिवत् प्रकाशकत्वे तत्फलस्यैवैतत्फलस्यैव स्वयम्प्रकाशतया आत्मेयतयाऽस्य जडत्वापत्तिः। पूर्वज्ञानफलस्यैतस्य जडत्वे एतज्ज्ञानफलस्याग्रिमस्यापि जडत्वापत्तिः। परंपराङ्गीकारेऽनवस्था जगदान्ध्यापत्तिश्चेत्यतः फलरूपा संवित् स्वयंप्रकाशाऽभ्युपेतव्या, न तु निलीयचक्षुरादिवत् प्रकाशिका। ततश्च स्वयंप्रकाशत्वस्यैव चेतनत्वेन तदाश्रयतया प्रकाशमानस्यात्मनो विषयत्वेन जडत्वापत्तिस्तदवस्था। नचार्थात्मानौ विना केवलायाः संविदः प्रकाशाभावात् संविदर्थात्मनां परस्परप्रकाशकत्वमेवेति परतःप्रकाशत्वमेव चेतनत्वम्, ततश्च संवित्तुल्यस्यात्मनोऽपि जडत्वमिति वाच्यम्। तथा सत्यर्थस्यापि चेतनत्वापत्तेः। अथ संविदर्थात्मनां परस्पराविनाभावादत्यन्तभेद इति विभाव्यते, तदा तु संविद इव तयोरपि स्वयंप्रकाशत्वं सिद्धमित्यर्थात्मनोः संविदतिरेकेणानिर्वाच्यत्वात् संविदेव केवला सिध्यति, न

रश्मिः।

जनकत्वेन संसर्गजन्यत्वेन च स्वयमप्रकाशमानतयेत्यर्थः। निलीयचक्षुरिति। लीङ् श्लेषणे निपूर्वः। ल्यबन्तस्तु न भवति। 'अचो यत्' 'शकि लिङ् च' इति सूत्रे चकारेण शक्यार्थविधानात् नितरां लातुं शक्यं चक्षुरित्यर्थः। गुणाभावस्तु चिन्त्यः। यद्वा। अव्ययमिति योगविभागाल्ल्यबन्तेन समासः। विषयेण नितरां संबध्य यच्चक्षुस्तद्वदित्यर्थः। अत्रापि यत्तदोरध्याहारो लक्षणा वा। निलीयेति विशेषणं तु अतयाभूतस्य चक्षुषो दृष्टान्तार्थकत्वात्। यद्वा। निलीय विषयतामप्राप्य चक्षुः आदिना श्रोत्रादि तद्वदित्यर्थः। प्रकाशकत्व इति। अभिमत इति शेषः। तत्फलस्येति चक्षुःफलस्य जन्यज्ञानस्यैवैतत्फलस्यार्थात्मविषयकस्याहं जीव इति ज्ञानस्य यत्फलमनुव्यवसायरूपं तस्यैव स्वयंप्रकाशता स्यात्। अस्यार्थात्मविषयकज्ञानस्य जडत्वसंवित्प्रकाश इति ततश्च स्वयंप्रकाशत्वस्यैव चेतनत्वेन तदाश्रयतया प्रकाशमानस्यात्मनो विषयत्वेन जडत्वापत्तिस्तदवस्था। नचार्थात्मानौ विना केवलायाः संविदः प्रकाशाभावात् संविदर्थात्मनां परस्परप्रकाशकत्वमेवेति परतः प्रकाशमेव चेत् संवित्प्रकाश इति नैयायिका विरुद्धं मन्यन्ते। ननु जडत्वं नाम प्रकाशकतावच्छेदकं चक्षुरादौ व्यभिचारादित्याशङ्क्याह जडत्वापत्तिरिति। पूर्वज्ञानफलस्येति। इदं हि विशिष्टं ज्ञानम्। विशेषणज्ञानाधीनं दण्डीतिज्ञानवत्। तथा च बुद्ध्यादिज्ञानफलस्याहं जीव इति ज्ञानस्य जडत्व एतज्ज्ञानफलस्य बुद्ध्यादिनाहं ज्ञानाश्रय इत्यादिज्ञानस्याग्रिमस्य जडत्वापत्तिः। पूर्वसजातीयत्वलिङ्गकानुमानादित्यर्थः। जन्यं ज्ञानं विषयात् पूर्वं न भवतीत्यर्थात्मविषयकं ज्ञानं पूर्वज्ञानशब्देन (न) गृहीतम्। जगदान्ध्येति। ज्ञानस्यापि जडत्वे प्रकाशाभावात् तथेत्यर्थः। इत्यत इति। जडत्वापत्तेर्जगदान्ध्यापत्तेश्चेत्यर्थः। फलरूपेति अन्तःकरणपरिणामनिवृत्तावरणरूपा संविदित्यर्थः। तदुक्तं 'अहं ब्रह्मास्मि' 'ब्रह्मैवाहमस्मि' इत्यखण्डाकारवृत्तितया वृत्यविज्ञाने निवृत्तेऽन्यत्वपरोक्षत्वादीनां निवृत्तत्वात् प्रत्यगात्मनोऽखण्डानन्दस्वरूपावस्थितिर्भवतीति। ननु निलीयेत्यादि। स्वयं स्वाप्रकाशतामावहन्ती प्रकाशिकेत्यर्थः। इदानीं तस्याः स्वप्रकाशत्वाय यतते। ततश्चेति। परतः प्रकाशादित्यर्थः। तथा सतीति परतः प्रकाशत्वस्य जडत्वनिवर्तकत्वे सतीत्यर्थः। नैयायिका ज्ञानं निर्विषयकं न मन्यन्ते तद्रीत्याह अथेति। विभाव्यते नैयायिकवद्विभाव्यते। संविदतिरेकेणेति संविद्रूपकारणसत्ताव्यतिरेकेण। तयोरर्थात्मनोरनिर्वाच्य-

भाष्यप्रकाशः।

त्वयोस्तस्यां संहिता। वस्तुतस्तु संविदोऽर्थसहभावोऽपि न नियतः, अतीतानागतस्थले व्यभिचारात्। नच तत्राभाव एव विषय इति वाच्यं, तस्यासत्त्वात्। नच सोऽपि सन्निति वाच्यं, सत्त्वस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात्। सत्त्वं हि सत्ताख्यसामान्यं समवायो वा, अर्थक्रियाकारित्वं वा प्रकाशमानत्वं वाऽभ्युपेयम्। तत्र नाद्यौ। सत्तायां सत्तासमवायाभावेन अर्थक्रियाकारित्वेऽर्थक्रियाकारित्वाभावेन च तयोरसत्त्वे तद्योगिनोऽप्यसत्त्वसिद्धेः। सत्तान्तराद्युपगमेऽनवस्थापाताच्च। न तृतीयः। मरुमरीचिकादेरपि तोयाद्यात्मना सत्त्वापातात्। नच मरुमरीचिकादीनां तोयाद्यात्मना असत्त्वेऽपि स्वरूपेण सत्त्वात् प्रकाशमानत्वं नानुपपन्नमिति वाच्यं तथापि सत्त्वस्य प्रकाशमानत्वातिरिक्तधर्मान्तरत्वेन प्रकाशमानत्वस्य तत्त्वाभावात्। अथ भावधर्म एव सत्त्वम्। अभावोऽपि भाव एव 'भावान्तरमभावोऽन्यो न कश्चिदनिरूपणात्' इति भावस्यैव भावान्तरात्मनाऽभावरूपत्वादिति विभाव्यते। तदापि स भावधर्मः को वा। व्यवहारयोग्यत्वमिति चेत्। को नाम तत्र व्यवहारः। अभिलाप इति चेत्। तद्योग्यत्वस्य खपुष्पेऽपि तुल्यत्वात्। अतोऽभावस्य खपुष्पतुल्यत्वेनातीतानागतस्थलेऽर्थवियुक्तैव संवित्। एवमर्थसहभावानियमे सिद्धे यत्र सहभावाभिमानस्तत्राप्यर्थसत्ताया निर्वक्तुमशक्यत्वादर्थस्यानिर्वाच्यत्वमेव। तथैवात्मनो व्यापकत्वेनाहंप्रत्यये प्रादेशिकत्वस्थूलत्वकृशत्वादिना भासमानस्य चन्द्रसद्भावे चन्द्रान्तरवद् भानात् तस्याप्यनिर्वाच्यत्वम्। तच्च सतो बाधाभावादसतश्चाभानात् सत्त्वासत्त्वयोरेकत्र विरोधेन सदसद्रूपताया अशक्यवचनत्वात् सदसद्विलक्षणत्वमेव। तथाच सति विषयत्वेन भासमानानां मरुमरीचितोयतुल्यत्वात् संविदेव केवला सती सिध्यतीति सैवात्मा। तस्या अविषयत्वेऽपि तत्रैव कर्तृत्वभोक्तृत्वादयोऽध्यस्यन्ते, अप्रत्यक्ष आकाशे मालिन्यवदिति।

रश्मिः।

त्वभावविषयकत्वेन खपुष्पादिवदनिर्वाच्यत्वं तस्मात्। एवं संविदोऽर्थसहभावं दृष्टं अङ्गीकृत्य तस्याध्यस्तत्वमन्तरेण स्वयंप्रकाशतासंभवात् स्वयमर्थो मिथ्येत्युक्तम्। इदानीमर्थाभावेपि संवित्प्रकाश इति मन्यते वस्तुतस्त्विति। न च तत्रेति। घटो भविष्यति, घटो ध्वस्त इत्यादिप्रत्यये इत्यर्थः। अभावोऽस्तीति प्रतीत्याशङ्कां पराकरोति न च सोपीति। सत्तायामिति। अनङ्गीकारादसंभवाच्च। तत्र तयोरभावेन तयोः सत्ताख्यसामान्यसमवायार्थक्रियाकारित्वयोरसत्त्वेन तद्योगिनोऽभावस्याप्यसत्त्वसिद्धिरित्यर्थः। तयोः सत्ता स्वीक्रियत इत्यत आह सत्तान्तरेति। भावान्तरमिति। अभावो भावान्तरम्, नान्यः कश्चित्, अनिरूपणादित्यर्थः। तच्चेति अनिर्वाच्यमित्यर्थः। सैवात्मेति। श्रुत्युदासीनात्मत्वेन वेदार्थभूतात्मस्वस्वरूपेणात्मेत्यर्थः। अध्यस्यन्त इति। परत्र परावभासोऽध्यासः। आरोप्यात्यन्ताभाववत्त्वं परत्वमधिकरणत्वं त्वलोऽर्थः। अवभास्यते इत्यवभासो रजतादिः। एवं चैकावच्छेदेन स्वसंसृज्यमाने स्वात्यन्ताभाववति अवभासत्वमिति बुद्धिनिष्कर्षः। कपिसंयोगीत्यत्र संयोगेऽतिव्याप्तिवारणायैकावच्छेदेन इति। तस्य स्वसंसृज्यमाने स्वात्यन्ताभाववति इतरावभासत्वेपि स्वस्याभावयोर्मूलाग्रावच्छेदकभेदेनैकावच्छेदकत्वाभावात्। पूर्वं स्वाभाववति भूतले पश्चादानीतो घटश्चकास्तीति घटेऽतिव्याप्तिवारणाय स्वसंसृज्यमान इति अभावकाले प्रतियोगिसंसर्गस्य वर्तमानत्वं तदर्थः। भूत्वावच्छेदेनावभासे गन्धेऽ-

भाष्यप्रकाशः ।

तदसंगतम् । विषयत्वेन जडत्वेन व्याप्तेः प्रत्यक्षबाधितत्वात् । आत्मनश्चेतनत्वस्योभयसंमतत्वात्, तस्य च प्रत्यग्वित्तिवेद्यत्वात्, प्रत्यग्वित्तिगोचरत्वेन विषयत्वस्य व्यापकतया जडत्वेन विषयत्वेन व्याप्तेरेव प्रत्यक्षसिद्धत्वाच्च । नच प्रत्यग्वित्तेश्चिदेकरसात्माग्राहकतया तदविषयत्वमेवेति वाच्यम् । तेन रूपेणाविषयत्वेऽपि प्रत्यक्त्वादिना रूपान्तरेण विषयत्वात् । अन्यथा विषयाभावेन तद्वित्तिलोपप्रसङ्गात् । 'सन्मात्रो नित्यः शुद्धो बुद्धः सत्यो मुक्तो निरञ्जनो विभुरद्वय आनन्दः परः प्रत्यग्रसः प्रमाणैरेतैरवगतः' इति तापनीये प्रत्यक्त्वस्यापि तत्प्रमाणत्वेनैव श्रावणाच्च । नच तत्राहंकारस्यैव विषयत्वं, नात्मन इति वाच्यम् । न्यायादिमते आत्मन एव तथा भानात् । सांख्यादिमते च तस्य जडत्वेन तस्यां प्रतीतावहंत्वचैतन्ययोः सामानाधिकरण्याभानप्रसङ्गात् । भासमाने च सामानाधिकरण्ये तस्यामहंकारविषयताया निवृत्तत्वात् प्रत्य-

रश्मिः ।

तिव्याप्तिनिरासाय स्वात्यन्ताभाववतीति । शुक्ताविदंत्वावच्छेदेन रजतसंसर्गकालेऽत्यन्ताभावोऽस्तीति नाव्याप्तिरिति व्याख्यानम् । नच बन्धस्य ज्ञाननिवृत्तयेऽध्यासवर्णना व्यर्थैव नित्यस्यापि नाशसंभवादिति वाच्यम् । पापादेः श्रद्धानियमादिसंपृक्तज्ञानानामनाश्यत्वेन ज्ञानमात्रनाश्यबन्धेऽत्र मूलस्यैवामूलत्वादिति । तदेतन्निरस्यति वेदार्थभूतात्मत्वेनात्मनो विचारकः **तदसङ्गतमिति** । **प्रत्यग्वित्तीति** । तथा च यदि विषयत्वं जडत्वं निवृत्तसामानाधिकरणं स्यात् प्रत्यग्वित्तौ विषये जीवे जडत्वं भायात्, यतो न भाति ततो हि प्रत्यक्षबाधिता सेत्यर्थः । विषयत्वमपि साधारणो हेतुरित्याहुः **प्रत्यग्वित्तिगोचरत्वे चेति** । आत्मन इत्यर्थः । एवेति 'व्याप्यस्य वचनं पूर्वं व्यापकस्य ततः परम्' इति ह्यभिलापात् । **व्याप्तेरिति** सा च नियतधर्मसाहित्ये उभयोरेकतरस्य वा व्याप्तिरिति सांख्यप्रवचनसूत्राद्धेतोर्नियतसामानाधिकरण्यरूपा तदेव व्यापकसामानाधिकरण्यमिति व्याप्तेः स्वरूपं मुक्तावल्यामित्यलमतिप्रसङ्गेन । विशेषस्तु प्रस्थानरत्नाकरे उपपादितः । हेतोः साधारणतां वारयन् शङ्कते **न चेति** । विषयत्वरूपहेतावपि विषयत्वमेवेति साध्यवदन्यवृत्तित्वाभावान्न साधारणत्वं विषयत्वरूपहेताविति भावः । **अविषयत्वमेवेति** साध्यवदन्यवृत्तित्वाभावात् न साधारणता इति भावः । **तत्प्रमाणत्वेनेति** प्रमापयति विषयत्वेन प्रमां जनयतीति प्रमाणं प्रत्यक्षादि । नन्वादित्वाद्युः । आत्मविशेष्यकप्रमाप्रकारत्वेनेत्यर्थः । प्रमीयतेऽनेन प्रत्यक्त्वेनेति करणत्वोपचारो वा । यद्वा, तस्याः प्रत्यग्वित्तेः प्रमाणत्वेन प्रत्यक्त्वस्य शब्दस्य श्रावणादित्यर्थः । प्रत्यग्वित्तिलोपशङ्कां पराकरोति **न च तत्राहमिति** । अध्यासस्योक्तत्वात्तस्य

'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते' ॥

इतिवाक्योक्तत्वान्निम्बार्काचार्यसंमतत्वादेवकारः । **न्यायादिमत इति** । अध्यक्षो विशेषगुणयोगत इति न्यायमतम् । **आदिपदेन** शांकरमते माध्वमते च । तथा च निम्बार्कमतं न्यायादितर्कहतं मध्वाचार्यानभिमतं चेति निम्बार्कमतं सांप्रतं निर्बलमिति नेति भावः । **तस्येति** अहंकारस्येत्यर्थः । **सामानाधिकरण्येत्यादि** । ननु चैतन्यसामानाधिकरण्ये किं मानमिति चेन्न

भाष्यप्रकाशः ।

क्त्वेनेतराविषयतया पारिशेष्यादात्मविषयत्वस्यैव सिद्धेः । **नचैवं सति तत्स्वरूपयाथात्म्यमानप्रसङ्गः** । साधनान्तरवैकल्येन तथाऽऽपादयितुमशक्यत्वात् । **लोकेऽपि मणिपरीक्षादौ तथा निर्णयात्** । अन्यथा सांख्यादिशास्त्रतो नित्याऽनित्यवस्तुविवेकस्याप्यसंभवे तदभिमतविचाराधिकारस्याप्यसंभवापत्तेः । अतोऽनिच्छतापि प्रत्यग्वित्तिवेद्यत्वमात्मनोऽङ्गीकार्यम् । **नचैवं परतःप्रकाशत्वेन जडत्वापत्तिः** । इदानीं तथात्वेऽपि, अत्रात्मा स्वयंज्योतिर्भवतीति श्रुतेः स्वम एव तस्य स्वतःप्रकाशत्वेन जाग्रति तदभावेऽपि भस्मच्छन्नाग्निवददोषात् । जाग्रति तथाऽभ्युपगमस्योक्तश्रुतिविरुद्धत्वाच्छ्रौते मते चित्स्वरूपत्वे सति स्वयंप्रकाशसंविदाश्रयत्वस्यैव चेतनत्वात्, तेनै-

रश्मिः ।

अहमित्यस्याभिमाने योगाद् ब्रह्मणि रूढिरिति माध्वोक्तेः । वस्तुतस्तु असन्निवृत्तिकृतः पुरुषविधस्याहमिति सत्तारूपधर्मेणाविर्भावः । अस्तेर्भुवोऽर्थकस्य शतरि कृते रूपमिदमिति । तर्हि अहमिति सत्ताकृत् स्वरूपं सत्तानित्यत्वे तत्कारणेच्छायां व्यापारः । व्यापारः कर्म स्वयमेवेति ब्रह्मणि योगः इति वेदान्तत्वादुपपन्नतरः । मीमांसाकारिकासु वेदान्ते योगमात्रादरात् । **अहंकारेत्यादि** अहंकारो विषयो यस्याः सा अहंकारविषया तस्याः भावो अहंकारविषयता तस्या इत्यर्थः । **प्रत्यक्त्वेन** रूपेण ज्ञानता कर्तृत्वादयो ये इतरे ते विषया यस्याः सेति पूर्ववत् । **एवं सतीति** आत्मविषयिण्या अभ्रमत्वे सतीत्यर्थः । **साधनान्तरेति** । मनः करणं 'एषो अणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' इति श्रुतेः, योगेन साधितमेव पश्यति, 'अन्तरेव च पश्यति' इति श्रुत्यन्तरात् 'अयं
३ हि परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्' इति स्मृतेश्च योगादिसाधनान्तरवैकल्येनेत्यर्थः । **तथेति** माने प्रकारस्य याथात्म्यस्येत्यर्थः । नासौ न भ्रमः । अग्रे बाधादिति । **तथा निर्णयादिति** । वज्रयोगानन्यमनस्त्वादीनि साधनान्तराण्यत्र । **अन्यथेति** प्रत्यग्वित्त्यविषयत्वे प्रकारे । **नित्यानित्येति** नित्यानित्यवस्तुविवेकः शमदमादि वैराग्यं मुमुक्षुत्वं चेति साधनचतुष्टयवानधिकारी तत्र प्रकारो नित्यानित्येति, अविकारिशरीरे विशेषणत्वेन निविष्टस्येत्यर्थः । सिद्धमाह **अत इति** । एतावता व्याप्तेर्वैपरीत्यमङ्गीकारितमधुना दूषयितुमुपक्रमः । उक्तज्ञानान्तरविषयत्वे जडत्वापत्तिरित्यनुवदति **न चेति** । **भस्मच्छन्नेति** । भस्मस्थानीयं अविद्यादेहादि । **उक्तश्रुतीति** । अत्र आत्मा स्वयंज्योतिरिति श्रुतिविरुद्धत्वात् । एवं आत्मसंविदोः स्वयंप्रकाशत्वेन प्राप्तं तौल्यं निषिद्धम् । 'सत्यं ज्ञानम्' 'यः सर्वज्ञः' इति श्रुतिद्वयसिद्धं लक्षणमाह **श्रौते मते इति** । जीवजडयोरतिव्याप्तिवारणाय दलद्वयम् । स्वयंप्रकाशश्चासौ संविदाश्रयश्चेति कर्मधारयः ततः षष्ठीतत्पुरुषः । **तेनैवेति** संविदि विशेष्यशून्यत्वेन संविदात्मनोरर्थयोस्तौल्यस्य परिहारादित्यर्थः । यत्तु प्राभाकरमतमाक्षिप्तं तत्तु इष्टमेव । एकसत्त्वे द्वयं नास्तीति प्रतीत्याध्यापनविधिप्रयुक्ताध्ययनस्य सिद्धान्ते सत्त्वादिति । अर्थज्ञानस्य अध्ययनविधिप्रयुक्तत्वाभावात् स्वाध्यायादिविधिप्रयुक्तत्वस्यार्थज्ञाने सत्त्वात् । प्राभाकरमते ज्ञानविषययोरर्थः कश्चिद्भवतु । किंच ज्ञातता भट्टमते प्रत्यक्षेण, मुरारिमिश्रमते तु व्यवसायज्ञानेन ज्ञातता भवति तत्रानुव्यवसायानुक्तिः । किंच नात्मनश्चाक्षुषाध्यक्षविषयता आकाशे चाक्षुषग्रहवारणायोद्भूतरूपस्य कारणत्वात् । तस्य चात्मन्यभावात् । अपि च ज्ञानेन ज्ञानप्रामाण्यगृहीतिरपि न सांप्रतम् । तथा सति दूराहितज्ञाने प्रामाण्यसंशयानुदयप्रसङ्गात् । ज्ञानस्य ज्ञातत्वेन तन्निष्ठप्रामाण्यस्यापि ग्रहादिति । ज्ञातत्वाभावे च धर्म्यज्ञानात् संशयानुदय इति । अतो

भाष्यप्रकाशः ।

स्य परिहारात्, कर्मकर्तृविरोधस्यानुभवबलेनैव परिहृतत्वाच्च । एवमाश्रयाश्रयिभावेन
मसंविदोर्भेदे विषयत्वेनार्थोऽपि भिन्न एव । नच सत्त्वस्यानिर्वाच्यत्वात् तद्योगिनोस्त-
न्यत्वं शक्यं, सत्त्वनिर्वचनस्य तवाप्यावश्यकत्वात् । अन्यथा संविदोऽप्यसत्त्वापातात् ।
रूपत्वमेव सत्त्वमितिचेत् सिद्धमेव तर्हि तद्योगित्वादात्मनः सत्त्वं, असत आश्रयत्वा-
नच तत्प्रकाशस्वरूप एवात्मा, न तु तद्योगीति वक्तुं युक्तम् । प्रत्यक्तत्त्वस्य तत्राभा-
हं जानामीति, ज्ञानवानहमित्येवमात्मधर्मत्वेनैव तस्य भानाच्च । एवं सिद्धं प्रकाश-
नः सत्त्वम्, सिद्धं चानारोपितरूपेण विषयत्वादर्थस्यापि सत्त्वम् । असतोऽविषयत्वात् ।

रश्मिः ।

र्यवसितं ग्राह्यम् । स्वतो ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यं स्वतोग्राह्यमिति । सिद्धान्ते तु 'स्वय-
मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम' इति वाक्यमपि । नैयायिकमताक्षेपं वारयन्ति कर्मकर्त्रिति ।
वबलेनैवात्मानमहं जानामीत्यत्र कर्मलक्षणसंगतिरिति भावः । पुनर्जडत्वापत्तिस्तु दतो-
सन्नर्थात्मानाविति ग्रन्थमाक्षिपन्नाह एवमिति । भेदे इति । नैयायिकास्तु संविदो
ज्ञानत्वाभावः, सविषयत्वेपि जगतो विषयतोऽयस्यकस्यचित् । आद्ये सर्वज्ञतापत्तिः ।
निगमकाभावः, सुषुप्तिरपि निर्विषया न स्यात् । तदानीं निराकारचित्संततिस्वीकारस्तु
प्रकाशत्वे प्रमाणाभावं द्रढयति । निर्विषयिण्या ज्ञानत्वे घटादीनामपि ज्ञानत्वापत्तिरत
रभिन्न इत्याहुः । आत्मद्रव्यज्ञानं बुद्धिर्गुणः । ननु प्रकृतेपि परिहरणीयमेतत्र इत्याह विष-
दि । ब्रह्मत्वेनाभेदादवच्छेदकोक्तिः । सर्वभवनसमर्थत्वादचिन्त्यशक्तेश्च जातोर्थो भिन्न
तथा च नित्यज्ञानस्य प्रपञ्चविषयत्वे न सार्वज्ञ्यम् । अनित्यस्य यो विषयस्तद्विषयक-
सौ सामग्रीविरहाददोष इति न पूर्वोक्तं किंचिदिति भावः । अथवा । ननूक्तं विषयादि-
विदो अहं जीव इत्याद्याकारिकाया जडत्वापत्तिरिति, तत्राह विषयत्वेनेति । तथा
ग्रन्थिरूपाहंकारवैशिष्ट्येपि पुरुषविधब्राह्मणोक्तात्मरूपब्रह्मत्वेनाभेदात्तअन्यत्वेप्यक्षतेरिति हृद-
तस्तु आविर्भावः विपरीतव्यासेन । एतेन पूर्वज्ञानफलस्येत्यादिनोक्ता जडत्वापत्तिर्जग-
श्च निरस्ता । संविदोपि कैवल्यं नास्त्येवेति विषयाविनाभावं नन्दयति । तेन वस्तु-
नोकमर्थवियुक्तैव संविदिति तदप्युक्तप्रायम् । अहंवित्तौ सत्ताया इवान्यत्र दृश्यमान-
लपितुमशक्यत्वादिति । ब्रह्मैव तदाकारतया चकास्तीति चेन्न अपसिद्धान्तापत्तेः ।
तीयां ख्यातिमाशङ्क्य निषेधति न च सत्त्वस्येति । तयोरिति आत्मार्थयोरित्यर्थः ।
माह प्रकाशेति । ॐ इत्याह सिद्धमेवेति । असत इति अनिर्वाच्यस्येत्यर्थः । तत्रेति
र्थः । आत्मनि सत्त्वसाप्यमातत्वमाशङ्क्याह अहं जानामीति । ज्ञानानुकूलव्यापारवा-
मत्प्रत्ययगोचरस्यात्मनो धर्मः सत्तासंज्ञकब्दे रूढेः । तत्कर्तृसमभिव्याहारे अहंकारो योगा-
र इति तस्य सत्त्वस्य भानात् । अहंकारस्य सत्तासमभिव्याहारताकथनस्य सत्त्वमस्त्येव न
रूपप्रतीतित्वरूपप्रत्यक्त्वभानात् विशेष इति भावः । सिद्धमाह एवं सिद्धमिति । तदर्थ-
। ब्रह्मकार्यत्वादिति भावः । युक्तिमाह असत इति । संहितायामित्यधिकारात्सान्मात्रा-
दसंधिः । तदुक्तम्—

1. त्येति रत्नौ ।

भाष्यप्रकाशः ।

सपुष्पं पश्याम्यनुभवामि प्रत्येमीत्याद्यप्रत्ययात् मरीचितोयादीनां चारोपितरूपेण विषयत्वात् ।

रश्मिः ।

'संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः ।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते' इति ।

असतोपि तोयादेर्विषयत्वं दृश्यते इति चेत्तत्राह मरीचीति । आरोपितरूपेणेति ।
अयं भावः । प्राभाकरास्तावद्भ्रमः स्मृतेर्नातिरिच्यत इत्यख्यातिं वदन्ति, संस्कारजन्यत्वाविशेषात् ।
न च तत्तास्फुरणापत्तिरिति शङ्क्यम् । कर्तृदोषेण तत्प्रमोषात् । दोषाभावे तु रजतस्फूर्तिर-
धिष्ठानस्फूर्तिर्वा भवेत् । दोषाश्च रागादयः क्वचित्प्रबलालोकादिना विवेकासामर्थ्यं क्वचि-
दन्यचित्ततेत्येवमादयो अननुगतास्तथातथादर्शनादुन्नेयाः । अतः प्रमुष्टतत्ताका स्मृतिरेव
भ्रमस्थले ज्ञेया । प्राभाकरास्तु रजतमनुभवामीत्यनुव्यवसायबाधं स्मरामीत्यनुव्यवसायापत्तिं च
पश्यन्तो ग्रहणस्मरणात्मकं ज्ञानद्वयमगृहीतासंसर्गकमत्र ख्यातिरूपमिति वदन्ति । स्मृति-
प्रमाणभेदेन ज्ञानस्य द्वैराश्यात् । न चानुव्यवसायद्वयापत्तिरिति वाच्यम्, स्मरणाभिमानस्य
दोषेण प्रमोषात् । तस्माद्विविक्तज्ञानद्वयाङ्गीकारे न कोपि दोष इति । अत्राप्येकज्ञानतौल्येन
ज्ञानद्वयस्याशक्यवचनत्वात् । न च तौल्यं नास्तीति वाच्यम् । यद्यगृहीतासंसर्गकं ज्ञानद्वयं
स्यात्, एकज्ञानतुल्यता न स्यात्, यदि न स्यात् सा व्यवसायानुव्यवसाययोर्नोपलभ्येतेति तर्केण
तन्मूलभूतव्यवसायानुव्यवसायाभ्यां चैकज्ञानतुल्यत्वनिश्चयात् । अपि च, ज्ञानद्वैराश्याग्रहेणात्र
ज्ञानद्वयाङ्गीकारे सर्वत्र विशिष्टज्ञानोच्छेदः । घटोयमिति प्रमायामप्यगृहीतासंसर्गकवद्गृहीतज्ञानद्वयस्य
शक्यवचनत्वात् । द्वैराश्ये मूलस्य चिन्त्यत्वाच्चेति मतद्वयेपि दोषान् पश्यता भवतानिर्वचनीया
ख्यातिराद्दता । इत्थं हि त्वदीयं व्युत्पादनम् । प्रमा द्वेधा । तत्र तत्त्वमस्यादिवाक्योत्था पारमा-
र्थिकी, संसारप्रमा व्यावहारिकी । सान्यथं एकैव संविच्चातुर्विध्यं धत्ते । तत्रान्तःकरणवैशिष्ट्येन
प्रमातृताम्, अन्तःकरणवृत्तिवैशिष्ट्येन प्रमाणताम्, घटादिवैशिष्ट्येन विषयताम्, अन्तःकरणवृ-
त्त्यभिव्यक्तत्वेन फलतामिति । पूर्वमिन्द्रियार्थसन्निकर्षः, ततश्चान्तःकरणस्य चक्षुरादिद्वारा विषय-
देशगमनम्, तेन संयोगस्तदाकारेण परिणामो वृत्त्यात्मकः । यथा तडागोदकं छिद्रान्निर्गत्य
कुल्याद्वारा केदारं प्रविश्य चतुःकोणाद्याकारेण परिणमते । तत्र परिणामे विषयसंवित्प्रतिफलनं भवति ।
तदैकदा वृत्तिविषययोरवस्थितिरेकदेश इति तत्प्रयुक्तभेदस्याकिंचित्करत्वात् तत्संविदोरैक्यम् । तदिदं
प्रत्यक्षप्रमा तया च वृत्त्यावरणसहिताज्ञाननिवृत्तिः । ततोऽन्तःकरणविशिष्टसंविदा विषयस्फुरणमिति ।
यदा तु इन्द्रियविषययोर्दोषः, तदा भ्रमः । स च सदसद्विलक्षणत्वादनिर्वचनीय इति ।

तदिदं स्वबुद्ध्युल्लासमात्रम् । आरोपितरूपेण बुद्धिरूपेण विषयत्वात् । तथा हि । अहंकार-
भेदरूपा बुद्धिः स्थिरा मूर्ता सच्चिदानन्दब्रह्मभिन्ना ख्यायत इति अन्यख्यातिरेवोचितेति । एतद्वै-
शिष्ट्यज्ञानप्रनाडीनां द्वितीयाध्यायोपान्ते 'प्राणवता शब्दात्' इत्यधिकरणे विस्तृतिनिरस्ती वक्तव्ये
इति ते अत्र नोच्येते । नन्वभावे सत्त्वस्य वक्तुमशक्यत्वादतीतानागतस्थलेऽर्थवियुक्तैव संवित्तद्वद्व-
र्तमानकालेऽप्यर्थो मिथ्या दृश्यत्वाच्छुक्तिरजतवदिति अनुमानेनार्थोऽनिर्वचनीय इति नार्थे नियाम-
कतेति शङ्कते न चेति । ननु चाभावत्वेन प्रत्ययात्सोतिरिच्यत इति चेत्, न । घटे ध्वस्ते तद्द्रव्यं

भाष्यप्रकाशः।

न चाभावे सत्ताव्यभिचारः। तस्यापि भावत्वात्। भावान्तरात्मना अननुभूयमानप्रतियोगिरूपेणैव तत्राभावव्यवहारात्। अन्यथा निष्प्रतियोगिकत्वेनापि तस्य प्रत्ययापत्तेः। नचैवं संविदोऽर्थाद्यविनाभावेऽर्थं विना संविदप्रकाशात् स्वतःप्रकाशत्वहानिः। दीपादेस्तेजोरूपत्वस्येव संविदः प्रकाशस्वरूपत्वस्यैव स्वतःप्रकाशपदार्थत्वात्। अत एवात्मनोऽपि तथात्वात्। नचात्मनो व्यापकत्वेन सर्वत्र सत्त्वात् तत्रारोप्यमाणस्य शरीरादेर्मरीचिकादावारोप्यमाणतोयादेरिव सत्त्वदेशस्याशक्यवचनत्वादसत्त्वमास्थाय प्रतीयमानत्वमात्रेण सदसद्विलक्षणत्वमनिर्वाच्यत्वं चास्थीयत इत्यपि सांप्रतम्। वस्तुपरिच्छेदास्थातुर्मते तत्समवाय्यादीनां सत्त्वेन तेषामेव देशत्वसिद्धेः। तदनास्थातुर्मते च ब्रह्मकार्यत्वात् ब्रह्मण एव तथात्वसिद्धेः। एवं सिद्धे देशे शरीरादीनां च सिद्धत्वे तेषामात्मन्यारोपोऽपि सुकरः। अन्यथा खपुष्पादेरिव दुष्करः स्यात्। अप्रत्यक्ष आकाशे मालिन्याध्यासवदप्रत्यक्ष आत्मनि शरीराद्यध्यासोपपादनमप्यसंगतम्। बालानामवकाशरूपेण बुद्धानां वस्तुस्वभावेनैव चाकाशस्यापि प्रत्यक्षत्वात्। अतः कल्पनाया असंगतत्वात् 'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' इति, 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा' इत्यादिश्रुतिविरोधाच्च, न कर्तृत्वभोक्तृत्वादिरहित आत्मा। नच स वेदार्थः। ब्रह्मणो वेदार्थत्वात्। किंतु स्वबुद्ध्या तथा कल्पित इति, न तदर्थं विचारः शक्यवचनः। तदिदमुक्तं न हीत्यादि।

रश्मिः।

कपालत्वेनावतिष्ठते संज्ञानिवृत्तिमात्रं परम्, एवं कपाले ध्वस्ते तच्छकलात्मता ततोपि चूर्णीभावः ततश्च बहिःप्रक्षेपे पृथिव्यामेकीभावः, पुनः कपालं घटश्चेत्येवं भ्रमणेनानुभूयमानप्रतियोगिरूपेण कपालादिनाप्यभावप्रत्ययनिर्वाह इति। प्रत्यक्षविरोधस्य सहने फलाभावादिति। न चेह घटो ध्वस्त इत्याधाराधेयभावव्याघातः। घटाभावे घटाभाव इतिवदुपपत्तेः। तदाह भावान्तरात्मनेति। 'यदस्ति यन्नास्ति तदेव विष्णुः' इति विष्णुरूपभावान्तरात्मत्वमभावस्य, न अनुभूयमानोऽननुभूयमानस्तादृशः प्रतियोगी संबन्धनिरूपको यस्येति। मुख्यधर्मेणैव व्यवहार इत्यत्र युक्तिमाह अन्यथेति। निर्गतः प्रतियोगी यस्मात् तत्त्वं भावान्तरधर्मस्तेन रूपेणेत्यर्थः। 'इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य' इति षत्वम्। तद्रहितपाठस्तु प्रामादिकः। तेन खपुष्पेऽभिलापयोग्यत्वेपि अस्त्यादिक्रियान्वितत्वरूपसत्त्वाभावेन तदतौल्यमपि सूचितम्। तथैवात्मनेत्यादिनिरुक्तमनुवदन्तीं शङ्कामपाकुरुते न चात्मन इति। सदसद्विलक्षणत्वमिति। अनिर्वचनीयत्वमेव सदसद्विलक्षणत्वमास्थीयत इति योजना। दूषयति वस्त्विति। वस्तुतो ब्रह्मणो वैश्वानराधिकरणे प्रादेशत्वाभिमानत्वरूपाङ्गीकारेणैव परिच्छेदास्थातुर्भगवतो व्यासस्य मते शरीरादिसमवाय्यादीनामित्यर्थः। तदनास्थातुरिति प्रस्तुत एकदेशिनो मते इत्यर्थः। ब्रह्मण इति सर्वशक्तिमतो ब्रह्मण एकदेशत्वसिद्धेरित्यर्थः। तथाप्येवमावश्यकमित्याह एवं सिद्ध इति। तथा चानिर्वाच्यत्वनिरुक्तिर्निष्प्रयोजनेति भावः। दृष्टान्ताप्रसिद्धिमाह बालानामिति। आकाशस्यापीत्यादि। इदं चाग्रे व्युत्पाद्यम्। तदेषामिति श्रुत्यर्थस्तु, विज्ञानमयस्य सुप्तस्य विज्ञानराहित्ये अजातशत्रुणा हेतुरुच्यते तदेषामिति। एषामात्मप्राणादीनां विज्ञानं स्वविषयप्रकाशनसामर्थ्यं विज्ञानेन स्वचैतन्येन जीव आदायोपादाय हृदयाकाशे शेत इति। न च स वेदार्थ इति स्वात्मा न वेदार्थ इत्यर्थः। यदप्यध्यासलक्षणं तदप्यव्याप्तम्। न चेदंत्वावच्छेदेन तदत्यन्ताभावोऽस्तीति रजतत्वाभाववति रजतत्वप्रकारकं

ब्रह्म पुनर्यादृशं वेदान्तेष्ववगतं तादृशमेव मन्तव्यम्। अणुमात्रान्यथाकल्पनेऽपि दोषः स्यात्।

'योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा'॥

'नैषा तर्केण मतिरापनेया' इति श्रुतेश्च।

भाष्यप्रकाशः।

अथ 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म,' 'अस्थूलमनणु' इत्यादिश्रुतिभ्योऽधिगत इति वदति तत्राह ब्रह्मेत्यादि। यथा हीदमस्थूलत्वादिकं वेदान्तेषूच्यते, तथा 'सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः, विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखः' इत्यादिकमप्युच्यत इति तादृशमपि मन्तव्यं न तु निर्विशेषमात्रम्। न च तत्र स्वस्यान्यथाकल्पनं युज्यते, प्रतिज्ञाहानिदोषात् प्रतारकत्वापत्तेश्च। नच श्रोतुर्मन्दत्वे कश्चिदुपायो विधेय इति तदर्थं किंचित्कल्पनेऽप्यदोष इति वाच्यम्। तथा सति श्रुत्यभिप्रेतात्मस्वरूपाज्ञानेन श्रोतुः 'योऽन्यथा सन्तम्' इतिश्रुत्युक्तदोषापत्तेः। तथा वक्तुरपि, नैषा तर्केणेति श्रौतनिषेधातिक्रमदोषापत्तेः। श्रुतिविरोधदोषापत्तेश्च। तदिदमुक्तम् अणुमात्रान्यथेत्यादि। ननु

रश्मिः।

ज्ञानं तत्रात्यन्ताभावो निविष्टः, भावोऽस्तीति नाव्याप्तिरिति वाच्यम्। इदंत्वस्य पुरोवर्तित्वरूपस्य शुक्तिनिष्ठत्वे सदसत्ख्यात्यापत्तिः, अनुभवविरोधश्च। विशेषणानुभवो रजत इति। रजतनिष्ठत्वे तु प्रतिबन्धकोऽत्यन्ताभावं विघटयिष्यतीति। बन्धस्य नित्यता तु 'बन्धोऽस्याविद्यया-नादिः' इति वाक्यादविद्याकार्यत्वेन मिथ्यात्वात्। व्यावहारिकी माध्वैर्बन्धमिथ्यात्वखण्डने खण्डितेति। ननु कारणान्तरसमवधानान्न बन्धस्य विद्यामात्रनिवर्त्यत्वमिति चेन्न, एकेनैव दण्डादिना घटनाशदर्शनेन दृष्टान्तसंभवात्। 'असंदिग्धोपि वेदार्थः' इत्यत्र भक्तं पक्षस्य संग्रहात्। सिद्धान्तपक्षमाहुः तादृशमपीति। निर्गुणमेव पश्चादनारोपितगुणसंपृक्तमित्यर्थः। इदमुभयव्यपदेशाधिकरणे तृतीयाध्याये स्पष्टीभविष्यति। अणुमात्रेत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति स्म न च तत्रेत्यादि। ब्रह्मणि धर्माणामध्यस्तत्वकल्पनमित्यर्थः। कुतः, अणुमात्रान्यथाकल्पनमपि नेष्यत इत्यर्थः। प्रतिज्ञेति 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति निर्गुणब्रह्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय 'जन्माद्यस्य यतः' इति वदतो व्यासस्य प्रतिज्ञाहानिदोषादित्यर्थः। अध्यस्तत्वेपि लक्षणतोपपत्तेराह प्रतारकत्वेति। केवलं संविदद्वित्वसूत्रयतो भगवतो व्यासस्य तत्त्वापत्तेश्चेत्यर्थः। अत एव द्वितीयस्य नवमाध्याये इच्छानन्तरं सदानन्दस्य जगत्कर्त्री शक्तिः, चितस्तु व्यामोहिका शक्तिरिति विभाग उक्तः। अणुमात्रेत्यादि भाष्यमवतारयन्ति न च श्रोतुरिति। मन्दत्व इति तावदवधानशून्यत्व इत्यर्थः। योऽन्यथा सन्तमिति। अत्र प्रतिपद्यत इत्यस्य जानाति, प्रतिनिधिं पद्यते गच्छति प्रतिपत्तिं शरणागतिं कुरुते इति त्रयोऽर्थाः। प्रतिनिधिः कृष्णः प्रतिकृतिश्च। तदुक्तं सुबोधिन्यां 'नैश्चिन्त्यं वाचि पूर्ववत्' इति कृष्णविषये, प्रतिकृतिविषये तु 'हरिमूर्तिं प्रियां कृत्वा' इति। पुरुषात्मप्रतिमायां गोस्वामि-

नच विरुद्धवाक्यानां श्रवणात् तन्निर्धारार्थं विचारः । उभयोरपि प्रामाणिकत्वेनैकतरनिर्धारस्याशक्यत्वात् । अचिन्त्याऽनन्तशक्तिमति सर्वभवनसमर्थे ब्रह्मणि विरोधाभावाच ।

अत एवोपनिषत्सु तत्तदुपाख्याने बोधाभावे औपाधिकबोधे च तपस

भाष्यप्रकाशः ।

विरुद्धवाक्यश्रवणे श्रोता संदेग्धि । संदेहे चावश्यमनिष्टम् । 'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति' इति स्मरणात् । 'यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सा'इति इति श्रुतेश्च । अतस्तन्निवारणार्थं निर्धार आवश्यकः । स च विचाराधीन इति तदर्थं स कार्य एवेत्यत आह नचेत्यादि । विचारः कथं कार्यः किमेकतरबाधेन, किंवोभयसामञ्जस्येन । यद्याद्यः पक्षस्तदा तद्बाधनाया-प्रामाणिकत्वं तस्य वक्तव्यम् । तथा सत्यन्यत्रापि तदापात इत्युपचारनिवृत्त्यर्थं यतमानस्याऽप्रामाणिकत्वापत्त्या वृश्चिकभिया पलायमानस्य विषमाशीविषमुखे निपातः । अथ द्वितीयस्तदा, 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते,' 'स हैतावानास' इत्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मसामर्थ्येनैव विरोधस्य परिहारे विचारस्य वैफल्यमेवेति युक्त्या वेदार्थः सर्वथा न प्रतिपत्तुं शक्यः, इत्यतो वेदार्थज्ञानायोपायान्तरं द्रष्टव्यम् । तदपि श्रुत्यविरुद्धम् । तत्र प्रमाणमाह अत एवेत्यादि । तैत्तिरीये भृगोर्बोधाभावे वरुणेन 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व' इति, छान्दोग्ये इन्द्रप्रजापतिसंवादे इन्द्रस्यौपाधिकबोधे प्रजापतिना, 'वस द्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यम्'इति साधनान्तरस्य तपस एवोपदेशः

रश्मिः ।

नोपि ' : श्रीपुरुषोत्तमात्मकतायां जातायां स्वरूपे भगवान् श्रीगोकुलेशः श्रीकृष्णोयमिति बुद्धिः कर्तव्या, न स्वरूपादिबुद्धिः' इत्याहुः । नैषा तर्केणेति भाष्यं विवृण्वन्ति तथा वक्तुरिति । एषेति विषयिणीत्यर्थः । अयमर्थः । द्वितीयाध्यायेऽणुकारणवादे वक्ष्यते । काठके इयं श्रुतिः । सा च नन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान् न ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात्,' 'नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येन सुज्ञानाय प्रेष्ठ' इत्यादिः । अनन्यः आचार्यः । 'अत एव चानन्याधिपतिः' इति सूत्रात् । अन्येन ...माभिज्ञाचार्येण । 'नाहं किंचित्करोमि' इति वाक्यात् । न अन्यो भिन्नो विद्यते यस्येत्यागमार्थेन । तदिदमिति । न च तत्रेत्यादिना विवृतमित्यर्थ इति । न च श्रोतुरित्यादिना विवृतमि...ः । आरणे 'अन्धो मणिमविन्दत् तमनङ्गुलिरावयत् । अग्रीवः प्रत्यमुञ्चत् । तमजिह्व असश्चत' 'ऊर्ध्वमूलमवाक् छाखं वृक्षं यो वेद संप्रति । न स जातु जनः श्रद्दध्यात्' इति मृत्युर्मा ...यात्' इति । 'अणोरणीयान्महतो महीयान्' इति वेदान्ते । अविन्दत् ज्ञातवान् । परस्मपदात्, ...धवान्वा विरुद्धधर्माश्रय उक्तः । तमनङ्गुलिरिति 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' इत्युक्तः । अग्रीव ...ति । सर्वतो हि शिरोमुखमित्युक्तः । तमजिह्व इति लिह आस्वादने आस्वादकदेहरहितः 'निर्गुणो गुणभोक्ता च' इति गीतोपबृंहिका । श्रुतिविरोधेति । यस्य स्यादद्धेति । यस्य विचिकित्सा संशयो नास्ति तस्याद्धा प्रत्यक्षं स्यादित्यर्थः । नस्येति उभयोरेकतरस्येत्यर्थः । विषमाशीविषमुख इति । विषमाशीविषः सर्पविशेषः । एतावता 'अलौकिको हि वेदार्थः' इत्यर्धकारिका व्याख्याता । उत्तरार्धं विवरीतुं संबन्धार्थमाह इत्यत इति । बोधाभाव इति । अन्नं ब्रह्मज्ञानान्तरं 'तद्विज्ञाय पुनरेव च वरुणं पितरं उपससार अधीहि भगवो ब्रह्मेति, तं होवाच तपसा विजिज्ञासस्व' इति बोधाभाव इत्यर्थः । औपाधिकबोध इति । छान्दोग्ये च दशम-

एवोपदेशः । नच तपःशब्देन विचारः । तस्य पूर्वानाधिक्यात् तप एव । नचोपाख्यानानां मिथ्यात्वम् । तथा सति सर्वत्रैव मिथ्यात्वं भवेद् विशेषाभावात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

कृत इत्यर्थः । ननु तप संताप इतिवत्, तप आलोचन इत्यपि धातुरिति तन्निष्पन्नोऽयं शब्दो विचारार्थक एव मन्तव्यः । तथा सति श्रुत्यैव विचारस्य प्राप्तिरित्यत आह नच तप इत्यादि । तप एवेति तप एव तपःशब्देनोच्यत इत्यर्थः । अयं भावः । विचारो ह्येकतरबाधेन वा, ब्रह्मणः सामर्थ्यादिप्रदर्शनेन वा साधनीयः । न तु श्रोतरि तेन कोऽपि विशेषः संपाद्यः । तथा सति पठितवेदस्य साधनान्तरश्रवणं विनाऽपि विचारे वेदार्थः स्फुरेदेवेति पूर्वानाधिक्यादुपसदनवैयर्थ्यापत्तिः । गुरुवाक्योत्तरं विचार इत्यङ्गीकारे गुरोः खलत्वापत्तिः । उपसदनोत्तरमपि तस्यैवायासोपदेशेन दयाराहित्यप्राकट्यात् । तपसोऽङ्गीकारे तु तेन शिष्ये विशेषाधानादधिकारसंपत्तौ साङ्गवेदवाक्येभ्य एव स्फूर्तेर्नच कोऽपि पूर्वोक्तदोष इति तपःशब्दो रूढ एवादरणीयः । तदेतदुक्तं, तप एवेति । अन्यथा छान्दोग्यविरोधस्यापरिहार इत्यपि बोधयितुं सावधारणमुक्तम् । ननु सत्यमुपनिषत्सु तप उपदिश्यते, तथाप्युपाख्यानेषु न तु ज्ञानसाधनत्वेन क्वापि पृथग् विधीयते । उपाख्यानानि तु विद्यास्तुत्यर्थमसदपि बोधयन्तीति, न तदनुरोधे निर्बन्धः कार्य इत्यत आह नचोपेत्यादि । तथाच श्वेतकेतूपाख्यानस्थयुक्तीनां त्रिवृत्करणादीनां

रश्मिः ।

प्रपाठके ब्रह्मजिज्ञासुभ्यामिन्द्रविरोचनाभ्यां नोदितः प्रजापतिरुवाच 'साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षेथाम्' इति । ततश्च तथा कृते 'एष आत्मेति होवाच ततस्तौ शान्तहृदयौ प्रवव्रजतुः' । तयोरिन्द्रस्तु शरीरालंकारनाशाद्भिन्नात्मनाशाद्यनुसंधाय, 'नाहमत्र भोग्यं पश्यामि' इति पुनः प्रजापतिमुपजगामेत्यौपाधिकबोधे इत्यर्थः । तस्य विचारस्य श्रोतरि पूर्वापेक्षया विशेषरूपाधिक्यासंपादकत्वात् तपःशब्देनानशनादिरूपं विशेषाधायकं तप एवोच्यते इत्याशयमभिसंधाय विवृण्वन्ति अयं भाव इति । तेनेति विचारेणेत्यर्थः । ननु विचारेणाप्युत्तरोत्तरं प्रतिभारूपो विशेषः संपाद्य एवेति चेत्, तत्राहुः तथा सतीति । इति पूर्वानाधिक्यादिति इति हेतोः पूर्वोपसदनापेक्षया ब्रह्मोपसदनविषये विशेषरूपाधिक्यासंपादकत्वात् । विशेषश्चान्नादिब्रह्मबोधानुकूल्यमेव । ननु विचारेप्येवं वक्तुं शक्यमित्यत आह उपसदनेति । भृगोर्वरुणोपसरणवैयर्थ्यापत्तिः । विचारेणैव विशेषाधानाद्गुरोरप्रयोजकत्वादित्यर्थः । शिष्ये विशेषाधानादिति । 'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्, प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्, मनो ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इत्येवमुत्तरोत्तरं फलवैजात्यात् साधनवैजात्याय शिष्ये विशेषाधानावश्यकत्वादित्यर्थः । तदुक्तं—

'अलौकिको हि वेदार्थो न युक्त्या प्रतिपद्यते ।
तपसा वेदयुक्त्या तु प्रसादात्परमात्मनः' ॥ इति ।

तपःशब्द इति । तपःशब्दः अरूढ इति पदच्छेदः । 'तप संतापे' इति धातुपाठात् । तेन वेदान्ते योगाङ्गीकारस्य न विरोधः । यद्वा तपःशब्दो रूढः शक्तिसंकोचवान् । अत्र तपो भगवानिति द्वितीयस्कन्धनवमाध्याये निरूपणान्न विचारः । ततः 'स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम' इति वाक्यात्तप एव । 'तदुक्तं तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व', 'तपो ब्रह्म,' इति । 'अलौकिको हि वेदार्थो न युक्त्या प्रतिपद्यते । तपसा वेदयुक्त्या तु प्रसादात्परमात्मनः' इत्यत्र तप उक्तम् । न च वेदयुक्तिविचारः । अस्तु तथा, परन्तु द्वितीयसुबोधिन्यां तपस्संतापस्वीकारात्, 'स्वयमेवात्म-

न ह्यप्रामाणिकोक्ते विधौ वा उपाख्याने वा ब्रह्मस्वरूपे वा कस्यचिदपि विश्वासो यथा लोके। तस्माद् वेदे अक्षरमात्रस्याप्यसत्यार्थ(ज्ञान)स्याभावाद् वैदिकानां न संदेहोऽपि किं पुनर्विरुद्धार्थकल्पना। विद्यासु च तदश्रुतेः। यदि वेदार्थज्ञाने विचारस्योपयोगः स्यात्, अङ्गत्वेन व्याकरणस्येव विद्यासु श्रवणं स्यात्। स्वातन्त्र्ये च पुराणादेरिव मीमांसाया अपि प्रकारभेदेन प्रतिपादकत्वं स्यात्। 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति तु तेषां निषेधः। अन्यथाज्ञानं नोपनिषदुक्तं फलं समर्पयति। तस्मादनारम्भणीय एव ब्रह्मविचारः।

भाष्यप्रकाशः।

च मिथ्यात्वं स्यात्। तथाच सर्वो वेद एवोच्छिद्येतेत्यर्थः। तत्र हेतुमाह न हीत्यादि। सिद्धं वदन् लोके प्रत्यक्षसंवादमप्याह तस्मादित्यादि। वैदिकानामिति प्राज्ञवैदिकानाम्। प्रकारान्तरेणापि विचारानर्थक्यमाह विद्यास्वित्यादि। स्वोक्तं व्याचष्टे यदीत्यादि। चरणव्यूहे, शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति षडङ्गान्युक्त्वा, 'तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते' इत्येवोच्यते। तस्मात् 'साङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इति विधावपि नाक्षेपो युक्त इत्यर्थः। एवं विधित्रयेऽपि विचाराक्षेपस्याशक्यवचनत्वाद् विधिप्रयुक्त्यारम्भणीयत्वं निवारितम्। ननु मास्त्वङ्गमध्यपातस्तथापि पुराणादिवत् स्वातन्त्र्येणैवारम्भणीयः। नचाऽप्रामाणिकत्वम्। प्रतिपदमनुपदं, छन्दो, भाषा, धर्मो, मीमांसा, न्यायस्तर्क इत्युपाङ्गानीति तत्रैवोपाङ्गेषु पाठात्, स्मृतावपि।

'पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश' ॥ इति।

विद्यासु गणनाच्चेति चेत्तत्राह स्वातन्त्र्ये चेत्यादि। तस्मादिति वेदार्थज्ञानार्थं ब्रह्मज्ञानार्थं चाऽनुपयोगात्।

रश्मिः।

ना' इति वाक्यात् विचारस्याप्राप्तिः, अभगवत्त्वात्। तथा च तस्य विचारस्य अभगवत्त्वेन पूर्वस्मात्संतापात्मकात्तपसो भगवत्पादस्यानाधिक्यात्तपःसन्तापात्मकमेव प्राह्यमिति भाष्यार्थः। आधिक्यं स्वयं प्रकाशाविघटकत्वम्। एकरसत्वं वा एकरसत्वेन पूर्वस्मादनाधिक्यं वा। मुख्यं हेतुमाह अन्यथेति तपसो विचारार्थकत्व इत्यर्थः। **अपरिहार** इति अपरिहारो मुख्यो हेतुरित्यपि बोधयितुमित्यर्थः। उपाख्यानानीति। एतच्च पूर्वतन्त्रे द्वितीयस्य द्वितीयपादे चिन्तितम्। त्रिवृत्करणादीनामिति। 'यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति। अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुः तत्पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसम्, योऽणिष्ठस्तन्मनः, आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते, तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति, यो मध्यमस्तल्लोहितम्, योऽणिष्ठः स प्राणः, तेजो अशितं त्रेधा विधीयते, तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति, यो मध्यमः स मज्जा, योऽणिष्ठः सा वाक्, अन्नमयं हि सौम्य मनः, आपोमयः प्राणः, तेजोमयी वागिति' त्रिवृत्करणश्रुतिः। भाष्ये। असत्येति। न च सर्वरस इति श्रुतिविरोधे रस शब्द इति धातुपाठात् शब्दस्यासत्यर्थादिति शङ्क्यम्। क्षराक्षरपुरुषोत्तमभेदेनासत्यार्थ-

अनेन धर्मविचारोप्याक्षिप्त एव। न ह्येतन्निराकर्तुं सोऽयमतिभार इति पूर्वःपक्षः।

सिद्धान्तस्तु।

भाष्यप्रकाशः।

ननु मास्तु ब्रह्मविचारस्यारम्भणीयत्वं, धर्मविचारे तु दोषाभावात् तदारम्भे को दोष इत्यत आह अनेनेत्यादि। 'स तृतीयमतप्यत, स एतं दीक्षितवादमपश्यत्' इत्यादौ तपस एव कथनेनेत्यर्थः। नन्विदमपि शास्त्रकृभ्युक्तत्वात् प्रामाणिकमतः कथं निराक्रियत इत्यत आह महीत्यादि। गुरोर्मते एव निराकृते शिष्यस्य का वा गणनेत्यर्थः। एवं च यथा मीमांसाकरणात् पूर्वमङ्गैरेव संदेहनिवृत्तिस्तथेदानीमपि भविष्यतीति व्यर्थं तत्करणमिति केवलवैदिककृतः पूर्वपक्षो निरूपितः।

उत्तरं वक्तुं गृह्णन्ति सिद्धान्त इत्यादि। ननु शब्दस्य निःसंदिग्धमर्थप्रतिपादकत्वात्

रश्मिः।

वाचकानां क्षराक्षरसंबन्धित्वेन पुरुषोत्तमनिःश्वासे वेदे असत्यार्थस्याभावात्। तेजो घृतादि। अर्थविधुराणां वैदिकानां धर्म्यज्ञानात्संशयो न घटत इति विशिंषन्ति प्राज्ञेति। प्रज्ञ एव प्राज्ञः ते वेदार्थभूतात्मतत्त्वज्ञाः। पूर्वमीमांसाकारिकाणां भावार्थपादभाष्यस्य च तद्विषयकविचारो लाघवादत्रैव युक्त इत्याशयेनानेन इत्यादि भाष्यमित्याशयेन विवृण्वन्ति स्म स तृतीयमिति। इयं श्रुतिः संहितातृतीयाष्टकेऽस्ति। स प्रजापतिस्तृतीयं तपो अतप्यत तदन्वेतं दीक्षितवादं ज्ञातवानित्यर्थः। पूर्वं प्रकाशे प्राज्ञेति स्वयं विशेषणोक्तेः। ननु मीमांसकान्तरोत्थापकग्रन्थाभावात् पूर्वपक्षोपन्यासोऽयं दुर्बोध इति चेन्न, नात्र ब्रह्मपदेन भ्रमितव्यम्। ब्रह्मपदस्य 'जिज्ञासितमधीतं च यत्तद्ब्रह्म' इत्यत्र वेदे प्रयुक्तत्वात्। वेदत्वेन वेदान्तविचारेपि संहतमेतच्छारीरकं जैमिनीयेन षोडशलक्षणेनेति वदतां ब्रह्मसूत्राणां प्राचीनवृत्तिकृतां वेदगतिप्रदर्शनार्थं ब्रह्मपदग्रथनस्य सत्त्वान्न ग्रन्थाभाव इति। सिद्धान्तग्रन्थमवतारयन्ति उत्तरमित्यादि। गृह्णन्तीति पूर्ववत्। भाष्ये संदेहवारकमिति द्वितीयाधिकरणे—

'संदेहवारकं शास्त्रं वेदप्रामाण्यवादिनाम्।
क्रियाशक्तिज्ञानशक्ती संदिह्येते परस्थिते' ॥

इति वक्ष्यते। तत्र ज्ञानशक्तिक्रियाशक्ती किन्निष्ठे इति विशेषजिज्ञासाजनकत्वात् विशेषवेदार्थजिज्ञासा भवति। तर्हि कोऽत्र वेदार्थः यत्र संशयोदयः। ज्ञानशक्तिक्रियाशक्ती संदिह्येते परस्थिते इति भाष्यात् ज्ञानशक्तिक्रियाशक्तिविषयकः संशयः तस्योदय इत्यर्थः। अत्र ब्रूमः।

'श्रुतिवृन्दैः सदा जुष्टं श्रुतिवृन्दैः सदाश्रुतम्।
श्रुतिवृन्दैः सदा सन्तं श्रौतं श्रीकृष्णमाश्रये' ॥

इत्युक्तम्। अथ पुनर्यादृशमित्यादिः फलिष्यति। 'शतं शुक्राणि यत्रैकं भवन्ति, सर्वे वेदा यत्रैकं भवन्ति, सर्वे होतारो यत्रैकं भवन्ति, स मानसीन आत्मा जनानाम्, वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं आदित्यवर्णं तमसस्तु पारे। सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वाभिवदन्यदास्ते' इत्यत्र पूर्वस्यां शुक्रवेदज्योतिषामुत्पत्त्यादिमतां यत्रैकीभावः, स आत्मा जनानां, मनसि भव इति निरुक्तेर्मानसीनत्वस्य च रसानतिरिक्तानन्दलिङ्गत्वमित्यानन्दो ब्रह्म। द्वितीयस्यां चानन्दस्यैव पुरु-

संदेहवारकं शास्त्रं बुद्धिदोषात् तदुद्भवः।
विरुद्धशास्त्रसंभेदादङ्गैश्चाशक्यनिश्चयः॥
तस्मात् सूत्रानुसारेण कर्तव्यः सर्वनिर्णयः।
अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थान्मध्यमश्च तथादिमः॥

परंपरया पाठवदर्थस्यापि गुरुमुखादेव श्रवणेऽपि मन्दमध्यमयोः संदेहो भवेत् समानधर्मदर्शनात् पदादिपाठवत्। तत्र यथा लक्षणानामुपयोग एवमेव मीमांसाया अपि।

भाष्यप्रकाशः।

संदेह एव **कथमित्यत आहुः बुद्धीत्यादि।** तन्निवृत्तिर्व्याकरणादिभिरेव भविष्यतीत्यत आहुः **विरुद्धे**ति। **सर्वनिर्णय** इति पूर्वोत्तरकाण्डार्थनिर्णयः। कथमिदमित्यपेक्षायां व्याचक्षते **परंपरये**त्यादि। **समानधर्मदर्शनादिति** अर्थे समानधर्मदर्शनात्। यथा 'अक्ताः शर्करा उपदधाति' इत्यत्राञ्जनकरणत्वं घृततैलवसादिषु समानम्। तथाच यथा संहिताध्ययनदशायां, 'देवाय ते यजमानाय शीकाय ते स्वाहा' इत्यादौ संदेहाभावेऽपि पदादिपाठकाले, देवय ते शीकय त इति ह[illegible]श्रुत्या संदेहे, अथादावुत्तरे विभागे ह्रस्वव्यञ्जनपर इत्यधिकारस्थस्य, देवाशीकेत्यादेः।

रश्मिः।

षत्वनि[illegible]धेत्वतेजोनिचयत्वरूपधर्मवत्त्वं तस्य साकारस्य तमसस्तु पार इत्यनेन निरविद्याजराधिकरणक[illegible]निर्वचनेनाविद्यास्पर्शगन्धविरहं निरुच्य उत्तरार्धे सर्वरूपविचयननामकरणतदभिवदनानामभिव[illegible] स्थितेश्च श्रावणाद्रूपविचयादिलीलानां तत्संबन्धिनां तत्कर्तुर्महापुरुषस्य स्थितिं महत्त्वेन रू[illegible]दीनां तदभिन्नत्वं, धीरत्वेनाधिकारं, तुना कर्तृकर्मकरणानुसंधानरहितता। अयमर्थो द्वितीयनवमा[illegible]ये चिन्मात्रोहं इति भावना तथा च ब्रह्मभावलक्षणो मोक्ष इति मायावादनिरस्तिं च श्रावय[illegible]। तथा तैत्तिरीयोपनिषदि ब्रह्मवित्प्रपाठके रसरूपस्यैव आनन्दस्य परब्रह्मत्वं श्रुतम्। 'तमेव धीरो [illegible]ज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः। नानुध्यायाद् बहून् शब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत्' इति सर्वात्म[illegible]वं विदधती साधनमाह। तथा छान्दोग्ये नारदसनत्कुमारसंवादेप्येतदेव साधनमाह। तथा च [illegible]जोमयो व्यापक आनन्द एव रसः कमनीयः साकारो अचिन्त्यानेकशक्तिवृतः सर्वाश्रयः पुरुषः [illegible] ब्रह्म सर्वात्मभाववद्भक्ते स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितो रूपादिविचयादिलीलां चरीकुर्वन्वरीवर्तीति। यथाय[illegible]ः सर्वेषां वेदान्तानां तथास्यां ब्रह्ममीमांसायां विशदयिष्याम इति। तन्मतेऽवस्थिते **विरुद्धे**ति विरुद्धानां योगसांख्यवैष्णवतन्त्राणां नैयायिकशांकररामानुजशास्त्राणां संभेदान्मिश्रणादित्यर्थः [illegible]वं च वेदार्थभूतात्मत्वेन ब्रह्मणि ज्ञानशक्तिक्रियाशक्तिव्यापकत्वादेरिति संदेहः। तद्बीजं तु वि[illegible]शास्त्रसंभेदः तेन ज्ञानशक्तिक्रियाशक्ती स्तः न स्तो वा, व्यापकोऽव्यापको वेति। 'समान [illegible]वं चाभेदात्'इति सूत्रभाष्येऽव्यापकत्वमुपपादितम्। अयमर्थो द्वितीयनवमाध्यायेविरोधेन स्फुटम[illegible] प्रतिपादितमिति संक्षेपः। **प्रकृते। परंपरया** पाठवदित्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति **तथा च यथे**ति [illegible] **देवाशीकेत्यादि**। षष्ठ्यन्तमिदं तस्येत्यध्याहरणीयम्। सूत्रविशेषणत्वादिति प्रतिभाति। यथा [illegible] सेत्यनेनान्वेति। सूत्रस्य भाष्यम्। आदौ पदादौ उदात्ताकारे पदान्ते च वर्तमानः संहिता[illegible] यो दीर्घः असौ पदविभागपदसमे व्यञ्जनपरः सन् ह्रस्वमापद्यते। व्यञ्जनपरत्वं यथा

तदुक्तम्।
असंदिग्धेऽपि वेदार्थे स्थूणाखननवन्मतः।
मीमांसानिर्णयः प्राज्ञे दुर्बुद्धेस्तु ततो द्वयम् इति॥

भाष्यप्रकाशः।

'त्रपुश्च मे मिथुश्चरन्तं सुश्चन्द्रदस्म' इत्यादेः पदपाठे, **त्रपु** च **मिथु** चरन्तं, सुचन्द्रेति पाठात् **संदेहे, त्रपुमिथुपूर्वः शकारश्च परः,** सुपूर्वश्चन्द्रपर इति। **उत स्वानासो दिविष-तु, आपो हि ष्ठा मयोभुव इत्यादेः पदपाठे,** उत स्वानासः, दिवि सन्तु, आपः **हि स्थ इति पाठात् संदेहे, स्वानासो** दिव्यापोहीत्यादिसूत्रस्योपयोग इति लक्षणानां प्रातिशाख्यसूत्राणां संदेहनिवृत्त्यावुपयोगः। **तथाऽर्थश्रवणेऽपि वाजिभ्यो वाजिनमित्यत्र किमामिक्षाऽश्नवन्तो विश्वेदेवा वा वाजिनामानोन्ये वा वाजिनयागदेवताः।** गायत्र्यां सविता, सूर्यो वा परब्रह्म वा। **आकाशादेव समुत्पद्यन्त इत्यत्र भूताकाशो वा ब्रह्म वेति संदेहः समानधर्मदर्शनान्मन्दादीनां भवेदिति। तन्निवृत्त्यर्थं मीमांसाद्वयस्याप्युपयोग इति ज्ञानविधावुपाङ्गभूतयोस्तयोरप्याक्षेपो युक्त एवेत्यर्थः।**

अस्मिन्नर्थे प्राचां संमतिमाहुः तदुक्तमित्यादि। **द्वयमिति** संदेहाभावो दार्ढ्यं चेत्यर्थः।

रश्मिः।

संहितास्थं ज्ञेयम्। व्यञ्जनमस्मात्परं इति व्यञ्जनपर इति। देवाशीकासुत्वाप्वतायमुनाहृदयोत्याशुद्धेति सूत्रे अत्र भाष्यम्। देवाशीका इत्यादिषु ग्रहणे। अवग्रहेषु अन्त्यस्वरो विभागे ह्रस्व आपद्यते यथा देवाय त इत्यादि। यथा वा शीकाय ते स्वाहा शीकाय त इति शीकय ते स्वाहा इदं ससमाष्टके स्तुश्नयन्तो हवामहे इत्यादिषु लक्षणम्। त्रपुमिथ्विति इति सूत्र, उपयुक्तं इति शेषः। यद्वा इति च सूत्रस्योपयोग इत्युत्तरग्रान्वयः। त्रपुमिथू पूर्वौ यस्य, चकारः परो यस्यैतादृशः शकारो भवति, सुः पूर्वो यस्य चन्द्रः परो यस्य तादृशः शकारो भवतीति सूत्रार्थः। त्रपुमिथुभ्यां परस्य चस्य सोः परस्य चन्द्रस्य च सुण् न भवतीति फलितोर्थः। अन्यत्र तु तृतीयेऽध्याये चन्द्रे सुशकारेणेति सूत्र्यते चन्द्रे प्रत्यये सुशब्दशकारेणाव्यवधीयत इति च। भाष्ये। **उपयोग** इति। संतुश्थयोः सकारस्य शकारे उपयोग इत्यर्थः। **मीमांसाद्वयस्याप्युपयोग** इति। तत्राक्ताः शर्करा इत्यत्र तु तेजो वै घृतमिति वाक्यशेषोपयोगः। अर्थवादत्वेपि विशेषार्थतया विध्यविरुद्धत्वात्प्रामाण्यमिति **पूर्वतन्त्रे** प्रथमाध्यायोपान्ते 'संदिग्धेषु वाक्यशेषात्' इत्यधिकरणे चिन्तितम्। तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा, वाजिभ्यो वाजिनम्'इत्यपि, द्वितीयस्य द्वितीये पादे 'गुणश्च न पूर्वसंयोगे वाक्ययोः समत्वात्' इत्यधिकरणे चिन्तितम्। घनीभूतपिण्ड आमिक्षापदार्थः, जलं वाजिनपदार्थः। तत्र वाज आमिक्षाद्रव्यमेषामस्तीति वाजिनो विश्वेदेवास्तदनुवादेन वाजिनद्रव्यरूपो गुणो विधीयते। आमिक्षाद्रव्येणास्य समुच्चयो विकल्पो वेति प्राप्तम्। तत्रोत्पत्तिशिष्टामिक्षया निवृत्तान्यकाङ्क्षे वैश्वदेवभागे उत्पन्नशिष्टं वाजिनद्रव्यं प्रवेशमलभमानं वाजिशब्दस्य देवतान्तरार्थतां वक्ति। एवं च द्रव्यदेवताभेदाहितकर्मान्तरतास्येति। यथा 'निष्कलं निष्क्रियं' 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इति संदेहे जन्माद्यधिकरणम्। यथा गायत्र्यामित्यादिसंदेहे रूढेः सवितृप्राप्तिः तन्न इत्यश्वान्तस्तद्धर्माधिकरणे उक्तं भविष्यति। आकाशादेवेत्यादेस्तु तल्लिङ्गाधिकरण इति। **ज्ञानविधाविति**। ज्ञेयश्चेत्यस्मिन् स्वाध्यायविधौ वेशाय। **उपाङ्गेति**। प्रतिपदमनुपदं छन्दो भाषेति

तथाच निर्णये येन केनचिद्रूकव्येहरिः स्वयं व्यासो विचारं चिकीर्षुस्तत्कर्तव्यतां बोधयति । ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्येति व्यासोक्तत्वादपि कर्तव्यता । कर्तव्यपदाध्याहारे स्वातन्त्र्यं न भवति । अन्यथा, 'अथ योगानुशासनम्' इतिवत् स्वतन्त्रता स्यात् । तथाच ज्ञानानुपयोगः । तथाहि । 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति केवलोपनिषद्वेद्यं ब्रह्म, न शास्त्रान्तरवेद्यम् । तद् यदि मीमांसा स्वतन्त्रा स्यात् तज्जनितं ज्ञानं न ब्रह्मज्ञानं भवेत् ।

भाष्यप्रकाशः ।

एतेन शास्त्रप्रयोजनमारम्भसमर्थनायोक्तम् । विचारकर्तव्यतासमर्थनेनोपोद्घातरूपा अधिकरणसंगतिरपि बोधिता । अतः परं प्रयोजनवत्त्वेऽपीदं शास्त्रं कया संगत्या आगतम् । श्रुतौ च तपस उपदेशात् तदेव च कुतो नोक्तमित्याकाङ्क्षायां शास्त्रसंगतिं वदन्त एव सूत्राक्षराणि व्याकुर्वन्तः प्रथमतो वाक्यार्थमाहुः **तथाचेत्यादि** । उक्तरीत्या वेदार्थनिर्णयस्यावश्यकत्वात् तन्निर्णये येन केन चिद्रूकव्ये यदा कालवशात् तपआदीनामसंभवं व्यक्ततया तेषामसाधकत्वं च दृष्टवाँस्तदा जगद्दुःखदूरीकरणार्थं हरिः स्वयं व्यासरूपेणावतीर्य वेदव्यासादिकार्यं कृत्वा सर्ववेदार्थनिर्णयार्थं ब्रह्मविचारं चिकीर्षुस्तत्कर्तव्यतां बोधयति ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्येति । धर्मादिवद् व्यासोक्तत्वादपि कर्तव्यता । अत इदानीं तपो न वेदार्थज्ञानसाधनं किंत्विदमेव साधनम् । किंच तापसानामृषीणामपि स्वभावभेदाल्लोकानां संदेहं यदा दृष्टवाँस्तदा करुणया कृतवानिति तदुक्तरीत्या प्रयतने प्रसादोऽपि भविष्यति, तेन वेदार्थबोधश्चेति नास्य गतार्थत्वम् । कृपैव च संगतिरित्यर्थः । ननु सूत्रे कर्तव्यपदाभावादध्याहारस्य च दोषत्वात् किमित्येवं व्याख्यायत इत्याकाङ्क्षायामाहुः **कर्तव्यपदेत्यादि, भवेत् इत्यन्तम्** । अत उक्तदोषनिवृत्त्यर्थमध्याहृत्य व्याख्यायत इत्यर्थः । अत्र सर्वसंमतत्वादेवमध्याहारपक्ष उक्तो वाक्यार्थश्च ।

रश्मिः ।

चरणोपाङ्गेष्वष्टसु मीमांसकोक्तेः । **तयोरिति** मीमांसयोरित्यर्थः । **भाष्ये । वेदार्थ इति** । ननु वेदार्थे ज्ञानक्रियाशक्तिरूपे वेदार्थभूतात्मरूपे उक्ताः संदेहाः संभवन्ति । तदन्वसंदिग्धो वेदार्थो भवति । सामान्ये अर्थे विशेषार्थे शत१शुक्राणीत्याद्युक्ते तु मीमांसानिर्णयः कथमिति चेन्न । ससंबोधो मोक्षो निःसंबोधो मोक्षो वेति संदेहे संपद्याविर्भावादिसूत्राणि वाक्यशेषरूपाणीति मुख्यः ससंबोधो मोक्ष इति मीमांसानिर्णयसत्त्वात् । **स्थूणाखननवदिति** । स्थूणा हि शङ्कः सीम्नि निखन्यते निखातापीति तद्वदित्यर्थः । **प्रकृते । शास्त्रप्रयोजनमिति** । संदेहाभावरूपं दार्ढ्यरूपं चेत्यर्थः । **उपोद्घातरूपेति** पूर्वोक्ता तु अध्यायादेः संगतिरिति न पुनरुक्तिः । **स्वयमिति** । पाक्षिकप्रामाण्यप्रहाणायेदम् । वाक्यानि त्वग्रे वक्तव्यानि । ननु वेदार्थविचारेऽलौकिको हि वेदार्थ इत्यस्योपस्थित्या कालवरणतपआदीनामित्यत्र आदिशब्देन वेदयुक्तिः परमात्मप्रसादश्चेत्युभयं ग्राह्यम् । तदा तपआदीनामित्यत्र बहुवचनं विरुद्धम् । साधनान्तरग्रहणगौरवम् । वेदार्थे उक्तसाधनातिरिक्तसाधनग्रहणापत्तिश्चेत्यरुच्याहुः **किं चेति** । **दृष्टवानिति** वक्ष्यमाणपुराणप्रसिद्धम् । असंदिग्धमिति सूत्रविशेषणात् तापसानां ऋषीणामपि स्वभावभेदाल्लोकानां संदेहं विना निश्चयनानुपपत्तेः । **करुणयेति** तपसा चेत्यपि द्रष्टव्यम् । **कृतवानिति** वेदोपयुक्तं मीमांसाशास्त्रं कृतवान् । **कृपैवेति** एतत्प्रथमस्कन्धे चतुर्थेऽस्ति । 'व्यास कृपणवत्सलः' इति । एतत्

अथवा, अध्याहारकरणापेक्षयाथशब्द एवाधिकारे व्याख्येयः । वेदाध्ययनानन्तर्यं तु सिद्धमेव । न ह्यनधीत एव विचारमर्हति तत्रैतत् स्यात् स्वतन्त्रतेति । तत्र प्रतिविधास्यामः । वेदार्थब्रह्मणो वेदानुकूलविचार इति । किमत्र युक्तम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

अतः परं पदानामर्थं वदिष्यन्तः पूर्वोक्तः पक्षो वक्ष्यमाणदोषग्रासान्न साधुरित्याशयेन पक्षान्तरमाहुः **अथवेत्यादि** । अधिकारो नाम नियमविशेषः इति केचित् । यथा, 'आकडारादेका संज्ञा' इति । प्रारम्भ इत्यन्ये । यथा, 'अथ योगानुशासनम्' इति । प्राधान्येन निरूपणमित्यपरे । प्रस्ताव इति कैयटे, 'अथ शब्दानुशासनम्' इत्यत्र व्याख्यातः तत्रेदृशनियमस्य पूर्वप्रकृतसापेक्षत्वात् पूर्वं च कस्याप्यप्रकृतत्वात् सोऽत्र न युज्यते, अतः प्रारम्भादेः प्रस्तावाव्यतिरेकात् प्रस्तावे व्याख्येयः । तथाच ब्रह्मजिज्ञासारूपं शास्त्रमधिक्रियते प्रस्तूयत इति व्याख्याने कल्पनाराहित्यादिदं तदपेक्षया ज्याय इत्यर्थः । नन्वधिकारार्थत्वे आदृते कर्तव्यपदाध्याहाराभावेन ब्रह्मजिज्ञासाया विध्यनाक्षिप्तत्वाद् वैदिकाधिकारिणोऽप्यप्राप्तेः शूद्रादिरनधीतवेदोऽपि ब्रह्मजिज्ञासायामधिकुर्यादिति कथं ज्याय इत्यत आहुः **वेदेत्यादि** । अग्रे वेदवाक्यानामेव विचारदर्शनादेतद्विचारकस्येदानीन्तनस्यापि वेदाध्ययनानन्तर्यं त्वर्थादेव सिद्धमिति न वैदिकाधिकारिणोऽप्राप्तिरित्यतो ज्याय इत्यर्थः । ननु तथापि विध्यनाक्षिप्ततया पुराणादिवत् स्वातन्त्र्यं तु सिद्धम् । तथा सति पूर्वोक्तो ज्ञानानुपयोगरूपो दोषस्तु स्यादित्याकाङ्क्षायां, तत्रैतत् स्यादित्यादिना तदनूद्य प्रतिविधानप्रकारमाहुः **तत्रेत्यादि** । अनुपदमेव वक्ष्याम इत्यर्थः । ननु प्रक्षालनपङ्कन्यायेनैतदपेक्षया तदादरणमेव युक्तमित्यत आहुः **वेदार्थेत्यादि** । वेदार्थभूतं यद्ब्रह्म

रश्मिः ।

संगतिलक्षणोपपादनावसरे ईक्षत्यधिकरणे स्पष्टम् । **भाष्ये । न भवतीति** वेदवेदान्तसंदेहवारणाय ब्रह्ममीमांसा कर्तव्येति विध्याक्षिप्तत्वेन पृथगारम्भाभावात् न भवतीत्यर्थः । **अन्यथेति** आरम्भार्थकत्व इत्यर्थः । **स्वतन्त्रतेति** प्रकारभेदेन प्रतिपादकतया वेदाङ्गता स्यादित्यर्थः । तथा च वेदाङ्गत्वमस्वातन्त्र्यं वेदानङ्गत्वं स्वातन्त्र्यमिति हृदयम् । **प्रकृते । वक्ष्यमाणदोषग्रासादिति** अधिकाकाङ्क्षेत्यादिदोषचतुष्टयग्रासादित्यर्थः । आक्षेप्यबोधनायावतरणमाहुः **नन्वधीति** । **अधिकुर्यादिति** अधिकारं प्राप्नुयादित्यर्थः । अत्र वैदिकानां वेदाध्ययनानन्तर्यमिति संशयकानां मीमांसा सदितोच्यते तदग्रे अपाकरिष्यते । **वक्ष्याम इति** वयमित्यध्याहारः । 'अस्मदो द्वयोश्च' इति सूत्रेण एकत्वेपि बहुवचनम् । प्रतिविधानं वक्ष्यामः । **प्रक्षालनपङ्कन्यायेनेति** 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' इति न्यायेनेत्यर्थः । **एतदपेक्षयेति** अधिकारेध्याहारादरणापेक्षया । **तदादरणमध्याहारादरणं** युक्तमङ्गत्वे विधेः । **एव** इति न्यायानुरोधादेवकारः । **इत्यत आहुरिति** इत्यतः शङ्कापूर्वार्थस्वादाहुरिति । ईश्वरमीमांसा सार्वविभक्तिकस्तसिः । इत्यतः शङ्का । ननु दोषतौल्ये कुतस्तदादरणमिति चेन्न । शङ्काग्रन्थत्वात् । **भाष्ये । वेदार्थशब्दो** न वेदार्थस्येव ब्रह्मज्ञानाय विचार इत्याद्युक्तः प्रथमवैदिकपूर्वपक्षोक्तार्थवाचकः । गौणमुख्यन्यायविरोधात् । अतो वेदार्थो मुख्यपूर्वपक्षोक्तः । वेदपदस्य 'स्मृतेश्च' इति सूत्रे वेदान्तपरत्वोक्तेरत आहुः **वेदार्थमूल-**

भाष्यप्रकाशः ।

तत्संबन्धी सपरिकरतज्ज्ञापको वेदानुकूलो वेदवाक्यानां विरोधपरिहारादिना तेषूपचारादिदोषनिवर्तको विचारो मीमांसारूप इति हेतोः । अत्र हि सर्ववेदार्थत्वेन ब्रह्म जिज्ञास्यम्, अन्यथा वेदवेदान्तयोरैकशास्त्र्यं न स्यात् । तदभावे च जैमिन्याद्युक्तदिशा मुमुक्षुप्रवृत्तिप्रतिघाते शास्त्रवैयर्थ्यमापद्येत । विचारस्य च यदि वेदानुकूल्यं न स्यात् तदाऽप्यास्तिका न प्रवर्तेरन् । अत आवश्यकत्वात् स्वातन्त्र्येऽपि विरोधाभावादानुकूल्येन तज्जनितज्ञानस्य ब्रह्मज्ञानरूपत्वात् प्रतिविधानमेव युक्तमित्यर्थः । अयं प्रकारो भाष्यानामपि संमतः तद्बोधकस्कान्दवचनोपन्यासादवगन्तव्यः । अध्याहारपक्षेऽप्येवं वक्तुं शक्यत्वात् । तज्ज्यायांसं मन्यमानोऽनुयुङ्क्ते किमत्र युक्तमिति । स्वतन्त्र-

रश्मिः ।

मिति । सर्ववेदार्थत्वेनेति च । मुख्यपूर्वपक्षोक्तं मुख्यपूर्वपक्ष्यर्थत्वेनेति चार्थः । सपरिकरेति विशेषणं निःसंबोधमोक्षनिरासाय आत्मनो मोक्षत्वात् । विरोधनिराकरणादिरपि परिकरः । वेदान्तरूपपदं व्याचख्युः वेदवाक्यानामिति । आदिशब्देन साधनं मुख्यत्वादिकं फलं च संबोधत्वं चेति गृह्यते । तेन विरोधपरिहारोक्तोऽध्यायद्वयार्थः । आदिशब्दोक्तोऽध्यायद्वयार्थश्चेत्यध्यायचतुष्टयार्थः । तेष्वित्यध्यायेषु चतुर्षु । आदिशब्देनाकाङ्क्षायोग्यतासंनिधयः । इति हेतोरिति । न तदादरणमेव युक्तं, अध्याहृत्याध्याहारशेषनिवर्तनात् । दोषनिवर्तनं ततोपि अध्याहारदर्शनात्सर्वत्र । सर्ववेदेति । ननु वेदार्थत्वेनापि विद्यात्मत्वेन पूर्वस्य पुराणेपि सत्त्वात् द्वितीयस्यापि निरीश्वरमीमांसाविषयत्वात् । अत्र सूत्रे ब्रह्मपदेन वेदोक्तवेदार्थत्वेन ब्रह्म जिज्ञास्यम्, वेदार्थो ब्रह्म इति प्रतीतेः । यथा घटः पृथ्वीत्वेन घटप्रतीतेः । तथा च वेदार्थो ब्रह्म तस्य न तु पुराणाद्यर्थः पृथ्व्यर्थब्रह्मणो वेदानुकूलविचार इति भाष्यार्थः । ब्रह्मशब्देन वेदमात्राग्रहणे युक्तिमाहुः अन्यथेति । ऐकशास्त्र्यमिति । तच्चाग्रे भाष्ये वक्ष्यते । श्रुत्योरप्युक्तम् । 'यदेव विद्यया करोति' इति । 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' इति च । वृत्तिकृद्बौधायनोऽप्याह 'संहतमेतच्छारीरकं जैमिनीयेन षोडशलक्षणेन' । जैमिन्याद्युक्तदिशेति । यथाहुः 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इति सूत्रे कार्यरूप एव वेदार्थः, न तु सिद्धरूपः इति, द्वितीयपादे च 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते' इत्यधिकरणेऽर्थवादानां क्रियार्थत्वाभावेन स्वार्थे तात्पर्यविधुराणां स्तावकत्वमिति धर्मनिर्णयः । चतुर्लक्षण्या चोपासनात्मकधर्मनिर्णय इति । न च ब्रह्मज्ञाने उपयोग इति वाच्यम् । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः,' 'अयं हि परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्' इति, श्रुतिस्मृतिभ्यां तस्य धर्मत्वात् । न च सृष्ट्यादिवाक्यार्थं निर्णेतुमपेक्षत इति वाच्यम् । 'वसिष्ठो ब्रह्मा तं दर्शपूर्णमासयोर्वृणीते' इति कल्पसूत्रात्

'इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या ।
दृढत्वमेतद्विषयः प्रबोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन' ॥

इत्युक्तेर्विध्येकवाक्यतयार्थवादत्वात् । किंच नवमे तृतीयचतुर्थयोः 'फलदेवतयोश्च' 'देवता वा प्रयोजयेदतिथिवद्भोजनस्य तदर्थत्वात्' इत्यधिकरणयोर्न देवता विग्रहवती, किंतु शब्दमात्रं देवता । अर्थस्तु प्रातिपदिकानुरोधाच्चेतनो वा कश्चित्स्वीक्रियते, न तु विग्रहादिमान् । उपासनादौ परं ध्यानमात्रमध्याहार्यमिति । अनया दिशेत्यर्थः । आदिना क्षणिकवादी ग्राह्यः । युक्तमित्यर्थ इति । वैधत्वस्य 'ज्ञेयश्च' इति विधिना प्राप्तत्वादिति भावः । तद्बोधकेत्यादि । स्कान्दे वचनानि त्विमानि ।

व्याख्यानमिति । व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः । यथा कर्मणि 'दर्शपूर्णमासौ तु पूर्वं व्याख्यास्यामः' । 'अथातो दर्शपूर्णमासौ व्याख्यास्याम' इति ।

अथवैतर्हीमानि सिद्ध्यन्ति प्रयोजनानि । अधिकाकाङ्क्षा न भवेत् । अध्याहारश्च । पुरुषार्थश्च सिद्ध्येत् । उच्छेदश्च न भवेदिति । कथम् । अथशब्दोऽर्थचतुष्टये वर्तते, मङ्गले, अधिकारे, आनन्तर्ये, अर्थान्तरोपक्रमे च । तत्र श्रुतिमात्रेणैव

भाष्यप्रकाशः ।

तत्प्रतिविधानस्यात्राप्यपेक्षितत्वेन प्रतिपत्तिगौरवदोषस्यात्रापि सत्त्वादध्याहारकरणाथशब्दव्याख्यानपक्षयोर्मध्ये किं युक्तं, तद्वक्तव्यमित्यर्थः । तत्रोत्तरमाहुः व्याख्यानमिति । अथशब्दव्याख्यानपक्ष एव युक्त इत्यर्थः । तत्र हेतुमाहुः व्याख्यानत इत्यादि । ननु कात्र विशेषप्रतिपत्तिरित्यत आहुः यथेत्यादि । तथाच यथा कल्पसूत्रेण प्रयोगप्रकारादिबोधनात् तत्तत्पदार्थसंदेहनिवृत्तिस्तथानया मीमांसया ब्रह्मणीति, तत्र यथाऽधिकारेऽथशब्दस्तथात्रापीति कल्पसूत्रतौल्यरूपविशेषस्य प्रतिपत्तिरित्यर्थः ।

नन्वध्याहारपक्षेऽपीदं सुवचमतः सर्वसंमतत्वादध्याहारपक्ष एव युक्तो नाऽथशब्दस्याधिकारव्याख्यानपक्ष इत्यत आहुः अथवेत्यादि । एतर्हीति व्याख्यानपक्षे । अत्र चोदयति कथमिति । स्वोक्तं विभजन्ते अथेत्यादि । तत्र मङ्गले,

'ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ।
कण्ठं भित्त्वा विनिष्क्रान्तौ तेन माङ्गलिकावुभौ' ॥ इति ।

अधिकारे, यथा, 'अथैष ज्योतिः' इति वेदे । 'अथ योगानुशासनम्' इत्यादि च

रश्मिः ।

'नारायणाद्विनिष्पन्नं ज्ञानं कृतयुगे स्थितम् । किंचित्तदन्यथा जातं त्रेतायां द्वापरे खिलम् ॥
गौतमस्य ऋषेः शापात् ज्ञाने त्वज्ञानतां गते । संकीर्णबुद्धयो देवा ब्रह्मरुद्रपुरःसराः ॥
शरण्यं शरणं जग्मुर्नारायणमनामयम् । तैर्विज्ञापितकार्यस्तु भगवान् पुरुषोत्तमः ॥
अवतीर्णो महायोगी सत्यवत्यां पराशरात् । उत्सन्नान् भगवान् वेदानुज्जहार हरिः स्वयम् ॥
चतुर्धा व्यभजत्तांश्च चतुर्विंशतिधा पुनः । शतधा चैकधा चैव तथैव च सहस्रधा ॥
कृष्णो द्वादशधा चैवं पुनस्तस्यार्थवित्तये । चकार ब्रह्मसूत्राणि येषां सूत्रत्वमञ्जसा ॥
अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् । अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥
निर्विशेषितसूत्रत्वं ब्रह्मसूत्रस्य चाप्यतः । यथा व्यासत्वमेकस्य कृष्णस्यान्ये विशेषणात् ॥
सविशेषणसूत्राणि ह्यपराणि विदो विदुः । मुख्यस्य निर्विशेषेण शब्दोऽन्येषां विशेषतः ॥
इति वेदविदः प्राहुः शब्दतत्त्वार्थवेदिनः । सूत्रेषु येषु सर्वेपि निर्णयाः समुदीरिताः ॥
शब्दजातस्य सर्वस्य यत्प्रमाणश्च निर्णयः । एवंविधानि सूत्राणि कृत्वा व्यासो महायशाः ॥
ब्रह्मरुद्रादिदेवेषु मनुष्यपितृपक्षिषु । ज्ञानं संस्थाप्य भगवान् क्रीडते पुरुषोत्तमः' ॥ इति ।

अधिकारे अथैष ज्योतिरिति । एतच्च पूर्वतन्त्रे द्वितीयस्य द्वितीये पादे 'संज्ञा चोत्पत्तिसंयोगात्' इत्यधिकरणे चिन्तितम् । तत्र ज्योतिष्टोमं प्रकृत्येदं श्रूयते । अथैष ज्योतिरथैष विश्वज्योतिरथैष सर्वज्योतिरेतेन सहस्रदक्षिणेन यजेतेति । तत्रैतच्छब्देन प्रकृतं ज्योतिष्टोमं परामृष्यत

मङ्गलसिद्धेरर्थान्तरस्य च पूर्वोक्तस्याभावान्नात्र तत्कल्पनम्। अथाऽवशिष्यते आनन्तर्ये वाऽधिकारे वेति। आनन्तर्ये त्वध्ययनस्य स्वतःसिद्धत्वादधिकाकाङ्क्षा भवति। तथा सति तदभावान्न विचारः सिद्ध्येत्।

भाष्यप्रकाशः।

लोके। आनन्तर्ये यथा, भुक्त्वा अथ व्रजतीति। अर्थान्तरोपक्रमे यथा, पूर्वं किंचिदुक्त्वा पुनर्विकल्पान्तरे क्रियमाण उच्यते, अथायमाशय इति। यद्यपि कोशे,

'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ' इति

'अथाथो संशये स्यातामधिकारे च मङ्गले।

विकल्पानन्तरप्रश्नकार्त्स्न्यारम्भसमुच्चये' ॥

इत्यर्थान्तरमप्युक्तम्। गौडो भवान् अथेति ब्रूम इति प्रतिज्ञायामपि दृश्यते। तथापि प्रच्छकस्य संदेग्धुश्च कस्याप्यनुक्तत्वेन अथ शक्तोऽसि भोक्तुमित्यादिवत् प्रश्नसंशयव्यञ्जकवाक्याभावेन च प्रश्नसंशययोर्वक्तुमशक्यत्वात् स्वसंशयस्य स्वतोनिवृत्त्यभावेन, स्वसंशयस्य, 'अविज्ञातं विजानताम्' इति श्रुतेः कृत्स्नस्य ब्रह्मणो विचारयितुमशक्यत्वेन कार्त्स्न्यस्य च प्रकृतविरुद्धत्वाद् विकल्पस्य पक्षान्तरात्मकत्वेनारम्भस्योपक्रमात्मकत्वेन चार्थान्तरोपक्रमानतिरेकात् समुच्चयनियमरूपाधिकारयोरप्यर्थान्तरसापेक्षत्वेन विकल्पतुल्यकक्षत्वादुपयुक्तविचारकार्त्स्न्यप्रतिज्ञयोरपि प्रस्तावाव्यतिरेकादथशब्दोऽत्रार्थचतुष्टये संभावितो वर्तते। तत्रान्यार्थकृतस्य पटहमृदङ्गादिध्वनेरिवाथशब्दस्यापि श्रवणमात्रेण मङ्गलसिद्धेः स्मृतिव्याकोपपरिहारात् तस्याः स्वरूपश्रवण-

रश्मिः।

इत्याशङ्कायां अथशब्देन प्रकृतव्यवच्छेदोत्पत्तिसंयोगात्संज्ञया कर्मान्तरमिदमिति। एष इति तु प्रतिज्ञायमानकर्मान्तरवाचक इति। सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेनेति सूत्रे विशिष्य वक्तव्योयम् 'त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च' इति सूत्रे मध्वाचार्याः। 'अविज्ञातप्रार्थनं वा प्रश्न इत्यभिधीयते' इति वाक्यात् अविज्ञातप्रार्थनं प्रश्नः। तुः प्रतिज्ञायमानकर्मान्तरवाचक इति। (तथा च एष याग इत्यर्थः।) **अथेत्यस्य** अधिक्रियत इत्यर्थः। **लोक** इति छन्दोवत्सूत्राणि भवन्तीति, लोके इत्यसंगतमिति यद्यपि तथापि चतुर्थचरणे सांख्यस्यावैदिकत्वमुक्तं 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' इति चोक्तमतो लोक इति संगतम्। **आदिशब्दार्थो** द्रष्टव्यः। अथ **व्रजती**ति भोजनानन्तरं व्रजतीत्यर्थः। **अथायमिति** अर्थान्तरोपक्रमादयमाशय इत्यर्थः। तथा च एष याग इत्यर्थः। येषां यथायथमसंभवान्तर्भावाभ्यामवक्तव्यत्वमाहुः **तथापीति**। **अथ शक्तोसीति**। तृप्तं प्रति तृप्त्यनन्तरं भोक्तुं प्रवर्तमानं प्रति च वचनम्। **प्रश्नसंशयेति** परेच्छाप्रतिपत्तिफलकं वाक्यं प्रश्नः। स्वरसतो अथशब्दस्य प्रश्नसंशयार्थताभावात् तद्व्यञ्जकवाक्येत्युक्तम्। **स्वत** इति प्रतिज्ञातसंशयविषयग्रन्थात्। **स्वसंशयस्येति** वक्तुमशक्यत्वादिति पूर्वेणान्वयः। ननु कृत्स्नार्थको अथशब्दो विचारान्वयी न तु ब्रह्ममात्रान्वयीत्यत आहुः **उपयुक्तेति**। तत्र **श्रुती**त्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **तत्र अन्यार्थमिति**। वृत्त्यान्यार्थम्। **अथशब्दस्येति** अधिकारार्थे कृतस्य। **स्मृती**ति शिष्टाचारप्राप्तस्मृतीत्यर्थः। **स्वरूपेति** स्वरूपं मङ्गलश्रवणविषयः तदेव मङ्गलम्। मात्रचा प्रतिपाद्यत्वयोगव्यवच्छेदः क्रियते, न तु प्रतिपाद्यत्वेन यन्मङ्गलं तदाचरणेन तन्मात्रं कार्य-

---

भाष्यप्रकाशः।

मात्रकार्यत्वेन मङ्गलस्यार्थान्तरबोधनाप्रतिरोधकत्वाच्च न तन्मात्रकल्पनं युक्तम्। पूर्वं कस्याप्यर्थस्यानुक्तत्वादर्थान्तरोपक्रमस्यापि कल्पनं न युक्तम्। यत् पुनरानन्तर्यप्रस्तावरूपमर्थद्वयमवशिष्यते, तत्रानन्तर्ये यस्य कस्यचिदानन्तर्यं तु स्वभावादेव प्राप्तमिति, न तस्य वक्तव्यत्वम्। यदि च शाबरभाष्योक्तमध्ययनानन्तर्यमङ्गीक्रियते, नह्यनवीतवेदो विचारेऽधिकरोतीति। तदा तस्य विचारार्थकजिज्ञासापदेनैवार्थात् सिद्धेरथशब्दोक्तानन्तर्यप्रतियोगिनोऽधिकाकाङ्क्षा भवति, अध्ययनातिरिक्तात् कस्मादनन्तरं ब्रह्म विचारयितव्यमिति। तस्यां च सत्यामध्ययनातिरिक्तस्य कस्यापि तन्मतेऽदर्शनान्न प्रकृतविचारसिद्धिरित्यर्थः। ननु 'संहतमेतच्छारीरकं जैमिनीयेन षोडशलक्षणेन' इति वदद्भिः प्राचीनवृत्तिकारैर्द्वयोर्मीमांसयोरैकशास्त्र्यमङ्गीकृतम्। तत्राग्नेयादिषट्कभेदवदध्यायभेदवच्चावान्तरप्रमेयभेदेन भेदेऽपि प्रयोजनैक्यात्, 'अथाऽतो धर्मजिज्ञासा' इत्यारभ्य 'अनावृत्तिः शब्दात्' इत्यन्तमेकं शास्त्रमतः कर्मविचारानन्तर्यमस्येति रामानुजाचार्याः।

आराधनाराध्यभूतयोर्धर्मब्रह्मणोः प्रतिपादकत्वेनैकशास्त्र्यं। 'अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासा' इति पृथगारम्भस्त्वथातः शेषलक्षणमित्यादिवदवान्तरपरिच्छेदार्थ इति तदेकदेशी नव्यः शैवः।

पूर्वं धर्मजिज्ञासा कार्या, पुरुषमात्रविषयत्वात्, ब्रह्मज्ञानं तु कस्यचिदेव मुमुक्षोरिति धर्मविचारानन्तरं चतुर्णां प्रतिपन्नाश्रमान्तराणां सा। 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' इति सूत्रयतः सूत्रकारस्यापि ज्ञानकर्मसमुच्चयादेव मोक्षप्राप्तिरभिप्रेतेति ज्ञायते, अपरिज्ञाते, च कर्मणि केन समुच्चयः, केन नेति न ज्ञातुं शक्यम्, ज्ञाते तु तस्मिन् नित्यकाम्यनिषिद्धानां हेयोपादेयविभागविज्ञानात् काम्यनिषिद्धे हेये, नित्येन समुच्चय इति सुखेन ज्ञातुं शक्यते। किंच। तृतीये, कर्मसमृद्ध्यर्थानामुद्गीथाद्युपासनानां चिन्तनात् तेषां च कर्माधिकृतपुरुषमात्रविषयत्वात् कर्माविज्ञानेन तच्चिन्ताया अप्यनुपपत्तिरतोऽपि तदानन्तर्यमिति भट्टभास्कराचार्याः।

रश्मिः।

मवश्यं कार्यं यस्याः तत्त्वेन इत्यर्थः। **अर्थान्तरेति**। मङ्गलस्य विचारकर्तव्यतारूपे वाक्यार्थे कर्तृत्वादिनान्वयाभावादिति शंकरभाष्योक्तहेतुसंग्राहकश्चकारः। एवं मङ्गलविधिरधिकारपक्षेपीति ज्ञेयम्। मङ्गलस्य शक्यार्थत्वे वाक्यभेदश्च स्यात्। **अर्थात्सिद्धेरिति** आक्षेपात्सिद्धेरित्यर्थः। **अथशब्दोक्तेति** अथशब्दोक्तानन्तर्यनिरूपकस्येत्यर्थः। आकाङ्क्षास्वरूपमाहुः **अध्ययनातिरिक्तादिति**। **तथा सतीति** भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **तस्यां चेति**। **कस्यापीति** आनन्तर्यनिरूपकस्येत्यर्थः। **षोडशलक्षणेनेति** द्वादशलक्षणान्यध्यायाः कर्मकाण्डे, चत्वारोध्यायाः उपासनाकाण्ड इत्येवं षोडशलक्षणेनेत्यर्थः। **प्राचीनवृत्तिकारैरिति**। **बोधायनप्रभृतिभिरित्यर्थः**। **प्रमेयेति** प्रमाणभेदशेषत्वप्रयुक्तिक्रमाधिकारसामान्यातिदेशविशेषातिदेशोहबाधतन्त्रप्रसङ्गरूपप्रमेयं पूर्वतन्त्रे। उत्तरतन्त्रे तु समन्वयविरोधनिराकरणसाधनफलरूपमिति ज्ञेयम्। **प्रयोजनेति** आराधनाराध्यभूतयोर्धर्मब्रह्मणोः प्रतिपादनरूपप्रयोजनैक्यात्। **ऐकशास्त्र्यमिति** तच्च पूर्वोक्तैकशास्त्रनिष्ठम्। **अथातः शेषलक्षणमिति** इदं च पूर्वतन्त्रे तृतीयाध्यायस्यारम्भसूत्रम्। **अवान्तरपरिच्छेदार्थ** इति अवान्तरविचारविशेषार्थ इत्यर्थः। **कर्मसमृद्धिरिति**। तमेतमिति वचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्तीति श्रुतिरत्रानुसंधेया। **तदानन्तर्यम्** धर्मविचारानन्तर्यम्। 'यस्य-

तथा हि, न तावद्धर्मविचारानन्तर्यम् । विपर्ययसंभवात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

किंच, 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः' इति श्रुतौ तर्कोपकरणेन शब्देन परमात्मानं सम्यग् ज्ञात्वा प्रज्ञाख्यभावनाविधानात्, पतञ्जलिनाऽपि, 'स तु दीर्घकालादरनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः' इति सूत्रयता दीर्घकालासेवितस्याव्यवधानासेवितस्य ब्रह्मचर्यतपःश्रद्धायज्ञादिरूपसत्कारासेवितस्य योगस्य दृढभूमित्वकथनाच्च क्रियमाणाया भावनाख्योपासनाया दृढत्वाय यज्ञोपयोगः कैश्चिदिष्यते ।

तत्तत्फलार्थं विहितानामपि कर्मणां, 'तमेतं वेदानुवचनेन' इत्यादिश्रुत्या, 'एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्' इतिन्यायेन क्रत्वर्थखादिरत्वस्य वीर्यार्थत्ववद्ब्रह्मभावनार्थत्वं कैश्चिदिष्यते ।

तथापरैः श्रेयःपरिपन्थिकल्मषनिबर्हणद्वारा यज्ञोपयोग इष्यते ।

अन्यैः पुनः 'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः,' 'यस्यैतेऽष्टाचत्वारिंशत् संस्कारा' इति स्मृत्या यज्ञादिसंस्कृतस्य पुरुषस्य दीर्घकालादरनैरन्तर्यैर्ब्रह्मभावनामासेवमानस्य समूलकाषमविद्यावासनानिवृत्त्या प्रत्यगात्मवैशद्यात् पुरुषसंस्कारद्वारा यज्ञोपयोग इष्यते ।

तथेतरैः 'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेद्' इति स्मृत्या ऋणत्रयापाकरणेन कर्मण ब्रह्मज्ञानोपयोग इष्यते इति नाना मतानि वाचस्पत्ये लिखितानि । अतः कर्मज्ञानसमुच्चयस्य बहुवादिसंमतत्वात् पूर्वोक्तरीत्या धर्मविचारेणाधिकाकाङ्क्षापूरणसंभवात् तदनन्तरं सुखेन ब्रह्मविचारसिद्धिरित्याकाङ्क्षायामाहुः **तथाहि, नेत्यादि** । तदुक्तरीत्या समुच्चयाङ्गीकारेऽपि धर्मविचारानन्तर्यं नोपपद्यते कुतः **विपर्ययसंभवात्** । 'हृदयस्याग्रेऽवद्यति अथ जिह्वाया अथ वक्षसः' इति वेदवेदान्ताध्ययनक्रमनियामकप्रमाणाभावात् । नच कर्त्रैक्यात् क्रमनियमः शङ्क्यः ।

रश्मिः ।

कैणा धत्ते' इति 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति च श्रुतिद्वयमनुकूलयन्ति **तर्कोपकरणेन** शब्दे ति । इत्यादिश्रुत्येत्यादि तेन उपसर्पति इति शेषः । ब्रह्मपावनमिति वचनेत्यादिश्रुत्या । 'एक तूभयत्वे' इति पूर्वतन्त्रेयं न्यायश्चतुर्थस्य तृतीयपादे चिन्तितः । एकस्योभयशेषतानिमित्तं पृथक् योग इति न्यायार्थः । स यथा खादिरेऽग्नीषोमीयपशुबन्धोत्पत्त्यनन्तरं खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्वी पृथक् श्रुतिसंयोगाद्वीर्यार्थत्वे तद्वदित्यर्थः । **समूलकाष**मित्यादि । वासना लक्षणं तु—

दृढभावनया त्यक्तं पूर्वापरविचारणम् ।
यदादानपदार्थस्य वासनेति प्रकीर्तिता ॥

प्रत्य **स्मा** जीवः । **ऋणत्रये**ति देवपितृमनुष्याणामृणत्रयेत्यर्थः । **हृदयस्ये**त्यादि इदं पूर्वतन्त्रे चतुर्थ प्रथमे पादे चिन्तितम् । अग्नीषोमीयं पशुमालभेतेति प्रकृत्य श्रुतम् । **इतिवदि**ति इत्यत्र संख्यारूपस्थानं क्रमनियामकं यथा तद्वत् । **नच कर्त्रैक्यादि**ति । अत्र वयं 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इत्यारभ्य 'अनावृत्तिः शब्दात्' इत्यन्तमनेककर्तृकमपि परंतु वेदनिश्वसितुः कृष्णावतार न वेदान्तानामपि निश्वसितकर्तृकत्वमित्येककर्तृकं शास्त्रमिति मन्महे । **क्रमनियम** इति ण स्थानेन नियम इत्यर्थः । स्थानं क्रमपर्यायकम् । तदुक्तम्

'क्रमो हि द्विविधैवेष्टो देशसामान्यलक्षणः ।
पाठानुकारसादेश्याद्विनियोगस्य कारणम्' इति ॥

भाष्यप्रकाशः ।

आघारदर्शपूर्णमासवत् कर्मब्रह्मविचारयोरेकाङ्गिप्रयुक्ताङ्गत्वेन वा, पञ्चप्रयाजवदेकाङ्गिप्रयुक्तानेकाङ्गत्वेन वा, गोदोहनादिवदधिकृताधिकारत्वेन वा, षड्यागवत् फलैक्येन वा कर्त्रैक्यं येन

रश्मिः ।

स्थाने पठनीयक्रमपाठः । स्थानं च यथासंख्यपाठः संनिधिपाठः अनुष्ठानसादेश्यं च । प्रकृते तु यथासंख्यपाठरूपं स्थानम् । तथा च प्रथमस्य धर्मविचारस्य प्रथमप्राप्तिः । द्वितीयस्य ब्रह्मविचारस्य पश्चादित्येवं विनियोगः । न च अथशब्दः शास्त्रं विभजन्पूर्वोक्तं कर्त्रैक्यं विघटयिष्यतीति वाच्यम् । अथातः शेषलक्षणमिति तृतीयाध्यायसूत्रवत् अथशब्दस्य अविभाजकत्वात् । संनिधिपाठरूपं स्थानं च वैकृतान्यङ्गानि यत्र प्राकृताङ्गाननुवादेन विहितानि तेषां विकृतौ विनियोजकम् । तेषां कैमर्थ्याकाङ्क्षायाः मूलसिद्धविकृत्यविकृतिप्रीतादेवतासंबन्धेन पूर्वसंबन्धेनैवोपशमात् । अनुष्ठानसादेश्यरूपं स्थानं तु पशुधर्माणामग्नीषोमीयार्थत्वं प्रयोजयति । औपवसथ्येहनि अग्नीषोमीयः पशुरनुष्ठीयते तस्मिन्नेव दिने ते धर्माः पठ्यन्ते, अतस्तेषां कैमर्थ्याकाङ्क्षायामनुष्ठानसदेशत्वेन उपस्थितं पशुः पशुप्रीतदेवता च पशुदेवताप्रीतिरेव वा अपूर्वमेव भाव्यत्वेन संबध्यते इति । **तत्रापि** तथेति भाष्यं विवृण्वन्तः कर्त्रैक्ये प्रमाणाभावमाहुः **आघारेत्यादि** । षष्ठ्यन्ताद्वतिः । 'आघारमाघारयति । ऊर्ध्वमाघारयति । ऋजुमाघारयति' । 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इति श्रुतयोरेवाङ्गीप्रयुक्ताङ्गत्ववदित्यर्थः । आघारइदमग्निहोत्राधिकरणे द्वितीयस्य द्वितीयपादे चिन्तितम् । दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेतेति तु सोमद्रव्यस्य दर्शाङ्गतामभुवन्दर्शादिकालः सोमे विधीयत इति चतुर्थस्य तृतीये पादे 'उत्पत्तिकालविशये कालः स्याद्वाक्यस्य तत्प्रधानत्वात्' इत्यधिकरणे चिन्तितम् । **पञ्चप्रयाजवदि**ति । द्वितीयस्य द्वितीयपादे दर्शपूर्णमासयोः श्रूयन्ते 'समिधो यजति,' 'तनूनपातं यजति,' 'इडो यजति,' 'बर्हिर्यजति,' 'स्वाहाकारं यजति,' इति पञ्चप्रयाजाः तेषां यजत्यभ्यासाद्भेद इति चिन्तितम्, तद्वदित्यर्थः । **गोदोहनादिवदि**ति । चमसेनापः प्रणयेदिति दर्शपूर्णमासाङ्गमपां प्रणयनमाश्रित्य गोदोहनेन पशुकामस्येति विहितस्यापां प्रणयनेधिकृताधिकारकस्य गोदोहनस्येवेत्यर्थः । तदिदं चतुर्थे 'यस्मिन्प्रीतिः पुरुषस्य लिप्सार्थलक्षणाविभक्तत्वात्' इत्यधिकरणे चिन्तितमन्यैः । **षड्यागवदि**ति । त एवं द्वितीयस्य द्वितीयपादे, 'प्रकरणं तु पौर्णमास्यां रूपावचनात्' इत्यधिकरणे चिन्तिता आग्नेयादयः षड्यागाः । 'य एवं विद्वान्पौर्णमासीं यजते य एवं विद्वानमावास्यां यजते' इत्याम्नातम् । तत्र यदाग्नेयोष्टाकपालोमावास्यायां च पौर्णमास्यां चाच्युतो भवतीति । तावभूतामग्नीषोमावाज्यस्य एवं तावुपांशु पौर्णमास्यां यजन्निति । ताभ्यामेकमग्नीषोमीयमेकादशकपालं पौर्णमासे प्रायच्छदिति । ऐन्द्रं दध्यमावास्यायामिति । ऐन्द्रं पयोमावास्यायामिति प्रकृताः षडनूद्यन्ते । तत्राप्याग्नेयोपांशुयाजाग्नीषोमीयाणां पौर्णमासीकालविहितानां सह प्रयोगः । एवमितरत्रापि । एतौ समुदायौ पौर्णमास्यमावास्यापदाभ्यामुपलक्ष्येते इति नानुवादकतानुपपत्तिः । तेषां सर्वेषां दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेतेति वाक्येन फलसंबन्धः । तदिदं वाक्यं चैकादशे 'प्रयोजनाभिसंबन्धात्पृथक्सतां ततः स्यादैककर्म्यमेकशब्दाभिसंयोगात्' इत्यधिकरणे । अत्र श्रुतं फलं सतां यागानां पृथगुत्पन्नतया पृथगेव फलाभिसंबन्धात्प्रत्येकं संबध्यत इति पूर्वपक्षं संगृह्य दर्शपूर्णमासरूपैकशब्दाभिसंयोगा-

भाष्यप्रकाशः ।

बोध्येत तादृशप्रमाणस्याप्यनुपलम्भात् । न च, 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह,' 'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा' इत्यादिश्रुतिरेव क्रमे प्रमाणमिति वाच्यम् । समुच्चयमात्रबोधनेन चारितार्थ्यात् । किंच । धर्मो न यथाकथंचिज्ज्ञातो विधया समुच्चेयोऽपि तु निर्णीतस्वरूपः । निर्णयस्तु यथा कर्मस्वरूपविषयकः पूर्वतन्त्रात्, तथा कर्मशेषभूतपुरुषस्वरूपविषयकस्तदाराध्यभूतब्रह्मस्वरूपविषयकश्चोत्तरतन्त्रात् । अतोऽभ्यर्हितत्वात् पूर्वं वेदान्तविचारेण तदवगन्तव्यम् । नानावादैरात्मस्वरूपे ब्रह्मस्वरूपे च विप्रतिपन्ने वैदिकानां वेदवाक्यैरेव तन्निरासस्यावश्यकत्वात् । ज्ञाते तयोः स्वरूपे कर्मणि सुखेन प्रवृत्तिसंभवादिति । नचाध्ययनादिविधेः कर्मावबोधनसमर्थेषु पुरुषेषु चरितार्थत्वेन, शान्तो दान्त इत्यादिश्रुत्युक्तसाधनान्तरसापेक्षब्रह्मज्ञानोपायभूतशमाद्याक्षेपासामर्थ्यात् पूर्वं धर्मविचारस्यैव प्राप्तिरिति वाच्यम् । शान्तो दान्त इति श्रुतौ पश्येदितिपदाच्छमादीनां दर्शनसाधनत्वेन विचारे तदपेक्षाभावात् । प्रह्लादकव्यादिवदाबाल्यान्मुमुक्षाशमादिमत्सु तदप्रवृत्तौ तेषां विचारमात्राप्रसक्तेर्यथाकथंचित् प्रवृत्तौ वाऽभ्यर्हितस्यैव प्राप्त्या नियमभङ्गाच्च तदेतदुक्तम् ।

रश्मिः ।

दैककर्म्ये समुदितस्यैव फलमिति चिन्तितं तद्वदित्यर्थः । अत्र क्रियत इति व्युत्पत्त्या कर्मफलं ऐककर्म्यमेकफलत्वम्, क्वचित्तु सूत्रे पृथक्त्वं ततः स्यादिति पठ्यते । सत्तामिति न पठ्यते । **नचे**त्यादि । **अविद्यां** कर्मरूपमित्यर्थः । ज्ञानमेवेच्छां प्रयुञ्जानो यत्नं संपादयतीत्यालोच्याहुः **किंचे**ति । **कर्मशेषे**त्यादि । एतच्च तृतीये 'द्रव्यगुणसंस्कारेषु बादरिः' इत्यधिकरणे चिन्तितम् । **पूर्व**मिति 'अभ्यर्हितं च'इति सूत्रेणेत्यर्थः । ननु मीमांसायाः न किमपि प्रयोजनं पश्यामः, आदिज्ञानस्यान्यत एव संभवादित्यत आहुः **नानावादै**रिति । **विप्रतिपन्न** इति विविधप्रकारैर्ज्ञात इत्यर्थः । **वेदवाक्यै**रिति वेदवेदान्तवाक्यैः विचारविषयैः मीमांसासूत्रविषयवाक्यैरित्यर्थः । **तन्निरासस्ये**ति विप्रतिपत्तिगतसंशयनिरासस्यापि । **प्रवृत्ती**ति, इच्छाद्वारा प्रवृत्तिसंभवात्, जानाति इच्छति यतत इति नैयायिकप्रवादात् । दृष्टानुवादिनीं 'शान्तो दान्तउपरतस्तितिक्षुश्रद्धान्वितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्' इति श्रुतिमनुरुध्य विपर्ययाभावशङ्का तामपाकुर्वते **न चाध्ययने**त्यादि । **पूर्वं धर्मविचारस्यैवे**ति । वैधत्वादिति भावः, अन्यथा श्रुतिविरोध इति भावः । विचारिनधर्मेण विशेषचित्तशुद्धिः शमदमादिकारणम् । **तदपेक्षाभावा**दिति शमाद्युपेतत्वेपि दर्शनानपेक्षत्वादित्यर्थः । तेन शमदमाद्युपेतसूत्र(श्रुत्यविरोधात्)विरोधः । तथा च श्रुतिविरोधाद्वेदविचारविधिस्तदन्तेपि प्रवर्तते, न तु विध्यन्तरमादरणीयं संभवेपीत्याशयः । **तदप्रवृत्ता**विति । शान्त्यादिकमुत्पाद्य आत्मानं पश्येदिति श्रुतिस्फूर्तेः शान्त्याद्युत्पादनाय विध्यप्रवृत्ताविर्थः । सत्तामात्रभवत्यर्थादेव पूर्वोक्तनिरस्तिं मन्यमाना आहुः **यथाकथंचि**दिति । भक्तिमार्गीयाणां स्वत एव शमादिसत्त्वेन वैधशमादिसत्तामात्रं भवत्यर्थाद्भक्तिमार्गीयाणां शमादिविधिप्रवृत्तौ । **नियमभङ्गाच्चे**ति । धर्मब्रह्ममीमांसयोः पूर्वापरीभावनियमभङ्गाच्चेत्यर्थः । **तदेतदुक्त**मिति । तथा हि न तावद्धर्मविचारानन्तर्यम्, **विपर्ययसंभवा**दिति भाष्येणेत्यर्थः । **तत्रापि तथा**

नच पाठतो नियमः । तत्रापि तथा । नचाऽऽचाराद् व्यवस्था । तत्राप्यनियमसंभवात् । प्रत्यवायाश्रवणात् । संभवेपि न वक्तव्यत्वमध्ययनवत् । तथाच ततोऽप्याकाङ्क्षा भवेत् । नच वैराग्यशमदमादिः पूर्वसिद्धः ।

भाष्यप्रकाशः ।

ननु पूर्वं धर्मकाण्डं पठ्यते, अनन्तरं ज्ञानकाण्डमिति पाठस्य क्रमनियामकत्वमस्त्विति चेत् तत्राहुः **नचे**त्यादि । पाठक्रमे विद्यमानेऽपि पूर्वकाण्डं न सर्वैरादित आरभ्य पठ्यते । अपि तु यतःकुतश्चित् । अतोऽवान्तरकाण्डक्रमानियमवज्ज्ञानकाण्डक्रमानियमस्यापि शक्यवचनत्वात् **तत्रापि तथे**त्यर्थः । ननु पाठः शिष्टाचारादनियतोऽस्तु, न तु विचारोऽपीत्यत आहुः **नचाचारे**त्यादि । प्रत्यवायाश्रवणस्योभयत्र तौल्यात् तथेत्यर्थः । ननु धर्मस्य ब्रह्मबोधहेतुत्वात् तद्विचारोपयुक्तानां श्रुतिलिङ्गादीनां चोदनार्थवादस्मृत्यादिप्रामाण्यप्रतिपादनानां ब्रह्मविचारोपयुक्तत्वाच्च धर्मविचारानन्तर्यं ब्रह्मविचारस्य नियमेन संभवतीति चेत् तत्राहुः **संभवेपी**त्यादि । स्फुटार्थमेतत् ।

ननु तर्हि, नित्यानित्यवस्तुविवेकः, ऐहिकामुष्मिकभोगविरागः, शमदमादिसाधनसंपन्मुमुक्षुत्वं चेति शंकराचार्योक्तं साधनचतुष्टयानन्तर्यमाद्रियतामित्याशङ्कायां, भास्कराचार्यैर्यद्यपि शमदमादयोऽन्तःकरणधर्माः पूर्वं न प्रकृताः स्वशब्देन चानिर्दिष्टा इति सूत्रकारस्य न विवक्षिता इत्येव दूषणं दत्तम् । रामानुजाचार्यैश्चैषां पूर्वमीमांसोक्तकर्मफलकरणेतिकर्तव्यताधिकारिविशेषानिश्चयानन्तरभावितदनित्यत्वज्ञानाऽऽत्मनित्यत्वज्ञानाधीनतया शास्त्रद्वयविचारोत्तरभावित्वं दूषणमुक्तम् । तथापि तच्च तथा स्फुटमिति प्रकारान्तरेण दूषणमाहुः **नचे**त्यादि । तदानन्तर्ये तदा

रश्मिः ।

इत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **ननु पूर्व**मिति । **तत्रापि तथे**त्यर्थ इति पाठतो नियमेपि विपर्ययसंभवादित्यर्थः । तेन तत्रापि तथेति भाष्यमपि विवृतम् । **उभयत्रे**ति पाठे विचारे चेत्यर्थः । **ब्रह्मविचारे**ति । यथानिरपेक्षो रवः श्रुतिः साच 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यत्र विग्रहदशायां ब्रह्मण इति शेषषष्ठीश्रुत्या ब्रह्मसंबन्धिनां जिज्ञासार्थत्वमिति विनियोगः । 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इत्यत्र लिङ्गं, 'वाक्यान्वयात्'इत्यत्र वाक्यं, 'प्रकरणाच्च' इत्यत्र प्रकरणं, देशकालौ प्रकरणमिति निबन्धकारिकाविरोधेन, स्थानं द्रष्टव्यं, 'स्वपीति इत्याचक्षते स्वमपीतो भवति'इति अत्र अतिदेशसामान्यरूपाख्यानात् स्वमित्यस्य स्वमपीतोऽर्थः, न तु स्वापनिमित्तकारणरूपकर्तेत्यर्थः । समाख्या यौगिकश्च शब्दः सापि 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यत्र बृहत्त्वात् बृंहणत्वाच्च ब्रह्मेति योगात् यौगिकः शब्दः । स्ववाक्यस्वरूपलक्षणोक्तपदार्थानां ब्रह्मणश्च संनिधिं कल्पयति संनिहितयोः परस्पराकाङ्क्षयोरेकवाक्यत्वं प्रकल्प्य सामर्थ्यं चालोच्य ब्रह्मणा सत्यादिपदानां सामानाधिकरण्यं कुर्यादिति श्रुतिकल्पनेन ब्रह्मयौगिकार्थस्य तत्पदार्थैक्यं बोधयति । **स्फुटे**ति अनन्यलभ्यस्य शब्दार्थत्वात् । अत्र अथशब्दार्थत्वेन वक्तव्यधर्मस्याक्षेपलभ्यत्वादित्येवं स्फुटार्थम् । **भाष्ये । तथा च ततोपी**त्यादि आक्षेपलभ्यत्वे च न श्रुतिलिङ्गादिकमानन्तर्यनिरूपकमुपलभ्याप्यधिकाकाङ्क्षा भवेदित्यर्थः । **प्रकृते । स्वशब्देन** चेति शमादिवाचकशब्देन चेत्यर्थः । **पूर्वमीमांसे**त्यादि पूर्वमीमांसोक्ताः कर्म च फलं च करणं चेतिकर्तव्यता चाधिकारिविशेषश्चैतेषां निश्चयानन्तरभाविनी यद्

**तेषामेवाभावात् । न च यदैव संभवस्तदैव तत् कर्तव्यमिति वाच्यम् ।
तदसंभवापत्तेः । तथाहि । ब्रह्मणः परमपुरुषार्थत्वे ज्ञाते तज्ज्ञानस्यैव साधनत्वेऽ-
वगते तच्छेषत्वे च यागादीनामवगते तदर्थकर्मकरणे चित्तशुद्धौ सत्यां वैराग्यादि ।
इदं च वेदान्तविचारव्यतिरेकेण न भवतीत्यन्योन्याश्रयः ।**

भाष्यप्रकाशः।

युज्येत यदि तत्सत्ता पूर्वं स्यात् । सा त्वतिदुर्लभा । न हि नित्यानित्यवस्तुविवेकमन्तरेणेहा-
मुत्रार्थभोगात् पुरुषो विरज्यते । न वा सांख्यदर्शनात्यन्ताभ्यासतदुदितसाधनाद्यन्तरेण तादृश-
विवेक उदेत्युदिते वा सर्वः शाम्यति दाम्यति वा । दुर्वासःप्रभृतिष्वपि तदभावस्य स्मरणात् ।
कथंचित् किंचित् कस्यचित् कदाचित् संभवेऽपि न सर्वसाधनानि तथा । तदेतदुक्तं, तेषा-
मेवाभावादिति । तथाच समुदितसाधनचतुष्टयसंपदत्यन्तदुर्लभेति तदानन्तर्यमत्र न शक्यवच-
नमित्यर्थः । सांख्याद्यभ्यासाभावेऽपि लौकिकदुःखादिना विरज्यमाना दृश्यन्ते । किंचित्काम-
नयापि शाम्यन्ति दाम्यन्ति चेत्युक्तविवेकरहितवैराग्याद्यानन्तर्यमप्यत्र न युक्तम् । तदपायस्य
भूयोदर्शनादित्याशयेन वैराग्यादीनामेव ग्रहणम् । ननु केषांचित् पूर्वं वैराग्याद्यभावेऽपि पश्चात्
तानि दृश्यन्त इति तदानन्तर्यादरणे को दोष इत्यत आहुः न च यदैवेत्यादि । **तदसंभवा-
पत्तेरिति** वैराग्यादेर्विचारस्य चासंभवापत्तेरित्यर्थः । कथमिदमित्याकाङ्क्षायामेतदेव विभजन्ते
तथाहीत्यादि । दर्शनान्तराभिमानिनां ज्ञानकर्मसमुच्चयवादात् तत्तदुक्तज्ञानानां च भिन्नविध-
त्वात् तत्तदभिमतरीत्या साधनीभूतयागाद्यनुष्ठाने विवक्षितविचारोपयोगिचित्तशुद्ध्यभावात्

रश्मिः ।

आत्मव्यतिरिक्तानित्यत्वज्ञानात्मनित्यत्वज्ञाने तदधीनतयेत्यर्थः । **कथंचिदिति** ज्योतिषपञ्चाङ्गादि-
प्रकारेण । **कस्यचिदिति** । नित्यानित्यवस्तुविवेकादौ यस्यकस्यचित् । **कदाचिदिति** असदा-
दिदृष्टान्तः । **तथेति** सर्वत्वेन प्रकारेण संभवन्तीत्यर्थः । नन्वाशङ्काभाष्ये न च नित्यानित्यव-
स्तुविवेकवैराग्यशमदमादिरिति वक्तुं युक्तम्, प्रथमत्यागे मानाभावादित्याकाङ्क्षायामभूतपूर्वोक्तविवेक-
वैराग्यादिरपि नानन्तर्यनिरूपक इति बोधयितुं तयोपन्यास इत्याहुः **सांख्याद्यभ्यासे**त्यादि ।
कामनयेति शमजन्यफलकामनया, दमजन्यफलकामनया च । **भूयो दर्शना**दिति ।
असदादिर्दृष्टान्तः । **तानीति** वैराग्यादीनीत्यर्थः । **असंभवेति** अन्योन्याश्रयस्य द्विनिष्ठ-
त्वात् द्वयस्यासंभव उक्तविकल्पेन । **इदमिति** पूर्वोक्तम् । **एतदिति** समीपतरवर्तिभाष्यम् ।
विभजन्ते व्याकुर्वते । धर्मविचारस्य ब्रह्मशब्दसूचितस्य भाष्ये विचारात् समुच्चये स्फुरिते तेन
सहैवाहुः **दर्शनेति** । **भिन्नविधत्वादिति** । स्मृत्यात्मकं ज्ञानं भक्तिरूपं साधनमिति रामानु-
जाचार्यमतम् । मध्वमते ज्ञानं भक्त्यात्मकम् । नैयायिकैस्तु 'द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवा-
यानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानं निःश्रेयसहेतुः तच्चेश्वरनोदनाभिव्यक्ताद्धर्मादेवेत्युच्यत' इति
भिन्नविधत्वादित्यर्थः । **साधनीभूते**त्यादि । अयमर्थः । चित्तशुद्धिकारणता यागादेर्न सामान्य-
रूपेण तथा सति विलक्षणचित्तशुद्ध्यनुत्पत्तिप्रसङ्गोपि तु तृणारणिमणिन्यायेन तत्तच्चित्तशुद्धिजन-
कत्वरूपेणेति तत्तन्मतीयविचारोपयोगिचित्तशुद्ध्युदयात् सिद्धान्तविचारोपयोगिचित्तशुद्ध्यभावा-
दिति एवमेव विचारचित्तशुद्ध्योरपि कार्यकारणभावः । **विवक्षितेति** । 'यदेकमव्यक्तमनन्त-

**निर्धारिते तु वेदान्ते विचारो व्यर्थ एव । न च साक्षात्कारस्तत्फलम् । तस्य
शब्दशेषत्वेन तत्कल्पनायां प्रमाणाभावात् । 'दशमस्त्वमसि' इत्यादौ प्रत्यक्ष-**

भाष्यप्रकाशः ।

ब्रह्मणः परमपुरुषार्थत्वज्ञानार्थं, ज्ञानस्य केवलस्यैव साधनत्वज्ञानं चावश्यकमिति तदर्थं चैकदे-
शिना वेदान्तविचारः पूर्वं मृग्यः । तथा सत्युक्तरीत्या तत्करणमिति चक्रकान्योन्याश्रय इति
तदसंभवापत्तिरित्यर्थः । नन्वध्ययनदशायां गुरुमुखात् साधनान्तराद्वा वेदान्तार्थे निर्धारिते
सुखेन तत्संभवान्नान्योन्याश्रय इति शङ्कायां दूषणान्तरमाहुः **निर्धारित इत्यादि** । **विचारो
ह्यर्थनिर्धारार्थः** अर्थनिर्धारश्च वैराग्यादिप्रयोजकतया यदि पूर्वमभ्युपेतस्तदा फले जाते निःप्रयो-
जनत्वान्निःसंदिग्धविषयत्वाच्च स व्यर्थ इत्यर्थः । एवकारेण तदर्थकप्रवृत्तिविघातोपि संगृह्यते ।
नन्वेवं निर्धारितेऽपि न विचारवैफल्यं, तस्यात्मसाक्षात्कारार्थत्वादित्यत आहुः **न चेत्यादि** ।
विचारस्यार्थज्ञानजनकतया शब्दाङ्गत्वेन तदुपकारकत्वस्यैव प्रत्यक्षसिद्धत्वेन तस्यात्मसाक्षात्का-
रफलकत्वकल्पनायां प्रमाणाभावादित्यर्थः । ननु दशमस्त्वमसीत्यादेः शब्दादपि दशमोऽहमि-
त्याकारकात्मसाक्षात्काररूपं फलं विचारद्वारा दृश्यत इति तथा कल्पनायां दृष्टमेव प्रमाणम-
स्तीति कथं प्रमाणाभाव इत्याकाङ्क्षायां दृष्टान्तवैषम्यं स्फुटीकुर्वन्ति **दशम इत्यादि** । अयमर्थः ।
उक्तवाक्यदृष्टान्तेन विचारद्वारा आत्मसाक्षात्कारः कस्यापाद्यते । किं देहविशिष्टात्मवेदिनो वा
देहात्मवेदिनो वा । तादृशस्यापि चक्षुष्मतोऽन्धस्य वा विविक्तात्मवेदिनो वा । तत्र नाद्यः ।
व्यामुग्धादिषु परेण बोध्यमानस्य दशमत्वस्य बाह्यत्वेन तद्विशिष्टस्य बाह्यस्यैव देहादेस्तथात्व-
सिद्ध्योक्तरीत्या तस्य ज्ञानस्यात्मविषयकत्वाभावात् । अत एव न द्वितीयः । अन्धस्येतराऽज्ञा-

रश्मिः ।

रूपम्'इति श्रुतेस्तत्तन्मार्गीयज्ञानानामनन्तरूपान्तर्गतत्वे तस्य मार्गाप्रविष्टस्यानन्तरूपान्तररूपान्त-
राविघटकतया स्वात्मप्रविष्टविवक्षितविचारेत्यादिः । **एकदेशिनेति** । उक्तार्थमेतत् । **चक्रका-
न्योन्याश्रय इति** । वेदान्तविचारेण साक्षात् वैराग्याद्याश्रीयते, वैराग्यादिभिस्तु साक्षात्
परंपरयेति **चक्रकम्** । तौल्ये **त्वन्योन्याश्रय** इति भावः । भाष्ये तु विशेषो नाभ्युपगत इति
बोध्यम् । **साधनान्तराद्वेति** तपआदिरूपात् व्याकरणादिरूपाद्वा तस्मादित्यर्थः । **तस्या-
त्मसाक्षात्कारार्थत्वादिति** । 'तत्त्वमसि'आदिवाक्यस्य ब्रह्मविचारस्य वा 'अहं ब्रह्मास्मि'इत्या-
कारकसाक्षात्कारफलकत्वादित्यर्थः । इत्यत आहुरिति इतीदमाशङ्क्य प्रतिविधानमाहुरित्यर्थः ।
आशङ्काभाष्यस्याभास एव विवृतत्वात् तस्येत्यादेःप्रतिविधानभाष्यं विवृण्वन्ति **विचारस्येत्यादि** ।
शब्दाङ्गत्वेनेति । आकाङ्क्षायोग्यतासंनिधिवत् । 'अविचारिताश्च शब्दा नार्थं प्रत्याययन्ति'
इति भाष्यात् । **दशमेति** । दशम इति वक्तव्ये दशमेति प्रतीकमुभयसाधुतायै । **दृष्टमिति**
साक्षात् कारणत्वेन दृष्टं शब्दरूपम् । **तत्र नाद्य इति** । चक्षुष्मतो देहविशिष्टात्मवेदिनो देहा-
त्मवेदिनो वापाद्यत इति न वक्तुं शक्यमित्यर्थः । **व्यामुग्धादिष्विति** । कस्तावदस्मासु दशम
इत्येवं तथाभूतेष्वित्यर्थः । **बाह्यत्वेनेति** चाक्षुषत्वात् तथात्वेनेत्यर्थः । **उक्तरीत्येति**
भाष्योक्तरीत्येत्यर्थः । तर्हि चक्षुष्मतो दशमस्य प्रत्यक्षीकरणादस्तु तज्ज्ञानस्यात्मविषयकत्वम्,
अन्धेन तु तथा करणात् तज्ज्ञानस्यात्मविषयकत्वं दुर्वारमित्यत आहुः **अत एवेति** । दशमत्वस्य
चाक्षुषत्वेन बाह्यत्वादेवान्धस्य देहविशिष्टात्मवेदिनो देहात्मवेदिनो वापाद्यत इत्यपि न वक्तुं
शक्यमित्यर्थः । **अन्धस्येत्यादि** । नगणनया गणयत एव स्वस्मिन् दशमत्वबुद्धिरिति भावः ।

सामग्र्या बलवत्त्वात् देहादेः प्रत्यक्षत्वात् स्वदेहमपि पश्यन् दशमोऽहमिति मन्यते। न तथा प्रकृते । मनननिदिध्यासनविधीनामानर्थक्यप्रसङ्गात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

नात् । तस्य प्रज्ञाचक्षुष्ट्वेन तया ज्ञायमानस्यापि चाक्षुषकल्पत्वाच्च न तृतीयः । तस्यात्मविस्मृत्यभावेन तत्र शब्दस्याऽकारणत्वात् । न च पूर्वविकल्पोक्तानामात्मनिष्ठमान्तरमेव दशमत्वं शब्दाद् भासत इति वाच्यम् । दशमत्वस्य बह्वपेक्षाबुद्धिजन्यत्वेन तस्यां च बुद्धौ संख्याघटकानां परात्मनां भानाभावेन स्वस्यापि दशमत्वाभानप्रसङ्गात् । अतो नवमत्वादिवद् दशमत्वस्यापि बाह्यत्वमेव । कृशोऽहमितिवद् दशमोऽहमितिप्रत्यग्विषयस्यापि देहस्यैव वेद्यत्वाच्च । प्रकृते विचारे तु वेदान्तवाक्यैर्ब्रह्मत्वेनात्मसाक्षात्कारस्य तवाभिप्रेतत्वेन न तथा धर्मधर्मिणोरुभयोरप्यान्तरत्वाच्च दृष्टान्तसाम्यम् । न हि समीपवर्तिभिरिन्द्रियैरग्राह्य आत्मा तद्ग्राह्येण बाह्येन शब्दप्रमाणेन ग्राहयितुं

रश्मिः ।

ननु स्पर्शेनानुमानेन वा नवान्यान् ज्ञास्यतीति, तत्राहुः **तस्येत्यादि** । प्रज्ञा लिङ्गपरामर्शो व्याप्तिज्ञानं वा । **चाक्षुषकल्पत्वाच्चेति** । त्वाचत्वेनानुमितित्वेन च त्वदिष्टभावादीषदूनचाक्षुषत्वादित्यर्थः । अन्यथान्धस्य पुरोवस्थितो घटोऽस्तीति शब्दात् घटसाक्षात्कारापत्तिः । शब्दस्य कारणत्वे ततः पूर्वमात्मविस्मृतिः स्यादिति शब्दो न कारणमित्याहुः **तस्यात्मेत्यादि** । अभ्युपगमवादेनाशङ्कां निषेधन्ति **न च पूर्वेत्यादि** । चक्षुष्मतो देहविशिष्टात्मवेदिनोऽन्धस्य तथावेदिनो विविक्तात्मवेदिनश्चेत्यर्थः । **भानाभावेनेति** । परमनोव्यावृत्तमनस एवात्मप्रत्यक्षजनकत्वोपगमात् तथेत्यर्थः । **देहस्यैवेति** । ननु नापेक्षाबुद्धेः सजातीयविषयत्वनियम इति चेत्, तत्राहुः **कृशोऽहमित्यादि** । अन्यथात्मनो दशमत्वकृशत्वाद्यापत्तिरिति भावः । तेन दशमादेरहमो विशेषणत्वादस्मच्छब्दवाच्यात्मन एव दशमत्वमित्यपि निरस्तम् । **न तथा प्रकृत** इति भाष्यं विवृण्वन्ति **प्रकृत** इत्यादि । विषयत्वेन प्रकृते वेदान्तीये 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' इति श्रुतावतिप्रविष्टे च विचारे वाक्यैः'आत्मा वा अरे' इति 'दशमस्त्वमसि'इत्यादिभिरित्यर्थः । **न तथेति** भाष्यानुवादं वर्णयन्ति **धर्मधर्मिणोरिति** ब्रह्मत्वात्मनोरित्यर्थः । **तद्ग्राह्येणेति** श्रोत्रग्राह्येणेत्यर्थः । अत्र **भाष्ये । प्रत्यक्षसामग्र्या** इति । अयमर्थः । अत्र दशमोऽहमिति प्रतीतौ शब्दसामग्र्याः प्रत्यक्षसामग्र्याश्च सत्त्वेपि शब्दसामग्र्यैव प्रत्यक्षं किं न स्यात् । शब्दात् प्रत्येमीत्यनुव्यवसायात् न भविष्यति । घटं पश्यन् घटशब्दं शृण्वन् घटं पश्यामीत्यनुव्यवसायं प्राप्नोतीति सार्वजनीनम् । तथा च प्रत्यक्षसामग्री शब्दसामग्रीः प्रतिबध्नातीति मन्तव्यम् । यथा समाने विषये एकदा लौकिकप्रत्यक्षसामग्रीसत्त्वेऽनुमितिसामग्रीसत्त्वे लौकिकप्रत्यक्षमेवोत्पद्यते । तदनन्तरं साक्षात्करोमीत्यनुव्यवसायात् । अतः समानविषयेऽनुमितिं प्रति लौकिकप्रत्यक्षसामग्र्याः प्रतिबन्धकता । समानविषयत्वं च पर्वतोद्देश्यकसंयोगसंसर्गकवह्निविधेयकानुमितिं प्रति पर्वतोद्देश्यकसंयोगसंसर्गकवह्निप्रकारकलौकिकप्रत्यक्षसामग्रीत्वेन प्रतिबन्धकत्वम् । स्फुटमेतत् सामग्रीवादे । तथा च दशमः क इति संदिहानेषु दशमोऽहमिति पश्यत्सु दशमत्वानवच्छिन्नदेहमात्रं पश्यत्सु दशमस्त्वमसीति शब्दसामग्री प्रतिबध्यते । एवं च शब्दसामग्रीत्वेन समानविषयकप्रत्यक्षसामग्रीत्वेन प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावात् प्रत्यक्षसामग्र्या बलवत्त्वादिति । शब्दात् प्रत्येमीत्यध्यवसायस्तु भ्रमः । व्यामुग्धेषु दशमस्त्वमित्यस्य शब्दस्य दशमत्वसंदेहवारकत्वेन दशमत्वांशेपि चाक्षुषसं-

नचाधिकारिभेदः कल्पनीयः । शब्दज्ञाने तत्कल्पनायां प्रमाणाभावात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

शक्यते । अथ दर्शनाव्यवधानेन श्रवणस्य विधानाच्छक्यत इत्युच्यते तदा मनननिदिध्यासनविधिवैयर्थ्यम् । तथाच दृष्टान्तवैषम्यान्मनननिदिध्यासनविधिविरोधाच्चात्मसाक्षात्कारस्य न श्रवणफलत्वं विचारफलत्वं वा वक्तुं शक्यमित्यर्थः । ननु मुख्याधिकारिणः शब्दादपरोक्षं भवति, न तु मन्दादेरिति तादृशेषु मननाद्युपयोगाच्च तद्विध्यानर्थक्यमिति चेत्तत्राहुः न चेत्यादि । शब्दजन्ये ज्ञानेऽधिकारिभेदस्तदा कल्प्यो यदि स विधिवैयर्थ्यं समादध्यात् । न तु तथा । मन्दस्य पदशक्त्यादिज्ञानशून्यतया मननाद्यसामर्थ्येन, मध्यमस्य च विदितपदपदार्थसंसर्गतयाऽऽकाङ्क्षादिबलेन दशमादिवदपरोक्षभवनसौकर्ये मननाद्यनुपयोगेन ताभ्यां तदसमाधानात् । तत्कल्पनायां श्रुतार्थापत्तिरूपप्रमाणाभावादित्यर्थः । ननु विदितपदपदार्थसंसर्गस्यापि वाक्यतात्पर्याज्ञाने दशमादि-

रश्मिः ।

शयात् । ननु 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति श्रुत्यनुकूलं शाब्दापरोक्षमित्येवमाशङ्कामुखेन **मननेत्यादि**भाष्यमवतारयन्ति **अथ दर्शनेत्यादि** । **शक्यत** इति शब्दादपरोक्षं शक्यते । आशङ्काप्रतिविधानभाष्यं विवृण्वन्ति **नन्वित्यादि** । **तादृशेष्विति** भिन्नाधिकारिष्वित्यर्थः । **न चेत्यादीति** । **न चाधिकारिभेदः कल्पनीय** इत्यादिर्यस्येत्यतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । समाधानभाष्यं व्याकुर्वन्ति **शब्दजन्य** इत्यादि । **न तु तथेति** । अधिकारिभेदो विधिवैयर्थ्यं तु न समादधातीत्यर्थः । **ताभ्यामिति** मन्दमध्यमाभ्याम् । मननादिविध्यानर्थक्यासमाधानादित्यर्थः । **श्रुतार्थापत्तिरूपेति** । प्रत्यक्षेण शब्देन वा प्रमितस्यार्थस्यार्थान्तरमन्तरेणानुपपद्यमानस्योपपत्तयेऽर्थान्तरकल्पनमर्थापत्तिः । सा च प्रमाणान्तरमिति मीमांसकाः । लाघवादनुमानमिति नैयायिकाः । अर्थान्तरकल्पनया समाधेयत्वेनोच्यमानस्य प्रमाणसिद्धस्यार्थस्य मिथः प्रतिघातरूपान्यथानुपपत्तिस्तत्र कारणम् । तात्पर्यवृत्तावन्तर्भाव इति मम प्रतिभाति । जीवन्देवदत्तो गृहे नास्तीत्यस्य बहिःसत्त्वप्रतीतीच्छयोच्चारितत्वाद् गृहाधिकरणको जीवनविशिष्टबहिःस्थितदेवदत्तप्रतियोगिको भाव इति सुखेन बोधात् । अथवा । गृहाधिकरणकजीवनविशिष्टबहिःस्थितदेवदत्तनिष्ठा सत्ता तत्प्रतियोगिको भावस्तन्निष्ठा सेति बोधः । एवं पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते इत्यत्राप्यर्थानुपपत्तावपि पीन इत्यस्य नक्तं भोजनानुषङ्गकपीनत्वे तात्पर्यात् न दोष इति । तस्मादन्यथानुपपत्तावर्थापत्त्यां निवृत्तायां प्रमितयोः संसृष्टबुद्धिः प्रमेयप्रमारूपा भवतीति ज्ञेयम् ।

तथा च 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यत्र प्रमाणसिद्धस्य आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः इति अंशस्यार्थान्तरकल्पनया समाधेयत्वेन उच्यमानस्य मन्तव्यो निदिधासितव्य इत्यस्यांशस्य च मिथः शेषशेषिभावे प्रतिघातः, श्रवणेनैवात्मदर्शनात् । इत्यमन्यथाऽनुपपत्तावर्थापत्तिकारणभूतायां प्राप्तायामत्र मन्तव्यो निदिध्यासितव्य इतिशब्देन प्रमितस्य मनननिदिध्यासनरूपस्यार्थस्य भिन्नाधिकारिरूपार्थान्तरमन्तरेणानुपपद्यमानस्योपपत्तये भिन्नाधिकारि-

१. जीवनसंसृष्टत्वगृहाधिकरणकाभावयोर्मिथः प्रतिघातः । २. दर्शनस्य न श्रवणशेषित्वं शाब्दाऽपरोक्षापत्तेः, किंतु प्रेमशेषित्वं प्रेम्णा दर्शनमिति । ३. मननस्य मीमांसारूपस्य न निदिध्यासनशेषित्वं किंतु अन्यथाभावनाविपरीतभावनानिवर्तकत्वात् तच्छेषित्वम् ।

अत्यन्तासत्यप्यर्थे शब्दस्य ज्ञानजननात् प्रमाणसंकरापत्तिश्च ।

भाष्यप्रकाशः ।

ादप्यपरोक्षादर्शनान्मननादिना तज्ज्ञाने च तद्दर्शनात् तात्पर्यज्ञानशून्येनाधिकारिणा तत्समा-
शक्यत एवेति कथं प्रमाणाभाव इत्यत आहुः अत्यन्तेत्यादि । शब्दस्येति षष्ठ्या करणत्वं
ते । तथाच खपुष्पं सुरभीत्युक्तेऽत्यन्तासतोऽपि ज्ञानं जायते। एवं गुर्वादिनोक्तवेदान्तवाक्ये
रसाप्यात्मनस्त्वदभिमतं ज्ञानं भविष्यतीत्युक्तविधिवैयर्थ्यं दुर्वारमतः प्रमाणाभाव इत्यर्थः ।
वेधिबलादेव ज्ञायते सर्वेषां न भवतीत्यतो न तदभाव इत्यत आहुः प्रमाणेत्यादि । संकरो
ामिश्रेन जायमानं कार्यम् । यथा वर्णसंकर इति । तथाच तत्र यथा न वर्णत्वमेवमत्रापि
त्वमसीतिवाक्यस्य युष्मत्पदस्मारितपदार्थोल्लङ्घनेनास्मत्पदार्थविषयकज्ञानजनने तस्य ज्ञानस्य
त्वं न स्यादिति तादृशज्ञानोपपादनप्रयासवैफल्यम् । किंचैवं सभायां प्रमाणमर्यादायां तं

रश्मिः ।

र् । तेन दर्शनमननादिरूपयोः प्रमितयोः शेषशेषिभावेन संसृष्टबुद्धिरिति समन्वयः ।
पकारिणि मननादिविध्यानर्थक्यस्य परिहृत्यैव भाति तादृशस्य तु प्रकृतेऽलाभाच्छ्रुतार्था-
प्रमाणाभावादित्यर्थः । **तज्ज्ञान इति** तात्पर्यज्ञाने चापरोक्षदर्शनादित्यर्थः । तदिति
र्थक्यमित्यर्थः । शब्दस्य ज्ञानजननादिति पाठं मत्वा आहुः **षष्ठ्येत्यादि** । फलानां तृप्त
ष्टान्तः । **ज्ञानं जायत इति** । अत्रैवं ज्ञेयम् । वाक्यं च सिद्धार्थं साध्यार्थं च, यद्यपि
वाक्यं सिद्धार्थं भवति । भावित्वभूतत्वयोर्धर्मत्वेन निराश्रयत्वासंभवाद्वर्तमानकाले भावि-
र्वस्तुनोः सत्ता स्वीकार्येति । न च कालस्तदाश्रयो भवतीति शङ्क्यम् । भावी कालो भूतः
इति प्रतीत्यापत्तेरित्यादिकं स्थितं **विद्वन्मण्डने** । तथापि कारणकलापनिष्पाद्यव्यवहार-
नोयं साध्यत्वव्यवहार इति । वाक्ये द्वैविध्यम् । तत्र सिद्धार्थस्य वाक्यस्य संनिकृष्टे विषये
सहकारित्वात् प्रत्यक्षहेतुत्वमेव । विप्रकृष्टविषये तु तदानींतनार्थसत्तायाः संदिग्धत्वेन संभा-
कस्यैव ज्ञानस्य शब्दत्वेन संदिग्धमेव प्रामाण्यम् । बालादिवाक्येपि तथा । प्रतारक-
तु श्रोतुर्विश्वासजाड्यं प्रामाण्यबुद्ध्युत्पादकं न तु शब्दः । वक्तुरनाप्तत्वेन तत्र शब्दत्व-
र् । भ्रान्तः सन् प्रतारको यद्वाक्यं प्रयुङ्क्ते तत्र तथा । प्रवृत्तिसामर्थ्ये तु वक्तृप्रतारकत्व-
त्वहेतुका प्रामाण्यधीः प्रमेयबलेन श्रोतुर्जायत इति विश्वासजाड्यकृतत्वं तत्रेति । तस्य प्रतारक-
ानन्तरं तु या प्रवृत्तिः सापि न शब्दकालाभ्यां किंतु अननुगतादेव कारणविशेषादिति न
ामाण्यावेदिका । भ्रान्तवाक्यस्य तु शब्दत्वेऽपि न तज्जन्यं ज्ञानं प्रमाणं, वक्तृदोषात् ।
सिद्धार्थानि वाक्यानि गौणमेव प्रामाण्यं बिभ्रति । भाव्यार्थे तु वाक्यार्थो बुद्धिपरिकल्पितः ।
ाः क्रियायास्तदानीमभावेन तत्संसर्गस्याप्यभावात् । तस्माद्वक्तुर्दृष्टार्थवादित्वाभावेन तद्वा-
प्रामाण्यं यद्यपि तथापि प्रवृत्तिसामर्थ्यात् प्रमेयबलेनैव प्रामाण्यमिति । अत एव 'अत्यन्तासत्यपि
र्थे शब्दः करोति हि' इति अभियुक्तोक्तिः । **प्रमाणत्वं न स्यादिति** । शाब्दबोधे पदजन्य-
ास्थितेः तत्रत्वादितिभावः । न च तत्र विपरीतलक्षणयैवोपस्थितिरिति वाच्यम् । यथा

> 'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम् ।
> विदधदीदृशमेव सदा सखे ! सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम्' ॥

मनसा तज्जननेऽपि तथा । तस्मात् प्रथमं शाब्दमेव ज्ञानमिति मन्तव्यम्, अनुभवसिद्धत्वात् । इदानीन्तनानामपि शमादिरहितानां निर्विचिकित्सितवेदार्थज्ञानोपलब्धेः । संन्यासानुपपत्तिश्च ।

भाष्यप्रकाशः ।

घटमानयेत्यत्रापि वाक्यार्थज्ञानं प्रत्यक्षं स्यात् । आत्मन इव घटस्यापि पूर्वमनुभूतत्वात् । चीत्कारेण गजानुमितिरपि न स्यात् । यद्वा, प्रमाणे ज्ञानेऽनुव्यवसीयमानयोः प्रत्यक्षत्वपरोक्षत्वयोर्जातित्व-बाधकसंकरापत्तिः स्यात् । नचेष्टापत्तिः । व्यवहारे भङ्गनयस्यापगच्छतस्तथा वक्तुमयुक्तत्वात् । भारत आजगरेऽपि,

> 'जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते ।
> संकरात् सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः' ॥ इति ।

युधिष्ठिरेण ब्राह्मणत्वजातिबाधकतया संकरस्योपगतत्वाच्च । अतोनेकदूषणग्रासादधि-कारिभेदशब्दापरोक्षयोः कल्पनमेवायुक्तमित्यर्थः । ननु मास्तु शब्दादपरोक्षं, तथाऽपि दशमस्त्वमितिवाक्यसहकृतचक्षुषा दशमोऽहमितिवन्मननमेवानुद्रष्टव्य इति श्रुतेस्तत्त्वमस्यादिवाक्यसहकृतमनसैव विविक्तात्मसाक्षात्कारो भावीत्यधिकारिभेदो नायुक्त इति चेत्तत्राहुः **मनसेत्यादि** । वाक्यसहकृतमनसा यदि सर्वेषां साक्षात्कारस्तदा मननादिविधिवैयर्थ्यम् । यदि कस्यचिद् तदा यस्य न साक्षात्कारस्तस्य वेदान्तार्थनिर्धार एव विचारफलत्वेन वाच्यस्तथा सत्युक्तरीत्या वैराग्यादिसंपादकत्वेन तस्य प्रागेवापेक्षितत्वात् पूर्वोक्तान्योन्याश्रयादिदोषतादवस्थ्यमित्यर्थः । सिद्धमाहुः **तस्मादित्यादि** । **मन्तव्यमिति** सर्वेषां भवतीति **मन्तव्यम्** । अनुभवसिद्धत्वं विशदयन्ति **इदानीमित्यादि** । तथाच पूर्वोक्तं दूषणं दुरुद्धरमित्यर्थः । उक्तदार्ढ्याय दूषणान्तरमाहुः **संन्यासेत्यादि** । 'गृहाद्वा प्रव्रजेद् वनाद्वा प्रव्रजेद्' इतिश्रुतौ तत्तदाश्रमानन्तर्यकथनाद् दृढं वैराग्यं

रश्मिः ।

इत्यपकारिणं प्रति विपरीतलक्षणयोक्तेः । अपकारिणि उपकारित्वरूपेण मुख्यार्थे बाधिते सति विरोधरूपसंबन्धेन अपकारित्वलक्षणेति वाच्यम् । तथा सति पारोक्ष्यापत्त्या प्रतिज्ञाव्याहतेः । **वाक्यार्थज्ञानमिति** वाक्यार्थस्य घटानयनस्य ज्ञानं प्रत्यक्षात्मकं स्यादित्यर्थः । पुरोवर्तिवाक्यार्थस्य ज्ञानं निशामनं भवतीति परोक्षवाचितत्पदेन घटो विशेत इति ज्ञेयम् । **गजानुमितिरिति** । शब्दापरोक्षप्रतीता गजवान् देश इत्यनुमितिरित्यर्थः । किंतु गजप्रत्यक्षं स्यादिति भावः । परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणयोर्धर्मयोरेकत्र समावेशः संकरः इति नैयायिकोक्तं लक्षणमनुसृत्याहुर्यद्वा इति । प्रमीयत इति प्रमाणमिति । भावव्युत्पत्तिमत्त्वमाहुः **प्रमाणे ज्ञान** इति अहं ब्रह्मास्मीति ज्ञाने इत्यर्थः । अनुव्यवसीयेति ब्रह्म अहं जानामीति अनुव्यवसीयमानयोरित्यर्थः । अत्र ज्ञानानुकूलो व्यापार इत्यत्र ज्ञानस्य शाब्दत्वप्रत्यक्षत्वाभ्यां बोधः, न ज्ञानत्वेन प्रकारेण अन्वेषमाणे ज्ञानत्वस्य तत्रैव पर्यवसानात् । **अयुक्तत्वादिति** आकृत्यधिकरणविरोधेन तथात्वादित्यर्थः । यद्वा न भावव्युत्पत्तिः । [illegible]व्युत्पत्तिरेव । तथा च व्यवसायज्ञानस्यानुव्यवसायकारणत्वात् प्रमीयतेऽनेन व्यवसायेन तत् प्रमाणं ज्ञानं ब्रह्म इत्याकारकं तस्मिन् सति अनुव्यवसीयमानयोरनुव्यवसायप्रत्यक्षत्वपरोक्षत्वप्रकारक[illegible] विषयतासंबन्धेन तस्य कर्त्रोः । अत्र धात्वर्थफलमात्रं कृतिमत्त्वं कर्तृत्वं फलानुकूल[illegible]कथा । भाष्ये **इदानीमिति** । 'अलौकिको हि वेदार्थः' इति श्रुत्युक्तमाननवतामिति [illegible] । **निर्विचिकित्सेत्यादि** । विचिकित्सा तु संशयः । प्रकृते । **पूर्वोक्तमिति** अ[illegible]विरोधरूपमित्यर्थः । **तत्तदाश्रमानन्तर्येति** ।

किंच। अध्याहारश्च कर्तव्यः। स च कर्तव्यादिपदानाम्। यदि तत् स्वार्थं, व्यर्थमेव वाक्यं स्यात्। परार्थत्वे त्वशक्यं, न हि तैर्विचारः कर्तुं शक्यते। स्वकृतिवैयर्थ्यं च। असंगतिश्चास्य सूत्रस्य भवेत्।

किंचाधिकारपक्षे पुरुषार्थः सिध्यति, नानन्तर्यपक्षे उक्तन्यायात्।

किंच, तादृशस्याधिकारिणः श्रवणमात्रेण कृतार्थस्य समाधिनिरतस्य प्रवचनासंभवाच्छास्त्रोच्छेदः शास्त्रविरोधश्च। साधनानामग्रे स्वयमेव वक्तव्यत्वात्। अतोऽनेकदोषदुष्टत्वादधिकारार्थ एव श्रेयान्।

भाष्यप्रकाशः।

संन्यासाङ्गमिति ज्ञायते। श्रुत्यन्तरे च 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः' इति वेदान्तार्थनिश्चयोत्तरं संन्यासस्योक्तत्वात् तदङ्गभूतवैराग्यस्य वेदान्तार्थनिश्चयोत्तरत्वमेवायाति। ततः पूर्वभावित्वं च विचारस्येति तत्तदभावे दृढवैराग्याभावात् संन्यासानुपपत्तिः। तथाचानन्तर्यपक्षे तन्निरूपकस्य वक्तुमशक्यत्वात् किमनन्तरमित्याकाङ्क्षायाः कथमपि न पूरणमित्यर्थः।

द्वितीयं दूषणं विवृण्वन्ति किंचेत्यादि। तदिति विचारकरणम्। तथाच स्वयमेव मनसि विचार्यमिति स्वार्थत्वे शास्त्रानर्थक्यमित्यर्थः। अशक्यमिति अशक्योपदेशरूपम्। तथाच फलाऽभावाद् वैयर्थ्यमित्यर्थः। असंगतिरिति परैः कर्तव्यमितिप्रतिज्ञाया अग्रिमसूत्रीयस्वयंकृतिविरुद्धत्वादसंगतिरित्यर्थः।

तृतीयं विवृण्वन्ति किंचाधिकारेत्यादि। उक्तन्यायादिति तदसंभवापत्तेरित्यनेनोक्तान्यायात्। विचारव्यतिरेकेण ब्रह्मणः परमपुरुषार्थत्वज्ञानाद्यभावात् तदभावे चित्तशुद्ध्याद्यभावेन विचाराभावात् तथेत्यर्थः।

चतुर्थं विवृण्वन्ति किंच, तादृशस्येत्यादि। तादृशस्येति साधनचतुष्टयसंपन्नस्य। साधनानामिति वैराग्यादिसाधनानाम्। अग्रे इति, तृतीयाध्याये। तथाचानन्तर्यनिरूपकतया पूर्वसिद्धानां पुनः कथनानर्हत्वात्, कथनेन च पूर्वं तदभावनिश्चयात् सिद्धत्वाङ्गीकारे व्याख्येयशास्त्रविरोध इत्यर्थः। एतेन यन्माध्वैर्जातिकृतं गुणकृतं च ब्रह्मविद्यायामधिकारत्रैविध्यमङ्गीकृत्य तदानन्तर्यमथशब्दार्थो, न त्वध्ययनमात्रानन्तर्यमिति साधनाध्यायानुसारेणाङ्गीक्रियते, तदपि

रश्मिः।

'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्' इति आश्रमक्रमेण संन्यासः। गृहाद्वेति श्रुतौ तु अनियततत्तदाश्रमानन्तर्यकथनेनाश्रमा न संन्यासाङ्गानि अपि तु आश्रमानियमात् 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्' इति श्रुत्यन्तराच्च दृढवैराग्यमित्यर्थः। तदङ्गभूतेति। हेतुगर्भं विशेषणमिदं तेन संन्यासाङ्गभूतत्वादित्यर्थः। एवायातीति। यथा भुक्त्वा पयः पिबतीत्यत्र पयःपानोपयोगिपात्रमपि भोजनोत्तरमेवायाति तद्वदित्यर्थः। तत इति वैराग्यादित्यर्थः। तत्तदभावे इति विचारवेदान्तविज्ञानाद्यभाव इत्यर्थः। द्वितीयमिति। अध्याहारश्चेति भाष्योक्तमित्यर्थः। अशक्येत्यादि। वैराग्याद्यनन्तरं साक्षात्काराभिनिष्पत्तये ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्येति तथाविधित्वं न स्यादिति भावः। तथा च सांख्यप्रवचनसूत्रं 'नाशक्योपदेशविधिरुपदिष्टेप्यनुपदेशः' इति। न च मात्र भूद्विधिरिति वाच्यम्। स्वाध्यायोध्येतव्य इत्यत्र भाट्टैरङ्गीकारेण तत्राप्यावश्यकत्वात्। तृतीयमिति। पुरुषार्थश्च सिध्येदिति भाष्योक्तमित्यर्थः। न्यायादिति अन्योन्याश्रयादित्यर्थः। तमेवाहुर्विचारेत्यादि। चित्तशुद्ध्यादीति। आदि-

न च ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा नाधिकर्तुं शक्येति वाच्यम्। जिज्ञासापदस्य विचारार्थत्वात्।

भाष्यप्रकाशः।

प्रत्युक्तम्, विचारब्रह्मविद्ययोरैक्याभावात्। अतो न तदुपन्यस्तश्रुतिस्मृतीनामपि विरोधः।

एवमथशब्दार्थं निर्णीय जिज्ञासाशब्दार्थं निश्चेतुमधिकारार्थविरुद्धं मतान्तरीयं तदर्थमनूद्य परिहरन्ति न चेत्यादि। ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासेति 'धातोः कर्मणः' इति धातुवाच्यस्यार्थस्येप्सितत्वस्मरणाज्ज्ञानप्रधानेयमिच्छा प्रस्तोतुमशक्येत्यर्थः। विचारार्थत्वादिति जिज्ञासितं सुसंपन्नमपि ते महदद्भुतम्' इति, 'जिज्ञासितमधीतं च यत्तद् ब्रह्म सनातनम्' इति, 'अजिज्ञासितमद्धर्मो गुरुं मुनिमुपाव्रजेत्' इति, 'जिज्ञासायां संप्रवृत्तो नाद्रियेत् कर्मचोदनाम्' इत्यादिषु जिज्ञासितजिज्ञासापदयोरिष्टेच्छावाचकत्वे वाक्यार्थेऽनन्वयेन तत्र विचारार्थकत्वनिश्चयेन तथात्वात्। तथाचैवंविधासवाक्य-

रश्मिः।

पदेन वैराग्यशमदमादिः। चतुर्थमिति। उच्छेदश्च न भवेदिति भाष्योक्तमित्यर्थः। सिद्धत्वेत्यादि। आनन्तर्यनिरूपकत्वाङ्गीकारे साधनाध्यायविरोध इत्यर्थः। जातिकृतमित्यादि। ब्राह्मण्यादिजातित्रयकृतं सेवा(वैराग्या)दिगुणत्रयकृतं चेत्यर्थः। अधिकारश्चोक्तो भागवततन्त्रे।

'मन्दमध्योत्तमत्वेन त्रिविधास्त्वधिकारिणः।
तत्र मन्दा मनुष्येषु य उत्तमगुणा मताः॥
मध्यमा ऋषिगन्धर्वा देवास्तत्रोत्तमा मताः।
इति जातिकृतो भेदस्तथान्यो गुणपूर्वकः॥
भक्तिमान्परमे विष्णौ यस्त्वध्ययनवान्नरः।
अधमः शमादिसंयुक्तो मध्यमः स उदाहृतः॥
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तमसारं चाप्यनित्यकम्।
विज्ञाय जातवैराग्यो विष्णुपादैकसंश्रयः॥
स उत्तमोऽधिकारी स्यात् संन्यस्ताखिलकर्मवान्॥

इति स्मृतयो माध्वभाष्ये। ऐक्याभावादिति। हेतुहेतुमद्भावेन तथात्वादित्यर्थः। तदुपन्यस्तेति। 'शान्तो दान्त उपरतः' इति 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान्' इति 'नास्त्यकृतः कृतेन' इति 'यमेव' इति 'यस्य देवे' इति श्रुतयः। स्मृतयस्तूक्ताः। विरोध इति। ब्रह्मविद्यापरत्वादिति भावः, भागवततन्त्रे विचाराभावात्। मतान्तरीयमिति। शंकराचार्यादिमतीयजिज्ञासापदार्थमनूद्य इत्यर्थः। अथशब्द आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते नाधिकारार्थः ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वादिति। ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा इति च तद्भाष्यम्। अत्र भाष्याशयवर्णकः। जिज्ञासापदं ज्ञानेच्छां वक्ति विचारं लक्षयति वा। नाद्यः। अथशब्दस्यारम्भार्थत्वे ब्रह्मज्ञानेच्छाया अनारभ्यत्वात्सूत्रार्थासंगतिः। प्रत्यधिकरणविचारकरणेनेच्छाकरणाभावादिति। नापरः। कर्तव्यपदाध्याहारं विना अन्वयानुपपत्त्यभावेन विचारलक्षकत्वायोगात्। तदध्याहारे तु अथशब्दवैयर्थ्यम्। तेनैवारम्भोक्तेरिति भाष्याशय इति एतदुभयमालोच्याहुः धातोः कर्मण इति। 'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा' इति सूत्रम्। 'इषिकर्मणः इषिणैककर्तृकाद्धातोः सन्प्रत्ययो वा स्यादिच्छायाम्' इति वृत्तिः। असंदेहाय पुष्कलवाक्यान्याहुः जिज्ञासितमित्यादि। वाक्यार्थ इत्यादि। नारदकृतव्यासाभिनन्दनरूपे भारतादिकरणरूपस्वाभाविकधर्मेपि विशेष-

अत एव जिज्ञासितुमिच्छेदिति पुराविदां वचनानि । जिज्ञासापदेन चैत-ज्ज्ञापयति ब्रह्मज्ञानं पुरुषार्थसाधनत्वादिष्टम् । तदिच्छापूरणाय विचार आरभ्यत इति । यस्मात् कर्मादिभ्यो ज्ञानमेव पुरुषार्थसाधनमित्यतस्तज्ज्ञानाय विचारोऽधि-क्रियत इति

भाष्यप्रकाशः ।

ग्राहि रूढिमनादृत्य वृथा यौगिकादरणमप्रयोजकमित्यर्थः । अत्र शाबरभाष्यसंमतिमाहुः अत एवेत्यादि । ननु विचारे प्रारम्भणीये, अथातो ब्रह्मविचार इत्येव कुतो नोक्तमित्याशङ्कायामाहुः जिज्ञासापदेनेत्यादि । भृगुप्रपाठके, 'अधीहि भगवो ब्रह्म' इतिश्रुतेर्ब्रह्मज्ञानेच्छयोपसन्नाय भृगवे, 'यतो वा इमानि' इति ब्रह्मलक्षणकथनपूर्वकं तद्विजिज्ञासस्वेतिपदेन तदिच्छापूरणाय विचारोपदे-शादि पि तथैव विचार आरभ्यत इति ज्ञापयतीत्यर्थः । नचात्र तपोऽनुपदेशाच्छ्रुतिविरोधः शङ्क्य तपस इदानीमसाधनतायाः प्रागुपपादितत्वात् । नच विचारस्याश्रौतत्वं शङ्क्यम् । लक्षण-यत्तद् योगस्य प्रागुपपादितत्वात् । नच मन्तव्यादिप्रत्यक्षविधिमूलकत्वं परित्यज्य किमिति ज्ञानां याक्षिप्तमङ्गीक्रियत इति वाच्यम् । तथा सति तत्रात्मादिपदात् तावन्मात्रत्वेनैव विचार्य-त्वाप ऽग्रिमसूत्राणां विरोधाद्यापत्तेः । तस्मादेतावदेवात्रार्थत्वेन ग्राह्यमित्येव युक्तम् । एवं जिज्ञा-साश र्थं निश्चित्य सिद्धान्तरीत्या सिद्धं वाक्यार्थं वदन्तोऽतःशब्दार्थमाहुः यस्मादित्यादि । अत्र ान, क्षेमः सुभिक्षोऽयं देशोऽतोहमस्मिन् वसामीत्यादौ स्वोक्तस्य गम्यमानस्य वा वृत्तस्य हेतुभ अतःशब्दप्रयोगदर्शनात् प्रकृते च कर्मज्ञानं पूर्वं वृत्तमिति तस्य हेतुत्वमतःशब्दोऽत्रोपदि-शती हुः । अन्ये तु बृहदारण्यकीयसप्तान्नब्राह्मणस्थायाम्, 'अथाऽतो व्रतमीमांसा' इत्यादिश्रुतौ,

'अथाऽतो गोभिलोक्तानामन्येषां चैव कर्मणाम् ।
अस्पष्टानां विधिं सम्यग् दर्शयिष्ये प्रदीपवद्' ॥ इति ।

ात्ययनादिस्मृतौ चातःशब्दस्य पूर्वावधौ प्रयोगदर्शनादत्राप्यतःशब्देन पूर्वावधिरेवोच्यते ।

रश्मिः ।

रूपे त्येवमादौ वाक्यार्थे इष्टेच्छाया अभिनन्दनाय साधकतयाऽनन्वयेनेत्यर्थः । **यौगिकादरण-मिति** ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा इत्यत्र आकृतेरजहल्लक्षणया फलभूतज्ञानलक्षकत्वम् । प्रत्ययस्य इच्छा यविचारलक्षकत्वं कर्तव्यपदान्वयानुरोधादिति शाकराद्यारटनमित्यर्थः । एवंविध आस-वादा त्रापि प्रयोगो दृश्यते इत्याहुरत्र **शाबरेति** । **तदिच्छापूरणायेति** ब्रह्मज्ञानविष-यिण्य च्छायाः पूरणायेत्यर्थः । शाब्दं चैतज्ज्ञानमिति वेदितव्यम् । **लक्षणवदिति** प्रातिशाख्यसूत्र-वदित । **तथासति तत्रेति** । 'आत्मा वा अरे' इत्युपक्रम्य श्रोतव्यमन्तव्यादिविधावित्यर्थः । अग्रि **सूत्राणामिति** ब्रह्मविचारकाणामग्रिमसूत्राणां विरोधादनुपयोगापत्तेरित्यर्थः । **एतावदेव इति** ब्रविचारमात्रमित्यर्थः । **अत्र केचनेति** रामानुजशंकराचार्यादय इत्यर्थः । **अत इति** तादृश त्वादित्यर्थः । **स्वोक्तस्येत्यादि** । क्षेमदेशसंबन्धिनः सुभिक्षदेशसंबन्धिनश्च सुखिनो वयं जाता भविष्य इत्यादिवत्सुभिक्षदेशस्येत्यर्थः । **कर्मज्ञानमिति** उपलक्षणं चैतत् । अथशब्दार्थस्तु साधन-चतुष्ट पदः । **पूर्वावधाविति** । अथोपासनोत्त्यनन्तरं यतो जिज्ञासाया सन्त्वमत एषां नागा-दीनां घ्ये कस्य कर्म व्रतत्वेन धारयितव्यमिति मीमांसा प्रवर्तत इत्यर्थात्तथात्वादित्यर्थः ।

अतःशब्दार्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

तथाच, अतः—अस्मात्सूत्रादारभ्येत्यर्थमाहुः तत्र पूर्वस्मिन् मते देशदृष्टान्तात्कर्मज्ञानस्य न तेन रूपेण हेतुत्वं, किंतु वृत्तत्वेन वाच्यम्, आनन्तर्यपक्षदूषणादेवापास्तम् । धर्मज्ञानत्वेन हेतुत्वं तु प्रत्यक्षबाधितम् । द्वितीये तु, स्मृतौ कर्मणामस्पष्टत्वेन विशेषितत्वात् तदेवातःशब्देन गोचरी-क्रियते, न तु पूर्वावधिरनुक्तसिद्धत्वात् । एवं श्रुतावपि पूर्वं, त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ता इत्यनेन ब्राह्मणां वाङ्मनःप्राणानां साम्यबोधनद्वारकेन कस्य कर्म व्रतत्वेन धार्यमित्यपेक्षायां यस्य व्रतमुत्कृष्टं तन्निश्चायनार्थं व्रतमीमांसायाः प्रवर्तितत्वेन तदुत्कर्षज्ञापनमेव हेतुत्वेनाभिप्रेयते, न तु पूर्वावधिरिति बोध्यम् । तेन मतद्वयमप्ययुक्तमिति ज्ञापनायोक्तमिति । अतःशब्दार्थ इति तथाच

रश्मिः ।

अस्मादिति कर्मज्ञानाधिकारादित्यर्थः । धर्मज्ञानस्येति । यद्यपि कर्मज्ञानमुक्तं पूर्वं 'देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे' इति यजुःसंहिताश्रुतेः, तथापि 'धर्मं चर' इति शिक्षाश्रुतेः धर्मज्ञानं पूर्वमित्याशयेनोक्तमत एव 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इत्युक्तम् । 'कर्मैके तत्र दर्शनात्' इति सूत्रं त्वग्रे । **न तेन रूपेणेति** दृष्टान्ते देशत्वरूपेण हेतुत्वाभावादत्रापि न कर्मज्ञानत्वरूपेण हेतुत्वं किंतु क्षेम-त्वेन सुभिक्षत्वेन च तद्वदत्रापि पूर्ववृत्तत्वेन वाच्यमित्यर्थः । **आनन्तर्यपक्षदूषणादेवेति** । अथातः साङ्गशिरसो वेदस्याधिगताल्पास्थिरफलके अल्पकर्मज्ञानतया संज्ञता मोक्षाभिलाषस्यानल्पस्थिर-फलब्रह्मजिज्ञासास्यनन्तरभाविनीति तथात्वादित्यर्थः । तथा यदुक्तं 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्य-याजिनः सुकृतं भवति' इति धर्मस्यापि नित्यफलमवगच्छतो विवेकाद्यसंभवादानन्तर्यसंभावनां ब्रूते **अतःशब्द इति** । तथा चोक्तश्रुतिः 'यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते' इति श्रुतिबोधितेति । अतो विवेकादिसंभवादित्यर्थः । तस्यापि तथात्वादिति **प्रत्य-क्षबाधितमिति** । धर्मजिज्ञासाया प्रागपि अधीतवेदस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेस्तथेत्यर्थः । कर्मत्वं तु क्रियासाधारणधर्मत्वं च चोदनालक्षणोऽर्थ इति विभेदः । सूचीकटाहन्यायेनाहुः **द्विती-ये तु । स्मृताविति । तदेवेति** अस्पष्टत्वमेवेत्यर्थः । अन्यथा विशेषणवैयर्थ्यापत्तिरिति भावः । **ते एत इति** वाङ्मनःप्राणा इत्यर्थः । **कर्म** व्रतत्वेनेति व्यापारो व्रतत्वेनेति निश्चयविषयत्वेनेत्यर्थः । **इत्यपेक्षायामिति** । एतदग्रे **यस्य** व्रतमुत्कृष्टं तन्निश्चायनार्थमित्यपि दृश्यते । **तदुत्कर्षेति यस्य** व्रतमुत्कृष्टं तदुत्कर्षज्ञापनमित्यर्थः । **तथा अत** इत्यस्योत्कर्षज्ञापकत्वादित्यर्थः । उत्कृष्टश्च प्राणः 'यतश्चोदेति सूर्यः अस्तं यत्र च गच्छति' इति, 'प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति' इति श्रुतेः । भाष्ये **ज्ञानमेवेति** । सर्वात्मभावाख्यः सर्वत्र विगाढभावहेतुकब्रह्मानुभवादिकार्यकः प्रियत्वानुभव इत्यर्थः । **अयमेव स्नेहः** । एतच्च 'अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद् दृष्टश्च तदुक्तम्' इति सूत्र-विचारे साधनाध्याये स्पष्टयितव्यम् । अधिक्रियत इति । अधिकार उत्तरत्रानुवृत्तिः । अत एव 'उत्कमिष्यत' इति सूत्रभाष्यलिङ्गितानुवृत्त इति । ननु तथाप्येवं सति भाष्ये एवं स्फुटमुक्तं स्यात्, नैवम् । जिज्ञासापदज्ञापितस्य भगवदाश्रयगोचरस्य ज्ञानस्यैतादृशस्योल्लेखात् । 'पुरु-षार्थोऽतःशब्दात् इति बादरायणः' इति सूत्रात् । अतः सर्वात्मभावात् । नच प्राणो वै बलमिति चेदत्र ब्रवीमि । स्मृतित्वानङ्गीकारात्, न च श्रुतिविरोधस्तदङ्गत्वात् । न च प्रमाणाभावः 'भक्त्या

भाष्यप्रकाशः ।

धर्मो यशःप्रदः सुखदश्चातः **करोमीत्यादाविष्टेऽप्यतःपदप्रयोगदर्शनादयमेवार्थो न त्वन्यविध** इत्यर्थः । **नन्वस्य प्रथमसूत्रत्वादत्र प्रेक्षावत्प्रवृत्तिसिद्ध्यर्थमधिकारिविषयसंबन्धप्रयोजनानि**

रश्मिः ।

संजानया भक्त्या' इति वाक्यानुभवात् । न च प्रमाणाभावः 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' इति श्रुतिलाभात् । **बलं भक्तिरिति** भाष्यम् । न च प्राणो वै बलमिति शक्यम्, अप्रकरणित्वात् । न च ज्ञानं तत्, 'ब्रह्मविदाप्नोति' इति श्रुतेः । मैवम् । 'भक्तिरहस्यभजनं तदिहामुत्र फलभोगनैराश्येनामुष्मिन्मनःकल्पनम्' इति उद्देश्यविधेयभावात् । ज्ञानत्वेन सर्वात्मभावमुद्दिश्य ज्ञानंतु गीतायां विहितमिति । किं च 'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः' इति स्मृतिर्वेदविरोधाभावात्स्वमूलं श्रुतिं ज्ञापयिष्यति । ननु 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' 'तमेव विदित्वा' इत्यादिप्रत्यक्षश्रुतिविरोधात् न ज्ञापयिष्यति । एतद्भक्तौ निवेशयिष्यामहे, रसत्वात्तु तस्याः । वैपरीत्यमिति चेन्नेति ब्रवीमि, अरसत्वात्तस्य । ऐक्यमिति चेन्नेति ब्रवीमि, 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इति भेदात् । आनन्दादुच्यते, नैष दोषः । 'रसँ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' इत्यैक्यं श्रूयते । अपि च 'तस्य प्रियमेव शिरः' इति श्रूयते । एवं तर्ह्युपासेत्युच्यते । नेति ब्रवीमि 'सर्वेषां मदुपासनम्' इति प्रक्रम्य 'भक्तिं विन्दते' इति अरसत्वाच्चेति । तदानीं वैपरीत्यं प्रवक्ष्यामहे । अरसत्वात्तस्या नेति ब्रवीमि । प्रज्ञेति चेन्न, स्मरणात्मकत्वेन तन्निवर्त्यत्वात् । श्रद्धेति चेन्न, साधारण्यात् । शाण्डिल्यसूत्रार्थस्तत्र स्पष्टः । अतो भक्तिरेव साधनमिति प्रतिज्ञायते यत्सुसंसिद्धम् । द्वेषादीनामप्येतर्हि तत्संश्लिष्टानां तदिति च । तत्संश्लिष्टानां मनःकल्पनरूपभक्तिसंश्लिष्टानाम् । प्रमेयबलं चैतत् । आनन्त्याधिपत्यात् 'यस्य देवे परा भक्तिः' इति साक्षाच्छ्रुतिं चोत्पश्यामः । न च 'योगास्त्रयः' इति वाक्यविसंवादः । अहीनन्याये एतदुक्तं बहुकर्तृके सत्रे यजमानेषु यः कोऽपि शुक्रग्रहं स्पृशतु विशेषस्यावधारयितुमशक्यत्वादिति । न चात्र द्वादशचतुर्थपादीयाहीनन्यायेनाचार्यप्रवृत्तिरिति संभावयामः । स्मृतेर्निर्णीयेत इति 'प्रेम्णोऽन्यत्साधनं लोके नास्ति' इति **सर्वनिर्णयाच्च** । गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्यय इति न्यायेन वाक्ये भक्तिर्मुख्या गृह्यते । ज्ञानं वा मुख्यं चतुःश्लोकीप्रोक्तं गृह्यते, भगवानेवाग्रे मध्ये पश्चाच्चेत्याकारकं, तयोरपि मार्गत्वात् । **सर्वात्मभावो मुख्यभक्तिः** । भजनानन्दः फलम् । श्रवणादिर्भक्तिमार्गो **ज्ञानमार्गश्च** तदपेक्षया गौणः । **विशेषस्मृतिहेतुभिः** संयोगविप्रयोगसाहचर्यादिभिः काव्यप्रकाशोक्तैर्वाच्योर्थः । तत्त्वज्ञानं तु भक्तिफलं, 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' इति वाक्योक्तम् । एवं सति दृष्टानुवादः सुष्ठु संगच्छते इत्यलम् । अथवा दृष्ट एव स्नेह इत्युपपत्तेर्ज्ञानमेव भक्तिसाधकम् । अतस्तज्ज्ञानाय **इत्यर्थः** । तच्च शाब्दं माहात्म्यविषयकमैक्यविषयकं च ज्ञानमिति ज्ञेयम् । व्यापारीभूतभक्तिसाधकमित्यर्थः । यद्वा कर्मादिभ्य इति वेदपञ्चरात्रसांख्ययोगपाशुपतमतरूपपञ्चशास्त्रोक्तेभ्यः कर्मादिभ्यः । ज्ञानं त्रिविधम् । तथाहि । 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' इति श्रुत्युक्तं सर्वात्मभावरूपम् । 'भक्त्या जानाति चाव्ययम्' इति श्रुत्युक्तम्, 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति श्रुत्युक्तं च । 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यत्र भक्तेर्व्यापारत्वं ज्ञानस्य व्यापारित्वमत **एवकारः** । प्रकृते । **प्रेक्षावदिति** सूक्ष्मदृष्टिमत्प्रवृत्तिसिद्ध्यर्थमित्यर्थः ।

१. भावना । २. इदस्य सर्वनिर्णयवाक्यस्यानुवादः । ३. इत उपलभ्यते रश्मिकाराणां हस्ताक्षर लिखितो ग्रन्थः । ४. पण्डित ।

अधिकारी तु त्रैवर्णिक एव । न हि वेदविचारस्य वेदाधिकार्यतिरिक्तः शक्यते कल्पयितुम् । न हि मन्दमतेर्वेदो नायातीति त्रैवर्णिके मतिमत्त्वमधिकारिविशेषणं कल्प्यते । अन्धपङ्ग्वादीनामिव कर्मणि, गृहाद्यासक्तस्य मननाद्यसंभवात् साक्षात्कारो न भविष्यति ।

नच धर्मन्यायेन गतार्थत्वमस्य । अप्रतिज्ञानादनुपलब्धेश्च । न च जगत्कारणं परमात्मा वा प्रकृतिर्वा परमाणवो वेति संदेहे किंचिदधिकरणमस्ति ।

भाष्यप्रकाशः ।

वाच्यानि । तत्रानन्तर्यपक्षे विचारितधर्मो वा शमादिमान् वाधिकारी प्राप्यते । अधिकारपक्षे तु तदप्राप्त्या शास्त्रस्यानर्थक्यप्रसङ्गः, सर्वाधिकारकत्वं वा स्यादित्याशङ्कायामाहुः **अधिकारी त्वित्यादि** । तथाच ब्रह्मणो वेदार्थत्वात् तद्विचारेऽधिकृते ब्रह्मजिज्ञासापदादेव तत्प्राप्तेर्न पूर्वोक्तो दोष इत्यर्थः । नन्वेवं त्रैवर्णिकाधिकारोपगमे तेषां सर्वेषामधिकारप्राप्त्या, शान्तो दान्त इति श्रुतिविरोधात् तत्संकोच आवश्यक इति शमाद्यानन्तर्यपक्ष एव श्रेयानित्यत आहुः **नहि मन्देत्यादि** । तथाच तत्र यथा मतिमत्त्वस्यार्थात् प्राप्तिस्तथात्राप्युपयुक्तस्य विशेषणस्य प्राप्तिरिति संकोचस्यानावश्यकत्वादधिकारो न दुष्यतीत्यर्थः । ननु यद्येवं स्याच्छ्रुतिः किमिति वदेदित्याकाङ्क्षायामाहुः **अन्धेत्यादि** । तथाच तेषां यथाज्यावेक्षणविष्णुक्रमक्रमणादिकरणाशक्त्या तत्कृतकर्मणो व्यङ्गत्वात् फलाजनकत्वं, तथैतदीयशाब्दज्ञानस्यापि व्यङ्गत्वात् साक्षात्काराजनकत्वमिति बोधयितुं फलोपकाराय वदति, आत्मन्येवात्मानं पश्येदिति । अतो विचारे स्वरूपोपकारार्थं शमाद्यनङ्गीकारेऽपि न श्रुतिविरोध इत्यर्थः । ननु यदि त्रैवर्णिकाधिकारेणार्थादध्ययनानन्तर्यसिद्ध्या तदर्थं वेदार्थभूतब्रह्मविचारः प्रतिज्ञात इत्यायाति तदा शास्त्रवैयर्थ्यापत्तिः । धर्मजिज्ञासेत्यत्र धर्मशब्दस्य वेदार्थमात्रोपलक्षकतया पूर्वतन्त्रन्यायेनैव वेदार्थज्ञानसिद्धेरित्यत आहुः **नचेत्यादि** । **धर्मन्यायेनेति** पूर्वमीमांसया । **अप्रतिज्ञानादिति** जैमिनिना ब्रह्मविचारस्याप्रतिज्ञानात् । **अनुपलब्धेरित्यस्यैव** विवरणम्, **न च जगदित्यादि** ।

रश्मिः ।

प्राप्यत इति यथायथं रामानुजशंकराचार्यमते प्राप्यत इत्यर्थः । **तत्प्राप्तेरिति** त्रैवर्णिकाधिकारप्राप्तेर्गीतोक्तजिज्ञासुप्राप्तेश्चेत्यर्थः । अधिकारो नाम ब्रह्मानन्दज्ञातृत्वम् । 'मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः' इति श्रोतुर्विशेषणान्मतिमत्त्वम् । **'शान्तो दान्तः'** इति श्रुत्युक्तमित्यादिशब्दः तृतीयाध्याये विचारयिष्यते । तत्संकोच इति त्रैवर्णिकानामधिकारविशेषसंकोच इत्यर्थः । **तथा च तत्रेति** पूर्वतन्त्र इत्यर्थः । अर्थादिति ज्ञानिनो विधेयत्वेन भक्तस्य स्वतःसिद्धत्वेन शमादय इति तत्रैवोक्तम् । एवं चाक्षेपादित्यर्थः । एवं **स्यादिति** अनावश्यकत्वं स्यादित्यर्थः । **तेषां यथाज्येत्यादि** । इदं पूर्वतन्त्रे षष्ठे 'फलार्थत्वात्तु कर्मणः शास्त्रं सर्वाधिकारं स्यात्' इत्यधिकरणे चिन्तितम् । व्यङ्गत्वादिति भावनाद्यसंभवाद्व्यङ्गत्वाद् 'अनियमः सर्वासाम्' इत्यधिकरणे महन्माहात्म्यवत्यां भक्तेरन्वङ्गं साधनत्वोक्तेः साक्षात्कारो न भविष्यतीत्यर्थः । **न श्रुतिविरोध इत्यर्थ** इति दर्शनविधिशेषत्वात्तस्या इत्यर्थः । तथा च शमादिसहकृतमननादित्वेनात्मसाक्षात्कारत्वेन कार्यकारणभावः । विचारत्वेन शाब्दत्वेन च कार्यकारणभाव इति भावः । ननु मुख्यफलाभावे व्यर्थो विचार इत्याशङ्का तु अग्रे फलकामनाया अनुपयोगादिति भाष्य-

१. भ० सू० २०

स्यादेतत् । अथातो धर्मजिज्ञासेति धर्मविचारं प्रतिज्ञाय नोदकवाक्यार्थस्य धर्मत्वमुक्त्वा प्रामाण्यपुरःसरं सर्वे संदेहा निवारिताः । तत्र ब्रह्मज्ञानस्यापि धर्मत्वम् 'आत्मेत्येवोपासीत' 'आत्मानं लोकमुपासीत' 'तद् ब्रह्मेत्युपासीत' 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादिनोदनावाक्यार्थत्वात् । 'अयं हि परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्' इति स्मृतेश्च । सृष्ट्यादिवाक्यानां स्वर्थवादत्वम् । आरोपाप-

भाष्यप्रकाशः ।

एवमानन्तर्यपक्षे निरस्ते पूर्वमीमांसकोऽस्यास्त्रैवर्णिकाधिकारकत्वं सर्ववेदार्थज्ञानार्थत्वं च श्रुत्वा प्रत्यवतिष्ठते स्यादेतदित्यादि । यदि त्रैवर्णिक एवाधीतवेदोऽधिकारी, यदि च सर्ववेदार्थ एव ज्ञातुमिष्टस्तदा वक्ष्यमाणमेवाङ्गीकार्यमित्यर्थः । प्रामाण्यपुरःसरमिति औत्पत्तिकसूत्रे शब्दस्यान्यानपेक्षप्रामाण्यव्यवस्थापनपूर्वकम् । सर्वे इति शब्दस्वरूपविषयकास्तदर्थविषयकाश्च । ननूक्तं, जगत्कारणविचारो न कृत इति तन्निश्चायनार्थत्वाच्च गतार्थत्वमिति तत्राह सृष्ट्यादीत्यादि । तथाच पूर्वमीमांसकानां मते प्रवाहनित्यतोपगमेन जगतः स्वातन्त्र्यात् कर्तुरभावेनोपासना-

रश्मिः ।

विवरणे स्वयमेवापाकरिष्यते । गतार्थत्वं निषिध्य बोधायनवृत्त्या परस्परानुपयोगं निषेधतीत्याशयेन भाष्यमवतारयामासुरेवमिति । निरस्त इति धर्मन्यायेन गतार्थत्वे निरस्ते इत्यर्थः । मीमांसक आधुनिको ज्ञेयः । सर्ववेदेति जिज्ञासासूत्रे ब्रह्मशब्दादिति भावः । प्रत्यवतिष्ठत इति ब्रह्मजिज्ञासेत्यत्र वेदवाचकब्रह्मशब्दप्रयोगात् प्रत्यवतिष्ठते । तदुक्तं बोधायनवृत्तौ 'संहतमेतच्छास्त्रं जैमिनीयेन षोडशलक्षणेन' इति । अत्रार्थविचारेण ब्रह्मशब्दो वेदान्तपरो नतु वेदपर इति फलिष्यति । अतो वेदान्तानां विचार आरम्भणीयो न वा इति भाष्यस्य दुर्बोधत्वं न । वेदान्तशब्दं विहाय ब्रह्मशब्दस्तु सर्ववेदसूचकः । तेन 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' इत्यादौ नाप्रतिज्ञातार्थत्वम् । 'समवप्रविभ्यः स्थः' इति सूत्रेणात्मनेपदम् । यदि च असंहतेभ्य एव परस्य स्थ आत्मनेपदं तदा तु 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' इत्यनेनात्मनेपदम् । आशयं प्रकाशयतीत्यर्थः । पूर्वपक्षिणा पूर्वमाक्षिप्तमीमांसाद्वयस्य परस्परमङ्गाङ्गीभावं सिद्धान्ते प्रकाशयितुं 'संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः' इत्यत्र स्थेयाख्ये, कर्णादीन् निर्णेतृत्वेनाश्रयतीत्यर्थात् । औत्पत्तिकसूत्र इति । 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्' इति सूत्रे शब्दस्यार्थेन समं संबन्धः औत्पत्तिको नित्यः । तस्य प्रत्यक्षादिभिरनवगतस्याग्निहोत्रादिलक्षणस्य धर्मस्य निमित्तम् । कथं उपदेशो हि भवति, विशिष्टस्य शब्दस्योच्चारणमुपदेशः । अव्यतिरेको ज्ञानस्य । नहि तदुत्पन्नं ज्ञानं विपर्येति यत्र नाम ज्ञानं न विपर्येति न तच्छक्यते वक्तुम् । नैतदेवमिति तस्मात्तत्प्रमाणापेक्षत्वात् नह्येवं सति प्रत्ययान्तरमपेक्षितव्यं पुरुषान्तरं वा स्वयं प्रत्ययो ह्यसौ शुक्तिका रजतवत्प्रकाशते यतस्तेन हि प्रत्यक्षं व्यभिचरति तन्मूलत्वादनुमानादीन्यपि । तत्रापरीक्ष्य प्रवर्तमानोऽर्थाद्विहन्येत । अनर्थं च प्राप्नुयात् कदाचिन्नैतदेवं यत्प्रत्यक्षं तत्र व्यभिचरति यद्व्यभिचरति तन्न प्रत्यक्षमिति । बादरायणग्रहणं बादरायणस्येदं मतं कीर्त्यते । बादरायणं पूजयितुं नास्मीयं मतं पर्युदसितुमित्यर्थाच्छब्दस्यान्यानपेक्षेत्यादि । शब्दस्वरूपविषयका इति । 'कर्मैके तत्र दर्शनात्' इत्यधिकरणे शब्दस्य नित्यताव्यवस्थापनाद्येत्यर्थः । तत्र शब्दे प्रयत्नानन्तर्यदर्शनात्कर्म क्रिया तत्साध्यत इत्यर्थः । अनित्यतेति यावत् । इत्येके वदन्तीति सूत्रार्थः । तदर्थविषयका इति । आकृत्यधिकरणे आकृतिवाचकत्वव्यव-

वादविषयधर्मप्रतिपादकत्वेन विधेयोपासनाविषयस्तावकत्वात् ।

नच ज्ञानादीनामविधेयत्वं प्रमाणवस्तुपरतन्त्रत्वेनाकृतिसाध्यत्वादिति वाच्यम् । न हि सर्वात्मना असाध्यम् । प्रकारभेदस्त्वप्रयोजकः । सर्वस्यापि कारणेषु पुरुषव्यापृतिः । तदत्र धृतिसंपादने प्रमाणासंपादने वा पुरुषकृतिसाध्यत्वम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

विषयस्यात्मनः प्रशंसार्थं क्वचित् कर्तृत्वमारोप्यते, अन्यत्र च तदपोद्यते । क्वचित् सर्वकामत्वादिकं प्रतिपाद्यते, अन्यत्रापोद्यते । यदि तद्वाक्यं स्वात्मापोद्येतेति तर्केणारोपापवादविषयो यः कर्तृत्वादिधर्मस्तत्प्रतिपादकत्वेन तेषां विधेयस्तावकत्वनिश्चयात् । सिद्धेऽर्थवादत्वे तेषां स्वार्थे तात्पर्याभावेन ब्रह्मणि विरुद्धधर्माधारत्वादिकल्पनस्याप्रयोजकत्वात् । तदर्थत्वेऽपि गतार्थत्वमित्यर्थः । ननूपासनावाक्यशेषाणामस्त्वर्थवादत्वं, न तु ज्ञानवाक्यशेषाणामपि । ज्ञानस्य प्रमाणवस्तुभ्यां जायमानत्वेन तदर्थं कृत्यपेक्षाभावेन तस्य विध्यर्थत्वाभावात्, कृतिसाध्यत्वस्यैव विध्यर्थत्वात् । नच तव्यविरोधः आवश्यकार्थेऽपि जायमानत्वात् । अतस्तच्छेषाणां स्तावकत्वाभावेन तद्विचारस्यावश्यकत्वान्नास्य गतार्थत्वमिति । शमाद्यानन्तर्यवादिनः शङ्कायामाह नचेत्यादि । आदिपदेनेच्छाप्रयत्नौ । तेन 'तदन्वेष्टव्यम्', 'तद्विजिज्ञासितव्यम्', 'मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यादीनां संग्रहः । तद् दूषयति नहीत्यादि । सन्निकर्षादिजनककृत्यपेक्षायास्तत्रापि सत्त्वात् तथेत्यर्थः । ननु तथापि कर्मवत् साक्षात्कृतिसाध्यत्वाभावात् कथं ज्ञानादीनां विधेयत्वमित्यत आह प्रकारेत्यादि । ज्ञानादेरविधेयत्वसाधनायैवं प्रकारभेदो यः कल्प्यते सत्वविधेयताप्रयोजको न भवति । यतो धर्मस्यापूर्वात्मकत्वेन तस्य सर्वस्यापि कारणीभूते क्रियाकलाप एव यत्नात्मा पुरुषव्यापारो दृश्यते, न तु साक्षात् । तत्तस्मादत्र ज्ञानादौ धृतिसंपादने बुद्धिजन्यायाः पदार्थान्तररूपाया बुद्ध्यवस्थाविशेष-

रश्मिः ।

स्थापनात्तथेत्यर्थः । अयं हीति निश्चयेन । परो भीयते ज्ञायते येन तादृशो धर्मः स कः यद्योगः स च कर्मसु कौशलं ब्रह्मसेवारूपं भगवता स्वैश्वर्यस्य निर्विषयत्वपरिजिहीर्षया जीवाय दत्तं तेनात्मदर्शनं ब्रह्मबोधनमिति योजना, इदमवान्तरफलं मुख्यमन्यदिति, सिद्धान्तमुक्तावल्यां स्फुटम् । क्वचिदिति 'यतो वा इमानि' इत्यादावित्यर्थः । आरोप्यत इति अध्यस्यत इत्यर्थः । अन्यत्रेति निष्कलं निष्क्रियमित्यादावित्यर्थः । क्वचिदिति सर्वकाम इत्यादावित्यर्थः । अन्यत्रेति अकाम इत्यादावित्यर्थः । विधेयस्तावकत्वेत्यादि विधेया योपासना तद्विषयीभूतात्मस्तावकत्वनिश्चयादित्यर्थः । ननु न प्रतीतं निषेधामत आह तदर्थत्वेऽपीति । विरुद्धधर्माधारत्वार्थत्वेऽपि, अर्थवादत्वेन गतार्थत्वमित्यर्थः । ज्ञानवाक्यशेषाणामिति । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्याद्युक्तानां ज्ञानानां वाक्यशेषा 'मैत्रेय्यात्मनो वा दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेन इदं सर्वं विदितम्' इत्याद्यास्तेषामित्यर्थः । प्रमाणवस्तुभ्यामिति इन्द्रियविषयाभ्यामित्यर्थः । शङ्कायामाहेति श्रद्धायां प्राप्तायां न चेत्यादिनिषेधमाहेत्यर्थः । तथेति सर्वात्मना असाध्यत्वाभावनिश्चय इत्यर्थः । तदित्यव्ययमित्याशयेनाहुः तत्तस्मादिति । धृतिसंपादनेति पूर्वोक्तभाष्यं व्याकुर्वन्ति बुद्धिजन्याया इति । पदार्थान्तरेत्यादि । व्याख्यातमेतत् । सांख्यैराहंकारिके तत्त्वान्तररूपत्वमङ्गीक्रियते इति पदार्थान्तररूपायाः । तृतीयसुबोधिन्यनुसारेणाहुः बुद्ध्यवस्थेति ।

अन्यथा सिद्धान्तेऽपि मननादिशास्त्रवैफल्यापत्तेः। साधनप्रतिपादकश्रुतिविरोधश्च। येनापि सर्वक्रियाफलत्वं निराकार्यं तेनापि गुरूपसत्त्यादिना यतितव्यमेव ज्ञानार्थे। तस्माद् यत्रापि विध्यश्रवणं, तत्रापि विधिं परिकल्प्य तत्रत्यानां तच्छेषत्वं कल्प्यमिति, नार्थोऽनया मीमांसया। अन्यथा विरोधोऽपि।

स्यादेतत्। ब्रह्मविचार एवारम्भणीयो, न धर्मविचारः। सर्ववेदव्यासकर्त्रा वेदव्यासेनाकृतत्वात् तुच्छफलत्वाच्च। कल्पोक्तप्रकारेण निःसन्दिग्धं करण-

भाष्यप्रकाशः।

रूपाया वा तस्या उत्पादने प्रमाणसंपादने वा, 'आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्' इति, 'अतो निर्विषयं नित्यं मनः कार्यं मुमुक्षुणा' इत्यादिश्रुतेस्तादृशचक्षुरादिसंपादने वा तथात्वमिति, न ज्ञानादेरविधेयत्वमिति तव्योऽपि विधावेवेत्यर्थः। अविधेयत्वोपगमे दूषणमप्याह अन्यथेत्यादि। साधनप्रतिपादकश्रुतयस्तु, 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व,' 'वसाऽपराणि पञ्च वर्षाणि,' 'शान्तो दान्तः' इत्याद्याः। तत्रत्यानामिति वाक्यानां ब्रह्मादिपदानां चेत्यर्थः। अन्यथेत्यादि विध्यकल्पने ऐक्यार्थ्याभावेन वाक्यभेदापत्तावैकशाख्यविरोधः। अपिशब्दात् कर्मप्रतिपादनतन्निन्दनकृतो विरोधो वेदोऽखिलो धर्ममूलमित्यादिस्मृतिविरोधश्च संगृह्यते। अत्रैकदेशी वितण्डया प्रत्याह स्यादेतद्ब्रह्मेत्यादि। सर्ववेदेत्यादि। तथाच जैमिनिस्तच्छिष्यः सामगो, न सर्वज्ञ इति तदुक्तं न प्रमाण-

रश्मिः।

तस्या इति वृत्तेर्नयनान्तरभूतायाः। नैयायिकास्तु नयनकिरणानां निर्गतेन न विषयसंनिकर्षाज्ज्ञानं तेन यावता संस्काराख्यं गुणान्तरं चरमस्मृतिनाश्यमात्मन्यङ्गीकुर्वन्तो वृत्तिपदार्थमेव नेच्छन्ति। प्रमाणसंपादनेति भाष्यमिदं अग्रे व्याख्यातम्। तथात्वमिति परंपरया कृत्यसाध्यत्वम्। भाष्ये अन्यथेत्यादि परंपरयापि कृतिसाध्यत्वाभावे। द्रष्टव्य इति उपक्रम्य पठितस्य युक्तिभिरनुचिन्तनरूपमननादिशास्त्रस्य वैफल्यापत्तेरित्यर्थः। श्रवेणेनैव दर्शनाङ्गीकाराद्विरोध इति प्रोक्तम्। स्वयमर्थवादत्वस्य विधिवाक्यातिरिक्तेऽङ्गीकारादपिपदम्। येनापि सर्वक्रियाफलत्वमिति। शब्दमात्रेण साक्षात्कारमङ्गीकुर्वतापि वैयाकरणेनापीति वा सर्वविधिव्यापारसाध्यत्वमित्यर्थः। यतितव्यमिति तथा चानिच्छतापि अनुभवबलात्परंपरया कृतिसाध्यत्वं स्वीकार्यमिति भावः। अन्यथासिद्धत्वं तु नैयायिकमते न तु मीमांसकमते 'इमामगृभ्णन्रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते'। यत्रापीति। 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः' इत्यत्र विधिश्रवणेपि यत्र मैत्रेयीब्राह्मणे 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादौ तत्रापि तव्यादिं विधावङ्गीकृत्य 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति' इत्यादीनामर्थवादत्वम्। आत्मा यत्र प्रियः किमुत वाच्यमात्मनोऽपि आत्मा प्रिय इति प्रियत्वाच्छीघ्रफलदाता स श्रोतव्य इत्येवं तत्रत्यानां तच्छेषत्वं विधिशेषत्वं कल्प्यमित्यर्थः। प्रकृते, ऐकार्थ्याभावेनेति। उभयोर्मीमांसयोरित्यर्थः। तथा चायं मीमांसकत्वोक्तिं न संगच्छतीत्यर्थः। संहतमेतच्छारीरकं जैमिनीयेन षोडशलक्षणेनेति बोधायनसूत्रात्। तन्निन्दनेति कर्मविच्छेदकस्य निन्दनं दुर्ब्राह्मणत्वादिरूपं तत्कृत इत्यर्थः। अत्र तत्पदं कर्मपरामर्शिविच्छेदकं लक्षयति। अत्र वितण्डयेति वादभेदेन स्वपक्षदोषमनुद्धृत्य परपक्षदोषदानरूपेण प्रतिकूलमाहेत्यर्थः। सामग इति 'सामगो जैमिनिः कविः' इति वाक्यादि-

संभवाच्च। आचारपरंपरयापि करणसम्भवाच्च। एतर्ह्यपि संदेहे सूत्रभाष्ययाज्ञिकानामेवानुवृत्तिः क्रियते, न मीमांसकस्य। तस्मात् साङ्गवेदाध्येतुर्निःसंदेहकरणसंभवान्न पूर्वयाऽपि कृत्यम्।

किंच परमकृपालुर्वेदः संसारिणः संसारान्मोचयितुं कर्माणि चित्तशुद्ध्यर्थं बोधितवानिति कूपेऽन्धपातनवदप्रामाणिकत्वभियावसीयते। विपरीतबोधिका तु पूर्वमीमांसा तस्मादपि न कर्तव्येति।

मैवम्। किं विचारमात्रं न कर्तव्यं, पूर्वकाण्डविचारो वा। नाद्यः। तुल्यत्वात् समर्थितत्वाच्च।

द्वितीये सामान्यन्यायेन संदेहे निवार्ये लक्षणवत्तदुपयोगः। अनिष्टतया निरूपणं न मीमांसादोषः। किंतु विचारकाणां स्वभावभेदात्।

भाष्यप्रकाशः।

मित्यर्थः। उपासनायामप्यनुपयोगमाह आचारेत्यादि। सूत्रभाष्येति कल्पसूत्रभाष्येत्यर्थः। पूर्वयापीत्यत्रापिशब्दः पूर्वपक्षिगर्हार्थः। शेषमतिरोहितार्थम्।

एवं केवलवैदिकरीत्या विचारे आक्षिप्ते पूर्ववादी समाधत्ते मैवमित्यादि। पूर्वयापि न कृत्यमिति न वक्तव्यम्। कुत इत्याकाङ्क्षायामपिशब्दस्य समुच्चायकत्वं मन्वानः पक्षद्वयं विकल्प्य प्रथममुभयनिषेधाभावे हेतू आह तुल्यत्वादिति। 'यत्रोभयोः समो दोषः' इति न्यायेन परिहारसाम्यात् तवापीष्टसिद्धेरभावेन दूषणसाम्याद्वा, अप्रतिज्ञानादित्यादिभिस्त्वया समर्थितत्वाच्चेत्यर्थः। सामान्यन्यायेन संदेह इति 'अक्ताः शर्करा उपदधाति,' 'निर्मन्थ्येनेष्टकाः पचन्ति' इत्यादौ घृततैलवसानां चिरनिर्मथिताऽचिरनिर्मथितप्रभृतीनां चाञ्जनपाककरणयोग्यतादेः सामान्येन जाते संदेहे। ननु तुच्छफलत्वान्नोपयोग इत्युक्तं तत्राह अनिष्टतयेत्यादि। स्वभावभेदादिति

रश्मिः।

त्यर्थः। अनुपयोगमिति चतुर्लक्षण्या अनुपयोगमित्यर्थः। पूर्वपक्षीति उभयोः करणाक्षेपाद्यार्थ्यसंदेहयोरभावानिवृत्तिभ्यां तथेत्यर्थः। भाष्ये कूपेऽन्धपातनवदिति। कूपेन्धपातनवद्विषयेषु विषयिपातनादप्रामाणिकत्वं तत्संबन्धिनी भीस्तया परमकृपालुरित्याद्यवसीयते इत्यर्थः। प्रकृते। केवलवैदिकेति श्रुत्वा केवलवैदिकरीत्या। केवलवैदिकस्य रीतिः पूर्वमङ्गीकृता इति। अपिशब्दस्य न पूर्वयापि कृत्यमित्युक्तं तत्रत्यापिशब्दस्येत्यर्थः। यत्रोभयोरिति।

'यत्रोभयोः समो दोषः परिहारश्च तत्समः।
नैकः पर्यनुयोज्यः स्यात्तादृगर्थविचारणे॥'

इति न्यायेनेत्यर्थः। तथा च तव पूर्ववादिनोपि विचाराकर्तव्यतापत्तिः 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इति श्रुतिविरोधादिति तु नोक्तम्। पुनः पूर्वोक्तयोरुभयत्र मण्डनखण्डनयोः प्राप्तेः। समर्थितत्वाच्चेति उभयोः समर्थितत्वाच्चेत्यर्थः। निर्मन्थ्येनेत्यादि। पूर्वतन्त्रे प्रथमस्य चतुर्थे तथा निर्मन्थ्येत्यधिकरणे चिन्तितम्। निर्मन्थ्यपदं वह्नित्वे रूढं यौगिकं योगरूढं वेति संशये निष्पन्नाग्नौ योगव्यभिचारः तदानीं निर्मन्थनकर्माभावात्, भूतपूर्वयोगस्यापि प्रतिक्षणमन्यान्यत्वाद्रूढौ प्रवृत्त्यसामर्थ्यं, निर्मन्थननिष्पन्नस्याग्नेस्तदैव नाशात् आकृतेस्त्वव्यभिचाराद्रूढमिति प्राप्ते लौकिकनिर्मथनेन

१. द्वादशलक्षण्या।

किंच । आवश्यकत्वादपि । निवृत्तानामपि यागादिज्ञानस्यावश्यकत्वं चित्तशुद्ध्यर्थत्वात् । परमाश्रमभेदेन प्रकारभेदः कायिकादिभेदात् । तत्राद्यस्य वाचिको द्वितीयतृतीययोः कायिकश्चतुर्थस्य मानसिक इत्याश्रमिणाम् । तस्मादेकेनैव चरितार्थत्वात् किं द्वितीयेनेति प्राप्ते । उच्यते । उपासनाया धर्मत्वेऽपि न ब्रह्मणो धर्मत्वं ज्ञानरूपत्वात् । धर्मस्य च क्रियारूपत्वात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

'तेषां प्रकृतिवैचित्र्यात्' इत्येकादशस्कन्धीयवाक्योक्तरीतिकात् तस्मात् । अनुपयोगरूपं दूषणमुत्तरमीमांसायां हृदि कृत्वाह किंचेत्यादि । आवश्यकत्वं विवृणोति निवृत्तेत्यादि । तथाच त्रैवर्णिकाधिकारपक्षे शास्त्रवैयर्थ्यस्यापरिहार्यत्वात् तद्विहाय पूर्वतन्त्रमेवादरणीयमित्यर्थः ।

अत्र समादधते उच्यते । उपासनाया इत्यादि । त्रैवर्णिकाधिकारपक्षे स्यातां ब्रह्ममीमांसाया गतार्थत्वानुपयोगौ, यद्युत्तरकाण्डस्य मुख्यतयोपासनारूपधर्मप्रतिपादकत्वं स्यात् । तदेव तु न । किंतु ब्रह्मप्रतिपादकत्वं, ब्रह्मण एव सर्ववेदार्थत्वात् । 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति,' 'वेदास्त्रिकाण्डविषया ब्रह्मात्मविषया इमे', मां विधत्तेऽभिधत्ते माम्' 'इत्यादिवाक्येभ्यः । किं बहुना, धर्मोऽपि ब्रह्मात्मकत्वेनैव प्रतिपाद्यः' । 'धर्मो यस्यां मदात्मकः' इति वाक्यात् । जैमिनिस्तु पुरःस्फूर्तिक-

रश्मिः ।

चिरमथनेन च उत्पन्नमग्निं निषेद्धुं पङ्कजपदवद्योगरूढम् । नावनीतवत् । यथा घृतं प्राचीनं नवं च नवनीतोत्पन्नमपि नवमेव नावनीतत्वेनोच्यते । चिरनिर्मन्थितस्त्वाधानकाले निर्मन्थ्य गार्हपत्ये धृतो वह्निः अलौकिकमथनेन सद्यः संभूतोचिरनिर्मन्थितः । भूतपूर्वमपि योगं निमित्तीकृत्य प्रयोग इति । अत्र प्रभृतीनामित्यारभ्य आदिशब्दान्तस्य किं प्रयोजनमिति चेच्छृणु । अनेककोट्यवगाहिज्ञानस्य संशयत्वेन विवक्षितत्वात्प्रभृतीनामित्युक्तम् । तथा च चिरनिर्मथिताचिरनिर्मथितवह्निवह्नित्वलौकिकालौकिकभेदभिन्नानां च । एतेषां संदेह इत्यनेनान्वये विषयत्वं घृतादीनां स्यात्तदविवक्षितं, किंतु तत्संबन्धि अञ्जनं च पाककरणं च तयोर्योग्यतादिशब्देन भावस्तयोः संदेहविषयत्वं विवक्षितं तदाहुरञ्जनेत्यादि । तेषामञ्जनादियोग्यतादेः संदेहे जात इत्यन्वयः । घृतं वसा तैलं वेत्यादयः संदेहाकाराः । अत्र दूरत्वस्थानापन्नमाहुः सामान्येनेति । यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वा इत्यत्र दूरत्वं तथात्र समानत्वं संदेहकारणं, भाष्ये तु सामान्यं न करणं ज्ञानिनामखण्डब्रह्मभाने तस्य घटपटादिसाधारण्यादतो विचारे सखण्डब्रह्मभाने सामान्यस्य यो न्यायो रीतिस्तेन न्यायेनेति करणत्वोपपादनम् । भाष्ये लक्षणवदिति उक्तार्थमेतत् । प्रकृते । आहेति उपयोगमाहेत्यर्थः । शास्त्रवैयर्थ्यस्येति उत्तरमीमांसावैयर्थ्यस्येत्यर्थः । भाष्ये । एकेनेति पूर्वकाण्डविचारेणेत्यर्थः । प्रकृते । गतार्थत्वेति । गतः पूर्वमीमांसया प्राप्तः अर्थः उपासनारूपः यया । यज्ञाद्युपासनायाः मनोव्यापाररूपाया उप समीपे स्थित्वा यथायोग्यकरणरूपाया वा पूर्वया प्राप्तत्वात् । उपासनायाः पूर्वमीमांसायां स्वमते शेषे वेदरूपसंकर्षणे प्रतिपादके विषयिणीत्वात् । 'स सर्पानसृजत' इति तृतीयाष्टके 'तस्मात् समानाः प्रजाः प्रजायन्ते' इति संहितायाम् । अतो नोपासनायां प्रतिपाद्यवृक्षपक्षिवृषभाणां विषयताप्रतिपादकत्वरूपेण मुख्यान्ब्रह्मत्वेपि कृष्णाजिनं ब्रह्मेति संहिता । कृष्णाजिनस्य शेषत्वं दृष्टम् । अत उपासनायां ब्रह्ममीमांसाया अनुपयोगः । मुख्यतयेति । विषयत्वाभावादिति भावः । किंतु ब्रह्मेति । विषयत्वेन मुख्यत्वादिति भावः । पुरःस्फूर्तिकमिति यथा 'यत्सत्यपत्यसुहृदा-

---

भाष्यप्रकाशः ।

मेवोवाचेति न दोषः । ब्रह्म च न शारीरमात्रं, येन सृष्ट्यादिवाक्येषु वाचो धेनुत्ववत् तस्मिन् जगत्कर्तृत्वादीनामसंभवतां धर्माणामारोपापवादादिभिर्विधेयोपासनाविषयस्तावकतयोपासनाशेषता संभवन्ती गतार्थत्वानुपयोगौ दृढीकुर्यात् । किंचोपासनाविषये आत्मनि निरङ्कुशजगत्कर्तृत्वादयो ये धर्माः स्तुत्यर्थमारोप्यन्ते, ते किमत्यन्तासन्तः खपुष्पवद्, उत क्वचित् सन्तो रजतवत् । तत्राद्ये आरोप एव बाधितः । द्वितीये तु सिद्धमतिरिक्तेन ब्रह्मणा । तच्च पूर्वकाण्डे परोक्षवादत्वान्न स्फुटं प्रतिपादितमिति तत्प्रतिपादकमुत्तरकाण्डं न धर्मप्रतिपादकम् । अत उपासनाया धर्मत्वेऽपि नोत्तरमीमांसाया गतार्थत्वमित्यर्थः । नन्वस्त्वेवं, तथापि सृष्ट्यादिवाक्यानां विधिमन्त्रादिरूपत्वाभावादर्थवादत्वमेव वक्तव्यम् । ततश्च ब्रह्मस्तावकत्वात् तेषां न स्वार्थे प्रामाण्यमिति तद्विचारशास्त्रस्य

रश्मिः ।

मनुवृत्तिरत्र' इति श्लोकोक्तो धर्मः । अत एव धर्मजिज्ञासां चकार न तु कर्मजिज्ञासाम् । 'देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे' इति संहितोक्तत्वेपि निरोधलक्षणग्रन्थोक्ताधिदैविकश्रवणादिरूपमर्यादासेवात्वेन श्रुत्यधिकारिधर्मत्वात् । यथा 'अस्त्येवमङ्ग उपदेशपदे त्वयीशे' इत्युक्त्वा 'श्रेष्ठो भवान् तनुभृतां खलु बन्धुरात्मा' इति श्रुत्यधिकारि यद्वाक्यं तदुक्तो धर्म आधिदैविकः । तथा च यथा 'धर्मं चर' इत्याचार्योपदेशेन भक्ता अपि भगवद्वाक्यानि पूर्वपक्षयाञ्चक्रुस्तथाचार्योपदेशेन धर्मजिज्ञासां चकार । कर्मणस्तूक्तस्य सर्वानधिकारान्मुख्यत्वेऽपि कर्मणे न कर्मजिज्ञासा इत्युवाच । अग्रे 'कर्मैके तत्र दर्शनात्' इति सूत्रं चकार । तथा चाध्यात्मिकमेवोवाचेत्यर्थः, आध्यात्मिकस्तु 'धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र' इति वाक्यादेकादशैकोनविंशाध्यायोक्तश्रवणादिसरणिरूपो धर्मः । गतेति । ब्रह्ममीमांसा यतः । बाधित इति । तादृशस्यादर्शनादिति भावः । अतिरिक्तेनेति सद्धर्माश्रयस्य वक्तव्यत्वात्तयेत्यर्थः । परोक्षवादत्वादिति 'परोक्षवादो वेदोयम्' 'परोक्षं च मम प्रियम्' 'परोक्षप्रिया इव हि देवाः' इति वाक्यनिकुरम्बात् । न धर्मप्रतिपादकमिति । अपूर्वप्रतिपादकं नेत्यन्ये । सिद्धान्ते धर्मस्यैव फलपर्यन्तावस्थानोपगमात् । एतदेवाग्रे पूर्वखण्डने स्फुटिष्यति । तथाचोक्तम्—

'किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत् ।
एतस्या हृदयं लोके नान्यो मद्वेद कश्चन ॥
मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते ह्यहम् ।
एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम् ॥
मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति' ॥ इति

न च वेदो मां स्वव्यापारावधिं कृत्वा भिदां मायामात्रमित्यनूद्य 'नेह नानास्ति किंचन' इति प्रतिषिध्य भेदं, प्रसीदति निवृत्तव्यापारो भवतीति निरुणद्धि इति वाच्यम् । सर्वसामर्थ्यस्य ब्रह्मणो मायाकृतां विपर्यस्तबुद्धिकृतां नेदं ब्रह्मकार्यमित्याकारिकां भिदामनूद्य प्रतिषेधति कार्यभावात्पूर्वं रूपं चक्रीत्येकदेशिनः । विरुद्धसर्वधर्माश्रयस्य आनन्दस्य प्रतीयमानां भिदां मायामात्रं क्रीडार्था माया या मुख्या शक्तिस्तन्मात्रं, नतु आविद्यकमित्यनूद्य प्रतिषेधति । ब्रह्मैव सर्वं, भेदो बुद्धिदोषाद्भातीति सिद्धान्तः । प्रकाशाश्रयाधिकरणे स्फुटमिदम् । न च मायाविषयोरेकीभाव इति सांप्रतम् । 'विद्याऽविद्यया सत्या मायया च निषेवितम्' इति वाक्येन भेदावगमात् । भाष्ये । ज्ञानरूपत्वादिति

रश्मिः ।

क्रियारूपत्वखण्डने तात्पर्यादेवमुक्तम्, आनन्दस्यैव त्रिषु मुख्यत्वात् । न च द्वैतापत्तिः । द्वैतं हि द्वयोर्भाव उच्यते 'प्रज्ञादिभ्यश्च' इत्यणा, ब्रह्मैव सर्वमिति क्व द्वौ । न ह्येकस्मिन्दीपे द्वाविति प्रतीतिरस्ति । तदुक्तम्—

'कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्शनं पटतन्तुवत् ।
अवस्तुत्वाद्विकल्पस्य भावाद्वैतं तदुच्यते' ॥ इति सप्तमस्कन्धे ।

यदपि द्वयोर्भावो द्विता तत्र भवं द्वैतं संशयरूपं ज्ञानं, द्वाभ्यामितं प्रकारद्वयेन विरुद्धत्वाद्भिन्नाधारवर्तिना युक्तं वस्तु द्वीतं तत्र भवं द्वैतं तदेव संशयज्ञानमिति कैयटानुरोधे त्वद्वैतं संशयाभावः । अतश्च ब्रह्मैव सर्वमिति निश्चय इति तदप्यविरुद्धम् । अथवा यथाश्रुतोर्थः एकादशस्कन्धे सांख्यनिरूपणे स्फुटत्वात्, भाष्ये तु स्तुत्यानन्द आनन्दमये विश्रान्त इत्यदोषः । तत्र ज्ञानं दशधा इति तृतीयसुबोधिन्यां 'अथ ते तदनुज्ञाता' इत्यत्र निरूपितम् । एतच्च ज्ञानं 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति श्रुतेर्ब्रह्मात्मकम् । तल्लक्षणं तु 'त्रितयं तत्र यो वेद स ह्यात्मा स्वाश्रयाश्रयः' इति वाक्ये आधिदैविकादित्रिकव्यतिरिक्तत्वे सति तत्त्रितयज्ञातृत्वमिति सिध्यति । स्वाश्रयश्चासौ आश्रयः इति कर्मधारय एवोद्देश्यविधेयभावात्स्वरूपकथनपूर्वकं लक्ष्यनिर्देशः, तच्च भावनयाभिव्यज्यते 'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' इति श्रुतेः । जीवानामपि अत्रैवाभिनिवेशः सजातीयत्वात् । तद्गुणोऽपि चैतन्यं तत्रैव निविशते तदविनाभूतत्वात् 'जीवस्यानुस्मृतिः सती' इत्युत्तरार्धे तत्स्वरूपमुक्तम् । पूर्वापरानुसंधानरूपा स्मृतिश्चैतन्यमिति । व्युच्चरणात्पूर्वमभेदेन, व्युच्चरणोत्तरमविद्यासंबन्धात्प्राक्कालवर्तिनो ज्ञानस्य सोहमिति पूर्वापरानुसंधानरूपस्यैव सिद्धत्वात् तत्त्वमस्याद्युपदेशोत्तरमपि तथैव प्रतिसंधानादजपायामपि तथात्वात्तादृशत्वनिश्चयः । अयमेव स्वरूपलाभो विद्यया संपाद्यः विस्मृतकण्ठमणिन्यायात् । तथापि नित्यम् । 'सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः' इति श्रुतेः । पूर्वोक्तमेव ज्ञानं धर्मात्मकप्रकाशरूपेणाविर्भवद् भगवद्गुणतां श्रयति सूर्यप्रकाशवत् । तदनित्यमपि 'तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्' 'युक्तं भगैः स्वैरितरत्र चाध्रुवैः' इत्यादिवाक्येभ्यः । चैतन्यमप्यत्रैव वा निविशते इति द्वितीयं, तृतीयं तु वेदशरीरं दधद्भवति ।

'स एष जीवो विवरप्रसूतिः प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः ।
मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः ॥'

इत्येकादशस्कन्धात् सृष्ट्यै भगवन्मनोमयादिसरण्या दधाति, तथाहि ब्रह्मणो हृदयाकाशे स्वयं ब्रह्म आसन्येन करणतामापन्नेन नादरूपं दधदाविर्भवति, तदुक्तं घोषेण गुहां प्रविष्टः इत्यन्तेन । स पूर्वमव्यक्त एव ततो नानावर्णादिसंकल्पकमनोमयं सूक्ष्मरूपमुपेत्य ब्रह्ममुखतः प्रकटः सन्मात्रास्वरवर्णात्मना स्थूलरूपेण शब्दब्रह्मात्मकवेदरूपश्चकास्ति । स च नादोऽस्मदादिष्वपि प्राणघोषरूपेण वर्तते व्यापकत्वात्, श्रावणस्तदनुभवस्तु श्रोत्रवृत्तिनिरोधसंपाद्यो भगवतैव कृत्वा जीवेन । नान्यः प्रकारः श्रावणे जीवानुभवे । जीवानुभवस्तु भगवतेति निरुद्धद्वारनिष्ठजीवो न कार्यं करोतीति । अयमेव नादः स्फोट इत्युच्यते स्फुटति वागनेनेति व्युत्पत्तेः । तदुक्तम्—

१. अनुभवजन्यत्वेऽपि ।

रश्मिः ।

'समाहितात्मनो ब्रह्मन्ब्रह्मणः परमेष्ठिनः । हृद्याकाशादभून्नादो वृत्तिरोधाद्विभाव्यते ॥
शृणोति य इमं स्फोटं सुप्तश्रोत्रे च शून्यदृक् । येन वाग्व्यज्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः ॥
स्वधाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद्वाचकः परमात्मनः । स सर्वमन्त्रोपनिषद्वेदबीजं सनातनम्' ॥ इति ।

तेन स्फुटत्यर्थोऽनेन इति स्फोट इति वैयाकरणोक्तं प्रत्युक्तम् । नैयायिकास्तु स्फोटं नाद्रियन्ते । तथा हि । घट इत्युक्ते घकाराकारटकाराकारविसर्जनीयैरर्थप्रत्ययाभावाद्वर्णानां क्रमिकत्वेन पदवाक्यरूपवर्णसमुदायाभावेन ततोऽप्यर्थाप्रत्ययात्पूर्वपूर्ववर्णानुभवजन्यसंस्कारसहकृतान्तिमवर्णादप्यनेकादृष्टसंस्कारकल्पनागौरवप्रस्तादर्थप्रत्ययाभावाद्वर्णाभिव्यङ्ग्योऽतिरिक्तः स्फोटाख्यः शब्दार्थं प्रत्याययति । एवं पदस्फोटो वाक्यस्फोटश्च । इति प्राञ्चो वैयाकरणाः । आधुनिकास्तु स एवायं घकार इति प्रत्यभिज्ञाबलाद्वर्णरूपः स्फोटः तथा पदवाक्यस्फोटावपि । न चेयमेकार्थबोधकत्वमवलम्ब्यत इति शङ्क्यम् । जलाहरणादिरूपैकार्यजनकत्वस्य सोऽयं घट इत्यादौ शक्यवचनत्वादिति मन्यन्ते तन्न, तादृशसहकारिसंपन्नोऽन्तिमवर्ण एव वाचक इति स्फोटकल्पनायामपि गौरवतौल्याच्च । अपि च वर्णव्यङ्ग्यो यत्किंचिद्वर्णव्यङ्ग्यो वा तावद्वर्णाभिव्यक्तिव्यङ्ग्यो वा नेमौ । क्रमिकाणामाशुविनाशिनां यौगपद्यासंभवात् घकारमात्रोच्चारणे पदस्फोटप्रत्ययेऽर्थप्रत्ययापत्तिवर्णान्तरवैकल्याभ्यां तदसंभवाच्च । अथ पूर्ववर्णसंस्कारसहितचरमवर्णोपलम्भः तद्व्यञ्जक इति उच्यते तर्हि स एवार्थप्रत्यायकोऽस्तु कृतं स्फोटेन । न च पदप्रतीतिः स्फोटसाधिका तावद्वर्णगोचरप्रत्ययाभावेपि तावद्वर्णगोचरसंस्कारात्समूहालम्बनतावद्वर्णगोचरस्मरणसंभवात्क्रमविशेषवत्तावद्वर्णगोचरत्वेन स्फोटासाधकत्वात् । नहि वर्णमात्रं पदं सरोरसयोः नदीदीनयोः अविशेषापत्तेः । किंतु आनुपूर्वीविशेषाविशिष्टतावद्वर्णरूपम् । नचाप्रत्ययः घोत्तरं शृणोमीति प्रत्ययात् घोत्तरत्वं हि टस्यानुपूर्वीति । ततः सृष्टिश्च 'शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' इति सूत्रभाष्ये स्फुटिष्यति । तादृशशरीरयुक्तमपि रूपं 'अनन्ता वै वेदाः' इति तैत्तिरीयब्राह्मणश्रुत्या अनन्तं विराडिव । तुरीयं तु इदमेव शरीरविशिष्टं भगवदाश्रितमेवं पाश्चात्त्यां विश्लिष्टशक्तिमापद्य व्यष्ट्य इव विकृतास्त्रासकरवाल्त्यादिरूपाः सर्वे शब्दा भवन्त्यादिसृष्टौ । तथा हि पूर्वोक्तो नादः सुषुम्णामार्गेण आधारहृत्कण्ठमुखेषु संचरन् परापश्यन्तीमध्यमावैखरीरूपेणाविर्भवतीति । एतत्प्रामाण्योपपादनावसरे स्फुटमुपपाद्यम् । एतच्चतुर्विधं नित्यम् । ततः तादृशवेदनिकृतशब्दात्मकद्विविधशरीरविशिष्टमेव तल्लोके प्रकटीभवितुं समवायित्वेन प्रमातारं निमित्तत्वेन प्रमेयं चाश्रयते । न च प्रमाणविरहः शङ्कनीयः । पश्यन्त्याख्यशब्दावस्थाबोधकश्रुतिसद्भावात् । 'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः । गुहा त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति' इति श्रुतिः । आधारनाभिहृदयवदनरूपाणि चत्वारि पदानि स्थानानि । तत्र परापश्यन्तीमध्यमावैखरीरूपाश्चतस्रः शब्दावस्थास्तासु त्रीणि परापश्यन्तीमध्यमाख्यानि गुहायां निहितानि । अतः नेङ्गयन्ति न जानन्ति, तुरीयं वैखर्याख्यं अत एव केषांचित् ।

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते' ॥ इति ।

प्रमेयाश्रयत्वं तु ज्ञानस्य शब्दानुविद्धत्वाच्छब्दस्य च नित्यमर्थसंबद्धत्वाच्छब्दविशिष्टस्यैव,

नचार्थवादानां धर्म इव ब्रह्मण्युपयोगः कर्तुं शक्यः। उत्पत्तिप्रकारफल-

भाष्यप्रकाशः ।

कोपयोग इत्यत आहुः नचेत्यादि । स्यात् स्वार्थे अप्रामाण्यं, यदि कर्मणीव ब्रह्मण्युपयुज्येरन् । कर्मणि हि त्रेधा तेषामुपयोगः । यथा, असावादित्यो न व्यरोचतेत्यादीनां सौर्याद्युत्पत्तौ ।

रश्मिः ।

तादृशानुव्यवसायाकारात् । परमत्र शब्दोऽर्थश्च न्यग्भूतो भासते, पूर्वत्र तु ज्ञानं न्यग्भूतमिति विशेषः । न च अनेडमूकीयज्ञानस्य शब्दावैशिष्ट्यमिति शङ्क्यम् । अभिनयस्यैव तत्र शब्दस्थानापन्नत्वेन शब्दविशेषमनुसंधायैव बोधकेनाभिनयदर्शनात्परंपरया तस्यापि शब्दवैशिष्ट्यात् । इदं पञ्चमम् । प्रमातरि तु अन्तःकरणेन्द्रियाश्रयणात्पञ्चधा तत्रेन्द्रियेष्वेकधा, अन्तःकरणे चतुर्धा । मनसा जायमानं संशय इति व्यवह्रियते । संकल्पविकल्पात्मकत्वात्तस्य । अत एव शङ्कापिशाच्या उत्तरोत्तरं भिन्नभिन्नविरुद्धकोटिविधायिन्या अनिवृत्तिः । कथं तर्हि आत्मानं गृह्णाति इति चेद्दौरात्म्यनिवृत्तौ प्रमास्यति । अहंकारेण कृता शरीराभिमतिस्तु बुद्ध्याश्रया । विपर्यासनिश्चयस्मृतीनां बुद्धिवृत्तित्वाद्बुद्ध्याश्रयत्वम् । यदा तु शरीराभिमतिर्मोक्षशास्त्रीयसाधनैर्नाशमेति तदा तन्मूलास्तेऽपि नश्यन्ति । ज्योतिर्ब्राह्मणे आत्मज्योतिष्ट्वमुपक्रम्य स समानः सन् इति अहंकारसमानत्वेन सधियः स्वप्नात्मकबुद्ध्यवभासकतया स्वप्नात्मकत्वादहंकारो बुद्ध्या सहितः स्वापं पश्यतीति स्वप्नज्ञानमहंकाराश्रयम् । चित्तं तु सुषुप्तावात्मानं पश्यत्यैक्येन अन्यदा तु लीनमिति निर्विषयं ज्ञानं चित्ताश्रयमेवं दशधा । तदिदं षड्विधं जन्यमन्तःकरणधर्मः 'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' इति श्रुतेः । स्थिरं च घटादिवत् न च त्रिक्षणावस्थायित्वम् । 'प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते,' 'स्थिरबुद्धिरसंमूढः,' 'ज्ञानं यथा न नश्येत' इत्यादिवाक्येभ्यः । न चैकज्ञानं सार्वदिकं स्यादिति शङ्क्यं, विषयान्तरज्ञानसामग्र्या जातेन ज्ञानेन तद्बाधात् । नचैवमस्थिरत्वं शङ्क्यं, संस्काराख्यसूक्ष्मरूपेणावस्थानोपगमात् । न चैवमनुव्यवसायापत्तिस्तस्येति वाच्यम् । व्याप्तस्यापि गन्धस्य घ्राणेन ग्रह एव स्फुरणवन्मनसा तस्य ग्रहण एव स्फुरणात् । न च गन्धस्यागन्तुकत्वेन दृष्टान्तासाम्यमिति वाच्यं, रजसा व्यापारान्तरावेशेनोपपत्तेः । तमसा तदावरणाच्च तथा । न चैवं स्मृत्यजनकस्याप्यनुभवस्य स्थिरत्वापत्तिः । इन्द्रियैर्बुद्धिजननोत्तरं पौनःपुन्याद्यभावेन अदार्ढ्यात्, ज्ञानस्य तु लोकशास्त्राहितात्सिद्धिः । न चाधिष्ठानानिर्वाच्यता प्रयुक्ता तस्थित्यशक्यवचनेति वाच्यम् । अन्तःकरणाधिष्ठानकत्वात् । अनिर्वचनीयत्वस्य निरस्तत्वात् । विरुद्धवृत्तितिरोभाव्यत्वाङ्गीकाराच्च तन्नाशानुपपत्तिरिति प्रासङ्गिकं ज्ञेयम् । प्रकृते । **विधिमन्त्रादीति** । आदिना ब्राह्मणम् । **यथाऽसावित्यादि** । न व्यरोच्यत मेघाद्याच्छन्नोऽसावादित्यो न विगतदीप्तिमान्जात इति 'सौर्यं चरुं ब्रह्मवर्चसकामो निर्वपेत्' इति सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः इत्यस्योत्पत्तौ सौर्यप्रथमज्ञस्यैव तज्जनकवाक्यस्योपयोग इत्यर्थः । इदं पूर्वतन्त्रे सप्तमस्य चतुर्थे पादे 'इतिकर्तव्यताविधेर्यजतेः पूर्ववत्त्वम्' इत्यधिकरणे चिन्तितम् । यदि च 'असौ आदित्यो न विशेषेण दीप्तिमान्जातः' इति पक्षोपि विभाव्यते, तदापि स एवार्थः । चरुस्तु दशमे 'चरुर्हविर्विकारः स्यादिज्यासंयोगात्' इत्यधिकरणे ओदनविशेषो न तु स्थाली, 'सौर्यम्' इति देवतासंयोगादिति चिन्तितम् । यच्चोखा स्थाली चरुरिति पर्यायतावाचकं निघण्टुवचनं तदपि 'हव्यपाके चरुः पुमान्' इति निघण्ट्वन्तराद-

भेदानामभावात् । प्रकृते तु माहात्म्यज्ञानार्थं तदुपयोगः । तस्य च ज्ञानोपयोगो

भाष्यप्रकाशः ।

यथावाप वै सोमेनेजानादित्यत्राष्टाक्षरा गायत्रीत्यस्याग्नेयपुरोडाशीयेऽष्टाकपालत्वरूपे प्रकारे । यथाच, वायुर्वै क्षेपिष्ठेत्यादीनां भूत्यादिरूपे फले । न तथा ब्रह्मणि । नित्यत्वात् सदैकरसत्वात् स्वस्यैव फलत्वाच्च । अस्ति तु माहात्म्यज्ञानार्थमुपयोगः । माहात्म्यं च सदेव ज्ञातं फलाय, न त्वसत् । असत्त्वे तदधिष्ठानस्यासमर्थतायां ततः फलाभावप्रसङ्गात् । तदाहुः तस्य चेत्यादि । माहात्म्यज्ञानेन भक्तिद्वारा साक्षात्कारोपयोग इति फलाध्याये प्रथमपादे, 'आदित्यादिमतयः' इतिसूत्रे वक्ष्यत इत्यर्थः । नन्वस्तु ब्रह्मणि माहात्म्यज्ञानार्थं सृष्ट्यादिवाक्योपयोगस्तथापि तेषां विध्युपयोगोवश्यं वक्तव्यः । नोचेदुपासनादिविधीनां प्ररोचनाभावेन व्यापारकौण्ठ्ये वाक्यवैयर्थ्यापत्तेः । एवं सिद्धे तेषां विधिशेषत्वे तेषु निरूप्यमाणं ब्रह्मापि तच्छेषमेवेत्युत्तरकाण्डस्य न तत्प्रतिपादकत्वम् ।

रश्मिः ।

विरुद्धम् । **यथावापेति** । एवं श्रूयते 'आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेद्वैश्वानरं द्वादशकपालमग्निमुद्वासयिष्यन्यदष्टाकपालो भवति अष्टाक्षरा गायत्री' इति । अन्यत्र च 'आप वै सोमेनेजानाद् देवताश्च यज्ञश्च क्रामन्त्याऽग्नेयं पञ्चकपालमुदवसानीयं निर्वपेत् अग्निः सर्वा देवताः' इति, तथापि अप वा इत्याद्यष्टाक्षरेषु गायत्रीत्वकल्पना । यथा यदष्टाकपालो भवति गायत्र्यैवैनं ब्रह्मवर्चसेन पुनाति इत्यत्र अष्टत्वादिसंख्यासामान्यात्पुरोडाशानां गायत्रीत्वकल्पना । प्रथमस्य चतुर्थे 'पूर्ववन्तोऽविधानार्थास्तत्सामर्थ्यं समाम्नायः' इत्यधिकरणेऽस्ति यतोऽष्टाक्षराण्यतोऽष्टाक्षरा गायत्री अतोऽष्टाकपालमिति संख्यातात्पर्यकथनेनोपयोग इत्यर्थः । **यथा च वायुरित्यादि** । प्रथमस्य द्वितीयपादे 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते' इत्यधिकरणे 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा' इत्यस्य 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' इत्युपयोग इति चिन्तितम् । अत्र प्रथमोर्थवादो निन्दारूपेण विधिशेषभूतः प्राशस्त्येन वा विधिशेषभूतः । द्वौ प्राशस्त्येनैव विधिशेषभूतौ तथा नार्थवादलक्षणं 'प्राशस्त्यनिन्दान्यतररूपेण विधिशेषभूतं वाक्यमर्थवादः' इति मीमांसार्थप्रदीपे । **न तथा ब्रह्मणीति** । त्रेधा तेषामुपयोग इत्यन्वयः । अत्र हेतुनाहुर्नित्यत्वादिति । प्रथमज्ञप्तिष्वपि सत्यमित्यादिवाक्येनोत्पत्तिवाक्यत्वम् । प्रथमज्ञप्तेः साध्यविषयिण्या विवक्षितत्वात् उत्पत्तिपदस्वारस्यात् । अत उक्तं नित्यत्वादिति । **सदैकरसत्वात्प्रकाराभावः, स्वस्यैव फलत्वाच्च** फलान्तराभावः । अतो न धर्म इव उपयोग इत्यर्थः । तदानीं कथमुपयोगो ब्रह्मणि इत्यपेक्षायां **प्रकृते त्वित्यादि** भाष्यं विवृण्वति **अस्ति त्विति** । तत्त्वमस्यादिवाक्योक्तमैक्यमपि माहात्म्यमिति न पृथगुक्तम् । **तस्य चेत्यादि** भाष्यमवतारयन्ति **माहात्म्यं चेति** । असमर्थतायामिति निर्गुणत्वेन फलदातृस्वरूपगुणस्याप्यभावेनासमर्थतायामित्यर्थः । तत इति फलदातृत्वशून्यादित्यर्थः । **भक्तिद्वारेति** इदं च तत्रैवोपपादयिष्यते । **प्ररोचनाभावेनेति** अर्थवादाभावेन । यः स्तूयते स विधीयते इति नियमप्रवृत्त्यभावाद्विधिरूपव्यापारस्य छान्दसत्वेनान्यनिष्ठत्वरूपे कौण्ठ्ये इत्यर्थः । **वाक्येत्यादि** उपासनादिविधिवाक्यस्य निष्फलत्वरूपवैयर्थ्यापत्तेरित्यर्थः । **तच्छेषमिति** उपासनाविधिशेषमित्यर्थः । **नेति** ब्रह्म उपासनायाः सकाशान्मुख्यत्वेऽनधिगतार्थगन्तृत्वाभावेनाप्रामाण्यापत्त्या नेत्यर्थः ।

यथा तथा वक्ष्यते चतुर्थे । उपासनादर्शनादिपदानां मनोव्यापारत्वमेव । विचारस्यापि यथा ज्ञानोपयोगित्वं, तथाग्रे वक्ष्यते ।

किंचौपनिषदज्ञानस्यापि कर्मोपयोगित्वम् । 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा वा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' इति । अत एव ब्रह्मविदामेव जनकादीनां

भाष्यप्रकाशः ।

ततश्च सिद्धावुत्तरमीमांसाया गतार्थत्वानुपयोगावित्याकाङ्क्षायामाहुः उपासनेत्यादि । अस्त्वेवम् । तथापि विधेयानामुपासनाज्ञानादीनां मनोव्यापाररूपतया सविषयत्वेन विषयाधीनत्वात् तद्विषयस्य ब्रह्मणो न मुख्यत्वं हीयते । अहीयमाने च तस्मिन्नितरप्रमाणागोचरस्य तस्य ज्ञानायोत्तरकाण्डविचारस्यावश्यकत्वाच्च तन्मीमांसाया गतार्थत्वानुपयोगावित्यर्थः । ननु तथापि ब्रह्मण आसंसारं प्रसिद्धानुभावत्वात् तज्ज्ञाने विचारस्यानुपयोगाद् वैयर्थ्यमस्य शास्त्रस्यानिवार्यमित्यत आहुः विचारस्येत्यादि । अग्रे वक्ष्यत इति तृतीयस्य द्वितीयपादे, उभयव्यपदेशाद्यधिकरणेषु वक्ष्यते ।

उपासनाद्यर्थमेव न ब्रह्म जिज्ञास्यं, किंतु पूर्वकाण्डोक्तेपि कर्मणि मुख्यफलाद्यर्थं तदवश्यं जिज्ञास्यमिति, नास्यागतार्थत्वानुपयोगावित्याहुः किंचौपनिषदेत्यादि । निगदव्याख्यातमेतत् । तथाच त्रैवर्णिकाधिकारपक्षो दोषरहित इत्यर्थः ।

रश्मिः ।

गतार्थत्वानुपयोगाविति जैमिनीयचतुर्लक्षण्यास्तथेत्यर्थः । अस्ति सप्तग्रहाणां ब्रह्मत्वोपपादिका जैमिनीयचतुर्लक्षणी वैयासिकी वा । **अस्त्वेव**मित्यादि भाष्ये पदशब्दो व्यवसितौ 'पदं व्यवसितत्राण' इत्यमरात् । तथा च उपासनादर्शनादिनिश्चितानां 'आत्मेत्येवोपासीत,' 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः,' 'य एवं वेद' इत्यादि श्रुतिनिश्चितोपासनादर्शनज्ञानानामिति यावत् । इत्येवं भाष्यार्थं मत्वाहुः **विधेयाना**मिति । निश्चयेन विधेयानां न तु उप समीपे स्थित्वा यथायोग्यकरणरूपायास्तस्या अविहितत्वमपीति । **मन** इति 'कामः संकल्पः' इत्यारभ्य 'सर्वं मन एव' इति श्रुतेः । न च धियो व्यापारत्वं श्रुत्या सिद्ध्यति न तु उपासनायाः उप समीपे स्थित्वा यथायोग्यकरणरूपाया इति वाच्यं, धीवत् तस्या अपि व्यापारसापेक्षत्वात् । **इतरप्रमाणागोचरस्ये**ति । 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इति श्रुतेस्तथेत्यर्थः । **अनुमानाद्यगोचरस्ये**ति वा । **ज्ञानाये**ति । शेषितया शाब्दज्ञानायेत्यर्थः । **वक्ष्यत** इति विरुद्धधर्माश्रयत्वस्य आसंसारमप्रसिद्धस्य स्थापनं वक्ष्यत इति । तदर्थं इदं शास्त्रं इति वैयर्थ्यं निवार्यमित्यर्थः । **मुख्यफलाद्यर्थ**मिति 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' इति श्रुतमक्षय्यं ब्रह्मलोकाख्यं फलं तदाद्यर्थमित्यर्थः । ज्ञानद्वारेति ज्ञेयम् । एतदक्षरधियामित्यधिकरणे वक्ष्यते । तेन न फलव्यभिचारो भक्तेः । एतेन अन्योन्याश्रयोपि नेति ज्ञापितम् । अनुष्ठाने तु श्रुतिभ्यामन्योन्याश्रयो वर्तत एव प्रमितावुक्तान्योन्याश्रयपरिहारोत्राप्यारोप्यः' ब्रह्मजिज्ञासया धर्मजिज्ञासा नाश्रीयत इति धर्मविचारानन्तर्यस्य प्राक्खण्डनात् । **निगदे**त्यादि । निगदेन व्यक्तरवेण[1] 'यदेव विद्यया' इत्यादिना भाष्ये व्याख्यातम् । किंचौपनिषदज्ञानस्यापि कर्मोपयोगित्वमित्येतदित्यर्थः । **तथा चे**ति । उभयोर्मीमांसयोरेवंविधैकशास्त्र्ये चेत्यर्थः । **दोषरहित** इति । कर्माधिकृताधिकारित्वादुत्तरमीमांसाचतुरोपि वर्णानधिकुर्यादिति दोषरहित इत्यर्थः ।

१. व्यक्तरवेण पाठमात्रेण ।

कर्मणि सर्वदेवसान्निध्यम् । अन्यथा आभासत्वमेव । नच ब्रह्मरूपात्मविज्ञाने देहाद्यध्यासाभावेन कर्तृत्वाभावात् कर्मानधिकार इति वाच्यम् । निरध्यस्तैरेव देहादिभिः कर्मकरणसंभवात् । अत एव जीवन्मुक्तानां सर्वे व्यापाराः । तथाच स्मृतिः ।

'नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्छृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन् ॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा' ॥ इति ।

अतो ब्रह्मविदामेव कृतं कर्म शुभफलं भवति । अतो धर्मविचारकाणामपि ब्रह्म जिज्ञास्यमेव । तस्मान्न गतार्थत्वानुपयोगौ ।

ननु फलप्रेप्सुरधिकारी । फलं च विचारस्य शाब्दं ज्ञानं, तस्य मननादिद्वारानुभवः, तस्य चानर्थनिवृत्तिपूर्वकपरमानन्दावाप्तिः । तथाच विरक्तोऽनर्थजिहासुः परप्रेप्सुश्चाधिकारी कस्मान्न भवति ।

'शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात् परे यदि ।
श्रमस्तस्य फलं मन्ये ह्यधेनुमिव रक्षतः' ॥

भाष्यप्रकाशः ।

एवं त्रैवर्णिकाधिकारपक्षे स्थिरीकृते आनन्तर्यवादी पुनः शङ्कते नन्वित्यादि । सिद्धान्ते ज्ञानविधिनार्थज्ञानप्राप्तेस्तत्र कैमर्थ्याकाङ्क्षायामुक्तप्रणाड्या, 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इतिश्रुत्युक्तपरप्राप्तिरूपफलार्थमिति वक्तव्यम् । अन्यथा प्रवृत्तिविघातापत्तेः । तत्कथने च सिद्धमस्मदुक्तेनाधिकारिणा । तदेतदुक्तं कस्मान्न भवतीति । अथ वक्तव्यं, सूत्रे ब्रह्मजिज्ञासापदात् तज्ज्ञानस्यैव फलत्वं लभ्यत इति प्रणाडीसिद्धफलपर्यन्तता किमर्थमङ्गीकार्येति । तथा सति श्रीभागवतोक्तकेवलार्थविन्निन्दाशास्त्रविरोधापत्तिः । अतस्तदभावायोक्तफलपर्यन्तताऽवश्यमभ्युपेया । ततश्च सिद्धमुक्तेनाधि-

रश्मिः ।

भाष्ये **सर्वदेवसान्निध्य**मिति एतच्च श्रीभागवते स्फुटम् । **अन्यथे**ति ब्रह्मवित्त्वाभावे इत्यर्थः । तथैवानुभवादेवकारः । **देहाद्यध्यासाभावे**नेति देहेन्द्रियादित आत्मनोऽविवेकाभावेनेत्यर्थः । **तत्त्वविदि**ति जीवप्रत्यक्षज्ञानवानित्यर्थः । **धर्मविचारकाणा**मिति मुख्यफलप्रेप्सूनामित्यर्थः । विशेषणमिदं न त्वर्थः । प्रकृते । **आनन्तर्ये**ति । आनन्तर्यवादी व्यवहारे भाट्टः । ननु फलप्रेप्सुरित्यादि युष्मदुपपादितं तथा चैवंविधे सिद्धान्ते कस्माद्विरक्तोनर्थजिहासुः परप्रेप्सुरधिकारी न भवतीति योजनां मन्वाना आहुः सिद्धान्त इत्यादि । **कैमर्थ्याकाङ्क्षाया**मिति । कोर्थः प्रयोजनं यस्येति किमर्थस्तस्य भावः कैमर्थ्यं तस्याकाङ्क्षायामित्यर्थः । **वक्तव्य**मिति सर्वात्मभावेन भजनानन्दोपि वक्तव्यः । **अन्यथे**ति फलाभावे इत्यर्थः । **तत्कथने** इति फलकथने इत्यर्थः । **अस्मदुक्ते**नेति वैराग्यशमदमादिमतेत्यर्थः । **शब्दब्रह्मणी**ति भाष्यमवतारयन्ति अथ वक्तव्यमित्यादिना । **श्रीभागवत** इत्यादि । श्रीभागवतोक्तं यत्केवलार्थविषयकशाब्दज्ञानवतो निन्दाशास्त्रं

इति भगवद्वचनात् केवलस्य निन्दाश्रवणादिति चेत् । न । फलकामनाया अनुपयोगात् । अन्येनैव तत्समर्पणात् । नित्यत्वादप्यर्थज्ञानस्य न फलप्रेप्सुरधिकारी । निन्दार्थवादस्तु मननादिविधिशेष इति मन्तव्यम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

कारिणेत्यनङ्गीक्रियमाणोऽपि वैराग्याद्यानन्तर्यपक्षोऽधिकारिबलादापतित इत्यर्थः ।

अत्र समादधते नेत्यादि । विचाराधिकारत्वेन फलकामना तदोपयुज्येत, यदि ब्रह्म जिज्ञासापदात् प्राप्येत । तत्तु न । अनन्यलभ्यस्य शब्दार्थत्वात् । अतस्त्रैवर्णिकोऽर्थजिज्ञासुरेवाधिकारी । फलकामना तु, ब्रह्मविदाप्नोति परमित्यादिवाक्यार्थे ज्ञात उत्पद्यत इति तेन समर्पिता । फलं चार्थज्ञानस्य नैकम् । भार्गव्यां विद्यायामन्यत्र च, य एवं वेद प्रतितिष्ठतीत्यादिफलान्तराणामपि श्रावणात् । ततश्च भवदभिमताधिकार्यङ्गीकारेऽन्येषामनधिकारेण विचारे प्रवृत्तौ विहितायां तच्छास्त्रमेव व्यर्थं स्यात् । अतस्तदभावायार्थजिज्ञासोरेवाधिकारित्वं वक्तव्यम् । अर्थज्ञानं च नित्यम् । 'स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्' इत्यादिष्वनर्थज्ञनिन्दाश्रवणात् । अतोऽर्थज्ञानस्य नित्यत्वं ज्ञात्वा यो जिज्ञासति स एव मुख्योऽधिकारी । न च निन्दार्थवादविरोधः । तस्य मननविधिशेषत्वात् । शब्दब्रह्मणि निष्णातकथनोत्तरं तत्कथनेन तथार्थस्य लाभात् । विचारं विना

रश्मिः ।

शब्दब्रह्मणीत्यादि तस्य विरोधापत्तिरित्यर्थः । निष्णातोऽर्थविषयकशाब्दज्ञानवान्परं साधनैर्न निशामयेत् । अधेनुमप्रसूतिं गां रक्षतः श्रम इवेति वाक्यविषमपदार्थः । अत इति जिज्ञासापदादित्यर्थः । एवेति 'तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्' इति वाक्यादेवकारः । अन्येनैवेत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति फलकामनेत्यादि । ज्ञात उत्पद्यत इति फलकामनाया फलेच्छारूपत्वेन जानाति इच्छति यतते इति ज्ञाते उत्पद्यते । एवकारसाफल्याद्युक्तिमप्याहुः फलं चेत्यादि । फलान्तराणामिति । प्रतिष्ठान्नवत्त्वान्नादत्वादीनामित्यर्थः । अन्येषामिति परप्रेप्सोरतिरिक्तानां प्रतिष्ठादिप्रेप्सूनामित्यर्थः । तच्छास्त्रमिति । 'य एवं वेद प्रतितिष्ठति' इत्यादि फलान्तरनिरूपकं शास्त्रमित्यर्थः । युक्तिस्तु यदि अर्थजिज्ञासुरधिकारी स्यात् फलान्तरनिरूपकं शास्त्रं व्यर्थं स्यादिति । नित्यत्वादित्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति अर्थज्ञानं च नित्यमित्यादि । निन्दार्थवाद इति भाष्यं विवृण्वन्ति न च निन्दार्थवादेत्यादि । तस्य मननेत्यादि तस्य निन्दार्थवादस्य । 'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते अपि तु विधेयं स्तोतुम्' इति न्यायेन परं मन्वीत इत्याक्षिप्तस्य विधेः शेषत्वात् । तथा च अर्थज्ञानवतः पराद्रष्टुः श्रमः श्रमफल इति परं द्रष्टुं मन्वीतेति । यथा 'प्रातः प्रातरनृतं वदन्ति पुरोदयाज्जुह्वति येऽग्निहोत्रम्' इत्यस्यानुदितहोमनिन्दार्थवादस्योदितहोमस्तावकत्वं तद्वत् । ननु शब्दब्रह्मपाठी तदर्थज्ञानवान्न भवेत्तदा दोष इति वदत्कथं परे व्याप्नोतीति चेत्तत्राहुः शब्दब्रह्मणीत्यादि । तथार्थस्येति उक्तार्थस्येत्यर्थः । तथा च निष्णातपदमहिम्ना परे व्याप्नोतीति भावः । नन्वेतर्ह्यपि दर्शनविधिशेषत्वमस्तु तत्राहुः विचारमिति । तथा चावश्यकत्वान् मननविधिशेषत्वमित्यर्थः । अथवा 'आत्मा वा अरे' इति श्रुत्युक्तमननविधिशेषत्वादित्यर्थः । विधिशब्देन पूर्वं पूर्वमीमांसायां तव्यो विधौ न त्वावश्यके, आनन्तर्यवादिनो व्यवहारे वयं भाट्टा इति वक्तृत्वात् । भाष्ये तु

१. य एवं वेद प्रतितिष्ठतीत्यादिफलान्तरनिरूपकं शास्त्रम् ।

ननु ब्रह्मणो विचारे प्रतिज्ञाते विरोधनिराकरणादीनामप्रतिज्ञातार्थत्वम् । न चावक्तव्यत्वम् । निर्विचिकित्सज्ञानानुदयप्रसङ्गादिति चेत् । न । ब्रह्मण इति न कर्मणि षष्ठी, किंतु शेषषष्ठी । तथा च ब्रह्मसंबन्धि

भाष्यप्रकाशः ।

परनिष्णातासंभवादिति । एवमत्राधिकारी प्रयोजनं चोक्तम् ।

अतः परं विषयसंबन्धौ वक्तुमाशङ्कामुखेन मतान्तरमाहुः नन्वित्यादि । ब्रह्मजिज्ञासेत्यत्र, 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति विशेषविधानात् कर्मषष्ठ्यङ्गीकार्या यद्यपि, 'प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यते' इति निषेधाद् ब्रह्मणे जिज्ञासेति चतुर्थीसमासः शङ्क्यते तथापि, 'कृद्योगा च षष्ठी समस्यते' इति प्रतिप्रसवात् समाससिद्धेरत्र कर्मषष्ठ्यां गृहीतायां ब्रह्मविचार एव प्रतिज्ञातो भवति । न च शेषषष्ठी युक्ता । यद्यपि संबन्धसामान्यपरिग्रहेऽपि जिज्ञासायाः कर्मापेक्षतया ब्रह्मणः कर्मतालाभस्तथाप्याक्षेपतः प्राप्त्यपेक्षया आभिधानिकग्रहणस्यैव ज्यायस्त्वात् । तथा सति तद्व्यतिरिक्तानां विरोधनिराकरणादीनां ज्ञानपरिकरतया सिद्धावप्यप्रतिज्ञातार्थत्वम् । प्रतिज्ञा हि साध्यविशिष्टपक्षप्रतिपादकं वाक्यम् । तदत्र प्रथमसूत्रम् । तत्र च ब्रह्मण . कर्मत्वेन जिज्ञास्यतया प्रतिज्ञानात् तदन्येषां तथात्वाभावात् । न चेष्टापत्तिः कर्तुं शक्या । तथा सति तेषामवचने निर्विचिकित्सब्रह्म-

रश्मिः ।

व्यवहिताव्यवहितसाधारणं शेषत्वं स्वीकृत्य मननादिविधिशेष इत्युक्तमिति भावः । एवमत्रेत्यादि पूर्वोक्तसरण्यात्राधिकरणे ब्रह्मजिज्ञासापदेनाधिकारी प्रयोजनं चोक्तमित्यर्थः । मतान्तरमिति शंकराचार्यरामानुजादिमतमित्यर्थः । चतुर्थीसमास इति धर्माय जिज्ञासा धर्मजिज्ञासा इति वदाशङ्क्येतेत्यर्थः । प्रतिप्रसवादिति कर्तृकर्मणोः कृतीति षष्ठीत्यस्य निषेधस्य कुण्ठितप्रवृत्तेः पुनः प्रवृत्तिजननादित्यर्थः । तथा च शेषे षष्ठी वक्तव्या सापि न संभवतीत्याहुः न च शेष इति । सामान्यतो विशेषो बलीयानिति । तद्व्यतिरिक्तानामिति ब्रह्मव्यतिरिक्तांशं द्वितीयाध्यायाद्यर्थम् । विरोधनिराकरणादीनामित्यर्थः । अयमर्थः फलाध्याये परनिरूपणमप्रतिज्ञातं स्यात् । 'अक्षरं ब्रह्म परमं वेदानां स्थानमुत्तमम्' इत्यक्षरपर्यवसानात्, तथा सति अन्यमतविशेषोपि, इदमित्थमित्यतायाः प्रतिपादनं साकारत्वं च निःसंदिग्धं न स्यादतोन्यमततुल्यत्वपरिजिहीर्षुभिराचार्यैः शेषषष्ठ्यादृता । अन्यथा तन्मतदूषणानि वक्ष्यमाणानि व्यर्थानि स्युः । ततश्चाधाराधेयभावो जीवैरक्षरस्योपपाद्योपपादकरूपो विरोधनिराकरणेन प्राप्यप्रापकभावः साधनेनाधाराधेयभावः परेण संभवति । अदृश्यत्वाधिकरणेऽक्षराभिन्नत्वमक्षरे प्रतिष्ठितत्वं वक्ष्यमाणमिति । न चाक्षराभेदमादायापि परविचारस्य प्रतिज्ञातत्वसिद्ध्या शेषषष्ठी अक्षरत्वेन विरोधनिराकरणादीनां ब्रह्मनां कर्मत्वेपि बाधकाभावान्न युक्तेति शङ्क्यम् । भेदपक्षेऽप्रतिज्ञातत्वापत्तेः वैलक्षण्याद्यगणितानन्दत्वेन । 'नाणुरतच्छ्रुतेः' इति सूत्रात् । अत एव गीतात्रयोदशे ब्रह्मसूत्रपदैश्चेति क्षेत्रमुक्त्वाऽध्यात्मज्ञाननित्यत्वमुक्तम् । अध्यात्मत्वं तु परस्य जीवभाव एव, ब्रह्माण्डस्यस्यापि जीवत्वं 'अग्नेः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः । स हरिः सेन्द्रः सोक्षरः परमः स्वराट्' इति श्रुतेः । अतो गीताऽविरोधेन शारीराणुभाष्यत्वमपि । अप्रतिज्ञातार्थत्वं पुनः स्फुटयन्ति प्रतिज्ञा हीत्यादि । न्यायप्रसिद्धमेतत् । यथाह पर्वतो वह्निमानिति प्रतिज्ञेति । तदत्रेति तादृशवाक्यमस्यां मीमांसायां ब्रह्मविचारे पक्षेधिकर्तव्यत्वसाधनादत इत्यन्त इति प्रथम-

भाष्यप्रकाशः ।

ज्ञानानुदयेन प्रतिज्ञावैयर्थ्यप्रसङ्गात् । तथाच कर्मषष्ठ्यङ्गीकारे द्वितीयाध्यायादीनामाकस्मिकत्वम् । शेषषष्ठ्यङ्गीकारे व्याकरणविरोधो, ब्रह्मण इतरतौल्याद् गौणत्वापत्तिश्चेत्युभयतःपाशारज्जुरित्यर्थः ।

अत्र समादधते नेत्यादि । कृद्योगे कर्मणिषष्ठ्यनुशासनेऽपि विभक्तीनां विवक्षाधीनत्वात् समासस्य सामर्थ्यमात्रापेक्षितत्वाच्च ब्रह्मणः कर्मत्वे अविवक्षिते कर्मषष्ठ्यभावेन शेषषष्ठ्यामपि सामर्थ्यात् समाससिद्धेर्व्याकरणविरोधाभावः । सर्वेषां प्रतिज्ञातत्वसिद्ध्या न कस्याप्याकस्मिकत्वम् ।

रश्मिः ।

सूत्रमित्यर्थः । तथा च ब्रह्मजिज्ञासाधिक्रियते इति पदार्थफलकभाष्यम् । अधिकारार्थ एव श्रेयानिति । अवचन इति । प्राप्त इत्यत्र ज्ञेयम् । व्याकरणविरोध इति 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति सूत्रविरोध इत्यर्थः । उभयतःपाशारज्जुरिति उभयतो बन्धनरज्जुरश्वादिर्यथा उभयदेशे निवृत्तव्यापारो भवति तथा संपन्नमित्यर्थः । अथवा उभयतः पाशौ बन्धनसाधने ग्रन्थी यस्याः सोभयतःपाशा तादृशी रज्जुर्जलाहरणविशेषादौ प्रसिद्धा कचित् । विवक्षाधीनत्वादिति षष्ठ्याद्युः कर्मादीनामपि संबन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येवेति । सामर्थ्यमात्रेत्यादि 'समर्थः पदविधिः' इति सूत्रादित्यर्थः । समासादिवृत्त्यवृत्तित्वेन सामर्थ्यमिह व्यपेक्षा नास्ति अपित्वेकार्थीभावः । स च विशेषणविशेष्यभावावगाह्युपस्थितिजनकत्वं संसृष्टार्थं समर्थमिति भाष्योक्तेरिति शेखरे । पदविधिरिति पदमुद्दिश्य यो विधीयते समासादिः स समर्थ इत्युच्यते तथा च सामर्थ्यमित्यवसेयम् । तद्विग्रहवाक्यार्थाभिधाने शक्तत्वमिदमेव एकार्थीभाव इति व्यवह्रियते, व्यपक्षेति नैयायिकाः, तत्र एतौ अजहत्स्वार्थायां जहत्स्वार्थायां चान्तर्भवतः । पदानि स्वाभिधेयानि न जहति यस्यां साऽजहत्स्वार्था सा चावगतसामर्थ्यानां शब्दानां समासघटकानां शक्तिलक्षणाभ्यां वाक्यार्थबोधाद्भवति । अत्र न समासादौ अन्या शक्तिः कॢप्तशक्त्यैव निर्वाहात् तत्त्यागापत्तेश्च । इयमेव व्यपेक्षा इति । तच्च मतान्तरमिति महाभाष्यकृत् । 'सविशेषणानां वृत्तिर्न वृत्तस्य वा विशेषणयोगो न' इति वार्तिकान् न ऋद्धस्य राजपुरुष इति प्रयोगापत्तिरत्र । एतद्विपरीता तु जहत्स्वार्था । तत्र वृषभयावकादिपदेषु वृषयवादि पदवत् समासघटकपदानां पुनर्बोधकतां विहाय समासे शक्तिः तयैव च राजसंबन्धिपुरुषबोध इति एकार्थीभावः । अन्यथा ऋद्धस्य राजपुरुष इत्यापद्येत । इत्येवंविधसामर्थ्यमात्रापेक्षित्वादित्यर्थः । अविवक्षित इति सर्पिषो जानीते इतिवदविवक्षित इत्यर्थः । कर्मषष्ठ्यभावेनेति । 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति श्रुतेः कारकत्वाभावादपि कर्मषष्ठ्यभावेनेत्यप्यर्थोऽत्र बोद्धव्यः । समाससिद्धेरिति 'कृद्योगा च षष्ठी समस्यते' इत्यत्र शेषे षष्ठ्यपि कृद्योगेति समाससिद्धेः । सर्वेषामिति ननु सर्वेषामित्यत्र निविष्टपुरुषमुख्यत्वेप्यक्षरस्य वेदार्थत्वेन वेदवाचकब्रह्मपदोपादानात्तत्पुरःसरं सर्वेषां प्रतिज्ञानत्वसिद्धेः परस्य पुरुषोत्तमस्य जगद्व्यापारवर्ज्याधिकरणस्यापि विषयस्याप्रतिज्ञानार्थत्वमिति चेन्न । ब्रह्मपदवाच्यवेदाभिधेयत्वस्याक्षर एव तात्पर्यवृत्त्या प्रतिपाद्यत्वस्य परे सत्त्वात् । 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इति श्रुतेः । तथाच ब्रह्मजिज्ञासेत्यस्या ब्राह्मीभिन्ना ब्रह्मसंबन्धिनी जिज्ञासेति बोधः । तथा चोक्तम् ।

'जहत्स्वार्थाजहत्स्वार्थे द्वे वृत्ती ते पुनस्त्रिधा ।
भेदः संसर्ग उभयं वेति वाच्यव्यवस्थितेः' । इति भूषणे ।

अर्थस्तु त्रैविध्यं वदत्यत्र भेद इत्यादि । भेदः अन्योन्याभावः । व्यर्थोऽयं प्रयास इति चेन्न ।

तज्ज्ञानोपयोगि सर्वमेव प्रतिज्ञातं वेदितव्यम् । न च गौणतापत्तिरजिज्ञास्यत्वं च स्यातामिति वाच्यम् । ब्रह्ममात्रे संदेहाभावात् । संदिग्धस्यैव जिज्ञास्यता । गौणत्वं तु शब्दत एव, न स्वरूपतः ।

भाष्यप्रकाशः ।

तर्हि गौणत्वाजिज्ञास्यत्वे स्यातामित्यत आहुः नचेत्यादि । केन प्रकारेणाजिज्ञास्यत्वमापद्यते । किं ब्रह्मत्वेन, उत रूपान्तरेण । तत्राद्ये त्वोमिति ब्रूमः । अध्ययनादिदशायां, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिवाक्यार्थावधारणादेव तत्स्वरूपे सत्तायां च संदेहाभावात् । किंतु यद् वेदे लक्षितं ब्रह्म, तत् किम् । येन वेदे नानापदार्थानां लक्षितत्वेऽप्याम्नायव्याख्यानरूपे भारते विवृतत्वेऽप्येत-

रश्मिः ।

राजपुरुषः सुन्दर इतिवद्राजपुरुषो देवदत्तस्य इति धारणाभ्युपगमात् । भेदस्य वाच्यत्वे तु तद्विरुद्धोयमप्रयोगः । संबन्धस्यैव सार्वजनीनत्वादाह संसर्ग इति । एतदुभयं वाच्यमस्तु विनिगमनाविरहादस्वामिकेपि राजपुरुष इत्यापत्तेश्चेत्याह उभयं वेति । तथाचाराजकीयभिन्नो राजसंबन्धवांश्चायमिति बोधः । व्यपेक्षावादिनस्तु राजपुरुष इत्यत्र राजसंबन्ध्यभिन्नः पुरुष इति बोधः । राजपदस्य राजसंबन्धिनि लक्षणेत्यभ्युपगमात् । सविशेषणराजपदस्य सविशेषणतत्संबन्धिनि लक्षणोपगमात् । न शोभनराजपुरुष इत्यादौ एकदेशे राज्ञि शोभनान्वयानुपपत्तिः । उक्तं त्विष्टमेव । एवं सति पूर्वतश्रीयो निषादस्थपतिं याजयेदित्यत्र लक्षणादोषग्रस्तो न षष्ठीसमासः किंतु कर्मधारय इति सिद्धान्तः संगच्छते इति वदन्ति । तथा च ब्रह्मसंबन्धिनी जिज्ञासेत्येव बोधः । इत्यत आहुरिति इति इदमाशङ्क्य प्रतिविधानमाहुरित्यर्थः । ब्रह्ममात्र इत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति केनेत्यादि । रूपान्तरेणेति वेदलक्षितत्वेन सर्ववेदार्थनिर्वाहकरूपेण सर्वविरुद्धधर्माश्रयत्वेनेत्यर्थः । तत्स्वरूपे सत्तायां चेति सत्यज्ञानानन्दाः स्वरूपभूताः 'अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः' इति श्रुतेः सत्ता । यथा चन्द्रमसि द्रव्ये चित्स्वरूपे आनन्दस्वरूपता, यद्यज्जनकं तत्तद्गुणकमिति वक्ष्यमाणव्याप्तेः । दृष्टान्तत्वात्त्वानन्दगुणकता अत एव साकारता । तथाच श्रुत्यन्तरं 'सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इति 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति' इति च । इदानीं शेषषष्ठीपक्षं समर्थयन्तः संदिग्धस्येत्यादि भाष्यं विवृण्वन्त अन्यद्रूपमाहुः किंतु यदित्यादि । यद्वेदे जगत्कर्तृत्वादिना रूपान्तरेण लक्षितं ज्ञापितं ब्रह्म तदजिज्ञास्यमिति वक्तव्यमिति सशेषा योजना । किं स्विति वितर्के । तथा च वेदलक्षितत्वेन रूपान्तरेण तत्राजिज्ञास्यत्वमापादनीयमित्यर्थः । अत्र पृच्छन्ति किमिति तत्किमित्यर्थः । देहलीदीपन्यायेन तदित्यस्योभयान्वयित्वात् । एवमापादनं किंहेतुकमिति प्रश्नः न संभवतीति फलितोर्थः । तत्र हेतुमाहुः येन वेद इत्यादि । येनेत्येतज्जिज्ञासेत्यनेनान्वेति । तथा च वेदे नानापदार्थानामन्नादीनां जगत्कर्तृत्वेन लक्षितत्वेप्याम्नायव्याख्यानरूपे भारते विवृतत्वेपि येन हेतुनैतस्य लक्षितब्रह्मणो जिज्ञासा प्रस्तूयते अतोस्य संदिग्धत्वेन जिज्ञास्यत्वमित्यर्थः । तथा चान्नादि ब्रह्म आनन्दो वा ब्रह्म इत्येवं संदिग्धस्यैव जिज्ञास्यतेति भाष्यार्थः । अथवा प्रकृत्यादिगतं जगत्कर्तृत्वं ब्रह्मगतं वा तत् । अथवा 'क्रियाशक्तिज्ञानशक्ती संदिह्येते परस्मिते' इति हृदयम् । लक्षितजिज्ञासाप्रस्तावस्तु जन्माद्यस्य यत इति सूत्राद् बोध्यः । यदीत्यादि यदि ब्रह्मज्ञानस्य मोक्षसाधनत्वेन हेतुना एतज्जिज्ञासैव प्रस्तूयते इति मन्यते तर्हि कथमन्नादिज्ञानेषु ब्रह्मज्ञानस्यैव मोक्ष-

१. चित्स्वरूपे ब्रह्म ।　२. त्वन्नदाम्नाय ।

भाष्यप्रकाशः ।

जिज्ञासैव प्रस्तूयते । यदि तज्ज्ञानस्य मोक्षसाधनत्वेन, तर्हि कथं तज्ज्ञानस्यैव तथात्वम् । यदि वेदार्थत्वेन तज्ज्ञानस्य तथात्वं, तदा धर्मविचारेणैव गतार्थता । षोडशलक्षण्या सर्वस्यैव तस्य निर्णीतत्वात् । अत एव न वेदान्तार्थत्वेन । अतः सर्ववेदार्थतानिर्वाहकवक्ष्यमाणरीतिकगुणवत्तया जिज्ञास्यत्वं वक्तव्यम् । ततश्च तादृशगुणवत्त्वेनैतस्य जिज्ञास्यतासिद्धेर्नाजिज्ञास्यत्वम् । नापि गौणत्वापत्तिः । गुणजातस्य ब्रह्मसंबन्धित्वेन जिज्ञास्यतया ब्रह्मणो मुख्यत्वस्यैव सिद्धेः । शब्दतो गौणत्वं

रश्मिः ।

साधनत्वमित्यर्थः । ब्रह्मण एव वेदार्थत्वादुपपन्नमित्याह यदि वेदार्थत्वेनेत्यादि । अतस्तज्जिज्ञासैव प्रस्तूयत इति पूर्वेणान्वयः । अथापि नतरां जिज्ञास्यमित्याहुः तदा-धर्मेत्यादि । षोडशलक्षण्येति उक्तार्थमेतत् । अत एवेति धर्मविचारेङ्गतया ब्रह्मविचारस्य प्रविष्टत्वादुक्तहेतोरेवेत्यर्थः । सिद्धमाहुरत इति । लक्षितजिज्ञासायाः वितर्कासंभवादित्यर्थः । वक्ष्यमाणरीतिकेति अग्रिमाधिकरणवक्ष्यमाणरीतिकेत्यर्थः । तथा च यदि कर्मणिषष्ठी परिगृह्यते तदा ब्रह्म यदि प्रसिद्धं, तर्हि जिज्ञासाकर्मतानुपपत्तिः । अप्रसिद्धं चेत्सुतरां तदनुपपत्तिः । नह्यप्रसिद्धमुद्देश्यं भवति । यदि च प्रसिद्धत्वेपि चैतन्यविशिष्टं देहमात्रमात्मेति प्राकृतलोकायतिकयोः प्रसिद्धिः । चेतनानीन्द्रियाणि आत्मेति तदेकदेशिनः । मन इत्यपि । तथा क्षणिकविज्ञानमात्रमित्यपि, एवं शून्यमित्यपि । देहादिव्यतिरिक्तः संसारी कर्ता भोक्तेति वैशेषिकाः, भोक्तैव केवलं न कर्तेति सांख्याः, अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तीरिति योगिनः । एवंविधप्रतिपन्नात्मविलक्षणस्य जीवस्य स्वरूपभूतात्मनः प्रतिपत्तये विचारात्कर्मताऽविरोधान्नानुपपत्तिरिति विभाव्येत तदापि ब्रह्म नात्ममात्रमिति जिज्ञासाकर्मतानुपपत्तिः पदार्थविरोधश्च । न च 'अयमात्मा ब्रह्म' इति श्रुतेर्न स इति वाच्यमंशत्वेनोपपत्तेः, अतः शेषषष्ठी युक्ता, अन्वयोपपत्तेरिति सूक्ष्मदृशावधेयम् । तेन प्रसिद्धकर्मत्यागेपि न पिण्डमुत्सृज्य करं लेढीति न्यायप्रसरः । गौणत्वं त्वित्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति नापीत्यादि । न च अत्र ब्रह्मसंबन्धिनी जिज्ञासेत्यर्थात् ब्रह्मसंबन्धिसंबन्धिजिज्ञासाभावात्कथं गौणत्वापत्तिरिति वाच्यं. गुणजातस्याशेषस्य ब्रह्मत्वात् । न चैवं कर्मषष्ठीपरिग्रह एव श्रेयानित्यायातीति वाच्यं, ब्रह्मण एव ईप्सिततमत्वप्राप्त्या तच्छक्तीनां भेदपक्षेऽविचार्यतापत्तेः असंभवाच्चेत्युक्तम् । ननूक्तं तेषां ब्रह्मत्वमिति चेत्, न, अंशत्वादुपपत्तेः । ननु 'तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म' इति श्रुत्या ब्रह्मणः कर्मत्वात् कर्मषष्ठीपरिग्रहो ज्यायानिति चेन्न विरोधनिराकरणादीनामप्रतिज्ञातार्थत्वापत्त्या तस्याः श्रुतेरविषयत्वात् । किंतु 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति श्रुतेर्विषयः । मननस्य पदज्ञानपूर्वकत्वात् 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इति पूर्वमीमांसाकारिकासु तदुक्तं पूर्वम् । ननु एवमपि आत्मनः कर्मत्वात्कर्मषष्ठ्यापत्तिरिति चेन्न । जिज्ञासापदस्याकर्मकज्ञानेच्छाप्रकृतिकत्वात् । ज्ञा अवबोधने । ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा इतिभावे घञ् । ननु घटं जानातीति सकर्मकत्वमिति चेन्न । अत्र फलव्यधिकरणव्यापारबोधकत्वादस्तु सकर्मकत्वमत्र तु फलसमानाधिकरणव्यापारबोधकत्वेनाकर्मकत्वात् । न चात्रापि फलव्यधिकरणव्यापारोस्तु इति शङ्क्यम् । जिज्ञासापदस्य विचारे शक्तेः । विचारस्य च युक्तिभिरनुचिन्तनरूपस्य ब्रह्माविषयत्वात् । 'ज्ञानशक्तिक्रियाशक्ती संदिग्धेते परस्थिते'

१. आदिशब्देनाभोक्ष्जोपि । २. संबन्धिसंबन्धिनोपि ।

वेदप्रामाण्यं तु प्रतितन्त्रसिद्धत्वान्न विचार्यते ।

भाष्यप्रकाशः ।

तु न स्वरूपमुख्यत्वविघातकम् । पुत्रः पित्रा सहागत इत्यादौ तथादर्शनादिति । नन्वस्त्वेवं, तथापि वेदार्थस्य ब्रह्मणो वेदानुकूलो विचारोऽत्र प्रतिज्ञात इति तदर्थं वेदप्रामाण्यमपि विचारणीयम् । तदत्र कुतो न विचारितम् । यतो न विचारितं, ततो न वेदार्थत्वेन विचार इति पक्षो न युक्त इत्यत आहुः वेदेत्यादि । प्रतितन्त्रसिद्धत्वादिति आस्तिकं तन्त्रमात्रं लक्ष्यीकृत्य सिद्धत्वात् । न हि नास्तिकनिग्रहायाचार्यस्य विचारे प्रवृत्तिः, किंत्वास्तिकशिक्षणाय । ते तु सर्वे वेदप्रामाण्ये निर्विचिकित्सा इति प्रयोजनाभावान्न विचार्यते । तावता न वेदानुकूलविचारस्वहानि-

रश्मिः ।

इति भाष्यकारिकायाः 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति श्रुतेर्ब्रह्मणोऽसंदिग्धत्वात् । अत एव 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यधिकरणे क्रियाशक्तिर्निरूपिता । ततश्च ब्रह्मण इति शेषषष्ठी न कर्मणि । 'तद्विजिज्ञासस्व' इतिश्रुतौ जिज्ञासाया विचारार्थकत्वे तच्छब्दात्षष्ठ्या लुक् ब्रह्मणः कर्मत्वाभावात् । किंतु ज्ञानशक्तेः क्रियाशक्तेर्वेदस्य कर्तृत्वम् । यद्वा तद्विजिज्ञासस्व इत्यर्थविषया ब्रह्मादिरूपार्थब्रह्मपरत्वात् सूत्रे वेदान्तशब्दविषये न प्रवर्तत इति । तथादर्शनादिति पित्रेति सहार्थतृतीयान्तशब्दस्य पितृस्वरूपमुख्यत्वविघातत्वकाभावदर्शनादित्यर्थः । न वेदार्थत्वेनेति वेदानुकूलत्वान्न वेदार्थत्वेनेत्यर्थः । न युक्त इति प्रमाणवेदार्थत्वरूपप्रतियोगिज्ञानाभावान्न युक्तः । निर्विचिकित्सा इति । अत्र वदन्ति वैशेषिकाः शाब्दं हि उपनीतं मन्तव्यम् । श्रोत्रमात्रजन्यत्वात् । पदानां चोपनायकत्वात् । अन्वयधीरप्यनुमितिः एते पदार्थास्तात्पर्यविषये मिथःसंसर्गवन्तः आकाङ्क्षादिमत्पदस्मारितत्वाद्योग्यतासत्तिमत्त्वे सति संसर्गापरपदस्मारितत्वाद्वेत्यनुमानात् । घटोस्तीत्यत्र घटोऽस्तित्ववान् तद्योग्यत्वात् पटवदित्यनुमानाद्वा । न चान्वयव्यतिरेकाभ्यां शब्दस्य कारणतेति वाच्यम् । हेतुशरीरघटकत्वेन हेतुत्वेन वान्वयव्यतिरेकानुविधानोपपत्तेस्तस्यातिरिक्तकारणताग्राहकत्वाभावात् । तस्मान्न शब्दः पृथक्प्रमाणं, अतो वेदस्योपनायकतामात्रमिति । अत्र नैयायिकास्तिष्ठन्ते, स्वाशयं प्रकाशयन्तीत्यर्थः । 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' इति सूत्रेणात्मनेपदम् । बाधकप्रमाणाभावो योग्यता सा च न लिङ्गविशेषणम् । प्रमाभावविरहस्य सर्वत्र निश्चेतुमशक्यत्वात् । तत्संशयेपि शब्दादन्वयबोधाच्च । शब्दप्रामाण्ये योग्यतायाः संशयसाधारणं ज्ञानं प्रयोजकमिति शब्दप्रमाणमिति । किंचाकाङ्क्षाया हेतुशरीरनिविष्टायाः अन्वयबोधानुकूलानुपूर्वीपर्यवसायिन्या न भूतपूर्वत्वमतो न तद्घटितो हेतुः । नहि मिथःसंसर्गाज्ञातुर्देवदत्तो ग्रामं गच्छतीति वाक्यस्यान्वयबोधानुकूलायाः ग्रामं गच्छति देवदत्त इत्येवं विधानुपूर्व्या ज्ञानमस्ति, तथायोग्यत्वहेतुकानुमानेपि अज्ञातस्य तस्यानुपयोगात्, स्वरूपसत्ताया अकारणत्वेन हेतुतायास्तज्ज्ञाने पर्यवसानात्तज्ज्ञानं लिङ्गमिति वाच्यं, तत्तु बाधाभावनिश्चयमात्रं जनयित्वा कृतार्थमिति न हेतुतां निर्वोढुमलम् । अपि च अस्तित्वव्याप्ययोग्यतावान् गौरित्यनुमानस्यान्वयबुद्धित्वे घटः कर्मत्वमित्यादिस्थलीयस्य घटः कर्मत्वमानयनं कृतिस्तद्व्याप्ययोग्यत्ववान् युष्मदर्थः इत्यनुमानस्यापि शाब्द-

१. योग्यतालक्षणघटकप्रमाभावस्य लक्षणविशेषणीभूतस्य प्रमामात्रस्य विशेष्यान्वितविरहस्य विशेषणेऽन्वयाद्विरहस्येत्यर्थः ।

रश्मिः ।

शुद्धित्वापातः । किंच । योग्यतायाः संशयविषयिण्याः अप्यन्वयबुद्धिविघटकत्वाभावदर्शनादनुमितिविघटकत्वदर्शनाच्च वैलक्षण्याहितो भेदः । तेनान्यान्येप्याकाङ्क्षाघटितलिङ्गकानि गौरस्तित्ववान् स्वधर्मिकास्तित्वान्वयबोधानुकूलाकाङ्क्षाश्रयपदस्मारितत्वात् घटवत् । गौरिति पदं अस्तिमद्रोज्ञानपूर्वकं अस्तिपदसाकाङ्क्षगोपदत्वात् यन्नैवं तन्नैवमाकाशवत् । लौकिकानि पदानि वैदिकपदानि वा तात्पर्यविषयस्मारितपदार्थसंसर्गज्ञानपूर्वकाणि आकाङ्क्षादिमत्पदकदम्बत्वात् घटमानयेति पदकदम्बवत् । इतीमान्यनुमानानि प्रयुक्तानि । किंच व्याप्तिज्ञप्तिविधुरेणापि शाब्दबोधोनुभूयते इत्यविवादं नापि तत्र व्याप्तिज्ञप्तेः कल्पनं शब्दश्रवणानन्तरं द्रागेव बोधात् । सर्वेषु शाब्देषु व्याप्तिज्ञानकल्पनमिव यावदनुमितिस्थले पदज्ञानं कल्पयित्वा शाब्दबोधस्यापि सुकरकल्पनत्वाच्च । अस्तु तर्हि श्रावणप्रत्यक्षता । मैवम् । हेतुसंस्कारयोरपि साकाङ्क्षपदवत् उपनायकतायाः शक्यवचनत्वेन तदुपस्थापितस्याप्युपनयमर्यादया भानापत्तेः । न चेष्टापत्तिः आकाङ्क्षादिमत्पदस्मारितत्वादिरूपाद्धेतोः पदजन्यसंस्काराद्वा प्रत्येमीत्यापत्तेः । भवति तु शब्दात् प्रत्येमीत्याद्यनुव्यवसायः । ननु तत्तदर्थविषयकशाब्दबुद्ध्यनुव्यवसायं प्रति शाब्दबुद्धेस्तावत् तत्तदर्थकसाकाङ्क्षपदजन्यतत्तदर्थगोचरशाब्दत्वेन विषयविधया हेतुताद्रियतेऽतः शाब्दस्यैवोपनयमर्यादया भानं न हेतुसंस्कारयोरिति चेन्न गौरवात्, घटेन जलमाहरेत्यादौ इतरबाधलब्धछिद्रेतरत्वादेरर्थाक्षिप्तस्यापदार्थस्यापि शाब्दबोधेवगाहात् प्राप्तस्य तद्विषयकानुव्यवसायस्य बाधाप्रसक्तेर्गवादेरिवास्तित्वादौ गत्वादेरपि भानप्रसङ्गात् । अपि च शाब्दज्ञानस्य श्रवणजन्यत्वाभ्युपगमे पदार्थान्वयबोधदशायामपदार्थानामपि स्वसामग्रीबलेन प्रत्यक्षतापत्तिः । ननु श्रावणप्रत्यक्षसामग्री अपदार्थानां श्रावणप्रत्यक्षे प्रतिबन्धिका भविष्यतीति चेन्न प्रत्यक्षसामान्यं प्रति शाब्दसामग्र्याः प्रत्यक्षसामग्रीकोटिनिविष्टतया प्रतिबन्धकताऽसंभवात् । न च शाब्दान्यप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति तस्यास्तथात्वकल्पनाददोष इति वाच्यं, गौरवात् । तदपेक्षया शाब्दज्ञानस्य प्रत्यक्षभिन्नत्वकल्पनमेव लघीय इति । अतोन्वयबुद्धेः श्रवणेन्द्रियजन्यत्वाभावान्न प्रत्यक्षता । तस्माद्घटोस्ति गामानयेत्यादौ स्वस्वपदजन्यपदार्थोपस्थित्यनन्तरं घटादावस्तित्वाद्यन्वयविषयकस्य विलक्षणबोधस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यामाकाङ्क्षादिमच्छब्दकारणकस्य नोपनीतभानता । नचान्वयबोधो नास्त्येवेति व्यर्थः प्रयास इति शङ्क्यम् । अनुभवविरुद्धत्वात् तस्यासाधकत्वेऽनुमितिरपि न स्यात् । न च वक्तव्यं पदजन्यसंस्कारजन्यत्वात् शब्दसिद्धिः स्मृतिरूपास्तु शब्दात्प्रत्येमीत्यनुव्यवसायविरोधात् । किंच घटास्तित्वयोर्गोकर्मत्वानयनानामेवोपस्थित्या तद्विषयकस्यैव संस्कारस्य जननेऽन्वयविषयस्याजननात्स्मृतित्वं न शक्यवचनमतः शब्दोऽतिरिक्तां प्रमाणतां दधाति । परंतु शब्दशतादपि प्रत्यक्षविरुद्धं प्रतिपादयितुमशक्यमिति शब्दः प्रत्यक्षमुपजीवति तेनानाप्तोक्ते न प्रामाण्यमिति । किंच । श्रोत्रसापेक्षः शब्दः । स्वस्वरूपलाभेपीतः प्रत्यक्षं प्रबलमिति । अत्रापि अयं विशेषः । शब्दस्यैव प्राबल्यमिति स्थितमाकरे । तथाहि प्रामाण्यांशे श्रोत्रसापेक्षताभावेन स्वरूपलाभे सापेक्षता न प्राबल्यं विघटयति । श्रुतमात्रशब्दश्चक्षुरादितिरस्कुर्वन्नेव पदार्थमुपस्थापयतीति । एवं च प्रत्यक्षं नोपजीवति शब्दः, वेदे तदभावात् । लोकानधिगतस्याप्यग्निहोत्रादेर्विधानात् । न च सोपि योगिनां प्रत्यक्षः । मानाभावात् । योगादेर्मानान्तरेण धर्मादिप्रत्यक्षजननसामर्थ्यस्याज्ञानात् तदर्थप्रवृत्त्यनुपपत्तिश्च । न चादृष्टं प्रवर्तकं, सत्कर्मकरणेन तदुत्पत्तेः । परंपराप्यादिसर्गवादादवक्तव्या । अनादिसर्गवादिभिस्तु वेदोऽपौरुषेयो धर्मप्रमितिं

तस्माद् ब्रह्म जिज्ञासितव्यमिति सिद्धम् ॥ १ ॥

॥ इति प्रथमाध्याये प्रथमपादे प्रथमं जिज्ञासाधिकरणम् १ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

रित्यर्थः । सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि । ब्रह्मसंबन्धिनां विचारेऽपि ब्रह्मणो विषयत्वस्यार्थतः सिद्धत्वात् तादृशगुणकत्वेन ब्रह्म जिज्ञास्यमिति सिद्धमित्यर्थः । अपेक्षितगुणवत्त्वयैवात्र ब्रह्म जिज्ञास्यं, न त्वशेषविशेषशून्यतयेति शेषषष्ठ्येव युक्तेत्यत्र गमकमप्याहुः किंच इत्यादि', इतीत्यन्तम् । तथा च प्रथमसूत्रे ब्रह्मविचारं प्रतिज्ञाय ब्रह्मणो येन रूपेण वेदार्थता तानि रूपाणि प्रकारांश्च वक्तुमग्रिमे कार्यलक्षणं प्रमाणं च वदतीत्यतस्तथेत्यर्थः । एवं विषये निर्द्धारिते प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः संबन्धोऽप्यनुक्तसिद्ध एवेति प्रेक्षावत्प्रवृत्त्युपयुक्तं सर्वमत्र निरूपितम् । प्रकारभेदेन काण्डद्वयस्यापि ब्रह्म-

रश्मिः ।

जनयतीति स्वीकाराच्च । नापि स्वभावः प्रवर्तकः । तस्यापि मूलविमर्शे वेद एव विश्रान्तेः । ईश्वरेच्छयेत्यपि न युक्तं, शब्दं विना तस्या एवासिद्धेः । तदग्रे स्फुटिष्यति । निःश्वसितश्रुतेरबुद्धिपूर्वकमेवाभिव्यञ्जनान्नेश्वरप्रत्यक्षोपजीवकत्वं, तेन वेदः प्रमाणम् । इदं चौत्पत्तिकसूत्रतात्पर्यार्थकथने उक्तमपि स्पष्टप्रतिपत्तिप्रयोजनकम् । अस्मदादिमुखेनापि ब्रह्मैव क्रीडयितुं वाक्यं वदति इति सर्वाणि वाक्यानि वेदतुल्यानि ब्रह्मवाक्यत्वादिति सिद्धान्तः । 'स एष जीवो विवरप्रसूतिः' इत्यत्र 'एवं गतिः' इति ह्यतिदेशात् । अत्र श्रोत्रं प्रमाणकं शब्दस्त्वतिग्रहः 'श्रोत्रं वै ग्रहः स शब्देनातिग्रहेण गृहीतः श्रोत्रेण शब्दाञ्छृणोति' इति बृहदारण्यकश्रुतेः । 'चक्षुर्वै ग्रहः स रूपेणातिग्रहेण गृहीतः रूपं पश्यति' इतिवदानुपूर्व्या अभावात् । अत एव शब्दगुणकमाकाशमित्याकाशलक्षणे शब्दप्रवेशः । उष्णस्पर्शवत्त्वं तेजस्त्वमिति तेजोलक्षणेन रूपप्रवेशः कृत इति शुभम् । न चैवं सकलवाक्येषु निर्दुष्टत्वं स्यात् । न । योग्यावयवैरेव वाक्यनिर्माणोपगमात्, योग्यावयवैरेव पदार्थनिर्माणवत् । अन्यथा घोटकस्य निर्मातुः शृङ्गनिर्माणमप्यापद्येत । क्रीडैव प्रयोजिकेति तु तत्त्वम् । एवं निःसंदेहा इत्यर्थः । यथादर्शनमाहुः ब्रह्मसंबन्धिनामित्यादि । न च ब्रह्मपदस्य वेदान्तवाचकत्वं 'वेदान्तानां विचार आरम्भणीयो न वेति' भाष्येण सिद्ध्यति । ततश्च वेदान्तानां विचार आरम्भणीय इति सिद्धमिति भाष्यमस्तु । न तु ब्रह्मजिज्ञासितव्यमितिभाष्यं सिद्धकथनभाष्यत्वादिति वाच्यं 'षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इतिश्रुतेः । षडङ्गैरेव निर्वाहे मीमांसाया अनङ्गत्वेन वेदान्तविचारानावश्यकत्वेऽस्य शास्त्रस्यानुपयोगेनारम्भणीयतास्यात्तन्निवृत्त्यर्थमारम्भणीयताप्रतिपादनपुरस्कारेण वेदान्तेषु मुख्यतया प्रतिपाद्यस्फोरणाय अथातो वेदान्तविचारः' इत्यसूत्रयित्वा 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति सूत्रणादत्रैव सूत्रान्त इति करणसामर्थ्यात्किंचेत्यस्यान्यथेत्यर्थात् च पूर्वशेषतायाः संभवदुक्तिकत्वाद्देहलीदीपन्यायेनाभासमवतारयन्ति अपेक्षितेत्यादि । अतस्तथेत्यर्थः । उक्तग्रन्थसंवादाच्छेषषष्ठ्येव युक्तेत्यर्थः । एतेन 'तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म' इति श्रुत्येकवाक्यतायै कर्मणि षष्ठी युक्तेत्यपि प्रत्युक्तम् । स्वरूपलक्षणं परित्यज्य कार्यलक्षणकथनेन शेषषष्ठ्यामेव व्यासचरणानां तात्पर्यात् । प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावसंबन्ध इति मीमांसाब्रह्मधर्मयोः स संबन्ध इत्यर्थः । अत्रेति जिज्ञासाधिकरण इत्यर्थः । प्रकारभेदेनेति क्रियाज्ञानत्वभेदेनेत्यर्थः ।

१. द्वितीयसूत्रविवरणे द्रष्टव्यम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

प्रतिपादकतयैकवाक्यत्वसमर्थनान्मीमांसाद्वयस्यैकशास्त्रत्वसूचनेन वृत्तिकाराविरोधोऽपि बोधितः ।

शांकरास्तु ब्रह्म जिज्ञास्यं न वेति संदेहे, अहंवित्तिवेद्यत्वेन प्रत्यक्षस्यात्मन एव ब्रह्मत्वान्न जिज्ञास्यमिति पूर्वपक्षे कर्तृत्वादिशून्यनिर्विशेषचिदेकरसत्वेन जिज्ञास्यत्वमङ्गीकृत्य केवलज्ञानादेव मोक्षं चाङ्गीकृत्य मोक्षं प्रति केवलज्ञानस्यैव हेतुत्वाज्ज्ञानकर्मसमुच्चयं नाङ्गीकुर्वन्ति । तन्मते पूर्वोत्तरकाण्डयोः स्वर्गमोक्षरूपप्रयोजनभेदात् कर्मब्रह्मरूपाभिधेयभेदाच्छेषशेषिभावाद्यभावेन परस्पराकाङ्क्षाभावादैकवाक्यत्वाभावे उत्तरकाण्डस्य वेदान्त इति समाख्याया विरोधः । नापि कर्मशेषभूतकर्तृस्वरूपप्रतिपादकत्वेनापेक्षा । कर्मानुपयुक्तकर्तृभोक्तृभावशून्यात्मप्रतिपादकताभ्युपगमात् । नापि कर्मपौष्कल्यजनकविद्याप्रतिपादकत्वेन सा । 'यदेव विद्यया करोति तदेवास्य वीर्यवत्तरं भवति' इति वाक्यस्योद्गीथविद्यामुपक्रम्य पठितत्वेन तन्मात्रस्य त्वन्मते तथात्वबोधकतया सर्वस्य काण्डस्य तथात्वसंपादनाक्षमत्वात् । मानवी ऋचौ धाय्ये कुर्यादितिवत् । न च वैदिकाभिधाने स्वरादिनियमयोगेनैकवाक्यत्वमिति शक्यं अप्रयोजकत्वात्, सूत्रोक्तैकवाक्यलक्षणविरोधात् । न च

रश्मिः ।

वृत्तिकारेति संहतमेतच्छारीरकं जैमिनीयेन षोडशलक्षणेनेति ब्रुवतो वृत्तिकारस्याविरोध इत्यर्थः । आत्मन एवेति जीवस्यैवेत्यर्थः । सेति पूर्वकाण्डस्योत्तरकाण्डापेक्षेत्यर्थः । त्वन्मत इति अस्मन्मते तु यत्तदिति सामान्यनिर्देशस्य विवक्षितत्वान्न तथात्वमिति बोध्यम् । तन्मात्रस्येत्यादि उद्गीथविद्यामात्रस्य । कर्मपौष्कल्यजनकत्वबोधनात् न तथा सर्वस्योत्तरकाण्डस्य कर्मपौष्कल्यजनकविद्याप्रतिपादकत्वसंपादनाक्षमत्वादित्यर्थः । न च किंचौपनिषदज्ञानस्येत्यादि भाष्येऽप्ययं दोषः इति शक्यं 'विदुषः कर्मसिद्धिः स्यात्तथा नाविदुषो भवेत्'इति न्यायमनुसृत्य श्रुतौ विद्याशब्दो न संकोचसहिष्णुरिति भाष्याशयात्, अत एवात्र त्वन्मत इत्युक्तम्' एवं च

'यदेव विद्ययेत्याह ब्रह्मा ब्रह्मिष्ठ एव च ।
तज्ज्ञानं तेषु हि प्रोक्तं कर्तृशेषा यतस्तु ते' ॥

'ज्ञाननिष्ठाय देयानि कव्यानि' इति यथा तथेति पत्रावलम्बने विवरणे चास्या उद्गीथप्रकरणावरुद्धत्वेन विद्यान्तरासंग्राहकत्वं यदुक्तं तदप्युक्तदिशैव 'त्वन्मते' इति कथनादिति ध्येयम् । मानवीत्यादि इयं श्रुतिर्द्वितीयाष्टकेस्ति विकृतिरूपे सौमारौद्रे चरावतिदेशतः प्राप्तासु सामिधेनीषु मध्ये द्वौ धाय्यासंज्ञिकौ मन्त्रौ प्रक्षेप्तव्यौ तौ मानवौ कर्तव्यावित्यर्थः । 'प्रवो वाजा अभिद्यव' इत्याद्या अग्निसमिन्धनार्था ऋचः सामिधेन्यस्तासु द्वयोरेव मानवीत्वकृत्ववद्विद्यासूद्गीथविद्याया एव कर्माङ्गत्वमिति भावः । मतान्तरमुपक्षिप्य वारयन्ति न च वैदिकेत्यादि । वैदिकानामभिध्यानं वेदान्तेषु वेद इति वर्तते यतस्ते स्वरपूर्वकमनध्यायादित्यजन्तः वेदान्तान्पठन्ति पाठयन्ति च । अत एकवाक्यत्वं धर्मातिरिक्तब्रह्मप्रतिपादनादिति शक्यमित्यर्थः । अत्र हेतुमाहुरप्रयोजकेत्यादि । ब्रह्मप्रतिपादकताया उक्तत्वाद्वेद इति प्रसिद्धिमात्रेण तयोरेकवाक्यताया असिद्धेस्तथात्वादित्यर्थः । अत्रापि हेतुमाहुः सूत्रोक्तेत्यादि । द्वितीयाध्यायस्थ 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्यात्' इति सूत्रोक्तेत्यर्थः । उदाहरणं तु ।

१. किंचेति विकल्पे ।

भाष्यप्रकाशः ।

यज्ञानां विविदिषोत्पादकत्वेन पूर्वस्योत्तरकाण्डशेषतायामेकवाक्यत्वसंभव इति वाच्यम् । सन्प्रत्ययोक्तेच्छायामिष्यमाणपर्यन्तत्वं वादेन जिगीषतीत्यादौ दृष्टं, केवलाया अपुरुषार्थत्वं चेति तावन्मात्रान्तत्वस्यासंगतत्वात् । इष्यमाणपर्यन्तत्वस्य चानुपगमात् । अत एवं वदता, 'वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति' इति पृथक्समाप्तिश्रुतेः, 'वेदाः साङ्गोपनिषदः' इति पौराणिकपृथङ्निर्देशाच्चात्यन्तभेद एवास्थेयः । नचैवं वैदिकप्रसिद्धेर्वेदान्तशब्दो रूढ एवेति वाच्यम् । तथा सति स्वाध्यायादिविधौ तदनिवेशेन तदध्ययनार्थज्ञानविचाराणामवैधत्वापत्तेः । न च तद् विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्मेत्यादिविधिना विचारप्राप्तौ तेनाध्ययनाद्याक्षेपान्न दोष इति वाच्यम् । तथा सति जिज्ञासुमात्रप्राप्तौ त्रैवर्णिकाप्राप्त्या अधिकारविरोधापत्तेः । अतस्तन्मते उपनिषदां वेदान्तत्वं न कथमपि सिद्ध्यतीत्यवधेयम् ।

रामानुजाचार्यास्तु ब्रह्मपदस्य निर्दोषपूर्णगुणपुरुषोत्तमवाचकत्वं, तस्य च स्थूलसूक्ष्मचिदचिच्छरीरविशिष्टतया वेदान्तार्थत्वेन जिज्ञास्यत्वं चोपगम्य यज्ञादीनां विविदिषोपयोगमात्रश्रावणेऽपि व्यासपादैः'आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम्'इत्यादिसूत्रेषु यावज्जीवं तत्करणबोधनाद् ध्रुवानुस्मृतिरूपोपासनाभक्त्यादिनामकदर्शनसमानाकारज्ञानजनकत्वेन भावनात्मकोपासनया समुच्चयमङ्गीकुर्वन्ति ।

भास्कराचार्यास्तु ब्रह्म प्रसिद्धं न जिज्ञास्यम् । अथाप्रसिद्धं नतरामिति पूर्वपक्षे, 'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्यादिषु जगत्कारणताश्रावणेन प्रसिद्धमपि ब्रह्म स्मृतिकारैस्त्रिगुणस्य प्रधानस्य परमाणूनां च तथात्वाङ्गीकाराद् विप्रतिपन्नमिति तन्निवृत्त्यर्थमत्र कारणकार्यजीव-

रश्मिः ।

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं निर्वपामि' इति ।

सर्वाणीमानि पदानि निर्वापप्रकाशार्थानि विभागे च साकाङ्क्षाणीति । एकवाक्यत्वेत्यादि यावन्ति पदानि तानि ब्रह्मप्रकाशार्थानि विभागे च साकाङ्क्षाणीति एकवाक्यत्वसंभव इत्यर्थः । तावन्मात्रेति । विविदिषेत्यत्रेच्छामात्रान्तत्वस्येत्यर्थः । तथा च वादेन विजिगीषतीत्यत्र इवेच्छाविषयपर्यन्तत्वं वाच्यं, तत्राहुरिष्यमाणेत्यादि । एवं वदतेति । 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति'इत्यत्र यज्ञानां विविदिषोत्पादकत्वं वदतेत्यर्थः । आस्थेय इति, वेदवेदान्तयोरास्थेय इत्यर्थः । न चैवमिति । वैदिकाभिध्यानेत्याद्युक्तदिशेत्यर्थः । तदनिवेशेनेति । वेदस्यान्त इति योगाभावेन तथेत्यर्थः । न कथमपीति । तदुक्तं पत्रावलम्बने । ननु वेदान्तत्वं कथमिति सिद्धान्ते तु एवं लोकसिद्धस्य जगतो लोकप्रतीतिं बाधित्वा ब्रह्मत्वेनालौकिकत्वं संपाद्यत इति अर्धजरतीयन्यायात्तदन्तत्वं यथा लोकसिद्धस्य व्रीह्यादेर्लोकप्रतीतिं बाधयित्वा प्रोक्षणादिनाऽलौकिकत्वं क्रियते तद्वत्, प्रोक्षणवत्साधनानुक्त्याऽर्धजरतीयत्वम् । रामानुजाचार्यास्त्विति एते विशिष्टाद्वैतवादिनः । समानाकारं ज्ञानं विविदिषति विविदिषेत्यत्र सनर्थस्य तद्भाष्ये अविवक्षितत्वाद्वेदनमात्रं समानाकारं ज्ञानम् । भावनेत्यादि वेदान्तोक्तया तज्जनकयज्ञादिकस्य समुच्चयम् । ध्रुवानुस्मृतीत्यादि ध्रुवानुस्मृतिरूपं यदुपासनाभक्त्यादिनामकं दर्शनेन समानाकारं ज्ञानं तज्जनकत्वेनेत्यर्थः ।

भास्कराचार्यास्त्विति । एते भेदाभेदवादिनः समन्वयाधिकरणे भेदाभेदनिरूपणेऽस्ति । विप्रतिपन्नमिति संदिग्धमित्यर्थः । ननु सांख्ये असङ्गः पुरुषः । परमाणुवादिनां स्वोपादानगोचरापरोक्ष-

भाष्यप्रकाशः ।

रूपैः वेदान्तोक्तेश्वररूपं जिज्ञास्यमित्युपगम्य पूर्ववत् समुच्चयमङ्गीकुर्वन्ति । सूत्राणि च शारीरकपदेनोपवर्षादिमतमनुसृत्य विशिंषन्ति । तन्मते पूर्वोत्तरकाण्डयोरभिधेयभेदेऽपि प्रयोजनैक्यादैकशास्त्र्यात्, 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति,' 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः,'

'वेदास्त्रिकाण्डविषया ब्रह्मात्मविषया इमे ।
परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं च मम प्रियम् ॥
मां विधत्तेभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते ह्यहम् ।
एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम् ।
मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति' ॥

इति श्रुतिस्मृतिविरोधो दुर्वारः । गीतायां, ब्रह्मसूत्रपदैरित्युक्तेस्तद्विरोधश्च ।

भिक्षुभाष्ये तु, आत्मेत्येवोपासीतेत्यादिविहितज्ञानविषयं किं ब्रह्म, किं वा तस्य ब्रह्मतानिर्वाहकं गुणजातं, कीदृशं तस्य ज्ञानं, कीदृशं च तस्य ज्ञानस्य फलमित्यादिकं विशिष्य मुमुक्षूणां जिज्ञासितं भवतीत्येवं जिज्ञासामुखेन संशयमधिकारिणं चोपन्यस्य शाखाभेदेन श्रुतिष्वन्योन्यविरुद्धार्थतायाः प्रतिभासनादिति जिज्ञासाजनकसंशयहेतुं चोपन्यस्य तन्निर्णयार्थं ब्रह्ममीमांसाशास्त्रस्यापेक्षितत्वमुक्त्वा ब्रह्मज्ञानस्य चोदनालक्षणतया, 'अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्' इत्यादिस्मृत्या च धर्मत्वेऽपि न पूर्वमीमांसया ब्रह्ममीमांसाया गतार्थत्वं कल्पसूत्रवदशेषतन्निर्धारणार्थत्वादित्यनेन धर्मस्य सर्ववेदार्थत्वं, ब्रह्ममीमांसायाः पूर्वमीमांसाशेषत्वं च प्रकटीकृत्य, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिसिद्धत्वाद् ब्रह्मस्वरूपे जिज्ञासा नोपपद्यत इत्याशङ्क्य, ब्रह्मस्वरूपज्ञानं किं सांख्यसिद्धं जीवचैतन्यं, किं वा चैतन्यान्तरमिति जिज्ञासासत्त्वादाकाङ्क्षितं ब्रह्ममीमांसाशास्त्रं वेदव्यासः प्रतिजानीत इत्युक्तम् ।

तन्मतेऽपि पूर्वोक्तवाक्यविरोधो जैमिनेरकुशलत्वापत्तिश्च । किंचेदं शास्त्रं धर्मविशेषविचारार्थं

रश्मिः ।

ज्ञानचिकीर्षाकृतिमानीश्वर इति । प्रधानादेः संशयकोटौ कथं निवेश इति चेत्, न असङ्गपुरुषादेर्युक्त्याऽप्रयोजकत्वात्पूर्ववदिति, स्वभाष्ये पूर्वस्मिन्यथातथाऽयं समुच्चयोत्रैवाग्रे वक्तव्यः । एवं च कार्यकारणजीवजिज्ञासेति सूत्रयितुं युक्तं, अन्यथा धर्मजिज्ञासया गतार्थत्वं स्यात्तत्राहुः सूत्राणि चेत्यादि । स्फुटमिदं तद्भाष्ये । अत एव उपवर्षाचार्येणोक्तं प्रथमपादे, आत्मवादं तु शारीरके वक्ष्याम इति रूपे, अतः उपदेशविचारार्थत्वं संबन्धः न तु संहतत्वम् । अतः शारीरकाणि सूत्राणीति विशिंषन्ति अभिधेयभेदेऽपीति कर्मोपासनारूपाभिधेयभेदेपीत्यर्थः । गीतायामित्यादि त्रयोदशे इत्यर्थः । 'बहुधा गीतम्'इत्यन्वयः ।

भिक्षुभाष्ये त्विति । अयमविभागाद्वैतमङ्गीकुरुते यथा मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्तीति अथास्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते इति छान्दोग्यश्रुतिदर्शनात् । इदं द्वितीयस्य तृतीयपादे 'यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्' इति सूत्रे वक्ष्यन्ति । अधिकरणमिति एतादृशब्रह्मजिज्ञासुमित्यर्थः । श्रौतं विस्पष्टमेव ब्रह्मेत्याकाङ्क्षायामाह शाखाभेदेनेत्यादि । श्रुतिष्विति अधिकरणान्तरविषयभूतास्वित्यर्थः । जिज्ञासाजनकेत्यादि संशयो जिज्ञासाजन्मेति तथा । चोदनेत्यादि आत्मेत्येवोपासीतेति चोदना । अकुशलत्वापत्तिरिति । निःशेषधर्मविचारस्याकृतत्वात्तथेत्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

प्रवर्तितमुत ब्रह्मविचारार्थम् । आद्ये धर्मविशेषजिज्ञासा ब्रह्मज्ञानजिज्ञासेति वा प्रतिज्ञां कुर्यात् । प्रकरणिन एव ज्ञेयत्वेन तस्यैव प्रतिज्ञातव्यत्वात् । तदकरणेन व्यासस्याप्यकौशलमापद्यते । द्वितीये तु प्रतिपाद्यभेदात् पूर्वशेषत्वाभावेन कल्पसूत्रन्यायविरोधः । सिद्धान्ते तु ब्रह्मणः सर्ववेदार्थत्वाज्जैमिन्युक्तं धर्मस्य तथात्वमपासितुं तथा शङ्कानिरासावावश्यकावित्यदोषः । तस्मादिदमपि पूर्वतुल्यम् ।

यत्तु शैवो रामानुजमतैकदेशमादायाराधनाराध्यभूतधर्मब्रह्मप्रतिपादकयोर्मीमांसाशास्त्रयोः फलैक्यादैक्यम् । यथा हि व्रीहिप्रोक्षणं दर्शपूर्णमासोत्पन्नापूर्वहेतुतया स्वर्गे समुच्चीयते, तथा कर्माणि ज्ञानप्रयोजकतया मोक्षे समुच्चीयन्तेऽतो गुणकर्मत्वादङ्गत्वं ज्योतिष्टोमादीनाम् । नच नित्यविधिप्राप्तानां तेषामितिकर्तव्यताविरोधात् कथं संस्कारतासिद्धिरिति शङ्क्यम् । करणतया स्वतन्त्रविध्यन्तरविहितसौत्रामणीबृहस्पतिसवादेरग्निचयनवाजपेयाद्यङ्गत्ववदुभयविधिबलादुभयसिद्धेः । अतो ज्ञानोदयावधि कर्माणि कर्तव्यानि । नच विविदिषन्तीति श्रुत्या विविदिषोत्पत्तिपर्यन्तत्वं कर्मणां शङ्क्यम् । इच्छाया अपुरुषार्थत्वात् । अतः पूर्ववदेव शास्त्रैक्यमित्यङ्गीकृत्य ततो रामानुजाचार्यधृतेषु वाक्येषु परीक्ष्य लोकान् कर्मचितानित्यादिवाक्यत्रयं विषयत्वेनोपन्यस्य ब्रह्म विचारार्हं न वेति संदेहे, अयमात्मा ब्रह्मेतिश्रुतिरहंवित्तिप्रत्यक्षसिद्धमात्मानं ब्रह्मेत्युपदिशतीति संदेहाभावात् । किंच, विचारफलं विषयपरिच्छेदः । वेदान्तविचारजन्यं ज्ञानं चेद् ब्रह्म परिच्छिनत्ति तदा परिच्छेदातीतत्वभङ्गप्रसङ्गः । यदि न परिच्छिनत्ति, तदा प्रकाशाभावाद् ब्रह्मविषयज्ञानस्यासंभवः ।

रश्मिः ।

कल्पसूत्र इत्यादि बौधायनकल्पसूत्रन्यायस्य दृष्टान्ततायां विरोध इत्यर्थः । ननु सिद्धान्ते कथमित्यत आहुः सिद्धान्ते त्वित्यादि । जैमिन्युक्तमिति वैशेषिकाद्यन्तर्गतपुराणप्रसिद्धजैमिन्युक्तवैशेषिकादितुल्येश्वररूपस्य धर्मस्य तथात्वं सर्ववेदार्थत्वमित्यर्थः । शङ्केत्यादि 'जैमिनीये च वैय्यासे न विरोधोस्ति कश्चन' इतिपुराणोक्तवेदाविरुद्धजैमिनिमतस्थापनाय भगवद्भिक्षूक्तशङ्कानिरासौ आवश्यकाविति । तस्मादिति प्रयोजनैक्यादैकशास्त्र्यात् । पूर्वतुल्यमिति 'सर्वे वेदाः' इत्यादिपूर्वोक्तवाक्यविरोधब्रह्मसूत्रपदैरितिगीताविरोधाभ्यां धर्माभ्यां भास्कराचार्यमतसदृशमित्यर्थः । शैव इति अयमपि विशिष्टाद्वैतवादी शिवो ब्रह्मेति । तदाह यथा हीत्यादिना । एतच्च पूर्वतन्त्रे द्वितीयाध्याय उक्तम् । दर्शपूर्णमासाभ्यामुत्पत्तिर्यस्यापूर्वस्य तद्धेतुतयेत्यर्थः । गुणकर्मत्वादिति व्रीहीनवहन्तीतिवत्संस्कारकत्वादित्यर्थः । तेषामित्यादि प्राशस्त्यज्ञानस्य शाब्दभावनायामितिकर्तव्यत्वात् ज्योतिष्टोमादीनामर्थभावनायां करणत्वेन तद्विरोधात् कथं 'आत्मेत्येवोपासीत' इति भावनायामितिकर्तव्यतारूपसंस्कारकर्मतासिद्धिरित्यर्थः । उभयविधिबलादिति ज्योतिष्टोमविधिः 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' इति उभयविधिबलात् ज्ञानस्वर्गोभयरूपफलसिद्धेः करणतासंस्कारतयोर्वा सिद्धेरित्यर्थः । पूर्ववदेवेति फलैक्यादेवेत्यर्थः । वाक्येष्विति 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' 'अन्तवदेवास्य तद्भवति' 'न ह्यध्रुवैः प्राप्यते ध्रुवम्' 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः' 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन' 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् । तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय । येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्' 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' 'न पुनर्मृत्यवे तदेकं पश्यति' 'न पश्यो मृत्युं पश्यति' 'अकर्मपश्यो न स्वराड् भवति' 'तमेवं विद्वानमृत इह भवति' 'तमेव विदित्वातिमृत्यु-

भाष्यप्रकाशः ।

तस्मान्न विचार्यमिति पूर्वपक्षमुक्त्वा, विचारयोग्यं ब्रह्म, 'अयमात्मा ब्रह्म' इति श्रुत्याऽहंकारबद्धस्य संसारिण आत्मनो ब्रह्मत्वाभिधानादेव संदेहसंभवात् । निरस्तसमस्तोपप्लवकलङ्कस्य निरतिशयज्ञानानन्दादिशक्तिमहिमातिशयवत्त्वं हि ब्रह्मत्वम्, अनाद्यज्ञानवासनावष्टम्भविजृम्भितविचित्रकर्मफलभोगानुगुणबहुशरीरप्रवेशनिर्गमव्यापारपरवशनिःसीमतापसहिष्णुत्वं जीवत्वमिति तयोर्लक्षणेनेतरेतरभेदनिश्चये तयोरैक्यदौर्घट्यस्फूर्तेः । किंच । अन्नं ब्रह्म, मनो ब्रह्म, विज्ञानं ब्रह्म, आदित्यो ब्रह्म, नारायणं परं ब्रह्म इत्यादयोऽन्यमन्यमर्थं ब्रह्म इत्याहुः । तत्र किं ब्रह्मेत्येवं संदेहादपि विचारार्हं ब्रह्म । नचापरिच्छिन्नत्वाद् ब्रह्मणस्तद्विषयं ज्ञानं न संभवतीति शक्यम् । ईदृगिदमिति ब्रह्मणः परिच्छेदासंभवेऽपि लक्षणमुखेनेतरव्यावृत्ततामात्रेण परिच्छेदसंभवात् लक्षणेन परिच्छेदो हि सर्वत्र लक्ष्यविषयकेतरव्यावृत्तताज्ञानरूप एव दृष्ट इत्यदुष्टः । अत उपदिष्टस्य ब्रह्मणो लक्षणे वेदान्तवाक्यैर्निरूपिते परीक्षिते च सति तल्लक्षणशून्येभ्यः सजातीयविजातीयेभ्यः सर्वेभ्यो व्यावृत्तं ब्रह्म विज्ञायत इति तदर्थं युक्तः शास्त्रारम्भ इत्याह । एतन्मतेऽपि तेषां वाक्यानां विरोधः पूर्ववदेव । जीवलक्षणं तु जीवप्रकरणे दूषयिष्यामः । किंच । 'ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति,' 'ईशं तं ज्ञात्वा अमृता भवन्ति,' 'तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्,'

'आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनादेव पाशं दहति पण्डितः' ॥

'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' इतिश्रुत्युक्तमोक्षप्राप्तिलिङ्गेन शिवस्य परब्रह्मत्वं यत्तेनोपगतं, तदप्यसंगतम् । 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति तदुपन्यस्ते फलवाक्ये, नारायणं परं ब्रह्मेति श्रुत्युक्तनारायणरूपग्रहणस्यैव युक्तत्वात् । उभयत्रापि परब्रह्मपदोपबन्धसाम्यात् । लिङ्गापेक्षया

रश्मिः ।

मेति नान्यः पन्था अयनाय विद्यते' 'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति' इति वाक्येष्वित्यर्थः । **अहंकारबद्धस्ये**त्यादि अयमित्यस्य तात्पर्यकथनमिदम् । **निरस्तसमस्ते**ति आधाराभिधानमिदम् । **अनादी**ति अनादिरज्ञानवासना सैवावष्टम्भः प्रारम्भः तेन विजृम्भितं उज्जृम्भितं चेष्टितमुत्फुल्लं वा यच्चित्रकर्मफलं तस्य भोगः साक्षात्कारः तस्यानुगुणानि बहूनि शरीराणि तेषु प्रवेशनिर्गमौ तावेव व्यापारौ ताभ्यां परवशस्य निःसीमतापः निरवधितापः तस्य सहिष्णुत्वम् । **लक्ष्यविषयके**त्यादि । यमाकाशमितरव्यावृत्तमित्याकाशलक्षणेन ज्ञायते इति परिच्छेदो हीतरव्यावृत्तताप्रकारकलक्ष्यविषयकज्ञानरूप एवेति । **जीवप्रकरण** इति द्वितीयाध्याये तृतीयपाद इत्यर्थः । **आत्मान**मित्यादि मनसि प्रणवस्य भावनादेवं ज्ञात्वा मुच्यत इति फलितोर्थः । **मोक्षप्राप्ती**त्यादि । यदि शिवः परं ब्रह्म न स्यात्तर्हि तज्ज्ञानेन मोक्षो न स्यादिति मोक्षप्राप्तेर्लिङ्गं सामर्थ्यं तेनेत्यर्थः । **नारायण**मित्यादि नारा आपस्ता एवायनं यस्येति जलशायिनमित्यर्थः । दृष्टं यथा-वर्षजलशायिसूर्यमण्डलस्थं ब्रह्म यथा वा वर्षजलशायिमेघो गर्जति तथा ब्रह्म । अत उक्तं युक्तत्वा-दिति । हेत्वन्तरमाहुः **उभयत्रे**त्यादि । ननु लिङ्गस्य का गतिरत्राहुः **लिङ्गापेक्षये**त्यादि ।

१. विद्युत् ।

भाष्यप्रकाशः ।

श्रुतेर्बलिष्ठत्वात् । 'ऋतं सत्यं परं ब्रह्म' इतिवाक्यस्यापि संदिग्धत्वात् । शिवेशादिपदानां च भगवद्वाचकत्वमेवेत्यादिकमस्माभिः प्रहस्ते निपुणतरमुपपादितम् । पुनरग्रेऽपि तत्र तत्रोपपादयिष्यते ।

भाष्यास्तु शास्त्रे प्रवर्तनीया ब्रह्मजिज्ञासा विषयः, कर्तव्या न वेति संदेहः । तत्र प्रमाणाभावेन जीवव्यतिरिक्तस्य ब्रह्मणोऽभावाज्जीवस्य स्वप्रकाशत्वादहंवित्तौ प्रकाशमानत्वात् तस्यापि ज्ञायमानत्वेनानुभवान्तरान्वेषणेऽनवस्थाप्रसङ्गाद् क्वचिद् विश्रान्त्यङ्गीकारे आत्मन्येव तथात्वौचित्यात् । न च स्वप्रकाशसंविदाश्रयतयाऽऽत्मा भासत इति युक्तम् । औत्तरिकानुस्मृतिसिद्धसौषुप्तिकानुभवाभावप्रसङ्गात् । तत्र संविदाश्रयत्वेनात्मप्रतीतेरभावात् । अतः स्वप्रकाशात्मानतिरिक्तस्य ब्रह्मणः संदिग्धत्वाभावेनाविषयतया तज्जिज्ञासाया अपि तथात्वान्न कर्तव्येति पूर्वः पक्षः । सिद्धान्तस्तु, भवेदेतदेवं, यदि स्वप्रकाशजीवाभिन्नं ब्रह्म स्यात् । न त्वेवम् । जिज्ञास्ये ब्रह्मपदप्रयोगात्, तद्विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्मेति ब्रह्मशब्दस्य गुणपूर्णतां वक्ति । 'अथ कस्मादुच्यते ब्रह्मेति, बृहन्तो ह्यस्मिन् गुणाः' इति श्रुतेः । तथाच कथं तस्य जीवाभेदः । जीवस्याल्पगुणत्वेनानुभवात् । न च ब्रह्मणि गुणाध्यासः । परमार्थतोऽब्रह्मत्वप्रसङ्गात् । न च देशाद्यपरिच्छिन्नत्वं ब्रह्मत्वम्, उक्तश्रुतिविरोधात् । देशाद्यपरिच्छेदेनापि जीवभेदसिद्धेः । जीवाणुत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् । जीवस्य स्वप्रकाशत्वेपि तद्भिन्नब्रह्मणः संदिग्धत्वाद्विषयत्वम् । अतस्तज्जिज्ञासा कर्तव्येत्याहुः । ब्रह्मशब्दश्च विष्णावेव रूढः । 'यमन्तःसमुद्रे कवयोऽवयन्ति, यदक्षरे परमे प्रजाः, यतः प्रसूता जगतः प्रसूती तोयेन जीवान् व्यचसर्ज भूम्याम्' इत्युक्त्वा, 'तदेवर्तं तदु सत्यमाहुस्तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम्' इति श्रुतौ समुद्रान्तःस्वत्वलिङ्गिते जगत्कर्तरि परब्रह्मत्वविधानात् । 'यो देवानां नामधा एक एव' इति श्रुतावेवकारेणैकस्य सर्वनामधारकत्वमुक्त्वाऽग्रे, 'अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः' इति विश्वाधारपद्मस्य नाभ्यर्पितत्वश्रावणात् ।

रश्मिः ।

बलिष्ठत्वादिति । एतच्च तृतीयस्य तृतीयपादे 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' इत्यधिकरणे चिन्तितम् । 'ऐन्द्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इत्युदाहरणम् । ननु परब्रह्मपदोपनिबन्धः शिवपरेपि वाक्ये दृश्यत इत्यत आहुः **ऋतं सत्य**मिति । कथं तर्हि ज्ञात्वा शिवमित्यादि तत्राहुः **शिवेत्यादी**त्यादि । द्वितीये वादे वस्तुतः सर्वेषां शब्दानां सर्वार्थत्वस्य महाभाष्याद्यभिमतत्वेन ब्रह्मवाचकत्वस्यैवाभिप्रेतत्वात् । प्रतिनियततावन्मात्रकार्यकरणेन भगवदनुकारितया व्यवहारार्थमेव शक्तिसंकोचेन शिवादिषु रुद्रवाचकत्वदर्शनेपि ब्रह्मवाचकत्वस्यापर्यवसेयत्वात् । इत्येवं निपुणतरमुपपादितमित्यर्थः । महाभाष्ये पस्पशाह्निके । आदिपदोक्ते वाक्यपदीये तु

'संबन्धिभेदात्सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु । जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः ॥
तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते । सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः' ॥

इति स्फुटम् । इति तट्टीकायाम् ।

भाष्यास्त्विति एते भेदवादिनः । नन्वहंवित्तौ विषयत्वेन प्रकाशमानस्य कथं स्वप्रकाशत्वं तत्राहुः **तस्यापी**त्यादि । **तथात्वौचित्या**दिति स्वप्रकाशत्वौचित्यादित्यर्थः । **औत्तरिके**त्यादि सुषुप्त्यौत्तरिकेत्यर्थः । तादृशानुस्मृतिः न किंचिदवेदिषमित्याकारिका तया कार्यभूतया सिद्धो यः कारणात्मा । 'सुखमहमस्वाप्सम्' इत्याकारकः सौषुप्तिकानुभवः तस्याभावप्रसङ्गात् । **तत्रे**ति सुखमहमस्वाप्सं न किंचिदवेदिषमित्यौत्तरिकानुस्मृतावित्यर्थः । **तथात्वा**दिति अविषयत्वादित्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः।

'वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदावन्ते च मध्ये च विष्णुः सर्वत्र गीयते'॥

इति हरिवंशवाक्याच्चेत्यप्याहुः। तन्मतेऽपीज्यत्वेनैव वेदार्थत्वाङ्गीकारान्मां विधत्त इतिवाक्यविरोधः। यत्तु कर्मविधात्री श्रुतिर्मां प्रत्येव तद्विधत्ते, इन्द्राद्यभिधात्री च मामभिधत्ते, चत्वारि वागितिश्रुत्या अहं विविधरूपत्वेन कल्प्यो, न सुरां पिबेदित्यादिश्रुत्याहमेवाप्रियादपोह्य इति व्याख्यातम्। तदप्यध्याहारवृत्तिसंकोचलक्षणादोषसंभवाच्चिन्त्यम्। प्रकृतमनुसरामः। एवंचात्र सूत्रे शेषषष्ठ्या ब्रह्मसंबन्धिनां जिज्ञास्यताबोधनेन साधारणाधिकारे ज्ञानकर्मसमुच्चयः उत्कृष्टाधिकारे च भक्तिमार्गीयः सर्वात्मभावः साधनमिति बोधितम्॥ १॥

इति प्रथमं जिज्ञासाधिकरणम्॥ १॥

रश्मिः।

इज्यत्वेनैवेति विष्णुत्वेनैव न तु कर्मत्वेन। 'यज्ञो वै विष्णुः' इति श्रुतेः। अक्षरसमाहुः तदप्यध्यीत्यादि। तद्विधत्त इति कर्माध्याहारः। इन्द्राद्यभिधात्रीणां भगवदभिधाने वृत्तिसंकोचः। चत्वारि वागित्यादौ वागादिलक्षणेत्येवं ज्ञेयम्। पादसेवनन्यायेन भक्तिमीमांसेयमिति बोधयितुं सूत्रनिष्कर्षार्थमाहुरेवं चेति। ब्रह्मणोऽजिज्ञास्यत्वेन शेषषष्ठ्यामेव व्यासचरणतात्पर्यं चेत्यर्थः। विरोधनिराकरणस्यामुख्यसाधनसंबद्धत्वात्साधनाध्यायान्ते साक्षाद्ब्रह्मसंबन्धिन आहुः साधारणेत्यादि। ज्ञानकर्मसमुच्चयः 'यदेव विद्यया' इति 'तमेतम्' इति श्रुतिभ्यामुक्तः। द्वितीयः सर्वोत्तममार्गे कर्मणा चित्तशुद्ध्या भक्तिरिति। सर्वात्मभाव इति तन्निर्धारणाधिकरणे व्युत्पाद्यम्। अयमर्थः। सच्चिदानन्दस्य ब्रह्मणः सदंशस्य धर्मः कर्म, चिदंशस्य ज्ञानं, आनन्दस्य प्रेमा, आनन्दमयमुपक्रम्य 'तस्य प्रियमेव शिरः' इति श्रुतेः। तथा च सर्वात्मभावप्रतिज्ञासूत्रमिदं पूर्वाध्याये भक्तेर्विषयरूपं ब्रह्म प्रतिपाद्यते समन्वयप्रतिपादनद्वारा, द्वितीये तत्परिशोधः क्रियते, तृतीये प्रतिज्ञातः सर्वात्मभावो बोध्यते, चतुर्थे तत्फलमिति भक्तिमीमांसेयमिति सूत्रनिष्कर्षः। अथातो भक्तिजिज्ञासेति सूत्रयितुं युक्तं यद्यपि तथापि विषयस्य कारणत्वात्तत्पुरःसरं प्रतिज्ञातं वेदितव्यमिति। किंच न भक्तिज्ञानकर्मभिरेव मोचयति किंतु अवतारदशायां स्वरूपेणापीति सकलरूपब्रह्मसंबन्धिनां जिज्ञासार्थे ब्रह्मजिज्ञासा इत्येव युक्तमिति शुभम्। अत्र 'नानामतध्वान्तविनाशन' इति भाष्यान्ते वक्ष्यमाणत्वात् नानामतान्युक्त्वा ध्वान्तनाशनं कृतमिति ज्ञेयम्॥ १॥

इति प्रथमं जिज्ञासाधिकरणम्॥ १॥

किंच, तत्र किं लक्षणं किं प्रमाणकमिति जिज्ञासायामाह सूत्रकारः।

भाष्यप्रकाशः।

एवं पूर्वाधिकरणे वेदार्थभूतब्रह्मणो जिज्ञास्यत्वे साधिते कथं जिज्ञास्यमिति प्रकारविशेषाकाङ्क्षायां समन्वयाविरोधाभ्यां तस्य वक्तव्यत्वात् तद्बोधकमग्रिमसूत्रमवतारयन्ति तत्रेत्यादि। तेषु वक्तव्येषु तदुपजीव्यतया उक्तजिज्ञासायां लक्षणप्रमाणात्मकं प्रकारद्वयं पूर्वमाहेत्यर्थः।

रश्मिः।

पूर्वाधिकरणे ब्रह्मजिज्ञासापदेन त्रैवर्णिकोऽर्थजिज्ञासुरधिकारी, ब्रह्मसंबन्धी विषयः, प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः संबन्धः, शाब्दं ब्रह्मज्ञानं च फलम्, तस्याप्यानन्दावाप्तिः फलमित्यनुबन्धचतुष्टयमुक्तम्। अन्यथ षडङ्गैरेव वेदार्थनिश्चयस्य संभवादधिकाकाङ्क्षायाश्च तपःप्रभृतिभिरेव पूरणात् वेदान्ता अजिज्ञास्या इत्याशङ्क्य ऋषिप्रणीतशास्त्रपार्थक्यबाहुल्यात् तच्छ्रवणे बुद्धिदोषान्मन्दानां संदेहे तन्निवृत्तये इदं शास्त्रं कर्तव्यम्। यद्यपि 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इत्यादिना ब्रह्मण एव वेदार्थता तथापि 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति पुरुषरूपता 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः' इति वेदान्तानामर्थनिश्चायकता चाम्नायते। तस्मात् तपःप्रभृतीनामसंभवाद् वेदान्तविचारेणैव वेदार्थभूतब्रह्मस्वरूपनिश्चय इति ब्रह्मसंबन्धिविचारः श्रीमद्बादरायणाचार्यैः प्रस्तूयत इत्युक्तम्। अतो वक्ष्यमाणानि यावन्त्यधिकरणानि समाप्तिपर्यन्तानि तावन्त्यस्यैव विषय इत्युक्तं भवति। अतो विषयविषयिभावसंगत्याधिकरणमवतारयन्ति एवं पूर्वेत्यादिना। साधित इति 'वेदार्थब्रह्मणो वेदानुकूलविचार इति' इति भाष्येऽस्माभिः भूतपदं समावेश्य वेदार्थभूतं ब्रह्म वेदार्थब्रह्म इति समस्य साधित इत्यर्थः। साधनं तु वेदार्थावेदार्थभूतत्वेपि वेदार्थभूतत्वेन ब्रह्मग्रहणाद् भक्त्येकलभ्यत्वेवेदार्थत्वम्। अवेदार्थत्वे तु वेदानुकूलविचाराविचाराविषयत्वापत्तेः। नन्वेतस्य प्रकाशे सर्वपदं समावेश्य व्याख्यानं सर्ववेदार्थत्वेन ब्रह्म जिज्ञास्यमिति ग्रन्थेनेति चेन्न, सर्ववेदार्थत्वस्य वेदार्थमात्रपर्यायत्वेन वेदार्थभूतेत्याद्यनुपदस्थोक्तप्रकाशविरोधापत्तेः। तेन सर्ववेदार्थत्वं न वेदार्थमात्रत्वं किंतु वेदार्थभूतत्वं सर्ववेदार्थत्वप्रयोजकं लक्षणयेति। एतेन 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' इत्यपि व्याख्यातं, सर्ववेदार्थत्वं वेदार्थभूतत्वं विना न संभवतीति। प्रकारविशेषाकाङ्क्षायामिति। सामान्यप्रकारकजिज्ञासाया विशेषप्रकारकजिज्ञासाजनकत्वात् तादृशाकाङ्क्षायां सामान्यप्रकारेण बृहत्त्वबृंहणत्वरूपब्रह्मत्वेनाजिज्ञास्यत्वाद् विशेषपदोपादानम्। तस्येति प्रकारविशेषस्य कर्तृत्वलक्षणस्य। इदमध्यायद्वये स्पष्टम्। तद्बोधकमिति लक्षणप्रमाणबोधकम्। सर्वविरुद्धधर्माश्रयत्वरूपप्रकारविशेषस्य वक्तव्यत्वाद् ब्रह्मणो निमित्तत्वादिबोधकमित्यर्थः। तत्रेत्यादीति। अत्र किंच तत्रेत्यादीति वक्तव्येपि अवतरणान्तराभावेनान्यश्चेत्यर्थासंभवादारम्भो वक्तव्यः, स च कर्माण्यध्याहरन् न समर्थ इति अध्याहाराभावायैतावदेवोपात्तम्। किंचेति त्यक्तं तद्बीजं पूर्वमुक्तम्। तेषु वक्तव्येष्विति तत्र ब्रह्मणीति पूर्वत्रार्थः। अत्राभासे तु प्रकारविशेषेषु वक्तव्येषु इति तत्रेत्यस्यार्थः। तेच समन्वयसूत्रादारभ्याभिन्ननिमित्तोपादानतादयो विशेषप्रकाराः। संगतिमधिकरणयोराहुः तदुपजीव्यतयेति। लक्षणप्रमाणाभ्यां सामान्यप्रकाराभ्यां वस्तुसिद्धेर्वस्तूपजीव्याश्च तन्निष्ठाः प्रकाराः सामान्यविशेषरूपा इति तथेत्यर्थः। सधर्मकस्य निर्धर्मकाभिन्नत्वेनोक्तजिज्ञासाविषयत्वमत उक्तमुक्तजिज्ञासायामिति उक्तजिज्ञासाविषये अधोक्षजपादेपि। लक्षणप्रमाणात्मकमित्यादिः। अतस्तदुपजीव्यता प्रकारविशेषोपजीव्यता तत्कारणता तथा, तेनोपजीव्योपजीवकभावः संगतिरित्यर्थः।

1. 'पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः। शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी' इति विचारोऽर्थस्य।

जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात् ॥ २ ॥ (१-१-२)

भाष्यप्रकाशः ।

जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात् ॥ २ ॥ अत्र सर्वेऽपि योगविभागेन शास्त्रयोनित्वादिति सूत्रं भिन्नमभ्युपगच्छन्ति । तन्न युक्तम् । अग्रिमसूत्रेषु साध्यहेतुनिर्देशपूर्वकमेवाधिकरणरचनस्य दर्शनेनात्रापि तथैव युक्तत्वात्, सांख्ये ब्रह्मपदस्य प्रकृतौ प्रयुक्तत्वेन तद्वारणाय विवक्षितब्रह्मणि शास्त्रोक्तकर्तृत्वप्रतिपादनस्यावश्यकत्वाच्च । नच सूत्रभेदेऽप्यधिकरणस्य सूत्रत्रयात्मकत्वाङ्गीकारात् प्रथमसूत्रे विशेषतः प्रमाणानुक्तावप्यथशब्देन धर्मविचारानन्तर्ये ब्रह्मविचारस्य बोधिते ब्रह्मणो वेदान्तवेद्यतोपस्थितेः सुखेनोक्तदोषपरिहारात् सूत्रैक्यं न युक्तमिति वाच्यम् । अथशब्दस्यानेकार्थत्वेनानन्तर्यस्याप्यनेकविधत्वेन धर्मविचारानन्तर्यस्योपपादनसापेक्षत्वेन चाहत्य ब्रह्मणो वेदान्तवेद्यत्वानुपस्थित्या जन्माद्यधिकरणरचनायामनाश्वासप्रसङ्गात् । अतः सूत्रैक्यमेव युक्तमिति । ये तु जन्माद्यधिकरणं, शास्त्रयोनित्वाधिकरणं च भिन्नमङ्गीकुर्वन्ति तेषां मते प्रथमस्य हेतुशून्यत्वाद् द्वितीयस्य च साध्यशून्यत्वात् साकाङ्क्षतयाऽतिक्लिष्टत्वेन तद्विवक्षितप्रमेयासाधकत्वं बोध्यम् ।

रश्मिः ।

जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वादिति ॥ २ ॥ **अत्रापीति** अस्मिन् सूत्रेपि तथा । साध्यहेतुप्रतिपादकत्वप्रकारस्यैव युक्तत्वादित्यर्थः । **आवश्यकत्वाच्चेति** । **चकारेण**—

'ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् । ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः' ॥

इति स्मृत्यनुग्रहः संगृहीतः । अत्र ब्रह्मसूत्रपदमुपनिषत्परमिति शांकराः । तत्र सूत्रपदप्रवृत्तिर्मृग्या । रामानुजानां भास्कराणां चाशङ्कामनूद्य निषेधमाहुः **न च सूत्रेत्यादि** । **किंचेति** त्यक्त्वा तत्रेत्याभासो राद्धान्ते अधिकरणं सूत्रद्वयात्मकं वा । **सूत्रत्रयेति** । **वेदान्तवेद्यतेति** धर्मस्य वेदवेद्यत्वे ब्रह्मणो वेदान्तवेद्यत्वं क्रियाकाण्डं ज्ञानकाण्डमिति समाख्याभ्याम् । **उपपादनेति** शंकराचार्यैः साधनचतुष्टयानन्तर्याङ्गीकारात् क्वचिदधिकारार्थताङ्गीकारादुपपादनेत्यादि । **अनाश्वासेति** शास्त्रान्तरेभावात् संशयात्तथा । **युक्तमितीति** । किंच शास्त्रयोनित्वादितिसूत्रानतिप्रयोजननिवर्तकत्वेनापि सूत्रैक्यं युक्तम् । तथाहि एतस्य शंकरभाष्ये यथोक्तमृग्वेदादिशास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणमस्य ब्रह्मणो यथावत् स्वरूपाधिगम इत्याद्युक्त्वा शास्त्रमुदाहृतं पूर्वसूत्रे 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादीति चोक्त्वा किमर्थं तर्हीदं सूत्रं यावता पूर्वसूत्र एव एवंजातीयकं शास्त्रमुदाहरता शास्त्रयोनित्वं ब्रह्मणो दर्शितमित्याशङ्क्य तत्र सूत्राक्षरेण विस्पष्टं शास्त्रस्यानुपादानात् जन्मादिसूत्रेण केवलमनुमानमुपन्यस्तमित्याशङ्क्येत तामाशङ्कां निवर्तयितुमिदं सूत्रं प्रववृते शास्त्रयोनित्वादितीति । समाधानग्रन्थेनानतिप्रयोजनत्वसूचनादिति । माध्वानां मतमाहुः **ये त्वित्यादि** । आप्तसत्तिविरहादप्रमाणमित्याहुः **तेषां मत इत्यादि** । **साध्येति** जगज्जन्मादिकर्तृत्वं साध्यम् । **अतीति** यथाकथंचित्साधने सूत्रभेदः किमर्थः गीताविरोधश्चेत्‌⋯शब्दः । **तद्धीति** **'कृष्णायाक्लिष्टकारिणे'** इति श्रुतेः तस्य व्याख्यानमाह विद्याविद्योपमर्ददशायां जातत्वेन आचार्यचरितत्वाभावापत्त्या आचार्यविवक्षितं मोक्षसाधकं यत्प्रमेयं तस्य स्मृतिसहायाज्जन्मरूपहेतुसाध्यकत्वा-

ननु कथमत्र संदेहो यावता, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्याह श्रुतिरेव ।

विरुद्धं चैतत् । स्वरूपलक्षणाकथने कार्यलक्षणस्य वक्तुमशक्यत्वात् । विवादाध्यासितत्वाच्च । न हि ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वं सर्वसंमतम् । न चागमोदितमिति वेदमात्रस्य ब्रह्मप्रमाणकत्वं वक्तुं शक्यते ।

भाष्यप्रकाशः ।

लक्षणे ब्रह्मते नन्वित्यादि । यत् संदिग्धं तत् सम्यक् परिच्छेत्तुं लक्षणीयम् । अत्र ब्रह्मणि कथं संदेहः । यावतेत्यवधारणे हेत्वर्थे वा । तथाच ब्रह्मणः सत्ता स्वरूपलक्षणं च श्रुतित एव सिद्धम् । तदवधारणे ततो हेतोर्वा ब्रह्मणोऽखिलविशेषशून्यत्वेन सिद्ध्या संदेहप्रयोजकप्रकाराभावात् संदेह एव न घटत इत्यर्थः ।

प्रकारान्तरेणापि तदभावमाह **विरुद्धमित्यादि** । यद्धि लोकाप्रसिद्धं तदलौकिकया श्रुत्या निर्णेयम् । श्रुतिस्तु पूर्वं स्वरूपलक्षणमुक्त्वाऽग्रिमे प्रपाठके कार्यलक्षणं वक्ति । अतः प्रथममेव तत्कथनं श्रुतिविरुद्धम् । न च स्वरूपलक्षणे संदेहाभावात् कार्यलक्षणमेवोच्यत इति युक्तम् । अन्नप्राणादिष्वपि तस्यातिप्रसङ्गदर्शनेन स्वरूपलक्षणाकथने केवलतत्कथनस्याप्रयोजकत्वात् । कैश्चिन्मायाशबलस्यान्यैः शुद्धसत्त्वात्मकशरीरविशिष्टस्येतरैः सत्त्वादिगुणत्रयात्मकस्य प्रधानस्यापरैर्नित्यज्ञानेच्छाप्रयत्नधर्मकस्य तथात्वाङ्गीकारेण तस्य विवादाध्यासितत्वाच्च । तदेव विभजति **न हीत्यादि** । ननु ब्रह्मणः कर्तृत्वस्य सर्वसंमतत्वाभावेऽपि वेदस्य प्रमाणमूर्धन्यत्वात् तदुक्तकोटेरौत्कट्यात् संदेहाभावाय लक्षणविचार उचित इति चेत् तत्राह **न चेत्यादि** । चोऽवधारणे । कर्ता आगमेन वेदरूपेण

रश्मिः ।

साधकत्वमित्यर्थः । **यावतेत्युक्तसंबन्धार्थं** तच्छब्दघटितफक्किकामाहुः **तदवेति** । **अखिलेति** सत्यत्वाद्यभावानामधिकरणरूपत्वेन परेषां तथा । **संदेह इति** संदेहे दूरत्वं कारणं स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्यत्र स्थाणुत्वपुरुषत्वादिकं प्रयोजकं तद्वदत्र तदभावात् । **तदभावमिति** संदेहाभावमित्यर्थः । **स्वरूपेत्यादि** भाष्यं विवृण्वन्ति स्म यद्धीति । **लोकाप्रेति** अनधिगतार्थगन्तृत्वं श्रुतिप्रामाण्यं यतः । **श्रुतिस्त्वित्यादि** । तैत्तिरीयाणां ब्रह्मोपनिषदीत्यर्थः । **अग्रेत्यादि** । 'अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादिश्रुतिभिः कार्यलक्षणस्यातिव्याप्तिरेवं तु स्वरूपलक्षणलक्षिते कार्यलक्षणं विवक्षितमिति नातिव्याप्तिः । अन्नादीनां सत्यादिप्राधान्यान्न प्रकटसच्चिदानन्दत्वमिति नातिप्रसङ्ग इति भावः । हेतुभाष्यमवतारयितुं शङ्कानिषेधावाहुः **नच स्वरूपेत्यादि** । **केवलतत्कथनस्येति** कार्यलक्षणकथनस्येत्यर्थः । **अप्रयोजकत्वादिति** । इदमशक्यत्वादित्यस्य विवरणम्, तथाहि कार्यलक्षणस्य किमन्यद् ब्रह्मज्ञानजनकमिति जिज्ञासया प्रवृत्तत्वेन जिज्ञासायाः स्वरूपलक्षणलक्षितब्रह्मघटितत्वेन विशेषणज्ञानाभावप्रयुक्तजिज्ञासाभावात् कारणविघटनेनाकारणकत्वरूपाप्रयोजकत्वमशक्यत्वमिति । **विवादेत्यादिभाष्यं** विवृण्वन्ति **कैश्चिदिति** । शांकरैरित्यर्थः । **अन्यैरिति** रामानुजशैवभास्करमाध्वैरित्यर्थः । **इतरैरिति** सांख्यैरित्यर्थः । **अपरैरिति** नैयायिकैरित्यर्थः । **तथात्वाङ्गीकारेणेति** भूतादिकर्तृत्वाङ्गीकारेणेत्यर्थः । **तस्येति** भूतादिकर्तृत्वस्येत्यर्थः । **तदेवेति** विवादाध्यासितत्वमेवेत्यर्थः । **तदुक्तेति** वेदोक्तायाः कर्तृत्वकोटेः । **लक्षणेति** कार्यलक्षण-

१. कार्यलक्षणाभावमित्यर्थः ।

किंच व्यर्थश्चैवं विचारः । लक्षणप्रमाणाभ्यां हि वस्तुज्ञानं भवति । तच्च स्वरूपलक्षणेनैव भवतीति किमनेन । तस्मादयुक्तमुत्पश्याम इति ।

उच्यते ।

संदेहवारकं शास्त्रं वेदप्रामाण्यवादिनाम् ।
क्रियाशक्तिज्ञानशक्ती संदिह्येते परस्थिते ॥

न हि श्रुतिं व्याख्यातुं प्रवृत्तः सूत्रकारः किंतु संदेहं वारयितुम् । तत्र, 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्', 'नित्यशुद्धमुक्तस्वभावम्' इतिश्रुत्या कर्तृत्वादिप्रापञ्चिकधर्मराहित्यं प्रतीयते । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इति कर्तृत्वं च ।

भाष्यप्रकाशः ।

मूलशास्त्रेणोदित इत्येतावता कृत्स्नस्य वेदस्यैव ब्रह्मणि प्रमाणत्वं न वक्तुं शक्यते । कल्पनोपदेशस्यापि तत्र शंक्यवचनत्वादनुमानस्यापि तत्र प्रमाणत्वाच्चेत्यर्थः । अत्र ब्रह्मप्रमाणत्वमिति पाठः प्रतिभाति । अथ वेदोक्त एवाग्रहस्तदा दूषणान्तरमाह किंचेत्यादि । अयुक्तमिति सूत्रोक्तं लक्षणमयुक्तमित्यर्थः । शेषमतिरोहितार्थम् ।

अत्र समाधातुं गृह्णते उच्यत इत्यादि । प्रकारान्तरेणात्र संशय उच्यते । वेदप्रामाण्यवादिनाम् । 'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति' इति श्रुत्यनुसारेण ब्रह्मण्येव सर्वस्य वेदस्य प्रामाण्यमन्यत्र प्रमाणाभासत्वमितिवादिनां वेदे यः संदेहस्तद्वारकमिदं वैयासं शास्त्रम् । तत्र कः संदेह इत्यपेक्षायां, परस्थिते 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यत्राप्नोतिकर्मभूतो यः पर उक्तस्तत्स्थिते क्रियाशक्तिज्ञानशक्ती स्वरूपलक्षणविरुद्धत्वाद् ब्रह्मणि संदिह्येते, स्तो न स्तो वेत्येष संदेह इत्यर्थः । गृहीनं विभजन्ते न हीत्यादि । यदुक्तं स्वरूपलक्षणाकथन इत्यादि, तदसंगतम् । यदि सूत्रकारः श्रुतिं व्याख्यातुं प्रवृत्तः स्याद् यथाक्रमं प्रतिपदं च व्याकुर्यात् । न तु तथा । किंतु संदेहं वारयितुम् । ततश्च यत् संदिग्धं तद्विवृणोति, व्याख्येयसमानार्थकैरन्यैश्च पदैर्विपक्षसपक्षबाधक-

रश्मिः ।

विचारः । कल्पनेति यथा 'वाचो धेनुमुपासीत' इत्यत्र वाचो धेनुत्वकल्पने कल्पनयोपदेशः । तत्रेति कृत्स्ने वेदे । प्रतिभातीति । एतेन ब्रह्मणि, प्रमाणं भावे ल्युट्, प्रमा येनेति व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः कप् साधक इत्यसूचि । 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति श्रुतेरज्ञाते कं साधयित्वा ब्रह्मणीदमित्यतांशे ज्ञानप्रमाणकत्वं वार्थः । यद्वा केनोपनिषदि 'यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते' इति श्रावणाद्ब्रह्म प्रमाणं यस्येत्येव बहुव्रीहिः । वेदोक्तेति वेदोक्तावेदोक्तयोर्वेदोक्तलक्षण इत्यर्थः । एवकारेण व्याख्यानव्यवच्छेदः । प्रकारान्तरेणेति प्रकारस्तु वेदोक्तस्वरूपलक्षणं व्याख्यानोक्तमसर्वाङ्गीकृतकर्तृत्वलक्षणं वा ब्रह्मेति । तत्स्थित इति अधोक्षजे परे स्थिते । अधोक्षजत्वाच्च विचारस्तस्य । अत एव शेषषष्ठी । आर्थिकार्थमाहुः ततश्च यदित्यादि । विवृणोतीति विवृण्वन्ति । व्याख्येयेत्यादि । यद्यप्याचार्याः यत इत्यादौ आचार्य इवाचरणं करोति इति व्याख्येयसमानार्थकैः पदैरेव विवरणं दृश्यते, तथापि प्रकृतोपयोगि विवरणमिदं ज्ञेयम् । यथात्रैव सूत्रे समपदानि अन्यानि च । एवं सर्वत्राध्याये । द्वितीयाध्याये विपक्षो निश्चितसाध्याभाववान् यथा सांख्यानामसंगपुरुषः भूतकर्तृत्वरूपनिश्चितसाध्याभाववान् । तस्य बाधक-

तत्र संदेहः । किं ब्रह्म कर्तृ, आहोस्विदकर्तृ । किं तावत् प्राप्तम् । अकर्तृ ।

भाष्यप्रकाशः ।

साधकतर्कोपन्यासेन संदेहमपाकरोति । तत्र, सत्यमित्यादिके स्वरूपलक्षणे, यतो वेत्यादिकार्यलक्षणे, च ब्रह्मपदादेकस्यैव लक्षणद्वयश्रुतोभयत्र सामान्यशब्दप्रयोगेऽपि लक्ष्यस्वरूपभेदेन तदवच्छेदकभेदाद् ब्रह्मभेदः । तत्र यदि भेदस्तदा कस्य वेदार्थत्वं कस्य न, उतोभयोर्वेति पुनः संदेहसंभव इति तद्वारणार्थमेकं ब्रह्म वक्तव्यम् । तथा सत्युक्तरीतिकाद् विरोधात् संदेह इति प्रकारप्रश्नोत्तरत्वेन संदेहबीजमुक्तम् । स्वरूपलक्षणस्य हृदिकरणादकथनेऽप्यदोषश्च बोधितः । संदेहाकारमाहुः तत्रेत्यादि । तथा च परस्परविरुद्धार्थबोधकाभ्यां लक्षणाभ्यामेव संदेहाद्भवनकरणं युक्तमित्यर्थः । पूर्वपक्षं विवृण्वन्ति ब्रह्मेत्यादि । अयमर्थः । शेषलक्षणे, कर्म फलार्थत्वादित्यने-

रश्मिः ।

स्तर्कस्तदा सांख्यस्मृत्यनवकाशः स्यादिति तस्योपन्यासः । सपक्षो निश्चितसाध्यवान् स च प्रकृतिसमवायिपरमाणुभिन्नेश्वरदृष्टान्तादिरूपस्तद्बाधकस्तर्को यथेयं स्यात् सिद्धान्तरूपस्तस्योपन्यासस्तेन । संदेहास्त्वत्रतत्रोक्ताः अत्रत्योऽत्रैव वाच्यस्तत्र सत्यमित्यादिना । यद्यपि उक्तरीतिकतर्कोपन्यासो नास्ति तथापि सामान्यन्यायेन बोध्यः । अत्रत्यसंदेहमाहुः तत्र सत्यमिति । ब्रह्मपदादिति 'तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म' इति कार्यलक्षणे ब्रह्मपदं, तेन कार्यलक्षणलक्षितं स्वरूपलक्षणे परविपश्चित्पदाभ्यां परिभाषितं ब्रह्म जिज्ञासासंबन्धीत्युक्तम् । तत्र जिज्ञासा विचाररूपा अधोक्षजत्वात्परे विपश्चिति न प्रवर्तते, यौगिकी तु प्रवर्तते विचारस्याशेषधर्मसापेक्षत्वेन इदमित्यतांशेऽभावेपि आहार्यज्ञानविषयिण्या इच्छया अधोक्षजत्वेऽपि अबाधात् । धर्मत्वसामान्यप्रत्यासत्त्या सर्वे धर्मा इति ज्ञानसत्त्वात् विचारे त्वस्याप्रयोजकत्वात् । विचारस्य सर्वधर्मस्वरूपज्ञानसापेक्षत्वात् । अतः तद्विजिज्ञासस्व इत्यत्र तदिति लुप्तषष्ठीकं पदं विचारार्थपक्षे, द्वितीये तु यथोक्तम् । एकस्येति ब्रह्मण इत्यर्थः । उभयत्रेत्यादि कार्यलक्षणलक्षिते स्वरूपलक्षणलक्षिते चेत्यर्थः । ब्रह्मशब्दप्रयोगेपि लक्ष्यस्य कार्यलक्षणनिर्णयवाक्येन 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इत्यनेन आनन्दत्वनिर्वचनाल्लक्ष्य आनन्दः, स्वरूपं सत्यज्ञानानन्तरूपमिति भेदेन आनन्दत्वसंबृहत्त्वरूपशक्यतावच्छेदकभेदात् ब्रह्मभेद इत्यर्थः । बृहत्त्वबृंहणत्वे व्यापकत्वपोषकत्वरूपेऽवच्छेदकत्वेनोक्ते । सत्यज्ञानानन्तत्वमपि स्वरूपतावच्छेदकं ज्ञेयम् । तत्रेति लक्ष्यस्वरूपयोरित्यर्थः । एकं ब्रह्मेति विद्वन्मण्डने स्पष्टम् । तथासतीत्यादि एकस्मिन्ब्रह्मणि कार्यस्वरूपलक्षणलक्षिते सति । एकस्यैव लक्षणद्वयमित्युक्ता रीतिर्यस्मिन् संशयवर्णने तस्माद्विरोधात्कर्तृ आहोस्विदकर्तृ इत्येवंविधसंशयगतविरोधात् । अथवा भाष्योक्तरीतिकात्स्वरूपलक्षणविरोधात्कारिकोक्तः क्रियाशक्तिज्ञानशक्ती स्तः न स्तो वा इत्येवं संदेह इति । उच्यत इत्यस्यार्थकथने प्रकारान्तरेणेत्युक्तं तत्र प्रकारप्रश्नो भेदप्रतियोगिप्रकारः क इति आक्षेपलभ्यस्तदुत्तरत्वेन भाष्ये श्रुत्येति कार्यलक्षणफक्किकायामावृत्त्य श्रुतिबोधितत्वाविशेषरूपं कर्तृत्वांशे कोटिबीजमिति स्वरूपलक्षणविरोधरूपं च संदेहबीजमुक्तमित्यर्थः । भगवता व्यासेन स्वरूपलक्षणानुक्तौ हेतुमाहुः स्वरूपेत्यादि । अधोक्षजत्वादपि स्वरूपलक्षणं हृदिकृतम् । तत्रेत्यादीति कर्तृ ज्ञानक्रियाशक्तिमत्, अकर्तृ तद्रहितं तेन ज्ञानशक्तिक्रियाशक्ती संदिह्येते इति कारिकाविरोधो न । नहि परमस्ति न वेति संदेह उपपद्यतेऽसत्त्वप्रसङ्गात् । तथा चेति एकस्यैव लक्षणद्वयमित्येवं संशये नाकृतौ । पूर्वपक्षमिति अकर्त्रीति पूर्वपक्षमित्यर्थः । कर्म फलार्थत्वादिति । इदं सूत्रं पूर्वतन्त्रे तृतीयेऽस्ति ।

कथम् । 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति प्रधानवाक्यम् । फलसंबन्धात् । कथापि विवृतम् । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् । सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' इति । फलार्थं च ब्रह्मज्ञानम् । फलं च फलवाक्योक्तधर्मज्ञानादेव, नान्यथा । कर्तृत्वं च परविवरणतयोक्तम् । परं किमित्युक्ते यः सर्वान्तर आनन्द इति । कथं सर्वान्तरमित्याकाङ्क्षायां परिचयार्थं

भाष्यप्रकाशः ।

नोपलक्षणविषया ज्ञानस्यापि फलशेषत्वे सिद्धे प्राधान्यं फलस्यैवेति तत्संबन्धादुक्तमेव प्रधानवाक्यं, न तु कार्यलक्षणवाक्यं तथा । न चैवं पूर्वकाण्डेऽस्तु, उत्तरकाण्डे तत् किमित्युपेयमिति वाच्यम् । कथापि विवृतम् । यदि तस्य प्राधान्यं न स्यात् किमिति विवृणुयादतोऽत्रापि तदादृतम् । तथा सति ज्ञानं फलार्थं, फलं च फलवाक्योक्तधर्मज्ञानात् परत्वज्ञानादेव । अतः परत्वज्ञानार्थं कर्तृत्वं परविवरणतयोक्तम् । स्वरूपलक्षणे प्रापञ्चिकधर्मराहित्यप्रतीतेर्ब्रह्मणि कर्तृत्वस्यावश्यवचनत्वात् । तस्माद्वा एतस्मादित्यादिना यत् कर्तृत्वमुक्तं तज्ज्ञेयात् फलरूपं परं पृथक्कृत्य तं विवरीतुमुक्तम् । ततस्तत्स्वरूपजिज्ञासायां सर्वान्तरत्वकथनपूर्वकमानन्द इति स्वरूपमुक्तम् । अन्यथा तन्निरूपणमसंगतं स्यात् । सर्वान्तरत्वं च तस्य परत्वनिर्वाहकतयोक्तम् । तत्रापि कथं-

रश्मिः ।

'कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात्' इति तदर्थकथनमिदम् । तथेति प्रधानत्वेनेत्यर्थः । कथापीत्यादि भाष्यमवतारयन्ति न चैवमित्यादि । न चैवमिति पूर्वतन्त्रीयन्यायादरणमित्यर्थः । यदि तस्येत्यादि यदि उत्तरकाण्डे फलसंबन्धिवाक्यस्य प्राधान्यं न स्यादित्यर्थः । अत्रापीत्यादि उत्तरकाण्डेपि फलसंबन्धात्प्राधान्यमादृतमित्यर्थः । फलार्थं चेत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति तथासतीत्यादि । कोऽसौ धर्मो यज्ज्ञानात्फलमित्यत आहुः परत्वज्ञानादिति । ब्रह्मणो विशेषधर्माणां चाधोक्षजत्वेन यतो वाच इति श्रुत्या चानुक्तिः । भाष्ये । एवकारेण ब्रह्मत्वेऽपि सर्वेषां कार्यकारणभावाभावादन्यफलकारणं व्यवच्छिद्यते । भाष्ये । नान्यथेति नान्यधर्मज्ञानैः कार्यकारणभावाभावादित्यर्थः । प्रकृते । कर्तृत्वं चेत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति अतः परत्वेत्यादि । उक्तमिति । 'परमे व्योमन्' इत्यन्तेन 'ब्रह्मवित्' इत्यंशविवरणं कृत्वा 'सोऽश्नुते' इत्यादि परविवरणे ब्रह्मणेति सहार्थेऽप्रधाने तृतीयया कर्तृत्वमुक्तमशनस्याप्रधानं मुख्यं तु कर्तृत्वम् । 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इत्यादिनोक्तं विवरीतुमिति 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गाः' इत्यादिश्रुत्युक्तमक्षरकर्तृत्वं तु 'कदाचित्पुनरन्यथा' इति निबन्धावरणरूपाक्षरद्वारेति फलितम् । तदेव स्पष्टयन्ति स्वरूपलक्षणेत्यादि । ज्ञेयादिति ब्रह्मविदित्युक्तादित्यर्थः । परं किमित्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति ततस्तदित्यादि । अत्र यद्यपीति शेषः । परं किमिति तत्स्वरूपजिज्ञासा ज्ञातुमिच्छा । प्रच्छ ज्ञीप्सायाम् । किमः प्रश्ने । तथा च भाष्यं जिज्ञासापदेनेत्यादि । उक्तमिति ब्रह्मवित्प्रपाठके उक्तम् । स्वरूपमुक्तमिति 'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः' इति स्वरूपमुक्तमित्यर्थः । ननु स्वरूपलक्षण आत्मानन्दस्याभावात् कथमेवमित्याकाङ्क्षायामाह अन्यथेत्यादि । प्रकृते तु व्याख्येयव्याख्यानरूपा संगतिरिति ज्ञेयम् । ज्ञेयं तद्भविष्यतीत्याशङ्कामपाकुर्वन्तः कथं सर्वान्तरमित्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति सर्वान्तरत्वं चेत्यादि । तथा चानन्द एव पर

भूतभौतिकसृष्टिमुक्त्वा गौणामन्तर्यं परिहृतम् । गौणोपासनाफलं च प्रधानशेषतयोक्तम् । तत्रान्यगतकर्तृत्वारोपानुवादोऽपि संभवति । ततश्च भृगुर्वै वारुणिरित्युपाख्यानेऽपि परिचायकत्वाद् गौणकर्तृत्वमेवानूद्यते, फलाश्रवणादिति पूर्वः पक्षः ।

सिद्धान्तस्तु ।

उत्पत्तिस्थितिनाशानां जगतः कर्तृ वै बृहत् ।
वेदेन बोधितं तद्धि नान्यथा भवितुं क्षमम् ॥
न हि श्रुतिविरोधोऽस्ति कल्पोऽपि न विरुध्यते ।
सर्वभावसमर्थत्वादचिन्त्यैश्वर्यवद् बृहत् ॥

भाष्यप्रकाशः ।

भावाकाङ्क्षायां तन्निष्कर्षार्थमाकाशादीनां भूतानामोषध्यादीनां भौतिकानां च सृष्टिकथनेन कर्तृत्वं प्रतिपाद्य तस्य सर्वान्तरत्वकथनेन चरमत्वाद् गौणमपर्यवसन्नं प्राणादीनामिवानन्तर्यं निवारितम् । 'सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति येऽन्नं ब्रह्मोपासते' इत्यादिनाऽन्नब्रह्माद्युपासनाफलं प्रधानशेषतया, 'अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः' इत्यादिनानुवाकचतुष्टयेन कथितस्य सत्त्वब्रह्मानन्दावाप्तिसर्वभयाभावरूपप्रधानफलस्य शेषतया सर्वोत्कृष्टत्वज्ञापनायोक्तमिति कर्तृत्वं परस्मिन् सिद्ध्यति । तथापि स्वरूपलक्षणविरोधात् पूर्वकाण्डोक्तप्रजापतिगतस्य प्रकृतिगतस्य वा कर्तृत्वस्यारोपेणानुवादोऽपि संभवतीति द्वितीयप्रपाठकेऽपि फलाश्रवणेनामुख्यत्वात् तत्राप्येवं नेतव्यम् । तथाच नास्य लक्षणत्वमिति पूर्वपक्षार्थः ।

सिद्धान्तमाहुः उत्पत्तीत्यादि । तदिति कर्तृत्वम् । अन्यथेति गौणम् । कल्प इति कल्पसूत्रम् । सर्वभावः सर्वभवनम् । तत्र समर्थत्वादकर्त्रपि कर्त्रित्यर्थः । गृहीतं विभजन्ते वेदेनेत्यादि । स्यादन्यगतकर्तृत्वारोपानुवादः कार्यलक्षणे यदि स्वरूपलक्षणं विरुध्येत । तदेव तु न ।

रश्मिः ।

इति भावः । लिङ्गं तु विज्ञानमयरूपजीवादप्यान्तरत्वम् । तत्रापीति अन्नादिसर्वान्तरत्वेपि मुख्यं तद्गौणं वेति कथंभावाकाङ्क्षायामित्यर्थः । गौणोपासनेत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति सर्वं वा इत्यादि । शेषत्वं विवृण्वन्ति अस्ति ब्रह्म इति । उक्तेनानुवाकेन सत्त्वं, असद्वा इदमित्यनुवाकेनापि सत्त्वं, भीषास्माद्वातः पवते इत्यनुवाकेन ब्रह्मानन्दावाप्तिः, 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यनेन सर्वेषां वातादीनां भयाभावः । सर्वोत्कृष्टत्वेत्यादि सर्वेभ्य उपासनाफलेभ्यः परप्राप्तेरुत्कृष्टत्वेन ज्ञापनार्थम् । तथापि नेत्याहेति वदन्तस्तत्रान्येत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति तथापीत्यादि । आरोपेणेति परस्मिन्नित्यर्थः । ततश्च भृगुर्वा इत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति द्वितीयप्रपाठक इति । यतो वा इत्यादिषु गौणं कर्तृत्वमुच्यते तद्ब्रह्मेति श्रावणेन पररूपफलाश्रवणादित्यर्थः । तथा चेत्यादि एवंविधेन विरोधेन प्रजापत्यादिगते कर्तृत्वेऽङ्गीकृते न भूतादिकर्तृत्वस्य लक्षणत्वमित्यर्थः । गौणमिति गौणत्वेन प्रकारेण गौणम् । कल्पसूत्रमिति तत्र कर्ता कारयिता हरिरिति वक्ष्यमाणम् । ननु लक्षणं न बृहतः किंतु परस्येत्यत आहुः तत्र समर्थत्वादिति । तथा चाक्षरस्य चरणत्वात् पुरुषविधस्य विरुद्धधर्माश्रयत्वात् न विरुद्धं जन्मादिकर्तृत्वं लक्षणमिति भावः

वेदेनैव तावज्जगत्कर्तृत्वं बोध्यते । वेदश्च परमाप्तोऽक्षरमात्रमप्यन्यथा न वदति । अन्यथा सर्वत्रैवाविश्वासप्रसङ्गात् । नच कर्तृत्वे विरोधोऽस्ति । सत्यत्वादि-

भाष्यप्रकाशः ।

विवरणार्थं परस्य तृतीयान्तेन ब्रह्मपदेनैव विवृतत्वात् । नच तत्र वेदहिरण्यगर्भब्राह्मणजातिजीवा अर्थत्वेन ग्रहीतुं शक्याः । परपदविवरणात् सान्तत्वादिना ब्रह्मापेक्षयोत्कर्षस्य तेष्वशक्यवचनत्वात् । परशब्दस्यान्यार्थकत्वोपगमेऽपि विवरणोक्तब्रह्मशब्दानुरोधादेत एव परत्वेन ग्राह्याः । तत्प्राप्तिस्तु कर्मणापीति साधनान्तरेण ज्ञानेन को वा विशेषः स्यात् । अत उत्कृष्टार्थकत्वमादरणीयम् । उत्कृष्टं च किमित्यपेक्षायां विवरणानुरोधाद् ब्रह्मान्तरं कल्प्यम् । तच्चाप्रसिद्धं, स्वरूपलक्षणहीनं च । न च प्रकृतिः । सांख्यमतेऽपि ज्ञानात्मकपुरुषापेक्षया तस्या हीनत्वात् परार्थत्वाच्च । अश्रौतत्वस्य वक्ष्यमाणत्वाच्च । अतो ब्रह्मापेक्षयान्यस्य परत्वेन वक्तुमशक्यत्वादुक्तलक्षणविशिष्टस्यैव ब्रह्मणः कर्तृत्वं वेदेन बोध्यते । नच तदारोपितमिति शक्यवचनम् । निरङ्कुशस्य तस्याऽन्यत्रासिद्धताया अनुपदमेव वक्ष्यमाणत्वात् ।

किंच । वेदः परमाप्तत्वादक्षरमात्रमपि मिथ्या न वदति । यदि क्वापि तथा वदेत्, स्वर्गकामो यजेतेत्यादिविध्यंशे स्वरूपलक्षणाद्यंशे चाविश्वसनीयः स्यात् । ततश्च सन्मार्गमात्रमुच्छिद्येत । अतो यद्यथा वदति तत्तथेति मन्तव्यम् । तेन कर्तृत्वं वेदोक्तत्वादपि वास्तवमित्येव सिध्यति । नच कर्तृत्वाङ्गीकारे स्वरूपलक्षणविरोधोऽस्ति, येन तदनुरोधादवास्तवत्वं तस्य कल्प्येत । तदुक्तसत्यत्वादिधर्मवत् कर्तृत्वस्याप्युपपत्तेः । नच ब्रह्म यावद्धर्मरहितमिति वक्तुं शक्यम् । स्वरूपलक्षणविरोधात् । तत्र ब्रह्मणि सत्यत्वादिधर्माङ्गीकारात् । नचासत्यजडसान्तव्या-

रश्मिः ।

कारिकायाम् । तृतीयान्तेनेति 'ब्रह्मणा विपश्चिता' इति तृतीयान्तेन । विविधभोगकर्तृत्वस्य सृष्टिमन्तरेणानुपपद्यमानस्य सामर्थ्याज्जगत्कर्तृत्वं न स्वरूपलक्षणविरुद्धमित्यर्थः । यत्तूपनिषद्भाष्ये विपश्चिता मेधाविना सर्वज्ञेनैवेत्यर्थः इति शंकराचार्यास्तदपि सर्वमन्तरेण सार्वज्ञ्यानुपपत्त्या सर्वकर्तृत्वं द्रढयति । न च भोगकर्तृत्वापेक्षया अशनकर्तृत्वं ज्याय इति शङ्क्यम् । अश्नुत इत्युक्ताशनस्य भोगत्वात् । अत्राप्रधानकर्तरि तृतीया 'सहयुक्तेऽप्रधाने' इति सूत्रेण । क्वचिदप्रधाने कर्मादौ तथाचाप्रधान इत्यस्य विभक्त्यर्थे अप्रधाने इत्यर्थः । न च तत्रेति तृतीयान्ते ब्रह्मपदे इत्यर्थः । यद्यपि ते परत्वमाश्रयन्ते तथापि ज्ञेयब्रह्मापेक्षया नाश्रयन्त इत्याहुः सान्तत्वादिनेत्यादि । आदिना सर्वोत्कृष्टत्वम् । ब्रह्मापेक्षयेति परविवरणब्रह्मापेक्षयेत्यर्थः । ननु परस्यान्यत्रानात्मवैरिद्रकेवलेष्वपि वृत्तिदर्शनात्तेऽर्थाः सन्तु इत्याशङ्क्य नेत्याहुः परशब्दस्येत्यादि । एत एवेति वेदादय इत्यर्थः । तथा सति ब्रह्मविदिति विशेषासमर्पकं भवेदित्याहुः तत्प्राप्तिस्त्वित्यादि । वक्ष्यमाणत्वाच्चेति आनुमानिकमप्येकेषामित्यानुमानिकाधिकरणे वक्ष्यमाणत्वादित्यर्थः । अन्यत्र सिद्धस्यैवारोपो दृष्टः प्रकृते तु तदभावादारोपोऽशक्यवचन इत्याहुः निरङ्कुशस्येत्यादि । अनुपदमिति अत्रैव सत्यत्वादिधर्मवदित्यादिना विशेषेण तु द्वितीयाध्यायद्वितीयपादे । वेदश्चेत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति किं च वेदेत्यादि । अन्यथेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म यदीति । न च कर्तृत्व इत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति न च कर्तृत्वेत्यादि । सर्वथेत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति न च ब्रह्मेत्यादि । ननु न सत्यत्वादिधर्मो ब्रह्मण्युपेयते अपित्वसत्यत्वादेरभावोऽधिकरणात्मकोऽभ्युपेयते इति निर्धर्मकं ब्रह्मेत्याशङ्क्य निषेधन्ति न चासत्येत्यादि ।

धर्मवत् कर्तृत्वस्याप्युपपत्तेः । सर्वथा निर्धर्मकत्वे सामानाधिकरण्यविरोधः । सत्यज्ञानादिपदानां धर्मभेदेनैव तदुपपत्तेः । नच कर्तृत्वं संसारिधर्मो, देहाद्यध्यासकृतत्वादिति वाच्यम् । प्रापञ्चिके कर्तृत्वे तथैव । न त्वलौकिककर्तृत्वे । अत एवास्येत्याह । अस्येति पुरोवर्ती प्रपञ्च इदमा निर्दिश्यते । अनेकभूतभौतिकदेवतिर्यङ्मनुष्यानेकलोकाद्भुतरचनायुक्तब्रह्माण्डकोटिरूपस्य मनसाप्याकलयितुमशक्यरचनस्यानायासेनोत्पत्तिस्थितिभङ्गकरणं न लौकिकम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

वृत्त्वेनैक एवार्थः सत्यादिपदैरुच्यत इति वक्तुं युक्तम् । व्यर्थपौनरुक्त्यापत्तेः । तत्तद्भेदधर्मकत्वसिद्ध्या घटकुट्यां प्रभाताच्च । अतः सत्यादिपदानां स्वार्थत्यागोऽपार्थ एव । तदेतदुक्तं धर्मभेदेनैव तदुपपत्तेरिति । स्फुटमग्रिमम् ।

ननु लक्षणद्वयस्यैकपरत्वे सर्वासु श्रुतिष्वेकमेव ब्रह्म प्रतिपाद्यम् । तदा, अस्थूलादिवाक्येष्वपि तदेव निरूप्यत इति निर्धर्मकत्वं बलादापतितमतः कर्तृत्वनिषेध एव युक्त इत्यत आहुः

रश्मिः ।

व्यर्थेत्यादि असत्यमात्रव्यावृत्त्या जडादिव्यावृत्तिसिद्ध्या तथेत्यर्थः । नैयायिकोक्तदूषणग्रासाच्चाभावोधिकरणानतिरिक्तः इत्याशयेनाहुः तत्तद्भेदेत्यादि । असत्यमात्रव्यावृत्त्या इत्यत्र व्यावृत्तिर्भेदः स च ब्रह्मणीति तत्रासत्यादिव्यावृत्तयस्तत्तद्भेदास्तद्धर्मकत्वसिद्ध्या । न्यायमाहुः घटकुट्यामिति द्वितीयाध्यायोपान्त्येऽस्ति ज्ञानप्रक्रियायाम् । प्रहस्ते चास्ति श्वेताश्वतरस्य शिवपरत्वखण्डने च । यथा कस्यचिद्भ्रमतः संन्यासिनः स्तेयकृतो वा मूलमलभमानस्य घटकुट्याः समाधिभेदकुम्भदास्या इभशिरःकुम्भदास्या निर्गतस्य तत्रैव प्रभातं तथा धर्मनिषेधाय भ्रमतो धर्म एव पर्यवसितिरित्यर्थः । अत्र विश्वकोशः 'घटः समाधिभेदेभशिरःकूटकुटेषु च । कुटः कोटे घटे गेहे शिलाकुट्टकपूरुषे । स्यात्कुटीकुम्भदास्यां च सुरायां चित्रगुच्छके' इति समाधिगेहान्निर्गतस्येत्यर्थः । अपार्थ एवेति एवकारस्तु सर्वत्र ग्रन्थेषूपपादनान्निर्धर्मकत्वव्यवच्छेदकः । तदेतदिति । न चासत्येत्यादिना विवृतमित्यर्थः । सत्यत्वादिधर्मभेदेनैव भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वे अनेकार्थबोधकत्वरूपसामानाधिकरण्योपपत्तेरिति भाष्यार्थः । स्फुटमित्यादि तथाहि । भाष्ये । न चेत्यादि । अहन्ताममतात्मकः संसारः सोऽस्यास्तीति संसारी तस्य धर्मः यतोऽहं कर्तेत्यादिप्रतीत्याहंकारसमानाधिकरणं कर्तृत्वं, संसाराभावे तु अहं मुक्तो न कर्तेति अस्मत्प्रत्ययगोचरे कर्तृत्वतदभावौ । देहाद्यध्यासः प्रधानकार्यत्रिगुणात्मकदेहाद्यध्यासोऽहं कर्तेति ।

'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥'

इति वाक्याद् देहादिधर्मस्थौल्यादिकर्तृत्वं स्वस्मिन्नध्यस्यते भोक्तृत्ववत् । भोक्तृत्वमानन्दधर्मः 'आनन्दभुक्' इति श्रुतेरित्यर्थः । शङ्कितमनुमानं सत्प्रतिपक्षमित्याशयेनाहुः प्रापञ्चिक इत्यादि । तथा च कर्तृत्वं न संसारिधर्मः ब्राह्मत्वात् सत्यत्वादिवत् इति प्रतिपक्ष इति भावः । हेतुर्व्याप्यत्वासिद्ध इत्यपि लौकिके कर्तृत्वमुपाधिः । सूत्रकारस्याप्ययमेव आशय इत्याहुः अत एवेत्यादि । अलौकिककर्तृत्वादेवेत्यर्थः । ब्रह्मणो भविष्यति नेत्याहुः अनेकेत्यादि । तथाच हिरण्यगर्भस्यापि स्रष्टृत्वे प्रमाणाभावोऽनायासेनेत्यर्थः । अतएव निरध्यस्तैरेव देहादिभिः कर्मकरणसंभवादितिभाष्यम् । एवमग्रिमं स्फुटमित्यर्थः ; प्रकृते । निर्धर्मकत्वमिति श्रौतधर्मनिषेधादस्थूलादि-

प्रतीतं च निषेध्यम् । नाप्रतीतं, न श्रुतिप्रतीतम् । सत्यत्वादयश्च लौकिकाः । ततः सर्वनिषेधे तदज्ञानमेव भवेत् । नच सत्यत्वादिकं लोके नास्त्येव व्यवहारमात्रत्वात्, कारणगतमेव सत्यत्वं प्रपञ्चे भासत इति वाच्यम् । तर्हि कर्तृत्वं तथा कुतो नाङ्गीक्रियते । स्मृतिश्च स्वीकृता भवति 'कर्ता कारयिता हरिः' इति ।

नचारोपन्यायेन वक्तुं शक्यम् । तथा सत्यन्यस्य स्यात् । तत्र न प्रकृतेः । अग्रे स्वयमेव निषिध्यमानत्वात् । न जीवानामस्वातन्त्र्यात् । न चान्येषामुभय-

भाष्यप्रकाशः ।

प्रतीतमित्यादि । युक्तः प्रतिषेधः । परत्वस्थूलादिवाक्ये लोकप्रतीता एव प्रतिषिध्यन्त इत्यत्रापि प्रतीतमेव प्रतिषेध्यम् । अत एव नाप्रतीतम् । प्रसञ्जयितुमशक्यत्वेन प्रतिषेधानर्हत्वाच्च । न श्रुतिप्रतीतम् । तुल्यबलत्वात् प्रत्यायनवैयर्थ्यापाताच्च । श्रुत्युक्ताः सत्यत्वादयोऽपि यदि लौकिकत्वेनादृतास्ततो लोकश्रुतिप्रतीतसाधारण्येन सर्वनिषेधे ब्रह्माज्ञानमेव भवेत् । तथाच स्वरूपलक्षणवैयर्थ्यं सर्वनाशश्च स्यात् । नच तदभावाय लोकस्य व्यवहारमात्रत्वात् तत्रापि कारणगतमेव सत्यत्वमतो न तत् प्रतिषेध्यं, किं तु कर्तृत्वमेवेति वाच्यम् । तदा तु धर्मसंकोचस्य तौल्यात् कर्तृत्वमपि तथाङ्गीकार्यम् । तेन कल्पस्मृतिस्वीकाररूपगुणोऽपि भविष्यति । नन्वगत्या सत्यत्वं तथास्तु, न तु कर्तृत्वमपि । आरोपन्यायेन तस्य शक्यवचनत्वादित्यत आहुः न चेत्यादि । अन्येषामिति अभावकालस्वभावभूतग्रहलोकपालादीनाम् । ननु प्रकृते फलवाक्यविचारो भवतापि

रश्मिः ।

श्रुतिभिः । अत इति कर्तृत्वाकर्तृत्वयोः प्राप्तौ युक्तत्वादित्यर्थः । इत्यत्रापीति नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावमित्यादिष्वित्यर्थः । प्रसञ्जयितुमिति अभावस्य प्रसक्तिं कर्तुम् । प्रतिषेधानर्हत्वाच्चेति । यथाहुः अभावलौकिकप्रत्यक्षं प्रति प्रतियोगिज्ञानस्य हेतुत्वमन्यथा प्रतियोगिज्ञानशून्यकाले नेत्याकारकप्रतियोग्यमिश्रिताभावलौकिकप्रत्यक्षं स्यादिति प्राञ्चो नैयायिकाः । तुल्यबलत्वादिति ।

उपजीव्यत्वतः श्रौतवाक्यतोन्यपरत्वतः ।
'अन्तरङ्गत्वतश्चापि तुल्यमत्रोभयोर्बलम्' इत्यर्थः ।

यथाहि निर्गुणप्रतिपादिकासु आधारनिरूपकत्वेनोपजीव्यत्वं कारणत्वमत एवान्यपरत्वं निर्गुणप्रतिपादकत्वरूपमत एवान्तरङ्गत्वं धर्मनिरपेक्षत्वेन स्वल्पापेक्षत्वरूपम् । एवं सगुणप्रतिपादिकास्वपि विरहप्रतियोगिनिरूपकत्वेनाधारनिरूपकत्वेन चोपजीव्यत्वमन्यपरत्वं च । कार्यस्वरूपयोरेकब्रह्मलक्षणत्वात् धर्मनिरपेक्षत्वस्य स्वरूपलक्षणेपि प्रकाशाश्रयन्यायेन वक्तव्यत्वात्प्रकृतेपि तत्संभवेनान्तरङ्गत्वं च तुल्यं, एवमप्युपपादनसौष्ठवाच्छ्रौता धर्मा निषेध्या इत्याकाङ्क्षायां हेत्वन्तरमाहुः प्रत्यायनेत्यादि । तथा सति प्रक्षालनपङ्कन्यायेन धर्मान्न प्रत्याययेदित्यर्थः । सत्यत्वादय इत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति श्रुत्युक्ता इत्यादि । सर्वनाश इति ब्रह्माज्ञाने तद्विषयकस्य दृढभक्त्यादेरुच्छेदात्तथा स्यादित्यर्थः । न च सत्यत्वेत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति न च तदित्यादि । तथाङ्गीकार्यमिति कारणगतमेव कर्तृत्वं लोकेऽङ्गीकार्यमित्यर्थः । स्मृतिश्चेत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति तेनेत्यादि । कल्पस्मृतीति भाष्योक्तकल्पस्मृतीत्यर्थः ।

भाष्ये तथासतीति आरोपोऽन्यगतधर्मस्येति कर्तृत्वस्यान्यधर्मत्वे सतीत्यर्थः । अग्र इति यथा बर्हिर्देवसदनं दामीत्यत्र बर्हिर्लवनसामर्थ्यं दामीति शब्दादालोच्यानेन लवनं विदध्यादिति श्रुतिं कल्पयित्वा लवनाङ्गत्वं मन्त्रस्य । प्रकृते । अभावेत्यादि अभावो नास्तिकानां, कालस्वभावौ श्वेताश्वतरे, भूतो-

निषेधादेव । तस्माद् ब्रह्मगतमेव कर्तृत्वम् । एवं भोक्तृत्वमपि । न वा काचिच्छ्रुतिः कर्तृत्वं निषेधति । विरोधभानात् कल्प्या तु लौकिकपरा । फलवाक्येऽप्यश्रुतानां गुणोपसंहारः कर्तव्यः । तथाचायं सूत्रार्थः । जन्म आदिर्येषामित्यवयवसमासादतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः ।

भाष्यप्रकाशः ।

स्वीकृतस्तथा सति तद्विवरणोक्तं भोक्तृत्वं तत्रास्तु, कर्तृत्वं तु कथमङ्गीकर्तुं शक्यमित्यत आहुः गुणोपसंहार इति सूत्रकृताग्रे तथाङ्गीकारात् तथेत्यर्थः । तस्माद् ब्रह्म कर्तृ इति सिद्धम् । एवं सिद्धान्तं व्याख्याय तस्य सूत्राविरोधित्वं बोधयितुं सूत्रं व्याकुर्वते तथाचेत्यादि । एवं कर्तृत्वे सिद्धे वक्ष्यमाणरीतिकः सूत्रार्थ इत्यर्थः । अत्र सर्वेऽपि तद्गुणसंविज्ञानं बहुव्रीहिमङ्गीकुर्वन्ति । तत्रोपसर्जनत्वेन पूर्वप्रयोगार्हस्यादिशब्दस्य परत्वाय राजदन्ताद्याकृतिगणीयत्वं कल्पनीयमित्यरुच्या प्रकारान्तरेण व्याकुर्वन्ति जन्मेत्यादि । जन्म आदिः प्रथमोऽवयवो येषां ते जन्मादि । सुपां सुलुगिति जसो लुगित्यवयवसमासादिति भावप्रधानो निर्देशः । तथाचादिपदविशेष्यकावयवसमासत्वादतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिरित्यर्थः । न च, 'अङ्गं प्रतीकोऽवयवः' इति कोशादवयवपदस्याङ्गवाचकत्वेनात्र च तदभावेन कथमवयवसमासत्वमिति शङ्क्यम् । एकदेशेऽप्यवयवपदप्रयोगात् । यथा पञ्चावयवमनुमानवाक्यमिति । कैयटेऽपि, 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' इत्यत्र, एकोऽज् यस्य स एकाजिति विशिष्टावयवोपलक्षितस्यावयविन इत्यादिना, अज्झल्विशिष्टस्य शब्दस्यैकोऽज-

रश्मिः ।

न्यप्रविष्टः, ग्रहाः सूर्यादयः ज्योतिषे, एवं लोकपाला अपि । आदिशब्देन कामः 'असत्यमप्रतिष्ठं ते' इति वाक्यात् । भोक्तृत्वमिति द्वितीयाध्याये द्वितीयपादे 'रचनानुपपत्तेश्च' इत्यधिकरणेऽन्यत्र चेत्यर्थः । भाष्ये । अस्वातन्त्र्यादिति 'स्वतन्त्रः कर्ता' इत्यनुशासनात् कर्तृत्वे स्वातन्त्र्यस्य प्रयोजकत्वमिति भावः । उभयनिषेधादिति चिज्जडनिषेधादित्यर्थः । सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि । आन्यत्रिकत्वाभावेनारोपाभावादित्यर्थः । अतिदिशन्ति एवमिति । अश्रुत इत्युक्तं भोक्तृत्वं मुक्तजीवीयमपि सहार्थकतृतीयान्तप्रतिपाद्यब्रह्मगतमेवेत्यर्थः । इच्छया जीवे प्रधानीभूय भासत इत्यर्थः । कल्प्या त्विति कर्तृत्वनिषेधकत्वेन लिङ्गात्कल्प्या तु लौकिककर्तृत्वनिषेधपरेत्यर्थः । अथवा किमनया कुसृष्ट्येति वक्ष्यमाणत्वाद्यथाकथंचिद्व्याख्यायते । प्रकृते । अश्रुत इत्यस्याभातीत्यर्थाद्भोक्तृत्वम् । अग्र इति तृतीयस्य तृतीयपादे इत्यर्थः । तथेति भोक्तृत्वम् । सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि । तृतीयस्य द्वितीयपादे उभयव्यपदेशाधिकरणे स्पष्टम् । अत्रेति । पूर्वप्रयोगार्हस्येति 'उपसर्जनं पूर्वम्' इति सूत्रात्पूर्वेत्यादिः । जन्मादीतिपदे इत्यर्थः । कल्पनीयमिति पाणिनीयगणपाठे राजदन्तादिषु जन्मादिशब्दपाठाभावेपि तत्त्वं कल्पनीयमित्यर्थः । तर्हि बहुवचनं स्यादित्याकाङ्क्षायामाहुः सुपामित्यादि । 'सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः' इति वैदिकीप्रक्रियायां सप्तमेऽध्याये सूत्रमुदाहरणानि च तत्रैव । भाष्ये । इत्यवयवसमासेति अवयवानां जायतेऽस्ति विपरिणमत इत्यादीनां समसनात् जन्मादीनां वा समसनात् । एवं चात्रावयवावयविनोरत्र समासाभावादतद्गुणत्वम् । प्रकृते । पञ्चावयवमिति प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि पञ्चावयवाः । उक्तसूत्र इति षष्ठाध्यायप्रथमपादस्य प्रथमाह्निकस्य उक्तसूत्र इत्यर्थः । विशिष्टावयवेति अज्झल्विशिष्टावयवोपल-

भाष्यप्रकाशः।

चयव इत्यङ्गीकाराच्च। तत्रैकस्याचो विशिष्टावयवत्ववदत्र आद्यादीनां समूहावयवत्वेन तद्वाचक-पदानां समासेऽवयवसमासत्वस्य सुखेन संभवात्।

एतस्यातद्गुणसंविज्ञानत्वं त्वेवम्। तथाहि। उक्तसूत्रे कैयटेन तद्गुणसंविज्ञानपदं द्वेधा व्याख्यातम्। तस्य अन्यपदार्थस्य गुणो विशेषणं तस्य संविज्ञानं येनेति। स वर्तिपदार्थो गुणो यस्यान्यपदार्थस्य तस्य संविज्ञानं येनेति च। तत्रोदाहरणं तु शुक्लवाससमानयेति। तत्र शुक्लवासः-संयुक्तपुरुषानयने पृथगचोदितान्यपि वासांसि संबन्धसामर्थ्यादानयनेन संबध्यन्त इत्युक्तम्। इदं च लम्बकर्णमानयेत्यादावपि तुल्यम्। एवं सत्यन्यपदार्थविशेषणस्य यत्र संबन्धसामर्थ्यात् कार्यसंबन्धस्तत्र तद्गुणसंविज्ञानः। यत्र तस्य संबन्धसामर्थ्यात् कार्ये संबन्धाभावस्तत्रातद्गुण-संविज्ञानः। यथा चित्रगुमानयेत्यत्र। अत्र हि पुरुषानयने समासवर्तिपदार्थभूतानां चित्राणां गवां सन्निधानाभावान्न कार्येण सह संबन्ध इति। एवं सति प्रकृतेऽन्यपदार्थभूतानां प्रधानानां स्थिति-प्रलयाभिसंवेशानामेकदेशतया तद्विशेषणीभूतो य आदिस्तस्य प्रथमान्तरव्यावर्तकतया जन्म विशेषणम्। स्वयं तु वर्तिपदार्थे विशेष्यः। तस्य धर्मरूपं यत्प्राथम्यं तदपेक्षाबुद्धिजन्यम्। तस्य निरूप्यत्वमपि स्थित्यादिजन्यमतः सोऽत्र सूत्रेऽर्थादायातायां ब्रह्मकर्तृकभवनक्रियायां न सं-

रश्मिः।

क्षितस्य। आद्यादीनामिति आदेरादि जन्म आद्यादि, आदिरादिर्येषां स्थितिलयाभिसंवेशानां त आद्यादयः, आद्यादि च आद्यादयश्च आद्यादयः तेषामाद्यादीनाम्। येनेतीति येनेति तृतीयान्तान्यपदार्थकथनं तु तस्यान्यपदार्थस्य गुणो विशेषणं तस्य संविज्ञानं स वर्तिपदार्थो गुणो-ऽवयवो वा यस्यान्यपदार्थस्य तस्य संविज्ञानमित्यस्याग्रे संनिहितविशेषणस्यान्यपदार्थस्य विशिष्टसं-बन्धाश्रयेण केनचिद्बहुव्रीहिणाभिधानादित्यर्थः। इत्युत्तरग्रन्थसूचितं ज्ञेयम्। शब्दरत्ने तु तस्यान्य-पदार्थस्य गुणा विशेषणानि संज्ञायन्ते कार्यित्वादिना यत्रेति 'सर्वादीनि सर्वनामानि' इत्यत्र व्याख्यातम्। तद्गुणसंविज्ञान इति तथाच प्रायः संयोगसमवायान्यतरसंबन्धेन संबन्धी यत्र अन्यपदार्थस्तत्र तद्गुणत्वमिति शब्दरत्नोक्तं लक्षणं पर्यवसितं ज्ञेयम्। नैयायिकास्तु लक्ष्यता-वच्छेदकस्य विशेष्यान्वय्यन्वयित्वं लक्षणमाहुः यत्र तस्येति। इदमपि संयोगसमवायातिरिक्तस्वस्वा-मिभावादिसंबन्धेन संबन्धी यत्रान्यपदार्थः तत्र तद्गुणत्वमिति शब्दरत्नोक्तं लक्षणं नातिवर्तते। नैयायिकास्तु लक्ष्यतावच्छेदकस्य विशेष्यान्वय्यनन्वयित्वं लक्षणमाहुः। अत्रैतावान् विशेषः। समासशक्तिवादिनां विशेषणस्य विशेष्यान्वय्यन्वयित्वे तदनन्वयित्वे उक्तसंबन्धो नियामकः। लक्षणावादिनां नैयायिकानां तु शब्दस्वभाव एव तन्त्रमिति। सन्निधानाभावादिति अत एव नागयज्ञोपवीती भोज्यतामित्यादौ यज्ञोपवीतस्य कार्यित्वाभावेपि तत्सन्निधानात्तद्गुणत्वमिति हरिग्रन्थः। नैयायिकानां मते तु अतद्गुणसंविज्ञान एव। प्रधानानामिति विशेष्याणामित्यर्थः। स्थितीत्यादि। अभिसंवेशः सुषुप्तिस्तत्सुखमित्यर्थः। प्रथमान्तरेति जन्मतः प्रथमान्तरेत्यर्थः। स्वयं त्विति आदिस्त्वित्यर्थः। तस्येति आदेरित्यर्थः। अत इति प्राथम्यस्य निरूप्यत्वस्य चापेक्षा-बुद्धिजन्यत्वेन स्थित्यादिज्ञानजन्यत्वेन च साक्षाद्ब्रह्मजन्यत्वाभावादित्यर्थः। ब्रह्मकर्तृकेत्यादि यतो

१. कार्यकारणभावसंबन्धाश्रयेण। २. अभिधावृत्तिः पदधर्मः 'पदज्ञानं तु करणम्' इति भाषापरिच्छेदात्।
३. कार्यकारणभावसंबन्धस्तृतीयान्तान्यपरं सूचयतीति ग्रन्थसूचितम्। ४. विशेषान्वयकारणं कार्यम्।

भाष्यप्रकाशः।

बध्यते। तदसंबन्धे तद्द्वारा जन्मनोऽपि न संबन्ध इत्यस्य समासस्यातद्गुणसंविज्ञानत्वम्। इदं च तद्गुणसंविज्ञानस्य प्रथमलक्षणादरे बोध्यम्। द्वितीयलक्षणादरे तु तद्गुणकस्य विशेष्यस्यान्यप-दार्थस्य संविज्ञानं समायाति। तच्च चित्रगुरित्यत्रापि वर्तत इति तद्वारणाय विशेषणसंबन्धपूर्वक एव तस्य क्रियासंबन्धो वक्तव्यः। तदाप्यत्र विशेष्यभूतानां स्थित्यादीनां विशेषणसंबन्धपूर्वको न क्रियासंबन्ध इति पूर्ववदेवातद्गुणसंविज्ञानत्वम्। यदि च संविज्ञानपदेन वर्तिपदार्थस्य तद्विशेष्यस्य वा प्रव्यक्तीभाव एवाद्रियते तदा तु विशेष्यविशेषणयोर्ज्ञातत्वेनास्माकं तत्प्रव्यक्तीभावाभावात् भाववृत्तसूक्ते, 'सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद' इति श्रावणाच्चातद्गुणसंविज्ञानत्वमिति न कोऽपि शङ्कालेशः। अत्रैतत्समासादरेण भाववृत्तसूक्ते, यदि वा नेतिवाक्यबोधिताऽनाधानपक्षसूचना-

रश्मिः।

जन्मादयोऽस्य भवन्तीति सूत्रान्वयाज्जन्मादिकर्तृका भवनक्रिया तथापि सूत्रे यत इति पञ्चमी 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' इति सूत्रादित्याशयः। तदसंबन्ध इत्यादि आदेः प्राथम्यवाचकस्यापेक्षाबुद्धिजन्यत्वेन ब्रह्मजन्यत्वाभावात् तद्धेतुकभवनक्रिययाऽसंबन्धे तद्विशिष्टजन्मनोपि संबन्धेनो न विशेषणसंबन्धाभाव-प्रयुक्तो विशिष्टभाव इत्यस्य समासस्यातद्गुणसंविज्ञानत्वमित्यर्थः। बोध्यमिति अन्यपदार्थस्य स्थित्यादेर्गुणो जन्म तस्यासंविज्ञानमत्रेत्येवं बोध्यमित्यर्थः। तद्गुणकस्येति समासवर्तिपदार्थगुण-कस्यान्यपदार्थस्य स्थित्यादेरित्यर्थः। एवं कैय्यटोक्तलक्षणद्वयसमन्वयमुक्त्वा तद्गुणसंविज्ञान इत्य-त्रान्यपदार्थगुणानां कार्यित्वादिना संविज्ञानमिति पक्षे संविज्ञानपदस्यान्वयलक्षकत्वं लक्ष्यता-वच्छेदकस्य विशेष्यान्वय्यन्वयित्वमिति पक्षेपि तथेति वक्तव्यं तथा सति तद्गुणान्वय इति वक्तव्ये संविज्ञानपदकथनेन तस्य तद्गुणानां च प्रव्यक्तीभाव एवाभिप्रेत इत्याशयेन प्रकारान्तरमाहुः यदि चेत्यादि। तद्विशेष्यस्य वेति वर्तिपदार्थविशेष्यस्यान्यपदार्थस्य चेत्यर्थः। वाकारश्चकारार्थः। एतत्पक्षे प्रकृतेऽतद्गुणे संविज्ञानत्वं निगमयन्ति तदा त्वित्यादि। षड्भावविकाररूपयोर्जन्मप्राथम्य-रूपयोर्वा विशेष्यविशेषणयोर्जनितत्वेन जगद्भवत्वेन साक्षाद्ब्रह्मणस्तद्विषयकसंविज्ञानत्वाभावादित्यर्थः। शांकराणां सर्वस्य मायिकत्वादस्माकमित्युक्तम्। नन्वसार्वज्ञ्यापत्तिरेवं भवेदित्यतः श्रुतिं प्रमाणयन्ति भाववृत्तेत्यादि। इयं श्रुतिर्ब्राह्मणस्य द्वितीयाष्टकेस्ति तत्रैतस्याः पूर्वं 'नासदासीन्नो सदासीत्त-दानीम्' इत्याद्युक्त्वा 'तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतम्। सलिलꣳसर्वमा इदम्' इत्यादिना सृष्टिं च। ततः 'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः। अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनाय। अथा को वेद यत आबभूव। इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न। यो अस्याध्यक्षः परमेव्योमन्' इति श्रूयते। तथा च सोऽध्यक्षो विसृष्टिं जन्म वेद यदि वा विसृष्टिं न वेदेति जन्मनो ज्ञानाविषयत्वेनातद्गुणत्वमित्यर्थः। यदीत्यस्य यदा भगवान् सच्चिदानन्दरूपो धर्मरूपे-णाविर्भवतीत्यादिक्रमेण ततो जाता तदा तु धर्मरूपेणादधे, यदा तु स्वयमेव तथाविर्भूतस्तदा न दधे। सर्वस्य ब्रह्मानतिरेकादित्यर्थः। तथा च विकारान्तरज्ञानदशायां जन्मनः प्रव्यक्तत्वाभावाचदसंविज्ञानं नैतावताऽसार्वज्ञ्यमिति भावः। न कोपीति। या तु 'यस्मिन्निदꣳसं च विचैति सर्वम्' इति श्रुत्या जन्मनः सिद्धत्वेन श्रौतत्वात् तद्गुणसंविज्ञान एव युक्त इत्याशङ्का सापि नेत्यर्थः। जन्मनो ब्रह्मकर्तृक-त्वेपि श्रौतात्संदेहादज्ञानमुक्तम्, विरुद्धधर्माश्रयत्वेन माहात्म्यज्ञानं च द्योतितम्। अनाधानपक्षेति

अथवा जन्मप्रभृति सर्वे भावविकारा आदिशब्देन गृह्यन्ते। तथाच जन्म च आदिश्चेत्येकवद्भावः। आदिशब्दश्च धर्मवाची। स च स्वसंबन्धिनं लक्षयति। तस्योभयसापेक्षत्वादुत्पत्तेर्विद्यमानत्वादन्यानेव भावविकारानुपलक्षयतीत्यादिशब्देनान्ये भावविकाराः।

भाष्यप्रकाशः।

जन्मस्थितिभङ्गादीनामाविर्भावादिरूपत्वबोधनेन भगवानेव तत्तद्रूपः क्रीडयाविस्तिरश्च भवतीति पुष्टिसृष्टिप्रकारो बोधितः। तथाच जन्म आविर्भाव आदिर्येषां प्रकाराणामित्यर्थो बोध्यः। प्रवाहसृष्टिबोधनाय प्रकारान्तरमाहुः **अथवे**त्यादि। प्रभृतिशब्दः पूर्वावधिवाचकः। **सर्वे** इति जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते नश्यतीतिप्रतीतिसिद्धा यास्कोक्ताः षट्। कथं गृह्यन्त इत्यपेक्षायामाहुः **तथाचे**त्यादि। सर्वोऽपि द्वन्द्वो विभाषैकवद्भवतीत्येकवद्भावः। आदिशब्दश्च प्राथम्यरूपधर्मवाची। पूर्वतन्त्रे शब्दानां धर्मवाचकत्वस्य सिद्धत्वात्। स च स्वसंबन्धिनं लक्षयति। तत्र कं लक्षयतीत्याकाङ्क्षायां तस्य यथोत्पत्तावाधारता तथाग्रिमेषु निरूपकता। प्राथम्यस्योभयसापेक्षत्वात्। अत उत्पत्तेरत्र कण्ठोक्तत्वेन विद्यमानत्वादन्यानेवोपलक्षयतीति तथेत्यर्थः। तेन विषयवाक्योदितौ स्थितिभङ्गौ प्रत्याहारन्यायेनान्येषामपि बोधकौ। कालादिगतमपि कर्तृत्वं भगवदीयमेव, न तु स्वतन्त्रमिति च बोधयितुमत्रादिपदोक्तिरिति तात्पर्यं सूचितम्। एवं व्याख्याने आदिपदस्य लाक्षणिकत्वम्। तथादिपदेन आदित्वधर्मवत्तया जन्मनोऽपि संग्रहीतुं शक्यत्वाज्जन्मपदवैयर्थ्या-

रश्मिः।

स्वस्यैव सर्वरूपत्वेन धारणपक्षेत्यर्थः। **पुष्टिसृष्टिप्रकार** इति भवैव कार्यकारणरूप इति प्रकार इत्यर्थः। 'पुष्टिं कायेन निश्चयः' इति पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रन्थवाक्यात्। अत्र पक्षे सर्वस्यानन्दरूपतया विकारविरहादर्थमाहुः **तथा च जन्मे**त्यादि। **प्रकाराणामिति**। 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' इति न्यायेन लौकिकभावविकारसदृशप्रकाराणामित्यर्थः। **प्रवाहे**त्यादि प्रवाहः प्रवहणम्। सर्गपरंपराया अविच्छेद इति यावत्। 'द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च' 'द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च' इति श्रुतिस्मृतिभ्याम्। अत्र समवायी मायामनोरूपः 'द्वे अस्य बीजे' इत्यारभ्य 'मायामयं वेद स वेद वेदम्' इति भगवद्वाक्यात्। मायामात्रस्यैव मिथ्यात्वं न सर्वस्य। प्रवाहस्य सदसद्ग्रन्थिरूपत्वात्। संख्याधिकरणे स्फुटिष्यतीदम्। **प्रभृती**त्यादि तया च जन्मपूर्वावधिकसर्वे भावविकारा इति भाष्यार्थः। **यास्कोक्ता** इति निरुक्तप्रसिद्धो यास्कर्षिः। **सर्वोपी**त्यादि परिभाषेयम्। **आदिशब्द** इति भाष्यं विवृण्वन्तिस्म **आदिशब्दश्चे**ति। **पूर्वतन्त्र** इति आकृत्यधिकरण इत्यर्थः। **स्वसंबन्धिनमा**श्रयं, तं विना स्थातुं धर्मो न शक्नोतीति भावः। लक्षणायां संबन्धं वक्तुमाहुः **तत्र क**मित्यादि। **तस्य यथे**त्यादि प्राथम्यस्य यथा जन्मन्याधारता तथाग्रिमेष्वस्त्यादिषु निरूपकता, प्राथम्यस्यास्त्यादिनिरूप्यत्वात्। **उभयसापेक्षत्वादिति** आधारनिरूपकसापेक्षत्वादित्यर्थः। **उपलक्षयतीति** निरूपकतासंबन्धेनोपलक्षयतीत्यर्थः। ननु कथं तर्हि आदिशब्दप्रयोग इत्यत आहुः **तेने**त्यादि। **प्रत्याहारन्याये**नेति 'आदिरन्त्येन सहेता' इति सूत्रसिद्धेनेत्यर्थः। **अन्येषामिति** विपरिणामवर्धनापक्षयाणामित्यर्थः। **कर्तृत्वमिति** कालेन विपरिणमतीत्यादिप्रतीत्या विपरिणामादिकर्तृत्वमित्यर्थः। **भगवदीयं** तृतीयस्कन्धवाक्यात् कालादीनामीश्वराधीनकर्तृत्वात्। तथा **चादि** जन्मादि कर्तृत्वं सूचयितुमादिपदेनास्त्याद्युपलक्षणमिति भावः।

अथवा जन्मनो नादित्वम्। तदाधारस्य पूर्वमविद्यमानत्वात्। अन्ये त्वादिमन्तः। तदाधारस्य पूर्वं विद्यमानत्वात्। अत आदिशब्दः स्वाधारसद्धर्मवाची तद्धर्माणामुपलक्षकः। अथवा गमनप्रवेशयोर्भेदाज्जन्म आदिर्येषामिति

भाष्यप्रकाशः।

पक्षिरिस्थत्या प्रकारान्तरेण व्याकुर्वन्ति **अथवा जन्मन** इत्यादि। बहिर्विद्यमाने जन्माधारे पश्चाज्जन्म चेत्तदा जन्म प्रत्याधारस्य तद्गतधर्मस्य चादिता संभवति। प्रकृते तु तथास्तीति जन्मनो नादित्वम्। अन्येषां तु भावविकाराणामुक्तयुक्त्यादिमतो हेतोरादिशब्दः स्वाधारसद्धर्मवाची आदित्वाधारभूतोऽस्तिपदवाच्यो धर्मस्तस्यान्यापेक्षया प्राथम्यात् तत्पूर्वकमेव तं वदन्नादित्वस्य सापेक्षतया तद्धर्माणां विपरिणामादीनामुपलक्षक इति न स्वार्थत्यागदोषो, नापि जन्मपदवैयर्थ्यदोष इत्यर्थः। अस्मिन् पक्षे असत्कार्यवाद आपतति। तथापि यदेतस्य कथनं तन्नृसिंहोत्तरतापिन्याद्युक्तमायिकसृष्टिं प्रत्यपि भगवत एव कारणत्वमिति बोधयितुं, न तु पूर्वोक्तं पक्षं निराकर्तुमिति बोध्यम्। अथ मर्यादासृष्टिसंग्रहाय तद्गुणसंविज्ञानपक्षमभिसंधायाहुः **अथवा गमने**त्यादि। गमनप्र-

रश्मिः।

बहिरिति तेन 'सत इदमुत्थितं सदिति चेन्न नु तर्कहतम्' इत्यस्य विषय इति ज्ञापितम्। तेन

'सद्बुद्ध्या सर्वथा सद्भिर्न सेव्यमखिलं जगत्।
भ्रान्त्या सद्बुद्धिरत्रेति सन्तं कृष्णं भजेद्बुधः'॥

इति तृतीयोऽध्याये विषयत्वेन सन् कृष्णः सिद्धः स च जगति त्वतलादिवाच्यस्तदा निरावरणसेवा भवति शुक्तिज्ञानवत्। **जन्माधार** इति आधक्षणसंबन्धो जन्म तदाधारे घटादावित्यर्थः। तदा सख्यन्तरपक्षे जन्मसंबन्धरूपजन्मस्वरूपस्योभयसापेक्षत्वात् तत्प्रत्याधारस्य जगतः विशिष्टे शक्त्या तद्गतधर्मो जगत्त्वादिरूपस्तस्य, चकाराज्जन्मनोऽप्यादिता संभवति। **प्रकृते त्विति** प्रवाहसृष्टावित्यर्थः। **तथास्ति** भ्रान्त्या सद्बुद्धिस्तद्विषयभूतं जगदाधाररूपं नास्ति ततो जन्मापि **नास्तीति** अस्त्याद्यपेक्षया **जन्मनो नादित्वमिति** एतादृशसर्गपरंपरयास्त्यादीनामप्यादित्वसंभवात् जन्मनो न तथात्वमित्यर्थः। **उक्तयुक्त्येति** हेतुभाष्योक्तयुक्त्येत्यर्थः। **भाष्ये**। **तदाधारस्य** जन्माधारस्य। **प्रकृते**। **धर्म** इति सत्ताख्य इत्यर्थः। अत्र न विशिष्टे शक्तिः, आधारस्य सत्त्वात्। अतोऽस्तिपदवाच्यो धर्मः स आत्मा वाक्यपदीयात्। 'सत इदम्' इति श्लोके पूर्वमुक्तम्। **तत्पूर्वक**मित्यादि प्राथम्यपूर्वकमेव सत्तास्यं धर्मं शक्त्या वदन् लक्षणया विपरिणामादीनां निरूपकाणामुपलक्षक इत्यादिपदस्य शक्यार्थस्वीकारेण न स्वार्थत्यागदोषो नापि जन्मपदवैयर्थ्यदोषो जन्मनोऽनादित्वेनादिपदवृत्तिद्वयासंभवादित्यर्थः। अत्राजहत्स्वार्थलक्षणायां कृतायां यथायोग्यं तीरे घोषः प्रवाहे मत्स्य इत्यन्वयो मञ्जूषायाम्। नच युगपद्वृत्तिद्वयविरोध इति वाच्यं, गङ्गायां घोषमत्स्यौ स्तः इतिवदुपपत्तेः। तथा चादित्वेन सत्तारूपात्मत्वेन सता भ्रान्तिविषयस्य जन्माक्षेपोऽत्र नापि तु वाक्षेप्यजन्मोक्तिः। **अस्मिन् पक्ष** इति प्रवाहपक्ष इत्यर्थः। **नृसिंहे**त्यादि 'सैषाविद्या जगत्सर्वम्' इत्यादिः। **अथ मर्यादे**ति कर्मज्ञानादितत्तत्प्रकारनियमो मर्यादा, सा तु विभागसार्थक्यादस्ति सचैवम्। विधिमन्त्रनामधेयनिषेधार्थवादात्मना हि विभक्तो वेद इति। तत्सृष्टिस्तु 'वचसा वेदमार्गं हि'

---

१. श्रीभागवतदशमे गुणप्रकरणे वेदस्तुतिरूपे तृतीयाध्याये।

जात्यपेक्षयैकवचनम् । जन्म तु श्रुतत्वात् सिद्धम् ।

अथवा किमनया कुसृष्ट्या । जन्म आद्यस्य आकाशस्य यत इति ।

भाष्यप्रकाशः ।

वेशयोः पूर्वोत्तरावधिभूतसंचरप्रतिसंचरयोर्मध्ये कार्यस्वरूपस्य कारणतो भेदाज्जन्मादयो भवन्तीति जन्म आदिर्येषां तत्सजातीयं जन्मादि । जातिरत्र विकारत्वं क्रियात्वं वा । अत्र, 'ब्राह्मणो जन्मतः श्रेयान्', 'न ब्राह्मणान्मे दयितं रूपमेतच्चतुर्भुजम्' इत्यादाविव जात्यपेक्षयैकवचनम् । तथाच यद्यपि, सुपां सुलुगिति जसो लोपे जन्मादीति सिध्यति तथापि विकारान्तरसंग्रहस्तेन न भवत्यतस्तदुपेक्षितम् । नपुंसकं तु सामान्ये । एतत्पक्षसंग्रहे बीजमाहुः जन्म तु श्रुतत्वात् सिद्धमिति । जन्म तु, 'यस्मिन्निद५ सं च विचैति सर्वम्' इति तैत्तिरीये श्रुतत्वाद् व्ययनात्मकबहिर्गमनरूपं सिद्धम् । तच्च सजातीयसंचलनवियोगादि संगृह्णत् समयनरूपं प्रवेशं च स्मारयतीति तद्गुणसंविज्ञानोऽपि युक्त इत्यर्थः ।

एवं पक्षत्रयेण व्याख्यायैतेषामत्र बोधनस्यानतिप्रयोजनत्वात् प्रतिपत्तिगौरवाच्चारुचिं सूचयन्तः प्रकारान्तरेण सूत्रं व्याकुर्वन्ति अथवा किमित्यादि । नन्वेवं सत्याकाशजनकत्वस्यैव

रश्मिः ।

इति मनःपूर्वकं वचसा वेदमार्गं सृष्टवानित्यर्थः । शब्दादर्थोत्पत्तिश्च शब्द इति चेदित्यादि सूत्रभाष्ये स्फुटिष्यति । अत्र समवाय्यक्षरम् ।

'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः' ॥

'अव्यक्तोक्षर इत्युक्तः' 'अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः' इति वाक्येभ्यः । गमनं सच्चिदानन्दस्य भगवतो धर्मरूपेण भवनोत्तरं स्वस्मिन् लयः यत्प्रयन्तीत्युक्तः प्रवेशस्त्वभिसंविशन्तीत्युक्त इत्याशयेन गमनप्रवेशौ व्याकुर्वन्ति गमनेत्यादि । प्रतिसंचरः प्रतिनिधिसंचरः । तथा च पूर्वोत्तरावधिभूतयोः जननजीवनयोर्यौ संचरप्रतिसंचरौ तयोर्मध्ये । कारणतः ब्रह्मण इति इत्यर्थः । जन्मादय इति विकारा इत्यर्थः । न भवतीति यतो वा इति श्रुतौ जननगमनप्रवेशयोर्मध्ये स्थितिमात्रोपादानान्न भवतीत्यर्थः । सामान्य इति दृढभक्तिरितिवत् । यद्यपीदमनियतलिङ्गविषयकमत एवादिं पचतीत्येव प्रयोगस्तथापि बहुव्रीहौ त्वनियतलिङ्गत्वादुपपन्नम् । सिद्धमिति ब्रह्मणः सिद्धमित्यर्थः तथाच तद्गुणसंविज्ञाने श्रुत्यनुकूलतैव बीजमित्यर्थः । व्ययनात्मकेति व्यवहिताश्चेति छन्दसि व्यवधानेपि प्रयोगात् समेति व्येतीत्यर्थात्तथेत्यर्थः । संगृह्णदिति तात्पर्योपलक्षणविधयापि गृह्णत् । स्मारयतीति संविज्ञानस्य शक्यार्थपक्षमाश्रित्येदम् । युक्त इति अस्मिन् पक्षे विग्रहस्त्वयमेव सर्वं आदिर्येषामितिवत् । इह आदिशब्दस्यावयववाचित्वादुद्भूतावयवभेदः समुदायः समासार्थः । उद्भूतावयवभेदत्वं चारोपितावयवगतसंख्यत्वम् । तस्य च समुदायस्य युगपत्क्रियान्वयासंभवात् तदन्तर्भूतानामवयवानामेव पृथगन्वयः । शंकराचार्यैस्तु जन्मादिर्यस्येति विगृहीतम् ।

एवं पक्षत्रयेणेति 'स आत्मान५ स्वयमकुरुत' इति 'सोऽकामयत बहु स्याम्, प्रजायेय' इति 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इति तैत्तिरीयोक्तपुष्टिप्रवाहमर्यादाबोधकपक्षत्रयेणेत्यर्थः । एतेषामिति पुष्टिप्रवाहमर्यादानामित्यर्थः । भाष्ये । कुसृष्ट्येति कुसृष्टित्वं तु अवयवसमासपक्षे जन्मग्रहणप्रयासः अतद्गुणसंविज्ञान एव । अवयविसमासपक्षे तु समुदायस्य युगपत्क्रियान्वयक्लेशः । द्वन्द्वे तु आदिशब्दस्य लाक्षणिकत्वं जगन्मिथ्यात्वं

'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इत्येव विचार्यते । फलसंबन्धित्वात् । तेनैकत्र सिद्धः शास्त्रार्थः प्रकारान्तरेऽपि । यतो वा इमानि भूतानीत्यत्र विस्फुलिङ्गवत् सर्वोत्पत्तिः । अत्र तु क्रमेणेति विशेषः । एतेन सर्व एव प्रकाराः

भाष्यप्रकाशः ।

लक्षणत्वमायाति, न तु सर्वभूतजनकत्वस्य तत्स्थित्यादिकर्तृत्वस्य च । तथा सति वाक्यान्तरे ब्रह्मभेदापत्तिरितिशङ्कायामाहुः तेनेत्यादि । यद्वा, यतो वेति वाक्यं विषयत्वेनादरणीयं तदाप्ययं न्यायस्तु सर्वथाङ्गीकार्य एव । अन्यथा आकाशवाक्येऽपि ब्रह्मान्तरापत्तिः स्यात् । अतो जननप्रकारस्यैव भेदो न तु ब्रह्मण इति न कोऽपि दोष इत्यर्थः । यतो वेतिश्रुतौ, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्तीत्यस्य भागस्य यद् ब्रह्म प्रयन्ति प्रकर्षेण सृष्टिसामयिकदुःखराहित्येन प्रलये गच्छन्ति, अभितः संविशन्ति स्वपन्ति सुषुप्ताविव सत्संपन्ना भवन्तीत्यर्थो बोध्यः । एवं पक्षत्रयेण व्याख्याने बीजमाहुः एतेनेत्यादि । सूत्रे एवं श्लिष्टप्रयोगेण वेदोक्ताः सर्वे प्रकारा व्यासचरणैः संगृहीता ज्ञेयाः । तथाच क्वचित् साक्षात्, क्वचित् तटस्थत्वेन, क्वचित् किंचिद्द्वारा क्रमेणेति बोधनायास्माभिरपि

रश्मिः ।

चापद्यत इति । न च यथा कतन्तेभ्यः कण्वादिभ्य इत्यत्र कतस्यान्तः कतन्तः शकन्ध्वादित्वात् पररूपम् । कतः अन्तो येषां ते कतन्ताः कतन्तश्च कतन्ताश्च कतन्तास्तेभ्य इत्येकशेषः । कण्व स्यादिः कण्वादिः कण्व आदिर्येषां ते कण्वादयः ततः पूर्ववदेव बहुव्रीहितत्पुरुषयोरेकशेषः । तद्जन्म चादिर्जन्मादि जन्म आदिर्येषां तज्जन्मादि जन्मादिश्च जन्मादि च जन्मादि । नपुंसकमनपुंसकेनेति स्वरभिन्नानां यस्योत्तरस्वरः स शिष्यत इति वा बहुव्रीहेः शेषः । तथा च जन्मनस्तदादीनां च ग्रहणं भविष्यतीति वाच्यम् । एवं तर्हि जन्मादिरित्यत्र सारूप्यार्थमेवादिशब्द उपादीयतेन्यस्य प्रयोजनस्याभावात्, तथा च गौरवग्रस्तार्थबोधकत्वाद्व्यर्थत्वमिति बोध्यम् । फलसंबन्धित्वादिति 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति फलमुपक्रम्य पठितत्वेन तत्पदेन फलरूपपदस्यैव परामर्शेन फलसंबन्धित्वादित्यर्थः । अत्रैवं प्रतिभाति सुगमव्याख्या । अवयवसमासे येषामिति बहुवचनं विकाराभिप्रायेण समर्थनीयं तदनुपपन्नमभिसंविशन्तीत्यनेनोक्ताभिसंवेशस्याविकारत्वात् सुषुप्तिसुखत्वेन विकाराणां यथायथं जन्मस्थितिभङ्गेष्वन्तर्भावाज्जगतः स्थितिकाले संभाव्यमानत्वाच्चेत्याशङ्का द्वन्द्वपक्ष उक्तः । अस्मिन्नपि पक्षे जगतो नित्यत्वापत्त्या लक्षणस्याव्याघातः । अवयविसमासे च समासार्थस्य समुदायस्य क्रियान्वयक्लेशः इति पूर्वोक्तमेव लक्षणं समर्थयन्त आहुः अथवा गमनेत्यादि । श्रुतौ प्रयन्तीति गमनमभिसंविशन्तीति प्रवेशः तयोर्गमनसुषुप्तिरूपत्वेन भेदात् जन्म आदिर्येषां स्थितिगमनप्रवेशानामित्यवयवसमास इत्यर्थः । तथा च बहुवचनं स्यादित्याशङ्क्याहुः जात्यपेक्षयेति । एवं तर्हि जन्मासंग्रहस्तु स्यादतद्गुणसंविज्ञानपक्ष इत्याशङ्क्याहुः जन्मेत्यादि । यथा देवदत्तशालायां ब्राह्मणा आनीयतामित्युक्ते देवदत्तो यदि ब्राह्मणश्चेत्तदा सोप्यानीयत एव, एवं स्थित्यादिकर्तृत्वसिद्धौ जन्मकर्तृत्वमपि श्रुतत्वात् सिद्धमिति । अस्मिन् पक्षे पक्षद्वयं ज्ञेयम् । इतोपि लाघवमाहुः अथवा किमित्यादि । भाष्ये । फलसंबन्धीति ब्रह्मवित्प्रपाठके 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति फलमुपक्रम्य पठितत्वेन तत्पदेन फलरूपपरस्यैव परामर्शेन फलसंबन्धित्वात् । प्रकृते । ब्रह्मभेदापत्तिरिति जगत्कर्तृ ब्रह्म आकाशकर्तुर्भिन्नं स्यादित्यर्थः । न कोपीति एतेन जन्मस्थितिभङ्गनिरूपितं कारणत्वत्रयं मिलितं सदेव लक्षणमिति बोधयितुं सूत्रे समाहारो द्योतित इति परास्तमित्यर्थः । श्लिष्टप्रयोगेणेति जन्माद्यस्येति श्लिष्टप्रयोगेणेत्यर्थः । तटस्थत्वेनेति । तल्लक्षणं तु 'ब्रह्मादिपिपीलिकापर्यन्तं सर्वप्राणिबुद्धिरष्टविशिष्टतयोपलक्ष्यमाणः सर्व-

सूचिता वेदितव्याः । ब्रह्मविचारे ब्रह्मणोऽप्यधिकृतत्वाद् ब्रह्मेत्यायाति । न त्वध्याहारः ।

शास्त्रे योनिः शास्त्रयोनिः । शास्त्रोक्तकारणत्वादित्यर्थः । शास्तीति शास्त्रं वेदः । सामान्यग्रहणं पूर्वकाण्डे पूर्वसृष्टिवाक्यानां संग्रहार्थम् । यथाऽस्यैव कारणत्वं, नान्यस्य तथोपरिष्टाद् वक्ष्यामः । मतान्तरवज्जन्मादीनां न विकारित्वं किंत्वाविर्भावतिरोभावावेव तथोत्तरत्र वक्ष्यते, तदनन्यत्वाधिकरणे । नामलीलाया अपि न पृथङ् निरूपणं प्रपञ्चमध्यपातात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

तदाशयं स्फुटीकर्तुं पक्षत्रयेण व्याख्यातमित्यर्थः ।

नन्वत्र लक्ष्यानिर्देशात् प्रतिज्ञायां च संबन्धिविचारस्यैवाधिकृतत्वेन ब्रह्मणोऽनधिकृतत्वादत्र ब्रह्मानुवृत्तेरशक्यवचनत्वेन ब्रह्मपदं ब्रह्म वाऽध्याहार्यम् । कर्मषष्ठीपक्षे तु प्रकृतत्वादेव तत्प्राप्तेर्नायं दोष इत्यत आहुः ब्रह्मेत्यादि । तथाचार्थादेव तत्प्राप्तेर्नोक्तदोष इत्यर्थः ।

एवं लक्षणबोधकं सूत्रांशं व्याख्याय प्रमाणबोधकमंशं व्याकुर्वन्ति शास्त्रे इत्यादि । शास्त्रे इति सप्तम्या वैषयिकमधिकरणं बोध्यते । शास्त्रविषयो योनिः शास्त्रयोनिः । विषयत्वं प्रतिपाद्यत्वम् । तदेतदभिसंधायाहुः शास्त्रोक्तेत्यादि । शास्तीति राजवदाज्ञापयति । एतेन तद्विरोधेऽपराधोऽपि बोधितः । नन्वत्रोत्तरकाण्डार्थ एव विचार्यत इति शास्त्रशब्दस्य कुतः प्रयोग इत्यत आहुः सामान्येत्यादि । पूर्वसृष्टिवाक्यानामिति । भाववृत्तसूक्तादीनाम् । एतेन वेदार्थतयैवात्र सूत्रकृतो ब्रह्म विवक्षितमिति स्वोक्ते बीजं प्रदर्शितम् । ननु योनिशब्दो निमित्तवाची प्रायो दृश्यते इति साधारणेन कारणपदेन कुतो व्याख्यायत इत्यत आहुः यथेत्यादि । उपरिष्टादिति अग्रिमसूत्रे, तथाचातो व्याख्यात इत्यर्थः । अत्र कश्चिज्जन्मादिसूत्रस्थेन यत इति पदेनैव विषयश्रुतेः स्मारणात् सिद्धे शास्त्रप्रमाणकत्वे, शास्त्रयोनित्वसूत्रं व्यर्थमित्याह । तन्न । यत इत्यस्य हेतुकोटौ प्रवेशे जन्माद्यस्येतिभागस्य प्रपञ्चवृत्तान्तपरतया ब्रह्मलक्षणत्वायोगेनासंगतत्वप्रसङ्गात् । नच लक्षणे प्रविष्टस्यैव यतःशब्दस्योक्तश्रुतिस्मारकत्वमित्यपि युक्तम् । श्रुतौ भूतानीति बहुवचनेन

रश्मिः ।

प्राणिबुद्धिस्थो यदा तदा कूटस्थ इत्युच्यते' इति सर्वोपनिषदि । अष्टविशिष्टता 'भूमिरापोऽनलः' इति गीतायामष्ट तद्विशिष्टता । संबन्धीति ब्रह्मशब्देन वेदः तत्संबन्धिविचारस्य । एवकारेण ब्रह्मरूपार्थव्यवच्छेदः क्रियते । मीमांसकमतेनार्थाध्याहारमाहुः ब्रह्म चेति । तत्प्राप्तेरिति ब्रह्मरूपलक्ष्यप्राप्तेरित्यर्थः । भाववृत्तेत्यादि ब्राह्मणस्य द्वितीयाष्टकस्थानामित्यर्थः । आदिपदेन संहितोक्तानां 'प्रजापतिरकामयत प्रजाः सृजेय' इत्यादीनाम् । एतेनेति शास्त्रपदोपादानेनेत्यर्थः । निमित्तवाचीति 'तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता' इति मातृरूपत्वबोधनादित्यर्थः । अत इति अभिन्ननिमित्तोपादानत्वादित्यर्थः । हेतुकोटावित्यादि यत इत्यादिश्रुतेरित्येवं हेतुकोटौ प्रवेशस्य प्रपञ्चस्य जन्मादि भवतीत्येवं प्रपञ्चवृत्तान्तपरतया ब्रह्मलक्षणत्वायोगेन सूत्रस्याभासेनासंगतत्वप्रसङ्गादित्यर्थः । न च यतः शास्त्रयोनित्वात् इति हेतुकोटिप्रवेशोऽस्त्विति शङ्क्यं परैरप्यनङ्गीकारात् । अन्त्यपक्षं समर्थयितुमप्याशङ्कामाहुः न च लक्षण इत्यादि । जगज्जन्मादिप्रपञ्चवृत्तान्ते आर्थिके लक्षणे प्रत्ययांशस्य प्रविष्टत्वेन यतःशब्दस्यापि प्रविष्टस्यैवेत्यर्थः । आभासोक्तपक्षे तु जन्माद्यस्य यत इति

केचित् पृथग्रूपनामप्रपञ्चकर्तृत्वं योगविभागेन प्रतिज्ञाय समन्वयादिसूत्रेष्वेव हेतून् वर्णयन्ति । अन्वयसिद्ध्यर्थं च अततीति व्याप्नोतीत्यत् । शास्त्रे योनित्वं प्राप्तं तदिति नैतत् सूत्रकारसंमतमिति प्रतिभाति ।

भाष्यप्रकाशः ।

लक्षणस्य तद्विरुद्धत्वापत्तेः । नच जात्यपेक्षयैकवचनान्न विरोध इति वाच्यम् । तथा सति वाक्यान्तरासंग्रहेण ब्रह्मभेदापत्तेः । तस्माच्छास्त्रयोनित्वादित्यवश्यं प्रणेतव्यम् । ननु तथापि साधारणशब्देन व्याख्यानमयुक्तम् । जन्मादीनामादिमत्तया असत्त्वेनाग्रिमसूत्रेऽपि तटस्थकारणताया एव सिद्धेरित्यत आहुः मतान्तरेत्यादि । न्यूनत्वरूपं प्रतिज्ञादोषं परिहरन्ति नामेत्यादि ।

शांकरमतमनुवदन्ति केचिदित्यादि । तन्मते दशसूत्रं जन्माद्यधिकरणम् । तत्र आद्याभ्यां प्रतिज्ञा । तत्र द्वितीयसूत्रे पञ्चम्यनन्वयादन्वयसिद्ध्यर्थं तथा वर्णयन्तीत्यर्थः । तद् दूषयन्ति नैतदित्यादि । शास्त्रयोनिरित्येतावतैव प्रतिज्ञासिद्धावपि त्वादित्यधिककथनादग्रिमसूत्रे पुनः साध्यपरामर्शाच्च तथेत्यर्थः । यत्पुनः शास्त्रस्य योनिरिति षष्ठीतत्पुरुषमङ्गीकृत्य, महत ऋग्वेदादिशास्त्रस्य सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य संभवो, न सर्वज्ञादन्यतः संभवतीत्येवं ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वं समर्थितम् । 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितं यद् ऋग्वेद' इत्यादिबृहदारण्यकीयश्रुतिमादाय पुरुष-

रश्मिः ।

लक्षणे प्रविष्टस्य । उक्तश्रुतिर्यत इति श्रुतिस्तत्स्मारकत्वं न तु 'तस्माद्वा एतस्मात्' इति श्रुतिस्मारकत्वम् । लक्षणस्येति आकाशमात्रभूतकर्तृत्वस्यान्तिमलक्षणस्य श्रुतिविरुद्धत्वापत्तेरित्यर्थः । अथवा एकजगज्जन्मादिकर्तृत्वस्य वसुभूतादिजन्मादिकर्तृत्वरूपश्रौतलक्षणादानुपूर्व्यंशे विरुद्धत्वापत्तेरित्यर्थः । न च जातीति भूतत्वरूपनित्यधर्मापेक्षयेत्यर्थः । यद्वा द्रव्यत्वापेक्षया-द्यस्येत्येकवचनादित्यर्थः । तथासतीति लक्षणवाक्ये यत इति श्रुतिसंग्रहे विस्फुलिङ्गवत्सर्वोत्पादकाद्ब्रह्मणो वाक्यान्तरे क्रमसृष्टिबोधके ब्रह्मभेदापत्तेरित्यर्थः । यथा पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वादेवं सर्वोत्पादकाद्ब्रह्मणः 'तस्माद्वा एतस्मात्' इति क्रमेणोत्पादक आत्मा भिद्यते यत इति श्रुत्यसंग्रहात्, आद्यस्याकाशस्य जनकत्वात्, इत्येवं ब्रह्मभेदो ज्ञेयः । शंकरभाष्ये तु जन्माद्यस्य यत इत्यत्र प्रदर्शितानुमानस्य स्वातन्त्र्यं मा भूदिति शास्त्रयोनित्वादित्युक्तमित्युक्तम् । तटस्थकारणताया इति जिज्ञास्यब्रह्मणो निर्गुणत्वेन जगत्कारणत्वं कथं लक्षणं संभवतीत्याशङ्क्य यज्जगत्कारणं तद्ब्रह्मेति कल्पितं कारणत्वं तटस्थं सदेव ब्रह्मलक्षणं यद्रजतं सा शुक्तिरिति शुक्तेर्लक्षणं रजतं तद्वदित्येवं तथेत्यर्थः । भाष्ये । उत्तरत्रेति द्वितीयाध्याय इत्यर्थः । तथा च 'आविर्भावतिरोभावौ शक्ती वै मुरवैरिणः' इति वाक्याद् ब्रह्मशक्तित्वेनादिमत्त्वाभावेनासत्त्वाभावान्न तटस्थलक्षणतेति भावः । दृष्टान्तासिद्धेश्च । प्रकृते । न्यूनत्वरूपमिति नामप्रपञ्चाकथनरूपं सूत्रे न्यूनत्वं तद्रूपमित्यर्थः । दशसूत्रमिति यद्यप्यन्यत्रान्यथा दृश्यते तथापि शंकरभाष्ये सर्वज्ञं ब्रह्मेत्युपक्षिप्तं तदेव द्रढयन्नाहेति शास्त्रयोनित्वसूत्रस्य तस्माद्ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वमिति प्राप्ते उच्यते इति समन्वयसूत्रस्येदं सूत्रमारभ्यते इति ईक्षतिसूत्रस्यावतरणदर्शनाद् दशसूत्रमित्यर्थः । साध्यपरामर्शादिति तदिति साध्यपरामर्शादित्यर्थः । हेतूनां वर्णने स न स्यादिति भावः । एतच्च तद्ब्रह्मैव समवायिकारणमिति

भाष्यप्रकाशः।

निःश्वासवद् वेदसंभवश्च तत उक्तः। तत्तु मध्वभाष्यव्याख्यात्रा जयतीर्थेनैव दूषितम्। इदं शास्त्रस्य निर्मितत्वं किमर्थमुपलभ्य रचितत्वं वा, निःसृतमात्रत्वं वा, नाद्यः। कणादाक्षचरणानुसरणप्रसङ्गात्, श्रुत्यादिविरोधाच्च। न द्वितीयः। शास्त्रयोनित्वस्य सार्वज्ञ्यसाधकत्वाभावप्रसङ्गादिति। इदमपि युक्तम्। पूर्वविकल्पे वेदस्यानित्यत्वप्रसङ्गात्। द्वितीये निःश्वासस्याबुद्धिपूर्वकत्वेन तथात्वादिति। एतेन, विमतं ब्रह्म वेदगतसर्वविषयप्रकाशनशक्त्याधारः। वेदोपादानत्वात्। दीपगतप्रकाशनशक्त्याधारदीपोपादानवह्निवदिति विवरणोक्तमनुमानं, निःश्वासात्मकवेदोपादानत्वेनाबुद्धिपूर्वकनिःश्वासोपादानपुरुषदृष्टान्तसनाथेन प्रतिसाधनेनापास्तम्।

यत्तु भामतीनिबन्धे, वर्णनित्यत्वपक्षेऽपि पदानामानुपूर्वीविशिष्टवर्णात्मकत्वाद् वाक्यानां च तादृशपदात्मकत्वादानुपूर्व्याश्च व्यक्तिधर्मत्वादानुपूर्व्युपगृहीतानां नित्यानामपि वर्णानां पदत्ववाक्यत्वयोरनित्यत्वेन लोके वेदे च न तयोः पौरुषेयत्वे विवादः। किं तु वेदवाक्ये पुरुषस्वातन्त्र्यास्वातन्त्र्ययोः। तत्र स्वातन्त्र्यकोटिः काणादादीनाम्। द्वितीयां तु जैमिनीया वेदाध्ययनं प्रति गुरुशिष्यपरंपरानादित्वेन समर्थयन्ति। वैयासास्तु, अनाद्यविद्योपधानलब्धसर्वशक्तिज्ञानस्य परमात्मनो वेदजनकत्वेऽपि पूर्वपूर्वसर्गानुसारितादृक्तादृगानुपूर्वीविरचनेन। अतः पुरुषास्वातन्त्र्यमात्रमेव वेदे अपौरुषेयत्वमित्युक्तम्। तदप्यसंगतम्। वर्णवद् वैदिकपदादीनामपि नित्यत्वात्। वाचा विरूपनित्ययेति, वेदो नारायणः साक्षात् स्वयंभूरिति शुश्रुम, वेदस्य चेश्वरात्मत्वादित्यादिश्रुतिपुराणवाक्येषु वेदपदादानुपूर्वीवैशिष्ट्य एव वेदत्वेन तादृशस्यैवेश्वरात्मकत्वात्। ईश्वरस्याविद्योपधानेन सार्वज्ञ्यलब्धेरप्यभ्युपगमैकशरणत्वात्। तादृशानुपूर्वीरचनया अस्वातन्त्र्ये राजाज्ञानुवादकराजदूतवदानुपूर्वीरचनामात्रेणेश्वरसार्वज्ञ्यासिद्ध्या व्याख्येयग्रन्थविरोधाच्च। अतः स्थितस्य गतिचिन्तनमात्रायायं प्रयासः। जगत्कर्तृत्वेनैवोभयविधतत्कर्तृत्वस्य, तेनैव सार्वज्ञ्यस्यापि सिद्धौ भाष्यकारस्याप्यपार्थ एव प्रयास इति दिक्।

अन्यैस्तु शास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणमस्येति व्याचक्षाणैर्बहुव्रीहिरङ्गीकृतः। सोऽप्ययुक्तः। लक्षणाप्रसङ्गात्। स्वारसिकार्थत्यागाच्च।

रश्मिः।

भाष्यस्य पुरःस्फूर्तिकमन्वयमादृत्योक्तं ज्ञेयम्। तेन तदनुभूतं प्रसिद्धं वा ब्रह्मैव, समवायिकारणं ब्रह्मैवेत्यन्वयः इति पक्षपरामर्शकस्य भाष्यप्रकाशस्य न विरोधः। मृष तितिक्षायां चुरादिः। यत्र तु तालव्यान्तं तत्र मृक्ष आमर्शने तुदादिर्बोध्यः तथाचानित्यः स्यादित्याहुः कणादेत्यादि। निःश्वसितरूपस्य निरपेक्षरवस्य तत्सामर्थ्यस्य च विरोध इत्याहुः श्रुत्यादीत्यादि। आदिपदेन लिङ्गम्। श्रुतिस्मृतिविरोधाच्चेति वार्थः। प्रतिसाधनेनेति ब्रह्म वेदगतसर्वविषयप्रकाशनशक्त्यनाधारः निःश्वासात्मकवेदोपादानत्वात् अबुद्धिपूर्वकनिःश्वासोपादानपुरुषवदित्येवं प्रतिसाधनेनेत्यर्थः। पुरुषेत्यादि। विवाद इति संबन्धः। स्वातन्त्र्यं च कर्तृत्वं वेदवाक्यनिरूपितं पुरुषगतं कर्तृत्वमित्यर्थः। विरूपेति विविधरूपेत्यर्थः। विरूपेति देवतासंबोधनं वा। व्याख्येयेति व्याख्येयग्रन्थः सांख्यादिभाष्यं व्यासकृतं, तस्य प्रथमब्रह्मपदस्य विरोधात्। अत इति सर्वत्र शैथिल्यात्। उभयविधेत्यादि रूपनामविभिन्नजगत्कर्तृत्वस्येत्यर्थः।

अन्यैस्त्विति रामानुजप्रभृतिभिरित्यर्थः। लक्षणेति योनिपदस्य स्वसंबन्धिनि लक्षणा तस्या आपत्तेः। नायं वैयाकरणमत इत्यत आहुः स्वारसिकेत्यादि योनेरित्यर्थः।

तस्मात् सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं च सिद्धं निरङ्कुशजगत्कर्तृत्वेन।

भाष्यप्रकाशः।

विज्ञानेन्द्रभिक्षुणा तु शास्त्रं योनिः मूलप्रमाणं यस्मिन्निति सप्तम्यर्थे बहुव्रीहिमङ्गीकृत्योक्तम्। अत्र शास्त्रादिति वक्तव्ये यच्छास्त्रयोनित्वादित्युक्तं, तच्छास्त्राविरुद्धानुमानस्मृतियोगिप्रत्यक्षादिसंग्रहाय। अत एवाग्रे, उपपत्तेश्चेत्यादावनुमानम्। स्मृतेश्चेत्यादौ स्मृतिः। आचारदर्शनाच्चेत्यादावाचारदर्शनमुखेन योगिप्रत्यक्षादिकं च संगृहीतमिति। तदग्रैवाग्रे मया दूष्यम्।

उक्तार्थं निगमयन्ति तस्मादित्यादि। तथाचात्र निरङ्कुशजगत्कर्तृत्वेन शास्त्रप्रतिपाद्यत्वमिति लक्षणं सिद्धमित्यर्थः। तत्र धर्मादिवारणाय तृतीयान्तम्। प्रकृत्यादिवारणाय शेषम्। तेन लक्षणे विवादाध्यासितत्वदोषपरिहारः। प्रजापत्यादिवारणाय निरङ्कुशेति ज्ञेयम्।

अत्रानादिसृष्टिवादिनो मीमांसका बीजाङ्कुरदृष्टान्तेन सृष्टिप्रवाहानादित्वं वदन्तस्तपोयज्ञाद्युपचितपुण्यविशेषलब्धशक्तीनां प्रजापतिप्रभृतीनां क्षेत्रज्ञानामेव तत्तत्कल्पेषु कारणत्वमभिमन्यमाना

रश्मिः।

तथाचात्रेति। लक्षणं निरङ्कुशत्वं चानन्याधीनत्वं निष्क्रान्तमङ्कुशादिति 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्याः' इति समासः। जगज्जन्मादिकर्तृत्वेनेत्युक्तावसंभव इति जगज्जन्मकर्तृत्वेनेत्युक्तौ स्थितिप्रलयकर्तर्यव्याप्तिर्जन्मादीति सौत्रादिपदासंग्रहश्चेति च दूषणप्रसरोऽतो जगत्कर्तृत्वेनेत्युक्तम्। न च कर्तृत्वं जन्मकर्तृत्वं जन्मादिकर्तृत्वं वा वाच्यमित्युभयथोभयदोषतादवस्थ्यमिति शङ्क्यं निरङ्कुशजगज्जन्मकर्तृत्वेन निरङ्कुशजगत्स्थितिकर्तृत्वेन निरङ्कुशजगल्लयकर्तृत्वेनेत्येवं प्रातिस्विकरूपेण लक्षणघटकतृतीयान्ताङ्गीकारात्। नन्वङ्कुशप्राप्तिरीश्वरीये कर्तृत्वे कुत इति चेन्न, ईश्वरे आत्तगजेन्द्रलीलत्वात्। अङ्क्यतेऽनेन, अकि लक्षणे 'सानसिवर्णसि' इति साधुः। अङ्कुशः। धर्मादेरिति यागज्ञानयोरित्यर्थः। ननु शास्त्राणि षट् वेदवेदान्तसांख्ययोगपाञ्चरात्रपाशुपतानि। तत्र तृतीयान्तपददानेपि लक्षणगमनादतिव्याप्तिरिति चेन्न इष्टापत्तेः। 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' इति 'त्वामेवान्ये शिवोक्तेन मार्गेण शिवरूपिणम्' इति। 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूपम्' इति च श्रुतिः। परमनेकरूपेष्वाचार्या नियामकाः 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' 'आचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति' इति च। प्रकृत्यादीति प्रकृतिः स्वरूपं 'प्रकृतिमगन् किल यस्य गोपवध्वः' इति वाक्यात्। आदिपदेन शिवमायाकामाः। ननु 'अचेतनत्वेपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य' इति कापिलसांख्यप्रवचनसूत्रवृत्तेः सांख्यशास्त्रमादाय लक्षणस्य प्रकृतावतिव्याप्तिरिति चेन्न, प्रथमाध्याये प्रकृतेः कारणत्वाभावस्योपपादनात्। 'उपरागात् कर्तृत्वं चित्सांनिध्याच्चित्सांनिध्यात्' इति सूत्रमेकार्थीभावसामर्थ्येपीति ज्ञेयम्। ननु निरङ्कुशपदेनैव प्रकृत्यादिवारणे किं शेषेणेत्यत आहुः तेनेत्यादि। तथा च ये निरङ्कुशजगत्कर्तृत्वं प्रकृतौ मन्यन्ते तेप्यत्र पिहितमुखा इत्यर्थः। ननु भाष्ये निरङ्कुशपदाभावात् किं दृढमावश्यकत्वमत आहुः प्रजापत्यादीति। वेदोक्तत्वेप्युपबृंहिते वेदोक्तेर्थे आदरः सूचितः। 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' इति वेदान्ते प्रजापतावपि तपोरूपब्रह्मणः स्रष्टृत्वात्, शब्दार्थयोरभेदात्। [प्रजापत्यादीति पुराणे।

'सृजामि तन्नियुक्तोहं हरो हरति तद्वशः।
विश्वं पुरुषरूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृक्' इति वाक्यात्।

१. प्रच्छन्ननास्तिकाः। २. 'एकः सन्' इतिपाठः।

ननु न सर्वो वेदो ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वे मानम् । तपोयज्ञादियुक्तप्रजापतिप्रभृतीनामेव जगत्कारणत्वस्य पूर्वकाण्डे तत्तदुपाख्यानेष्ववगम्यमानत्वात् । तथावान्तरकारणत्वम् । परस्याश्रवणात् । उत्तरकाण्डे तु द्वयप्रतिपादनाद् विरोधः संदेहश्च । मीमांसायाः संदेहनिवारकत्वेऽप्येकांशस्याप्रामाण्यं स्यात् । उभयसमर्थने शास्त्रवैफल्यं वा । वेदप्रामाण्यादेव तत्सिद्धेः । बाधितार्थवचनं वेदे नास्तीत्यवोचाम ।

किंच । वेदान्ताः किं वेदशेषा, वेदा वा । नाद्यः । अनुपयोगात् । अनारभ्याधी-

भाष्यप्रकाशः ।

ब्रह्मणो निरङ्कुशं जगत्कर्तृत्वमसहमानाः प्रत्यवतिष्ठन्ते ननु नेत्यादि । तत्तदुपाख्यानेष्विति 'प्रजापतिरकामयत प्रजाः सृजेयेति स तपोऽतप्यत स सर्पानसृजत' इति । 'आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत् । तस्मिन् प्रजापतिर्वायुर्भूत्वाऽचरत्' इत्यादिषु । तथैव पौराणेष्वपीत्यर्थः । परस्येति प्रजापत्यादिव्यतिरिक्तस्य । तथाच न पूर्वकाण्डस्य तत्र प्रामाण्यम् । ननु यथोपक्रमस्य संदिग्धत्वे निर्णय उपसंहारेण भवति, तथात्रोत्तरकाण्डेन निर्णय इति शङ्कायामाह उत्तरेत्यादि । द्वयप्रतिपादनादिति यतो वा इमानीत्यादौ ब्रह्मणः कर्तृत्वस्य, नित्यशुद्धबुद्धेत्यादावकर्तृत्वस्य प्रतिपादनाद्विरोध उभयत्रापि श्रौतत्वस्य साधारण्यादेकतरपक्षपातस्याशक्यत्वेन संदेहश्चेति तस्याः प्राबल्याभावोत्तरकाण्डेन तन्निर्णय इत्यर्थः । तर्हि तन्मीमांसया निर्णयोऽस्त्वित्यत आह मीमांसाया इत्यादि । तथाच मीमांसायाः कर्तृत्वाकर्तृत्वान्यतरप्रसाधकत्वे अप्रसाधितांशबोधकवेदान्ताप्रामाण्यापत्तिरुभयप्रसाधकत्वे मीमांसाया एव वैयर्थ्यमित्युभयथापि कौण्ठ्यान्न तस्या निर्णायकत्वमिति सर्वस्मिन्नपि वेदे निरङ्कुशं जगत्कर्तृत्वं कुत्रापि कस्यापि न सिद्ध्यतीत्यनादिसृष्टिवाद एवादरणीय इत्यर्थः ।

एवं ब्रह्मस्वरूपविचारेण जगत्कर्तृत्व आक्षिप्तेऽपि यदि तद्बोधकप्रमाणप्राबल्यं स्यात् तदानुपलब्धस्य धर्मस्येव तत्सिद्धिः स्यादिति वेदान्तानां प्रामाण्यमाक्षिपति किंचेत्यादि । यदि वेदशेषाः

रश्मिः ।

आदिशब्देन हरविष्णू ।] क्षेत्रज्ञानामिति जीवानाम् । प्रजापतिरिति, इयं संहितातृतीयाष्टकेस्ति । आपो वा इत्यादि, इयं सप्तमाष्टकेस्ति । पूर्वकाण्डे तत्तदुपाख्यानेषु चावगम्यमानत्वादिति भाष्येऽन्वयं मत्वाहुः पौराणेष्वपीति । तत्रेति ब्रह्मणः कर्तृत्व इत्यर्थः । उपसंहारेणेति । यथा छान्दोग्ये 'ओमित्येतदुद्गीथमुपासीत' इत्युद्गीथोपासना ओमितिपदात् ब्रह्मोपासना वेति संदिग्धत्व उपक्रमस्य 'स य एतमेवं विद्वानुपास्ते परोवरीय एव हास्यास्मिँल्लोके जीवनं भवति तथामुष्मिन् लोके' इत्युपसंहारेण परोवरीयस्त्वस्य परमात्मत्वस्य पूर्वोक्तस्वरप्राणादेः सकाशादतिशयेन परः परोवरीयानिति योगेन फलत्वकथकेन ब्रह्मोपासनापरत्वमुपक्रमस्य निर्णीयते । एवं पूर्वकाण्डे संदिग्धं कर्तृत्वं ब्रह्मण्युत्तरकाण्डे निर्णीयते इत्यर्थः । भाष्ये शास्त्रवैफल्ये हेतुः वेदेत्यादि । तत्सिद्धेरिति उभयसमर्थनसिद्धेरित्यर्थः । विचारमन्तरा कथं तत्सिद्धिरित्यत आहुः बाधितार्थेत्यादि । प्रकृते । धर्मस्येवेति अग्निहोत्रादेरिव कर्तृत्वसिद्धिः स्यादिति हेतोरित्यर्थः । कर्तृत्वसिद्धिस्तु वेदान्ताभावे गहना स्यात् ।

'कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः । अकर्मणोपि बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः' ॥

इति गीतानुसंधेया । आक्षिपतीति अनादिसृष्टिवादी जगत्कर्तृत्वं कुत्रापि कस्यापि न सिद्ध्यतीत्येनदर्थमाक्षिपति वेदानामन्ताभावादित्यर्थः । अनुपयोगादिति भाष्यं विवृण्वन्ति यदि

तत्वेन तदुपयोगित्वे पूर्वकाण्डविचारेणैव गतार्थत्वम् । विद्याप्रवेशश्च । न द्वितीयः । यज्ञाप्रतिपादनात् । मन्त्रब्राह्मणत्वाभावाच्च । तस्माद् वेदोपरा वेदान्ता इति

भाष्यप्रकाशः ।

स्युस्तदा द्रव्यदेवतादि प्रकाशयन्त इतिकर्तव्यतां वा बोधयन्तो वेदार्थे यागे क्वचिदुपयुक्ताः स्युः । तत्तु न दृश्यते । अथानारभ्याधीता अपि स्मृतयो गृह्यसूत्राणि च यथा, 'मानवी ऋचौ धाय्ये कुर्याद्' 'यद्वै किंच मनुरवदत्तद्भेषजम्' इति, 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत' इत्यादिवाक्येनाग्निसमिन्धनादावुपनयनादौ चोपयुज्यमानाः शेषभावं भजन्ते । तथैते वेदान्ता अपि, 'यदेव विद्यया करोती'त्यादिवाक्येन वेदोक्तकर्मण्युपयुज्यमाना वेदशेषा इत्युच्यते तदा पूर्वमीमांसायां तृतीये शेषशेषिभावस्याद्ये स्मृतिपादे तत्प्रामाण्यस्य च विचारितत्वात् तयैव गतार्थत्वाद् व्यर्थैवोत्तरमीमांसा वेदान्तानां च स्मृतिवद् विद्यास्वेव प्रवेशो, न वेद इति । नापि धर्माद्यन्यतमपुरुषार्थप्रकाशकत्वेन तत्र प्रवेशः । स्मृतावपि तौल्यात् । अत एव शिक्षोपनिषदि 'वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति' इति वेदानुवचनानन्तरमुपनिषदनुशासनं पठितम् । पुराणेऽपि साङ्गोपनिषद इति वेदेभ्यः पृथक् तन्निर्देशश्चेति युज्यत इति विद्याप्रवेशश्चेति चकारेण समुच्चीयते । यदि वेदास्तदा, 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' इति, 'तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः' इत्यादिपूर्वतन्त्रवाक्याद् 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' इत्यादिस्मृतिवाक्याच्च यागतच्छेषान्यतरप्रतिपादकाः स्युः । यथा, 'अग्निहोत्रं जुहोति' इत्यादयः । 'तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा', 'वारणो यज्ञावचरः' इत्यादयश्च । ब्रह्म तु ज्ञानशेष इति नोभयरूपमिति तत्प्रतिपादकानां कथं वेदत्वम् ।

किंच । वेदो हि मन्त्रब्राह्मणसमुदायात्मकः । तत्र मन्त्रा नाम प्रयोगकालेऽनुष्ठानौपयिकार्थस्मारकाणि वाक्यानि । तद्भिन्नं च ब्राह्मणमिति, 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या', 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' इति सूत्राभ्यां तल्लक्षणं निर्णीतम् । वेदान्तेषु तु विध्यनङ्गीकारेण प्रयोगाद्यभावात् तद्वाक्येषु मन्त्रत्वाद्यभावः । अत आर्यप्रसिद्धिमात्रेण वक्तव्ये वेदत्वे तेषामूषरभूमिवद् वेदोपरत्वेनापार्थत्वात् तेषां

रश्मिः ।

वेदेत्यादि । इतिकर्तव्यतामिति इतिशब्दः प्रकारं वदति । कर्तव्यता च क्रियाम् । तथा च क्रियाप्रकारमित्यर्थः । सामान्यस्य च भेदको विशेषः प्रकार इति तद्विदः । तत्त्विति क्वचिदप्युपयुक्तत्वमित्यर्थः । अनारभ्येत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति अनारभ्येत्यादि । मानवी ऋचाविति व्याख्यातैषा । मनोरुक्तेर्भेषजत्वेन तत्स्मृतयोऽग्निसमिन्धनादावुपयुज्यन्ते । उपयुज्यमाना इति वीर्यावत्त्वजनकतयोपयुज्यमाना इत्यर्थः । स्मृतिवदित्यादि इतिहासपुराणमित्यपरविद्यायां श्रावणाद् 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धया उपनिषदा वा' इति श्रुत्या तद्विद्यास्वेव प्रवेशो भवेन्न वेद इत्यापत्तिः । धर्मादीति, आदिपदेन ब्रह्माक्षरे, यद्वा आदिपदेनार्थकाममोक्षाः । तत्रेति वेदे इत्यर्थः । न द्वितीय इत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति यदि वेदा इत्यादि । पूर्वतन्त्रेत्यादि प्रथमाध्यायस्थसूत्राभ्यामित्यर्थः । 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते' 'तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वात्' तेष्वेव पदार्थेषु भूतानां वर्तमानानां पदानामित्यर्थः । उभयोरेकतिङो दर्शनाद्वाक्यादित्युक्तम् । आमिक्षेति घनीभूतः पिण्ड इत्यर्थः । यज्ञावचर इति यज्ञप्रचारहेतुः । इत्यादयश्चेति यागतच्छेषप्रतिपादका इत्यर्थः । नोभयरूपमिति न यागतच्छेषरूपमित्यर्थः । सूत्राभ्यामिति द्वितीयाध्यायस्थाभ्यामित्यर्थः । प्रथमे 'शिष्टाकोपे विरुद्धमिति

तेषां किं स्यादिति चेत् । नैवम्। अस्ति तावद् वेदत्वम् । अध्ययनादिभ्यः स्मरणाच्च। प्रमाणं च सर्वोऽपि वेदः स्वार्थे। स च न यज्ञश्चेद् ब्रह्म भवतु । न चैतावता अवेदत्वम्। अतिप्रसङ्गात्। शक्यते ह्यग्निहोत्रादीनामन्यतरदनन्तर्भाव्य

भाष्यप्रकाशः ।

विचारे किं फलं स्यात् । सर्वोऽपि प्रयोजनोद्देशेनैव प्रवर्तत इति फलाभावात् प्रवृत्तिविघाते तन्मीमांसाऽप्यपार्थेति तत्साधिते ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वेऽत्यन्ताभिनिवेशो न कार्य इत्यर्थः ।

अत्र समादधते नैवमित्यादि । न वेदान्तेषु वेदोपरत्वं, किंतु वेदत्वमेव । अध्ययनाध्यापनज्ञानविधिभिर्वेदं पठन्तः पाठयन्तोऽर्थं चावगच्छन्त आर्याः स्वरपूर्वकमनध्यायशूद्राऽश्रवणादिनियमान् पालयन्त एव तथा कुर्वन्तीत्याचारपरंपरया,

'स्वयंभूरेष भगवान् वेदो गीतस्त्वया पुरा।
शिवाद्या ऋषिपर्यन्ताः स्मर्तारोऽस्य न कारकाः' ॥ इति

पुराणोक्तस्य स्मरणस्यात्रापि तुल्यत्वेन च तन्निर्धारात् । किंचौत्पत्तिकसूत्रे बादरायणग्रहणं पूजार्थं कृत्वा अलौकिकेऽर्थे परानपेक्षं वेदस्य प्रामाण्यं जैमिनिना प्रतिपादितम् । ततश्च सोऽलौकिकोऽर्थः को चेत्यपेक्षायां यथा तन्मते यज्ञस्तथा व्यासमते ब्रह्म । अनुपलब्धार्थत्वस्योभयत्रापि तौल्यात् ।

किंच । यागप्रतिपादकत्वेन वेदत्वं मन्वानो भवान् ब्रूताम् । किं यावद्यज्ञप्रतिपादकत्वं वेदत्वम्, उत यत्किंचित्तत्प्रतिपादकत्वम्, अथवा यथाकथंचित् तत्प्रतिपादकत्वमिति । नाद्यः । अग्निहोत्रादिप्रतिपादकस्य भागस्य तदितरयज्ञाप्रतिपादकत्वेनावेदत्वप्रसङ्गात् । न द्वितीयः । सर्वस्य तथात्वप्रसङ्गात् । मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजदित्याद्यर्थवादस्यापि तथात्वप्रसङ्गाच्च । तृतीयश्चेत् सिद्धं ब्रह्मप्रतिपादकत्वेऽपि वेदत्वम् । वक्ष्यमाणरीत्या तेषामपि यज्ञार्थत्वेन तथात्वादिति । तदेतदुक्तं शक्यते हीत्यादिना । अत्रान्यतममिति वक्तव्ये अन्यतरदिति प्रयोगस्तु, महाभाष्ये 'प्रत्ययः' 'परश्च' इत्यत्र निमित्तविचारं प्रकृत्य तदुदाहरणे तद्यथा बहुष्वासीनेषु कश्चित् कंचित् पृच्छति, कतरो देवदत्त इत्यत्रोपाध्यनङ्गीकाराद् बोध्यः ।

रश्मिः ।

चेत्' 'न, शास्त्रपरिमाणत्वात्'इत्यधिकरणे। आचारस्यापि प्रामाण्यादाहुः अध्ययनेत्यादि। प्रमाणं चेत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति किंचौत्पत्तिकेत्यादि । अनुपलब्धेति अनधिगतार्थगन्तृत्वं प्रमाणमिति लक्षणस्मारकपदम् । अवेदत्वप्रसङ्गादिति । एतेनातिप्रसङ्गादिति भाष्यं विवृतम् । शक्यते हीत्यादिभाष्यस्यातिप्रसङ्गादिति भाष्यविवरकत्वात् । तथात्वादिति यथाकथंचिद्यज्ञप्रतिपादकत्वादित्यर्थः । तदेतदिति किंच यागेत्यादिना विवृतमित्यर्थः । न चैतावता ब्रह्मप्रतिपादकत्वेनावेदत्वमग्निहोत्रादिप्रतिपादकवेदभागेषु । अतिप्रसङ्गादवेदत्वप्रसङ्गात् । यतोऽग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनां मन्त्रविधिनिषेधनामधेयार्थवादसंबन्धिनां मध्येऽन्यतरद् एकतरद् वेदेऽनन्तर्भाव्य वेदाद्बहिःकृत्य वेदे वेदत्वं वक्तुं शक्यतेऽपि तु न, तस्मादतिप्रसङ्ग इति भाष्यार्थः । अग्निहोत्रादिषु लक्षणापर्याप्तिं मत्वा न प्रति तद्वेदलक्षणं न वक्तव्यमतो यथाकथंचित्तत्प्रतिपादकत्वं वेदत्वं तच्च वेदान्तेष्वपीति फलितोऽर्थः । उपाध्यनङ्गीकारादिति । अत्रायमाशयः । डतरडत-

तथा वक्तुम्। तस्माद् ब्रह्मापि प्रतिपादयन्तो वेदान्ता वेदत्वं न व्यभिचरन्तीति। मन्त्रब्राह्मणरूपत्वं चोपपश्यामः । ऋगेव मन्त्रः ।

भाष्यप्रकाशः ।

स्वरूपतः संदेहं वारयन्ति मन्त्रेत्यादि । तच्चोदकेत्यादिसूत्राणां विचारे ह्याम्नातत्वे सति कर्मसाधनत्वेन विधिबोधितोच्चारणकः शब्दो मन्त्रः । तथात्वे सति मन्त्रभिन्नः शब्दो ब्राह्मणमिति तयोर्लक्षणम् । तदुभयात्मकत्वं च वेदलक्षणं सिध्यति । न तु विधेयार्थस्मारको मन्त्र इति लक्षणम् । तस्य, वसन्ताय कपिञ्जलानालभेतेत्यत्राऽव्याप्तेः । एवं मननहेतुर्मन्त्र इत्यस्य

रश्मिः ।

पौ हि 'किंयत्तदोर्निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच्' 'वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्' इति सूत्राभ्यां विहितौ तत्रैतादृशमहाभाष्यप्रयोगात् बहूनां निर्धारणेपि डतरचः इष्टत्वात्पूर्वसूत्रे द्वयोर्ग्रहणं प्रायोभिप्रायम्'। तथा च वार्तिकम् 'किमादीनां द्विबह्वर्थे प्रत्ययविधानादुपाध्यानर्थक्यम्' इति अत्र कैयटः द्वयोरिति जातिपरिप्रश्ने इति च न कर्तव्यमिति भावः । इतीति मनोरमायामुक्तम् । अन्यतरान्यतमशब्दौ तु स्वभावादेव द्विबहुविषये निर्धारणे वर्तेते । तत्र हेतुस्तु किंयत्तद्भ्य एव तयोर्विधानादिति शेखरे उक्तः। तथा च सूत्रे द्वयोर्ग्रहणं प्रायोभिप्रायमिति स्वभावाद् द्विबहुविषये निर्धारणे वर्तेते इत्यत्रापि द्विशब्दोपादानं प्रायोभिप्रायमिति बहूनां निर्धारणेप्यन्यतरदिति प्रयोगः साधुरेवेति । द्वयोर्बहूनामिति चोपाधी तयोर्नाङ्गीकारादित्यर्थः । तथाच भागवतैकादशे भगवद्वाक्यं

'आसीज्ज्ञानमथो ह्यर्थ एकमेवाविकल्पितम्' इत्युपक्रम्य,
'वाङ्मनोगोचरातीतं द्विधा समभवद् बृहत्।
तयोरेकतरो ह्यर्थः प्रकृतिः सोभयात्मिका ।
ज्ञानं त्वन्यतमो भावः पुरुषः सोभिधीयते' ।

इत्यत्र तयोरन्यतम इति । न च किमोऽस्मिन् विषये डतरजपीत्यनेन बहूनां निर्धारणे किमः एव डतरजिति नियम्यत इति शङ्क्यम् । न तत्सूत्रं किंतूक्तमहाभाष्यसिद्धं वाक्यमित्यदोषात् । स्वरूपत इति मन्त्रब्राह्मणे वेदस्य स्वरूपे 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इति । स्वमतं व्याकर्तुं मीमांसकमतेनाहुः तच्चोदकेत्यादिसूत्राणामिति पूर्वतन्त्रे द्वितीये 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या', 'शेषे ब्राह्मणशब्दः', 'अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वमाम्नातेषु हि विभागः स्यात्', इति सूत्राणां विचार इत्यर्थः । यद्यपि शास्त्रदीपिकायां यन्त्राभियुक्तानां मन्त्र इति प्रसिद्धिः स मन्त्रः अवशिष्टं ब्राह्मणमिति लक्षणं तृतीयसूत्रे चोहप्रवरनामधेयानामभियुक्तप्रसिद्ध्यभावादेवामन्त्रत्वमिति स्थितं तथापि सूत्रत्रयविचारे त्विदमेव लक्षणमिति विचारपदसामर्थ्यम् । तथाचाम्नातेष्विति सूत्रभाष्यं 'आम्नातत्वे सति तच्चोदकेषु मन्त्राख्या तथात्वे सत्येव शेषे ब्राह्मणशब्दः' तदाह आम्नातेषु विभागो द्विविधः इति 'पत्नि कति ते जाराः' इत्यादिप्रश्नोत्तरीभूतलौकिकवाक्यानां संकल्पस्य च मन्त्रत्ववारणाय सत्यन्तम् । अध्ययनविधिना सर्वमेवोच्चारणं प्रेरितमिति ब्राह्मणेतिव्याप्तिवारणाय तृतीयान्तम् । विविधमनुष्ठानं यत्र विधिना बोध्यते तत्र मन्त्रस्य साधनत्वेन बोधनादनेनेदं कुर्यादिति । तत्त्वेन चोदका इति न चास्य लक्षणस्य प्रत्यगाशीर्मन्त्रादिष्वव्याप्तिः, विषयत्वेन तेषामपि जपसाधनत्वात् । मीमांसकानां सिद्धान्तलक्षणं वक्तुं तन्मतमनुवदन्ति न त्वित्यादि

भाष्यप्रकाशः ।

ब्राह्मणेऽतिव्याप्तेः । असन्तस्त्वान्त उत्तमपुरुषान्त इत्यादीनां परस्परं प्रयोगकरणभूतः शब्द इत्यस्य प्रत्यगाशीर्मन्त्रे चाव्याप्तेः । किंत्वभियुक्तानां यत्र मन्त्र इति समाख्यानं स मन्त्र इति लक्षणमङ्गीक्रियते । यदि तु चरणव्यूहानुरोधेन वसन्तायेत्यादीनां ब्राह्मणत्वमङ्गीकृत्य प्रयोगकरणभूतः शब्दो मन्त्र इति सौत्रमेव लक्षणमाद्रियते, तदापि जपोपासनादिप्रयोगं प्रत्यपि प्रत्यगाशीःप्रभृतिमन्त्राणां विषयत्वादिना करणत्वमस्त्येवेत्यदोषः । तच्चर्क्सामयजुःष्वेव प्रसिद्धम् । निगदादीनामपि तत्रैव निवेशः । ब्राह्मणलक्षणमप्यत एव सिद्धम् । वेदान्तेषु च, सत्यं ज्ञानमि-

रश्मिः ।

अङ्गीक्रियते इत्यन्तम् । अव्याप्तेरिति अस्य मन्त्रस्य विधिरूपत्वेन विधेयार्थाभिधायकत्वेन तत्त्वाभावात् । असन्त इत्यादि 'विप्रुषा१ शान्तिरसी'त्यसिपदान्तः, 'इषे त्वे'ति त्वान्तः, वाचा त्वा होत्रा प्राणेनोद्गात्रा चक्षुषाध्वर्युणा मनसा ब्रह्मणा श्रोत्रेणाग्नीध्रेणैतैस्त्वा पञ्चभिर्दैव्यैर्ऋत्विग्भिरुद्धरामीत्युत्तमपुरुषान्तः, बर्हिर्देवसदनं दामीति च । परस्परमिति अव्याप्तिरिति शेषः । त्रिषु परस्परमेकलक्षणप्रवेशेन लक्षणान्तराप्रवेशात् । प्रत्यगाशीरिति 'आयुर्घृतम्', 'अग्ने आयुर्मे देहि' इति मन्त्रे इत्यर्थः । अङ्गीक्रियत इति मीमांसकैरिति शेषः । दूषणं तु भावार्थपादेऽनाम्नातेष्विति सूत्रभाष्ये उक्तम् । तथा हि इदं लक्षणं प्रकरणभेदेन स्थितयोः ऋक्सामयोरेव संभवति न तु कृशररूपयजुःशाखान्तरेपि । वाजसनेयके ब्राह्मणे ब्राह्मणं वसन्ताय कपिञ्जलानालभेत ग्रीष्माय कलविङ्कानिति न मन्त्रौ । ननु कथं मन्त्रमध्ये पठितयोरमन्त्रत्वमिति चेन्न त्रिगुणपाठाय यजुष्ट्वार्थममन्त्रयोरपि तत्र प्रक्षेपात् ।

त्रिगुणं पठ्यते यत्र मन्त्रब्राह्मणयोः सह ।
यजुर्वेदः स विज्ञेयः शेषाः शाखान्तराः स्मृताः ॥

इति चरणव्यूहवाक्यादिति तद्विवरणे चैतदतिरिक्तस्थले विधायकत्वं न क्वापि मन्त्रे दृष्टम् । अत्र च मन्त्रत्वं संदिग्धम् । ब्राह्मणे तु विधायकत्वं प्रसिद्धमिति लिङ्गभूतं लिङ्गं च स्थानाद्बलिष्ठमिति । अत उक्तमेव लक्षणं ज्याय इति । ननु कथं तर्हि चोदकेषु मन्त्राख्येति सूत्रे अतः कर्मणि यागजपादौ यः साधनभूतः शब्दः स मन्त्रः कर्मकरणः शब्दो मन्त्र इत्युक्तं भवतीति भाष्यमित्याशङ्क्य तत्रेष्टमापादयन्ति यदि त्वित्यादि । चरणव्यूहस्तु 'त्रिगुणं पठ्यते यत्र' इति वाक्यम् । आद्रियत इति द्रा कुत्सितगतौ 'घुमास्थे'तीत्वम् । जपोपासनेति आदिशब्देन किंचिद्ब्राह्मम् । विषयत्वादिनेति आदिशब्देनाशिष्ट्वम् । अदोष इति तथा चोभयमपि सिद्धान्तलक्षणमिति हृदयम् । तच्चेति मन्त्रलक्षणं चेत्यर्थः । निगदादीनामिति परप्रत्यायनार्था मन्त्रा निगदाः प्रोक्षणीरासादयः इध्माबर्हिरूपसादयः इन्द्र आगच्छ हरिव आगच्छ इत्यादयः । आदिपदेन निविन्मन्त्राः अग्ने महानसि ब्राह्मणभारतेत्येवंरूपाः । तत्रैवेति । 'यजूंषि वा तद्रूपत्वात्' इति सूत्रेण यजुष्ष्वेवेत्यर्थः । ब्राह्मणेत्यादि अत एव पश्नि कति ते जारा इत्यादिलौकिकवाक्यानां संकल्पस्य च ब्राह्मणत्ववारणस्यावश्यकत्वादेव सिद्धान्तलक्षणं सिद्धमित्यर्थः । सत्यन्ताभावे लौकिकवाक्ये संकल्पे चातिव्याप्तिरिति भावः । नापीति करणबहुलं ब्राह्मणं इत्यददाः इत्ययजथा, इत्यपचथा इति ब्राह्मणो गायेदित्यस्मिन् ब्राह्मणेन गातव्ये मन्त्रेऽतिव्याप्तेः । इत्याहेति वाक्योपनिबद्धं ब्राह्मणमित्यपि न । राजाविद्धं भगं भक्षीत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याहेत्यनयोरतिव्याप्तेः । आख्यायिकारूपं ब्राह्मणमित्यपि न, यमयमीसंवादसूक्तादावतिव्याप्तेः । नापि हेत्वाद्यन्यतमत्वं तत्त्वं, मन्त्रेष्वपि हेत्वादिसत्त्वात् । ब्राह्मणे तेन ह्यन्नं क्रियते इति हेतुः । तदध्नो दधित्वमिति निर्वचनं,

ब्रह्मप्रतिपादकं ब्राह्मणम्, तच्छेषाः सृष्ट्यादिप्रतिपादकाः । यद्यपि न विधीयते, तथापि तादृशमेव ज्ञानं फलायेति युक्तमुत्पश्यामः । पूर्ववैलक्षण्यं तु भूषणाय ।

भाष्यप्रकाशः ।

त्यादीनामृचाम्, अच्युतमसीत्यादीनां यजुषां, हावु हावु हावु इत्यादीनां साम्नां च विद्यमानत्वात् तान्येव मन्त्रः । ऋगित्युपलक्षणम् । तद्भिन्नं ब्रह्मप्रतिपादकं ब्राह्मणम् । ब्रह्मप्रतिपादकभागशेषाः सृष्ट्यादिप्रतिपादका भागा ब्राह्मण एव निविशन्ते । ततश्च मन्त्रब्राह्मणसमुदायरूपत्वात् सिद्धं वेदान्तानां वेदत्वमिति । तर्हि वेदोपरत्वं कथं निवर्तत्वामित्यत आहुः यद्यपीत्यादि । तथाच वेदे बाधितार्थवचनस्याभावादविधीयमानमपि ज्ञानं यथोक्तं फलं जनयिष्यत्येवेति नोपरत्वमित्यर्थः । ननु पूर्वमीमांसायां विहितस्यैव फलवत्त्वं साधितमिति कथं तथेत्यत आहुः पूर्वेत्यादि । तथाच, गुणे त्वन्यायकल्पनेति तत्रैवोक्तत्वाद् वेदगुणभूतस्य जैमिनीयस्यैव निर्णयस्य हीनाधिकारिपरत्वं वेदविरोधे कल्पनीयमित्यर्थः ।

रश्मिः ।

अमेध्या वै माषा इति निन्दा, वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवतेति प्रशंसा, तद्विचिकित्सन् जुहवानीति संशयः, यजमानेनेत्यादि विधिः, माषानेव मह्यं पचतेति परकृतिः, पुरा ब्राह्मणा अनैषुरिति पुराकल्पः, यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणान् चतुःकपालान्निर्वपेदिति विशेषावधारणकल्पना । एवं मन्त्रेपि इन्दवो वासुशन्ति हीति हेतुः, उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते इति निर्वचनं, मोघमन्नं विन्दते अप्रचेता इति निन्दा, अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिरिति प्रशंसा, अधःस्विदासीदुपरिस्विदासीदिति संशयः, कपिञ्जलानालभेत इति विधिः, सहस्रमयुतं ददिदिति परकृतिः, यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः इति पुराकल्पः । ऋगेव मन्त्र इति भाष्यं व्याकुर्वन्ति वेदान्तेषु चेत्यादि । ऋचामिति 'तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था' इति सूत्रोक्तमर्थवशेन व्यवस्थितपादत्वरूपं लक्षणमत्रानुस्यूतमिति ऋचामित्यर्थः । तेषामित्यस्य मन्त्राणामित्यर्थः । अर्थवशेनेत्यनेन छन्दोनुरोधेन मगणादिकृता 'पादव्यवस्था व्यावर्तिता । यजुषामिति 'शेषे यजुःशब्दः' इति सूत्रोक्तमृक्सामातिरिक्तमन्त्रत्वरूपं लक्षणमत्रानुस्यूतमिति यजुषामित्यर्थः । साम्नामिति 'गीतिषु सामाख्या' इतिसूत्रोक्तं ऋक्षु यद्गानं तद्रूपत्वरूपं लक्षणमत्रानुस्यूतमिति साम्नामित्यर्थः । तान्येव मन्त्र इति मन्त्रपदोत्तरं यदेकत्वं तत्प्रकृत्यर्थावच्छेदके मन्त्रत्वेऽन्वेति मन्त्रत्वं च ऋग्यजुःसामनिष्ठमेकमेवेति नायोग्यता । न च पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेनेति व्युत्पत्तिविरोधः । अनेकव्रीहिव्यक्तितात्पर्यके संपन्नो व्रीहिरितिवाक्येप्येकवचनदर्शनेन तादृशव्युत्पत्तिसंकोचस्यावश्यकत्वादित्यन्यत्र विस्तरः । ननु भाष्ये ऋगित्युक्तेः कुतो यजुःसाम्नोर्ग्रहणमित्यत आहुः ऋगित्यादि । ब्रह्मप्रतीत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति तद्भिन्नमित्यादि । साधितमिति द्वितीयाधिकरणे साधितमित्यर्थः । तथाच शाबरभाष्यम् 'यः पुरुषं निःश्रेयसेन संयुनक्ति स धर्मशब्देनोच्यते' इति । तत्रैवेत्यादि पूर्वतन्त्रे नवमस्य तृतीयपादे 'विप्रतिपत्तौ विकल्पः स्यात् समत्वाद् गुणे त्वन्यायकल्पनैकदेशत्वात्' इत्यधिकरणे अदितिः पाशां प्रमुमोक्त्वेतुं अदितिः पाशान् प्रमुमोक्त्वेतानिति पाशमन्त्रावेकवचनान्तबहुवचनान्तौ तत्र बहुवचनान्तः किंप्रकृतावेवाग्नीषोमीये निविशते उत बहुपाशकेषु पशुगणेषूत्कृष्यते नोत्कर्षः किंतु गुणे कारकगतसंख्याभिधायित्वेन गुणभूते बहुवचने लक्षणाकल्पना पाशावयवगतेव बहुत्वं लक्ष्यते इति । एवमुपाङ्गेषु गणनाद्वेदगुणभूतायां पूर्वमीमांसायामेव तत्त्वं कल्पनीयमित्यर्थः । उपलक्षणाद्वैलक्षण्यशास्त्रभेदरूपभूषणायेति

काण्डद्वयस्यान्योन्योपकारित्वाय साधारणग्रहणम् । 'यदेव विद्यया करोति' इत्यादिना पूर्वशेषत्वं सर्वस्य । 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' इत्यादिना सर्वस्योत्तरशेषत्वम् । कर्मब्रह्मणोः क्रियाज्ञानयोर्धर्मिपरत्वेनैक्यात् कर्तृवाक्येषु सर्वत्र न विरोधः । तस्माच्छास्त्रयोनित्वं सिद्धम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

एवं भाट्टादिकृतं पूर्वपक्षं परिहृत्य काण्डद्वयस्यैकवाक्यत्वबोधनाय शास्त्रपदप्रयोग इति पर्यवसितं तदर्थमाहुः काण्डेत्यादि । एकवाक्यत्वप्रकारमाहुः यदेवेत्यादि इदं चतुर्थाध्याये, 'यदेव विद्ययेति हि' इतिसूत्रे व्युत्पादयिष्यते । ऐक्यादिति अभिधेयप्रयोजनयोरैक्यात् । तथाच, 'यज्ञो वै विष्णुः' इति श्रुतेर्धर्मो यस्यां मदात्मकः,

'मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते ह्यहम्,
एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम् ।
मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति' ॥

इत्येकादशस्कन्धे भगवद्वाक्याच्च ब्रह्मवादेन सर्वस्य ब्रह्मात्मत्वावगतिरुपनिषत् 'विद्यात्मनि भिदाबाधः' इति वाक्याद् भेदबुद्धिबाधो विद्या तत्पूर्वकं यज्ञादिकरणे कर्मपौष्कल्यम् । ते च वेदान्ताधीने इति पूर्वकाण्डस्य वेदान्तापेक्षित्वं, वेदानुवचनयागादिसाधनैर्भगवत्प्रसादाच्छुद्धे चेतसि विद्योदेतीति साधनावबोधकवेदभागापेक्षित्वं वेदान्तानाम् । यद्यप्युभयत्र पुरःस्फूर्त्या कर्म ज्ञानं च यथायथं प्रतीयते, तथापि पूर्वोक्तश्रुतिस्मृतीनां वक्ष्यमाणानां च तासां विचारे क्रियाज्ञानयोर्धर्म्यात्मकत्वेनाभिधेयस्यैक्यम् । समुच्चिताभ्यां ताभ्यां यथाधिकारं ब्रह्मभावः, परप्राप्तिश्च फलमिति प्रयोजनस्याप्यैक्यमित्येवं सिद्ध एकवाक्यत्वे

रश्मिः ।

न व्याख्यातम् । **भाट्टादीति** पूर्वमीमांसायां विहितस्यैवेत्यादिना पूर्वं कृतम् । **काण्डद्वयस्येत्यादि** भाष्यमारभ्य विवृतम् **'अभिधेयप्रयोजनयोरैक्या'**दित्यन्तं स्फुटीकुर्वन्ति स्म **तथाचेति** । **ब्रह्मात्मकत्वेति** श्रुत्यन्तरे च 'यो वा एतदक्षरमविदित्वा गार्गि अस्मिन् लोके जुहोति ददाति तपस्यत्यपि बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवानेवास्य स लोको भवति' इति बृहदारण्यके, 'य एवास्मि स सन् यजे' इति ब्रह्मात्मकत्वावगतिर्यज्ञाङ्गम् । उप समीपे सीदतीत्युपनिषत् । **ते चेति** उपनिषद्विद्ये इत्यर्थः । **यदेव विद्ययेति** भाष्यं स्फोटयित्वा **तमेतमिति** भाष्यं स्फुटीकुर्वन्ति **वेदानुवचनेनेति** वेदानुवचनानि यागादीनि साधनानि तैः 'तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्' इति श्वेताश्वतरे दर्शनसाधनत्वेन प्रसाद उक्तः । स शुद्धिहेतुरित्याशयेनाहुः **भगवदिति** । सप्तम्यन्तचेतःपदोपादानेन दर्शनं सर्वात्मभावरूपं विवक्ष्यते तस्य 'स मानसीन आत्मा जनानाम्' इतिश्रुत्या चेतसि विद्यात्मकस्योदय इति मुख्यविद्या । सर्वत्र तु यागादिसाधनैः शुद्धमनसि ज्ञानं भक्तिर्वोदेतीति । **कर्मब्रह्मणोरित्यादिभाष्यं** विवृण्वन्ति यद्यपीत्यादि । **अभिधेयस्येति** पूर्वोत्तरकाण्डाभिधेयस्य कर्मज्ञानरूपस्य धर्मिणैक्यम् । **ताभ्यामिति** कर्मज्ञानाभ्याम् । **समुच्चयोऽत्र** न रामानुजभाट्टाद्यभिमतः सिद्धान्तग्रन्थत्वात् । तथाचोक्तभाष्योक्तसमुच्चय एवं च यथाधिकारमाधिदैविकाध्यात्मिकचित्तशुद्धी अनतिक्रम्य ब्रह्मभावः । ज्ञानद्वारा ब्रह्मत्वं, भक्तिद्वारा परप्राप्तिः । **अप्यैक्यमिति** 'ते प्राप्नुवन्ति मामेव' इति गीतायाः । अक्षरप्राप्तानां स्वप्राप्त्युक्तेः । कर्तृवाक्ये-

केचिदत्र जन्मादिसूत्रं लक्षणत्वादनुमानमिति वर्णयन्ति ।

भाष्यप्रकाशः ।

सर्वत्र कर्तृत्वेनोच्यत इति न पूर्वोत्तरकाण्डयोर्विरोधः । शेषशेषिभावस्याविशिष्टत्वेऽपि पुत्रकर्मफलेषु यथा आशंसायाः फले पर्यवसानात् फलमेव पूर्वकाण्डे मुख्यं तथात्राऽपीति फलवाक्यवद् वेदान्तानामेव मुख्यत्वज्ञापनाय कौषीतकिब्राह्मणे 'ऋचां मूर्धानं यजुषामुत्तमाङ्गं साम्नां शिरोऽथर्वणां मुण्डमुण्डम्' इति मूर्धत्वादि श्राव्यते । तस्मादुपरत्वगन्धस्याप्यभावाद् ब्रह्मणः शास्त्रोक्तकारणत्वं निःप्रत्यूहमित्यर्थः ।

एवं सिद्धान्तमुक्त्वा आधुनिकानामन्येषां भाष्यकृतां ब्रह्मणः कर्तृत्वस्य शास्त्रैकप्रमाणकत्वांशे विप्रतिपत्त्यभावात् तन्मतानुवादमकृत्वा केषांचिद् वैशेषिकाद्यनुसारिणां मतमनुवदन्ति केचिदित्यादि । अत्रैवं बोध्यम् । वैशेषिकादिदर्शनाभिमानिनस्तावद् बाह्यानां मीमांसकानां कापिलानां च निरासाय निखिलजगदेककर्तारमीश्वरमनुमानेनैव साधयन्ति । तथाहि । जगत् कार्यं सावयवत्वाद्, महत्त्वे सति क्रियावत्त्वाद्, महत्त्वे सति मूर्तत्वाच्च घटादिवदिति जगतः कार्यत्वे सिद्धे, जगद् बुद्धिमत्कारणपूर्वकं कार्यत्वाद् घटादिवदिति साधनेन जगतस्तथात्वे सिद्धे, स बुद्धिमान् को वेत्यपेक्षायामत्र जगत्त्वेन क्षित्यादिवायुपर्यन्तानां विचित्राणां महाभूतानां संग्रहात् तादृशां तेषां जगत्त्वेन तदुपादानोपकरणसंप्रदानप्रयोजनाभिज्ञः कश्चिदेकः पुरुष आस्थेयः । कार्यत्वस्य तदुपादानोपकरणसंप्रदानप्रयोजनाभिज्ञकर्तृकत्वव्याप्तत्वात् । एवं च क्षेत्रज्ञानां तादृशाभिज्ञत्वाभावेन प्रकृतेश्चेतनत्वाभावेन च जगत्कर्तृत्वनिवृत्तौ सुखेन जगत्कर्तुरीश्वरस्य सिद्धिरिति । एवं प्रमाणान्तरेणेश्वरस्य तज्जगत्कर्तृत्वस्य च सिद्धौ जन्मादिसूत्रस्यापि लक्षणत्वात् तदितरभेदसाधने पृथिवीत्ववदीश्वरश्चेतनान्तरव्यतिरिक्तः, जगज्जन्मादिकर्तृत्वाद्

रश्मिः ।

ष्वित्यंशं व्याचक्रुः **सर्वत्रेति** । ब्रह्मवेति धर्म्येव । **विरोध** इति ज्ञानक्रियाशक्तिप्रतिपादनविरोधः । अत्रान्योन्याश्रयाभावायाहुः **शेषशेषीति** । **पूर्वकाण्ड** इति इदं तृतीयस्य प्रथमपादे 'द्रव्यगुणसंस्कारेषु बादरिः' 'कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात्' इत्यादिसूत्रेषु चिन्तितम् । **आशंसा**-इच्छा तस्याः । **मूर्धत्वादीति** आदिशब्देनोत्तमाङ्गत्वादिः । **तस्मादिति** मन्त्रब्राह्मणरूपत्वे सति अविहितज्ञानस्य फलसाधकत्वात् । तथाच ज्ञप्तावन्योन्याश्रयो नास्तीति भावः । वस्तुतस्तु शास्त्रमेकमेवेति नान्योन्याश्रयशङ्का । **निःप्रत्यूहमिति** निष्प्रत्यूहमिति पाठो भाति 'इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य' इतिसूत्रात् । निर्भिन्नस्येदुदुपधस्य वा वाच्यम् 'निःप्रत्यूहो महान् भोगः' इति सेवाफले श्रीमदाचार्यप्रयोगात् । पौराणप्रयोगो वा बोध्यः । भाष्ये । **तस्मादिति** कर्तृज्ञानयोर्धर्मिरूपत्वेन ग्रहणात् । **सिद्धमिति** ब्रह्मणः । **प्रकृते** । **वैशेषिकादीति** वैशेषिकाः प्रमाणद्वयवादिनः । **आदिशब्दोक्ता** नैयायिकाः प्रमाणचतुष्टयवादिनः । **मूर्तत्वाच्चेति** तत्त्वं च परिच्छिन्नपरिमाणवत्त्वम् । **तथात्व** इति बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्व इत्यर्थः । **तदुपादानेत्यादि** तस्य कार्यस्योपादानं चोपकरणं च संप्रदानं च प्रयोजनं चेति द्वन्द्वोत्तरं षष्ठीतत्पुरुषोपि तेष्वभिज्ञ इति सप्तमीसमासः । **लक्षणेति** इतरभेदसाधने हेतुः । लक्षणत्वमितरभेदसाधकत्वमिति । **तदितरेत्यादि** तस्येश्वरस्येतरस्माद्भेदसाधने पृथिवीत्ववत् पृथिवी इतरेभ्यो

भाष्यप्रकाशः।

यन्नैवं तन्नैवमित्यनुमानरूपं सूत्रमित्येकं मतम्। तदसंगतम्। जगत्कर्तृसाधकस्य कार्यत्वस्य हेत्वाभासत्वात्। यथाहुर्भास्कराचार्याः। जगत् न बुद्धिमत्कारणपूर्वकं कार्यत्वात् बीजोत्पन्नाङ्कुरवदिति साधारणो हेतुः। किं च जगता सहेश्वरसंबन्धस्यात्यन्तापरिदृष्टत्वेन साध्यस्य पक्षधर्मत्वाभावादयं विरुद्धोऽपि। यस्यकस्यापि बुद्धिमतः साधने सिद्धसाधनत्वं च। तथा घटादिदृष्टान्तबलेन कार्यत्वसमानाधिकरणस्यानीश्वरासर्वज्ञशरीरेन्द्रियादिमत्कर्तृकत्वस्य सिद्ध्या विवक्षितेश्वरासिद्धिश्च। तादृशजीवसिद्ध्याऽर्थान्तरत्वेनापि तदसिद्धिश्च। नचैवं घटादिदृष्टान्तेन शब्दे कृतकत्वादनित्यत्वसाधने दृष्टान्तीयानां पाक्यत्वादीनामापत्त्याऽनुमानोच्छेदप्रसङ्गः। लिङ्गिनः शब्दस्य प्रमाणान्तरगोचरत्वेन शब्दे पाक्यत्वादीनां निवृत्त्या तदनुच्छेदात्। अत्यन्तापरिदृष्टे ब्रह्मणि त्वन्वयव्यतिरेकपरिशुद्धानां तेषां निवर्तकस्याभावेन तादृशधर्मापत्तेरनिवार्यत्वात्। अतः शास्त्रैकसमधिगम्यं ब्रह्मेति।

रामानुजाचार्यास्त्वेतेषु दूषणेषु शैथिल्यं प्रदर्श्य प्रकारान्तरेण शास्त्रैकसमधिगम्यत्वं

रश्मिः।

भिद्यते गन्धवत्त्वात् इत्यनुमानलिङ्गवदित्यर्थः। यन्नैवं तन्नैवमिति देवदत्तवदित्यर्थः। **अनुमानरूपमिति** अस्येति जगतो जन्मादि यत इति 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' इतिसूत्रेण पञ्चम्यन्तम्। तस्य लक्षणत्वाद्धेतुत्वं तत एव इतरभेदसाधकत्वमित्यनुमानरूपत्वं जगज्जन्मादिकर्तृत्वसिद्धौ हि तेन चेतनान्तरव्यतिरिक्तत्वं साधनीयं तत्सिद्धिस्तु जगत् बुद्धिमत्कारणपूर्वकं कार्यत्वात् घटवदित्यनुमानसाध्या। तदेवानुमानं दुष्टं किंतरामेतदित्याशयेनाहुः **जगत्कर्त्रित्यादि**। **साधारण इति** साध्यवदन्यवृत्तित्वं विपक्षवृत्तित्वं वा साधारणत्वम्। साध्यं बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वतदभावस्तद्वान् बीजोत्पन्नाङ्कुरादिस्तदन्यो घटादिस्तद्वृत्तित्वं कार्यत्व इति। विपक्षो बीजाङ्कुरादिः तद्वृत्तित्वं कार्यत्व इति च लक्षणसंगतिः। तथा चान्वयव्याप्त्या साध्यतदभावयोः साधकः साधारण इति फलितम्। यथा धूमवान् वह्नेरिति। तत्रायोगोलके साध्याभावसाधकत्वं बोध्यम्। **साध्यस्येति** बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वस्येत्यर्थः। **विरुद्धोपीति** विरुद्धत्वं तु साध्यासामानाधिकरण्यं तथाच साध्यानधिकरणे बीजाङ्कुरादौ कार्यत्वस्य सत्त्वात्तदसामानाधिकरण्यम्। दूषकताबीजभेदादुभयोर्भेदः। बाधितोपीति वक्तुं युक्तम्। पक्षे साध्यशून्यत्वस्य तल्लक्षणत्वात्। यथा जलादिपक्षे वह्न्यभावः जलं वह्निमज्जलत्वात् इत्यत्र बाधवत् साधारणोपि हेतुः। साध्यवान् पर्वतादिः तदन्यो जलह्रदादिस्तद्वृत्ति जलत्वं साध्यवदन्यत्वादिगतो हेतुः। ननु दृष्टोन्यबुद्धिमत्संबन्धो जगतीति न विरुद्ध इति चेत्तत्राहुः **यस्यकस्यापीति**। तथेति यथा घटादिदृष्टान्तबलेन कार्यत्वलिङ्गेन च बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वसिद्धिस्तथेत्यर्थः। **सिद्ध्येति** जगद् अनीश्वरासर्वज्ञशरीरेन्द्रियादिमत्कर्तृपूर्वकं कार्यत्वात् घटवदित्येवं सिद्ध्येत्यर्थः। ननु नैवं सिद्धिर्वैचित्री क्षित्यादिवायुपर्यन्तानां विचित्राणां महाभूतानां जगत्त्वेन तदुपादानोपकरणसंप्रदानप्रयोजनाभिज्ञो नानीश्वरासर्वज्ञादिरित्यत आहुः **तादृशजीवेत्यादि**। उपासोपचितसार्वज्ञ्यादिशक्तिमतो जीवस्य सिद्ध्येत्यर्थः। **न चैवमिति** दृष्टान्तबलेन दृष्टान्तीयाशेषधर्माणां पक्षवृत्तित्वाङ्गीकारे इत्यर्थः। **तेषामित्यादि** अनीश्वरासर्वज्ञत्वादीनां श्रवणवन्निवर्तकस्य चक्षुरादिप्रमाणान्तरस्याभावेनेत्यर्थः। **अत्र इति** प्रत्यक्षस्य तन्मूलकानुमानस्य चाप्रवृत्तेः शब्दस्य पराक्रमप्रतिपादनद्वारा प्रवृ-

भाष्यप्रकाशः।

साधयन्ति। तथाहि। सावयवत्वादिलिङ्गकैः पूर्वोक्तानुमानैः कृत्वा सिद्धत्वेन जगतः कार्यत्वं न प्रत्याख्यातुं शक्यते। नच जगदकार्यम्, अशक्यक्रियत्वाद् अशक्योपादानादिविज्ञानत्वाच्च, आकाशवदिति प्रतिपक्षसद्भावात् प्रत्याख्यातुं शक्यमिति वाच्यम्। आकाशे निरवयवत्वस्यानुकूलतर्कस्य सत्त्वेन तस्याकार्यत्वेऽपि जगद्रूपेषु महीमहीधरादिषु वाय्वन्तेषु तदभावेन तयोरप्रयोजकतयाकाशदृष्टान्तेन तेष्वकार्यत्वस्य साधयितुमशक्यत्वात्। एवं निरवयवत्वेनोपाधिनैव क्षित्यादिवायुपर्यन्तानि अकार्याणि महाभूतशब्दवाच्यत्वाद् आकाशवदित्यपि प्रत्यनुमानं निरस्तम्। एवं सिद्धे कार्यत्वे शक्यक्रियत्वशक्योपादानादिविज्ञानत्वयोरपि कार्यत्वेनैव सिद्ध्या तयोरपि प्रतिपन्नत्वमेव। तथाहि। घटमणिकादिषु कृतेषु कार्यदर्शनानुगतकर्तृगततन्निर्माणशक्तिज्ञानः पुरुषोऽदृष्टपूर्वं विचित्रसन्निवेशं नरेन्द्रभवनमालोक्य अवयवसन्निवेशविशेषेण तस्य कार्यत्वं निश्चित्य तदानीमेव कर्तुस्तज्ज्ञानशक्तिवैचित्र्यमनुमिनोति। अतस्तु भुवनादेः कार्यत्वे सिद्धे

रश्मिः।

त्तेश्चेत्यर्थः। **प्रतिपक्षेति** साध्याभावसाधकहेत्वित्यर्थः [1] सावयवादिहेतूनां सत्प्रतिपक्षत्वमिति भावः। साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं यस्य स सत्प्रतिपक्षः। **अनुकूलतर्कस्येति** यद्यकार्यं न स्यान्निरवयवो न स्यात् इति शङ्कानिवर्तकस्य निरवयवत्वं यद्यकार्यत्वव्यभिचारि स्यान्निरवयवत्वमकार्यसाधकं न स्यात् इति व्याप्तिग्राहकस्य चानुकूलतर्कस्य सत्त्वेनेत्यर्थः। **तदभावेनेत्यादि** निरवयवत्वरूपानुकूलतर्काभावेनाशक्येत्यादिहेत्वोरप्रयोजकतयेत्यर्थः। **तेष्विति** जगद्रूपेषु महीमहीधरादिष्वित्यर्थः। **उपाधिनेति** साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधित्वमत्राकाशमादाय साधनव्यापकत्वमिति चेन्न। यद्धर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वं तद्धर्मावच्छिन्नसाधनाव्यापकत्वमुपाधिरिति लक्षणस्य विवक्षितत्वात् यद्धर्मः कार्यत्वत्वं तथा चाकार्यत्वत्वावच्छिन्नसाधनं नाकाशमिति नाकाशमादाय साधनव्यापकत्वमिति भावः। यदभावेन यद्वदन्यत्वेन वा साधनवति साध्याभाव उन्नीयते स उपाधिः लाघवादिति नव्याः। स श्यामो मित्रातनयत्वादित्यत्र शाकपाकजत्वमुपाधिः शाकपाकजत्वाभाववति घटादौ श्यामत्वसत्त्वाच्छ्यामत्वव्यापकत्वाभावेपि मित्रातनयत्वावच्छिन्नश्यामत्वव्यापकत्वात्। एवं प्रकृतेपि यद्धर्मावच्छिन्नाकार्यत्वव्यापकं निरवयवत्वमाकाशादौ तद्धर्मावच्छिन्नमहाभूतशब्दवाच्यत्वाव्यापकं निरवयवत्वं पृथिव्यादाविति लक्षणसंगतिः। एवं यथार्द्रेन्धनाभावेनार्द्रेन्धनवत्पर्वताद्यन्यत्वेन साधनवति वह्निमत्ययःपिण्डे धूमाभाव उन्नीयते इत्यार्द्रेन्धनमुपाधिस्तद्वत् निरवयवत्वाभावेन निरवयवत्ववदाकाशाद्यन्यत्वेन वा साधनवक्षित्यादिषु साध्यस्याकार्यत्वस्याभाव उन्नीयत इति। **कार्यत्वेनेति** कार्यत्वलिङ्गेन घटादिदृष्टान्तसनाथेनेत्यर्थः। **तयोरपीति** तयोः शक्यक्रियत्वशक्योपादानादिविज्ञानत्वयोरपि प्रतिपन्नत्वं प्राप्तत्वं प्रागल्भ्यं चैवेत्यर्थः। तथा चाशक्यक्रियत्वाशक्योपादानादिविज्ञानत्वयोर्हेत्वोरप्यसिद्धिरिति भावः। **घटमणिकेति** मणिकः गुर्जरदेशे गृहे मिष्टजलार्थं स्थलं 'टांका' इत्युच्यते। **कार्यदर्शनेत्यादि** कार्यदर्शनेनानुमिते कर्तृगते कार्यनिर्माणस्य शक्तिज्ञाने येनेत्यर्थः। **अदृष्टपूर्वमिति** न दृष्टं पूर्वं यत्तददृष्टपूर्वम्। **विचित्रः** स्थलविशेषसन्निवेशो यत्र तथाविधं चेत्यर्थः।

1. अकार्यत्वधर्मावच्छिन्नेत्यर्थः।

भाष्यप्रकाशः ।

तावत्सर्वसाक्षात्कारतन्निर्माणादिनिपुणः कश्चित् सिद्ध्यत्येव । विवादाध्यासितं भूभूधरादिकं स्वनिर्माणसमर्थकर्तृपूर्वकं कार्यत्वात् सार्वभौमसदनवदिति प्रयोगात् । किंच सर्वचेतनानां सुखदुःखभोगस्य धर्माधर्मसाध्यत्वेऽपि धर्माधर्मयोरचेतनत्वाच्चेतनाधिष्ठानमन्तरेण तयोः फलहेतुत्वानुपपत्तेः सर्वकर्मानुगुणसर्वफलदानचतुरः कश्चिदास्थेयः । वर्धकिनानधिष्ठितस्य वाश्यादेरचेतनस्य देशकालाद्यनेकपरिकरसन्निधानेऽपि यूपादिनिर्माणसाधनत्वादर्शनात् । तथाच प्रयोगः । धर्माधर्मौ चेतनाधिष्ठितत्वेनैव फलोपधायकौ अचेतनत्वात् वाश्यादिवदिति । नच पूर्वानुमाने कार्यत्वस्य हेतोर्बीजोत्पन्नाङ्कुरदृष्टान्तेन साधारणत्वं शङ्क्यम् । अङ्कुरादौ संदेहस्यानन्याहितत्वेन पक्षसमतया पक्ष एवान्तर्भावात् । एतेनैव सुखादिदृष्टान्तोऽपि प्रत्युक्तः । नच लाघवादुभयवादिप्रतिपन्नक्षेत्रज्ञानामेवाधिष्ठातृत्वमत्र कल्पयितुं शक्यम् । तेषां सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टदर्शनाशक्तिनिश्चयात् । कल्पनाया दर्शनानुसारित्वस्यैव युक्तत्वात् । नचेश्वरेऽप्येतादृगशक्त्यापत्तिः । तत्र तन्निश्चायकप्रमाणाभावात् । अतः प्रमाणान्तरतो न तत्सिद्ध्यनुपपत्तिः । तथाचोक्तानुमानेन सिद्ध्यन् स्वाभाविकसर्वार्थसाक्षात्कारतन्नियमनसामर्थ्यसंपन्न एव सेत्स्यतीति न तन्निभन्वयव्यतिरेकपरिशुद्धमप्यनैश्वर्याद्यापादयितुं शक्यम् । समर्थकर्तृपूर्वकत्वनियतकार्यत्वरूपहेतुबलादेव तन्निवृत्तेः । तथाहि, केनचित् क्रियमाणं किंचित् स्वोत्पत्तये कर्तुः स्वनिर्माणसामर्थ्यं स्वोपादनोपकरणविज्ञानं च निर्वाहकत्वेनापेक्षते । न त्वन्यासामर्थ्यमन्याज्ञानं वा । हेत्वभावात् । उक्तसामर्थ्योक्तज्ञानाभ्यामेवोत्पत्तावुपपन्नायां संबन्धितया दृष्टानामकिंचित्कराणामन्येषां कल्पनायोगात् । अन्यथानुमानोच्छेदप्रसङ्गात् । अथ तदप्युपयोगीति चेत्, किं क्रियमाणवस्तुव्यतिरिक्ताज्ञानादिकं सर्वविषयं क्रियोपयोगि, उत कतिपयविषयम् । नाद्यः । कुलालादेरपि क्रियमाणवस्तुव्यतिरिक्त-

रश्मिः ।

साधारणत्वमिति भूभूधरादिकं स्वनिर्माणसमर्थकर्तृपूर्वकं कार्यत्वात् बीजोत्पन्नाङ्कुरवदित्येवं साध्यतदभावयोः साधकत्वमित्यर्थः । संदिग्धसाध्यवत्त्वं पक्षत्वमिति लक्षणं मत्वाहुः **अङ्कुरादाविति** । **अनन्याहितत्वेनेति** कर्त्रनुपलम्भमात्रोत्पन्नतया उपाधिसत्प्रतिपक्षादिदोषानाहितत्वेनेत्यर्थः । न अन्यः पक्षभिन्नः अङ्कुरादिः पक्षरूप इत्यर्थस्तदाहितत्वेन । **एतेनैवेत्यादि** पूर्वोक्तरीत्या पक्ष एवान्तर्भावेन वायूपनीतचन्दनादिगन्धजन्यसुखादिदृष्टान्तोपीत्यर्थः । पक्षभिन्नत्वस्य दृष्टान्ते तन्त्रत्वादित्यर्थः । **धर्माधर्माविति** । द्वितीयानुमानेपि किंचिदाहुः **न च लाघवादिति** । **क्षेत्रज्ञानामिति** जीवानामित्यर्थः । **अत्रेति** धर्माधर्मयोरित्यर्थः । द्वितीयानुमाने इति वा । **अत** इति अनुमाननिर्दुष्टत्वात् शब्दप्रमाणादन्यत्प्रमाणमनुमानरूपम् । **तत्सिद्धीत्यादि** ईश्वरसिद्ध्यनुपपत्तिरित्यर्थः । **समर्थेत्यादि** समर्थकर्तृपूर्वकत्वस्य साध्यस्य यो नियतसहचारी कार्यत्वरूपो हेतुस्तद्बलादेवानैश्वर्यादिनिवृत्तेरित्यर्थः । स्वनिर्माणसमर्थकर्तृपूर्वकं कार्यत्वात् सार्वभौमसदनवत् इति पूर्वोक्तानुमानमनुसंधेयम् । **स्वोत्पत्तय** इति स्वस्य क्रियमाणस्योत्पत्तय इत्यर्थः । **हेत्वभावादिति** कल्प्यमानहेतूनामन्यथासिद्धत्वेनाभावात् । **अकिंचिदिति** अन्यथासिद्धानाम् । **अन्येषामिति** अन्याज्ञानान्यासामर्थ्यादीनामित्यर्थः । **अन्यथेति** अनुपयोगिसाधकत्वे घटः पृथ्वी गन्धवत्त्वादिति सद्धेतुना पृथ्वीत्ववत्तावत्परिमाणलिङ्गतत्कर्तृकत्वानां सिद्ध्यापत्त्यानुमानोच्छेदप्रसङ्गादित्यर्थः । **तदपीति** अन्यदप्युपयोगि सिद्ध्यतु नाम न तावत्परिमाणादीतिचेदित्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

ज्ञानाद्यदर्शनात् । नापरः । सर्वेषु कर्तृषु तत्तदज्ञानाशक्त्यनियमेन सर्वेषामज्ञानादीनां व्यभिचारात् । नच निर्वाहकापेक्षाङ्गीकारे ईश्वरेऽपि शरीरेन्द्रियाद्यापत्तिरिति शङ्क्यम् । संकल्पमात्रेण परशरीरगतभूतवेतालगराद्यपगमदर्शनात् । नच कथमशरीरस्य प्रवर्तनरूपः संकल्प इति शङ्क्यम् । संकल्पस्य मनोजन्यत्वेन शरीरानपेक्षत्वात् । मनसस्त्वीश्वरेऽप्युपगमात् । पूर्वोक्तहेतुनैव ज्ञानशक्तिवन्मनसोऽपि प्राप्तत्वात् । नच मानसोऽपि संकल्पः सशरीरस्यैव, तस्यैव समनस्कत्वादिति वाच्यम् । मनसो नित्यत्वेन देहाद्यपगमेऽपि तत्सद्भावेनानैकान्तिकत्वात् । अत ईदृशस्य विचित्रस्य जगतो निर्माणे पुण्यपापपरवशः परिमितशक्तिज्ञानः क्षेत्रज्ञो न समर्थ इति तद्विलक्षण ईश्वरः संकल्पमात्रेण सर्वकरणसमर्थोऽनुमानेन सिद्ध्यति । प्रयोगान्तरेण च । जगत् एकचेतनाधीनम्, अचेतनारब्धत्वान्नीरोगस्वशरीरवदिति । तस्मान्न पूर्वोक्तप्रकारेण शास्त्रैकसमधिगम्यत्वं ब्रह्मणः सिद्ध्यति ।

कथं तर्हि तत्सिद्धिरितिचेद्, उच्यते । नाचेतनारब्धत्वेन हेतुना ईश्वरसिद्धिः । तथाहि । यदत्र साध्यतया निर्दिष्टं, किं तदेकचेतनाधीनत्वम् । न तावदेकचेतनायत्तोत्पत्तिस्थितिकत्वम् । दृष्टान्ते साध्यवैकल्यात् । अरोगस्यापि शरीरस्य पितृपुत्राद्यनेकचेतनाभोग्यत्वात् तत्तददृष्टजन्यत्वेन तदुत्पत्तिस्थित्योस्तदधीनत्वेनैकचेतनाधीनत्वाभावात् । किं च । शरीरस्य स्थितिरपि, किं स्वावयवसमवेतता, उत प्राणनम् । आद्ये अवयवाधीनत्वान्न चेतनापेक्षा, घटादिवत् । द्वितीये क्षित्यादीनां शरीररूपत्वभावेन पक्षे असंभव इति पक्षसपक्षानुगतस्थित्यनुपलम्भः । नाप्येकाचेतनाधीनप्रवृत्तिकत्वं तत् ।

रश्मिः ।

व्यभिचारादिति कुलालत्वेन घटादित्वेन हि कार्यकारणभावः तत्रान्याशक्त्यान्याज्ञाने सहकारिणी तत्रान्यपदार्थो हि पटादिस्तथा च पटादिज्ञानवता कुलालेन क्रियमाणे घटादौ अन्याज्ञानादिनियतसहचरितत्वव्यभिचारादित्यर्थः । उपयोग्यभावेपि कार्यदर्शनात् । **परशरीरेत्यादि** तथाच संकल्प एव निर्वाहको न तु शरीरादिरतो नेश्वरे तदापत्तिरित्यर्थः । **पूर्वोक्तेत्यादि** स्वनिर्माणसमर्थकर्तृपूर्वकत्वनियतकार्यत्वहेतुनैवेत्यर्थः । **प्राप्तत्वादिति** समर्थपदेन तथात्वादित्यर्थः । **तस्यैवेति** सशरीरस्यैवेत्यर्थः । **अनैकान्तिकत्वादिति** साधारणाद्यन्यतमत्वमनैकान्तिकत्वं सशरीरः समनस्कः संकल्पवत्त्वात् क्षेत्रज्ञवत् । इत्यत्र समनस्कत्वस्य संकल्पाभाववति मुक्तात्मनि सत्त्वात् । इत्यनैकान्तिकत्वादनुपसंहारित्वादित्यर्थः । अनुपसंहारी च तद्वन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिसाध्यकादिः तथाचानुपसंहार्यनैकान्तिकत्वादित्यर्थः । **अनुमानेनेति** । **अचेतनेति** कामबीजाद्यारब्धत्वात् । **तत्सिद्धिरिति** शास्त्रैकसमधिगम्यत्वसिद्धिरित्यर्थः । **उच्यत** इति अस्मामी रामानुजाचार्यैरुच्यते । सूचीकटाहन्यायेन प्रथमतो द्वितीयमनुमानं दूषयन्ति **नाचेतनेत्यादि** । **तत्रेति** । **एकचेतनायत्तेति** आयत्ते यति प्रयत्ने आसमन्तात् प्रयत्नविषये उत्पत्तिस्थिती यस्य जगतस्तत्कत्वम् । उपलक्ष्यते लयः । साध्यवैकल्यमेव साधयन्ति **अरोगस्येत्यादि** । साध्यलक्षणघटकीभूता स्थितिः शरीरनिष्ठा वाच्या । तथाच यत्सिद्धं तदाहुः **शरीरस्येत्यादि** । **असंभव** इति जीवनासंभव इति सपक्षरूपनीरोगस्वशरीरानुगतजीवनरूपस्थित्यनुपलम्भः पक्ष इति बाधित इत्यर्थः । **सपक्षेति** निश्चितसाध्यवत्त्वं सपक्षत्वम् । **अनुपलम्भ** इति पक्षेऽनुपलम्भः । **तदिति** एकचेतनाधीनत्वरूप साध्यमित्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

पक्षान्तर्भूतेषु गुरुतररथशिलामहीरुहादिष्वनेकचेतनसाध्यप्रवृत्तिकत्वेन व्यभिचारात् । नापि चेतनमात्राधीनत्वम् । सिद्धसाधनत्वात् । किं च । उभयवादिसिद्धानां जीवानामेव नियामकत्वाभ्युपगमो युक्तः । लाघवात् । नच जीवानां पूर्वोक्तरीतिकोपादानादिविज्ञानतन्निर्माणशक्त्यभावः शङ्कनीयः । तपोयागादिभिस्तेष्वपि तादृशज्ञानसामर्थ्ययोरुपगमे बाधकाभावात् । एतदपेक्षयेश्वराख्यपुरुषकल्पनस्य तत्र सामर्थ्यविशेषकल्पनस्य चात्यन्तापरिदृष्टत्वेनातिगुरुत्वात् । अतोऽचेतनारब्धत्वलिङ्गकानुमानेन नेश्वरसिद्धिः ।

नापि कार्यत्वलिङ्गकेन । महीमहार्णवादीनां सावयवत्वेन कार्यत्वेऽप्यनेकत्वात् ते सर्वे एकदैवैकेन निर्मिता इत्यत्र प्रमाणाभावात् । न चैकघटवत् सर्वेषामेककार्यत्वं, येनैकदैवैकः कर्ता स्यात् । पृथग्भूतेषु कार्येषु कालभेदकर्तृभेददर्शनेन कर्तृकालैक्यस्य नियन्तुमशक्यत्वात् । नच जीवानां तादृशनिर्माणशक्त्यदर्शनेन तन्निवृत्तौ कार्यत्वबलेनैव तत्सिद्धिरिति वाच्यम् । पूर्वमशक्तानामपि पश्चात् पुण्यविशेषोपचयेन शक्तिदर्शनात्, तद्विशेषोपचयेनातिशयितादृष्टसंभावनया च तादृशविलक्षणकार्यकर्तृत्वस्यापि संभवादित्युक्तम् । किं च । युगपत् सर्वोच्छित्तिः सर्वोत्पत्तिश्च न प्रमाणपदवीमधिरोहतः । अदर्शनात् । क्रमेणैवोत्पत्तिविनाशयोः कल्प्यमानयोर्दर्शनानुगुण्येन तथा कल्पनायामपि विरोधाभावाच्च । अतो बुद्धिमदेककर्तृकत्वे साध्ये कार्यत्वस्यानैकान्तिकत्वम् ।

रश्मिः ।

व्यभिचारादिति साध्याभाववत्सु गुरुतररथादिषु स्वसमवाय्यारब्धेषु साध्यशून्येषु हेतोर्व्यभिचारादित्यर्थः । साधारणो हेतुरित्यर्थः । साध्यं प्रकारान्तरेण लक्षयित्वा दूषयन्ति **नापीत्यादि** । **सिद्धेत्यादि** । शरीरादौ तथात्वादित्यर्थः । अयं दोषः पक्षताविघटकः । सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभावः पक्षता । एतच्च हेत्वाभासान्तरं जगति नायमित्यतो दूषणान्तरमाहुः **किंचेत्यादि** । कार्यत्वलिङ्गकं स्वरूपासिद्धत्वमित्याहुः **महीत्यादि** । तथाच पक्षे व्याप्यत्वाभिमतस्येश्वरसाधकस्य कार्यत्वस्य विरहात् स्वरूपासिद्धत्वमित्यर्थः । सावयवत्वं लिङ्गमपि बाधितमिति कार्यं सावयवत्वादित्यनुमानमपि दुष्टमिति भावः । पक्षे साध्याभावो बाधः इति तल्लक्षणात् । प्रतिज्ञान्तररूपं निग्रहस्थानं वा व्याख्येयम् । **सर्वेषामित्यादि** महीमहार्णवादीनामेकस्य कार्यत्वमित्यर्थः । **तत्सिद्धिरिति** स्वनिर्माणसमर्थकर्तृपूर्वकत्वसिद्धिरित्यर्थः । **संभवादिति** यथा प्रियव्रतः 'प्रियव्रतकृतं कर्म कोनुकुर्याद्विनेश्वरम्' इतिवाक्यात् । **दर्शनेति** न्यायशास्त्रानुगुण्येन । **तथाकल्पनायामिति** पुण्यविशेषोपचयेनातिशयितादृष्टसंभावनया च तादृशविलक्षणकार्यकर्तृत्वकल्पनायाम् । **अत** इति विवादाध्यासितं भूभूधरादिकं बुद्धिमदेककर्तृपूर्वकं कार्यत्वात् । घटादिवदित्यनुमाने तथेत्यर्थः । **अनैकान्तिकत्वमिति सार्वभौमसदनेति** च विवादाध्यासितं भूभूधरादिकं बुद्धिमदनेककर्तृपूर्वकं कार्यत्वात् सार्वभौमसदनवदित्यनेन बुद्धिमदनेककर्तृकत्वे सिद्धे एतत्साध्याभाववति भूभूधरादिके कार्यत्वरूपहेतोर्वृत्तेः साधारणानैकान्तिकत्वमित्यर्थः । तथाच सार्वभौमसदनदृष्टान्तेन बुद्धिमदनेककर्तृत्वे सिद्धे एतत्साध्याभाववति भूभूधरादिके कार्यत्वरूपहेतोर्वृत्तेस्तथात्वावगमात् साधारण्यानैकान्तिकत्वावगमादिति सार्वभौमेतिफक्किकार्थः । कार्यत्वं बुद्धिमदेककर्तृकत्वसाधकं घटनिष्ठत्वात् पटनिष्ठकार्यत्ववदित्यनुमानमपि । कार्यत्वं न बुद्धिमदेककर्तृकत्वसाधकं मक्षादिभूतसमूहनिष्ठत्वात् घटपटस्तम्भसमूहनिष्ठकार्यत्ववदित्यनुमानेन सत्प्रतिपक्षमित्याहु

भाष्यप्रकाशः ।

सार्वभौमसदनदृष्टान्तेन तथाऽवगमात् । मक्षादिभूतसमूहनिष्ठत्वाच्च घटपटस्तम्भसमूहनिष्ठकार्यत्ववत् । साध्यतावच्छेदकराहित्येन दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वं च । सर्वनिर्माणचतुरस्यैकस्याप्रसिद्धेः । पक्षस्याप्रसिद्धविशेषणत्वं च । तादृशसाध्याप्रसिद्ध्या विवादाध्यासाभावात् । बुद्धिमत्कर्तृकत्वमात्रे साध्ये सिद्धसाध्यत्वं च । किं च । सार्वज्ञ्यसर्वशक्तियुक्तस्य कस्यचिदेकस्य साधकमिदं कार्यत्वं, युगपदुत्पद्यमानसर्ववस्तुगतं वा, क्रमेणोत्पद्यमानसर्ववस्तुगतं वा । आद्ये, आश्रयासिद्धत्वम् । द्वितीयेऽनेककर्तृकत्वसाधनाद् विरुद्धत्वम् । अपिच । सर्वेषां कार्याणां शरीराणां सुखाद्यन्वयदर्शनेन तन्मूलभूतं सत्त्वादिकमवश्याश्रयणीयम् । पुरुषस्य तद्योगश्च कर्मभिरन्तःकरण-

रश्मिः ।

मक्षादीत्यादि । तथाचाभासोक्तरीत्या सत्प्रतिपक्षत्वमिति भावः । **साध्यतावच्छेदकेत्यादि** कार्यत्वलिङ्गकानुमाने क्षित्यादेः पक्षस्य विजातीयद्रव्यसमूहकत्वाद् घटादिवदिति दृष्टान्तेपि विजातीयद्रव्यसमूहस्यैव दृष्टान्तत्वेन प्रवेशात् । तत्र साध्यतावच्छेदकस्य कर्त्रैक्यस्य प्रत्यक्षविरुद्धतया राहित्येनेत्यर्थः । तथाच दृष्टान्ताभाव इति भावः । साध्याप्रसिद्धिरग्रे वाच्या । किंच कार्यत्वलिङ्गकमनुमानमाश्रयासिद्धमित्याहुः **सर्वनिर्माणेत्यादि** । सार्वभौमसदने सर्वनिर्माणचतुराणामनेकेषां दर्शनादेकस्याप्रसिद्धेश्च विवादाध्यासितत्वाभावेन भूभूधरादेः पक्षस्य तथात्वमित्यर्थः । यथा काञ्चनमयः पर्वतो वह्निमानिति तथा च पक्षे पक्षतावच्छेदकाभावात् आश्रयासिद्धत्वमिति भावः । किंच व्याप्यत्वासिद्धमपीति सूचयन्तस्तत्र हेतुमप्याहुस्तादृशेत्यादि । **साध्याप्रसिद्ध्येति** । साध्ये साध्यतावच्छेदकाभावः साध्याप्रसिद्धिः यथा काञ्चनमयवह्निमान् धूमात् इति । तथा च बुद्धिमदेकत्वस्य साध्यतावच्छेदकस्य कर्तैर्यभावाद्व्याप्यत्वासिद्धत्वमित्यर्थः । ननु साध्ये एकपदं न निवेश्यते एवं च न साध्ये साध्यतावच्छेदकाभाव इत्यत आहुः **बुद्धिमदित्यादि** । **सिद्धसाध्यत्वमिति** बुद्धिमत्कर्तृपूर्वकत्वस्य सर्वत्र सिद्धत्वात् । **आश्रयासिद्धत्वमिति** युगपदुत्पद्यमानस्य सर्वस्य केनापि लौकिकप्रमाणेनासिद्धत्वात्तथात्वमित्यर्थः । किंच संदिग्धसाध्यत्वं पक्षत्वमिति लक्षणेन साध्यासंदेहात्पक्षे संदिग्धत्वरूपपक्षतावच्छेदकाभावात् । पक्षे पक्षतावच्छेदकाभावरूपाश्रयासिद्धिः । तथा सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभावः पक्षता । तस्याः पक्षेऽभावादाश्रयासिद्धिः । **अनेकेत्यादि** क्रमिकाणामनेककर्तृकत्वस्य प्रत्यक्षादिसिद्धत्वात्तथेत्यर्थः । **विरुद्धत्वमिति** साध्याभावसाधकहेतुर्विरुद्ध इति तल्लक्षणाद्विरुद्धत्वमित्यर्थः । सांख्यमतमनुसृत्य दूषयन्ति **अपि चेत्यादि** । **तन्मूलभूतमित्यादि** । शरीरमूलभूतं सत्त्वादिगुणान्वयं

'अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः ।
प्रत्यग्धामा स्वयं ज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम् ॥
स एष प्रकृतिं सूक्ष्मां दैवीं गुणमयीं विभुः ।
यदृच्छयैवोपगतामभ्यपद्यत लीलया ॥
गुणैर्विचित्राः सृजतीं सरूपाः प्रकृतिं प्रजाः ।
विलोक्य मुमुहे सद्यः स इह ज्ञानगूहया ॥
एवं पराभिध्यानेन कर्तृत्वं प्रकृतेः पुमान् ।
कर्मसु क्रियमाणेषु गुणैरात्मनि मन्यते ॥
तदस्य संसृतिर्बन्धः पारतन्त्र्यं च तत्कृतम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

विकारद्वारेण भवतीति विचित्रकार्यविशेषारम्भायैव ज्ञानशक्तिवत् कर्मसंबन्धोऽप्यवश्याश्रयणीयः। ज्ञानशक्तिवैचित्र्यस्यापि कर्ममूलत्वाच्च। इच्छायाः कर्मारम्भहेतुत्वेऽपि विषयविशेषितायास्तस्याः सत्त्वादिमूलत्वेन कर्मसंबन्धोऽवर्जनीयः। एवं सिद्धे कर्मसंबन्धे क्षेत्रज्ञा एव कर्तारः सिद्ध्यन्ति, न तु तद्विलक्षणः कश्चिदनुमानात् सिद्ध्यति।

भवन्ति चात्र प्रयोगाः। तनुभवनादिकं क्षेत्रज्ञकर्तृकं, कार्यत्वाद् घटवत्। ईश्वरः कर्ता न भवति प्रयोजनशून्यत्वाद् मुक्तात्मवत्। तथा, अशरीरत्वात् तद्वदेव। न च क्षेत्रज्ञानां स्वशरीराधिष्ठाने व्यभिचारः। तत्राप्यनादेः सूक्ष्मशरीरस्य भावात्। विमतिविषयः कालो न लोकशून्यः कालत्वाद् वर्तमानकालवत्। किंच। ईश्वरः किमशरीरः सशरीरो वा कार्यं करोति। नाद्यः। मनसो नित्यत्वेऽपि अशरीरेषु मुक्तेषु मानसकार्यादर्शनादीश्वरेऽप्यकर्तृत्वापत्तेः। नेतरः। विकल्पासहत्वात्। तन्नित्यमनित्यं वा। न तावन्नित्यम्। सावयवस्य नित्यत्वे जगतोऽपि नित्यत्वाविरोधादीश्वरासिद्धेः। नाप्यनित्यम्। तद्व्यतिरिक्तस्य तच्छरीरहेतोस्तदानीमभावात्। नच स्वयमेव हेतुरिति युक्तम्। अशरीरस्य तदयोगात्। नाप्यन्यशरीरेण शरीरवान्। अनवस्थानात्। किंच। सव्यापारो निर्व्यापारो वा। नाद्यः। अशरीरस्य तदसंभवात्।

रश्मिः ।

भवत्यकर्तुरीशस्य साक्षिणो निर्वृतात्मनः ॥
कार्यकारणकर्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः।
भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेः परम्' ॥
'प्रकृतिस्थोपि पुरुषो नाज्यते प्राकृतैर्गुणैः।
अविकारादकर्तृत्वान्निर्गुणत्वाज्जलार्कवत्' ॥
'यत्तत्रिगुणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।
प्रधानं प्रकृतिं प्राहुरविशेषं विशेषवत्' ॥
'एतद्भगवतो रूपं ब्रह्मणः परमात्मनः।
परं प्रधानं पुरुषं दैवं कर्म विचेष्टितम्' ॥

इत्यादि पुराणप्रामाण्यादवश्यमाश्रयणीयमित्यर्थः। सत्त्वाद्याश्रयेण यद्भवति तदाहुः पुरुषस्येत्यादि। ईश्वराख्यस्यात्मनः सत्त्वादियोग इत्यर्थः। अवश्येत्यादि लोके तथा दर्शनात्तथेत्यर्थः। विचित्रकार्यारम्भो न ज्ञानवैचित्र्यात् किं तु इच्छावैचित्र्यात् तस्याश्चाकर्ममूलत्वाददोष इत्यत आहुः इच्छाया इत्यादि। इच्छाया हेतुत्वेऽपि न सामान्यरूपेण तथा सति सृष्टीच्छया प्रलयः स्यादतः सृष्टिविषयिणीच्छात्वेन सृष्टिहेतुत्वमेवमन्यत्रेत्येवं आत्मप्रसादजसुखं स्यादित्येवं विषयविशेषितायास्तस्या हेतुभूतायाः सत्त्वादिरूपप्रधानाभिपत्तिमूलत्वेनेति सत्त्वादिहेतुकर्मसंबन्धो वर्जनीय इत्यर्थः। ननु सृष्ट्यादौ शरीराणामनुत्पन्नत्वात्क्षेत्रज्ञानां स्वशरीराधिष्ठानासंभवे कर्तृत्वव्यभिचार इत्याशङ्क्य पराकुर्वन्ति न च क्षेत्रज्ञानामित्यादि। प्रवाहानादित्वमभिप्रेत्य स्थूलशरीरसत्तासाधनायाहुः विमतीत्यादि। प्रवाहानादित्वसादित्वरूपविविधमतिविषयः। मनस इति करणभूतस्य मनस इत्यर्थः। तदिति शरीरमित्यर्थः। तद्व्यतिरिक्तस्येत्यादि ईश्वरव्यतिरिक्तस्येश्वरशरीरहेतोः सृष्टिप्राक्कालेऽभावादित्यर्थः। क्षेत्रज्ञव्यतिरिक्तस्य क्षेत्रशरीरहेतोः सृष्टिप्राक्कालेऽभावादित्यर्थो वा। स्वयमिति ईश्वर इत्यर्थः। तदयोगादिति हेतुत्वायोगादित्यर्थः। अनवेत्यादि अवस्थानं शरीरस्थिति-

भाष्यप्रकाशः ।

न द्वितीयः। मुक्तात्मवदकर्तृत्वापातात्। कार्यं जगद् इच्छामात्रव्यापारिकर्तृकमित्युच्यमाने पक्षस्याप्रसिद्धविशेषणत्वम्। दृष्टान्तस्य साध्यहीनता च। अतो दर्शनानुगुण्येनेश्वरानुमानं दर्शनानुगुण्यपराहतमिति शास्त्रैकप्रमाणकः परमेश्वरः परब्रह्मभूतः पुरुषोत्तमः। शास्त्रं तु सकलेतरप्रमाणापरिदृष्टं समस्तविजातीयं सार्वज्ञ्यसत्यसङ्कल्पत्वादिमिश्रानवधिकातिशयापरिमितगुणोदारं निखिलहेयप्रत्यनीकं स्वरूपं प्रतिपादयतीति, न प्रमाणान्तरावसितवस्तुसाधर्म्यप्रयुक्तदोषप्रसङ्ग इति।

अत्रोदयनाचार्यैरीश्वरसाधने नवानुमानानि कुसुमाञ्जलौ दर्शितानि।

'कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः' ॥

इति। अत्र कार्यादिपदानि भावप्रधानानि। तानि चैवं व्याख्यातानि। आयोजनं सर्गाद्यकालीनद्व्यणुकारम्भकपरमाणुद्वयसंयोगजनकं कर्म। धृतिर्धारणं गुरुत्ववतो ब्रह्माण्डादेः पतनाभावः। आदिपदाद् ब्रह्माण्डादेर्नाशः। पदं घटादिसंप्रदायव्यवहारः। घटादिपदप्रयोगो वा। प्रत्ययो वेदजन्यं धर्मादिज्ञानम्। श्रुतिर्वेदः। वाक्यं पदसमूहः। संख्याविशेषः सर्गादौ परमाणुनिष्ठद्वित्वादिसंख्याजन्यं परिमाणमित्यादि। प्रयोगास्तु क्षित्यादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वाद् घटवत्। अन्ये तु जन्यत्वादित्यपि प्रयुञ्जते। तथा, क्षितिः, उपादानगोचरापरोक्षज्ञानोपायेच्छा तादृशकृतिजन्या, ज्ञानजन्या, इच्छाजन्या, कृतिजन्या वा, जन्यत्वाद् घटादिवदित्यपि। पूर्वोक्तं कर्म चेतनप्रयत्नपूर्वकं कर्मत्वाद् अस्मदादिशरीरजन्यक्रियावत्। उक्ता धृतिः,

रश्मिः ।

स्तदभावादित्यर्थः। कार्यमिति हेतुगर्भं विशेषणमिदं, कार्यत्वादित्यर्थः। अप्रसिद्धेत्यादि तादृशस्य कर्तुरप्रसिद्धत्वाज् जगतो विशेषणं कार्यं तदप्यप्रसिद्धमित्यर्थः। दृष्टान्तस्येति घटादेरित्यर्थः। तथा च दृष्टान्ताभाव इति भावः। नैयायिकानुमानानि सांख्यशास्त्रपराहतानीति वदन्तः सिद्धमाहुः अतो दर्शनेत्यादि। दर्शनं सांख्यशास्त्रम्। न प्रमाणान्तरेति शब्दादन्यत्प्रमाणं प्रमाणान्तरं ततोवसितं निश्चितं वस्तु ब्रह्मास्यं तत्साधर्म्यं कर्तृत्वादिना तत्प्रयुक्तो दोषः ज्ञानिनामपि श्रवणमात्रेण पातित्यं तस्य प्रसङ्गः।

इत्यादीति इत्यादि यथा स्यात्तथा व्याख्यातानि इति पूर्वेणान्वयः। तेन पदव्याख्यानत्वात् हेतुसमुदायपतितस्यायोजनस्य पक्षत्वेपि न क्षतिः। अन्ये त्वायोजनं कर्मेत्याहुः तेन न प्रायपाठविरोधः। गोपीनाथमौनी तु परमाणुः अपरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिविषयः कार्यात् कपालवत् इति यथाश्रुतं व्याचक्रे। अत्र हेतुतावच्छेदकसंबन्धः समवायः। उक्तानुमाने साधारण्यं मन्यमानानां विजातीयद्रव्यसमूहस्य पक्षत्वे पूर्वोक्तरीत्या कर्त्रैक्यदौर्घट्यादेकैकं द्रव्यं पक्षत्वेन प्रयुञ्जानानां च मतमाहुः अन्ये त्वित्यादि। जन्यत्वं जननशालित्वं तच्च ध्वंसप्रतियोगित्वशालित्वं स्वीकृतं चिकीर्षासत्त्वात् अंशतः साधारणत्वमतो जन्यत्वादित्यपि प्रयुञ्जते, ध्वंसस्य जन्यत्वात् तथाच ध्वंसे साधारणत्ववारणाय प्रयुञ्जत इत्यर्थः। अस्वरसस्तु पक्षे ध्वंसाप्रवेशः। तथात्वे सति पक्षे पक्षतावच्छेदकध्वंसाप्रवेशादाश्रयासिद्धमनुमानमिति। उपादानेत्यादि उपादानविषयकं यदपरोक्षज्ञानं उपायेच्छा उपादानविषयिणी कृतिश्च तज्जन्येत्यर्थः। कार्यमात्रं प्रति ज्ञानत्वेनेच्छात्वेन कृतित्वेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां पृथक्कारणत्वं यौगपद्यासंभवादित्याशयेनाहुः ज्ञानजन्येत्यादि। इत्यपीति प्रयुञ्जत इत्यन्वयः। पूर्वोक्तमिति सर्गाद्यकालिकद्व्यणुकारम्भकपरमाणुद्वयसंयोगजनकमित्यर्थः। उक्तेति गुरुत्ववद्ब्रह्माण्डादिपतनाभावात्मिकेत्यर्थः। पूर्वोक्तमिति वेदजन्यधर्मादिज्ञानरूपमित्यर्थः।

भाष्यप्रकाशः ।

चेतनप्रयत्नपूर्विका धृतित्वात् वियति विहङ्गमधृतिवत् । ब्रह्माण्डादि प्रयत्नवद्विनाश्यं विनाशित्वात् पाट्यमानपटवत् । उक्तव्यवहारः स्वतन्त्रप्रयोज्यः, व्यवहारत्वात् आधुनिकलिप्यादिव्यवहारवत् । पूर्वोक्तं ज्ञानं कारणगुणजन्यं प्रमात्वात् प्रत्यक्षादिप्रमावत् । वेदः पौरुषेयो वेदत्वात् यन्नैवं तन्नैवम्, आकाशवत् । वेदः पौरुषेयो वाक्यत्वात् भारतादिवत् । द्व्यणुकपरिमाणं संख्याजन्यं परिमाणप्रचयाजन्यत्वे सति जन्यपरिमाणत्वात् तुल्यपरिमाणकपालद्वयारब्धघटपरिमाणवदिति । अत्र प्रथमे प्रयोगे कर्तृजन्यत्वं तु स्वोपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमददृष्टाद्वारकजन्यत्वम् । अत्राऽदृष्टाद्वारकेतिविशेषणाच्च जीवात्मनिरूपितादृष्टद्वारकजन्यत्वेन सिद्धसाधनमर्थान्तरं वा । जीवानां क्षित्याद्युपादानीभूतपरमाण्वादिगोचरापरोक्षज्ञानाभावेन तज्जन्यत्वे बाधाच्च तैरपि तथा । नच क्षितिघटादिसाधारणस्यैकस्य साध्यस्याभावेन स्वपदार्थानुगमात् कथं व्याप्तिग्रह इति वाच्यम् । स्वपदार्थाननुगमस्यादोषत्वात् । अन्यथेच्छादिना ज्ञाना-

रश्मिः ।

परिमाणेत्यादि परिमाणं च प्रचयश्च परिमाणप्रचयौ ताभ्यामजन्यत्वे । प्रचयः शिथिलसंयोगः तज्जन्यं परिमाणं तूलकादौ । एवं च स्थलभेदेन परिमाणप्रचयसंख्याभिः परिमाणं जन्यते । कार्यत्वं प्रागभावप्रतियोगित्वम् । एवं सति पक्षे ध्वंसे ध्वंसप्रतियोगित्वशालित्वरूपं जन्यत्वाभावेन साध्याभाववति पक्षे तस्य लिङ्गस्य परिमाणस्य स्वोत्कृष्टपरिमाणजनकत्वनियमादेतादृशं परिमाणं नाणुपरिमाणजन्यं किंतु संख्याजन्यमित्याशयेन दृष्टान्तमाहुः **तुल्यपरिमाणे**त्यादि । तथाच तादृशपरिमाणं कपालपरिमाणादुत्कृष्टत्वाभावात्संख्याजन्यमिति भावः । **इती**ति एतस्याग्रे आश्रये सिद्धे द्व्यणुकपरिमाणजनिका संख्या अपेक्षाबुद्धिजन्या, एकत्वान्यसंख्यात्वात्, अयमेकोऽयमेक इमौ द्वौ इति द्वित्वसंख्यावदित्यनुमानेऽस्मदाद्यपेक्षाबुद्धिजन्यत्वबाधात्तदाश्रयत्वेनेश्वरसिद्धिरित्येतावती त्रुटिरत्रास्ति । तेन परिमाणप्रचयाजन्यत्वे सति जन्यपरिमाणत्वादित्यनुमानेनेश्वरासिद्धावपि न क्षतिः । न च द्व्यणुकपरिमाणं परिमाणजन्यमेवास्त्विति वाच्यम् । द्व्यणुकपरिमाणं न परिमाणजन्यं, अणुपरिमाणत्वात् परमाणुपरिमाणवदित्यनुमानेन तस्य परिमाणाजन्यत्वादित्यर्थः । **विशेषणा**दिति जन्यत्वविशेषणादित्यर्थः । **जीवे**ति जीवश्चोपास्यासिद्धात्मा तन्निरूपितेत्यादिः । **अर्थान्तरं वे**ति ईश्वरसाधने यतमानस्य जीवसिद्ध्यार्थान्तरमित्यर्थः । अत्र ज्ञानलक्षणासामान्यलक्षणायोगजधर्मैर्यत्किंचिदुपादानगोचरत्वविवक्षणेन च तादृशज्ञानादिमतां जीवानां कर्तृत्वान्न स्वोपादानेत्यादिविशेषणेन तद्धेतुत्वनिवृत्तिः । स्वोपादानेत्यादिविशेषणप्रयोजनमाह **जीवानामि**त्यादि । **तथे**ति । सिद्धसाधनमर्थान्तरं वेत्यर्थः । मीमांसकस्यानादिसृष्टिवादित्वात् तद्वारणायेदमुक्तम् । **अभावेने**ति घटादीनां कुलालादिकर्तृकत्वस्य प्रत्यक्षात् । **स्वपदार्थाननुगमात्** । स्वपदेन क्षित्यादिसंग्रहे दृष्टान्ते साध्यस्याभावेन घटादिसंग्रहे तु पक्षे तदभावेन पक्षनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिनः स्वोपादानेत्यादिसाध्यस्य हेतुः कार्यत्वमित्यनुपसंहारिकार्यत्वम् । तत्फलं च व्याप्तिज्ञानप्रतिबन्ध इति कथं व्याप्तिग्रह इत्यर्थः । न च तद्वन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिसाध्यकादित्वमनुपसंहारित्वम् । एवं च स्वपदेन घटादिग्रहवेलायां पक्षस्य साध्यस्याभावेन कथं तद्वन्निष्ठत्वमत्यन्ताभावस्येति शङ्क्यम् । स्वपदेन क्षित्यादिसंग्रहे तद्वत्त्वसत्त्वादिति । **अदोषत्वा**दिति इच्छादिना ज्ञानानुमाने यो यदिच्छावान् स तज्ज्ञानवानित्येवं व्याप्तिग्रहे यत्तत्पदाभ्यां विवक्षितमेव गृह्यते तदेवात्र स्वपदेनोक्तमिति प्रातिस्विकरूपेण व्याप्त्यग्रहेऽपि विवक्षितत्वेन रूपेणानुगमाददोषत्वादित्यर्थः । **अन्यथे**त्यादि तस्य दोषत्वे, अयं

भाष्यप्रकाशः ।

यनुमानं न स्यात् । स्वविशेष्यकस्वत्वप्रकारकज्ञानत्वादिनैव तत्र कार्यकारणभावात् । अत्र च सकर्तृकत्वादिसाध्यकानुमाने कर्तृत्वेनैव कारणता, ज्ञानजन्यादिसाधके च ज्ञानत्वादिना । एवं कार्यतापि कार्यत्वेन जन्यत्वेन च । नच शरीरगौरवेणाप्रयोजकत्वं शङ्क्यम् । अवच्छेदककोटौ घटत्वादीनां प्रवेशे आनन्त्यगौरवात्, ध्वंसस्य जन्यत्वेन तस्य च जन्याभावत्वेनावच्छेदकतया प्रवेशे शरीरगौरवाच्च । एवं तु विवक्षितविवेके जन्याभावस्यैकदेशस्य जन्यत्वस्यैव प्रवेश इति शरीरलाघवात् सामान्यलाघवादेकत्वलाघवात् कल्पनालाघवादुपस्थितिलाघवाच्च जन्यत्वेनैव कार्यता, न घटत्वादिना । कार्यत्वं च स्वसमवायिजन्यताख्येन परंपरासंबन्धेन कृतित्वमेवेति, न तत्रापि गौरवम् । नच विशिष्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां घटत्वकुलालत्वादिना विशिष्य-कार्यकारणभावस्यावश्यकत्वात् सर्वमेतद्विरुद्धमिति वाच्यम् । कार्यमात्रवृत्तीनां जातीनां कार्यतावच्छेदकत्वमिति सिद्धान्तसमुद्घोषात् । नचाङ्कुरादौ हेतोर्विपक्षगामित्वेनानैकान्तिकत्वं शङ्क्यम् ।

रश्मिः ।

स्वज्ञानवान् स्वेच्छावत्त्वात् देवदत्तवदित्यनुमानं न स्यादित्यर्थः । आदिशब्देन स्वेच्छावान् स्वयत्नाद् देवदत्तवत् । **स्वविशेष्यके**त्यादि आदिना स्वविशेष्यकस्वत्वप्रकारकेच्छात्वतादृशयत्नत्वे ग्राह्ये । अन्ये त्वेतद्दोषभिया स्वपदरहितं साध्यमङ्गीकुर्वन्ति तदुक्तं **अत्रे**त्यादि । पूर्वोक्तानुमानद्वयमध्य इत्यर्थः । सकर्तृकत्वं पर्यायत्वेनादिर्यस्य कर्तृजन्यत्वस्य तदादिसाध्यमस्मिन् अनुमाने । द्वितीयानुमान आहुः **ज्ञानजन्यादी**ति । आदिना इच्छाजन्या कृतिजन्येति साध्यद्वयम् । **एवमि**ति कारणतावदित्यर्थः । नन्वेवं सामान्यतः कार्यकारणभावे कार्यत्वं कृतिसाध्यत्वरूपं प्रागभावप्रतियोगित्वरूपं वा । जन्यत्वं जननशालित्वरूपं च कार्यतावच्छेदकद्वयं शरीरगौरवग्रस्तं कृतिसाध्यत्वस्य प्रागभावप्रतियोगित्वरूपत्वात् । जननशालित्वस्य ध्वंसप्रतियोगित्वशालित्वरूपत्वात् । कम्बुग्रीवादिमत्त्वरूपघटत्वेन कार्यतायां लाघवमित्याशङ्क्य निराकुर्वन्ति **न च शरीरे**त्यादि । **आनन्त्यगौरवा**दिति घटत्वपटत्वादीनामानन्त्यात् कार्यतावच्छेदकानन्त्येनानन्त्यगौरवादित्यर्थः । अन्यदपि साध्य आह **ध्वंसस्ये**त्यादि । **तस्य चे**ति ध्वंसस्य चेत्यर्थः । **अवच्छेदकतये**ति साध्यतावच्छेदकतया । **एवं त्वि**ति जन्यत्वेन रूपेण विवक्षितस्य हेतोर्विवरण इत्यर्थः । **विवक्षिते**ति कार्यता कार्यत्वेनैव चेत्तर्हि पूर्वोक्तसाधारण्यं, तन्निवृत्त्यर्थं जन्यत्वेनैव कार्यता तर्ह्याश्रयासिद्धिः पूर्वोक्तेति तदुभयनिवृत्तये कार्यता कार्यत्वजन्यत्वान्यतररूपेण विवक्षितेति विवक्षितविवेकस्तस्मिन् । **शरीरलाघवा**दित्यादि कार्यताव्यवच्छेदकशरीरलाघवात् कृतित्वेन जन्यत्वेन कार्यत्वेन च कार्यकारणभावे यत्र जन्यत्वं कार्यत्वं च तत्र कृतित्वमिति सामान्यव्याप्तिलाघवाद् घटत्वावच्छेदकानन्त्यापेक्षया सामान्यावच्छेदकैकत्वे लाघवादित्यर्थः । **कार्यत्वस्य** शरीरगौरवं परिहरन्ति **कार्यत्वं चे**त्यादि । स्वं कृतिस्तत्समवायी-आत्मा तज्जन्यत्वं यथा कार्यस्य तथा कृतेरपीति तादृशेन परंपरासंबन्धेनेत्यर्थः । **विरुद्धमि**ति अनावश्यकत्वादसंगतमित्यर्थः । **जातीना**मिति सामान्यानां धर्माणामित्यर्थः । **सिद्धान्ते**त्यादि तथा च कार्यत्वेन कर्तृत्वेन सामान्यकार्यकारणभावानङ्गीकारे कार्यमात्रवृत्तिमहापृथिवीत्वस्य कार्यतानवच्छेदकत्वप्रसङ्गेन सैद्धान्तिकनियमभङ्गापत्तिरिति तदभावाय सोऽप्यावश्यक इत्यर्थः । **विपक्षगामित्वेने**त्यादि हेतोरङ्कुरादौ साध्याभावव्द्गामित्वेन । क्षितिः कर्तृजन्या कार्यत्वादङ्कुरादिवदिति विरुद्धगर्भितसाधारणानैकान्तिकत्वमित्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

तत्र साध्यसंदेहस्यानन्याहितत्वेन तस्य पक्षसमत्वात् । नच शरीरजन्यत्वस्योपाधेर्विद्यमानत्वाच्छरीराजन्यत्वस्य प्रतिसाधनस्य सत्त्वाच साध्यसंदेहस्यान्याहितत्वेनानैकान्तिकत्वं सिद्धमिति शङ्क्यम् । कर्त्रादिजन्यतायामपि गुरुभूतस्य शरीरजन्यत्वस्यानवच्छेदकत्वाल्लघुभूतस्य जन्यत्वमात्रस्यैवावच्छेदकत्वेन तस्य च साधनव्यापकत्वेनानुपाधित्वे हेतोरदुष्टत्वात् । एवं च कर्त्रादिजन्यतायामिव शरीरजन्यतायामपि जन्यत्वस्यैवावच्छेदकत्वादीश्वरे नित्यज्ञानादिकमिव नित्यशरीरवत्त्वस्याप्यङ्गीकारेण प्रतिसाधनदोषस्याप्यभावात् । अनुमानं च, क्षित्यादिकं शरीरजन्यं जन्यत्वात् घटवत् । ईश्वरः शरीरी कर्तृत्वात् कुलालवदिति । अनुकूलतर्कश्चात्र कर्तृत्वजन्यत्वाभ्यामिव शरीरित्वजन्यत्वाभ्यामपि पूर्वोक्तयुक्तितुल्ययुक्तिकः कार्यकारणभाव एव । श्रुतिश्च, 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि, 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' इत्यादि, 'आकाशशरीरं ब्रह्म' इत्यादि च । श्रुतीनां चानुकूलतर्कविधया स्वतन्त्रतया च ब्रह्मणि प्रामाण्यमिति नवीनमतम् ।

सांप्रदायिकमते शरीरस्य कुलालशरीरत्वादिनैव कारणत्वं, नतु शरीरत्वेनेतीश्वरस्यानित्यं शरीरं लोकानुग्रहेण व्यवहारप्रवर्तनार्थम् । अतोऽस्मदाद्यदृष्टजनिते रामकृष्णादिनामके शरीरे भूतावेशन्यायेनावेशः । कार्यकरणानन्तरं च त्याग इति ।

अभिनवमते तु महेश्वरस्य विश्वमेव शरीरम् । तच्च नित्यानित्यपुञ्जघटितमित्यनित्यांशविरामेऽपि नित्यांशमादाय नित्यमेव । आकाशात्मकं च नित्यमेव । रामकृष्णादिनामकं त्वाविर्भावतिरोभावशालि भक्तानुग्रहेण कदाचित् क्वचिदाविर्भवति तिरोभवति च । अत एव तत्त्ववादिभिर्मूर्तमपि तन्नित्यं विभु वेत्यङ्गीक्रियते । सर्वत्र सर्वदा तथाभूतभक्तभावनया भक्तैः साक्षात्क्रियमाणत्वात् । तादृशसाक्षात्काराणां प्रमात्वे संभवति भ्रमत्वकल्पनस्यान्याय्यत्वात् । तदुक्तम्, औत्सर्गिकं धियां प्रमात्वमिति । विश्वात्मकं तु योगिप्रत्यक्षगम्यमपि विश्वरूपदर्शनादिषु श्रूयत

रश्मिः ।

साधारणानैकान्तिकत्वमात्रं वा । तत्रेत्यादि विपक्षे अङ्कुरादौ कर्तृजन्यत्वसंदेहस्य कर्त्रनुपलम्भमात्रोत्पन्नतयोपाधिसत्प्रतिपक्षादिदोषानाहितत्वेनाङ्कुरादेः पक्षसमत्वेन पक्षानतिरेकात् । उपाधेरिति घटादौ कर्तृजन्यत्वसाध्यवति शरीरजन्यत्वाभावाभावात्साध्यव्यापकत्वं क्षित्यादौ च साधनवति शरीरजन्यत्वाभाव इति साधनाव्यापकत्वं चात उपाधेरित्यर्थः । प्रतिसाधनस्येति क्षितिः कर्त्रजन्या शरीराजन्यत्वात् अङ्कुरादिवद् इति प्रतिसाधनस्येत्यर्थः । अनैकान्तिकत्वमिति अङ्कुरादेः पक्षसमत्वाभावेन तत्र साधारणानैकान्तिकत्वमित्यर्थः । गुरुभूतस्येति पदार्थान्तरप्रवेशेन गुरुभूतस्येत्यर्थः । तस्य चेत्यादि जन्यत्वस्य च जन्यत्वरूपसाधनव्यापकत्वेनेत्यर्थः । एवं चेति लाघवाज्जन्यत्वस्यैवावच्छेदकत्वे सतीत्यर्थः । अभावादिति तथाचैवं रामानुजोक्तं दूषणमपि निरस्तं भवतीत्यर्थः । रामानुजाचार्यैः सांख्यमवलम्ब्य दत्तं सत्कर्मसंबन्धिरूपं दूषणं परिहरन्ति श्रुतिश्चेत्यादि । लोकानुग्रहेणेति लोकानुसारेणेत्यर्थः । रामकृष्णादीति आदिपदेन महाक्षितिजनकत्वाय चतुर्मुखादिशरीरस्य संग्रहः ।

उक्ते मते उक्तानां शरीराणां जन्यत्वादशरीरस्येश्वरस्य तदकर्तृत्वापत्त्या व्यवहारप्रवर्तकत्वासंभवात् सांप्रदायिकमतं विहायाभिनवमतं वदन्ति अभिनवेत्यादि । तत्त्ववादिभिरिति कृष्णानुसारिभिः 'तत्त्वान्युक्तानि मे नव' इत्येकादशे । 'भूमिरापोऽनलः' इति गीतायाम् । औत्सर्गिक-

भाष्यप्रकाशः ।

एव सहस्रशः । एवं श्रुत्यादिभिः शरीरेऽङ्गीकृते तदनुसारिसकर्तृकत्वानुमानं निर्दुष्टमेव । एवमेकेनेश्वरेण सकलक्षित्यादिकार्यसंभवे सति प्रमाणाभावात् गौरवाच्च नानेकेश्वरसिद्धिः । किंचानेकेश्वराङ्गीकारे तेषामैकमत्यं वैमत्यं वा स्यात् । तत्राद्ये स्वातन्त्र्याभावादैश्वर्यहानिः । द्वितीये तु कार्यासिद्धिरिति कार्यदर्शनात्, 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिभ्यस्तादृशैः पुराणैश्चैकस्यैव सिद्धिरिति न पूर्वोक्तं किमपि दूषणम् । एवमेकेश्वरसिद्धौ कर्मत्वादिलिङ्गकान्यप्यनुमानानि तमेकमेव साधयन्तीति न कोऽपि क्वापि दोष इति मैथिलभवदेवमिश्राः ।

ज्ञानेन्द्रभिक्षुस्तु, बुद्धिप्रभृतिकार्यम्, उपादानगोचरप्रत्यक्षजन्यं कार्यत्वात् घटादिवत् । यदि चोपादानगोचरापरोक्षवृत्तेरेव कार्यहेतुत्वं लाघवात् । न तु चैतन्यस्य गौरवादिति । तदा तु

रश्मिः ।

मिति धियां ज्ञानानां प्रमात्वमौत्सर्गिकं स्वाभाविकं भ्रमत्वादि त्वनौत्सर्गिकमित्यर्थः । पुञ्जान्मदशक्तिवददृष्टपुञ्जात्क्षित्यादिकार्याङ्गीकारे बाधकमाह किं चानेकेत्यादि । साधयन्तीति । न चान्तिमस्येश्वरासाधकत्वं शङ्क्यम् । तेन द्व्यणुकपरिमाणस्य संख्याजन्यत्वे सिद्धे द्व्यणुकपरिमाणजनिका संख्याऽपेक्षाबुद्धिजन्या एकत्वान्यसंख्यात्वात् । अयमेकः अयमेकः इमौ द्वौ इति द्वित्वसंख्यावत् इत्यस्मदाद्यपेक्षाबुद्धिजन्यत्वबाधात्तदाश्रयत्वेनेश्वरसिद्धेः । न च द्व्यणुकपरिमाणं परिमाणजन्यमेवास्तु इति वाच्यम् । द्व्यणुकपरिमाणं न परिमाणजन्यं अणुपरिमाणत्वात् परमाणुपरिमाणवदित्यनुमानेन तस्य परिमाणाजन्यत्वात् । मैथिलभवदेवमिश्रा इति । एवमेतेषु मतेषु कार्यत्वलिङ्गकानुमाने शरीराजन्यत्वस्य दूषणस्य प्रबलत्वात्तत्परिहारायेश्वरे सशरीरत्वमावश्यकम् । शरीरस्यापि नित्यानित्यविकल्पकृतदोषपरिहाराय श्रुत्यालम्बनमावश्यकम् । अन्यथा नैयायिकादिभिरपि न तेनेश्वरसिद्धिरिति बोध्यम् । उपादानेत्यादि प्रकृते उपादानं प्रकृत्यंशरजःसत्त्वं तत्र तद्विषयकं प्रत्यक्षं यस्य तज्जन्यमित्यर्थः । तादृशप्रत्यक्षाश्रयत्वेनेश्वरसिद्धिरिति भावः । यदि चेति उपादानगोचरापरोक्षं च तद्वृत्तिः कर्मधारयः । चैतन्यस्येति उक्तप्रत्यक्षाश्रयत्वेनाक्षेप्यस्य बहुव्रीहिप्रासस्य वा । गौरवादिति उपादानगोचरप्रत्यक्षाश्रयत्वस्य साध्यतावच्छेदकत्वे शरीरगौरवादित्यर्थः । अत्र विभाव्यते इति शेषः । तथा चानेनानुमानेनोपादानगोचरप्रत्यक्षकृतिसिद्धेर्नेश्वरसिद्धिरिति भावः । कार्यहेतुत्वमिति कार्यं कार्यत्वं हेतुर्यस्येति तथोक्तम् । कार्यायोजनेति कारिकया कार्यपदं दत्तम् । यद्यपि तादृशप्रत्यक्षाश्रयत्वेनेश्वरसिद्धिरनुमानान्तरेण भवति तथापि प्रकारान्तरेण साधनायानुमानान्तरमाह तदा त्वित्यादि । न च स्वरूपासिद्धिरत्रेति वाच्यम् । उपादानगोचरप्रत्यक्षं साधिष्ठानं गुणत्वाद् रूपादिवदित्यनुमानेन तदधिष्ठानसिद्धौ तादृशाधिष्ठानं जन्यं कार्यत्वात् घटवदित्यनुमानेन तद्वारणसंभवादेवं चोपादानगोचरप्रत्यक्षपदं तादृशाधिष्ठाने गौणम् । उपादानगोचरप्रत्यक्षाधिष्ठानवृत्तीच्छाकृतिमज्जन्यत्वादिति हेतुः । वृत्तिः पदार्थान्तररूपा नात्र । नन्वेवमपि प्रकृतिसिद्धासङ्गपुरुषे व्याप्यत्वाभिमतस्य पक्षेऽभावः स्वरूपासिद्धिः । यथा ह्रदो द्रव्यं धूमादित्यत्र ह्रदे धूमाभावः । 'अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्' इति गीतोक्तेः स्वरूपासिद्धिस्तदवस्थेति चेन्न, उपादानगोचरप्रत्यक्षवृत्तीच्छाकृतिमत्त्वस्य समवायसमवाय्युपरागान्यतरसंबन्धेन विवक्षितत्वात् । न चैवमपीश्वरे हेतोः साध्याभाववद्वृत्तित्वेन साधारण्यमिति वाच्यम् । स्वरूपासिद्धिनिवृत्तिमात्रप्रयोजनकत्वेन वृत्त्यनियामकसंबन्धस्य तत्र साधारण्यसंपादकत्वाभावात् । व्याप्तिग्रहवेलायां

अन्ये पुनः श्रुत्यनुवादकमाहुः । सर्वज्ञत्वाय श्रुत्यनुसार्यनुमानं च ब्रह्मणि प्रमाणमिति ।

तत्तु, 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति केवलोपनिषद्वेद्यत्वादुपेक्ष्यम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

बुद्ध्यादीनि सकारणकानि, उपादानगोचरप्रत्यक्षवृत्तीच्छाकृतिमज्जन्यत्वाद् घटादिवदित्येवं कारणीभूतसत्त्वस्य सिद्ध्यनन्तरं, तत्कारणसत्त्वं परस्य भोग्यम्, इच्छादिमत्त्वाज्जीवोपाधिवदिति कारणसत्त्वभोक्तृतयेश्वरोऽनुमेय इत्याह ।

एवं चाभिनवोक्तरीत्याऽनुमानस्य श्रुत्यनुसारित्वेन प्रामाण्याद् व्यासचरणानां च श्रुत्यर्थनिर्णयाय प्रवृत्तत्वात् सूत्रमनुमानोपष्टम्भकश्रुत्यनुवादकम् । अनुमानस्य ब्रह्मणि प्रामाण्येऽनङ्गीकृते, यतो वेत्यादिश्रुतौ केवलं कर्तृत्वस्योक्तत्वादुपादानादिगोचरापरोक्षज्ञानवत्त्वस्यासिद्धेः । अङ्गीकृते तु तस्मिन् कर्तृत्वस्योक्तज्ञानव्याप्तत्वात् सुखेन सर्वज्ञत्वस्य सिद्धेरिति ।

द्वितीयं मतमनुवदन्ति अन्य इत्यादि । तदुभयमेकहेलया दूषयन्ति तत्त्वित्यादि । अयमर्थः । बृहदारण्यके शाकल्यब्राह्मणे उदानप्रतिष्ठोत्तरश्रवणानन्तरं तूष्णींभूते शाकल्ये तं प्रति याज्ञवल्क्येन, 'स एष नेति नेत्यात्मा अगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गोऽसितो न सज्जने न व्यथत इत्येतान्यष्टावायतनान्यष्टौ लोका अष्टौ पुरुषाः स यस्तान् पुरुषान् व्युदुह्य प्रत्युह्यात्यक्रामीत् तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति वाक्ये मूर्तामूर्तब्राह्मणवदेतावत्तादिनिषेधपूर्वकं

रश्मिः ।

गौणमुख्यन्यायेन समवायस्यैव ग्रहणात् । इत्याहेति सांख्यादिमतमवलम्ब्याहेत्यर्थः । नैयायिकस्यान्येषां च मतेन भाष्ये यत्सिद्धं तत्सिद्धान्ते यादृक् तादृशं वक्तुमाहुः एवं चेति । अयमर्थः । भाष्ये केचिदिति नैयायिकमतमुक्त्वान्येषां मतोक्तौ संगत्यर्थं प्रकाश एवं चेत्युक्तम् । शुष्कानुमानिकपक्षस्य वेदान्तानुपयोगस्य द्वितीयाध्यायद्वितीयपादे वक्ष्यमाणत्वात् । तथा च एवं चेत्यस्य शुष्कानुमानोक्तौ सत्यां चेत्यर्थः । वेदान्तापेक्षायामन्यमतेऽभिनवोक्तरीत्या श्रुतिप्रवेशाय हेतुभाष्यस्य श्रुत्यनुसार्यनुमानमित्यादेरर्थः प्रामाण्यादित्यन्तेन प्रकाशेनोक्तः । इतिर्हेतौ व्याकृतः । श्रुत्यनुवादकमिति भाष्यं तु व्यासेत्यादिप्रकाशेन व्याकृतम् । आहुरित्यत्रान्वेति । अनुमानस्येत्यादिप्रकाशेन सर्वज्ञेत्यादि भाष्यं व्याकृतम् । कर्तृत्वस्येति ईश्वरः उपादानादिगोचरापरोक्षज्ञानवान् कर्तृत्वात् कुलालवदित्येवं कर्तृत्वस्योक्तज्ञानव्याप्तत्वं तस्मात् । उक्तज्ञानेति उपादानादिगोचरापरोक्षज्ञानवान् कर्तृत्वात् इत्येवमुक्तज्ञानव्याप्तत्वात् । इति द्वितीयमिति एवंप्रकारकं द्वितीयमित्यर्थः । एकहेलयेति एकेनावज्ञानेन विलासेन वेत्यर्थः । तदित्थं पूर्वोक्तेषु मतेषु कार्यत्वलिङ्गकानुमाने शरीराजन्यत्वस्य दूषणस्य प्रबलत्वात् तत्परिहारायेश्वरे सशरीरत्वमावश्यकम् । शरीरस्यापि नित्यानित्यविकल्पकृतदोषपरिहाराय श्रुत्यालम्बनमावश्यकम्, अन्यथा महानैयायिकादिभिरपि न तेनेश्वरसिद्धिरिति । अत उक्तं भाष्ये उपेक्ष्यमिति । उदानेत्यादि कस्मिन्नूदानः प्रतिष्ठितः इति समान इति उदानप्रतिष्ठोत्तरश्रवणानन्तरमित्यर्थः । अत्रापि समानोन्तर्यामिणि प्रतिष्ठितः सोऽप्यक्षर इत्यर्थस्योन्नेयत्वाद् ब्रह्मणः स्वरूपमाहेत्याशयेन व्याकुर्वन्ति मूर्तामूर्तेत्यादि । मूर्तामूर्तब्राह्मणे हि मूर्तामूर्ते ब्रह्मणो रूपे उक्त्वोच्यते 'अथात आदेशो नेति नेति' इति तत्र निषेधो 'द्वे वा व ब्रह्मणो रूपे' इति षष्ठ्या श्रावितस्य भेदस्य रूपद्वयनिराकरणे 'सर्वतः पाणिपादं तत्' इत्यादयो विरुध्येरन् । तथाच रूपद्वयं ब्रह्मैव न तु ब्रह्मण इति सिद्ध्यति । तद्वदत्रापि नेति नेत्यनेन

भाष्यप्रकाशः ।

करणाद्यग्राह्यो नित्योऽसङ्गो निर्दुःखः शारीराद्यानष्टौ पुरुषान् पृथिव्याद्यायतनेषु तत्तल्लोकेषु च विशेषेणोच्चैः स्थापयित्वा पुनस्तत उपसंहृत्य, योऽतिक्रान्तवानेतादृश उपनिषद्वेद्यः पुरुषः पृष्टः । तत्रागृह्यपदे यदि केवलेन्द्रियाग्राह्यत्वं विवक्षितं भवेत् तदानुमानादिनापि वेद्यत्वादौपनिषदपदमनतिप्रयोजनं स्यादतस्तत्र यावत्प्रमाणागोचरत्वमेवास्थेयम् । तथासत्यौपनिषदपदे(न) प्रतिप्रसव एवोपनिषदा सिद्ध्यतीति ब्रह्मणः केवलोपनिषद्वेद्यत्वमेव श्रुतिविवक्षितम् ।

यत्तु भैक्षवे, उपनिषन्मूलप्रमाणकमुपनिषन्महातात्पर्यविषयं वा औपनिषदं, 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति', 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' इतिश्रुतिस्मृतिभ्यामित्युक्तम् । तस्मिन्नपि पक्षे अगृह्यपदोक्तप्रतिषेधस्य तुल्यत्वान्नैतः कोऽपि विशेषः सिद्ध्यति । किंतूक्तश्रुतिस्मृत्योर्मध्ये वेदपदात् पूर्वकाण्डवेद्यत्वमात्रमधिकमायातीत्यगृह्यपदविरोधः पूर्ववदेव । नचाधिकागमने केवलोपनिषद्वेद्यत्वहानिः शङ्क्या । 'सर्वे वेदाः' इतिवाक्यस्याप्यौपनिषदत्वेन 'मनसैवानुद्रष्टव्य' इत्युक्तमनोवेद्यत्ववत् सर्ववेदवेद्यत्वस्याप्युपनिषन्मात्रसिद्धत्वात् । एवं च मनसोऽपि श्रुत्युक्तसाधनैः शुद्धत्व एव दर्शनकरणत्वं, वेदानामपि वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थानामेव वेदनकरणत्वमित्युपनिषद एव मूलप्रमाणत्वमिति, न केवलोपनिषद्वेद्यत्वहानिः । अतः प्रमाणान्तरावेद्यत्वात् सूत्रस्यानुमानत्वकथनमप्रयोजकम् । श्रुतिविचारार्थमेव सूत्रकृतः प्रवृत्तेरिति । एतदेवाभिप्रेत्य भट्टभास्करादिभिरनुमानानि दूषितानीति युक्त्या विचारे ईश्वरपक्षकं पूर्वोक्तमितरव्यतिरिक्तसाध्यकानुमानमप्याश्रयासिद्धमेव ।

अथ नव्याभिनववादिमतमालम्ब्य शरीरिण ईश्वरस्य कर्तृत्वमङ्गीक्रियते तदापि नानुमानस्य श्रुत्यनुसारित्वम् । कर्तृत्वनिर्वाहकतयाज्ञानादिवच्छरीरस्यापि जगत्पूर्ववर्तिताया आवश्य-

रश्मिः ।

पूर्वोक्तैतावत्त्वनिषेधपूर्वकमित्यर्थः । शारीराद्यानित्यादि शारीरादित्यस्थवायुस्थचन्द्रस्थाग्निस्थच्छायामयाप्प्रतिष्ठपुत्रमयान्पुरुषान् पृथिवीरूपाकाशकामतेजस्तमोरेतोरूपेष्वायतनेषु 'पृथिव्येव यस्यायतनं रूपाण्येव यस्यायतनं' इत्यादिश्रुतिभिः तत्तल्लोकेषु चक्षूरूपेषु सर्वत्र चक्षुर्लोक इति श्रावणात् । अग्निर्लोक इत्यादिपाठे तु अग्न्यादिरूपेषु व्युदुह्य विशेषेणोच्चैः स्थापयित्वा प्रत्यूह्य पुनस्तत उपसंहृत्य अत्यक्रामीद्योऽतिक्रान्तवानित्यर्थः । अगृह्यः करणागोचर इति व्याख्यां दूषयितुमाहुः तत्रागृह्येत्यादि । तत्र यावदिति अगृह्यपद इत्यर्थः । तुल्यत्वादित्यादि केवलेन्द्रियाग्राह्यत्वपरत्वेन तुल्यत्वान्न शांकरव्याख्यानतः कोपि विशेषः सिद्ध्यतीत्यर्थः । पूर्ववदेवेति अनुमानादिवेद्यत्वेनौपनिषदमनतिप्रयोजनं स्यादतोगृह्यपदविरोध औपनिषदपदेनेति तादृशविरोधपराकरणायास्मदुक्त एवार्थ इत्यर्थः । श्रुतिस्मृत्योर्विरोधं सिद्धान्ते पराकुर्वन्ति न चाधिकेत्यादि । मनसैवेत्यादि मनसैव भक्तिभावनादेस्तु पश्चाद्धृदयादौ द्रष्टव्योऽयमर्थः । अप्रयोजकमिति शुष्कानुमानस्य तर्कत्वेपि वेदयुक्तित्वाभावेन मीमांसातर्कत्वे न तु प्रयोजकम् । पूर्वोक्तमिति वैशेषिकमतोपन्याससमाप्तिस्थल उक्तम् । आश्रयासिद्धमिति पृथ्वीत्ववदीश्वर इति पक्षे पृथिवीत्ववत्त्वरूपपक्षतावच्छेदकाभावात् । काञ्चनमय-

भाष्यप्रकाशः ।

कत्वेन तदानींतनस्य तस्य नित्यानित्यपुञ्जात्मकविश्वरूपरूपताया वक्तुमशक्यत्वात् । नच नित्यांशमादाय सिद्धिः । तेषां नानात्वेन तेषु शरीरत्वस्य प्रत्येकपर्याप्त्या तद्धर्मैः सूक्ष्मत्वानवयवत्वादिभिर्जगत्करणप्रतिबन्धापत्तेः । नच नित्यपुञ्जात्मकमेव तदङ्गीकार्यमिति वाच्यम् । यस्य पृथिवी शरीरमित्यादौ पृथिव्यादिगतैकत्वव्याकोपात् । 'सर्वतः पाणिपादं तत्'इत्यादिविरोधापत्तेः । सृष्टिप्रकरणेषु सच्चिदानन्दातिरिक्ततदनुक्त्या तद्विरोधापत्तेश्च । अतो नव्यादिमतीयानुमानस्यापि न श्रुत्यनुसारित्वम् । एतेनैव भैक्षवमपि दत्तोत्तरम् । प्रथमानुमानस्य नैयायिकतुल्यकक्षत्वात् । द्वितीयेऽपि प्रयोगे यदालम्ब्य सत्त्वस्य कारणत्वेन सिद्धिः क्रियते तेषु प्रकरणेषु सत्त्वस्य सर्वकारणताया अनिश्चायितत्वेनानुमानस्याप्रयोजकत्वात् । नच स्मृत्या तत्परिहरणीयमिति वाच्यम् । श्रुतिविरुद्धायास्तस्या एवानादरणीयत्वात् । मैत्रायणीयश्रुतौ, 'तमो वा इदमग्र आसीदेकं तत्परे स्यात् तत्परेणेरितं विषमत्वं प्रयात्येतद्रूपं वै रजस्तद्रजः खल्वीरितं विषमत्वं प्रयात्येतद्वै सत्त्वस्य रूपम्' इत्येवं परप्रेरणेन रजसः सत्त्वस्य च भवनकथनात् । तृतीयेऽपि प्रयोगे सत्त्वस्य परभोग्यत्वेनोपाधित्वाङ्गीकारात् तदुत्पत्तेः पूर्वं परस्य निरुपाधिकत्वेनेच्छाद्यभावात् प्रेरणस्याप्यसंभवापत्तेः । नैयायिकादिवन्नित्यज्ञानेच्छादीनामीश्वरसमवेतत्वाङ्गीकारे शरीराभावप्रयुक्तदोषतादवस्थ्यात्, सांख्यादिमतालम्बनाडम्बरवैयर्थ्याच्च । अतः श्रुत्यनुसारित्वाभावान्नानुमानं ब्रह्मप्रमितिजननायालम् । नापि योगिप्रत्यक्षम् । 'विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम्' इति द्वितीयस्कन्धवाक्यात् । 'यमेवैष वृणुते' इति, 'धातुः प्रसादात्'इति श्रुतेश्च । नच गीतोक्तविश्वरूपदर्शनादिविरोधः । तस्य मूलरूपत्वाभावात् । कालोऽस्मीति तत्रैव निर्धारणात् । तत्रापि, 'रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्' इति वाक्येन तस्यापि भगवद्बलेनैव दर्शनेन योगस्याप्रयोजकत्वाच्च । उपपत्तेश्चेत्यादौ यदुपपत्त्युपन्यसनं, तदपि न ब्रह्मस्वरूपज्ञापकतया, किंतु हेत्वाभासैः परान्तरशङ्कानिरासकतयेति वक्ष्यते ।

रश्मिः ।

पर्वत इतिपक्षे काञ्चनमयत्ववत् । अशक्यत्वादिति अनुत्पन्नतया तथात्वादित्यर्थः । सिद्धिरिति तदानींतनशरीरसिद्धिरित्यर्थः । सूक्ष्मेति आदिशब्देनैक्यभ्रमजनकत्वम् । नित्यपुञ्जात्मकमिति । ननु प्रत्येकपर्याप्त्येत्यर्थः । एवं सति श्रुत्यनुसारित्वमुद्घोषयतस्तव शरीरत्वस्य प्रत्येकपर्याप्तिबोधकश्रुतिविरोध इत्याहुः यस्य पृथिवीत्यादि । सच्चिदित्यादि । एतदतिरिक्तशरीरानुक्त्येत्यर्थः । नैयायिकेत्यादि बुद्धिप्रभृति कार्यं नोपादानगोचरप्रत्यक्षजन्यं कार्यत्वादङ्कुरवत्, इति साधारणविरुद्धत्वाभ्यां हेतोस्तथेत्यर्थः । यदालम्ब्येति सांख्यमालम्ब्येत्यर्थः । अप्रयोजकत्वादिति निश्चितसर्वकारणताकसत्त्वातिरिक्तकारणसिद्ध्याप्रयोजकत्वादित्यर्थः । स्मृत्येति 'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः' इति स्मृत्या । तदुत्पत्तेरिति सत्त्वोत्पत्तेरित्यर्थः । इच्छाद्यभावादिति आदिना ज्ञानयत्नौ । प्रेरणस्येति सत्त्वप्रयोजकस्य तमसः प्रेरणस्येत्यर्थः । द्वितीयेत्यादि तथाच 'अनागतमतीतं च' इत्यत्रापि ब्रह्मभिन्नमिति वाच्यमिति भावः । कालोऽस्मीति श्वेताश्वतरे 'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा' इत्यत्राचिन्त्यत्वेनोक्तोऽस्मीति तात्पर्येण कालकर्मस्वभावशक्तिषु श्रीभागवतोक्तासु निवेशात् । ननु 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यत्राद्वितीयत्वाय कालस्यापि ब्रह्मत्वसाधनेपि काल उपदेश इति धातुपाठप्रयोग आवश्यकः सिद्धान्त इति कथमेवमिति चेत्तत्राहुः तत्रापीत्यादि । अप्रयोजकत्वादिति उपदेशस्य शक्तिपरत्वेपि

भाष्यप्रकाशः ।

'आचारदर्शनात्' इति सूत्रं तु कर्मविषये, न तु ब्रह्मविषय इति न किंचिदेतत् । अतस्तदुपेक्ष्यमेव ।

ननु श्रुत्युक्तं सच्चिदानन्दात्मकं शरीरमङ्गीकृत्यानुमानदोषनिरासे दोषाभावात् कथमुपेक्ष्यत्वमित्यत आहुः अनधीत्यादि । तथाच सिद्धसाधनत्वाच्छ्रुत्युक्तसकलविशेषविषयकप्रमित्यजनकत्वाच्चाप्रामाण्यमित्यर्थः । ननु 'मन्तव्यः' इति श्रुत्या मननं विहितम् । तच्च युक्तिभिरनुचिन्तनम् । युक्तयश्चानुमानरूपा इति श्रुत्यनुकूलानुमानस्य प्रामाण्यं श्रुत्यैव बोध्यत इति कथं पूर्वोक्तमतस्योपेक्ष्यत्वमुच्यत इत्याशङ्कायामाहुः मननेत्यादि । तथाच मननादेरङ्गत्वबोधनादनुमानादेः सहकारित्वं न निवार्यते, किंतु करणत्वमतस्तदंशे उपेक्ष्यत्वम् नच सर्वज्ञत्वासिद्धिः । विपश्चिच्छ्रुतेः 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इति श्रुत्यन्तराच्च तत्सिद्धेरिति 'उपपत्तेश्च' इत्यादिसूत्रेष्वप्यत एव

रश्मिः ।

संभवेन मूलरूपत्वसाधनेऽप्रयोजकत्वात् । अतस्तदिति नैयायिकतुल्यत्वाद् भैक्षवमपीत्यर्थः । शरीरमिति आनन्दस्याकारसमर्पकत्वात्तथा । सिद्धसाधनत्वादित्यादि श्रुतिसिद्धानां साधनत्वाद्धेतुष्वनुमानानां च श्रुत्युक्तसकलविषयकप्रमित्यजनकत्वाच्चाप्रामाण्यमत् उपेक्ष्यत्वमित्यर्थः । इदं च लक्षणं वाक्यमात्रप्रामाण्यापेक्षं तेन गगनकुसुममित्यादौ वाक्येऽप्रमाणे नातिव्याप्तिः । तेनेश्वरसिद्ध्यधीनं वेदप्रामाण्यं वेदप्रामाण्याधीनेश्वरसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयोपि व्याख्यातः । आप्तोक्तं वाक्यं प्रमाणमितिलक्षण एव तत्प्रसरात् । प्रमाणेन शब्देन श्रोत्रेण वानधिगतस्य स्वर्गादिसाधनत्वस्य यागादावर्थस्य गन्तृत्वमर्थविषयकप्रमाकरणत्वात् प्रापकत्वम् । न चैवं वैयाकरणव्युत्पत्तिविरोधः । प्रमीयते अनेनेति प्रमाणमिति करणे ल्युट् । ननु प्रमाकरणं प्रमाणमिति प्रसिद्धलक्षणं कुतो नादृतम् । अन्योन्याश्रयान्नादृतमिति चेद्धारणया वृत्त्यानुगमिष्यतीति चेन्न । तस्य व्याकरणादिप्रसिद्धत्वेऽपि 'परोक्षवादो वेदोयम्' इति 'परोक्षं च मम प्रियम्' इति च कथनादनधिगतार्थस्य परोक्षत्वात् । न च फलांशे परोक्षवादो यथा 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यत्रात्मसुखमादाय स्वर्गपदेऽर्थ इति वाच्यम् । निबन्धटीकाया विष्णुस्वामिमतीयत्वाद् एतस्यैकादशसुबोधिनीमतत्वादोम् । मननमित्यादीति श्रुतौ श्रवणं नाम भगवद्वाचकपदवाक्यानां ब्रह्मणि शक्तितात्पर्यनिर्धारः । स च मनननिदिध्यासने विना न संभवतीति श्रवणाङ्गत्वं निदिध्यासनद्वारा मननस्येत्यर्थः । अथवा मनननिदिध्यासननिरूपितं श्रवणस्याङ्गत्वम् । स्मरणं हि मननं श्रुतस्य भवतीति श्रवणमननयोः कार्यकारणभावबोधकस्मर्यमाणसूत्रभाष्यात् । न तु मननमात्राङ्गत्वं श्रवणनिदिध्यासनयोरतो निदिध्यासनाङ्गं मननं न विरुद्धमित्यर्थः । न चैवं मननस्य निदिध्यासनाङ्गत्वमित्येवं भाष्येऽत्र तु मनननिदिध्यासनयोः श्रवणाङ्गत्वमितीति युक्तम् । श्रवणानन्तरं मननं पुनश्च श्रवणं निदिध्यासनं चेत्यर्थद्वारा निदिध्यासनदार्ढ्ये तात्पर्यात् तावन्मात्रोक्ते साधनसरण्या तात्पर्याज्ञानात् । द्वितीयपादेऽप्येवं वक्ष्यन्ति सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशाधिकरणे । तदंश इति करणत्वाभ्युपगमांशे इत्यर्थः । एतेन —

'अत्र मां मार्गयन्त्यद्धा युक्ता हेतुभिरीश्वरम् ।
गृह्यमाणगुणैर्लिङ्गैरग्राह्यमनुमानतः' ॥

इति श्रीभागवतवाक्यमपि व्याख्यातम् । अत एवेत्यादि साधनाध्याये द्वितीयपादे सहकारि-

संदेहवारकत्वाच्छास्त्रस्यापि तदङ्गत्वमिति ॥ २ ॥

इति प्रथमाध्याये प्रथमपादे द्वितीयं जन्माद्यधिकरणम् ॥ २ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

तन्निर्देशो, न तु करणत्वेनेत्यर्थः । एतदेवोपकारकत्वं स्मृत्यादिष्वपीत्यतिदेशमाहुः संदेहेत्यादि । तदङ्गत्वमिति मननाङ्गत्वम् । अत एव, 'स्मृतेश्च' इत्यादिसूत्राणि ।

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं चालयिष्यति' ॥

॥ इत्यादिवाक्यानि च । एतस्यैव निष्कर्षो निबन्ध उक्तः ।

'वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि ।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम् ।
उत्तरं पूर्वसंदेहवारकं परिकीर्तितम्' ॥

इति । तथाच संदेहवारकतया कल्पसूत्रवद् व्याख्यानरूपत्वान्नानुवादकत्वमित्यर्थः । कारिकार्थस्तु तद्विवरणग्रन्थाद् बोध्यः ।

इति द्वितीयं जन्माद्यधिकरणम् ॥ २ ॥

एवं जिज्ञास्यस्य ब्रह्मणो लक्षणं तत्र प्रमाणं च निर्णीय तस्य किं ब्रह्मणः कारणतामात्रे तात्पर्यमुत तत्तद्विशेषविशिष्टायां तस्यामिति संशयमपनेतुमग्रिममधिकरणमित्याशयेन तदवतारयन्ति

रश्मिः ।

त्वादेव शुक्तिनिर्देश इत्यर्थः । स्मृत्यादिष्विति । आदिशब्देन मीमांसा । तदङ्गत्वमितीति शास्त्रस्य मीमांसारूपस्यापि श्रवणाङ्गत्वं भाष्यात् । अपिशब्देनेतिहासपुराणे । तत्पक्षे तदङ्गत्वपदार्थमाहुः मननाङ्गत्वमिति । स्मृतेश्चेति इमानि सूत्राणि द्वितीयपादे वक्ष्यन्ते, स्मृतिर्मीमांसारूपापि । चैव हीति चकारेण जैमिनिस्मृतिः । संदेहेत्यादिभाष्यनिष्कर्षमाहुः तथा चेत्यादि । नानुवादकत्वमिति स्मृतिशास्त्रस्य जन्मादिसूत्रस्य वा नानुमानोपष्टम्भकश्रुत्यर्थानुवादकत्वमित्यर्थः । तद्विवरणेत्यादि तत्त्वदीपावरणभङ्गाच्चेत्यर्थः । तत्र ननु चतुर्णां कोपयोगः एकेनैव चरितार्थत्वाच्चेत्याशङ्क्याहुः उत्तरमित्यादि उत्तरोत्तरं पूर्वपूर्वस्य संदेहवारकं प्रकर्षेण कीर्तितम् । यथा 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' इत्यत्र किं प्राकृतपाणिरहितं ब्रह्म आहोस्वित् सामान्यनिषेध इति संदेहे सर्वतःपाणिपादान्तमित्यादि गीतावाक्यं निर्णायकं, तथा गीतायां 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः' 'ममैवांशो जीवलोके' इत्यादिषु संदेहे सूत्रैर्निर्णयः । 'उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्' इत्यादिभिः । तथा 'जन्माद्यस्य यतः' इति संदेहे 'अन्वयव्यतिरेकतः' इति भागवतेन, निर्णय इति तत्त्वदीपे । उत्क्रान्त्यादिसूत्रैरंशत्वनिर्णयः अन्वयव्यतिरेकत इति । श्रीभागवतवाक्ययोः 'अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात् सर्वत्र सर्वदा' 'समन्वयेन व्यतिरेकतश्च' इति द्वितीयैकादशस्थयोरर्थकथनम् । तथाचैतयोर्वाक्ययोर्जन्मादिसूत्रे शबलस्य ब्रह्मणो वा कार्यलक्षणमिति संदेहे निर्णायकत्वमित्यावरणभङ्गे । 'जन्माद्यस्य यतोन्वयादितरतः' इति वाक्यमपि संग्रहीतुं शक्यम् । तदुक्तं कौर्म्ये 'न च वेदादृते किंचिच्छास्त्रं ब्रह्माभिधायकम्' इति ।

॥ इति द्वितीयं जन्माद्यधिकरणम् ॥ २ ॥

प्रसङ्गसंगत्या हेतुतासंगत्या वाधिकरणमवतारयन्ति एवमित्यादि । तस्येति लक्षणस्येत्यर्थः । तद्विशेषेत्यादि तत्तद्विशेषः समवायित्वनिमित्तत्वकर्तृत्वरूपस्तद्विशिष्टायां कारणतायामित्यर्थः ।

तत्रैतत् स्यात् । तत्र किं समवायि निमित्तं कर्तृ वा । किमतो यद्येवम् । एवमेतत् स्यात् । यद्येकमेव स्यात् तदा क्रियाज्ञानशक्त्योर्निरतिशयत्वं भज्येत । मृदादिसाधारण्यं च स्यात् ।

मतान्तरवत् कथमेवं संदेहो यावता, 'यतो वा इमानि' इत्यादिभ्यो निःसंदेहश्रवणात् । एवं हि सः । पञ्चमी श्रूयते यत इति । पञ्चम्यास्तसिलिति । आत्मन इत्यपि पञ्चमी, निमित्तत्वे न संदेहः । पञ्चम्या निमित्तत्वकथनात् । उपादानत्वे

भाष्यप्रकाशः ।

तत्रैतत् स्यादित्यादि संदेहवारकेऽस्मिञ्छास्त्रे वक्ष्यमाणं विचार्यं स्यात् । तदाहुः तत्र किमित्यादि । तत्रेति श्रुतौ । मम तु तदिति प्रथमान्तपाठोऽत्र प्रतिभाति । चोदयति किमतो यद्येवमिति । कारणतामात्रादरेणैव जगत्कारणीभूतब्रह्मप्रमित्या प्रमाणसाफल्ये जाते पुनः संशयपङ्कं निपात्य तन्निरसनार्थकात् प्रयासात् किं फलान्तरं संपाद्यमित्यर्थः । तत्रोत्तरमाहुः एवमेतत् स्यादिति । वक्ष्यमाणेन विचारेण वक्ष्यमाणदोषनिवृत्तिरूपं फलं स्यादित्यर्थः । तदुपपादयन्ति यद्येकमित्यादि । यदि कारणतामात्रादरेण प्रमितेः पूर्तिरङ्गीकार्या तदैकं निमित्तादिषु वक्तव्यम् । तत्र यदि दण्डादिवन्निमित्तं, यदि वा प्रयोज्यवत् कर्तृ, तदा यथायथं क्रियाशक्तेर्ज्ञानशक्तेश्च निरतिशयत्वभङ्गः । दण्डाद्यपेक्षया कर्तरि क्रियाशक्तेः प्रयोज्यापेक्षया प्रयोजके ज्ञानशक्तेराधिक्यदर्शनात् । यदि मृद्वत् समवायित्वं, यदि वा कुलालादिवत् कर्तृत्वं, तदा तत्साधारण्यं, विकृतत्वमनाप्तकामत्वं चेति । तथाचैतद्दोषनिरासः फलमित्यर्थः । अत्र चोदयति मतान्तरवदित्यादि सांख्यन्यायादिरूपस्य मतान्तरस्य स्मृतिरूपत्वात् तज्जनकानुभवे दुष्टत्वस्य संभावितत्वात् तत्रोचितः संदेहः । अत्र तु तदभावान्न तस्य संभावनेत्यर्थः । संदेहे.त्पत्तिप्रकारमाहुः एवमित्यादि । निमित्तत्वकथनादिति 'विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्' इत्यत्राकारप्रश्लेषे अगुणादपि हेतोः पञ्चम्यङ्गीकृता । यथा धूमाद् वह्निमानित्यादौ । एवं प्रकृतेऽपि

रश्मिः ।

सामानाधिकरण्येऽन्वयसौष्ठवादाहुः मम त्वित्यादि । कर्तुरपि निमित्तत्वेन पृथङ्निर्देशानुपपत्तिमाशङ्क्य तयोर्भेदसाधनायाहुः तत्र यदीत्यादि । 'स्वतन्त्रः कर्ता' 'साधकतमं करणम्' इति लक्षणभेदात् कर्ता करणं हेतुरिति संज्ञाभेदात् कारकपञ्चकत्वापत्तेश्च कर्ता पृथक् । न च गौरवमिति शङ्क्यम् । 'शिक्षा कल्पो व्याकरणम्' इतिश्रुतेर्नैयायिकलाघवस्यायुक्तत्वादसमवायिकारणस्य निमित्तत्वाच्च । मृदादीत्यादि भाष्यमवतारयन्ति यदि मृदित्यादि । साधारण्यमेवाहुः विकृतत्वमित्यादि । एतद्दोषेति मृत्कुलालादिसाधारण्यदोषनिरास इत्यर्थः । मतान्तरेति भाष्यं देहलीप्रदीपन्यायेनोत्तरत्रापि मतान्तरे ब्रह्मणि विकृतत्वाधनङ्गीकाराद् दृष्टान्तः परत्रेति मतान्तरवत्कथमित्यादि चोदकं भाष्यमित्याशयेनावतारयन्ति अत्रेत्यादि । स्मृतिरूपत्वादिति लोकप्रमितार्थान् स्मृत्वा युक्त्या यथाबुद्धि संशोध्य शास्त्रप्रणयनेन तथात्वादित्यर्थः । संभावितत्वादिति करणदोषेण बुद्धिदोषरूपेण तथात्वादित्यर्थः । तदभावादिति श्रुत्यवलम्बनान्मानसीनानुग्रहेण चक्षुरादिकरणे दोषाभावादित्यर्थः । [वस्तुतस्तु सांख्यमते प्रकृतेरिव ब्रह्मणोऽपि विकृतत्वापातः इति मतान्तरवदिति भाष्यं यथाश्रुतमेव साधीयः] भाष्ये । श्रूयत इति सूत्रविषयवाक्ययोः श्रूयते इत्यर्थः । प्रकृते । अकारेत्यादि । इदं च बाहुलकं

---

१. तसिरिति ।

कर्तृत्वे च संदेहः । तद्वाचकाश्रवणात् कल्पनायां प्रमाणाभावात् । समवायित्वे पुनः सुतरां संदेहः । एवं प्राप्त आह ।

तत्तु समन्वयात् ॥ ३ ॥ (१।१।३)

तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । निमित्तत्वस्य श्रुतिसिद्धत्वात् मतान्तरनिराकरणत्वेनाग्रे वक्ष्यते । तद् ब्रह्मैव समवायि कारणम् । कुतः । समन्वयात्

भाष्यप्रकाशः ।

तत्कथनात् । तथाच तावन्मात्राङ्गीकारे उक्तरीत्या क्रियाज्ञानशक्त्योर्निरतिशयत्वभङ्गप्रसङ्गः । तन्निवृत्त्यर्थमुपादानत्वकर्तृत्वयोरप्यङ्गीकारे प्रमाणाभावात् संदेहः । समवायस्याग्रे दूषितत्वात् समवायित्वे विकृतत्वस्यापत्तेश्च तत्र सुतरां तथेत्येवं समवायित्वेऽत्यन्तं संदिग्धे सूत्रमाहेत्यर्थः । एतेनास्याधिकरणस्य पूर्वेण सह सामान्यविशेषभावः संगतिरपि दर्शिता ।

तत्तु समन्वयात् ॥ ३ ॥ एवं पक्षत्रयेऽपि दोषा इति तान् विहाय श्रुत्युपपत्त्यर्थं केवलं तटस्थकारणत्वमादरणीयमित्याशयेन पूर्वपक्षयुक्तिमाहुः **निमित्तत्वस्येत्यादि** । ननु तुशब्दो विशेषावधारणपूजाव्यावृत्तिपादपूरणाद्यर्थहेतुषु दृष्टस्तत् कथं व्यावृत्त्यर्थ एवात्र गृह्यत इत्यत आहुः **मतान्तरेत्यादि** । 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्'इत्यादौ तथा दर्शनादत्रापि तथेत्यर्थः । **तद् ब्रह्मैव समवायिकारणमिति** तद् अनुभूतं प्रसिद्धं वा समवायिकारणं ब्रह्मैवेत्यन्वयः ।

रश्मिः ।

प्रकृतेस्तदनुदृष्टेरिति वार्तिकप्रयोगाद्गुणेऽस्त्रियामिति प्रायिकमित्यन्य इति शेखरे केषांचिन्मतमनूदितं तदनुसारेण बोध्यम् । तथाचाकारप्रश्लेषाद्धूमाद्वह्निमानित्यस्य अस्त्रियामित्यत्राकारप्रश्लेषे नास्ति घटोऽनुपलब्धेरित्यस्य च प्रयोगस्य सिद्धिरित्याशयः । यद्वा उभयत्रापि अकारप्रश्लेषाप्रश्लेषाभ्यां जाड्येन जाड्याद्वा बद्धः धूमाद्वह्निमान् नास्ति घटोनुपलब्धेरिति प्रयोगत्रयसिद्धिरित्याशयः । दीक्षितैस्तु हरदत्तग्रन्थानुसारेण विभाषेति योगं भङ्क्त्वा अगुणे स्त्रियां च पञ्चमी साधितेति ध्येयम् । **यथा धूमादिति** धूमपदं स्वज्ञाने वह्निमत्पदं स्वज्ञानविषये लाक्षणिकमत्र ज्ञेयम् । हेतुहेतुमद्भावोपपत्तये । **उपादानस्व इत्यादि**भाष्यं विवृण्वन्ति **तन्निवृत्तीत्यादि** । **भाष्ये** । ननु मृदः कुलालाच्च घट इति प्रयोगात् कर्तृत्वोपादानत्ववाचकपञ्चमीश्रवणं यत इति आत्मन इति चेति कथं तद्वाचकाश्रवणमत आहुः **कल्पनायामित्यादि** । **प्रकृते** । **समवायित्व** इत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति **समवायस्येत्यादि** । **अग्र** इति द्वितीयाध्यायद्वितीयपादे 'समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः' इति सूत्र इत्यर्थः । **तथेति** संदेहत्वेन प्रकारेण संदेह इत्यर्थः । **सामान्येत्यादि** प्रसङ्गस्यावान्तरभेदो हेतुताख्य इत्यर्थः ।

तत्तु समन्वयात् ॥ ३ ॥ **दोषा** इति निमित्तत्वे क्रियाज्ञानशक्त्योर्निरतिशयत्वभङ्गः, कर्तृत्वे प्रमाणाभावः, उपादानत्वे विकृतत्वमिति दोषा इत्यर्थः । **निमित्तत्वस्येत्यादीति** ल्यब्लोपे पञ्चम्यत्र निमित्तत्वमात्रस्य श्रुतिसिद्धत्वमङ्गीकृत्य समवायित्वे कर्तृत्वे च ब्रह्मणो न संदेग्धव्यमित्येतत्तुशब्दआहेति वृत्त्यनुसारेणार्थः । **विशेषेत्यादि** समुच्चयोऽप्युपलक्षणीयः । तथा च विश्वः 'तुः पादपूरणे भेदे समुच्चयेऽवधारणे' इति । अत्र तत्पदेन ब्रह्मपरामर्शभ्रमं वारयन्तोऽधिकारसूत्रलभ्यत्वात्, पर्वतो धूमादिति प्रयोगादर्शनात् वह्निमान्धूमादिति दर्शनात्, रूपादावंशतो बाधसंभवात् । समवायित्वस्य साध्यताभ्रममननुमानत्वाय वारयन्ति **तदित्यादि** । **ब्रह्मैव** तत्समवायिकारणमिति योजना । समन्वयपदसमभिव्याहारात् सूत्रे सोपयु-

१. पक्षे रूपादौ साध्याभावो बाधः । सौत्रापरिष्कृतमात्रहेत्वङ्गीकारे ।

सम्यगनुवृत्तत्वात् । अस्ति भाति प्रियत्वेन सच्चिदानन्दरूपेणान्वयात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

ननु सम्यगनुवृत्तत्वमनारोपितानागन्तुकरूपेण सर्वं लक्ष्यीकृत्य वर्तमानत्वम् । तज्जगति ब्रह्मणः कथम् । न हि जगति ब्रह्मणोऽनारोपितानागन्तुकेन ब्रह्मत्वेन रूपेणान्वयोऽवगम्यते, यथा पटे तन्तोर्घटे वा मृद इत्याकाङ्क्षायां तदाहुः अस्तीत्यादि । तेषु तेषु वस्तुषु तत्तदुल्लप्रतीतिविषयेणास्तित्वादिधर्मेणावगम्यमानात् सदादिरूपेणान्वयात् । यो हि यदन्वितः स स्वस्मिंस्तद्विषयां प्रतीतिमाधत्ते, यथा घटादिः पृथिवीत्यादिप्रतीतिम् । तथात्र सर्वमस्तीत्यादिप्रतीतिजनकत्वात् सदाद्यन्वितम् ।

रश्मिः ।

ज्यते न ब्रह्मेत्यनुवर्तते, तथा च भाष्येऽनुमानप्रतीतावपि औपनिषदत्वविघटिकेति न सोपयुज्यते । एवं मदुक्तप्रकारेण योजने नानुमानप्रतीतिः । तथाहि । अत्र समवायिकारणमिति न पक्षः । तथा सति समवायिनो द्रव्यमात्रस्य ब्रह्मत्वसिद्ध्या ब्रह्मणस्तदतिरिक्तस्यापि समवायित्वासिद्धेः पर्वतो धूमादिति प्रयोगापत्तेश्च । नाप्यनुभूतं स्वप्ने तदंशस्य मायारूपस्य पक्षत्वं, अथ कार्ये प्रसिद्धं श्रुत्यादौ च प्रसिद्धं ब्रह्मैव पक्षः 'ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः' इति गीताप्रामाण्यानुरोध्यागामिभाष्यानुरोधेन ततो विशेषितत्वे तु समवायिकारणस्य पूर्वसूत्रवासनया जगतः समवायिनि वक्तव्ये जगत्समवायी पक्षः । **ब्रह्मत्वं साध्यम्** । एवकारः प्रकृत्यादिकं व्यवच्छिनत्ति । पक्षत्वे त्रिषु व्याख्यानेषु मध्ये भाष्यीयं मध्यमं व्याख्यानम् । अस्तिभातिप्रियात्मकेनानागन्तुकानारोपितरूपेण सर्वत्रानुवृत्तत्वं हेतुः । यत्रानारोपितानागन्तुकरूपेण समन्वितत्वं तत्र तदात्मकत्वमिति सामान्यव्याप्तिः । यथा मृदोऽनारोपितानागन्तुकेन मृत्त्वेन रूपेण समन्वितत्वात् मृदात्मकत्वं घटस्य । रूपादौ च घटादेर्घटत्वेन रूपेणानुवृत्त्यभावान्न रूपादौ घटात्मकत्वम् । अत्र स्वरूपासिद्धिं शङ्कते **नन्वित्यादि** । **अनारोपितेत्यादि** । आरोपितमध्यस्तम्, आगन्तुकं रूपित्यादि । यदि चाध्यस्तमप्यागन्तुकं तर्ह्येकमेवोपादत्तं, द्वितीयं त्ववस्तुत्वादुपादत्तमप्यनुपादत्तम् । इदं तादात्म्येन संबन्धेन वर्तते । **तदाहुरिति** अनारोपितानागन्तुकरूपेण वर्तमानत्वमाहुरित्यर्थः । **अस्तित्वेत्यादि** । अत्र भाष्ये द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं त्वप्रत्ययं प्रत्येकं संबध्यास्तित्वादीत्युक्तम् । तत्रास्तित्वाद्याश्रये ब्रह्मणि सति अस्तित्वादिना समन्वयाभावाज्जगति ब्रह्मसत्त्वासिद्धेः । नन्वेकत्वात् साध्यस्याधिकदेशवृत्तित्वं व्यापकत्वान्नानुमानदोषकरमिति चेद् ब्रह्मत्वास्तिभात्यादिसमन्वययोः कार्यकारणभावोऽस्त्येव तस्य ग्राहकावन्वयव्यतिरेकौ तयोरेवाभावात् । ब्रह्मत्वे सत्युक्तसमन्वयेऽब्रह्मत्वाभावे सति समन्वयाभाव इति । ब्रह्मणि तदुभयाभावान्न साध्यहेतुभाव इति दोषो न । अथवा स्वमसृष्टिमायाकृतभेदव्यतिरिक्तसृष्टिदृष्टोपादानभेदे वा ब्रह्मत्वरूपसाध्याभाववति हेतोः सत्त्वात्साधारण्यम् । अत्रोच्यते धर्मधर्मिणोरभेदात् सदादिरूपेणावगम्यमानादन्वयादिति योजना । **पृथिवीत्यादि** पृथ्वीत्वान्वितत्वात् पृथिवीत्वविषयामित्यर्थः । **तथात्र सर्वमित्यादि** सर्वमिति पक्षः, सदाद्यन्वितत्वं साध्यं, अस्तीत्यादिहेतुः, यन्नैवं तन्नैवं खपुष्पवदिति दृष्टान्तः । अस्तीत्यादिप्रतीतिजनकत्वं त्वेवं साधितम् । 'अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात् सर्वत्र सर्वदा' इत्यस्य **सुबोधिन्याम्** । तथाहि । घटः सन् पटः सन् भासते इति प्रिय इति च सर्वत्रैवैकस्य ब्रह्मणोऽन्वयः, अन्यथा एकशब्दानुवृत्तिः प्रतीत्यनुगतिश्च न स्यात् । विशेषेणातिरिच्यत इति व्यतिरेकः घटादिभ्यः किमतिरिच्यते घटस्तु घटान्नातिरिच्यते तथा पटः

१. हेतौ हेतुतावच्छेदकाभावः स्वरूपासिद्धिः । अन्वयत्वापेक्षया समन्वयत्वस्य गुरुतया हेतुतावच्छेदकत्वाभावात्, नीलधूमवत्त्ववत् ।

नामरूपयोः कार्यरूपत्वात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

ततश्च सदाद्यात्मकं सच्चिदानन्दात्मकं च ब्रह्मेति तेन रूपेण ब्रह्मान्वयोऽवगम्यत एवेत्यर्थः । ननु जगत्यस्त्यादिसमन्वयो न ब्रह्मणः समवायित्वगमकः । नामरूपयोरपि समन्वयात् । नच तयोर्नानात्वान्नान्वय इति शङ्क्यम् । तयोः प्रतिनियतरूपेणानन्वयेऽप्यवच्छेदकावच्छेदेनान्वयस्य निराबाधानुभवात् । नच रूपस्य व्यभिचारः शङ्क्यः । तस्य व्यवहार्यत्वपरत्वात् । अवकाशादिरूपेण व्यवहार्यत्वस्याकाशादावपि सत्त्वादिति चेत् तत्राहुः नामरूपयोः कार्यरूपत्वादिति । नामरूपे कर्मणोऽप्युपलक्षके । 'त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म' इति श्रुतेः प्रपञ्चस्यैतत्त्रयात्मकत्वात् । तथाच, 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इति श्रुतेर्नाम्नां रूपेषु नियमने कृत एव जगतः

रश्मिः ।

पटात् किं तु मद्घटादप्यतिरिच्यते पटादपि, एवं सर्वत्र, यत्सर्वं सत्सर्वस्मादतिरिच्यते तद्ब्रह्म । नन्वेकमेव ब्रह्मत्वसाधकमस्तु किं द्वाभ्यामिति चेन्न । अन्वयेन ब्रह्मत्वं न सिद्ध्यति जगति जगतोप्यन्वयात् । यद्यपि घटादेर्व्यतिरिच्यते जगत्तथापि जगतो न व्यतिरिच्यते, खपुष्पादिकं तु जगतो व्यतिरिच्यते परं नान्वेति, सज्जगतो व्यतिरिच्यते भगवतोपि सत्त्वात्, कारणस्याक्षरस्यापि सत्त्वात्, अतो यस्यान्वयव्यतिरेकौ तदेव सर्वमिति । तत्र यदि सर्वमस्तीति प्रतीतिजनकं घटोस्ति भूतले घटाभावोस्तीत्यादिप्रतीतेर्नतु भातिप्रियत्वप्रतीतिजनकं घटो ज्ञानं घटो जानाति घटः प्रीणातीत्याद्यप्रतीतेः । घटो भासते इत्यत्र तु नाश्रयत्वं तदर्थः किं तु विषयत्वमित्याशङ्क्यते, तदा तु अत्रैव युक्तिनिरूपणे भातिप्रियत्वयोरपि घटादिवृत्तित्वस्य मया व्युत्पाद्यत्वाद् घटादीनां तद्धर्मकत्वे सिद्धे तदप्रतीतावप्यक्षतिः । जीवे आनन्दांशस्य जडे चिदानन्दयोरप्राकट्यस्य वक्ष्यमाणत्वात् । अतो न पद्मसरसि भृङ्गे झङ्कृतिपराकृतमशकशुङ्कारः । हेतुघटिका प्रतीतिश्च प्रत्यक्षानुमित्यन्यतरपरा । तेन सदन्वयः प्रतीतिसाक्षिकश्चिदानन्दयोस्त्वानुमानिक इति ज्ञेयम् । तेनेति सच्चिदानन्दरूपेणेत्यर्थः । नन्वस्त्यादयो यथा ब्रह्मधर्मास्तथा नामरूपे अपीति नामरूपरूपेणान्वयः कुतो न स्यादित्याशङ्कते ननु जगतीत्यादि । समवायित्वेत्यादि भाष्यप्रकाशीययथाश्रुतव्याख्यानपक्षे समवायित्वस्य साध्यत्वाभावाद्गमक इत्युक्तम् । समवायिनि ब्रह्मत्वे सिद्धे ब्रह्मणः समवायित्वं गमयतीत्यर्थः । समन्वयादिति तथा च जगतोऽपि जगत्समवायित्वं स्यादिति प्रश्नः । नान्वय इति घटनामरूपयोः पटे नान्वयः । तन्नामरूपयोर्भिन्नत्वादित्यर्थः । प्रतिनियतेत्यादि देवदत्तविष्णुमित्रत्वादिरूपेण नीलत्वपीतत्वरूपेण चेत्यर्थः । अवच्छेदकेत्यादि नामत्वरूपत्वरूपेणेत्यर्थः । पदार्थतावच्छेदकं गुणत्वं तस्यावच्छेदो द्वैधीकरणं येन नामत्वरूपत्वरूपेण करणे प्रत्ययः । उपदेश आद्योच्चारणमित्यत्रोपदेशपदात्प्रत्ययवत् करणनिष्ठव्यापारो वा धात्वर्थः । पचादेराकृतिगणत्वादच् । व्यभिचार इति आकाशादौ रूपव्यभिचार इत्यर्थः । व्यवहार्येत्यादि रूपवान् विशेषतो व्यवहार्यो भवतीति कार्यताख्यसंबन्धेन व्यवहार्यत्वलक्षकत्वादित्यर्थः । श्रुतेरिति सूत्रवारम्भकेऽस्ति नामरूपयोरागन्तुकरूपत्वान्न तयोर्ब्रह्मसमवायित्वबाधकत्वमिति वदन्तो भाष्ये द्वयोपादाने उपपत्तिमपि वदन्ति स्म तथाचेत्यादि । नामरूपकर्मणां प्रपञ्चरूपत्वे सति । व्याकरणेत्यादि । अनेनेत्यादिव्याकरणश्रुतेर्जीवरूपेण प्रवेशकरणोत्तरमित्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

कार्यत्वेन प्रतीतेस्ते एव कार्यस्य कार्यताव्यञ्जकस्वरूपभूते । यदा हि पृथुबुध्नोदराकारोऽर्थो भवति तदा तत्र तादृशं रूपं घट इति नाम च भवति । तदपि न स्वतः किंतु व्याकरणश्रुतेस्तत्करणोत्तरम् । यथा हि बालके जाते तदवयवानालोक्य व्यक्तौ निश्चितायां नाम नियमयति, एतन्नामाऽयमिति तद्वत् । अतः कर्मापि मूलवस्तूत्तरकालीनं कार्यस्वरूप एव प्रविशतीत्यागन्तुकत्वान्न तत्समन्वयः, किंत्वन्वयमात्रं तेषामतो न ब्रह्मणः समवायित्वबाधकमित्यर्थः ।

ननु तथाप्यस्त्यादिसमन्वयस्य न ब्रह्मसमवायितागमकत्वम् । कार्यमात्रे प्रकृत्यात्मकानां सत्त्वरजस्तमसामनुवृत्तिदर्शनात् । यथाहुः सांख्याः ।

> 'प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।
> अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः' ॥

इति गुणानां स्वरूपं वृत्तीश्चोक्त्वा

> 'सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः ।
> गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः' ॥ इति ।

एतदर्थस्तु सत्त्वादयो गुणाः सुखदुःखमोहस्वरूपाः प्रकाशप्रवृत्तिनिग्रहफलका यथाक्रमं बोध्याः । ते पुनरन्योन्याभिभवनान्योन्याधारत्वान्योन्यजननान्योन्यमिथुनक्रियावृत्तयः स्वत एव सन्तो यथा वर्तितैले अग्निविरोधिनी सहाग्निना रूपप्रकाशनं कार्यं कुरुतो यथा वा वातपित्तकफा दोषाः परस्परविरुद्धा अपि शरीरधारणलक्षणं कार्यं कुर्वन्ति, तथैते परस्परविरुद्धा अप्यनुवर्तन्ते, कार्यं च कुर्वन्तीति । तथाच प्रयोगः । महदादिकार्यं सुखदुःखमोहगुणकद्रव्यजन्यं कार्यत्वे सति सुखदुःखमोहगुणकद्रव्यत्वात् । यथैका रूपयौवनशीलवती स्त्री भर्तुः सुखदा, सपत्नीनां दुःखदा, पुरुषान्तरस्य मोहदेति, तद्वदिति । नच सुखादीनामान्तरत्वेनानुभवात् रूपादीनां सुखादिगुणकत्वे मानाभावः शङ्कनीयः । स्त्रीचन्दनादिजन्यस्य सुखस्य तत्तदवयवेषु

रश्मिः ।

अत इति धर्मत्वादित्यर्थः । मूलवस्त्वित्यादि ऋतुप्रयोगादिमांसपिण्डाद्युत्तरकालिकं प्रसिद्धमित्यर्थः । समवायित्वेत्यादि अन्वयमात्रमित्यर्थः । तदित्थं पूर्वोक्तानुमाने न ब्रह्मणि समवायित्वं सिद्ध्यति तदप्यनागन्तुकानारोपितरूपेणानुवर्तनात् । जगति जगत्त्वं खलु जल्पन्ति परमागन्तुकरूपेणेति जगतो यथान्वयेपि न तत्समवायित्वबाधकत्वमेवं ब्रह्मणोप्यन्वये तु न । समवायित्वमित्येवंविधबाधकत्वं नेत्यर्थः । अत्र प्रयोगः ब्रह्म न भूतादिसमवायि अन्वयात् नामरूपादिवत् इति विरुद्धरूपहेत्वाभासोत्थापनेन । गुणा इत्यस्यार्थमाहुः सत्त्वेत्यादि । प्रीतीत्यादेरर्थमाहुः सुखेत्यादि । प्रदीपवच्चेत्येतद्विवृण्वन्ति यथा वर्तितैले अग्नीत्यादि अत्राकारो लेखककरदोषात्पतितः प्रमाद्य पूर्वसवर्णदीर्घः । 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' इति सूत्रात्प्रगृह्यसंज्ञायां प्रकृतिभावात् । अग्निनेति दीपरूपेणेत्यर्थः । चकारार्थमाहुः यथा वेत्यादि । सुखेत्यादि । तादृशं द्रव्यं प्रकृत्यात्मकम् । कार्यत्वे सतीति प्रकृतेस्तादृशद्रव्यजन्यत्वापत्तिवारणायेदम् । 'प्रकृतिपुरुषयोरन्यत्सर्वमनित्यम्' इति पञ्चमाध्यायस्थसांख्यप्रवचनसूत्रात् । तथाच सत्यन्ताभावे प्रकृतौ साधारणानैकान्तिकत्वम् । तद्वदितीति व्यतिरेके केवलचेतनवदिति दृष्टान्तः । रूपादीनामिति बाह्यानामाधिभौतिकानामित्यर्थः । मानाभाव इति आध्यात्मिकादीनामाधिभौतिकरूपादिधर्मत्वे

भाष्यप्रकाशः ।

बहिरेवानुभवेन तज्जनकेषु स्त्र्यादिष्वपि तस्य बहिरेव सत्तानिश्चयात् । नच तस्यानुभवस्य भ्रान्तत्वं शक्यवचनम् । तथा सति देहे मे सुखं, शिरसि मे वेदनेत्याद्यनुभवान्तरस्यापि बाधप्रसङ्गात् । एवं तु स्त्रीसुखं चन्दनसुखमित्याद्यभिलापोऽपि युज्यते । आन्तरत्वेनानुभवस्तु मानसस्यैव । एवं सिद्धे तेषां बाह्यत्वे स्त्र्यादिसंसर्गेण बहिरेव तेऽभिव्यज्यन्ते । घृतद्रवत्वादिवत् । तथाच प्रयोगः । विमताः सुखादयो न साक्षादात्मधर्माः । बाह्यत्वे सत्यात्मनि प्रतीयमानत्वात् । गौरत्वादिवदिति । तथा, स्त्र्यादयः सुखादिगुणकाः सुखादिजनकत्वात् । यद् यज्जनकं तत् तद्गुणकं, प्रकाशशैत्यादिजनकवन्हिचन्दनादिवदिति च । एवं सिद्धे तेषां तद्गुणकत्वे तेषां द्रव्याणां तद्गुणात्मकत्वमप्यनुमेयम् । तथाच प्रयोगः । विमताः सुखाद्यात्मकाः, सुखाद्यविनाभूतत्वात् । तन्मात्राविनाभूतमहाभूतवत् । तथा, सुखादयो द्रव्यसूक्ष्मावस्थारूपाः । तदविनाभूतत्वे सति तज्जनकत्वात् । महाभूताविनाभूततज्जनकतन्मात्रवदिति । नच प्रथमे क्षणे द्रव्यं यावद्गुणशून्यमेवोत्पद्यत इति वाच्यम् । प्रत्यक्षबाधितत्वात् । अपाकजस्य रूपादेरुत्पत्तिदशायामप्यनुभवात् । एवं सुखादावपि बोद्धव्यम् । पुत्राद्युत्पत्तिकाल एव पुरुषभेदेन सुखदुःखाद्युत्पत्तिदर्शनतस्तस्य बालादेरिदानीमपि तज्जनकतया तद्गुणकत्वतदविनाभावयोर्निश्चयादिति । एवं मैत्रायणीये, 'तमो वा इदमेकमेवाग्र आसीत् तत्परे स्यात् तत्परेणेरितं विषमत्वं प्रयाति' इति । श्वेताश्वतरेऽपि, 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः' इति तमःशब्दवाच्यायाः प्रकृतेर्गुणानां च सृष्ट्यादौ सत्ताश्रावणात् पुराणेषु मन्वादिषु

रश्मिः ।

मानाभाव इत्यर्थः । **तस्येति** । **घृतेत्यादि** वह्निसंसर्गेणेत्यादिः । **विमता** इति स्त्र्यादयः सुखादिगुणकाः आध्यात्मिकस्य सुखादेरित्यर्थः । **गौरत्वेत्यादि**भास्वरं गौरत्वमात्मनीति दृष्टान्तः । **तन्मात्रे**ति तेन यद् यदविनाभूतं तत् तदात्मकं इति व्याप्तिः सामान्या । **तज्जनकत्वादिति** द्रव्यजनकत्वात् । न च रूपादिवदन्यथासिद्धत्वमिति वाच्यम् । घटादिकं प्रति दण्डादिकस्य रूपवन्न भवत्यन्यथासिद्धत्वम् । द्रव्यस्य सुखत्वेनाकारणकत्वापत्तेः कार्यस्य । प्रथमक्षणिकद्रव्यमादाय हेत्वोरंशतः स्वरूपासिद्धत्वमाशङ्क्य पराकुर्वन्ति **न च प्रथम** इत्यादि । तथाच पक्षैकांशतः ह्रदे पर्वते चाद्यक्षणावच्छेदेन सुखाद्यविनाभूतत्वरूपहेत्वभावाद् ह्रदो द्रव्यं धूमादितिवत् पक्षे हेत्वभावात्स्वरूपासिद्धिः सिद्धान्तमुक्तावल्युक्ता, पर्वते सुखादिरूपे आद्यक्षणावच्छेदेन हेतुतावच्छेदकस्य तदविनाभूतत्वसमानाधिकरणतज्जनकत्वरूपस्य गौरवेणाभावात् स्वरूपासिद्धिर्मञ्जर्युक्ता । अपाकेत्यादि पाकोऽग्निसंयोगः । **निश्चयादिति** तथाच प्रथमक्षणावच्छेदेनापि द्रव्यस्य सगुणत्वात् न हेत्वोः स्वरूपासिद्धत्वमिति भावः । पुराणेष्विति एकादशे—

'तमो रजः सत्त्वमिति प्रकृतेरभवन् गुणाः ।
मया प्रक्षोभ्यमाणायाः पुरुषानुमतेन च ॥
तेभ्यः समभवत्सूत्रं महान् सूत्रेण संयुतः ।
ततो विकुर्वतो जातो योहंकारो विमोहनः' ॥

इत्यादिष्वित्यर्थः । **मन्वादिष्विति** ।

'आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।

प्रकृतेरपि लभते तदंशत्वात् । अज्ञानात् परिच्छेदाप्रियत्वे । ज्ञानेन बाध-

भाष्यप्रकाशः ।

तथा श्रवणात् सिद्धे प्रकृतेः सत्त्वे सर्वस्य त्रिगुणत्वेन गुणमय्याः प्रकृतेरेव समन्वयस्य सिद्धत्वाद् ब्रह्मणः समवायित्वसिद्धिरित्यत आहुः प्रकृतेरित्यादि ।

'आसीज्ज्ञानमयो ह्यर्थ एकमेवाविकल्पितम् ।
यदा विवेकनिपुणा आदौ कृतयुगेऽयुगे ॥
तन्मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितम् ।
वाङ्मनोगोचरातीतं द्विधा समभवद् बृहत् ॥
तयोरेकतरो ह्यर्थः प्रकृतिः सोभयात्मिका ।
ज्ञानं त्वन्यतमो भावः पुरुषः सोऽभिधीयते' ॥

इत्याद्येकादशस्कन्धीयभगवद्वाक्यैस्तस्या अंशत्वे अन्यत्वे च निश्चिते तद्रूपस्याप्यागन्तुकत्वेन तदन्वयस्यापि समन्वयत्वाभावान्न तेन ब्रह्मणः समवायित्वभङ्ग इत्यर्थः । ननु भवत्वेवं, तथापि तदन्वयस्य सांख्यैः साधितत्वात् तेनैव रूपेण ब्रह्मान्वयोऽस्तु किमस्त्यादिरूपान्वयाग्रहेणेत्याशङ्कायामाहुः अज्ञानादित्यादि । अयमर्थः । प्राकृती या प्रीतिः सा आज्ञानिकी, न तु वास्तवी । तत्र गमको देशतः कालतश्च परिच्छेदः । यथा कस्यचित् किंचित् प्रियं किंचिन्न । तदपि कदाचित् प्रियं, कदाचिन्न । तथा सति तस्या औपाधिकत्वम् । मैत्रेयीब्राह्मणे तथैव सिद्धत्वात् ।

रश्मिः ।

अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ।
ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।
महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः' ॥

इत्यादिष्वित्यर्थः । **प्रकृतेरेवेति** अस्त्यादीनामपि प्राकृतत्वसंभवादेवकारः । **न ब्रह्मण** इति ब्रह्म न समवायि सत्त्वादिना समन्वयादिति । अस्त्यादिसमन्वयरूपहेतोः सत्प्रतिपक्षत्वाच्च । **ज्ञानमय** इति 'ज्ञानमयो ह्यर्थः' इत्यपि पाठः । कार्त्स्न्यमयोः शब्दार्थः । **अयुग** इति युगेभ्यः पूर्वं प्रलये चेत्यर्थः । **तन्मायेत्यादि** माया तत्फलं दृश्यं सर्वं तद्रूपेणेत्यर्थः । **उभयात्मिकेति** कार्यकारणरूपिणीत्यर्थः । **तद्रूपस्येति** मायारूपस्य सत्त्वरजस्तमोरूपस्य धर्मस्येत्यर्थः । **समवायित्वभङ्ग इति** । एतच्च चतुर्थपादे 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' इत्यधिकरणे स्फुटम् । यद्यप्येवं ब्रह्मणः समवायित्वे सिद्धे परिच्छेदाप्रियत्वे विरुद्धे इत्याशङ्क्याहुः **अज्ञानादिति** । इत्येवं तथापि ब्राह्मणानां संतोषो न भवति सुगमव्याख्यान इति विस्तरेणाहुः **ननु भवत्वित्यादिना** । **तदन्वयस्येति** प्रकृत्यन्वयस्येत्यर्थः । **तेनैवेति** प्राकृतप्रियत्वादिरूपेणेत्यर्थः । **देशतः परिच्छेदमाहुः यथेत्यादि** । **कालतः परिच्छेदमाहुस्तदपीत्यादि** । **तस्या इत्यादि** प्रीतेर्धनसौन्दर्यादिरुपकस्य देशशुद्धाशुद्धजनककालरूपोपाध्याहितत्वमित्यर्थः । **मैत्रेयीत्यादि** । एतच्च चतुर्थपादे वाक्यान्वयाधिकरणे स्पष्टम् । तथा चाज्ञानाद्ब्रह्मात्मकानन्दे परिच्छेदोऽप्रियत्वं च लोके भवतो न तु प्राकृतं प्रियत्वमस्ति, तथाच श्रुतिः 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इति । तथा च प्राकृतप्रियत्वस्यैवाभाव इति दूरे तेन रूपेण समन्वय इति भावः । व्यतिरेकमुखेन ज्ञानेन

भाष्यप्रकाशः ।

वास्तवस्य नैसर्गिकत्वाद्यां वस्तुसद्भावे ज्ञानेन तद्बाधायोगाच्च । अतो वास्तवं प्रियत्वमात्मन्येवै-कस्यात्मन एव दर्शनादिकमावश्यकमिति बोधयित्वा 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यनेन सर्वस्यात्मा-भिन्नत्वं श्रावयति । तथा तैत्तिरीये, 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्'इत्युपक्रम्य, 'एतꣳ ह वाव न तपति किमहꣳ साधु नाकरवं किमहं पापमकरवम्'इति 'स य एवं विद्वानेते आत्मानꣳ स्पृणुते' इत्या-त्मत्वानुसंधानेन तत्कृततापाभावं च श्रावयति । अत एवमात्मानन्दज्ञानेन प्राकृतिकप्रियत्वादौ बाधदर्शनाच्च तद्रूपेणान्वय आद्रियते किं त्वात्मत्वेन । सर्वस्याभिन्नत्वविधिप्रियत्वस्य बोधनात्प्राधि-तेनैव रूपेण श्रुत्यविरोध इति तदन्वय एवाद्रियत इत्यर्थः । ननु यद्येवं तदा ज्ञानात्वमपि नादर-

रश्मिः ।

बाधदर्शनादिति भाष्यं विवृण्वन्ति वास्तवस्येत्यादि । भाष्ये । सुगमव्याख्या त्वेवं बोध्या । तथाहि । प्रतिपादितोऽस्तिभातिप्रियत्वेन ब्रह्मसमन्वयोऽनुपपन्नः परिच्छेदाप्रियत्वयोर्दर्शनादित्याशङ्कयाहुः अज्ञानादित्यादि । तथा च न ते वास्तवे इति तत्प्रतीतावपि न समन्वयानुपपत्तिरित्यर्थः । किंच नायं नियमो यदुपादानधर्माणां उपादेये भानमिति । विभागेनापरिच्छेदतिरोभावस्य सांख्येप्य-ङ्गीकारात् । संयोगेन महत्त्वस्य नैयायिकैरप्यङ्गीकाराच्च । तयोरवास्तवत्वे हेतुमाहुः ज्ञानेनेत्यादि । वाचारम्भणवाक्योक्तरीतिकज्ञानेन विकल्पबुद्धेर्बाधस्य श्वेतकेत्वादिषु दर्शनादित्यर्थः । प्रकृते । सिद्धमाहुः अत इत्यादि यतः सर्वत्रौपाधिकी सा, अत इत्यर्थः । बोधयित्वेति सहोवाचे-त्याद्यनुवाकद्वयं 'न वा अरे' इत्यारभ्य 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदꣳ सर्वं विदितम्' इत्यंशेन बोधयित्वा 'ब्रह्म तं परादात्' इत्यारभ्य 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यन्तेनांशेन सर्वस्यात्माभिन्नत्वं श्रावयतीत्यर्थः । तथाचा-न्यत्र प्रतीयमानं प्रियत्वं तदंश इति भावः । एतमित्यादि पूर्वोक्तानन्दविदं न तपति नोद्वेजयति समे एते साध्वसाधुनी एवं तापहेतू इति विद्वान् आत्मानं स्पृणुते स्नेहयतीत्यर्थः । स्पृ प्रीतिपालनयोः स्वादिः । बाधदर्शनादिति 'किमहꣳ साधु नाकरवम्'इत्यादिश्रुतेस्तथेत्यर्थः । बोधनादिति 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति' इत्यादिना बोधनादित्यर्थः । एवाद्रियत इति एवकारेण मायाणां सत्त्वरजस्तमसां व्युदस्तिः । तथाहि । माभूत् प्राकृतसत्त्वरजस्तमो-रूपेण ब्रह्मान्वयः परंतु भागवतरूपेण तु स्यात् ।

> 'सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रयः ।
> स्थितिसर्गनिरोधेषु गृहीता मायया विभोः' ॥

इति वाक्यात् मैवम् । एतेषामप्यागन्तुकत्वादेतस्य सुबोधिन्यां सद्रूपेण निर्गतं सत्त्वमि-त्युच्यते, केवलचिद्रूपेण निर्गतं क्रियाशक्तिप्रधानत्वात्सदानन्दानन्दाभावाच्च रज इत्युच्यते, आनन्दां-शाच्च तमः, ते भगवद्रूपा एव भगवता सृष्टाः । न च ते पूर्वं भगवति स्थिताः इति प्रतिपादनात् । बाधितेन नानात्वेन धर्मेण प्रकृतेरन्वयात् तस्या अपि समवायित्वं निर्दुष्टमित्याशङ्कामुखेनाभासमाहुः नन्वित्यादि । अथवा ननु यदि ब्रह्मोपादेयता प्रपञ्चे स्यात् तदा ब्रह्मण एकरसत्वेन तथे-

दर्शनात् । नानात्वं त्वैच्छिकमेव । जडजीवान्तर्यामिष्वेवैकैकांशप्राकट्यात् । कथमेवमिति चेत् । न । सद्रूपे घटरूपक्रियास्विव तारतम्येनाविर्भावप्रकारेऽपि मानत्वादिप्रतीतेस्तारतम्येनाविर्भावोऽङ्गीकर्तव्यः । भगवदिच्छाया नियाम-कत्वात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

नीयम् । तस्यापि प्राकृतिकत्वादित्यत आहुः नानात्वमित्यादि । 'बहु स्याम्' इति श्रवणात् तन्न प्राकृतिकमित्यर्थः । ननु यदीदमप्राकृतं स्यादप्राकृतत्वाविशेषात्त्रयाणामुपलब्धिरनुभूयेत, सा तु न दृश्यतेऽतो न तथेत्यत आहुः जडेत्यादि । जडे सदंशस्य, जीवे 'ज्ञानं त्वन्यतमो भावः' इति वाक्याज्ज्ञानांश-स्यान्तर्यामिण्यानन्दांशस्य प्राकट्यात् । तथाच प्राकट्याभावहेतुकमदर्शनं नानुपपत्तिबाधकमित्यर्थः । अत्र चोदयति कथमित्यादि । सर्वत्र त्रितयसद्भावेऽपि तत्र तत्रैकैकांशप्राकट्यं कयोपपत्त्याङ्गी-क्रियत इत्यर्थः । अत्र समादधते नेत्यादि । एवमाक्षेपो न युक्तः । यतोऽस्तीतिप्रत्ययगोचरे सद्रूप एकस्मिन्नेवार्थे घट इति गुणित्वेन, रूपमिति तदुपसर्जनतया गुणत्वेन, क्रियेति त्रिक्षणावस्थायि-तयाऽऽशुतरविनाशित्वेन यथा सदंशस्य तारतम्येनाविर्भावस्तथा जडेऽपि मानत्वप्रियत्वयोस्तार-तम्येनाविर्भावोऽङ्गीकार्यः । नन्वेवमङ्गीकारे का वा युक्तिरितिचेद् उच्यते । श्रीभागवते कंसस्या-रिष्टदर्शनस्थले, 'अदर्शनं स्वशिरसः प्रतिरूपेषु सत्स्वपि' इत्यासन्नमृत्योः शिरःप्रतिबिम्बादर्श-नमुक्तम् । तथा द्वितीयस्कन्धे, 'घ्राणं च गन्धः' इत्यादिवाक्यैरिन्द्रियाणां सजातीयग्राहकत्वं च बोधितम् । एवं सत्युक्तस्थले यच्छिरसोऽग्रहणं तत्र हेतुत्वेन विषयस्य चक्षुषो वा आवरणं वक्तव्यम् । तत्र न शिरसः । तस्यान्येन दर्शनात् । नापि चक्षुषः । तदानीं तेन विषयान्त-रदर्शनात् । अत उभयोपपत्त्यर्थं विषयनिष्ठज्ञानांशस्य तच्चक्षुः प्रत्येवावरणमिति वक्तव्यम् । एवं लोकाञ्जनस्थले वैषयिकज्ञानांशावरणम् । सदंशावरणे तु स्पार्शनमपि तस्य न स्यादिति । एवमेकत्र

रश्मिः ।

त्यर्थः । न प्राकृतिकमिति तथा च तेन रूपेणापि ब्रह्मण एवान्वयान्न प्रकृतिसमन्वय इति भावः । ऐच्छिकत्वेनागन्तुकत्वान्न समन्वयः । अत्रेति ऐच्छिकनानात्वावच्छिन्ने जगतीत्यर्थः । न दृश्यत इति । किं तु सदंशमात्रस्य दृश्यत इत्यर्थः । न तथेति नानात्वमप्राकृतिकं नेत्यर्थः । अदर्शनमिति चिदानन्दयोरित्यर्थः । क्रियेतीति कृतिजन्या क्रियेति प्रथमं भगवदिच्छया क्रिया, ततो द्वितीयक्षणे स्थितिः, ततस्तृतीयक्षणेऽधःसंयोगेनाशुतरविनाशित्वं ज्ञेयम् । प्रतिरूपेष्विति दर्पणादिष्वित्यर्थः । विषयस्य न संभवतीत्याहुः तत्र नेत्यादि । चक्षुष इति करणस्य । तदानीमिति स्वप्नकाल इत्यर्थः । उभयोपपत्त्यर्थमिति स्वस्य शिरःप्रतिबिम्बादर्शनविषयकरणोभयतः अग्राह-कत्वं चक्षुर्दोषस्तस्योपपत्त्यर्थमित्यर्थः । तच्चक्षुरिति स्वप्रद्रष्टृचक्षुरित्यर्थः । एवं लोकेत्यादि मायाञ्जनेन तमन्यो न पश्यति तादृशस्थल इत्यर्थः । सर्वोपि तं न पश्यतीति शरीरावरणमेव तत्र वक्तव्यं किं ज्ञानांशावरणकल्पनयेत्यत आहुः सदंशेत्यादि । स्पार्शनमिति प्रत्यक्षमित्यर्थः । एवं सदंश उपपाद्य ज्ञानप्रियत्वांशयोराहुः एवमेकत्रेति सदंशे । अन्यत्र ज्ञानांशे । तथेति नित्यज्ञानरूपे मानरूपक्रियास्विव तारतम्याभावेपि विषयताविषयकज्ञानेन ज्ञानमिति गुणित्वेन रूपमिति तदुप-

१. चिति सदानन्दयोरानन्दे सचितोरदर्शनमित्यर्थः । २. त्वविषिदेन ।

भाष्यप्रकाशः।

ज्ञानांशसिद्धावन्यत्रापि तथा सिध्यति। एवं प्रियत्वांशेऽपि बोध्यम्। यद्वा पदार्थमात्रस्य ज्ञानेनैव प्रकाशाज्ज्ञानजनकत्वाच्च सांख्योक्तप्रकारेणैव ज्ञानाविनाभावसिद्धौ ज्ञानात्मकत्वस्यापि सिद्धिः। परंतु तत्र जडे सदंशवत् प्रकटम्। सन् घटः, सन् पट इतिवज्ज्ञानं घट इति सामानाधिकरण्याप्रतीतेः। प्रियत्वे तु ततोऽप्यप्रकटम्। तत्तदसाधारणत्वात्। जीवे तु चिदंशस्यापि प्राकट्यम्। चेतनत्वेनैव सदा प्रतीयमानत्वात्। सदंशस्तु न्यग्भूतः। विशेषणतयैव प्रतीयमानत्वात्। प्रियत्वं तु ततो न्यग्भूतम्। उक्तयुक्तेः। अन्तर्यामिणि तु प्रियत्वमेव मुख्यमन्यदुभयं न्यग्भूतम्। तद्द्रष्टॄणां प्रियत्वेनैवानुभवगोचरत्वादिति। अत्र नियामिका तु, प्रजायेयेति भगवदिच्छैव। अन्यथा पूर्वोक्ताकारेणैव नानाभावात् सृष्टिसिद्धावेतदाकारान्तर-

रश्मिः।

सर्जनतया गुणत्वेन क्रियेति त्रिक्षणावस्थायित्वेन आशुतरविनाशितया ज्ञानांशस्य तारतम्येनाविर्भावः। ज्ञानस्य विषयताविषयकस्य त्रिक्षणावस्थायित्वात्। तदुक्तं तथा सिध्यतीति। प्रियत्वेति-दिशन्तिस्म एवमिति। बोध्यमिति पुत्रादौ बोध्यमित्यर्थः। आत्मनि प्रियरूपे प्रियरूपक्रियास्विव तारतम्याभावेपि पुत्रादौ प्रिये प्रिय इति गुणित्वेन रूपमिति तदुपसर्जनतया गुणत्वेन क्रियेति त्रिक्षणावस्थायित्वेनाशुतरविनाशितयाऽऽनन्दांशस्य तारतम्येनाविर्भावः। यथा सूर्ये रूपं श्यामं सूर्यत्वं च तदाच्छादिका क्रिया त्रिक्षणावस्थायिनी। दीपादावपि प्रसिद्धम्। अन्वयव्यतिरेकाभ्यामित्यस्य सुबोधिन्यनुसारेण पक्षान्तरमाहुः यद्वेत्यादि। ज्ञानेनैवेत्यादि घटो भासत इत्यादिप्रतीतेस्तथेत्यर्थः। ज्ञानजनकत्वादिति विषयविधयेति बोध्यम्। सांख्योक्तेत्यादि। घटादयो ज्ञानगुणकाः ज्ञानजनकत्वात् प्रकाशशैत्यादिजनकवह्निचन्दनादिवदित्यनुमानेनेत्यर्थः। ज्ञानात्मेत्यादि विमता घटादयः ज्ञानात्मकाः ज्ञानाविनाभूतत्वात्। तन्मात्राविनाभूतमहाभूतवदित्येवं ज्ञानात्मकत्वस्यापीत्यर्थः। किंच चित्त्वं व्यापकं घटादिवृत्ति वा मुख्यब्रह्मधर्मत्वात्, सत्त्ववत् इति। पटादौ व्यभिचारवारणाय मुख्येति हेतुविशेषणम्। सत्यादित्रयान्यतमत्वं तदर्थः। तथाच मुख्यब्रह्मधर्मत्वेन व्यापकत्वेन घटादिवृत्तित्वेनानुकूलस्तर्क एव युक्तिः। सामानेत्यादि भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वे सत्येकार्थबोधकत्वं सामानाधिकरण्यं तदप्रतीतेरित्यर्थः। प्रियत्वमिति प्रीतिजनकत्वदर्शनेन। घटादयः, प्रियत्वगुणकाः प्रीतिजनकत्वात्, प्रकाशशैत्यादिजनकवह्निचन्दनादिवत्। घटादयः प्रीत्यात्मकाः प्रीत्यविनाभूतत्वात्। तन्मात्राविनाभूतमहाभूतवदित्यनुमानाभ्यां घटाद्यात्मकं प्रियत्वमित्यर्थः। किंच प्रियत्वं व्यापकं घटादिवृत्ति वा मुख्यब्रह्मधर्मत्वात् सत्त्ववदित्यपि ज्ञेयम्। आनन्दो घट इत्यप्रतीतिस्तु तमस्स्वभावत्वाप्रतीतिवत्। सिद्धान्तमुक्तावलीटीकायां स्फुटमेतत्। तत्तदित्यादि इन्दुक्षयासाधारणधर्मत्वादित्यर्थः। न्यग्भूत इति गुणभूत इत्यर्थः। उक्तयुक्तेरिति तत्तदसाधारणत्वादित्यर्थः। तद्द्रष्टॄणामिति 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इति श्रुतेर्भृग्वादीनामित्यर्थः। भगवदित्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति अत्रेत्यादि। सा तु यथाकार्यं भगवदिच्छानुमेयेति भावः। पूर्वोक्तेत्यादि 'एकोहं बहु स्याम्' इतीच्छाकारेणैव। नानाभावात्सृष्टिसिद्धावेतदाकारान्तरकथनस्य 'प्रजायेय' इतीच्छाकारान्तरकथनस्य

भाष्यप्रकाशः।

कथनस्य वैयर्थ्यापत्तेः। उच्चनीचभावादिनाऽऽविर्भावस्यैव प्रकर्षपदार्थत्वेन विवक्षितत्वादिति। एतेन दुष्टत्वादिप्रतीतावपि भगवदिच्छैव हेतुरिति न तथापि समवायित्वे दोषप्रसक्तिः। क्रीडार्थं तथैव मुद्बुत्पादनात्। एतदप्येकादशस्कन्धीयविंशैकविंशाध्यायस्थैर्गुणदोषदर्शनस्य कर्मनियमार्थत्वबोधकवाक्यैरवसीयत इति नात्रापि शङ्कालेशः। अत एव न क्वचिदपि कुत्सितत्वं ब्रह्मविदां भासते। अत एवैकादश एवोक्तम्,

'किं वर्णितेन बहुना लक्षणं गुणदोषयोः।
गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः' इति॥

नचैवं ब्रह्मणः समवायित्वे, 'सैषाऽविद्या जगत् सर्वम्' इत्यादितापिनीयश्रुतिविरोधः शङ्क्यः। तस्याग्रे, न विलक्षणत्वाधिकरणे समाधेयत्वात्। तत्रापि तस्मादात्मन एव त्रैविध्यं सर्वत्र योनित्वमपीतिवक्ष्यमाणत्वादिति। अत एव श्रीभागवतारम्भश्लोकेऽपि ब्रह्मणः समवायित्वं

रश्मिः।

वैयर्थ्यापत्तेरित्यर्थः। विवक्षितत्वादितीति 'गर्दभीतरामवद्गर्दभ इतरः' इति श्रुत्यन्तरे तथादर्शनादिति भावः। इतरा शतरूपा, इतरो मनुः। भाष्योक्तहेतुसमाप्ताविति शब्दः। एतेनेति एतादृशप्रकर्षपदार्थेनेत्यर्थः। क्रीडार्थमिति एतच्च द्वितीयेध्याये 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' इति सूत्रे स्पष्टम्। कर्मनियमेत्यादि।

'विधिश्च प्रतिषेधश्च निगमो हीश्वरस्य ते।
अवेक्षतेरविन्दाक्ष गुणं दोषं च कर्मणाम्'॥ इत्यादिना
गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः'। इत्युक्तमाक्षिप्तम्। ततो भगवता
'स्वे स्वेधिकारे या श्रद्धा स गुणः परिकीर्तितः।
कर्मणां जात्यशुद्धानामनेन नियमः कृतः॥
गुणदोषविधानेन सङ्गानां त्याजनेच्छया'। इति विंशे, एकविंशे च
'शुद्ध्यशुद्धी विधीयेते समानेष्वपि वस्तुषु।
द्रव्यस्य विचिकित्सार्थं गुणदोषौ शुभाशुभौ॥
धर्मार्थं व्यवहारार्थं यात्रार्थमिति चानघ।
दर्शितोयं मयाचारो धर्ममुद्वहतां धुरम्'॥

इति कर्मनियमार्थत्वबोधकवाक्यैः क्रीडार्थत्वमवसीयत इत्यर्थः। वाक्यार्थस्तु श्रीधर्यां स्फुटः। शङ्कालेश इति एतच्च द्वितीयाध्याये स्फुटतरमिति न शङ्कालेश इत्युक्तम्। क्वचिदिति लोके कुत्सितत्वेन प्रतीयमानेपीत्यर्थः। ब्रह्मविदामिति निरस्ताविद्यानां भरतादीनामित्यर्थः। साविद्यानां प्रतीतिस्त्वविद्याकृतेति न प्रपञ्चवास्तविककुत्सितत्वसंपादनायालम्। ब्रह्मादौ वास्तवपीतत्वसंपादने सकामलस्य प्रतीतिरिवेति भावः। एकादश इति एकोनविंश इत्यर्थः। अग्रे इति द्वितीयाध्याय इत्यर्थः। तत्रापीति तापिनीय इत्यर्थः। त्रैविध्यमिति ब्रह्मविष्णुशिवरूपत्वमित्यर्थः। इतिवक्ष्यमाणत्वादिति इत्यात्मनः समवायित्वस्य वक्ष्यमाणत्वादित्यर्थः। समवायित्वमिति अभिन्ननिमित्तोपादानत्वयोर्मध्य इत्यर्थः। अतोऽभिन्ननिमित्तोपादानं जगद् ब्रह्मकारणक-

न च साधारण्येन सर्वजगत् प्रति परमाण्वादीनामन्वयः संभवति ।

भाष्यप्रकाशः ।

ग्राहयितुं, 'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयात्' इत्यनेनान्वय एव हेतुत्वेनोक्तः । न च तत्रेतरत इत्यनेन व्यतिरेकस्याप्युक्तत्वात् तस्यात्र कुतो नोक्तिरिति शङ्क्यम् । ब्रह्मणो व्यापकत्वेनाभावरूपस्य व्यतिरेकस्याभावाद्विशेषेणातिरिक्तत्वरूपो व्यतिरेकः कृत्स्नप्रसक्तिवारणायात्र विवक्षितः । स त्वनारोपितानागन्तुकरूपबोधकेन सम्उपसर्गेणैव बोधित इत्यतः पृथगनुक्तेः । एवं चतुःश्लोक्यामप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामित्यत्रापि बोध्यम् । एतदेवैकादशस्कन्धीये,

'यथा हिरण्यं सुकृतं पुरस्तात् पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्मयस्य ।
तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं नानापदेशैरहमस्य तद्वत्' ॥

इति वाक्येऽपि निष्कृष्य दृष्टान्तेन बोधितं ज्ञेयम् । प्रकृतमनुसरामः । नन्वेतादृशोपपादनसापेक्षब्रह्मान्वयोपगमापेक्षया तदनपेक्षः परमाणूनां भूतानां वान्वयो ज्यायान् प्रतिपत्तिसौकर्यात् । तदर्थमेव सर्वेषां प्रयत्नादित्याशङ्कायामाहुः नचेत्यादि । परमाण्वादीनामित्यादिपदेन, 'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा' इति श्रुत्युक्तानां कालादीनां संग्रहः । जगदन्तःपातिषु दिगाकाशादिषु परमाणूनामन्वयाभावात् । तेषां नित्यत्वाभ्युपगमेऽपि स्वभावान्वयस्त्ववश्यं वाच्यः । एवं मतान्तरे कालस्य प्रकृतेश्च वाच्यः । तथा सति विप्रतिपन्नानामनेकेषां परमाणूनां चानेकेषाम-

रश्मिः ।

मित्युक्तं भवतीति सुबोधिनीस्वारस्यात् । अत एव तथा चैवं विचारे ब्रह्मणः सर्वविधं कारणत्वं श्रुतिवाक्याभ्यां प्रमाणाभ्यां सिद्धमिति भाष्ये वक्ष्यते । **व्यतिरेकस्येति** निमित्तकारणत्वरूपस्येत्यर्थः । **व्यतिरेक** इति निमित्तकारणमित्यर्थः । इतरत् निमित्तकारणमिति सुबोधिनीस्वारस्यात् । कारणत्वे सति विशेषेणातिरिक्तत्वं निमित्तस्यैवेति । **स त्विति** निमित्तकारणरूपो व्यतिरेक इत्यर्थः । **अनारोपितेति** 'विषवृक्षोपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसांप्रतम्' इत्यत्र असांप्रतमित्यस्य न युज्यते इत्यर्थान् निपातानां वाचकत्वमपीष्टमिति भावः । वस्तुतस्तु द्योतकेनेत्यर्थः । अनागन्तुकनारोपितरूपस्य व्यञ्जनया बोधकेनेत्यर्थात् । **बोधित** इति व्यतिरेके सति ब्रह्मणो जगत्यन्वयः स्यात्तदैव समन्वयः, अस्त्यादिनान्वयः । अन्यथा तु कृत्स्नस्य ब्रह्मणो जगत्त्वप्रसक्तिरिति समन्वयो न स्यादिति भावः । **एवं चतुरिति** एतच्चैतस्य सुबोधिन्यां व्याख्यातं प्रागुक्तं च । **तदर्थमिति** समन्वयसंपादनार्थमित्यर्थः । **काल इत्यादि** श्वेताश्वतरेऽस्ति । **तेषामिति** दिगाकाशादीनाम् । **नित्यत्वेत्यादि** तच्चैकं विभु नित्यं चेति तर्कसंग्रहे इत्यभ्युपगमपदम् । स्वभावान्वयो नित्येष्वपि वाच्य इत्यर्थः । अन्यथा शब्दगुणकत्वं न स्यात् । **मतान्तर** इति व्याहृति ब्रह्मवादे सांख्ये चेत्यर्थः । व्याहृति ब्रह्म कालः । द्वितीयाध्याये दशमस्य कालात्मा संकर्षण उक्तः । स वेदः । काल उपदेश इति धातुपाठात् । आत्मशब्दस्तु 'कालोस्मि' इति गीतावाक्यात् । मतं तु

'प्रथमं महतः स्रष्टृ द्वितीयं त्वण्डसंस्थितम् ।
तृतीयं सर्वभूतस्थं यज्ज्ञात्वा मुच्यते बुधः' ॥

इत्यत्र व्याहृति ब्रह्म । अण्डसंस्थितं द्वितीयम् । **वाच्य** इति अन्वयो वाच्यः । **एकस्मिन्नित्यादि** भाष्यं विवृण्वन्ति **तथा सतीत्यादि** । **विप्रतिपन्नानामिति** दीधितिकृ-

१. पदार्थतत्त्वविवेचनाख्ये ग्रन्थे ।

एकस्मिन्ननुस्यूते संभवत्यनेककल्पनाया अन्याय्यत्वात् । लोके कर्तृविशेषवदुपादानविशेषग्रहणेऽपि न ब्रह्मणि व्यभिचारः । अलीकप्रतीतेऽस्तित्वादिप्रतीतावपि तस्यान्वयाभावान्न कार्यत्वव्यभिचारौ । तस्माद् ब्रह्मण एव समवायित्वम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

न्वयकल्पनस्य न्यायविरुद्धत्वं प्रतिपत्त्यसौकर्यात् । किंत्वेकस्मिन् ब्रह्मणोऽन्वये संभवति तस्यैवानुस्यूतस्य समवायित्वं युक्तमित्यर्थः । एकस्मिन् समवायिनीति वार्थः । नन्वनेकसमवायिकल्पनस्यान्याय्यत्वे मृत्तन्त्वादेरपि समवायित्वं न स्यात् । तथा च प्रत्यक्षविरोध इत्यत आहुः लोक इत्यादि । तथा च यथा लोके कुलालादीनां चतुर्मुखान्तानां कर्तृत्वेऽपि तत्तन्मते प्रकृतेरीश्वरस्य च सर्वनियामकत्वान्न कर्तृत्वं हीयते एवं लोके तन्त्वादीनां परमाण्वन्तानां प्रकृत्यन्तानां चोपादानत्वेन ग्रहणेऽप्यस्मन्मते ब्रह्मणो मूलकारणत्वान्न समवायित्वहानिरित्यर्थः । ननु शुक्तिरजतादौ स्वाप्निकेषु चास्तित्वं प्रतीयत इति तेषु सदन्वयो वक्तव्यस्तथा सति तस्यापि ब्रह्मकार्यत्वे जगत्तुल्यतया सत्यत्वं स्यात् । तत्तु विशेषदर्शनबाधितत्वादशक्यवचनम् । ततश्च न तस्य ब्रह्मकार्यत्वमपि । अतोऽकार्येऽपि सदन्वयान्न तेन ब्रह्मणः समवायित्वसिद्धिरित्यत आहुः अलीकेत्यादि । तथा चान्वयस्य न गमकत्वमपि तु समन्वयस्य । समन्वयस्त्वनारोपितानागन्तुकरूपेणान्वयः । अलीकप्रतीतरजतादौ तु सत्ता आरोपितेति सत आरोपितरूपेणान्वयान्न तस्य ब्रह्मकार्यतागमकत्वम् । तस्यैवाभावाच्च न ब्रह्मणोऽपि समवायित्वव्यभिचार इत्यर्थः । सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि । नामरूपयोः कर्मणः सुखदुःखमोहानां चागन्तुकत्वेन, परमाण्वादीनां चासाधारणत्वेन, कालादेस्तथात्वे विप्रतिपन्नत्वेन, अलीकप्रतीतेः सत्त्वस्यारोपितत्वेन तेषामन्वयस्यासम्यक्तया प्रकटाप्रकटानां वास्तविकानां सच्चिदानन्दानामेव समन्वयाद् ब्रह्मण एव समवायित्वं निश्चेयमि-

रश्मिः ।

तापि परमाणुद्व्यणुकयोश्च प्रमाणाभाव इति वदता त्रसरेणावेव विश्रान्त्यङ्गीकारेण संदिग्धानामित्यर्थः । यद्वा चकारान्न विशेष्यविशेषणभावोऽतो विप्रतिपन्नानां कालादीनाम् । विप्रतिपत्तिर्नैयायिकप्रसिद्धा । **अनेकेषामिति** परमाणुस्वभावकालादीनामित्यर्थः । **प्रतिपत्तीत्यादि** गौरवात्तथेत्यर्थः । कालादीनां तु किं कारणं ब्रह्म कुतोऽस्म जाता जीवाम इति कारणजिज्ञासायां 'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्' इति श्रुतावेव चिन्त्यत्वनिर्वचनादेव कारणत्वस्य निरासादिति । **एकस्मिन्निति** अत्र संभवतीत्यन्तेन **एकस्मिन्ननुस्यूते संभवतीति** भाष्यं विवृतम् । तस्यैवेत्यादिनानेककल्पनाया अन्याय्यत्वादिति भाष्यस्य फलितार्थकथनमिति बोध्यम् । **तत्तन्मत** इति सांख्यनैयायिकादिमत इत्यर्थः । समन्वयलक्षणस्यानारोपितपदकृत्यं वक्तुं हेतोर्व्यभिचारित्वं शङ्कामुखेनाहुः **नन्वित्यादि** । **विशेषदर्शनेत्यादि** दोषनिवृत्तौ नेदं रजतमिति नेमे स्वाप्निका इति च विशेषदर्शनेत्यर्थः । **ततश्चेत्यादि** सत्यत्वाभावाच्चेत्यर्थः । **तेनेति** व्यभिचरितेन समन्वयेन हेतुनेत्यर्थः । **ब्रह्मण इत्यादि** उभयपक्षेपीति बोध्यम् । **आरोपितेति** पूर्वमसत्त्वात्तथेत्यर्थः । **तस्येति** आरोपितरूपेणान्वयस्येत्यर्थः । **ब्रह्मकार्येति** अनुमानपक्षेणेदमुक्तम् । भाष्ये तु व्याख्यानपक्ष इति न गमकशब्दः । तेन ब्रह्मकार्यतासाधकत्वमित्यर्थः । न कार्यत्वव्यभिचाराविति भाष्यीयकार्यत्वशब्दं व्याकृत्य व्यभिचारशब्दं व्याकुर्वन्तिस्म **तस्यैवेत्यादि** । आरोपितरूपेणान्वयस्य शुक्तिरजतादिवदभावाच्चेत्यर्थः । **व्यभिचारो** हानिः । **असाधारणत्वेनेति** आकाशाद्यवृत्तित्वेन तथेत्यर्थः । **तथात्व** इति कारणत्व इत्यर्थः ।

एतत् सर्वं श्रुतिरेवाह । 'स आत्मानꣳस्वयमकुरुत' इति । निमित्तत्वं तु स्पष्टमेव सर्ववादिसंमतम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

त्यर्थः । नन्वेवं वादिविसंमताग्रहे किं बीजमत आहुः एतदित्यादि । पूर्वाधिकरणोक्तं कर्तृत्वं शास्त्रप्रमाणकत्वम्, एतदधिकरणोक्तं समवायित्वं च कर्तृकर्मत्वबोधकविभक्तिभ्यामेकस्यैव श्रुतिर्वदतीत्येतदेव बीजमित्यर्थः । अन्यथा श्रुतावुपचारापत्तेः । एवंच, यत इत्यत्र हेतौ या पञ्चमी सा, 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' इत्यत्र प्रकृतिपदेन समवायिरूपं कारणं परामृश्य विहितेति निमित्तवदुपादानमपि सैव वक्तीति बाधकशब्दश्रवणमप्रत्यूहम् । तथा चैवं विचारे ब्रह्मणः सर्वविधं कारणत्वं श्रुतिवाक्याभ्यां प्रमाणाभ्यां सिद्धम् । तत्र स्वस्यैव समवायित्वेन कर्तृदोषभूतमनाप्तकामत्वं, क्रियाज्ञानयोः सातिशयत्वं च वारितम् । कर्मणि आत्मपदेनाविकृतत्वबोधनाद् विकृतत्वं च वारितम् । तेन दोषरहिता ब्रह्मणः सर्वविधा कारणतेत्यनेनाधिकरणेन निर्णीतम् । समन्वयपदव्याख्यानेनात्र समवायस्वरूपमपि बोधितम् । अनारोपितानागन्तुकरूपेणानुवृत्तिरेव समवाय इति । इदमेव च तादात्म्यम् । आगन्तुकरूपेण भेदसहिष्णुत्वेऽप्यनागन्तुकरूपेणाभेदादिति । न तु

रश्मिः ।

कर्त्रित्यादि ताभ्यां विभक्तिभ्यामित्यर्थः । अन्यथेति पूर्वोक्तत्रयानङ्गीकार इत्यर्थः । उपचारेति । तदिति तच्छब्दे । कर्ता वाच्यः समवाय्यभिन्नकर्तरि लक्षणापत्तेरित्यर्थः । परामृश्येति प्रकृतिपदमुपादानमात्रपरमिति भाष्यकैय्यटमतमिति मनोरमायामुक्तत्वात् तथेत्यर्थः । निमित्तवदिति वृत्तिकृन्मते प्रकृतिपदस्य हेतुमात्रपरत्वादिति भावः । सैव वक्तीति 'जायमानस्य हेतुरपादानं स्यात्' इति वृत्तौ हेतुपदं भाष्यकैय्यटसंमत्या स्वभावेन चाभिन्ननिमित्तोपादानं वक्तीत्यर्थः । श्रुतीति यत इति विभक्तिरूपा विनियोक्त्री श्रुतिः 'यतो वा इमानि भूतानि' इति साध्यत्वादिवाचकद्वितीयाद्यभावे वस्तुतः शेषशेषिणोः सहोच्चारणरूपसमभिव्याहारात्मकं वाक्यं ताभ्यामित्यर्थः । समवाय इति न चानारोपितानागन्तुकरूपेण घटत्वादिना रूपादौ घटादीनामनुवृत्तेरभावात्समवायित्वं न स्यादिति शङ्क्यं, तादात्म्यस्वीकारात् । एतच्च द्वितीयस्य द्वितीयपादे स्फुटिष्यति समवायेत्यादिसूत्रे । आगन्तुकेत्यादि यथागन्तुकरूपेण घटत्वादिना मृदो भेदसहिष्णुत्वेपि अनागन्तुकरूपेण मृत्त्वेनाभेदात् । तथागन्तुकेन रूपेण रूपनामादिना ब्रह्मणो भेदसहिष्णुत्वेपि अनागन्तुकरूपेण सत्यत्वादिनाभेदादित्यर्थः । तथा च प्रत्ययः । मृद् घटो न, घटो मृत्, ब्रह्मजगन्न, अधिकत्वात्, जगद् ब्रह्मेति भेदस्यैच्छिकत्वाच्च तयोर्विरोधः । नागेशभट्टोपीदं लक्षणं मञ्जूषायामनुमेने । शब्दार्थयोस्तादात्म्यं च तद्भिन्नत्वे सति तदभेदेन प्रतीयमानत्वम् । अभेदस्याध्यस्तत्वाच्च न तयोर्विरोधः । तत्र भेदस्योद्भूतत्वविवक्षयास्यार्थस्यायं वाचकः उम्: प्रगृह्यं तस्य वाचकः प्रणव इत्यादौ षष्ठी । अभेदस्य तत्त्वविवक्षया तु प्रथमा 'वृद्धिरादैच्' 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' इत्यादिषु । अत एवार्थे शब्दधर्मत्वव्यवहारः । अत्यन्ताभेदेऽश्वपुरुषयोरिव तद्व्यवहाराभावात् । नाप्यत्यन्ताभेदे सः ।

भाष्यप्रकाशः ।

वैशेषिकप्रतिपन्न इति न कोऽपि विरोधः । एतस्य संबन्धत्वमैच्छिकभेदोत्तरं द्विनिष्ठत्वे विशिष्टबुद्धिनियामकत्वाज्ज्ञेयम् ।

विज्ञानेन्द्रभिक्षुस्तु जन्मादिसूत्रे अधिष्ठानकारणमतिरिक्तमङ्गीकृत्य, यत्राविभक्तं येनोपष्टब्धं च सद् उपादानकारणं कार्याकारेण परिणमते तदधिष्ठानकारणम् । यथा सर्गादौ जलाविभक्ताः पार्थिवसूक्ष्मांशास्तन्मात्राख्या जलेनैवोपष्टम्भात् पृथिव्याकारेण परिणमन्त इत्यतो जलं पृथिव्या अधिष्ठानकारणमिति । अत्र प्रमाणं तु,

'आधारमानन्दमखण्डबोधं यस्मिँल्लयं याति पुरत्रयं च' ।

रश्मिः ।

घटे स्वधर्मत्वव्यवहाराभावादिति । न कोऽपीति समवायदूषकस्य 'समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः' इति सूत्रस्यापि न विरोध इत्यर्थः । अत्र वदन्ति तादात्म्यं न संबन्धः किं तु नीलं घटमानयेत्यादौ विशेषणीभूतनीलादिपदोत्तरं विभक्त्यर्थकर्मत्वं तस्य नान्वयः क्वापि । विशेषणपदोत्तरं विभक्तेः साधुत्वार्थं प्रयोगात् । अभेद एव वा विशेषणविभक्तेरर्थः । अयमेव तादात्म्यम् । अभेदस्य संसर्गमर्यादया भानं तु समासस्थल एव । लुप्तविभक्त्यनुसंधानाभावेपि शाब्दबुद्धेरानुभाविकत्वात् । न च विशेषणविभक्तेरभेदार्थकत्वं न संभवति, घटे नील इत्यादावप्यभेदान्वयबोधापत्तेः । धान्येन धनमस्येत्यादौ तृतीययाऽभेदबोधनात् । नाभेदप्रकारकबोधे विरुद्धविभक्तिराहित्यं प्रयोजकमिति शङ्क्यम् । द्वितीयादिनाभेदबोधने द्वितीयान्तविशेष्यवाचकपदसमभिव्याहारस्य प्रयोजकताभ्युपगमादिति तदमञ्जुलम् । अभेदस्य संसर्गता नीलो घट इत्याद्यसमस्तस्थलेप्यविरुद्धा गौरवाभावात् । एवंचासमस्तस्थले विशेषणविभक्तेरभेदे शक्तिकल्पनमनुचितम् । ननु विशेषणविभक्तेरभेदे शक्तिभ्रमस्थलेऽभेदस्य संसर्गतावादिमतेऽभेदस्य प्रकारतावादिमते च नीलो घट इति वाक्यादभेदप्रकारकबोधः संभवति । एवं च द्वितीयादिनाऽभेदबोधने द्वितीयान्तविशेष्यवाचकपदसमभिव्याहारस्य प्रयोजकत्वं यदभ्युपगतं तदभेदस्य संसर्गतया शक्त्या च बोधनद्वये हेतुरिति हेतुताद्वयकल्पने गौरवम्, अभेदस्य संसर्गतावादिनः इत्यादीति चेन्न । अभेदे शक्तिभ्रमस्थलेपि तत्संसर्गबोधस्यैवोपगमादभेदस्य संसर्गतावादिनेति तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नभेदाभाव एव नीलत्वादिप्रकारेण भासमानानां तत्तद्व्यक्तीनां स्वस्मिन्संबन्धतया भासत इति भट्टगदाधरः । तदेतदाहुः एतस्य संबन्धत्वमिति । द्विनिष्ठत्व इत्यादि ब्रह्मजगन्निष्ठत्वे जगद् ब्रह्मेति । विशिष्टबुद्धिनियामकत्वाज्ज्ञेयमित्यर्थः । अत्रेयं लिपिर्बोध्या । तच्छोधितावरणभङ्गे तज्ज्ञानफलमिति दर्शनात्, तेन जकारञकारयोर्योगे ज्ञ इत्युच्चारणमात्रं न त्वस्य वर्णान्तरत्वमिति श्रुत्वं भवत्येवेति कथं नात्र तदिति कुचोद्यं निरस्तम् । अथवा मातृकाविद्यायां पञ्चाशद्वर्णा इति पक्षः । तत्र षोडश स्वराः पञ्चविंशतिः स्पर्शाः याद्योष्टौ क्षकारोऽन्तिमः । संध्यक्षरत्वेपि पृथगुपादानं भिन्नश्रुत्या ज्ञकारस्याप्युपलक्षकमिति ञकारचवर्गयोर्योगाभावाच्च श्रुत्वम् । शिक्षोक्तचतुःषष्टिपक्षत्रिषष्टिपक्षयोस्तु क्षज्ञयोर्भिन्नाक्षरत्वे न संदेहः । एवमेकपञ्चाशद्द्विपञ्चाशत्पक्षेपि बोध्यम् । एतच्च 'पञ्चाशद्वर्णरूपञ्च' इति निबन्धे स्पष्टम् । अतोस्मिन्नंशे मनोरमोक्तं श्रुत्वं भवत्येवेत्येवामञ्जुलमेवेति ध्येयम् । शुद्धस्यैव कारणत्वं शुद्धाशुद्धयोः शुद्धस्यैव प्राधान्यमिति वक्तुं निश्चेतुं मतान्याहुः विज्ञान इति । तन्मात्रेति गन्धाख्या । जलेन चाश्रयभूतेन । अत्रेति ब्रह्मणोऽधिष्ठानकारणत्व इत्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी' ॥

इति कैवल्योपनिषद्वाक्यम् ।

'यस्य यत् कारणं प्रोक्तं तस्य साक्षान्महेश्वरः ।
अधिष्ठानतया स्थित्वा सदैवोपकरोति च' ॥

इति पुराणान्तरवाक्यं च । एतादृशकारणत्वमेवाधिष्ठानकारणत्वमिति मूलकारणत्वमिति चोच्यते । ब्रह्मणश्च स्वाविभक्तप्रकृत्याद्युपष्टम्भकत्वं साक्षितामात्रेणेति जगत्कारणत्वेऽपि ब्रह्मणो न विकारित्वम् । न वा प्रकृतिपुरुषादिष्वतिप्रसङ्गः । सर्गात् पूर्वमन्येषां साक्षित्वासंभवात् । अत एवाविकारिचिन्मात्रत्वेऽपि ब्रह्मणो जगदुपादानत्वं, जगदभेदश्चोपपद्यते । विकारिकारणवदधिष्ठानकारणस्याप्युपादानत्वव्यवहारात् । कार्याविभागाधारत्वस्यैवोपादानसामान्यलक्षणत्वात् । अविभागश्चाधारतावत् स्वरूपसंबन्धविशेषोऽत्यन्तसंमिश्रणरूपो दुग्धजलाद्येकताप्रत्ययनियामकः । तत्र समवायसंबन्धेन यत्राविभागस्तद्धि विकारिकारणम् । यत्र कार्यस्य कारणाविभागेनाविभागस्तदधिष्ठानकारणम् । यथा जलं पृथिव्या इति । न हि जलस्य पृथिवी साक्षादेव विकारः । तन्मात्राणां भूतप्रकृतित्वश्रुतिस्मृतिविरोधात् । नच द्वयोरेवोपादानत्वम् । विजातीयानामनारम्भकत्वात् । एवमाकाशादीनां वाय्वाद्युपादानत्वमप्यधिष्ठानतयैव द्रष्टव्यम् । संभवत्यविरोधे सृष्टिप्रक्रियायां वैशेषिकसांख्ययोरुभयोरप्यत्र विरोधानौचित्यादिति । वैशेषिकादिभिरपीदृशं ब्रह्मणः कारणत्वमिष्यत एव । परंतु तैरिदमपि निमित्तकारणत्वमिति परिभाष्यते । अस्माभिस्तु समवाय्यसमवायिभ्यामुदासीनं निमित्तकारणेभ्यश्च विलक्षणतया चतुर्थमाधारकारणत्वमिति । ब्रह्मणश्च जगत्कर्तृत्वं स्वोपाधिमायौपाधिकम् । परिणामित्वरूपोपादानत्वं च प्रकृतितत्कार्याद्यौपाधिकमित्याह ।

तदसंगतम् । 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' इत्यादिश्रुतिषु दृश्यमानस्य जगतः पूर्वमात्मरूपत्वादिबोधनेनेतराभावसिद्धावविभागाख्यस्य स्वरूपसंबन्धस्य तदानीं वक्तुमशक्यत्वेन लक्षणेऽव्याप्तेः । गार्गीब्राह्मणे भूतभव्यस्याकाशे आकाशस्य चाक्षरे ओतप्रोतत्वकथनेन तादृशत्वस्य च, 'ओतप्रोतमिदं यस्मिंस्तन्तुष्वङ्ग यथा पटः' इत्याद्युपादानतागमकत्वेन, आथर्वणानां गोपथब्राह्मणारम्भे 'ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीत् स्वयं त्वेकमेव तदैक्षत महद् वै यक्षं तदेकमेवास्मि

रश्मिः ।

अतिप्रसङ्ग इति अधिष्ठानकारणत्वस्येत्यर्थः । दुग्धजलादीति आदिशब्देनोदकसैन्धवखिल्यादिग्रहणम् । कार्येत्यादि सामान्यलक्षणं योजयते तत्रेत्यादि । यत्रेत्यादि च । जलं पृथिव्या इति अद्भ्यः पृथिवीति श्रुतेः । भूतेति । श्रुतिस्मृतिकैवल्योपनिषत्पुराणान्तररूपे पूर्वोक्ते । द्वयोरिति जलतन्मात्रयोरित्यर्थः । विजातीयेत्यादि । तथाच विजातीयजलस्य पृथिव्यनारम्भकत्वमिति भावः । वाय्वादीत्यादि 'आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः' इत्यादिश्रुतावित्यर्थः । विरोधानौचित्यादिति परस्परं वैशेषिकसांख्ययोर्विरोधो बोध्यः । स्वोपाधिमायेति माया शुद्धसत्त्वप्रधाना । प्रकृतिः सत्त्वरजस्तमःसाम्यावस्था । इत्यादीति आदिशब्दार्थस्तद्भाष्ये द्रष्टव्यः । दृश्यमानस्येति

भाष्यप्रकाशः ।

हन्ताहं मदेव मन्मात्रं द्वितीयं तदेव निर्मम' इति द्वितीयस्य ब्रह्ममात्रत्वश्रावणपूर्वकं सृष्टिकथनेन

'विश्वं वै ब्रह्मतन्मात्रं संस्थितं विष्णुमायया ।
यथेदानीं तथाग्रे च पश्चादप्येतदीदृशम्' ॥

इति तृतीयस्कन्धे विश्वस्य ब्रह्मतन्मात्रत्वकथनेन च द्वितीयस्य विश्वस्य च साक्षादुपादेयत्वे ब्रह्मण उपादानत्वस्यादृष्टवारितत्वाच्च । नचोक्तकैवल्यश्रुतिविरोधः । तस्या अवान्तरसृष्टिविषयकत्वात् । एवकाराग्रपदाद्यभावेन पुरत्रयलयलिङ्गेन च तथा निश्चयात् । नापि स्मार्तसदापदविरोधः । प्राथमिकसृष्ट्यनन्तरं तथात्वेऽप्यविरोधात् । उक्तश्रुताविवेहापि प्राथमिकसृष्ट्यारम्भकालगमकस्याभावात् । उक्तदृष्टान्तोऽप्यसंगतः । पृथिव्यादितन्मात्रस्यैव साक्षाज्जलादिजन्यत्वात् ।

'रसमात्राद् विकुर्वाणादम्भसो दैवनोदितात् ।
गन्धमात्रमभूत् तस्मात् पृथ्वी घ्राणस्तु गन्धगः' ॥

इत्यादितृतीयस्कन्धवाक्यैस्तथानिश्चयात् । विजातीयारम्भस्यात्रापि तादवस्थ्यात् । न च विजातीयानामनारम्भकत्वम् । तन्तुत्वपटत्वयोर्भेदेन तत्रैव विजातीयारम्भदर्शनात् । द्रव्यत्वादिना साजात्यस्य भवदनभिमतेऽपि सत्त्वात् । नच द्रव्यत्वव्याप्यजातिभिरेव साजात्यं विवक्षितमिति वाच्यम् । अप्रयोजकत्वाद् गोमयादिभ्यो वृश्चिकाद्युत्पत्तिदर्शनात् । चलत्यनिले धक्ष्यमानलेनापि यत्र महान् दावानलस्तत्रानलावयवानां स्वल्पत्वेन ततो महानलस्याशक्यवचनतयाऽनिलेनैव तदुत्पत्तेः सार्वजनीनत्वाच्च । 'यत्र क्वचन स्विद्यति शोचते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते' इत्यादिश्रुतिभिरपि तथा निश्चयाच्च । सांख्यवैशेषिकादीनां परस्परावि-

रश्मिः ।

पत्वं लेखकप्रमादात् । द्वितीयस्येति जगत इत्यर्थः । अदृष्टेत्यादि दण्डो दुष्टगोरानयनेस्ति दोषात्तद्वदुपादानत्वेपि विकारित्वादिदोषावचनाच्चेति दण्डेन हेयत्वापत्त्या वारितं भवत्येव । 'वाचो धेनुमुपासीत' इति श्रुत्या शब्दात्मनो धेनुत्वेनोपासनमत्र ज्ञेयम् । कॢप्तकारणभावेनैव निर्वाहेऽतिरिक्तकल्पनायां गौरवमिति चकारार्थः । अवान्तरेति 'तम (एवाग्र) आसीत्तमसा गूढमग्रे प्रकेतम्' इति श्रुत्यावान्तरेत्यादिः । 'आपमापामपः सर्वाः' इति श्रुतिवत् । पुरत्रयेत्यादि तमोधिष्ठातुस्त्रिपुरारेर्हि लिङ्गमिदमिति, अन्यथा लोकत्रयमित्युक्तं स्यात् । स्मार्तसदेत्यादि अधिष्ठानतया स्थित्यधिष्ठानकारणं तत्कृतस्य सर्वकालबोधकस्मार्तसदापदेत्यर्थः । तथात्व इति अधिष्ठानतया स्थित्वा सदोपकार इत्यर्थः । प्राथमिकेत्यादि अग्रपदादेरिवेत्यर्थः । विजातीयस्यानारम्भकताभ्युपगम्य जलस्य न साक्षाद्विकारः पृथिवीत्युक्तं तत्रेत्याहुः उक्तेत्यादि । यथा जलं पृथिव्या इत्युक्तदृष्टान्तः । विजातीयेत्यादि । अत्रापीति त्वयाप्यभ्युपगते गन्धरूपतन्मात्रस्य पृथिव्युपादानत्वेपीत्यर्थः । गन्धत्वपृथिवीत्वाभ्यां वैजात्यं बोध्यं पुराणे । नैयायिकः प्रत्यवतिष्ठते नचेत्यादि । तत्रैवेति प्रसिद्धयोस्तन्तुपटयोरेव । भवदित्यादि तन्तुपटयोः कार्यकारणभाव इत्यर्थः । तथाच तन्तुभ्यो पटोप्युत्पद्येतेति भावः । न च द्रव्यस्वेत्यादि पृथिवीत्वास्वादिभिरित्यर्थः । अप्रयोजकेति द्रव्यत्वव्याप्या जातिः पृथिवीत्वं तस्य तन्तुपटयोः सत्त्वेन विजातीयानारम्भासाधकत्वात् । हेतौ हेतुमाहुः गोमयेत्यादि । एतच्च गोमयस्यापृथ्वीत्वे । गोमयस्य पृथ्वीत्वाद्धेत्वन्तरमाहुः चलतीत्यादि । तथाच द्रव्यत्वव्याप्या जातिरनिलत्वं तेनानले साजात्याभावादप्रयोजकत्वादिति भावः । स्विद्यतीत्यादि खेदयुक्तो भवत्यश्रूणि मुञ्चतीत्यर्थः । तथेत्यादि द्रव्यत्वव्याप्यतेजस्त्वेनापां

भाष्यप्रकाशः ।

रोधाग्रहस्य प्रकृतानुपयोगित्वेन तथायासस्यापार्थत्वाच्च । एवं ब्रह्मणो मायौपाधिकं कर्तृत्वं प्रकृतिवत्कार्यौपाधिकं परिणाम्युपादानत्वमप्यवान्तरसृष्टिविषयकमेव । 'आनन्दरूपममृतं यद् विभाति,' 'सच्चिदानन्दरूपाय' इत्यादिश्रुतिभिः 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः' इत्यादिस्मृतिभिश्च ब्रह्मण आनन्दाकारत्वे सिद्धे मूलरूपस्यौपाधिकत्वकल्पनाया असंगतत्वात् । नच विकारित्वादि शङ्क्यम् । तस्याग्रे तदनन्यत्वाधिकरणे परिहरणीयत्वात् । एवमन्यदपि यद्यद् विरुद्धमविरुद्धं वा तत्सर्वं प्रसङ्गे व्यवस्थापयिष्यामः ।

भट्टभास्कराचार्यास्तु ब्रह्मण एवोपादानत्वमङ्गीकृत्य कार्यस्य जगतः कारणाद् भेदाभेदौ प्रतीत्या व्यवस्थापयन्ति । तथाहुः—

'एकस्यैकत्वमस्तीति प्रमाणादवगम्यते ।
नानात्वं तस्य तत्पूर्वं कस्माद् भेदोऽपि नेष्यते ॥
यत्प्रमाणैः परिच्छिन्नमविरुद्धं हि तत् तथा ।
वस्तुजातं गवाश्वादि भिन्नाभिन्नं प्रतीयते' ॥

नह्यभिन्नं भिन्नमेव वा क्वचिद् दर्शयितुं शक्यते । सत्ताज्ञेयत्वद्रव्यत्वादिसामान्यात्मना सर्वमभिन्नं, व्यक्त्यात्मना तु परस्परवैलक्षण्याद् भिन्नम् । तथाहि—

'प्रतीयते चेदुभयं विरोधः कोऽयमुच्यते ।
विरोधे चाविरोधे च प्रमाणं कारणं मतम् ॥
एकरूपं प्रतीतत्वाद् द्विरूपं तत् तथेष्यताम् ।
एकरूपं भवेदेकमिति नेश्वरभाषितम्' ॥

रश्मिः ।

साजात्याभावेऽप्युपादानत्वबोधनेनाप्रयोजकत्वनिश्चयादित्यर्थः । तथेति अविरोधप्रकारस्येत्यर्थः । अवान्तरेति 'माया च तमोरूपा' इति नृसिंहतापनीयात् । सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिरित्युभयथापि तमसः सृष्टिरवान्तरसृष्टिस्तद्विषयकम् । व्यवस्था सर्वसंमतेत्येवकारः । अग्र इति द्वितीयाध्याय इत्यर्थः । प्रमाणादिति चक्षूरूपादित्यर्थः । तत्पूर्वमिति एकत्वपुरःसरमतो हेतोस्तथेत्यर्थः । एकैव मृन्नानाघटाद्याकारेण भवतीति निदर्शनमत्र बोध्यम् । यत्प्रमाणैरिति प्रमाणैश्चक्षुरादिभिर्यद्वस्तु परिच्छिन्नं यद्विशिष्टं निश्चितं यथैकस्मिन् घटे द्रव्यत्वपृथ्वीत्वघटत्वादयः रूपरसपरिमाणादयश्च प्रमाणनिश्चिता इति तद्विशिष्टं घटरूपं वस्तु तत्तथैवाविरुद्धम् । निश्चितोयमर्थ इति हिशब्दार्थः । तथैव गवाश्वादिवस्तुजातं वक्ष्यमाणरीत्या भिन्नाभिन्नं प्रतीयतेऽतो भिन्नत्वाऽभिन्नत्वावच्छिन्नमेव वस्तुजातमविरुद्धमित्यर्थः । उपपादयन्ति नहीत्यादि । एवेति अयमभिन्नमित्यत्रापि । सर्वमिति अन्ये सत्तादिकं सर्वत्र मन्यन्ते । परस्परेत्यादि परस्परं घटपटाद्याकारवैलक्षण्यादित्यर्थः । एवं भेदाभेदयोरविरोधमुत्साद्य प्रकृते योजयन्ति तथाहीत्यादि । तत्तथेष्यतामिति तद्ब्रह्म यथाप्रतीतत्वात् श्रुत्येकरूपं तथा चक्षुषा प्रतीतत्वाद् द्विरूपमप्यनिच्छतेष्यतामित्यर्थः । नन्वेवं सति 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इतीश्वरभाषणविरोध इति चेत्तत्राहुः एकरूपमित्यादि । एकं एक-

भाष्यप्रकाशः ।

ननु शीतोष्णयोर्यथा परस्परं विरोधस्तथा भेदाभेदयोः, किमिदमुच्यते नास्ति विरोध इति । अत्रोच्यते । भवतः प्रज्ञापराधोऽयं, न वस्तुविरोधः । कथम् । सहानवस्थानं, छायातपवद्भिन्नदेशवर्तित्वं वा शीतोष्णवद्विरोधो नाम । एतदुभयमिह कार्यकारणयोर्ब्रह्मप्रपञ्चयोर्नास्ति । तत उत्पत्तेस्तत्रैवावस्थितेस्तत्रैव प्रलयात् । विरोधे हि त्रयमेतन्नोपपद्यते । नहि कृशानुनाङ्कुरोत्पत्त्यादिलक्षणः संबन्धो दृश्यते । कारणेन हि मृत्सुवर्णादिना कार्यं सर्वदानुस्यूतं दृश्यते । तत्राक्षिणी निमील्य परस्परासंगतिलक्षणो विरोधो वैयात्याद् वक्तव्यो भवेत्, प्राथमिकश्रोत्रियश्रोत्रप्रतारणार्थं वा । शीतोष्णयोर्भिन्नाधारवर्तिनोर्न कदाचिदुत्पाद्योत्पादकलक्षणः संबन्धो, नाधाराधेयलक्षण इति युक्तस्तयोः परस्परविरोधः । तस्माच्छीतोष्णवदित्ययुक्तं दृष्टान्ताभिधानम् । अत्र प्रागल्भ्यात् कश्चिदाह । यथा संशयज्ञानं स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्यप्रमाणं, तथा भेदाभेदज्ञानमिति । तदसत् ।

'परस्परोपमर्देन न कदाचित् सह स्थितिः ।
प्रमेयानिश्चयाच्चैव संशयस्याप्रमाणता' ॥

अत्र पुनः कारणं पूर्वसिद्धं मृत्सुवर्णादिलक्षणम् । ततः कार्यं पश्चाज्जायमानं तदाश्रितमेव जायते । कारणसमानार्थतया हि कार्यबुद्धिः । न कारणस्वरूपोपमर्देन देशतः कालतो वा

रश्मिः ।

रूपमेव भवेदितीश्वरभाषितं न किंतु एकोहं बहु स्यामिति एकं बहुरूपं भवेदितीश्वरभाषितमित्यर्थः । यद्वा । गोपालतापिनीये कथं चतुर्भिरेको देवो भवेदिति प्रश्ने एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मेत्युत्तरात्तथा । कृशानुनेति निमित्तकारणेन वह्निनेत्यर्थः । कारणेनेति समवायिनेत्यर्थः । दृश्यत इति तथा च न जगतो ब्रह्मणा सहानवस्थानं नापि भिन्नदेशवर्तित्वमित्यर्थः । तत्राक्षिणी इत्यादि उभयविधलक्षणासंभवे सति भवज्ज्ञानशक्तिं तिरोभाव्येत्यर्थः । वैयात्यादिति गत्यन्तरविरहात्तद्विरुद्धं तदसंगतमिति दर्शनाच्चेत्यर्थः । एतदपि ब्रह्मजगतोर्गवाश्वादेश्च नास्तीति तत्प्रयोजनमाहुः प्राथमिकेत्यादि । साङ्गोपाङ्गवेदमात्रेण वेदार्थमवगच्छन्तः पूर्वकालीनशिष्टानुयायिनः छन्दोध्येतारः श्रोत्रियास्तेषां श्रोत्राणि भेदाभेदबोधकशब्दानेव गृहीतवन्तीति तेषामुक्तरीत्याऽसंगतिलक्षणविरोधप्रदर्शनेन दुर्बुद्ध्युत्पादनार्थमित्यर्थः । वक्तव्य इत्यादि पूर्वेणान्वेति । उत्पाद्येति ब्रह्म जगद्वदित्यादिः । तस्मादिति विरोधलक्षणाभावेपि विरुद्धत्वादित्यर्थः । प्रागल्भ्यादिति प्रतिभातिशयादित्यर्थः । धार्ष्ट्याद्वा । गल्भ धार्ष्ट्ये इति । अप्रमाणमिति भावे ल्युट्, अप्रमेत्यर्थः । अत्र भेदाभेदवादी किंचिदाह तदसदिति । अत्रापि विषमो दृष्टान्त इत्याशयेनाहुः परस्परेत्यादि । स्थाणुत्वपुरुषत्वादीनां तथात्वेन तथेत्यर्थः । तथा प्रमेयानिश्चायकत्वात्संशयस्याप्रमात्वं चेत्यर्थे भावे ल्युट् विषमत्वमुपपादयन्ति अत्र पुनरित्यादि । तदाश्रितमिति कारणसमवेतमित्यर्थः । दृष्टान्ते तु स्थाणुत्वपुरुषत्वयोर्न कदाचित्सहस्थितिरित्यर्थः । एतद्विषयकं ज्ञानमपि प्रमात्मकमित्याहुः कारणेत्यादि । कारणं मृत्तत्समानः मृत्त्वेनार्थो विषयत्वेन यस्यां तत्तथाहि घटो मृदिति बुद्धिः कार्यबुद्धिः । देशत इति एतद्देशे घटो न मृत् अस्मिन्काले घटो न मृदिति च न पृथग्भूतं कार्यं

भाष्यप्रकाशः ।

पृथग्भूतं कार्यं दृश्यते । तस्मान्न किंचिदेतत् । तदयं संग्रहश्लोकः—

'कार्यरूपेण नानात्वमभेदः कारणात्मना ।
हेमात्मना यथाऽभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा' ॥ इति ।

अत्र वाचस्पतिमिश्रा उक्तां कारिकामुपन्यस्याहुः—कः पुनरयं भेदो नाम, यः सहाभेदेनैकत्र भवेत् । परस्पराभाव इति चेत् किमयं कार्यकारणयोः कटकहाटकयोरस्ति न वा । न चेद् एकत्वमेव वास्तवं न भेदः । अस्ति चेद् भेद एव, नाभेदः । न च भावाभावयोरविरोधः । सहासंभवात् । संभवे वा कटकवर्धमानकयोरपि तत्त्वेनाऽभेदप्रसङ्गः । भेदस्याभेदाविरोधात् । अपि च । कटकस्य हाटकादभेदे यथा हाटकात्मना कटकमुकुटकुण्डलादयो न भिद्यन्ते, एवं कटकात्मना न भिद्येरन् । कटकस्य हाटकादभेदात् । तथाच हाटकत्वमेव वस्तु सत्त्व कटकादयोऽभेदस्याप्रतिभासनात् । अथ हाटकत्वेनैवाभेदो, न कटकत्वेन । तेन तु भेद एव कुण्डलादेः । यदि हाटकादभिन्नः कटकः, कथमयं कुण्डलादिषु नानुवर्तते । नानुवर्तते चेत् कथं हाटकादभिन्नः । ये हि यस्मिन्ननुवर्तमाने व्यावर्तन्ते ते ततो भिन्ना एव । यथा सूत्रात् कुसुमभेदाः । नानुवर्तन्ते चानुवर्तमानेऽपि हाटकत्वे कुण्डलादयः । तस्मात् तेऽपि हाटकाद्भिन्ना एवेति । सहानुवृत्त्या च सर्ववस्त्वनुगमे, इदमिह नेदमस्मादिदमिदमिदानीं नेदमिदमेवं नेदमेवमिति विभागो न स्यात् । कस्यचित् क्वचित् कदाचित् कथंचिद् विवेकहेतोरभावात् ।

रश्मिः ।

दृश्यत इत्यर्थः । **तस्मा**दिति कार्यस्य कारणाश्रितत्वेन तज्ज्ञानस्य यथार्थत्वेन च दृष्टान्तस्य विरुद्धत्वादित्यर्थः । **तदय**मिति तदित्यव्ययं हेत्वर्थकम् । **नानात्व**मिति भेद इत्यर्थः । तस्य नानात्वनिबन्धनत्वात् । **अभेद** इति कुण्डलं सुवर्णमिति सामानाधिकरण्यप्रतीतेरभेद इत्यर्थः । **भिदे**ति सुवर्णं कुण्डलं नेति प्रतीतेर्भिदेत्यर्थः । **नचे**दिति कटकसुवर्णयोरन्योन्याभावो यदि न तर्हि एकस्मिन् घटे स्वभेदाभाववति एकत्वमिवैकत्वमेव । तथा कटकं सुवर्णमिति प्रतीतेः सुवर्णं कटकं नेति प्रतीतिसत्त्वेपि न भेद इत्यर्थः । **नाभेद** इति अन्योन्याभाववतोर्घटपटयोरिव नाभेद इत्यर्थः । **संभव** इति घटतदत्यन्ताभावयोरिव संबन्धाभावदशायां भेदतदभावयोः संभवे वा कटकशरावयोः परस्पराभाववतोरपि कटकत्ववर्धमानकत्वरूपेण तथेत्यर्थः । ननु तथाप्रतीत्यभावान्नाभेद इति चेत्तत्र दूषणान्तरमाहुः **अपि चे**त्यादि । **भेदस्ये**ति हाटको न कटक इति भेदेऽस्यात्यन्ताभावरूपस्य भेदाभावस्याभेदस्याप्रतिभासमानत्वात् । अयं, न कटकादय इत्यत्र हेतुः । यद्वा कटकं हाटकमिति प्रतीत्याभेदस्याप्रतिभासनादित्यर्थः । **कुण्डलादे**रिति । इति विभाव्यते तदा इति शेषः । अयमिति कटक इत्यर्थः । ननु कटकत्वं हाटकत्वं न व्यभिचरतीति कथं भिन्ना इति चेत्तत्राहुः **सहानुवृत्त्ये**त्यादि । **अनुगम** इति । सर्वत्रेति शेषः । **इदमि**त्यादि इह क्षीरं इदं दधि नेदं तैलमिति संसर्गतदभावव्यवस्था न स्यात् । तथा कुड्यादिदं पटादिकं भिद्यते इदं कुड्यमस्मात्कुड्यान्न भिद्यते इत्यसंकरो न स्यात् । एवमिदं कोकिलरुतमिदानीं वसन्तसमयेऽस्ति, इदमम्बुदध्वानं नेति व्यवस्था न स्यात्, तथेदं घटादि एवं कम्बुग्रीवत्वादिप्रकारकं इदं पटादिकं एवं नेति प्रकारासंकरो न स्यादित्यर्थः । उक्तास्वव्यवस्थासु हेतुमाहुः **कस्यचि**दित्यादि । कुतश्चिदपीति ध्येयम् । **अभावा**दिति सर्वस्यैव भिन्नाभिन्नत्वेन

भाष्यप्रकाशः ।

अपि च । दूरात् कनकमित्यवगते, न तस्य कुण्डलादयो विशेषा जिज्ञासेरन् । कनकादभेदात् तेषाम् । तस्य च ज्ञातत्वात् । अथ भेदोऽप्यस्ति कनकात् कुण्डलादीनामिति कनकावगमेऽपि अज्ञातास्ते । नन्वभेदोऽप्यस्तीति, किं न ज्ञाताः । प्रत्युत ज्ञानमेव तेषां युक्तम् । कारणाभावे हि कार्याभाव औत्सर्गिकः । स च कारणसत्तयाऽपोद्यते । अस्ति चाभेदे कारणसत्तेति । कनके ज्ञाते ज्ञाता एव कुण्डलादय इति तज्जिज्ञासाज्ञानानि चानर्थकानि स्युः । तेन यस्मिन् गृह्यमाणे यन्न गृह्यते तत् ततो भिद्यते । यथा करभे गृह्यमाणे अगृह्यमाणो रासभः करभात् । गृह्यमाणे च दूरतो हेम्नि न गृह्यन्ते तस्य भेदाः कुण्डलादयः । तस्मात् ते हेम्नो भिद्यन्ते । कथं तर्हि हेम कुण्डलमिति सामानाधिकरण्यमिति चेत् । नह्याधाराधेयभावे समानाश्रयत्वे वा सामानाधिकरण्यमित्युक्तम् । अथानुवृत्तिव्यावृत्तिव्यवस्था च हेम्नि ज्ञाते कुण्डलादिजिज्ञासा च कथम् । न खल्वभेद ऐकान्तिकेऽनैकान्तिके चैतदुभयमुपपद्यते यत इत्युक्तम् । तस्माद् भेदा-

रश्मिः ।

तथेत्यर्थः । **तस्ये**ति हाटकस्येत्यर्थः । **तस्य चे**ति कनकस्य चेत्यर्थः । **तेषा**मिति कुण्डलादीनामित्यर्थः । एवं युक्त्या भेदापवादेनाभेदं व्यवस्थाप्य श्रुत्यापि भेदं कारणत्वेन निराकुर्वन्ति स्म अभेदो हि वास्तवो भेदोऽनिर्वचनीय इति । अथेत्यादि । **कारणाभाव** इति कारणं हि 'अथात आदेशो नेति नेति' इति श्रुत्या मूर्तामूर्तापोदितं ब्रह्म तदद्वैतमभावः, तस्मिन् हि सति कार्यं भेदो मायामात्रं तद्रूपोऽभावः । **स चे**ति कार्याभाव इत्यर्थः । **अपोद्यत** इति उक्तश्रुत्यापोद्यते । **अस्ति चे**ति अभेदेऽद्वैते सति । एवं कनकाभेदे कटकादिकारणे सत्तोन्नेया । **ज्ञाता एवे**ति एवकारस्तु एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानश्रुत्यनुरोधात् । **तज्जिज्ञासे**त्यादि तेषां कुण्डलादीनां जिज्ञासा ज्ञानानि चेत्यर्थः । कार्यकारणयोरभेदाभावं सप्रमाणमुपसंहरन्ति **तेने**त्यादि । अपोद्यं कार्ये भेदं दर्शयन्ति स्म **यथे**ति । कारणेपि भेदं दर्शयितुं दृष्टान्तेपि भेदं दर्शयन्ति स्म **गृह्यमाण** इति । दूरत इति समीपतस्तु शास्त्रदृष्टिकैर्गृह्यन्त इत्यभेदवादान्नोक्तं सूचितं परम् । कुण्डलहाटकयोर्भेदाभेदावेव वाच्यौ सामानाधिकरण्यानुरोधात्, न ह्यत्यन्तभेदे तदस्ति, कुण्डलकटकयोरदर्शनात्, अत्यन्ताभेदेपि न हेमहेमेत्यनुपलम्भादिति । भास्कराचार्योक्तमनुवदन्ति **कथं तर्ही**त्यारभ्य—**इत्युक्त**मित्यन्तेन । ननु न हेम कुण्डलमिति प्रतीतिरत आहुः **सामाने**त्यादि । भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वे सति एकार्थबोधकत्वं सामानाधिकरण्यं, तथा च नेयं प्रतीतिः किं तु सामानाधिकरण्योक्तिरिति भावः । यद्वा सामानाधिकरण्यमेकदेशवृत्तित्वम् । **नही**ति हेमकुण्डलयोर्नाधाराधेयभावः, ब्रह्मजगतोस्तु वर्तते इति दृष्टान्तवैषम्यम्, घटकपालयोस्तु वर्तते आधाराधेयभावः स न दृष्टान्तः । शीतोष्णयोर्भिन्नाधारवर्तित्वेन समानाश्रयत्वं नास्ति ब्रह्मजगतोस्तु वर्तते 'स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः' इति वाक्यादित्याहुः **समानाश्रयत्व** इति । **उक्त**मुक्तप्रायम् । यदि हेम्नः सकाशात् कुण्डलादीनां भेदाभेदौ स्यातां तर्हि तेषामनुवृत्तहेम्नः सकाशादभेदादितरेतरव्यावृत्तिर्न स्यान्न स्याच्च हेम्नि निर्णीते संशय इति प्रतितर्केण मिथोविरोधास्येन सामानाधिकरण्यानुपपत्तिरूपं तर्कं वितण्डया दूषयन्ति **अथानुवृत्ती**त्यादि । **इदमिह नेद**मित्यादिनोक्तेत्यर्थः । नन्वत्यन्ताभेदे मा भूदनुवृत्तिव्यावृत्तिव्यवस्था मा भूच्च हेम्नि ज्ञाते कुण्डलादिजिज्ञासा भेदाभेदमते ते किं न स्यातामित्याशङ्क्य पूर्वोक्तमविनिगममुत्सर्गापवादं च स्मारयन्ति **न खल्वि**त्यादि । **ऐकान्तिक** इति भेदाभाववद्वृत्तिनि अभेदे तदभाववर्तिनि चानुवृत्तिव्यावृत्तिव्यवस्था कुण्डलादिजिज्ञासा चेत्येतदुभयमित्यर्थः । स्वमतेन सामानाधिकरण्यमुपपादयन्ति **तस्मा**दित्यादि

भाष्यप्रकाशः ।

भेदयोरन्यतरस्मिन्नहेये । अभेदोपादानैव भेदकल्पना, न भेदोपादाना अभेदकल्पनेति युक्तम् । भिद्यमानतन्त्रत्वाद् भेदस्य, भिद्यमानानां च प्रत्येकमेकत्वात् । एकाभावे नानाश्रयस्य भेदस्यायोगात् । एकस्य च भेदानधीनत्वात् । नायमयमिति च भेदग्रहस्य प्रतियोगिग्रहसापेक्षत्वादेकत्वग्रहस्य चान्यानपेक्षत्वादभेदोपादानैवानिर्वचनीयकल्पनेति सांप्रतम् । तथा च श्रुतिः, 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इति । तस्मात् कूटस्थनित्यतैव पारमार्थिकी, न परिणामिनित्यतेति सिद्धमिति । तदनवधानविजृम्भितमेव । उक्ते मते भेदाभेदयोर्नानात्वैकत्वरूपतया भेदस्यान्योन्याभावरूपत्वानङ्गीकारेण तदादाय तन्मतदूषणस्य गगनकुसुमसौरभ्यकल्पत्वात् । परस्पराभावरूपत्वेऽपि घटतदत्यन्ताभावयोर्घटतद्भेदयोश्च भूतल एव सहावस्थानदर्शनेन भेदस्य तदभावेनाभेदेन सह न विरोधः । अत्यन्ताभावस्य नित्यव्यापकत्वेन सर्वत्र सत्त्वात् । प्रतियोग्यानयनोत्तरं तदभावबुद्धिप्रतिबन्धमात्रपरम् । एवं सति यत्र भेदस्तत्राप्यभेदो वर्तत एवेति तयोः सहासंभवाद्विरोधकथनस्यापि तथात्वम् । एवं, संभवे वेत्यादिना कटकवर्धमानकयोरभेदप्रसञ्जनस्यापि तथात्वम् । अविरोधस्यैक्यापादकतायाः क्वाप्यदृष्टत्वात् । यदपि, कटकस्य हाटकादित्यादिना कटकादीनां हाटकाद् भेदव्युत्पादनं, तदपि तथा । तेषां तदवस्थारूपत्वात् । अवस्थानां चावस्थावतः सकाशतो भिन्नाभिन्नत्वात् । षट्पद्यां समुद्रतरङ्गयोस्तथात्वस्य

रश्मिः ।

उभयप्रत्ययादित्यर्थः । अहेय इति तेनाभेदस्थापनेऽभिप्रायो न तु भेदखण्डने इति द्योतितम् । विरोधादन्यतरबाधेप्यभेदो बाध्य इति सौगतमतमाशङ्क्याहुः अभेदेत्यादि । नानाश्रयस्येति नानानिमित्तप्रयुक्तत्वेन तथेत्यर्थः । यथा घटः पटो न, कुड्यं पटो न, कुसूलं पटो नेत्यादि । अयोगादिति तथाचैक्यरूपाभेदतन्त्रत्वाद्भेदस्य न भेदोपादानाऽभेदकल्पनेत्यर्थः । एकस्य चेति भिद्यमानस्येत्यर्थः । भिद्यमानतन्त्रत्वं स्पष्टयन्ति नायमित्यादि । अयं घटः नायं पटो नेत्यर्थः । अनिर्वचनीयेति अध्यस्तभेदकल्पनेत्यर्थः । सांप्रतमिति युज्यत इत्यर्थः । सत्यमिति वाचारम्भणं घटादिर्विकार इति भावः । कूटस्थेति ब्रह्मादिपिपीलिकापर्यन्तं सर्वप्राणिबुद्धिरर्थविशिष्टतयोपलभ्यमानः सर्वप्राणिबुद्धिस्थो यदा तदा कूटस्थ इत्युच्यते इति सर्वोपनिषदुक्तकूटस्थनित्यता । परिणामीति प्रकृतिपरिणामिनित्यतेति । सिद्धान्ते अद्वैतेपि व्यासपादसंगृहीतैकदेशिमते अनुकूलमिदमिति । पूर्वतन्त्रे षष्ठस्य तृतीयपादे द्रव्यकर्मणोस्तादात्म्यं भेदाभेदावङ्गीकृत्य वर्णिताविति स्वयमङ्गीकाराच्च । मतान्तरं समर्थयन्ति तदनवेत्यादि । तदिति वाचस्पत्युक्तम् । अन्योन्येति ऐच्छिकमपि नानात्वमन्योन्याभावजन्यमित्युपलक्षणार्थं उक्तम् । तदादायेति भेदस्यान्योन्याभावरूपत्वमादायेत्यर्थः । भूतल इति घटवद्भूतलं घटो नेति प्रतीतेस्तथेत्यर्थः । तस्येति घटस्येत्यर्थः । अभेदेनेति पाठे तु भेदात्यन्ताभावेन सह तस्य भेदस्य न विरोध इत्यर्थः । अत्र हेतुं वक्तुमत्यन्ताभावेन सह प्रतियोगिनःस्थितिमाहुः अत्यन्तेत्यादि । तथा च सति घटे घटो नास्तीति प्रतीत्यापत्तिः किं न स्यात्तत्राहुः प्रतियोगीत्यादि । तदभावेत्यादि । तद्वत्ताज्ञानस्य तदभाववत्ताज्ञानं प्रति प्रतिबन्धकत्वात् प्रतियोग्यत्यन्ताभावेत्यर्थः । एवं सतीति अत्यन्ताभावस्य नित्यव्यापकत्वे सतीत्यर्थः । अभेद इति भेदात्यन्ताभावरूपः । तथात्वमिति गगनकुसुमसौरभ्यकल्पत्वमित्यर्थः । क्वापीति तथा सति घटत्वद्रव्यत्वादीनामभेदापत्तिरिति भावः । तथात्वस्येति भेदाभेदस्येत्यर्थः ।

१. भूमिरापोऽनलो वायुरित्यष्ट । २. व्याप्ततया ।

भाष्यप्रकाशः ।

शंकराचार्यैरिवोक्तत्वात् । अतः परं सहानुवृत्त्यादिनोक्तो दूषणत्वेन प्रतीतिविरोधो वक्तव्यः । स चेद् विद्यमानेऽपि कुण्डलादिना भेदे कनकत्वेनाभेदः प्रतीयते तदा न प्रतीतिविरोधोऽपि । प्रमाणेनाधिगमात् । प्रमिते च तस्मिन्, दूराद् कनकमित्यादिनोक्तानां विकल्पानामनवसरपराहतत्वादिति प्रतीयते चेदुभयमितिकारिकयैवोक्तं व्युत्पादितं च । अतो मुकुटकटकादीनामवस्थात्वेन हेमसामानाधिकरण्यस्य सामयिकत्वेन च व्यावृत्तिव्यवस्थाजिज्ञासाजनकत्वयोरुपपत्तेर्भेदस्यागन्तुकत्वमेव, न त्वनिर्वचनीयत्वम् । नच श्रुतिविरोधः । उक्तश्रुतौ परिणामिनो मृदादीनेव दृष्टान्तीकृत्य, एवꣳ सौम्य स आदेशो भवतीति दार्ष्टान्तिकेऽतिदेशेन परिणामिनित्यताया एव श्रुत्यभिप्रेतत्वात् । नचात्र कारणे सत्यत्वस्य कार्ये वाचारम्भणत्वस्य चोक्तत्वेन कार्यमिथ्यात्वसिद्धौ कूटस्थनित्यत्वमेव सेत्स्यतीति वाच्यम् । घटः पट इत्यादिवाचारम्भणरूपस्य विकारस्यैव नामधेयत्वाभिधानेन नामधेयस्य विकारत्वविधानेन वा स्वरूपमिथ्यात्वस्य श्रुत्यनभिप्रेतत्वात् । यदि कार्यस्वरूपस्यापि वाङ्मात्रतामभिप्रेयात्, वाचारम्भणं नामधेयमिति पदद्वयं न ब्रूयात् । एकेनैव चारितार्थ्यात् । इदं यथा तथा तदनन्यत्वाधिकरणे प्रपञ्चयिष्यते । सिद्धान्ते यो विशेषः सोऽपि तत्रैव व्युत्पादयिष्यते । तस्मादस्मिन्नंशे भास्कराचार्यमतमदुष्टमेव ।

रामानुजाचार्यास्तु, 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् । तस्मिँश्चान्यो मायया संनिरुद्धः' ।

रश्मिः ।

'सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः' ॥

इत्यनेनेत्यर्थः । तेन कार्यसमवायिनोरेव भेदाभेदावङ्गीकृतौ इति यथा करभे गृह्यमाणे इत्यादिदृष्टान्तासंगतिरपि द्रष्टव्या । प्रतीतिविरोध इति इदमिहेत्यादि विभागाभावात्तादृशप्रतीतिविरोध इत्यर्थः । तस्मिन्निति भिन्नाभिन्नत्व इत्यर्थः । तथा च प्रत्यक्षतस्तर्कस्य नैर्बल्यात् प्रतीत्यनुरोधेन भेदाभेदावेवास्थेयावित्यर्थः । व्यावृत्तीत्यादि हेम्नि गृह्यमाणेपि कुण्डलाद्यग्रहणात्कुण्डलादिव्यावृत्तिर्यासां न भेदनिबन्धना, अपि तु मुकुटादीनामवस्थात्वेन हेम्नस्तदवस्थाभावनिबन्धना सामानाधिकरण्यस्य कार्यतासमयजन्यत्वेन तदानीं सामानाधिकरण्याभावाच्च तन्निबन्धना च । एवं कुण्डलादिविशेषजिज्ञासापि न भेदनिबन्धना एवं तयोरुपपत्तेरित्यर्थः । न त्वनिर्वचनीयत्वमिति दृष्टान्ताभावान्मानाभावात्खण्डितत्वाच्चेत्यर्थः । यदप्यभेदोपादानेनैवेत्यादिनाऽभेदस्य भेदानधीनत्वं भेदस्य चाभेदाधीनत्वमित्युक्तं तदपि न मञ्जुलम् । अभेदस्य भेदाभावरूपत्वेन भेदरूपप्रतियोगिसापेक्षत्वादित्यपि ध्येयम् । स्वरूपेत्यादि घटादिस्वरूपेत्यर्थः । तथा च घटः पट इत्यादिनामधेयमेव मिथ्या न तु कम्बुग्रीवाद्याकारोपीति भावः । एवेति पूर्वतन्त्रे षष्ठस्य तृतीयपादे द्रव्यकर्मणोस्तादात्म्यं भेदाभेदावङ्गीकृत्य वर्णितौ वैयाकरणानामपि तौ संमतावित्येवकारः । प्रकृते तु भेदाभेदौ पूर्वतन्त्र एव विधेः प्रेरकत्ववत् न तूत्तरतन्त्रे 'प्रवर्तकत्वं कृष्णस्य न विध्यर्थस्य कर्हिचित्' इतिवाक्यात्तद्भेदः । अस्मानित्यादि नक्षत्राणामुदयो यतो भवत्यस्मात्प्रत्यक्षात् । अस्मानित्यादि शसन्तं पदं वा, अन्यः सन्निरुद्ध इत्युक्तसन्निरोधार्थम् । अन्य इति अस्मत्पदार्थो जीवः । संनिरुद्धः 'अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायां च तदपाश्रयाम् । यया संमोहितो जीवः' इतिवाक्यानुगुणः । श्वेताश्वतरस्य चतुर्थाध्यायस्था

भाष्यप्रकाशः ।

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'इत्यादिश्रुतिष्वचिद्वस्तुचिद्वस्त्वीश्वराणां यथायथं भोग्यत्वभोक्तृत्वनियन्तृत्वैः स्वरूपविवेकात् त्रयोऽपि भिन्नाः । तथा, 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' इत्यारभ्याऽऽपोऽग्निरन्तरिक्षं वायुर्द्यौरादित्यो दिशश्चन्द्रतारकमाकाशस्तमस्तेजः सर्वाणि भूतानि प्राणा वाक् चक्षुः श्रोत्रं मनस्त्वग् विज्ञानं रेत इत्येतानि काण्वपाठेन, विज्ञानस्थाने, आत्मा लोकयज्ञवेदाश्चाधिका माध्यन्दिनपाठेन, वाजसनेयके बृहदारण्यकेऽन्तर्यामिब्राह्मणे ब्रह्मशरीरत्वेनोक्ता ब्रह्मण आत्मत्वं चोक्तम् । सुबालोपनिषदि तु वाजसनेयक उक्ताः पृथिव्यादयस्तत्रानुक्ताश्च बुद्धिचित्ताव्यक्ताक्षरमृत्यवश्च शरीरत्वेनोक्ताः । 'यः पृथिवीमन्तरे संचरन् यस्य पृथिवी शरीरं यं पृथिवी न वेद एष सर्वभूतान्तरात्मा दिव्यो देव एको नारायणः' इत्यारभ्य 'यस्य मृत्युः शरीरम्' इत्यन्तेन तथोक्तम् । तेन पृथिव्यादीनां स्थूलानामव्यक्तादीनां सूक्ष्माणां च शरीरत्वश्रावणात् । स्थूलसूक्ष्मभेदेन द्विविधस्याप्यचिद्वस्तुनो ब्रह्मशरीरत्वम् । अव्यक्तादीनि त्वव्यक्ताऽक्षरतमांसि गुणत्रयसाम्यावस्थारूपायाः प्रकृतेरेव सूक्ष्मपरिणामविशिष्टानि रूपान्तराणि तेषु मूलभूतरूपं तमः । सुबालोपनिषद्येव प्रलयप्रकरणे, 'पृथिवी अप्सु लीयते आपस्तेजसि तेजो वायौ वायुराकाशे आकाशमिन्द्रियेषु इन्द्रियाणि तन्मात्रेषु तन्मात्राणि भूतादौ भूतादिर्महति महान् अव्यक्ते अव्यक्तमक्षरे अक्षरं तमसि लीयते तमः परे देव एकीभवति' इत्यविभागापत्तिदशायां विभागव्यपदेशानर्हरूपेण तस्यैवावस्थानात् । शरीरकथनप्रस्तावे च तमःस्थाने मृत्योः श्रावणान्मृत्युशब्देनात्र तम उच्यत इति निश्चीयत इति तस्यापि शरीरत्वं निर्बाधम् । एवं काण्वोक्तविज्ञानस्थाने आत्मनः श्रावणाच्चिद्वस्तुनोऽपि ब्रह्मशरीरत्वमसंदिग्धम् । एवं सर्वावस्थावस्थितचिदचिद्वस्तुशरीरतया तत्प्रकारः परमपुरुष एवेति 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' 'सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्' इत्यादौ जगतो ब्रह्मत्ववादः । प्रपञ्चरूपे

रश्मिः ।

श्रुतिरेव । श्रुत्यंशमायिमायापदे व्याकरोति **मायां त्वित्यादि** । **अघिदित्यादि** विश्वमित्यचित्, मायया संनिरुद्धोऽन्यश्चित्, मायीश्वरस्तेषां यथायथं श्वेताश्वतरपञ्चमाध्याये

'वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते' ॥

इत्युपक्रम्य कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसंपद्यते 'स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति' इति भोग्यत्वभोक्तृत्वे 'सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा' इति नियन्तृत्वं चोक्तं तैरित्यर्थः । आदिशब्दार्थभूतां श्रुतिमाहुः **यः पृथिव्यामित्यादि** । **आपोऽग्निरित्यादि** 'योऽप्सु तिष्ठन् अपामन्तरः' इत्यादि । एवं 'अग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरः' इत्यादिः । एवमग्रेपि । **बुद्धिचित्तेति** यो बुद्धिमन्तरे संचरन् यस्य बुद्धिः शरीरमित्यादिः । एवमग्रेपि । श्रुतिमाहुः **यः पृथिवीमित्यादि** । **तथोक्तमिति** पृथिव्यादीनि शरीरत्वेनोक्त्वा ब्रह्मण आत्मत्वं चोक्तम् । इति भोग्यभोक्तृनियन्तृत्वान्युक्तानि । **तस्यैवेति** तमस एवेत्यर्थः । अत्यन्तविस्मरणरूपमृत्योः कथं शरीरत्वमित्यतो मृत्योः शरीरत्वं कथयन्ति **शरीरेत्यादि** । **अत्रेति** शरीरप्रस्ताव इत्यर्थः । **तस्यापीति** मृत्योरपीत्यर्थः । अन्यथा सुबालोपनिषत्स्थशरीरप्रस्तावप्रलयप्रकरणयोरेकवाक्यता न स्यादिति भावः । **सत्यं चानृतं चेति** चिदचिदित्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

शरीरे प्रलयदशायां तमःशब्दवाच्यातिसूक्ष्माचिद्वस्त्वेकशेषे सति तमसि च स्वशरीरतया विनिर्देशानर्हातिसूक्ष्मदशापन्नया स्वस्मिन्नेकतापन्ने सति तथाभूततमःशरीरं ब्रह्म पूर्ववद्, विभक्तनामरूपचिदचिन्मिश्रप्रपञ्चरूपः स्यामिति संकल्प्याप्ययक्रमेण जगच्छरीरतयाऽऽत्मानं परिणामयतीति सर्वेषु वेदान्तेषु परिणामोपदेशः । अतः स्थूलसूक्ष्मचिदचित्प्रकारं ब्रह्मैव कार्यं कारणं चेति जगतो ब्रह्मोपादानकत्वेऽपि सूक्ष्मचिदचिदीश्वरसंघातस्यैवोपादानत्वेन चिदचितोर्ब्रह्मणश्च भोक्तृत्वभोग्यत्वनियामकत्वरूपस्वभावासंकरोऽप्युपपन्नतरः । शुक्लकृष्णरक्ततन्तुसंघातोपादानके चित्रपटे तत्तत्तन्तुप्रदेश एव शौक्ल्यादिवत् तत्र तत्र भोक्तृत्वादीनां व्यवस्थावचनत्वात् । एतावान् परं विशेषः । तन्तूनां पृथक्स्थितियोग्यत्वात् पुरुषेच्छया कदाचित् संघातात् कारणत्वं कार्यत्वं च कादाचित्कम् । इह तु चिदचितोः सर्वावस्थयोः परमपुरुषशरीरत्वेन तत्प्रकारतयैव पदार्थत्वात् सर्वदा सर्वैः शब्दैस्तत्प्रकारः परमपुरुष एव वाच्य इति । 'अहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्माऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इत्यत्र तिस्रो देवता इत्यनेन सर्वमचिद्वस्तु निर्दिश्य तत्र स्वात्मकजीवानुप्रवेशेन नामरूपव्याकरणवचनात् सर्वे वाचकाः शब्दा अचिज्जीवविशिष्टपरमात्मन एव वाचका इति कारणावस्थपरमात्मवाचिना शब्देन कार्यवाचिनः शब्दस्य सामानाधिकरण्यं मुख्यवृत्तमिति विशिष्टाद्वैतवादमङ्गीकृत्य चिदचिद्विशिष्टस्यैवोपादानत्वं रोचयन्ते ।

तदपि चिन्त्यम् । आदिसृष्टिप्राक्काले सूक्ष्मचिदचिच्छरीरवैशिष्ट्यस्य वक्तुमशक्यत्वात् । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीद्' 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यत्रैवकारादिभिरितरव्यवच्छेदात् । न च तैः शरीर्यन्तरं मुख्यान्तरं भिषदन्तरं च व्यवच्छेद्यते, न तु शरीरममुख्यमभिषद्वेति वाच्यम् । पुरुषविधब्राह्मणे, 'आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत्' इत्यनुवीक्षाया अन्यदर्शननिषेधस्य च विरोधापत्तेः । नच तत्राप्यन्यपदेन शरीर्येव

रश्मिः ।

सच्चासच्चेति वार्थः । प्रलयदशायां विशिष्टाद्वैतं साधयन्ति **प्रपञ्चेत्यादि** । **पूर्ववदिति** पूर्वसृष्टाविवेत्यर्थः । **अप्ययक्रमेणेति** पृथ्वी अप्सु लीयत इत्याद्युक्तक्रमेणेत्यर्थः । **संघातादिति** संघातभावं प्राप्येत्यर्थः । **इमा इति** अनुप्रवेशकर्मशब्देन स्थूलसूक्ष्मचिदचित्प्रकारब्रह्मेतिशब्देन । **शब्दस्येति** स्थूलसूक्ष्मचिदचित्प्रकारं **ब्रह्मैव** कार्यमिति शब्दस्य सामानाधिकरण्यं भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वे सत्येकार्थबोधकत्वरूपम् । अयं न ब्रह्माद्वैतवाद इतीमं पक्षं दूषयन्ति **तदपीत्यादि** । **आदिसृष्टीत्यादि** हिरण्यगर्भसृष्टेरादिसृष्टिः वक्ष्यमाणा । **तैरिति** सदिदमग्रैकाद्वितीयपदैरित्यर्थः । तत्र सदिदंपदाभ्यां शरीर्यन्तरं, सच्चेदं चैवासीदित्यर्थात् । मुख्यवाचिनैकपदेन मुख्यान्तरमद्वितीयमित्यनेन द्वितीयं, सव्यापारं वस्तु यत्र नास्तीति भिषदन्तरमिति । **नत्विघत्यादि** इदं जगत् सदात्मनैवासीन्न तु पृथगित्यर्थेन शरीररूपजगद्व्यवच्छेद्यते । एकमेवेत्यनेनामुख्यमद्वितीयमित्यनेन सव्यापारमिति नार्थ इत्यर्थः । **आत्मैवेदमित्यादि** । **अग्रे** सृष्टिप्राक्काले अनुवीक्ष्य स्वस्मिन् लयात्पश्चादात्मानं वीक्ष्येत्यर्थः । **विरोधेत्यादि** तमोविशिष्टस्यानुवीक्षणेनान्यसत्त्वेन च विरोधापत्तेरित्यर्थः । **शरीर्येवेत्यादि** तथाचान्यत् शरीरि चिदचिद्विशिष्टं वा नापश्यदित्यर्थान्न विरोध इत्यर्थः । एवकारेण शरीरं द्वितीयैवकारेण वैशिष्ट्यं चिदचिद्विशिष्टान्तरं वा व्यवच्छिद्यते । यद्यात्मनः शरीरित्वं चिदचिद्विशिष्टत्वं वा सिद्ध्येत्तदात्मनोऽन्यच्छरीरि चिदचिद्विशिष्टं वा नापश्यदित्यर्थो भवेत्

भाष्यप्रकाशः ।

विशिष्ट एव वा परामृश्यतेऽतो न विरोध इति वाच्यम् । तत्र तादृशपरामर्शस्याशक्यवचनत्वात् । तथाहि–तत्रात्मा किं स्वशरीरं विशेषणत्वेन शरीरत्वेन वा अभिन्नत्वेन वा परामृश्यत्यात्मत्वेन वा । नाद्यः । तस्य पार्थक्ये सत्यात्मानुवीक्षणस्य तदन्यादर्शनस्य च यथार्थं भ्रमत्वाज्ञतापादकत्वयोरापत्तेः । तमस एकीभावस्य स्वशरीरतया विनिर्देशानर्हातिसूक्ष्मदशापत्तिरूपताङ्गीकारेण तदानीं पार्थक्यस्य शरीरत्वस्य वानभिमतत्वाच्च । न तुरीयः । आत्मत्वेन परामर्शे तेन प्रमाणज्ञानेनैवाभेदसिद्धौ भेदापादकप्रमाणाभावेन वैशिष्ट्याभावे केवलब्रह्माद्वैतवादस्यैव सिद्धेः । नच सुबालोपनिषद्यन्येषां प्रलयकथनात् तमसस्तदनुक्त्वैकीभावकथनादन्येभ्यः कश्चिद्विशेषो वक्तव्यः । स च स्वरूपातिरोभावपूर्वकाविभागापत्तिरूप एव युक्तः । अन्यथा शब्दान्तरवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । सिद्धे चैवं तमःस्वरूपातिरोभावे तदानीं वैशिष्ट्यस्याविलोपादुत्पत्तौ च, 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इति प्रतिसृष्टिपूर्वतुल्यताश्रावणेन सर्वदा सृष्टिप्रलयक्रमस्यैकरूप्ये सृष्टावपि शरीरित्वेन वैशिष्ट्याद् विशिष्टाद्वैतवादस्यैव सिद्धिर्न केवलब्रह्माद्वैतवादस्येति तदानीं विशिष्टेतरादर्शनमेव तदर्थ इति वाच्यम् । उक्तश्रुत्योरवान्तरयत्किंचित्प्रलयसृष्टिविषयत्वेनाप्युपपत्तौ सर्वदैकरूप्यस्य नियन्तुमशक्यत्वात् । 'यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः । तथाऽक्षराद् विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति' इति विस्फुलिङ्गन्यायेन सहोत्पत्तिप्रलयश्रावणात् । सूर्याचन्द्रमसावितिलिङ्गेनास्या अवान्तरविषयत्वावगमात् अनुवीक्षणादिश्रुत्यनुरोधेन सौबालवाक्येऽपि तथात्वस्य वक्तुं युक्त-

रश्मिः ।

तदेव पुनर्न संभवतीति वक्तुमात्मनः शरीरित्वं विकल्प्य दूषयन्ति तत्रात्मेत्यादि । चिदचिच्छरीरविशिष्ट आत्मेत्यत्र शरीरे विशेषणत्वं शरीरत्वमात्मत्वं व्यापारराहित्यं च सृष्टिप्राक्कालीनत्वादस्ति, आनन्दरूपत्वे त्वात्मत्वम् । अनुवीक्ष्येत्यस्य कर्मत्वेनार्थादात्मैवान्वेतीत्याशयेनाहुः आत्मानुवीक्षणस्येति । भ्रमत्वेत्यादि तमोविशिष्टे आत्मनि द्रष्टव्ये आत्ममात्रदर्शनस्य भ्रमत्वमात्मान्यस्य सत्त्वात् । तददर्शनेऽज्ञतेति बोध्यम् । स्वमते तु शुद्धात्मनो विषयत्वेन ज्ञानस्य विषयताविषयत्वात् तथात्वापत्तेः । तेनेति आत्मत्वप्रकारेणेत्यर्थः । प्रमाणमात्मा 'अत्र प्रमाणं भगवान्' इतिवाक्यात् । तथाच प्रमाणविषयकज्ञानेन प्रमाणेत्यत्र भावे ल्युट् प्रमेत्यर्थः । प्रमात्मकज्ञानेनेत्यर्थः । वैशिष्ट्येत्यादि वैशिष्ट्यस्य भेदनिबन्धनत्वाद्वैशिष्ट्याभाव । इत्यर्थः । तदनुक्त्वेति प्रलयमनुक्त्वेत्यर्थः । अन्येभ्य इति पृथिव्यादिभ्यस्तमसि विशेषः इत्यर्थः । स चेति तमोनिष्ठो विशेष इत्यर्थः । शब्दान्तरेत्यादि लीयत इति शब्दादन्य एकीभवतीति शब्दस्तस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गादित्यर्थः । मयूरव्यंसकादेराकृतिगणत्वात्समासः पूर्वपदार्थप्रधानः । तदर्थ इति नान्यदपश्यदित्यस्यार्थ इत्यर्थः । उक्तेत्यादि पृथिव्यप्सु लीयते इत्यादिसूर्याचन्द्रमसावित्यादिश्रुत्योरित्यर्थः । अवान्तरसृष्टिप्रलयविषयत्वे हेतुनाहुः यथेत्यादि । सहेत्यादि तथाचादिसृष्टौ सहोत्पत्तिप्रलयाविति क्रमसृष्टिप्रलयाववान्तरावित्यर्थः । पूर्वाधिकरणान्तिमवर्णके क्रमसृष्टिश्रवण उक्तेति कथमेवमित्यरुच्या हेत्वन्तरमाहुः सूर्येत्यादि । लिङ्गेनेति सामर्थ्येन शक्यार्थेनेति यावत् । अवान्तरेत्यादि अन्यथा सर्वेषां कर्मत्वमुक्तं स्यादित्यर्थः । अनुवीक्ष्यादि अत्रेदं हृदयम् । इदमात्मैवेत्यत्रैवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदकः विशेष्यसंगतत्वात् । तथाचात्मान्यस्मिन्निदंत्वव्यवच्छेद आत्मनि चेदंत्वं प्रतीयते । एवं चात्मातिरिक्तमिदं जगन्न भवतीति फलति । कथं तर्हि जगदन्तर्गततमःसत्तेति । एवमनुरोधेनेत्यर्थः । सौबालेत्यादि तमः परे देव एकीभव-

भाष्यप्रकाशः ।

त्वाच्च । अस्तु वा सौबालवाक्यस्यादिसृष्टिविषयत्वं, तथापि न तदानीं वैशिष्ट्यसिद्धिः । पृथिव्यादीनां नादेयसामुद्रसलिलैक्यवदविभागापत्तिरूपप्रलयस्य तमसश्च करकाणां जलैक्यवत् पूर्वभावापत्तिरूपस्य ब्रह्मैक्यस्य शक्यवचनत्वात् । आत्मपदस्य केवलात्मवाचित्वेन विशेषणान्तरसंग्रहाक्षमत्वात् । अन्यथा देहविशिष्टात्मप्रत्ययस्यापि प्रामाण्यापत्तेः । नच निर्विशेषत्वापत्तिः । सच्चिदानन्दरूपाकारस्य 'कृत्स्नः प्रज्ञानघनः', 'आनन्दरूपममृतं यद् विभाति' इत्यादिश्रुतिभिस्तत्सिद्धेः । तस्मात्, 'सदेव सोम्य' इत्यत्र सच्छब्देन केवलं ब्रह्मैव परामृश्यत इति मन्तव्यम् । आत्मपदवत् सत्पदस्यापि केवलब्रह्माभिधायित्वात् । 'ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः' इति गीतावाक्येन तथा निर्णयात् । एवं तैत्तिरीयेऽपि सत्यज्ञानादिलक्षणं ब्रह्म प्रकृत्य तत एव सर्वज्ञादाकाशादिक्रमेण सृष्टिमुक्त्वा, उपादानतां च, 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इति स्थिरीकृत्य केवलस्यैवोपादानत्वाय 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इत्यात्मन एव कर्मत्वं कर्तृत्वं च श्राव्यते । 'सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्' इति केवलब्रह्मवाचकसत्यपदेन प्रपञ्चस्यापि ब्रह्मता विधीयत इति तत्रापि पूर्वोक्त एवार्थ इति प्रथमसृष्टौ शुद्धं ब्रह्मैवोपादानम् ।

किंच । श्रुतौ हि प्रकारद्वयेन निरूपणम् । आत्मत्वेन ब्रह्मत्वेन च । आत्मैवेदं सर्वं, ब्रह्मैवेदं सर्वमिति । इदं च पदद्वयं व्याप्तिं बृंहणत्वं चापेक्ष्य । यद्यप्युभयोः स्वरूपमानन्दस्तथापि सप्रकार आत्मा, निष्प्रकारं ब्रह्मेति भेदः । तत्रायमात्मा ब्रह्म विज्ञानमय इत्यात्मनोऽपि ब्रह्मत्वविधानाद् व्यासेनापि ब्रह्मजिज्ञासाया एव प्रतिज्ञानाच्च निष्प्रकारमेव मुख्यम् । तस्यैव चाग्रे कारणत्वविचारणमित्यतोऽपि तादृशमेवोपादानम् ।

किंच । अन्तर्यामिब्राह्मणे सुबालोपनिषदि च, 'यं पृथिवी न वेद, यं मृत्युर्न वेद,' इत्येवं सर्वावस्थावस्थितस्याचिद्वस्तुनोऽवेत्तृत्वं श्रावितम् । तच्च वेदनयोग्यत्व एव घटते, यमात्मा न

रश्मिः ।

तीति वाक्येपि तथात्वस्यावान्तरविषयत्वस्येत्यर्थः । श्रुतित्वाविशेषाद्विपरीतं किं न स्यादित्याशङ्क्याहुः अस्तु वेत्यादि । तदानीमिति प्रलयदशायामित्यर्थः । शब्दान्तरप्रयुक्तितात्पर्यमाहुः पृथिवीत्यादि । अन्यथेति आत्मनो विशिष्टत्व इत्यर्थः । प्रामाण्यापत्तेरित्यस्य प्रमात्वापत्तेरित्यर्थः । तत्सिद्धेरिति प्रसिद्धसिद्धेरित्यर्थः । एतदानन्दमयाधिकरणे स्फुटिष्यति । तस्मादिति सकलश्रुतिस्वारस्यादित्यर्थः । विधीयत इति न तु सर्वावस्थावस्थितचिदचिद्वस्तुशरीर ईश्वर इति जगतो ब्रह्मत्वप्रवादोऽनया क्रियत इति भावः । पूर्वोक्त इति सदेव सोम्येत्यत्रोक्त इत्यर्थः । निष्प्रकारमिति एतज्ज्ञारूपवदेव हीति पञ्चसूत्र्युक्तमेकदेशिमतमप्यङ्गीकुर्वता व्यासेन निर्णीतं पूर्ववद्वेति सूत्रे तदनुसारेण ज्ञेयम् । तदेतत्तृतीयाध्याये स्फुटम् । अथवा भौतिकशरीरराहित्येन केवलानन्दरूपमित्यर्थः । इदं रूपद्वयं प्रयोगे । द्वन्द्वं न्यञ्चि पात्राणि प्रयुनक्तीति गृह्यसूत्रात् । अचिपूजने । द्वन्द्वं सुखदुःखादिरूपमेवं ब्रह्मात्मेति द्वन्द्वम् । स्वरूपलक्षणयुक्तं ब्रह्म समष्टिः । 'सदेव सोम्य' इत्यत्र 'तत्तेज ऐक्षत' 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि' इत्यादौ व्यष्टिः । व्याहृतिर्ब्रह्म, श्रीभागवतद्वितीयस्कन्धे । ब्रह्मादिपञ्चविरहानुभवार्थमित्यानन्दमयाधिकरणे, वायुः प्रत्यक्षं ब्रह्म । मुख्यनिष्प्रकारकमिति निर्जिताः प्रकाराः सत्त्वादयो यस्मात् । द्वितीयस्कन्धनवमाध्याय उपष्टम्भमिदं मतमित्येककारः । अत-

केचिदत्र शास्त्रयोनित्वपूर्वपक्षनिराकरणाय, तत्तु समन्वयादिति योजयन्ति । तत् पूर्वपक्षसिद्धान्तयोर्द्वयोरप्यसंगतत्वादुपेक्ष्यम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

वेदेतिवत् न त्वयोग्यत्वे । घटो न वेदेत्यादिप्रयोगादर्शनात् । अतः सर्वत्र चिदन्वयोऽवश्यमुपेयः । सदन्वयस्तु प्रत्यक्षसिद्ध आनन्दान्वयश्चेत्यतोऽपि ब्रह्मैवोपादानम् । नच मृदब्रवीदित्यादाविवाभिमानिनमादाय तथोक्तिरिति वक्तुं शक्यम् । जीवानुप्रवेशकृततद्वैशिष्टयस्य पाश्चात्यत्वेन पूर्वं युष्माभिस्तथा वक्तुमशक्यत्वात् । अनुप्रवेशश्रुतिविरोधेन सर्वदा वैशिष्टयस्याशक्यवचनत्वात् । सदैवाविनाभावे चिदचिदविवेकप्रसङ्गात् । आत्मा न वेदेति पृथङ्निर्देशवैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च । अत उक्तलिङ्गेनापि ब्रह्मण एव केवलस्य परिणामनिश्चयादुपादानत्वम् । नच स्वभावसांकर्यप्रसङ्गः । प्रजायेयेतीच्छयैवोच्चनीचादिभावसिद्धौ सांकर्याभावात् । सृष्टिप्राकाले त्वितराभावेनैवाशङ्कानुत्थानात् । अतो विशिष्टाद्वैतवादस्यार्वाचीनत्वात् । सर्ववस्तूनां ब्रह्मपरिणामत्वेन ब्रह्माभिन्नतयैव पदार्थत्वात् सर्वैः शब्दैस्तत्तद्रूपं ब्रह्मैवोच्यत इति कारणावस्थब्रह्मवाचिना शब्देन कार्यवाचिनां शब्दानां सामानाधिकरण्यमुपपादनमन्तरेणापि मुख्यवृत्तमिति राद्धान्तपन्थाः ।

प्रकृतमनुसरामः । अस्मिन् सूत्रे रामानुजाचार्यादिमतमुपक्षिपन्ति केचिदित्यादि । ते हि पूर्वपक्षसिद्धान्तावेवमाहुः । तथाहि । यद्यपि शास्त्रयोनित्वसूत्रे ब्रह्मणः शास्त्रमात्रप्रमाणकत्वं साधितं तथापि तन्नोपपद्यते । 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः,' 'तस्य ज्ञानमुपदेशः', 'तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः', 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' इति जैमिनिना तत्र तत्र

रश्मिः ।

एव मुख्यमिति । अत इति प्रसक्तस्य निषेधायोगादित्यर्थः । आनन्देत्यादि स्त्रीपुत्रादयः प्रिया इति प्रतीतेः प्रत्यक्षसिद्ध इति शेषः । तथोक्तिरिति यं पृथिवी न वेद इत्याद्युक्तिरित्यर्थः । तद्वैशिष्ट्यस्येति अभिमानिवैशिष्टयस्येत्यर्थः । पूर्वमिति जीवप्रवेशात्पूर्वमित्यर्थः । ननु सर्वावस्थावस्थितं विशिष्टमिति चेत्तत्राहुः अनुप्रवेशेत्यादि । अनुप्रवेशो हि भूतपूर्वे अचिद्वस्तुनि चितः पश्चात्प्रवेशः स च सर्वदा वैशिष्टये न घटत इत्यर्थः । ननु तिस्रो देवता इत्यनुप्रवेशश्रुतौ श्रावणाद्देवताविशिष्टे एवाचिद्वस्तुनि जीवप्रवेशे नानोरनर्थकत्वात्सर्वदा वैशिष्टयं शक्यवचनमिति चेत्तत्राहुः सदैवेत्यादि । ननु पृथिवीशरीरयोरात्मवैशिष्टयेन मा भूद्विवेकः परं तु शरीरशरीरयोस्तु विवेको भविष्यतीति कथंचिदचिदविवेकप्रसङ्ग इति चेत्तत्राहुः आत्मेत्यादि । पृथगित्यादि अचितः पृथिव्या इत्यर्थः । तथाच पृथिवी न वेदेत्यत्राचित्त्वमेव विवक्षितमिति भावः । उक्तलिङ्गेनेति अचितोऽवेत्तृत्वकथनसामर्थ्येनेत्यर्थः । ब्रह्मण इति सच्चिदानन्दानां कार्ये दर्शनाद्ब्रह्मण एव न त्वात्मन इत्यर्थः । स्वभावेति चित्त्वादिस्वभावेत्यर्थः । सच्चिदानन्देषु क्रमेण नीचोच्चतरेषु सांकर्यं नीचत्वादिभ्यामुच्चतरसांकर्यं मेलनम् । परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणयोर्धर्मयोरेकत्र समावेशः संकरोप्ययम् । सांकर्येति दुष्टसांकर्याभावात् । इतरेति अचिदित्यर्थः । अत इति चि(स)दानन्दयोः फलत्वात् । अर्वाचीनेत्यादि अचिदधीनत्वेन सृष्टेः पाश्चात्यत्वादित्यर्थः । सर्वैः शब्दैरिति 'ॐमित्येतदक्षरमिद९ सर्वं तस्योपव्याख्यानम्' इति माण्डूक्यश्रुतेः । तत्तद्रूपमिति 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूपम्' इति श्रुतेः मुख्यवृत्तमिति आकाशस्तल्लिङ्गाद्यधिकरणेषु स्फुटमेतत् । भाष्ये । शास्त्रेत्यादि शास्त्रयोनित्वे पूर्वपक्षः शास्त्रयोनित्वपूर्वपक्षः पात्रे समितादीनामाकृतिगणत्वात् 'पात्रे समितादयश्च' इतिसूत्रेण समासः । सुप् सुपेति वा समासः । प्रकृते । ते हीति रामानुजभास्करशंकरशैवाचार्या इत्यर्थः । तत्र तत्रेत्यादि द्वादशलक्षण्यां प्रथमा-

भाष्यप्रकाशः ।

वेदस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिजनकक्रियापरताया एवानुक्रान्तत्वाद् ब्रह्मरूपसिद्धार्थपरत्वे प्रयोजनशून्यत्वप्रसङ्गात् । नच प्रत्यक्षादीनां वस्तुयाथात्म्यावबोधपर्यवसानदर्शनाच्छास्त्रेऽपि तथात्वमस्त्विति वाच्यम् । लोके वेदे च प्रयोजनरहितवाक्यप्रयोगस्यादर्शनात् । प्रयोजनं च प्रवृत्तिनिवृत्तिसाध्येष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारात्मकमेवोपलब्धम् । तदनुद्दिश्य न केनापि किंचिद्वाक्यं प्रयुज्यते श्रूयते वा । अतो वेदेऽपि तथात्वं युक्तम् । नच पुत्रस्ते जातो, नायं सर्पो रज्जुरेषेत्यादिषु लौकिकवाक्येषु हर्षभयनिवृत्त्यादिरूपपुरुषार्थान्वयदर्शनात् सिद्धार्थपराणामपि वाक्यानां प्रयोजनवत्त्वं शङ्कनीयम् । तत्रापि वाक्यार्थज्ञानादेव तत्प्राप्तेर्वाक्यस्य प्रतारणया प्रयोगेऽपि तत्संभवाद् वाक्यस्यार्थपरताया निश्चेतुमशक्यत्वात् । किंच । पचति गच्छतीत्यादिप्रयोगस्य प्रमाणान्तरेणावगमोत्तरमेव दर्शनात् । सिद्धार्थवाक्यानां गृहीतग्राहित्वात् प्रामाण्यमपि न । साध्यार्थपराणां तु गामानयेत्यादीनां प्रयोजनवत्त्वमगृहीतग्राहित्वं चाविवादम् । अतो लोकवद् वेदेऽपि वाक्यानां प्रवृत्तिनिवृत्तिपरत्वेन ज्ञानपरत्वेन वा प्रयोजन एव पर्यवसानमिति परिनिष्पन्ने ब्रह्मणि तात्पर्याभावान्न वेदान्तानां ब्रह्मणि तात्पर्यमित्येकः पूर्वपक्षः ।

तथाऽन्योऽपि । तथाहि । वेदान्तवाक्यान्यपि कार्यपरतयैव ब्रह्मणि प्रमाणभावमनुभवन्ति । अद्वितीयं ज्ञानैकरसं परिनिष्पन्नमपि ब्रह्म अनाद्यविद्यया सप्रपञ्चतया प्रतीयमानं निष्प्रपञ्चं कुर्यादिति ब्रह्मणः प्रपञ्चविलायनद्वारेण विधिविषयत्वात् । स च विधिः, 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न मतेर्मन्तारं मन्वीथा' इत्येवमादिर्बोध्यः । तत्र द्रष्टृदृश्यभेदशून्यं ब्रह्म कुर्या-

रश्मिः ।

ध्याय इत्यर्थः । प्रथमपादे द्वितीयपादे-चेति वार्थः । तथात्वमिति सिद्धार्थब्रह्मयाथात्म्यावबोधपर्यवसानं प्रयोजनमस्त्वित्यर्थः । प्रवृत्तीत्यादि प्रवृत्तिनिवृत्तिभ्यां साध्यौ इष्टानिष्टयोः प्राप्तिपरिहारौ यौ तदात्मकमित्यर्थः । अर्थार्थी राजकुलं गच्छेत्, मन्दाग्निर्नाम्बु पिबेत्, स्वर्गकामो यजेत, न कलञ्जं भक्षयेदित्यादिषु द्रष्टव्यम् । तत्प्राप्तेरिति हर्षस्य भयनिवृत्त्यादेश्च प्राप्तेरित्यर्थः । तत्संभवादिति हर्षभयनिवृत्त्यादिसंभवादित्यर्थः । अर्थेत्यादि प्रयोजनपरताया इत्यर्थः । प्रमाणेत्यादि प्रत्यक्षप्रमाणेनेत्यर्थः । अवगमेत्यादि पाककर्तुर्गमनकर्तुश्चेत्यर्थः । गृहीतेत्यादि चक्षुषा गृहीतं यत्पात्ररज्ज्वादि तद्ग्राहित्वादित्यर्थः । नेति अनधिगतार्थगन्तृत्वस्य प्रमाणलक्षणत्वादिति भावः । अगृहीतेत्यादि अगृहीतं साध्यं गवां नयनादि तद्ग्राहित्वम् । वाक्यानामित्यादि सिद्धार्थपराणां साध्यार्थपराणां च । प्रवृत्तीत्यादि व्याख्यातम् । प्रयोजन एवेति ब्रह्मज्ञानमपि फलं साध्यमिति प्रयोजन एव तत्तु सिद्धमित्यर्थः । ब्रह्मणीति सिद्धार्थे । वेदान्तेत्यादि ब्रह्मणीत्यत्र सप्तम्या विषयत्वमर्थः । तथा च ब्रह्मविषयकप्रमाजनकत्वं वेदान्तवाक्यान्यनुभवन्त्याश्रयन्ते धातूनामनेकार्थत्वादित्यर्थः । निष्प्रपञ्चमित्यादि द्रष्टृदृश्यरूपप्रपञ्चविलयद्वारेण ज्ञानैकरसं ब्रह्म कुर्यात् भावयेद् ज्ञानविषयीकुर्यादित्यर्थः । विधीत्यादि सिद्धस्यापि घटस्य निर्जलं (सजलं) घटं कुर्यादिति विधिविषयत्ववत्तस्येत्यर्थः । द्रष्टृदृश्येत्यादि दृशिमात्रं ब्रह्म कुर्यादित्यर्थः, गुणविधिरयं ब्रह्मणः सिद्धत्वात्, दध्ना जुहोतीतिवत् । तत्र धात्वर्थस्य दृशेः भावनायां कर्मत्वेनान्वयः, न तु करणत्वेन । गुणकामाधिकरणे दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयादित्यत्राश्रयत्वेन

भाष्यप्रकाशः ।

दित्येवमर्थसिद्धेः । अतः स्वनिबन्धनाया उपाधिनिबन्धनायाश्च कर्तव्यतायाः प्रामाण्ये विशेषाभावात् सिद्धस्यापि ब्रह्मणोऽनिष्पन्नतारूपेण साध्यत्वाविरोधात् वेदान्तानां ब्रह्मणि कार्यपरतयैव प्रामाण्यं, न स्वातन्त्र्येणेति द्वितीयः पूर्वपक्षः ।

तथाऽपरोऽपि । यद्यपि वेदान्तवाक्यानां स्वातन्त्र्येण सिद्धरूपब्रह्मस्वरूपपरतया न प्रामाण्यं, तथापि 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः,' 'य आत्माऽपहतपाप्मा सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः,' 'आत्मेत्येवोपासीत,' 'आत्मानमेव लोकमुपासीत' इत्यादिध्यानविषयो नियोगः स्वविषयभूतध्यानस्य ध्येयैकनिरूपणीयतया ध्येयमाक्षिपन्, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म,' 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्,' 'इदं सर्वं यदयमात्मा,' 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' इत्यादिस्वरूपतद्विशेषपरवाक्यनिर्दिष्टस्वरूपमेवात्मानमाक्षिपतीत्येषां वाक्यानां ध्यानविधिशेषतयैव प्रामाण्यात्, तद्विधिविषयीभूतध्यानशरीरानुप्रविष्टब्रह्मस्वरूपेऽपि तात्पर्याद्, ब्रह्मस्वरूपमपि सिद्ध्यत्येवेति चेन्न । प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनविधुराणां वेदान्तवाक्यानां ध्यानविधिशेषत्वेऽपि ध्येयविशेषस्वरूपसमर्पणमात्रपर्यवसानात् तत्र स्वातन्त्र्येऽपि बालातुराद्युपच्छन्दनवाक्य-

रश्मिः ।

धात्वर्थान्वयस्वीकारेण तस्यानियतत्वात् । यद्यप्यत्र कर्मत्वबोधकद्वितीयाभावस्तथापि भावनायां धात्वर्थ(प्रेक्षण)संबन्धस्य प्रतीतेः स साध्यत्वेन स्वीक्रियत इति कर्मत्वेनान्वयो निराबाधः । द्रष्टारमित्यस्य धात्वर्थेन सहाश्रयतासंसर्गेणान्वयः द्रष्टुः प्रेक्षणाश्रयाभेदात् । दृष्टेरित्यत्र पञ्चम्या भेदोर्थः । नञस्त्वभावरूपोर्थः । दृष्टिपदं स्वविषये स्वाविनाभूते दृश्ये लाक्षणिकं सद् दृश्यमात्रोपलक्षकम् । तद्भेदस्य द्रष्टृदृश्यभेदरूपस्य प्रतियोगितासंबन्धेन नञर्थेऽभावेऽन्वयः । तस्य च स्वीयसंबन्धेन धात्वर्थेऽन्वयः । एवं न मतेर्मन्तारमित्यत्रापि द्रष्टव्यम् । तदाहुः एवमर्थसिद्धेरिति । एवं च दृष्टेर्न इत्यंशस्य द्रष्टृदृश्यभेदशून्यमित्यर्थः । द्रष्टारमित्यस्य ब्रह्मेत्यर्थः । चक्षुराद्यपेक्ष्या ब्रह्मणो द्रष्टृत्वात् । पश्येत् द्रष्टृदृश्याधारं पश्येत् । द्रष्टृदृश्यभेदरूपाधेयशून्यं कुर्यादित्यर्थः । अतः स्वेत्यादि साध्यस्थले स्वनिबन्धना सिद्धस्थले तूपाधिनिबन्धना निष्प्रपञ्चादिधर्मनिबन्धनेत्यर्थः । अनिष्पन्नेत्यादि उक्तरीतिकज्ञानविषयत्वेन रूपेणेत्यर्थः । पूर्वपक्षान्तरमाशङ्कते यद्यपीत्यादि । न प्रामाण्यमिति गृहीतग्राहित्वान्नेत्यर्थः । साध्यस्वरूपपरत्वान्नेति वा । ध्यानेति निदिध्यासनं तन्मते ध्यानं तदेकवाक्यतया विजिज्ञासादीनां ध्यानत्वमतो ध्यानविषय इत्यर्थः । नियोग इति विधिरित्यर्थः । ध्येयैकेति ध्येय आत्मैव एको मुख्यस्तेन निरूपणीयतया, ज्ञानविशेषत्वेन घटादिज्ञानवत् । श्रुतावयमात्मा जीवात्मा । तद्विशेषेति जीव इत्यर्थः । ध्यानविधीति पारार्थ्यशेषलक्षणम् । विध्यर्थतव्यलिङादीनां प्रामाण्यं तव्यादिविशिष्टवाक्यानां तु विधिशेषतयैव प्रामाण्यमिति प्रामाण्यपदमुक्तमन्वयपदं विहाय । तद्विधीति आत्मविषयकं निदिध्यासनमित्यादिरूपे ध्यानशरीरे अपिशब्दौ विधिशेषेण साकं ब्रह्मस्वरूपसमुच्चायकौ । ध्यानमनु पश्चान्निरूपकतयानुप्रविष्टेत्यर्थः । प्रवृत्तीत्यादि द्विपदद्वन्द्वं कृत्वा प्रयोजनशब्देन कर्मधारयस्ततस्ताभ्यां विधुराणामिति तत्पुरुषः । ध्येयविशेषेति मात्रशब्देन ध्यानव्यवच्छेदः । बालेत्यादि यथौषधकटुतायामपि

भाष्यप्रकाशः ।

वज्ज्ञानमात्रेणैव पुरुषार्थतासिद्धेः परिनिष्पन्नवस्तुसत्यतागोचरत्वाभावाद् ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वं न संभवतीति तृतीयः पूर्वपक्षः ।

सिद्धान्तस्तु, समन्वयः सम्यगन्वयः पुरुषार्थतयाऽन्वयः । तथाच, 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते,' 'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्,' 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इति,' 'तत्तेजोऽसृजत्,' 'ब्रह्म वा इदमेकमेवाग्र आसीत्,' 'आत्मा वा इदमेकमेवाग्र आसीत्,' 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः,' 'एको ह वै नारायण आसीत्' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिषु परमपुरुषार्थभूतस्यानवधिकातिशयानन्दस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽभिधेयतयाऽन्वयाच्छास्त्रप्रमाणकत्वं ब्रह्मणः सिद्ध्यत्येवेत्यर्थः । अन्यथा सर्वप्रमाणानां यत् स्वविषयावबोधपर्यवसायित्वं, तच्छास्त्रानिवर्तमानं शास्त्रस्याबोधकत्वरूपमप्रामाण्यमादध्यात् । नच प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्वयविरहिणः प्रयोजनशून्यत्वं, पुरुषार्थान्वयप्रतीतेः । स्वरूपपरस्यापि पुत्रस्ते जातः, नायं सर्पो रज्जुरेषेत्यादेर्वाक्यस्य हर्षभयनिवृत्त्यादिरूपप्रयोजनदर्शनाच्च । अयमर्थः । अनादिकर्मरूपाविद्यावृतपरावरतत्त्वयाथात्म्यस्वस्वरूपज्ञानानां देवादिदूर्वान्तानां क्षेत्रज्ञानां व्यवस्थितधारकपोषकभोग्यविशेषाणां मुक्तानां स्वस्य चाविशेषेणानुभवसंभवे स्वरूपगुणविभावचेष्टितैर्निरवध्यानन्दजननं ब्रह्मास्तीति बोधयदेव वाक्यंप्रयोजनपर्यवसायि । प्रवृत्त्यादिनिष्ठं तु यावत्पुरुषार्थान्वयबोधं न प्रयोजनपर्यवसायि । एवंभूतं कथं लभ्यत इत्यपेक्षायां तत्प्राप्त्युपायतया, 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्', 'आत्मानमेव

रश्मिः ।

बालादियथार्थाशनाय नेदं कटुरिति वाक्यवदित्यर्थः । पुरुषार्थेत्यादि पुरुषेणार्थ्यते प्रार्थ्यते इति पुरुषार्थ आनन्दः साध्यत्वं वा तस्यान्वयप्रतीतिसिद्धेरित्यर्थः । परिनिष्पन्नेत्यादि विधिविषयमूलध्यानशरीरानुप्रविष्टब्रह्मस्वरूपं परिनिष्पन्नवस्तु । सिद्ध्यत्येवेति अत्यन्तायोगव्यवच्छेदकैवकारप्रयोगः कृतः । अन्यथेति पूर्वपक्षरीतिकशास्त्रार्थत्वे । अबोधकत्वेति योग्यताविरहप्रयुक्तमबोधकत्वरूपं वह्निना सिञ्चतीतिवाक्याप्रामाण्यवदप्रामाण्यमादध्यादित्यर्थः । न च प्रवृत्तीति प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च स्वर्गान्वयश्च तेषामभाववतो वेदान्तस्य । पुरुषार्थेति निरवध्यानन्दान्वयस्य प्रतीतेः । स्वरूपपरस्येति सिद्धस्वरूपपरस्य । वेदशास्त्राच्छास्त्रान्तरवेदान्ते प्रवृत्तिनिवृत्त्योः स्वर्गान्वयात्प्रसिद्धाद्भिन्नस्य प्रयोजनीभूतानन्दान्वयस्य दुरुपपादत्वादाहुः अयमर्थ इति । अनादीत्यादि अनादिकर्मरूपयाऽविद्यया आवृतपरावरतत्त्वयाथात्म्यरूपस्य स्वस्वरूपस्य ज्ञानं येषां तेषामित्यर्थः । व्यवस्थितेत्यादि इदं क्षेत्रज्ञानामेव विशेषणं न मुक्तानामसंभवात् । अत्र धारको ब्रह्म ब्रह्मन् पुंसि चेति सूत्रात् । पोषको विष्णुः । शिवो नोक्तः । अनुभवसंभव इत्यस्य कर्तरि षष्ठ्या । तमसोनुभवबाधकत्वात् शिवस्य तामसत्वात् । भोग्यविशेषा दूर्वास्तेषाम् । स्वस्येत्यादि मुक्तानां च स्वस्य विशेषेणानुभवसंभव इति योजना । कर्मणि षष्ठी अनुभवसंभव इत्यस्य स्वस्येत्यत्रानुभवविषयमाहुः स्वरूपेति । स्वरूपमालम्बनविभावः, गुणाः अनुभावा, विभावाः संचारिणो वैराग्यादयः, चेष्टितमुद्दीपनविभावस्तैः निरवध्यानन्दो रसात्मकः तस्य जननं यस्मात् ब्रह्मण इति बहुव्रीहिः । वाक्यमिति पुत्रस्ते जातः नायं सर्पो रज्जुरेषेत्यादिरूपम् । यावदित्यादि स्वर्गादिरूपपुरुषार्थान्वयबोधमनतिक्रम्येत्यव्ययीभावः । वर्तत इति शेषः । नेत्यादि न निरवध्यानन्दपर्यवसायीत्यर्थः । आनन्द-

भाष्यप्रकाशः ।

लोकमुपासीत' इति वेदनादिशब्दैरुपासनं विधीयते । यथा वेश्मनि निधिरस्तीति वाक्येन निधिसद्भावं ज्ञात्वा पश्चात् तदुपादाने प्रयतते । यथाच कश्चिद् राजकुमारो बालक्रीडासक्तो नरेन्द्रभवनान्निष्क्रान्तो मार्गभ्रष्टो नष्ट इति राज्ञा विज्ञातः स्वयं चाज्ञातपितृकः केनचिद्विवर्धितोऽधिगतवेदशास्त्रः षोडशवर्षो गुणसंपन्नस्तिष्ठन् केनचिदभियुक्तेन प्रयुक्तं 'पिता ते सर्वलोकाधिपतिः प्रशस्तगुणः पुरवरे त्वामेव नष्टं पुत्रं दिदृक्षुस्तिष्ठति' इति वाक्यं शृणोति चेत्तदानीमेवाहं तावज्जीवतः पुत्रोऽस्मत्पिता च सर्वसंपत्समृद्ध इति महाहर्षान्वितो भवति । राजा च स्वपुत्रं जीवन्तं सकलगुणसंपन्नं श्रुत्वाऽवाप्तसर्वार्थो भवति पश्चात्तावुभौ संगच्छेते च । यत्तु परिनिष्पन्नवस्तुगोचरवाक्यार्थज्ञानमात्रेणापि पुरुषार्थपर्यवसानाद् बालातुराद्युपच्छन्दनवाक्यवन्नार्थसद्भावे प्रामाण्यमित्युक्तम् । तदसत् । निश्चितेऽर्थाभावे पूर्वं ज्ञातस्याप्यर्थस्य पुरुषार्थानुपयोगात् । बालातुरादीनामप्यर्थसद्भावभ्रान्त्या पूर्वं हर्षाद्युत्पत्तावपि पश्चात् तदभावनिश्चये हर्षादिनिवृत्तिदर्शनात् । एवमौपनिषदेष्वपि वाक्येषु ब्रह्मसत्तायां तात्पर्याभावे निश्चिते पूर्वमुत्पन्नमपि ब्रह्मज्ञानं न पुरुषार्थपर्यवसायि स्यात् । तस्माद्, 'यतो वा इमानि' इत्यादिवाक्यं स्वोक्तप्रकारकब्रह्मास्तित्वं बोधयदेव प्रमाणं भवतीति सिद्धमिति रामानुजाचार्याः ।

भास्कराचार्यास्तु प्रपञ्चप्रविलायनद्वारेण ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वं न स्वत इति पूर्वपक्षे एवं प्रत्युत्तरमाहुः । तथाहि । ब्रह्मण आत्मत्वेन नित्यत्वेन चाभ्युपगतस्य कथं कार्यत्वम् । नित्यत्वकार्यत्वयोर्विरोधात् । नचोपाधेर्विद्यमानत्वात् तद्विलायनेनोपधाननिवृत्तेस्तद्द्वारा कार्यत्वमिति वाच्यम् । तथा सति घटे कृते नभसोऽपि कार्यत्वापत्तेः । नचोक्तदूषणभयात् प्रपञ्चप्रविलायनं कुर्यादिति वाक्यं कल्पनीयमिति वाच्यम् । पुरुषमात्रेण महदादीनां महाभूतानां विलायनस्य कर्तुमशक्यत्वेन विधेर्वैयर्थ्यात् । समाधौ सुषुप्तौ च सर्वतिरोधानेऽपि व्युत्थानदशायां सर्वस्य पुरो-

रश्मिः ।

मीमांसायां तैत्तिरीये स्पष्टम् । एवंभूत इत्याद्युक्तदृष्टान्तमाहुः यथेत्यादि । ब्रह्मविदाप्नोति परमित्याद्यभियुक्तप्रयुक्तवाक्यस्थानीयम् । तृतीयपूर्वपक्षं दूषयितुमनुवदन्ति स्म यत्तु इत्यादिना । **बोधयदिति** । वाक्ये शक्तेरिति भावः । **रामानुजेति** । अत्रैव पूर्वपक्षभर इति प्रथमद्वितीयौ पक्षौ नानूदितौ रामानुजाचार्यमते । पूर्वोक्तेषु द्वितीयं पूर्वपक्षमाहुः **प्रपञ्चेत्यादि** । **तद्द्वारेति** उपधानकार्यत्वनिवृत्तिद्वारा यद्वा उपाधिद्वारेत्यर्थः । उपाधिरुपधेय उपधानं च । उपधीयतेऽनेन व्यापारेणेत्युपधानम्, करणे ल्युट्, तादृशोपधाननिवृत्तेः कार्यत्वात्तदाश्रयब्रह्मणोपि कार्यत्वमित्यर्थः । एवं युक्त्या प्रत्युत्तरमनूद्य नियोगविचारेण प्रत्युत्तरमनूदितुमाहुः शङ्कां मीमांसकस्य । **न चोक्तदूषणेत्यादि** इमानि दूषणानि प्रथमपूर्वपक्ष उक्तानि द्वितीये पक्षे वा । **प्रपञ्चेति** वाक्यकल्पने विधिस्तु पूर्वोक्तो न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येदित्यादिः । अत्र द्रष्टृदृश्यभेदशून्यब्रह्मकरणे नञादीनां सामर्थ्यमालोच्य प्रपञ्चप्रविलायनं कुर्यादित्यभिधात्री श्रुतिः कल्प्यते सा वाक्यशब्देनोच्यते । अत्र तया नञर्थस्य भेदेनान्वयात्तदङ्गत्वं बोध्यते । दृष्टिपदस्य लक्षणाङ्गत्वं बोध्यत इत्यर्थगतसामर्थ्यम् । शब्दगतसामर्थ्यं तु पश्येदितिशब्दात् द्रष्टृदृश्यभेदशून्यब्रह्मकरणे सामर्थ्यमालोच्यानेन प्रपञ्चप्रविलायनं कुर्यादिति श्रुतिं कल्पयति । ततश्च दर्शनाङ्गस्य बोधनमिति । नियोज्यासंभवाद्विधिवैयर्थ्यं भवेदित्याहुः **पुरुषेत्यादि** । ननु दृष्टं प्रविलायनकर्तृत्वमिति चेन्नेत्याहुः **समाधावित्यादि** । तथा च एतादृशं प्रविलायनकर्तृत्वम-

भाष्यप्रकाशः ।

ऽवसानात् । प्रपञ्चप्रविलायने उपायाभावाच्च । प्रपञ्चेनैव प्रपञ्चप्रविलायनेऽनवस्थाप्रसङ्गाच्च । प्रपञ्चस्य साधारणत्वेन तत्प्रविलायने सर्वमुक्तिप्रसङ्गादिदानीं जगदप्रतीतिप्रसङ्गाच्च । अथात्मीयबन्धकारणस्याविद्याकामकर्मलक्षणस्य नाशनमेव प्रपञ्चप्रविलायनमिति मन्यसे तत्र न विसंवादः । किंच । नियोगस्य नियोज्यसापेक्षत्वेन तदाकाङ्क्षायां यदि तादृशप्रपञ्चकर्ता नियोगकर्ता वा नियोज्यः स्यात् तर्हीदानीं नियोज्याभावान्नियोगो न क्रियेत । किंचात्र प्रतीतिवेलायां प्रपञ्चविलयोऽभ्युपगम्यते । अग्निहोत्रादौ तु प्रतीतिकालोऽनुष्ठानकालश्च भिन्नस्तदप्यसंगतम् । अत्रैव तत्रापि प्रतीतिमात्रेणैव नियोगसिद्धावनुष्ठानलोपप्रसङ्गात् । किंच प्रविलायनं व्यापारो वा अभावो वा । नाद्यः । तस्य सत्त्वेन प्रपञ्चतादवस्थ्यात् । न द्वितीयः । तस्यावस्तुत्वेन प्रतिज्ञानाच्छशविषाणतुल्यत्वेन तद्विषयकनियोगानुपपत्तेः । अथात्मज्ञानविषयो नियोगः परिकल्प्यते, आत्मज्ञानं कुर्यादिति । तदप्यसंगतम् । ज्ञानस्य प्रमाणप्रमेयाधीनत्वेन क्रियावत् पुरुषेच्छानधीनतया नियोगविषयत्वस्य तत्राशक्यवचनत्वात् । नच द्रष्टव्यादिविधिविरोधः । तस्योपायपरत्वात् । श्रोतव्यादिपदैस्तस्यैव विवरणात् । नचाध्ययनविधिनाऽर्थज्ञानं विधीयत इति

रश्मिः ।

प्रविलायनकर्तृत्वमित्यर्थः । ननु दण्डादिप्रपञ्चेन घटादिप्रपञ्चः प्रविलीयतामिति चेन्नेत्याहुः **प्रपञ्चेनेत्यादि** । **अनवस्थेति** बहुभिरपि कर्तुमशक्यत्वादनवस्थेत्यर्थः । यद्वाऽविलायकप्रपञ्चविलायकप्रपञ्चकल्पनेन व्यवस्था योगसंपन्नतनुयोगेन करिष्यतीति चेन्नेत्याहुः **प्रपञ्चस्येत्यादि** । **साधारणत्वेनेति** प्रविलायकाप्रविलायकसाधारणत्वेनेत्यर्थः । **न विसंवाद इति** । स्यादिति शेषः । नियोज्यविचारेण दूषयन्ति **किंचेति** । न क्रियेतेति नियोज्यस्यैव विलायनत्ववाक्यकल्पकत्वस्यापि संभावयितुं शक्यत्वान्नियोज्येनैव विलयसिद्धौ विधेर्निरर्थकत्वभियेदानीं न क्रियेतेत्यर्थः । इदानींतनो नियोज्योऽस्त्वित्याकाङ्क्षायां दूषणान्तरमाहुः **किंचात्रेत्यादि** । **प्रतीतीत्यादि** समष्ट्या व्यष्ट्याश्च प्रतीतेः काल इत्यर्थः । **भिन्न इति** उदिते जुहोत्यनुदिते जुहोतीत्याद्युक्तः । न हि प्रतीतिमात्रेण नियोगसिद्धिरिहेष्यते किंतु तत्तत्तिथिवारनक्षत्रादिका स इति भिन्नः । इत्थं चेदानींतननियोज्यं प्रत्यपि नियोगो न क्रियेत प्रतीतिमात्रसिद्ध्या नियोगसिद्धेरभावादिति भावः । **तदपीत्यादि** अथात्मीयेत्यादिनोक्तम् । **अत्रैव तत्रापीति** प्रतीतिकाल इवानुष्ठानकाले । **प्रतीतीति** ज्ञानकाण्डत्वादिति भावः । गीतायां ज्ञानयज्ञादिस्मृतेरित्येवकारः । तथा च स्वसंबन्धनाशनस्य प्रपञ्चप्रविलायनत्वाङ्गीकारे ब्रह्मणो निष्प्रपञ्चतायाः सिद्धिः । तथाच वेदान्तवाक्यानां कार्यपरतया ब्रह्मणि प्रमाणत्वमिति यत् प्रतिज्ञातं तदसंगतं भवेदिति निग्रहस्थानप्राप्त्यासंगतमित्यर्थः । **नियोगसिद्धाविति** नियोगोऽत्र विधिस्तस्य सिद्धावित्यर्थः । अयं प्रलाप इदानींतनब्रह्मविन्नियोज्यमनतिक्रम्य ज्ञेयः । **सत्त्वेनेति** तादृशनाशानुकूलव्यापारस्य मुक्तात्मन्यनङ्गीकारे प्रविलायनाभावापत्त्या सत्त्वमवश्यं वाच्यं, व्यापारश्च प्रपञ्चांश इति प्रपञ्चतादवस्थ्याप्रविलयविरुद्धसत्त्वावस्थत्वादित्यर्थः । प्रलयविषयनियोगविचारस्य वृत्तत्वात् भिन्नप्रक्रमेणाहुः **अथात्मेति** । **आत्मज्ञानमिति** दृश्यभिन्नद्रष्टृविषयकज्ञानं कुर्यात्, स्वं सर्वस्यात्मविषयकं ज्ञानं कुर्यादित्यर्थः । **क्रियावदित्यादि** क्रियाया इव क्रियावदत्र जानातीच्छति यतते इति परंपरा बोध्या । **तत्रेति** ज्ञान इत्यर्थः । **न चेत्यादि** । तस्य ज्ञानस्य पुरुषेच्छाधीनत्वादिति भावः । **श्रोतव्यादीत्यादि** तथाच द्रष्टव्य इत्यस्यैवार्थः श्रोतव्यो

भाष्यप्रकाशः ।

शक्यम् । तत्रार्थज्ञानरूपफलायाक्षरग्रहणरूपाध्ययनस्य विधानात् फलस्याविधेयत्वात् । किंच । नियोगविषयभूतमात्मज्ञानं यद्यनुत्पन्नं तदा यागवत् साध्यत्वाभावाद् विषयत्वासिद्ध्या तद्विषयकनियोगस्यासिद्धिः । यदि च श्रवणाद्युत्पन्नं तदा श्रवणादिनैवात्मज्ञानसिद्धेः किमन्तर्गडुना नियोगेन । नच फलार्थं तदपेक्षा । 'तमेव विदित्वा' इति श्रुतौ नियोगनिरपेक्षाज्ज्ञानादेव मुक्तेरुक्तत्वात् । किंच । ज्ञाननियोगयोः परस्परमसंबन्धे वाक्यानर्थक्यात् संबन्धोऽवश्यं वक्तव्यः । स च गुणप्रधानभावेनैव दृष्ट इत्येकस्यावश्यं प्राधान्यं वक्तव्यम् । तद्यदि ज्ञानस्येत्युच्यते तदा नियोगस्य वाक्यार्थतया प्राधान्यं सर्वत्र यत्प्रतिज्ञातं तद्धीयेत । यदि नियोगस्यैव तदुच्यते तदा ज्ञानस्य नियोगार्थत्वान्मुक्त्यर्थत्वं न स्यात् । तस्योभयार्थत्वे प्रमाणाभावात् । नच नियोगो मुक्त्यर्थः । अश्रुतत्वात् । तमेव विदित्वेति ज्ञानस्यैव साक्षात्तदुद्देशेन श्रुतत्वादिति । एतदग्रे च, यो रामानुजमतोपन्यासेऽस्माभिः प्रथीयःपूर्वपक्ष उक्तो, यद्यपि 'शास्त्रयोनित्वात्' इत्यादिना, यश्च तृतीय उक्तो यद्यपि वेदान्तवाक्यानामित्यादिना, तदुभयमुपन्यस्य ततः पूर्ववदेव सृष्टिवाक्यप्रभृतीनां सम्यगन्वयः समन्वय इति समन्वयपदार्थमुक्त्वा युक्तीरेवमाहुः । नच तेषां ब्रह्मपराणामर्थान्तरकल्पना युक्ता । श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गात् । नच कार्ये एव प्रामाण्यं प्रतिपत्तुं युक्तम् । स्वरूपावबोधेऽपि प्रामाण्यस्याविशिष्टत्वात् । अपौरुषेयत्वस्यैव प्रामाण्ये तन्त्रत्वात् । नचाग्निहोत्रादिवाक्येषु कार्यावगतिः प्रामाण्ये तन्त्रमिति शक्यम् । तस्य चैत्यवन्दनादिवाक्येऽपि तुल्यत्वात् । अथापौरुषेयत्वे सत्यनपेक्षत्वं तन्त्रमिति विभाव्यते । तदा तु वेदान्तेऽपि तस्य तुल्यत्वात् स्वरूपपरत्वेऽपि प्रामाण्यमक्षुण्णमेव । किंच । पदानां स्वार्थप्रत्यायनेऽनपेक्षत्वं लोकवेदसाधारणम् । वाक्यानां तु लोके परापेक्षमेव प्रामाण्यम् । अन्यथा खपुष्पं तिष्ठति पश्येत्यादीनामपि तत् स्यात् ।

रश्मिः ।

मन्तव्य इत्यादिः । दर्शनस्य प्रत्यक्षेतरत्वादिति भावः । विधानादिति न तु ज्ञानस्य विधानात् । फलस्य ज्ञानस्य । अनुत्पन्नमिति श्रवणादिभिस्तथेत्यर्थः । किंतु सिद्धमिति भावः । श्रवणादिनेति विधिविषयेण । आत्मज्ञानसिद्धिरौषधफलवत् । अन्तरिति व्यर्थं न द्रष्टव्य इति । नियोगेन विधिना । तदपेक्षेति नियोगापेक्षेत्यर्थः । नियोगेत्यादि विदित्वेत्यत्र लिङ्लोट्तव्यादीनां विरहेण तथेत्यर्थः । असंबन्ध इति संबन्धः सहोच्चारणं असंबन्धोऽसहोच्चारितत्वं तस्मिन् सति । आनर्थक्यमप्रामाण्यं तस्मात् । दृष्ट इति धवखदिरौ छिन्धीत्यत्र धवखदिरादिव्यतिरिक्तस्थले दृष्ट इत्यर्थः । धवखदिरयोर्गुणप्रधानभावाभावात् । मामून्मुक्त्यर्थत्वं ज्ञानस्य नियोगस्य तद्भविष्यतीत्याशङ्क्य निषेधन्ति न च नीत्यादि । निषेधे हेतुमाहुः अश्रुतेत्यादि । तदुद्देशेनेति मुक्त्युद्देशेनेत्यर्थः । पूर्ववदिति रामानुजसिद्धान्तवदित्यर्थः । युक्तीरिति धर्मे (ब्रह्मणि) एव समन्वये युक्तीरित्यर्थः । अपौरुषेयत्वस्यैवेति एवकारेण कार्यावगतिव्यवच्छेदः । तन्त्रत्वं प्रयोजकत्वं तस्मात् । कार्यावगतिरिति जुहुयादिति होमे कृतिसाध्यत्वावगतिः । तस्येति कार्यावगतिरूपतन्त्रस्य चैत्यवन्दनं कुर्यादिति वाक्येपीत्यर्थः । स्वरूपेति स्वरूपावबोधकत्वेपीत्यर्थः । परापेक्षमिति आकाङ्क्षायोग्यतासंनिध्यपेक्षमित्यर्थः । स्वघटकपदार्थसत्त्वापेक्षं वा । खपुष्पमिति पश्य मृगो धावतीतिवदन्वयः । तत्स्यादिति प्रामाण्यं

भाष्यप्रकाशः ।

वेदे तु तेषामप्यपौरुषेयत्वात् प्रमाणान्तरानधिगतमूलकारणगमकत्वे तदनपेक्षमेव । मीमांसकमते प्रमाणान्तरानधिगतार्थगन्तृत्वस्यैव प्रामाण्ये तन्त्रत्वाङ्गीकारात् । श्रौतानां तथैवेष्टत्वाच्च । अतः प्रत्यक्षवत् सृष्टिवाक्यस्यापि प्रामाण्यं तुल्यमेवेत्यादिभिर्बहुधा नियोगपरत्वं वाक्यानां दूषयित्वा शरीरेन्द्रियमनसामात्माधिष्ठितानां चेष्टाविशेषः प्रयत्नः सर्वधात्वर्थसाधारणः । स एव च साध्यत्वाद् वाक्यार्थो लोकवेदयोः । नियोगस्तु न वाक्यार्थः । पूर्वमीमांसाभाष्ये पूर्वोत्तरतन्त्रसूत्रयोश्च तत्सूचकाक्षराभावात् । किंतु प्रवृत्तौ निमित्तमात्रं सः । रागादिवत् । भावना तु भवति वाक्यार्थः । ये प्राहुः किमपि भावयेदिति ते स्वर्गकामपदसंबन्धात् स्वर्गं भावयेदिति ब्रूयुरिति भावार्थाधिकरणभाष्ये स्पष्टत्वात् । कृतप्रयत्नापेक्षस्त्विति व्याससूत्रेऽपि स्पष्टत्वाच्चेति वाक्यार्थविषये भावनामादृतवन्तः । यत् पुनर्वेदान्तानां कर्तृप्रतिपादनपरत्वं वा जपार्थत्वं वेति नियोगवादिभिरुक्तं, तत्तु सर्वजगत्कारणस्य ब्रह्मणो नियोज्यत्वाभावान्नियोज्यस्य जीवस्य सत्ताया अहमिति प्रत्यक्षेणैव सिद्धेरात्मवादे साधितत्वाच्च न वेदान्तस्य तत्परत्वं, प्रकरणाद्यभावाच्च न कर्मशेषजपार्थत्वमित्येवं नियोगवादिनं दूषयित्वा ततो भेदाभेदवादं स्थापयित्वा ततो मायावादिमतं दूषयित्वा ज्ञानकर्मसमुच्चयं स्थापितवन्तः । एवमुक्ते मतद्वये त्रिसूत्र्या जन्माद्यधिकरणसमाप्तिः ।

शंकराचार्यमतेऽप्येत एव पूर्वपक्षाः । सिद्धान्तस्तु मायावादेन निर्विशेषब्रह्मजीवैक्यप्रतिपादनपरः । अधिकरणसमाप्तिस्तु श्रुतत्वाच्चेति दशमे सूत्रे ।

शैवमतेऽप्येत एव पूर्वपक्षाः । सिद्धान्ते तु समन्वयो नामोपक्रमादिभिर्लिङ्गैस्तात्पर्यनिर्णय इत्युक्त्वा तैः शिवपरत्वं वेदान्तवाक्यानामित्युक्तम् ।

रश्मिः ।

स्यादित्यर्थः । तेषामिति वाक्यानामित्यर्थः । मूलकारणेति एकप्राणरूपमूलकारणवद् ब्रह्मरूपमूलकारणगमकत्वे । तदित्यादि आकाङ्क्षाद्यनपेक्षमित्यर्थः । स एवेत्यादि आर्थीभावनारूपः प्रयत्न एव शाब्दीभावनासाध्यत्वादित्यर्थः । पूर्वतन्त्रे द्वितीयेऽध्याये यजेतेत्याख्यातान्तेनापूर्वं प्रतिपाद्यते पदान्तरं तु तच्छेषतां भजत इति । अपूर्वं वा अर्थं इति स्थितं तद्दूषयन्ति नियोग इति अपूर्वमित्यर्थः । विधिर्वा । पूर्वोत्तरेत्यादि व्यासजैमिनिसूत्रयोरित्यर्थः । नियोगेति सर्वैः पूर्वमीमांसकैः नियोगरूपभावनायाक्षिक्षणावस्थायित्वेन नियोगो न विधिविषयः किंत्वपूर्वमिति नियोगवादिनः । तत्परत्वमिति नियोज्यपरत्वमित्यर्थः । तत्परत्वे चाप्रामाण्यापत्तिरिति भावः । 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यारभ्य श्रुतत्वाच्चेत्येवमन्तैः सूत्रैः यान्युदाहृतानि वेदान्तवाक्यानि तेषां सर्वज्ञः सर्वशक्तिरीश्वरो जगतो जन्मस्थितिलयकारणमित्येतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वमिति भाष्यस्यारस्याद्युक्तत्वाच्च दशसूत्रमधिकरणमिदम् । तदीयाधिकरणमालायां या ईक्षत्यधिकरणसमाप्तिरस्मिन् सूत्र उक्ता सा स्वप्रज्ञाविलास इत्याशयेनाहुः अधीत्यादि । यद्वा ईक्षत्यधिकरणसमाप्त्या सप्तसूत्रमेवाधिकरणम् । भास्कराचार्यमते धीत्यादिः तथाच भास्करभाष्यम् । सांख्यास्तु त्रिगुणमचेतनं प्रधानं जगत्कारणमनुमीय तत्रैव वेदान्तवाक्यानि योजयन्तः प्रत्यवतिष्ठन्ते । चेतनस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वे यत्प्रतिज्ञातं शास्त्रयोनित्वं 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादिवाक्यसमन्वयात्तदसिद्धं, सच्छब्दो वस्तुमात्रवाची प्रधानेप्यवकल्पतेऽतो न चेतनं जगत्कारणमिति प्राप्ते ब्रवीति 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इति । सूत्रस्य दशमत्वं तु 'जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात्' इत्यनेकसूत्रमितिपक्षे । तैरिति उपक्र-

तथाहि। जैमिनिर्धर्मजिज्ञासामेव प्रतिज्ञाय तत्प्रतिपादकस्य पूर्वकाण्डस्य समन्वयमाह।

अवान्तरवाक्यानां प्रकारशेषत्वात्। नच सर्वस्मिन् वेदे धर्म एव जिज्ञास्यः। तद्गुरुणैव व्यासेन ब्रह्मजिज्ञासायाः प्रतिज्ञातत्वात्।

भाष्यप्रकाशः।

तत्र सिद्धान्तानामसंगतिः पश्चाद् व्युत्पाद्या। पूर्वं तु सर्वो वेदः क्रियापर इति पूर्वपक्षस्यासंगतिं व्युत्पादयन्ति तथाहीत्यादिना। समन्वयमिति धर्मे सर्ववाक्यानां तात्पर्यलिङ्गैः संदेहनिरसनपूर्वकं संबन्धम्। अवान्तरवाक्यानामिति अर्थवादमन्त्रादिरूपाणाम्। साधकत्वमिति प्रमितिजनकत्वम्। अयमर्थः। पूर्वकाण्डे ह्यग्निहोत्रादीनि कर्माणि प्रतिपाद्यन्ते। तेषां च न तेन रूपेण तदभिधेयत्वम्। शास्त्रभेदप्रसङ्गात्। किं तु धर्मत्वेनेत्येतद् बोधनाय जैमिनिर्धर्मजिज्ञासामेव प्रतिज्ञाय धर्मप्रतिपादकस्य पूर्वकाण्डस्य धर्मे समन्वयम्, आम्नायस्य क्रियार्थत्वादित्यादिभिः सूत्रैराह। तत्र मन्त्रार्थवादादीनां कथं क्रियार्थत्वमित्याकाङ्क्षायां तेषामवान्तरवाक्यानां धर्मप्रकारभूतद्रव्यदेवताकर्मस्तुत्यादिप्रकाशकत्वेन धर्मशेषत्वात् सर्वस्य पूर्वकाण्डस्य तत्रैव समन्वयः। नच तेष्वाम्नायादिपदात् सर्वस्मिन् वेदे धर्म एव जिज्ञास्य इति शङ्क्यम्। तद्गुरुणैव व्यासेन ब्रह्मजिज्ञासायाः प्रतिज्ञातत्वात्। नच व्यासस्य तद्गुरुत्वे संदेहः। मार्कण्डेयपुराणारम्भ एव।

> 'व्यासशिष्यो महातेजा जैमिनिः पर्यपृच्छत।
> यस्याग्रे भारताख्यानं व्यासेनोक्तं महात्मना'। इति ॥

श्रीभागवतेऽपि द्वादशस्कन्धे व्यासशिष्यान् प्रस्तुत्य, 'साम्नां जैमिनये प्राह तथा छन्दोगसंहिताम्' इति कथनात्। नच सोऽन्य एवेति शङ्क्यम्। औत्पत्तिकसूत्रे, बादरायणस्यानपेक्षत्वादिति पूजार्थं बादरायणग्रहणेनापि तथावगतेः। नच ब्रह्मजिज्ञासायाः क्रत्वर्थपुरुषार्थजिज्ञासावदवान्तरशेषविशेषविषयत्वं शङ्क्यम्। तथा सति जैमिनिरेव क्रत्वर्थादिजिज्ञासावत्

रश्मिः।

मादिलिङ्गैरित्यर्थः। माध्वास्तु शास्त्रयोनित्वलक्षणस्य ब्रह्मशिवादिष्वतिव्याप्तिरित्यलक्षणमिदमिति पूर्वपक्षे, तच्छब्दस्य विष्णुवाचकत्वमङ्गीकृत्यान्वयाद्युपक्रमादिलिङ्गसमुदायाद् विष्णुरेव जगज्जन्मादिकारणत्वेन शास्त्रयोनिर्न तु हिरण्यगर्भादिरिति सिद्धान्तयन्ति। तदेतन्मतं 'अनुकृतेस्तस्य च' इत्यधिकरणे सर्वेषां ब्रह्मण्यनुकरणत्वस्य व्यवस्थाप्यत्वादत्रैतच्चिन्तनस्यानुपयुक्तत्वान्नानूदितमिति ज्ञेयम्। धर्मे इत्यादि अयं सप्तम्यर्थः। संबन्धमित्यन्वयपदस्यार्थः। अर्थवादेति आदिशब्देन विधिनिषेधनामधेयानि। प्रमितीति मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमिति ब्राह्मणे एव धर्मप्रमितिजनकत्वमिति नेति भावः। जैमिनिर्धर्मजिज्ञासामित्यादि अप्रामाण्यं स्यादित्यन्तं भाष्यं व्युत्पादयन्ति अयमर्थ इत्यादि। तेनेति अग्निहोत्रत्वादिरूपेण पूर्वकाण्डाभिधेयत्वमग्निहोत्रप्रतिपादकाग्निष्टोमप्रतिपादकयोर्वेदयोर्भेदप्रसंगात् प्रतिपाद्यभेदस्य प्रतिपादकभेदकत्वादित्यर्थः। प्रतिज्ञायेति 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इति प्रतिज्ञायेत्यर्थः। अवान्तरेत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति तत्रेत्यादि। तत्रैवेति धर्म एवेत्यर्थः। न चेत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति न च तेष्वित्यादि सूत्रेष्वित्यर्थः। अपीति अपिर्मार्कण्डेयश्रीभागवताभ्यामौत्पत्तिकसूत्रस्य समुच्चये। तथावगतेरिति व्यासशिष्यत्वावगतेः। क्रत्वर्थेत्यादि

संदेहमात्रवारकत्वाज्जिज्ञासयोः। न त्वलौकिकार्थसाधकत्वम्। तथा सति वेदानामन्याधीनत्वेनाप्रामाण्यं स्यात् वेदजिज्ञासेत्येवोक्तं स्यात्।

भाष्यप्रकाशः।

तामपि प्रतिजानीयात्। तस्या अपि शास्त्रपूर्त्यर्थमवश्यमपेक्षितत्वात्। अतः कर्तृभेदाद् भिन्ने एवोभे अपि जिज्ञासे। ते च पूर्वोत्तरकाण्डाभ्यां प्रमिते धर्मे ब्रह्मणि च मन्दमध्यमयोर्बुद्धिदोषात् संदेहसंभवमालोच्यैव कृते, न त्वन्योऽन्यमतदूषणाय। जैमिन्युक्तानामभ्यासादीनां व्यासपादैरुपन्यासाद् व्यासाभिप्रेतस्यानपेक्षत्वस्य जैमिनिनोपन्यासात्। नापि धर्मब्रह्मप्रमितिजननाय। यदि तथा स्यात् तदा मीमांसाऽधीने वेदस्य प्रमितिजनकत्वे उभावपि वेदस्य प्रामाण्येऽनपेक्षत्वं न ब्रूयाताम्। अत इदमपि सर्वस्य वेदस्याक्रियार्थत्वगमकम्। तदेतदुक्तं संदेहेत्यादि, अप्रामाण्यं स्यादित्यन्तेन। अथ यदि कर्मार्थतैव वेदस्य जैमिन्यभिप्रेता स्यात् तदा बादरायणमतं जानानेन तदनादराय वेदजिज्ञासेत्येवं प्रतिज्ञावाक्यमुक्तं स्यात्। अत उक्तहेतुत्रयात् सर्वस्य वेदस्य क्रियार्थत्वं न जैमिन्यभिप्रेतम्। किं चाम्नायस्येति तु पूर्वपक्षसूत्रं, तद्भूतसूत्रस्थं क्रियार्थपदं तु तिङन्तवाचकं, न तु साध्यार्थपरम्। तेन तदर्थं जैमिनिसूत्रानुसरणमपार्थमेवेति।

रश्मिः।

चतुर्थेऽध्याये 'अथातः क्रत्वर्थपुरुषार्थत्वयोः जिज्ञासा' इति सूत्रेणेत्यर्थः। अवान्तरेत्यादि अङ्गविशेषविषयत्वमित्यर्थः। नास्तिक्यनिराकरणाय ब्रह्मत्वार्थं च कर्मणि ब्रह्मज्ञानस्यापेक्षितत्वादिति भावः। तामिति ब्रह्मजिज्ञासामित्यर्थः। संदेहेत्यादि 'संदेहवारकं शास्त्रं बुद्धिदोषात्तदुद्भवः' इति पूर्वकारिकयोक्तम्। जैमिन्युक्तानामिति द्वितीयस्य द्वितीयपादे उक्तानामित्यर्थः। उपन्यासादिति 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' इति सूत्र उपन्यासादित्यर्थः। आदिशब्देन श्रुत्यादि। व्यासेत्यादि अत्रैव तृतीयपादे 'शब्द इति चेन्न' इत्यादिसूत्रेऽभिप्रेतस्येत्यर्थः। उपन्यासादिति 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशो व्यतिरेकश्चार्थेनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्' इति सूत्रे इत्यर्थः। तथा च शाबरभाष्यं बादरायणग्रहणं बादरायणस्येदं मतं कीर्त्यते बादरायणं पूजयितुं नात्मीयं मतं पर्युदसितुमिति। न त्वित्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति नापीत्यादि। ब्रह्मेत्यादिः अलौकिकार्थेत्यस्यार्थः। प्रमितीत्यादिः साधकत्वमित्यस्यार्थः। जिज्ञासे इति बोध्यम्। तथेत्यादिति भाष्यं विवृण्वन्ति यदीत्यादि। उभाविति व्यासजैमिनी इत्यर्थः। इदमपीति भिन्नकर्तृकत्वमपीत्यर्थः। तदेतदिति न च ब्रह्मजिज्ञासाया इत्यारभ्योपपादितमित्यर्थः। वेदेत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति अथेत्यादि। उक्तेत्यादि जैमिनेर्व्यासशिष्यत्वात्, मीमांसयोर्भिन्नकर्तृकत्वात्, अथातो वेदजिज्ञासेत्यप्रतिज्ञानाच्चेति हेतुत्रयादित्यर्थः। उक्ते धर्मे समन्वयेऽधिकां युक्तिमाहुः किंचेत्यादि। तदेतद्भाष्यशास्त्रदीपिकादौ प्रसिद्धम्। सिद्धान्तसूत्रं तु 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इति। तिङन्तेत्यादि 'तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वात्' इति सूत्रम्। तेष्वेव पदार्थेषु भूतानां वर्तमानानां पदानां क्रियार्थेन तिङन्तेन समुच्चारणमर्थस्य पदनिमित्तत्वादिति सूत्रार्थः। साध्यार्थेत्यादि साध्योर्थो जन्ययागस्तत्परत्वं नेत्यर्थः। अयमर्थः लिङादिप्रयोगे ह्याख्यातत्वलिङ्त्वाभ्यां भावनैवोच्यते। सा च भवितुर्भवनानुकूलो भावकव्यापारविशेषः तत्र शाब्दी भावना आर्थी भावना च। पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलो व्यापारविशेषः शाब्दी भावना लिङ्वाच्या, अयं मां प्रवर्तयति प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारवानयमिति लिङ्श्रवणे प्रत्य-

किंच । साधनं च फलं चैव सर्वस्याह श्रुतिः स्फुटम् ।
न प्रवर्तयितुं शक्ता तथा चेन्नरको न हि ॥
प्रवर्तकस्तु सर्वत्र सर्वात्मा हरिरेव हि ।

भाष्यप्रकाशः ।

ननु तथापि पूर्वकाण्डस्य क्रियार्थत्वे तु न विवादः । तथा सत्यैकशास्त्र्यानुरोधादुत्तरकाण्डस्यापि पूर्वशेषतैव येन केनापि प्रकारेणादरणीया । नच विपरीतमाशङ्कनीयम् । सिद्धे ब्रह्मणि साध्यार्थानां वाक्यानामन्वयायोगात् । नच प्रापकत्वेनान्वयः । तत्तद्वाक्यगतफलोक्तिबाधप्रसङ्गात् । अतो वेदस्य साध्यार्थपरतां निश्चित्य तच्छेषतैवोत्तरकाण्डार्थस्यादरणीया । यदि चोपासनाशेषत्वं ज्ञानशेषत्वं वाङ्गीक्रियते तदापि तयोर्विधेयत्वेन धर्मत्वादुत्तरार्थस्य ब्रह्मणः प्रवर्तकश्रुतिवाक्यशेषता दुर्वारैवेति सर्वस्य वेदस्य धर्मार्थत्वमर्थादेव सिद्धमित्यत आहुः किंचेत्यादि । चकारद्वयं व्यापारस्य स्वरूपस्य च समुच्चायकम् । सर्वस्येति कर्मणः । सर्वस्यैव स्फुटमाहेत्यन्वयः । सर्वत्रेति विहिते निषिद्धे च । सर्वात्मेति 'स आत्मानꣳ स्वयमकुरुत'

रश्मिः ।

यात् । यथा गोशब्दश्रवणे गोत्वं प्रतीयते इति गोत्वं गोशब्दार्थः । स च व्यापारविशेषः । वेदे पुरुषाभावाल्लिङादिशब्दनिष्ठ एव । अतः शाब्दीभावना । तस्याश्च साध्यसाधनेतिकर्तव्यतारूपांशत्रयापेक्षिण्या अंशत्रयोपेतार्थीभावना साध्यत्वेन संबध्यते, न तु संख्यादयोऽयोग्या भावयितुम् । एवं च साध्यार्थं आर्थीभावना तत्परत्वं नेति । क्रियार्थपदस्य प्रकृतिप्रत्ययरूपतिङन्तवाचकत्वं, न तु लिङादिमात्रप्रत्ययार्थपरत्वमिति पर्यवसन्नोर्थः । तेनेत्यादि जैमिनिसूत्रविचार एतत्सूत्रद्वयं क्रियार्थत्वसाधकं वक्तव्यं तस्य तु तथात्वाभावेन सर्वस्य वेदस्य क्रियार्थत्वार्थत्वमित्यर्थः । किंच साधनमित्यादिभाष्यं विवरीतुमाभासमाहुः ननु तथेत्यादि । क्रियार्थत्व इति स्वाध्यायविधिना तु सर्वो वेदः पुरुषार्थाय नीयते । तदर्थमर्थवादानां भूतार्थप्रतिपादनेन प्रयोजनविधुराणामयं प्राशस्त्यरूपो लक्ष्यमाणोर्थः क्षिप्रदेवतासाध्यं कर्म क्षिप्रमेव फलं दास्यतीति । अन्यथा प्रयोजनवदर्थपर्यवसानं न स्यादतो विधिना अर्थवादानां प्राशस्त्ये तात्पर्यं बोध्यते । तात्पर्याच्च लक्षणा । ततश्चैककार्यकरत्वरूपैकवाक्यत्वं विधीनाम् । विधिमन्तरेण पुरुषप्रवर्तनासंभवात् । अतश्चार्थवादाः प्रयोजनपर्यवसायिनः स्युरिति सिद्धान्तसूत्रार्थात् क्रियार्थत्वे श्रुति'र्न प्रवर्तयितुं शक्ता तथा चेन्नरको नहि' हिंहेतावतो हेतोः साधनं चेत्यादिरित्यन्वयं मन्वाना आहुः वेदस्येति । विधिविषययागार्थत्वे तु न विवाद इत्यर्थः । विपरीतमिति पूर्वकाण्डस्योत्तरशेषतेत्यर्थः । प्रापकत्वेनेति अन्तःकरणशुद्धिद्वारा ब्रह्मप्रापकत्वेन कर्मणां ज्ञानभक्त्योरन्वय इत्यर्थः । तत्तदित्यादि यजेत स्वर्गकामः, तरति तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते, इत्यादिवाक्येत्यर्थः । अन्तःकरणशुद्धिद्वारा ज्ञानभक्तिस्वर्गादिकं चेत्युभयं फलत्वं नार्हेदिति भावः । अङ्गीक्रियत इति कर्मणोऽङ्गीक्रियत इत्यर्थः । तयोरिति ज्ञानोपासनयोः । विधेयत्वेनेति आत्मेत्येवोपासीतेति प्रज्ञां कुर्वीत इत्युभयोर्विधिकर्मत्वेन विध्यर्हत्वेन । धर्मत्वादिति 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इति जैमिनिसूत्रोक्तधर्मलक्षणाक्रान्तत्वात् । प्रवर्तकेत्यादि आत्मेत्येवोपासीत 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादिवाक्यशेषतेत्यर्थः । यद्वा विधिवाक्यशेषता । व्यापारस्येति देवताप्रीतिरूपस्येत्यर्थः । इदं तृतीयाध्याये स्फुटीकरिष्यते । स्वरूपस्येति ब्रह्मप्राप्तिफलवद् ब्रह्मणोपि फलत्वं 'भगवानेव हि फलम्' इति निरोधलक्षणग्रन्थात् । स्फुटमाहेति क्रियाविशेषणत्वात् । कारिका उप-

यज्ञ एव हि पूर्वत्र बोध्यते स्वर्गसिद्धये ॥

भाष्यप्रकाशः ।

इति श्रुतेः सर्ववस्तुस्वरूपोऽन्तर्यामिब्राह्मणात् सौबालश्रुतेश्च सर्वान्तर्यामी । अयमर्थः । वेदस्य या साध्यार्थपरता त्वयाङ्गीकृता सा श्रुतेः प्रवर्तकत्वानुरोधात् । तत्र श्रुतेर्यत् प्रवर्तकत्वं तत् किं यावदधिकारिणः प्रति साधारणं, किं वा असाधारणम् । आद्ये कस्यापि त्रैवर्णिकस्य नरको न स्यात् । तथा राजदण्डादेरपि लोके कोऽपि विषयो न स्यात् । रोगी च नोपलभ्येत । अविहिताविषिद्धाच निवृत्तेरपि तत एव संभवात् । तदभावे नरकादेरप्यसंभवात् । अथ पूर्वकर्मजन्यदुरदृष्टवशादविहितादौ प्रवृत्तिः । तर्हि तादृशेन शुभादृष्टेन विहितेऽपि प्रवृत्तिसंभवान्न श्रुतेः प्रवर्तकत्वसिद्धिः । अथासाधारणम्, तर्हि तदसाधारण्यं स्वभावतो गन्तुमशक्यं, हेत्वन्तरसाहाय्येन साधनीयम् । तत्र कालादेः साधारणत्वात् तत्तज्जीवादृष्टस्य तथात्वं कल्पनीयम् । तथा सति तेनैव प्रवृत्तिसंभवान्न श्रुतौ प्रवर्तकत्वनिर्धारः कर्तुं शक्यः । अथ प्रवृत्तेः शब्दश्रवणान्तरभावित्वदर्शनाददृष्टादेः सहकारित्वेनैव प्रवेशो, न करणत्वेनेति विभाव्यते, तर्ह्यदृष्टसंपादितदृष्टसामग्रीसत्तायां प्रवृत्तिरकुण्ठितैव स्यात् । अवतमसे चाक्षुषदर्शनेन सहकारिदौर्बल्येऽपि कार्योत्पत्तिनिर्धारात् । अतः कौण्ठ्यदर्शनात् फलमुखं प्रवर्तकत्वं न श्रुतेः शक्यवचनम् । तेन

रश्मिः ।

पादयन्ति अयमर्थ इत्यादि । साध्यार्थपरतेति 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इति सूत्रे कार्ये धर्मे चोदना प्रमाणमिति कार्यपरत्वं वेदप्रामाण्यव्यापकमिति साध्यार्थपरतेत्यर्थः । प्रवर्तकत्वेत्यादि । अयमर्थः । 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादौ यजेतेत्यत्रास्त्यंशद्वयं प्रकृतिप्रत्ययरूपम् । तत्राख्यातत्वलिङ्त्वाभ्यां प्रत्ययो युक्तो भवति । ताभ्यां भावनैवाभिधीयते, विधिनिमन्त्रणेत्यादिशास्त्रात् । विधिः प्रेरणं, भावना च भवितुर्भवनानुकूलो भावकव्यापारविशेषः । सा च शाब्दीभावनार्थीभावना च । तत्र पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलो व्यापारविशेषः शाब्दीभावना लिङ्वाच्या । अयं मां प्रवर्तयति प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारवानयमिति लिङ्श्रवणे प्रत्ययात् । यथा गोशब्दश्रवणे गोत्वं प्रतीयते इति गोत्वं गोशब्दार्थः । ननु स च व्यापारविशेषो न विध्यर्थोऽपि तु इष्टसाधनत्वं तदर्थ इति चेन्न । यागस्तु इष्टसाधनं तस्मात्तं त्वं कुरु इति सहप्रयोगात् । पर्यायतायां तु सहप्रयोगो न स्यात् । स च लोके पुरुषनिष्ठः । वेदे तु पुरुषाभावाच्छब्दनिष्ठ एव सः । अतो वेदः प्रवर्तयति । एतादृशप्रवर्तकत्वं तु वेदस्य साध्यार्थपरत्वे, न तु सिद्धार्थपरत्वे इति प्रवर्तकत्वानुरोधात्तथेत्यर्थः । साध्यार्थे प्रवृत्तिर्न तु सिद्धार्थे इति भावः । तत एवेति विधित एवेत्यर्थः । तदभाव इति अविहितनिषिद्धाचरणभाव इत्यर्थः । श्रुतेरिति विधिश्रुतेरित्यर्थः । तथात्वमिति हेतुत्वमित्यर्थः । संभवादिति प्रवृत्तिसंभवादित्यर्थः । तर्ह्यदृष्टेति अदृष्टसंपादितदृष्टसामग्रीसत्तायामित्यत्र सामानाधिकरण्यं सप्तम्यर्थः । तथाच तादृशसत्तासमानाधिकरणा शब्दश्रवणानन्तरं जायमाना प्रवृत्तिरकुण्ठितैव स्यादित्यर्थः । नन्वदृष्टं तथा न प्रबलमिति कुण्ठिता प्रवृत्तिरिति चेत्तत्राहुः अवेत्यादि । अवहीनं तमः अवतमसं 'अवसमन्धेभ्यस्तमसः' इति सूत्रेणाच् तस्मिन्नित्यर्थः । सहकारीत्यादि आलोकसंयोगदौर्बल्येपीत्यर्थः । निर्धारादिति शब्दश्रवणमन्तरेणापि बाल्यादृष्टवशात् स्तनपाने प्रवृत्तिदर्शनाच्चेत्यपि द्रष्टव्यम् । फलमुखेति फलमिष्टमनिष्टं च तदुपायभूतप्रवर्तकत्वम् । न श्रुतेरिति अदृष्टस्य वान्यस्य वा वक्तव्यमिति भावः । पूर्वार्धे साधनं करणल्युडन्तमतो व्यापारलाभः । फलपदं फलत्वावच्छिन्ने योगरूढमतो ब्रह्मप्राप्तिवद्ब्रह्मापि फलमित्याहुः तेनेति । द्वितीयां

सिद्ध एव हि सर्वत्र वेदार्थो वेदवादिनाम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

साधनव्यापारफलस्वरूपाणि कर्मणां श्रुतिर्बोधयतीत्येतावन्मात्रमङ्गीकार्यम् । नच प्रवृत्तिनिवृत्त्यनुपपत्तिः । ईश्वरस्यैव प्रवर्तकस्य निवर्तकस्य सत्त्वात् । नचात्र कल्पना । 'एष उ एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति, एष उ एवासाधु कारयति तं यमधो निनीषति' इत्यादिश्रुतेः । नच वैषम्यनैर्घृण्यापातः । आत्मसृष्टेरेव श्रुत्यभिप्रेतत्वेन भेदाभावादिति वैषम्यनैर्घृण्यसूत्रे व्युत्पादयिष्यामः । अतः श्रुतेः प्रवर्तकत्वाभावेन साध्यार्थपरतैवासंगता । नच तर्हि पूर्वकाण्डे यज्ञबोधनं व्यर्थमिति शङ्क्यम् । तस्य स्वर्गसिद्ध्यर्थत्वात् । विध्यादीनां क्रीडेच्छाव्यापारत्वान्न तद्वैयर्थ्यमिति कृतप्रयत्नापेक्षसूत्रे व्युत्पादयिष्यामः । एवं सिद्धे विध्यादीनां क्रीडेच्छाव्यापारत्वे तदर्थानां तत्फलानां च क्रीडाशेषतैवेति तत्प्रतिपादकत्वेनैवोभयोरैकशास्त्र्यं, न कर्मप्रतिपादकतयेति मन्तव्यम् । पुरःस्फूर्तिकमादाय क्रियापरत्वाङ्गीकारेऽपि तेन पूर्वकाण्डस्यैव धर्मार्थत्वसिद्धिर्न सर्वस्य वेदस्येति तावन्मात्रस्य साध्यार्थतोपगमेन पूर्वमीमांसकमतं द्वाभ्यां दूषितम् । अतः परं पूर्वकाण्डस्यापि साध्यार्थत्वमनुपगम्य दूषयन्ति सार्धेन सिद्ध एवेत्यादि । सर्वत्रेति काण्डद्वये । पूर्वत्रेतिपाठे अपेरध्याहारः । वेदवादिनामिति सर्ववेदप्रामाण्यज्ञान-

रश्मिः ।

कारिकां विवृण्वन्ति न च प्रवृत्तीत्यादि । अत्रेति ईश्वरस्य प्रवर्तकत्वे निवर्तकत्वे चेत्यर्थः । श्रुतेरिति उपलक्षणमेतत् । लोकदृष्टान्तेनेश्वरे संभवति प्रवर्तकत्वादौ शब्दे दृष्टान्ताभाव इति । यज्ञ एवेत्युत्तरार्धं विवरीतुमाहुः न च तर्हीति । साध्यो यज्ञस्तत्परत्वाभाव(काल)इत्यर्थः । स्वर्गेत्यादि न तु प्रवृत्त्यर्थत्वमिति भावः । विधिनिमन्त्रणेति सूत्रे पुरुषनिष्ठमेव प्रेरणं लिङाभिधीयते । नन्वीश्वरोऽदृष्टद्वारेण प्रवर्तयिष्यति किं विहितप्रतिषिद्धविधानेनेति चेत्तत्राहुः विध्यादीनामित्यादि । तद्वैयर्थ्यमिति विहितप्रतिषिद्धवैयर्थ्यमित्यर्थः । व्युदिति द्वितीयाध्यायतृतीयपादे व्युत्पादयिष्याम इत्यर्थः । क्रीडेच्छेत्यादि तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनको हि व्यापारः । इच्छाजन्यत्वे सति व्यापारत्वमिच्छाजन्यक्रीडाजनकत्वं, क्रीडेच्छाया व्यापारत्वम् । तदर्थानामिति विध्याद्यर्थानामित्यर्थः । क्रीडाशेषता दशविधलीलार्थता, पारार्थ्यं शेषलक्षणमिति । तथा च क्रीडा यागादिस्तदर्थः विध्यर्थः प्रेरणादिः । एवकारस्तु, ननु यागादिर्जीवधर्मः इति जीवक्रीडा नात्मक्रीडा तच्छेषता चेन्न, परात्तु तच्छ्रुतेरिति ईश्वरक्रीडा तच्छेषता चेति । क्रीडा । तच्छेषतेतरव्यवच्छेदकः । यद्वा न यागादिः किंतु 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्याद्युक्ता सर्गादिर्वेदान्ते तच्छेषता विध्याद्यर्थे प्रेरणादौ इत्यर्थः । तत्प्रतीति दशविधलीलातच्छेषप्रेरणादिप्रतिपादकत्वेन । साध्यार्थपरताया दूषितत्वादेवकारः । उभयोर्वेदवेदान्तयोः । ऐकशास्त्र्यं तु 'यदेव विद्यया करोति' इति 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' इतिश्रुतिभ्याम् । न कर्मेति साध्यार्थपरतया नेत्यर्थः । मन्तव्यमिति मननार्हम् । 'क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं ते' इतिवाक्यात् । न चैवमीश्वरः प्रवर्तयतीति मतं दृष्टविरोधीति 'चोदना पुनरारम्भः' इतिसूत्रस्य भाष्यविरोध इति वाच्यम् । लौकिकानुग्रहाय जैमिनेः प्रवृत्तत्वेन दृष्ट एव तेषां विश्वासात् तत्र विधेः प्रवर्तकत्वोक्तेरिति । यद्वा 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा वा' इति श्रुतिप्राप्तविकल्पोक्तानुष्ठानकरणे तथैव वर्तते । अधुना तु 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' इतिश्रुत्युक्तानुष्ठानमिति न किंचिदेतच्छास्त्रभेदात् । ननु न तथा प्रतीयत इतिचेत्तत्राहुः पुर इत्यादि । तावदित्यादि पूर्वकाण्डमात्रस्येत्यर्थः । द्वाभ्यामिति कारिकाभ्याम् । अध्याहार इति । उत्तरकाण्डसंग्रहायेति भावः ।

मन्त्राणां कर्मणां चैव दर्शनश्रवणाच्छ्रुतौ ।
कृतिश्च[1] सिद्धतुल्यत्वं वेदः स्वार्थे च सन्मतः ।

'प्रजापतिरकामयत प्रजायेय' इति । 'स एतदग्निहोत्रं मिथुनमपश्यत्' । 'प्रजापतिर्यज्ञानसृजताग्निहोत्रं चाग्निष्टोमं च पौर्णमासीं चोक्थ्यं चामावास्यां चातिरात्रं च तानुदमिमीत यावदग्निहोत्रमासीत् तावानग्निष्टोम' इत्यादि । न ह्युपाख्यानानां मिथ्यार्थत्वं बुद्धजन्मनः पुरोक्तं युक्तं वा । तथा सति वेदाप्रामाण्यमेव स्यात् । मिथ्योपाख्यानप्रतिपादकलोकवत् ।

भाष्यप्रकाशः ।

पूर्वकं तदनुसारिणाम् । चैवेति चकारो 'अपश्यत् पुरोडाशं कूर्मं भूत्वा सर्पन्तम्' इति द्रव्यादीनां दर्शनस्य समुच्चायकः । मन्त्राणां दर्शनं तु, 'स एतं कसर्णीरः काद्रवेयो मन्त्रमपश्यत्, स एतं दीक्षितवादमपश्यत्' इत्यादिषु बोध्यम् । स्वार्थे चेति चोऽप्यर्थे । अतः स्तुतिं समुचिनोति । उक्तं विभजन्तो दर्शनस्य श्रुती आहुः प्रजापतिरित्यादि । अत्राद्या तैत्तिरीयब्राह्मणस्था । अस्यामपश्यदित्यस्य ज्ञानार्थताया अपि शक्यवचनत्वात् सिद्धार्थत्वं न निःसंदिग्धं स्यादित्यतो द्वितीयस्या उपन्यासः । सा च संहिताप्रथमाष्टकस्था । तत्रोक्तस्योन्मानस्य कर्मणामसिद्धत्वेऽशक्यवचनत्वादिति । न हीत्यादिकं विभागभाष्यम् । तेनायमर्थः । व्यासादधीतवेदः श्रुतभारतः स्वयमृषिर्जैमिनिर्यदि धर्मरूपायाः क्रियायाः सिद्धत्वं नाभिप्रेयात् तदा भावार्थाधिकरणे, 'भावार्थाः कर्मशब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेत' इत्यनेन सिद्धाव-

रश्मिः ।

कर्मदर्शनश्रुतेर्भाष्ये वक्तव्यत्वान् मन्त्रदर्शनश्रुतेश्चानुक्तत्वात्तां दर्शयन्ति मन्त्राणामित्यादि । भाष्ये । कृतेश्चेति कृतिर्यत्नस्तस्य नित्यत्वेपि क्रीडार्थमाविर्भावतिरोभावाभ्यां साध्यत्वमानेपि सिद्धतुल्यत्वं, सर्वस्य नित्यत्वादिति । प्रकृते । दर्शनश्रुती इति दर्शनश्रुती इति द्विवचनान्तमिदम् । ज्ञानार्थताया इति एवं भविष्यतीति ज्ञातवानित्येवं साध्यज्ञानार्थताया उक्तप्रकारेण वा इत्यर्थः । उक्तस्येति उदमिमीतेत्युक्तस्येत्यर्थः । इतीति । नहि साध्यस्य घटस्योन्मानं संभवतीति भावः । विभागभाष्यमिति 'वेदः स्वार्थे' इत्यादिकारिकैकदेशव्याख्याश्रुत्योर्व्याख्यानभाष्यम् । विभागशब्दस्तावद्व्याख्यानेषु प्रयुज्यते विशिष्य तु भाष्यविभागे प्रतिविधास्यामः इति सृष्टिभेदवादे कथनात् । अर्थपरोत्र विभागशब्दः । स्वरूपपरो यथाह 'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यमवरं स्मृतम्' इत्यत्राव्यङ्ग्यमधममभिप्रेत्यैतावदधमकाव्यलक्षणमितरद्विभागपरमिति । तथात्र नहीत्यादि वेदस्वरूपपरं न भवति किंतु व्याख्यानभाष्यमित्यर्थः । तथापि स एवार्थः । यद्वा । यथा संहिता एकप्राणस्य योगः । वायुः शब्दतामापद्यते इति प्राञ्चः । तद्वद्भगवद्व्यासस्य सूत्राणि तदीयैकप्राणयोगः एकस्य विभज्य धारणार्थं विभागस्य भाष्यं युक्तमिति । अत एव शैवभाष्ये व्याख्यायते इति वक्तव्ये विभज्यत इत्युक्तम् । तेनेति एकदेशभाष्यस्य पूर्वकारिकाव्याख्यानसापेक्षत्वेनेत्यर्थः । वेदस्वरूपेतरद्व्याख्यानं तत्परत्वेनेति वार्थः । अयमिति मीमांसकादिनिरासको वक्ष्यमाणोर्थ इत्यर्थः । तदर्थं सार्धकारिकार्थमाहुः व्यासादित्यादि । भावार्थेत्यादि द्वितीयाध्याये इत्यर्थः । सिद्धेत्यादि भावार्था इत्यत्र भावशब्दस्तावद् 'भावे घञ्' इति सूत्रनिष्पन्नः

1. 'कृतिश्च' इति भाष्यपाठे रश्मिकारैः कृतेश्चेति स्वीकृत्य व्याख्यातोस्ति ।

भाष्यप्रकाशः।

स्थापन्नधात्वर्थाभिधायकानां नामपदानां क्रियाप्रत्यायकत्वं न वदेत्। नच तत्र भावार्थपदेन भावनार्था इत्येवोच्यत इति वाच्यम्। तथा सति कर्मशब्दपदवैयर्थ्यापत्तेः। भावार्थैः क्रिया प्रतीयेतैतावतैव चारितार्थ्यात्। तथा 'सर्वेषां भावोऽर्थ इति चेत्'इत्यग्रिमसूत्रं च न वदेत्। क्रियाबोधकाख्यातपदानां भावनार्थत्वस्य सर्वजनीनत्वेन सर्वेषां भावोऽर्थ इति संदेहस्यैवानुदयात्। तथा अग्रिमसूत्रद्वये क्रमेण नाम्नां पुरुषानपेक्षक्रियाप्रतिपादकत्वम्, आख्यातानां तु पुरुषापेक्षक्रियाप्रतिपादकत्वमिति विभागं च न कुर्यात्। साध्यैकस्वभावक्रियावादे पुरुषानपेक्षक्रियाया एवाभावात्।

किंच। यागादिधर्मरूपा क्रिया यदि सर्वदा साध्यावस्थैव स्यान्न कदापि सिद्धावस्था, तदा तन्निष्पत्तेः कदाप्यभावाच्चोदनापि नोच्येत। 'चोदना पुनरारम्भ' इति लक्षणमपि तस्या न क्रियेत।

रश्मिः।

इति तथेत्यर्थः। मीमांसकाभिमानिशङ्कामनूद्य निषेधन्ति न च तत्रेत्यादि। भावनार्था इति। भावनार्था आख्यातशब्दास्तेभ्योऽपूर्वं प्रतीयत इतिसूत्रार्थात्। यथाहुः—

'द्रव्यादिशब्दतोऽपूर्वधीर्भावार्थपदादुत।
द्रव्यादीनां फलार्थत्वात् तच्छब्देन ह्यपूर्वधीः' ॥
'क्रियाद्वारमृते द्रव्यं फलेन नहि युज्यते।
भावनावाचिनोऽपूर्वमाख्यातादवगम्यते' ॥

इति 'सोमेन यजेत' 'हिरण्यमात्रेयाय ददाति' इत्यादौ भावार्थस्य यागदानादेः साध्यत्वेन फलं प्रति असाधनत्वान्नापूर्वप्रत्यायकत्वं किंतु सोमादिद्रव्यादीनामिति पूर्वपक्षः। क्रियामन्तरेणाफलवन्तो भवन्तो द्रव्यादयः काष्ठादिदृष्टान्तमनुरुन्धाना भावनावाचितां समर्पयन्ति। यजति ददातीत्यादीनामपूर्वबोधकतामाख्यातानाम्। धात्वर्थव्यतिरिक्ता सर्वधात्वर्थसंबद्धकरोत्यर्थरूपा भावनेति। चतुःसूत्रमधिकरणमिदं द्वितीये त्वेकसूत्रे 'चोदना पुनरारम्भ' इत्यस्मिन्नधिकरणेऽपूर्वसदसद्भावे संशयः। यागस्य क्रियारूपत्वेन त्रिक्षणावस्थायितया कालान्तरभाविफलजननासामर्थ्यान्मध्ये व्यापाररूपमपूर्वद्वारं कल्प्यतेऽतोऽपूर्वमस्तीति सिद्धान्तयन्ति, तदिदं सूत्रं विरुणद्धि। सूत्रेष्वपूर्ववाचकपदाभावात् न च यागस्य करणत्वानुपपत्तिः। आख्यातानां क्रियासामान्यवाचितया समानपदोपात्तस्य धातोश्चातीन्द्रियक्रियाविशेषवाचितया तन्निष्ठस्य करणत्वस्य देवताप्रीतिरूपव्यापारेण सिद्ध्यानुपपत्त्यभावात्। साधकतमं करणमिति करणलक्षणाङ्गीकारे तु स्वरूपेण निर्वाहान्न व्यापारापेक्षात आख्यातपदैस्तत्कल्पनस्याशक्यत्वात्। पुरुषप्रवृत्तिस्तु न यागः तदभिव्यञ्जकतया तदेकदेशत्वात्। यथाहि उद्यमननिपतनरूपपुरुषव्यापारसहकृतेन परशुनाघातात्मकदृढसंयोगद्वारा छिदा साध्यते तथा चोदनाप्रयुक्तपुरुषव्यापाराभिव्यक्तयागेन देवताप्रीतिद्वारा फलं साध्यते, अतः प्रवर्तकत्वेनाप्यपूर्वकल्पनमशक्यमिति। एतद्दूषणं स्फुटमिति प्रकारान्तरमाहुः तथासतीत्यादि। अग्रिमेत्यादि 'येषामुत्पत्तौ स्वे प्रयोगे रूपोपलब्धिस्तानि नामानि तस्मात्तेभ्यः पराकाङ्क्षा भूतत्वात्स्वे प्रयोगे'। 'येषां तूत्पत्तौ अर्थे स्वप्रयोगो न विद्यते तान्याख्यातानि तस्मात्तेभ्यः प्रतीयेताश्रितत्वात्प्रयोगस्य' इति सूत्रद्वये इत्यर्थः। चोदनापीति 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इति सूत्र इत्यर्थः। क्रियायाः प्रवर्तकं वचनं चोदनेत्युच्यते तस्याश्च कृदन्तत्वमिति सिद्धावस्थाबोधिका सा नोच्येत धर्मलक्षणत्वेनेत्यर्थः। तस्या इति चोदनाया इत्यर्थः। न क्रियेतेति

भाष्यप्रकाशः।

अतो जैमिनेरपि वेदस्य सिद्धार्थपरतैवाभिप्रेता। इदं यथा तथा भावार्थाधिकरणभाष्ये व्युत्पादितमाचार्यचरणैः। मयापि तद्विवरणे निपुणतरं प्रपञ्चितमिति नात्र लिख्यते।

रश्मिः।

सिद्धावस्थापन्नधात्वर्थबोधकघञन्तारम्भपदेन न क्रियेतेत्यर्थः। न च स्वर्गादिरारभ्यते येन तदपूर्वमारम्भः इति न घञन्तमिदमिति वाच्यं 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इत्यत्रानन्वयात् अपूर्वानङ्गीकारात् स्फुटीभविष्यति चैतदुपरिष्टात्। न च करणत्वोपपत्तये व्यापारावश्यकतेति शङ्क्यम्। देवताप्रीतेर्व्यापारत्वात्। न च वैयधिकरण्यम्, विषयतासंबन्धेन यजमाने सत्त्वात्तस्याः। अत इति धर्मलक्षणं चोदना तस्याश्च घञन्तारम्भपदेन विवरणादित्यर्थः। व्युत्पादितमिति अत्र स्पष्टप्रतिपत्तये तद्विवरणेन सहार्थं उपादीयते। तथाहि 'भावार्थाः कर्मशब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेतैष ह्यर्थो विधीयते' इति सूत्रं न सर्वेषु धर्मोऽपि तु केषुचिदेव पदेषु इत्यत्र हेतुनिर्णयाय प्रववृते। अस्यार्थः क्रियावाचिनां धातुत्वानुशासनात्सर्वधातुष्वनुगतरूपं यत्क्रियासामान्यं स भावः, सोऽर्थो विधेयो येषां ते भावार्थास्तादृशा ये शब्दाः ते कर्मवाचका इत्यर्थः। इदमेवानुगतरूपं क्रियासामान्यमितिभाष्यम्। तथाच यजत्यादयो धातुत्वेन रूपेण क्रियासामान्यं यजतित्वादिना प्रतिनियतरूपेण क्रियासामान्यव्याप्यं यागसामान्यरूपं विशेषं प्रतिपादयन्तीत्यर्थः पर्यवसन्नः। ननु किं क्रियाया रूपद्वयनिरूपणेन पूर्वोक्त एवार्थोऽस्तु सूत्रस्येति चेन्न, पुरुषक्रियामात्रस्य धर्मत्वाभावात् वेदैकसमधिगम्यातीन्द्रियस्थिरयागस्यैव धर्मत्वात्। स्थिरत्वस्य च यजतिना यागसामान्यबोधन एव संभवात् सामान्यस्य च नित्यत्वात्। अतो रूपद्वयनिरूपणस्यावश्यकत्वात्। ननु क्रिया प्रत्यक्षा यजतीतिप्रत्ययाभिलापयोः क्रियाविशेषं कुर्वाणं दृष्ट्वैव संभवादतीन्द्रियत्वं कथमिति चेन्न, द्रव्यदेवतासंबन्धो हि यागः। चतुर्थेऽध्याये 'यजतिचोदना द्रव्यदेवताक्रियं समुदाये कृतार्थत्वात्' इति सूत्रे द्रव्यदेवताक्रियासमुदायस्य तल्लक्षणत्वात् द्रव्यदेवते यागस्य रूपमिति—आमिक्षाधिकरणे सिद्धत्वाच्च, तयोश्च संबन्धः प्रीतिहेतुत्वेन स्वीकारः,

'देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ' ॥

इति वाक्यात्। स च देवताया अतीन्द्रियत्वात्परात्मधर्मत्वाच्चातीन्द्रिय इति। न च देवता यजतीति प्रयोगापत्तिः। तादृशस्वीकारस्य देवनिष्ठत्वादिति वाच्यम्। तादृशव्यापारस्य फलत्वेन कर्मनिष्ठत्वात्। तेन देवदत्तो यजतीति प्रयोगानापत्तिरपि दत्तोत्तरा। ऋत्विजो यजन्तीति स्विष्टमेव योधा युध्यन्तीतिवत्। प्रैषे होतर्यजेति प्रयोगात्। अतः फलरूपो यागोऽतीन्द्रियः 'चातुर्होत्रं च सत्तम' इति क्रियायाः पुरुषावयवेषु गणनाच्च। ननु देवतोद्देशेन द्रव्यत्याग एव यागोऽस्तु अभय इदं न ममेति त्यागवाक्यानुरोधाद्दानस्यापि यजत्यर्थत्वाच्चेतिचेन्न, परस्वत्वापादनरूपदानस्याप्यतीन्द्रियत्वात्। लोकप्रयोगस्तु न तात्त्विकः, शास्त्रदृष्ट्यभावात्। न च 'व्रीहीनवहन्ति' 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इत्यादिक्रियाणां प्रत्यक्षत्वादेतद्दृष्टान्तेन यागोपि प्रत्यक्षो भवतु इति शङ्क्यम्। मन्त्रेण चावघातो, देवपत्न्यश्च कर्म्यः, लौकिके 'हविष्कृदेहि' 'उभौ हि वै देवानाꣳशमितारौ' इत्यादिभिस्तदावाहनादतीन्द्रियत्वात्। फले संपन्नेऽलौकिकक्रियायाः कर्तुश्च तिरोभावः। न च नार्हति स्वीकारो नित्यो भवितुं द्रव्यस्य व्रीह्यादेरनित्यत्वेन तज्जन्यहोमोत्तरभावित्वादिति शङ्क्यम्। 'अप-

रश्मिः ।

श्यन् पुरोडाशं कूर्मं भूत्वसर्पन्तम्' इत्याद्यर्थवादेषु द्रव्यस्यालौकिकत्वकथनात् । किं च पुरुषसूक्तविवरणाध्याये—

'इति संभृतसंभारः पुरुषावयवैरहम् ।
तमेव यज्ञं पुरुषं तेनैवायजमीश्वरम्' ॥

इतिवाक्याद्द्रव्यादीनामलौकिकत्वं निराबाधम् । 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' इति श्रुतेश्च । ते प्रोक्षणादिसंस्कारैरिदानीं लौकिकेषु द्रव्यादिषु संनिधाप्यन्ते, मूर्तौ देवतावत् । लौकिकैरेव यागनिष्पत्तौ तु संस्कारा व्यर्थतां गच्छेयुः । अतो ये क्षणिकत्वमदृष्टं वा कल्पयन्ति ते न यागपदार्थं विदुः । अतःपरमेष ह्यर्थो विधीयत इति सूत्रशेषार्थः । एष योऽतीन्द्रियत्वादिधर्मवान् सोर्थः । लौकिकस्तु संसारहेतुत्वादनर्थ इत्यर्थः । स्थिरत्वेन विद्यमानत्वादेव विधीयते चोदनया पुरुषः प्रवर्त्यते तत्र । प्रलये तु 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' इति श्रुतेर्नित्यक्रियाया ईश्वरधर्मत्वेन तन्निष्ठता, तेन धर्मानित्यत्वादिना क्रियात्वादिजातौ पदशक्तिरङ्गीकार्या । सा च धर्म इति तत्स्थित्यर्थं धर्मिणः प्रावाहिकी सत्ताभ्युपगन्तव्या । अहोरात्रन्यायेन कल्पस्य कल्पपूर्वकत्वात्तद्रात्रिरूपे प्रलये सर्वनाशात् । ये पुनर्जीवन्ति ते स्वापाच्च क्रियाप्रवाहोपरमे तस्या जातेरनाधारत्वापत्त्या कालादौ तत्स्थितिर्निराधारत्वं वा कल्पनीयम् । शाब्दबोधसमये च क्रियायाः आक्षेपलभ्यत्वं कल्पनीयं, कर्मदर्शनादिश्रुतीनां च स्वार्थे तात्पर्यराहित्यं कल्पनीयमिति वरं धर्मनित्यत्वमित्यलम् । उक्तेर्थे शङ्कते सर्वेषां भावोर्थ इतिचेत् । यदि भावार्थेभ्य एव धर्मः प्रतीयत इति उच्यते तदा सर्वे शब्दाः भावार्थाः क्रियावाचकाश्च सर्वे धातुजाः । कृत्प्रत्ययेन च भावोभिधीयत इतीत्यर्थः । न सर्वे शब्दाः धर्मवाचकाः धर्मस्य पुरुषार्थत्वात् । भावार्थशब्दैर्नामभिस्तु धर्मः प्रत्याय्यते परंतूदासीनतया न तु पुरुषार्थतया अतो धर्मप्रमितिसंपादने भावार्थकर्मशब्दत्वमेव न प्रयोजकं किं तु पुरुषस्यापेक्षापीतः सापेक्षानपेक्षविभागं वदन्परिहरति येषां तूत्पत्तौ स्वे प्रयोगे रूपोपलब्धिस्तानि नामानि तस्मात्तेभ्यः पराकाङ्क्षा न भूतत्वात्स्वे प्रयोगे, स्व इति षष्ठ्यर्थसप्तम्यन्तं स्वीयत्वेनार्थवाचि । तथाच येषां शब्दानामर्थस्योत्पत्तौ सत्यां प्रयोगकाले रूपोपलब्धिर्जायते तानि नामानि । निरुक्ते नामाख्यात इत्यादिशब्दविभागवचनात् । अतः स्वयं नमन्ति कारकतया क्रियाशेषा वाक्ये भवन्ति नामयन्ति, स्वार्थमाख्यातार्थं प्रति, स्वार्थमाख्यातार्थप्रयोजनाय शेषभूतं कुर्वन्तीति नामसंज्ञा तेषां शब्दानामर्थस्य परार्थत्वज्ञापिका । अतः परार्थत्वेन स्वातन्त्र्याभावाद्वाक्यार्थबोधावसरे नामभ्यो धर्मः पुरुषार्थतया न प्रमीयत इत्ययमर्थो नामशब्दार्थकथनेन बोध्यते । तच्छ्रवणानन्तरं पुरुषाकाङ्क्षा न भवति । यथा पचतीत्युक्ते कः इत्याकाङ्क्षा, न तथा घट इत्युक्ते, नापि पाक इत्युक्ते । अतःपरं भूतत्वात्स्वे प्रयोगे इति सूत्रांशः, स्वप्रयोगकाले भूतत्वात् सिद्धत्वादित्यर्थः । अतस्तन्निष्पादनार्थं न पुरुषापेक्षेति भावः । तथाच नामभ्योऽनपेक्षत्वेन स्थिरत्वेन धर्मप्रमितावपि पुरुषार्थत्वेन न प्रमीयत अतो भावार्थकर्मशब्दत्वं तत्स्वरूपप्रमित्युपयोग्येव न तु पुरुषार्थरूपत्वघटिततत्प्रमित्युपयोगीति सिद्धम् । येषां तूत्पत्तावर्थे स्वप्रयोगो न विद्यते तान्याख्यातानि तस्मात्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेताश्रितत्वात्प्रयोगस्य । यथा नामभ्यः पुरुषार्थत्वेनाप्रवृत्तिस्तथाख्यातेभ्योपीति शङ्कां वारयति तुशब्दः । उत्पत्ताविति सतिसप्तमी आनन्तर्यज्ञापिका । अर्थ इति विषयसप्तमी । स्वप्रयोग इति शब्दप्रयोगः । तथा चायं सूत्रार्थः, येषां शब्दानामर्थोत्पत्त्यनन्तरमर्थे

भाष्यप्रकाशः ।

किंच । अर्थवादाधिकरणेऽर्थवादानां विधेयस्तावकत्वेन प्रामाण्यकथनादपि तथा । यदि हि बालातुराद्युपच्छन्दनवदर्थवादानां स्तावकत्वमभिप्रेयात् प्रामाण्यं तेषां न ब्रूयात् । तदुपच्छन्द-

रश्मिः ।

प्रयोगो न विद्यते अर्थं प्रदर्श्य प्रयोगो न विद्यते यथा अयं घट इति उत्पत्तिसमये प्रयोगो नात्र निषिध्यते तेषामाख्यात इति संज्ञा, यैर्धर्म आख्यायत इति ज्ञापनार्थम् । तस्मादविद्यमानार्थत्वात्स्वनिष्पत्त्यर्थं पुरुषाकाङ्क्षाया विद्यमानत्वात्तेभ्यः पदेभ्यो धर्मः कर्तव्यत्वेन प्रतीयेत । किंचाश्रितत्वात्प्रयोगस्येति प्रतीतौ हेत्वन्तरम् । प्रयोगो ह्यनुष्ठानं तत्पुरुषाश्रितं भवति । पुरुषप्रयत्नव्यतिरेकेण धर्मो न निष्पद्यते । आख्यातार्थश्च भावना उत्पादनात्मिका क्रिया पुरुषधर्मः । अतः स्वनिष्पत्त्यर्थं पुनः पुनः प्रयोगार्थं च पुरुषोऽपेक्ष्यते इति पुरुषार्थो धर्मस्तेभ्यः प्रतीयत इत्यर्थः । नामभ्यस्त्वौदासीन्येनेत्युक्तम् । एवमाख्यातस्य धर्मप्रत्यायकत्वे सिद्धे आख्यातविशेषो लिङ् तदर्थे प्रवर्तकत्वं वदन् चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इति पूर्वमुक्तं तत्र चोदनास्वरूपमाह 'चोदना पुनरारम्भ' इति न त्विदमधिकरणान्तरं पूर्वशेषत्वात् विषयान्तरादर्शनाच्च । चोदना तु प्रथमतः प्रवृत्तिजनकत्वादारम्भ इत्यर्थः । पुनःशब्दो हि त्वर्थः । चोदना हि प्रवर्तकं वाक्यं तेन चाख्यातपदोक्ता भावना विधीयते, अयं मां प्रवर्तयतीति प्रेरणया नियोज्ये प्रवृत्तिरूपारम्भजननात् । तथाच विधेयत्वेन चोदनाविषयोर्थो धर्म इति । अतस्तस्य वाक्यस्य धर्मत्वज्ञापकत्वमतो भावार्थैः कर्मशब्दैर्यागो दानं होम इत्यादिभिः यथासिद्धत्वेन धर्मः प्रतिपाद्यते, यथा चाख्यातैर्विशेषणत्वेन यागेन भावयेदिति यजेतेत्यस्यार्थात् तथानेन वाक्येन विशेष्यत्वेन धर्मो न प्रतिपाद्यते, पुरुषविशेषणत्वेनैव धर्मप्रमितिः विशेषणं चौदासीनप्रच्युत्या आरम्भः पुरुषविशेषणं पुरुषधर्मस्तन्निष्ठ इति यावत् । आरम्भस्तद्योग्यो धर्म इति पुरुषविशेषणमारम्भ इति । स च निष्पादनार्थं प्रवृत्तिरित्येतावान् लिङर्थे विशेषः । न च प्रवर्तकवाक्यस्य धर्मत्वज्ञापकत्वे धर्माज्ञापकत्वादव्याप्तिर्लक्षणे शङ्क्या । आरम्भ्यत्वेन धर्मप्रमितेरपि भवनात् । नन्वाख्यातत्वाविशेषेपि लिङर्थे विशेष इत्यत्र को हेतुरिति चेन्मैवं, यथाख्यातानां भावनालक्षणः क्रियारूपोर्थनिष्ठो व्यापारोऽभिधेयः तथा लिङोभिधानलक्षणः अङ्गैः कर्म भावयेत् कर्मणा फलं भावयेत् इति पूर्वापरीभावापन्नः शब्दनिष्ठो व्यापारोऽभिधेयः । तादृशेन शब्दनिष्ठव्यापारेण पुरुषः कर्मणि प्रवर्तत इति तस्य पुरुषे प्रेरणासंबन्ध इति । न चात्र विप्रतिपत्तव्यम् । लोके घटमानय इत्यादिशब्दश्रवणानन्तरभाविन्यां प्रवृत्तौ अयं मां प्रवर्तयतीति प्रतीतेस्तदनुरोधेन वेदेपि तथा कल्पनात् । न चैवं एषउ एव साधुकर्म कारयतीति श्रुत्युक्तमीश्वरस्य प्रवर्तकत्वं कथं घटते इति शङ्क्यम् । ईश्वरः प्रवर्तयतीति मतं शास्त्रानुसारीति लौकिकानां दृष्टे विश्वस्तानामत्र संमुखीकरणार्थत्वात् । अतोऽस्मिन्नधिकरणे सिद्धावस्थापन्नधात्वर्थरूपक्रियात्मको धर्म उदासीनो नामपदेभ्यः प्रतीयते, साध्यावस्थापन्नधात्वर्थः क्रियात्मकः पुरुषापेक्षः पुरुषार्थरूप आख्यातेभ्यः । तत्रापि लिङंशेनारम्भ्यतया । अतः पुरुषार्थतया तदारम्भ्यतया च प्रतीतिजननादाख्यातपदानि भजन्ते प्रमितिजननेन मुख्यतां, नामपदानि तु सिद्धतद्बोधकतया तदुपकारकाणीति सिद्धम् । एवं व्युत्पादितं प्रपञ्चितं चेत्यर्थः । एवं सिद्ध एवेत्याद्यर्थकारिका विवृता । मन्त्राणामित्यादि विवरीतुं मन्त्रादीनामर्थवादत्वमपीति तदंशं विचारयन्ति किंचार्थेत्यादि । अर्थवादेत्यादि इदमधिकरणं पूर्वतन्त्रे प्रथमस्य द्वितीयपादेस्ति । तथेति अर्थवादानां सिद्धार्थ-

भाष्यप्रकाशः ।

नस्य प्रतारणरूपत्वात् । ननूपच्छन्दनवाक्यस्य फलांश एव प्रतारणरूपत्वं, न प्रवर्तनांश इति, न तत्रैवात्रापि दोष इति चेन्न । स्वर्गादिरूपस्य फलस्याप्रत्यक्षत्वेन विधिवाक्योक्तफलांशेऽपि तथात्वप्रसङ्गात् । अत उपाख्यानानां मिथ्यार्थप्रतिपादकत्वकथनं ताथागतवासनावलम्बनमेव । नच—

'परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम् ।
कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा' ॥ इति,
'फलश्रुतिरियं नृणां न श्रेयो रोचनं परम् ।
श्रेयोविवक्षया प्रोक्ता यथा भैषज्यरोचनम्' ॥

इतिपुराणवाक्यादुपच्छन्दनन्यायेन मिथ्यात्वमाद्रियत इति वाच्यम् । तत्रैवमर्थाभावात् । सर्वथा सन्मार्गविमुखानां नानाकामानां सहसा कामानिवृत्तिमालोच्य तांस्ततो निवर्तयितुं स्वर्गादिरूपं तदभीष्टं सदेव नश्वरं फलं प्रदर्श्य तेन तेषां सन्मार्गवर्तित्वविधानेन कर्ममोक्षेऽधिकारिणः कर्तुं कुसुमरूपं तदिति तत्र मिथ्यात्वगन्धस्यापि वक्तुमशक्यत्वात् ; 'फलश्रुतिं कुसुमितां न वेदज्ञा वदन्ति हि' । 'पुष्पेषु फलबुद्धयः' इत्यादिवाक्यैस्तथानिश्चयात् । अतस्तत्र विश्रान्त्या मायावादेन वा ये भ्रान्तास्तेषामेव वेदार्थे तथा भानं, न वेदवादिनामित्यर्थवादा अपि स्वार्थप्रमितिं जनयन्त एव स्तावका इति निश्चेयम् ।

किंच । अग्निहोत्रमिथुनदर्शनोत्तरं पठ्यते । 'तदुदिते सूर्येऽजुहोत्,' 'यस्यैवं विदुष उदिते सूर्येऽग्निहोत्रं जुह्वति प्रैव जायते' इति । उन्मानानन्तरं च पठ्यते, 'य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति यावदग्निष्टोमेनोपाप्नोति तावदुपाप्नोति' इति । एताभ्यां च विद्वद्वाक्याभ्यामर्थवादश्रावितार्थविषयकज्ञानस्य फलाङ्गता बोध्यते । यदि स उपच्छन्दनाय मिथ्या श्रावितः स्यात् ततो विद्वद्वाक्यमपि मुधा स्यात् । एवमन्यत्रापि । ततश्च सर्वस्य वेदस्य प्रामाण्यमपि विलूयेत । अतस्तदभावाय सत्यार्थकथनेनैवोपच्छन्दनमुपगन्तव्यम् । तेन श्रुतिपुराणयोरुभयोरपि सामञ्जस्यात् । ततः कर्मादि-

रश्मिः ।

बोधकता न तु प्रतारकतेत्यर्थः । फलांश इति कटूनि मधुरत्वरूपफलांश इत्यर्थः । ताथागतेत्यादि ताथागता बौद्धभेद इति प्रतिभाति । कर्ममोक्षायेति कर्ममोचन इत्यर्थः । तथेत्यादि पूर्वोक्तार्थाभावनिश्चयादित्यर्थः । तत्रेति स्तुतिमात्र इत्यर्थः । स्वार्थेत्यादि अत एव ग्रावाणः प्लवन्ते इत्यस्याः सेतुबन्धे संवादोपि संगच्छते । क्वचिद्देशे ग्राव्णां त्रयाणां पूजार्थं तरणेनागमनमितिश्रुतमपि । प्रैवेति प्रजायते एवेत्यर्थः । विद्वदित्यादि विद्वत्पदघटितवाक्याभ्यामित्यर्थः[1] यदि स इति अर्थवाद इत्यर्थः । श्रावितः स्यादिति 'वा शरि' इत्यस्य वैकल्पिकत्वात् पक्षे 'विसर्जनीयस्य सः' इति सत्वम् । विद्वद्वाक्यमिति परोक्षवादो वेदोयमितिवाक्यम् । अन्यत्रापीति गोअश्वा एव पशवो अन्ये त्वपशव, आदित्यो यूप, इत्यादावपि । त्रयः पशूनां[2] हस्तादानाः पुरुषो हस्ती मर्कटः पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत च द्विपदामित्यादिश्रुत्यन्तरेऽन्येषां पुरुषादीनामपि पशुत्वश्रावणात् तद्विरोधेनापशवः इत्यत्र पशुपदगौण्या उचितत्वात् । एवमादित्यो यूप इत्यादिषूह्येयम् । सच्चिदानन्दरूपयूपस्य संस्कारेण चित्प्राधान्यात् । इदानीतनानां सर्ववेदादर्शित्वात् । ततश्चेति मिथ्यार्थकथनाच्चेत्यर्थः । तेन श्रुतीत्यादि 'परोक्षप्रिया इव हि देवाः' इतिश्रुतिः पुराणं तूक्तं तयोरित्यर्थः । एतावता प्रकृते किमायतमित्यपेक्षायामुपयोगं मन्त्राणां कर्मणामित्यत्र स्फुटयन्तः सिद्धमाहुः ततः कर्मे-

1. विद्वत्पदघटित इति. 2. अप्रशस्ताः पशवः ।

तस्मात् पूर्वमीमांसानभिज्ञाः क्रियापरत्वं सर्वस्यापि वेदस्य वदन्तो मूर्खा

भाष्यप्रकाशः ।

दर्शनश्रुतीनां स्वार्थे प्रामाण्यमकलङ्कमिति पूर्वकाण्डस्यापि सिद्धार्थपरत्वमेव । नच जुहुयाद् यजेतेत्यादीनां साध्यकृतिबोधकपदानां व्याकोपः । सिद्धस्य कर्मणः प्रकारज्ञानपूर्वकं करणे फलसंबन्धं बोधयता विद्वद्वाक्येनातिदेशसिद्ध्या कृतेः सिद्धतुल्यत्वेन साध्यकृतिव्यञ्जकस्य सिद्धस्यैव धर्मस्य तत्र विवक्षिततया बालोपच्छन्दनायोक्ते साध्यार्थे तात्पर्याभावनिश्चयात् । एकत्र दृष्टः शास्त्रार्थोऽपरत्रापि तथेति न्यायेन विद्वद्वाक्यशून्यस्थलेऽपि तथाऽवसायाच्च । अतः पूर्वकाण्डस्य साध्यार्थपरत्वमयुक्तमेव । उत्तरकाण्डस्य तु ज्ञानादिप्रतिपादकत्वेऽपि ज्ञानोपासनादीनां विषयभूतब्रह्मणैव स्वरूपलाभेन ज्ञानादिभिर्ब्रह्मण एव प्राप्यतया फलत्वेन च तस्यैव शेषित्वम् । पूर्वकाण्डोक्तफलस्याप्येतस्यैवानन्दस्यान्यानीतिश्रुतेस्तदंशत्वाच्च । कर्म फलार्थत्वादितिन्यायात् । इदं फलत्वमप्युपाख्यानगम्यमिति । तदेतदुक्तं नहीत्यादिना । सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि । यस्मादुक्तरीत्या विचारे न सर्वस्याम्नायस्य क्रियार्थत्वं, न वा पूर्वकाण्डस्य साध्यार्थपरत्वं तस्मात् ते तथेति तद्वाक्येन शास्त्रयोनित्वव्याकुलीभावाभावात् पूर्वपक्षोऽसंगत

रश्मिः ।

स्यादि । तत इति अर्थवादानां स्वार्थप्रमितिजनयतामेव स्तावकत्वादित्यर्थः । इतीति इति हेतोस्तत्र साध्यस्य दर्शनायोगेन सिद्धस्य कर्मणो दर्शनात्तथेत्यर्थः । कृतिश्चेत्यादि भाष्यं विवरीतु माहुः न चेत्यादि । साध्यकृतीति पुरुषनिष्ठा शाब्दीभावनासाध्यार्थीभावनेत्यर्थः । अतिदेशेत्यादि ।

अन्यत्रैव प्रतीतायाः कृत्स्नायाः धर्मसन्ततेः ।
अन्यत्र कार्यतः प्राप्तिरतिदेशोऽभिधीयते ॥
प्राकृतात्कर्मणो यस्मात्तत्समानेषु कर्मसु ।
धर्मप्रवेशो[2] येन स्यात् सोऽतिदेश इति स्मृतः ॥

इति द्विधालक्षितातिदेशस्यान्यत्राग्निहोत्रे प्रतीतायाः प्रकारज्ञानपूर्वककरणरूपायाः धर्मसन्ततेरन्यत्र जुहुयात् सोमेन यजेत इत्यादावतीन्द्रिययागादौ कार्यतः फलसंबन्धार्थं प्राप्तेः सिद्धज्ञानभरस्य फलसंबन्धादाख्यातबोधितकृतेः सिद्धतुल्यत्वेनेत्यर्थः । 'यज्ञो वै विष्णुः' इतिश्रुतेः सिद्धतुल्यत्वाभावे तया विष्णुद्रव्यसंबन्धरूपातीन्द्रिययागोऽभिव्यक्तो न स्यात् । 'स्वयमेवात्मनात्मानम्' इतिवाक्यविषयत्वात् । अतिदेशे विद्वद्वाक्यं प्रमाणमुक्तं 'परोक्षवादो वेदोयम्' इत्यादि । सिद्धस्येति अतीन्द्रियस्य । तत्रेति जुहुयात् यजेत इत्यादावित्यर्थः । किमत्रातिदेशकमित्यपेक्षायामाहुः एकत्रेत्यादि तथाच पूर्वत्रापि न्यायेनातिदिश्यत इत्यर्थः । अत इति फलसंबन्धस्याद्वेयत्वादित्यर्थः । तस्यैवेति ब्रह्मण एवेत्यर्थः । पञ्चप्रकृतियागानामात्मसुखमेव फलं न स्वर्गलोकाख्यं 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' इति श्रुतेः । इदं यथा तथा प्रतिपादितं सर्वनिर्णये इति तद्वदिकृत्वाहुः पूर्वकाण्ड इत्यादि । कर्मेत्यादि 'कर्मण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात्' इति सूत्रस्यार्थकथनमिदम् । एतच्च तृतीयाध्याये चिन्तितम् । इदमित्यादि । आनन्दस्य फलत्वमिदमुपनिषद्गम्यमिति तन्न्यायेन न मिथ्यार्थत्वमुपाख्यानानामित्यर्थः । तदेतदिति कारिकाव्याख्यानव्याख्येयमित्यर्थः । ते इति पूर्वमीमांसाभिज्ञा इत्यर्थः । भाष्ये । मूर्खा इति बन्धहेतौ प्रवृत्तत्वेन बन्धाज्ञानान्मूर्खा इत्यर्थः । 'पण्डितो

1. कृतेयेति पाठः 2. धर्मोपदेशो येन इति पाठः ।

एव । उत्तरवादिनोऽपि पूर्वाज्ञानमङ्गीकृत्य पूर्वानुपयोगित्वं ब्रह्मज्ञानस्य वदन्तो वेदानभिज्ञा एव । 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा वा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' इत्युपनिषज्ज्ञानस्य श्रुतिसिद्धैव कारणता ।

भाष्यप्रकाशः ।

इत्यर्थः । एवं पूर्वपक्षासंगतिमुद्भाव्य सिद्धान्तासंगतिमुद्भावयन्तः पूर्वं शंकरमतस्यासंगतत्वमाहुः उत्तरेत्यादि । अनभिज्ञा इत्यन्तं ग्रहणकभाष्यम् । तत्रायमर्थः । सर्वस्य वेदस्य क्रियापरत्वमभिसंधाय शुद्धबुद्धोदासीनभूतब्रह्माभिधायके वेदान्ते भागे प्रयोजनशून्यतयाऽऽनर्थक्यं प्रत्यक्षादिसमानविषयतया लौकिकवाक्यवदनुवादकतायामनपेक्षप्रामाण्यभङ्गं च दर्शयतां स्वाध्यायविधिगृहीतत्वेन तत्सार्थक्याय दूरतरयज्ञादिकर्मापेक्षितकर्तृदेवतादिप्रतिपादकत्वेन क्रियार्थत्वं वा, सन्निहितोपासनादिक्रियापेक्षितविषयप्रतिपादकत्वेन तादर्थ्यं वाभिमन्यमानानां पूर्वेषां वादिनां तदनुसारिणां च वेदान्ताज्ञानमङ्गीकृत्य शुद्धबुद्धोदासीनस्य ब्रह्मणः प्रमाणान्तरानधिगतत्वादितरनैरपेक्ष्येण तद्बोधकतया प्रामाण्यं हेयोपादेयशून्यब्रह्मात्मावगमादेवावस्तुभूताविद्यासमारोपितसकलक्लेशनिवर्तकतया सार्थक्यं च वेदान्तेषु प्रदर्श्य तत्सिद्धस्य ब्रह्मज्ञानस्य यज्ञानुपयोगित्वं वदन्तो वेदज्ञानरहिता इत्यर्थः । नन्वेवं युक्तियुक्तमर्थं वदन्तः कथं तथेत्याकाङ्क्षायां छान्दोग्यारम्भदेशस्थश्रुत्युपन्यासेन तदुक्तं दूषयन्तो विभजन्ते यदेवेत्यादि प्रवृत्तिरित्यन्तम् । कारणतेति सहकारकारणता । अस्यां श्रुतौ विद्यापदेनात्मभिदाबाधकं ज्ञानम् । श्रद्धापदेन वेदोक्ते आस्तिक्यबुद्धिः । उपनिषत्पदेन परमात्मस्वरूपविषयकं रहस्यज्ञानमुच्यते । तेन तत्तद्युक्तो यत् कर्म वेदोक्तं करोति तदेव कर्म वीर्यवत्तरमनश्वरफलं मोक्षपर्यवसायि भवतीत्यर्थः । यत्तु कैश्चिद् विद्या विज्ञानं, श्रद्धा कर्मश्रद्धा, उपनिषद् योग इति व्याख्यातम् । तन्न । विद्यापदस्य विज्ञाने उपनिषत्पदस्य योगे च शक्त्यदर्शनात् । 'विद्याऽऽत्मनि भिदाबाधः' इत्येकादशस्कन्धवाक्येन, उपनिषद् रहस्यविद्येति शंकराचार्यविद्यारण्यादिव्याख्यानेन चोक्तार्थ एव

रश्मिः ।

बन्धमोक्षवित्' इतिवाक्यात् । पूर्वाज्ञानमिति पूर्वं कर्म, अज्ञानमविद्या, पूर्वायामज्ञानाख्यं कर्म वा तत्पूर्वाज्ञानं पूर्वस्य कर्मणः अनुपयोगोऽस्यास्तीति अनुपयोगि तस्य भावस्तत्त्वम् । प्रकृते । ग्रहणकेत्यादि परमतीयत्वाद् ग्रहणकभाष्यमित्यर्थः । द्वितीयाध्याये 'स्मरन्ति च' इति सूत्रे स्मरन्ति च ऋषय इति भाष्यवत् । दूषणार्थं ग्रहणाद् ग्रहणकम् । स्वार्थे कः । गृह्यते परमते सूत्रापेक्षितं येन तद्ग्रहणकं न तु व्याख्यानं 'करणाधिकरणयोश्च' इतिसूत्रेण ल्युट् । कस्य सूत्रांशस्येदं ग्रहणमिति ग्रहणकम् । 'अज्ञाते' इतिसूत्रेण कप्रत्ययो वा । प्रत्यक्षादीत्यादि अग्निर्हिमस्य भेषजमिति वाक्यमुदाहरणम् । स्वाध्यायेत्यादि वेदान्तानामित्यादिर्बोध्यः । वेदानामर्थे श्रद्धाराहित्यांशे वेदान्तानां स्वाध्यायविधिगृहीतत्वं बोध्यम् । तदित्यादि वेदान्तसाफल्यायेत्यर्थः । काण्डभेदादाहुः दूरतरेति । संनिहितेति 'आत्मेत्येवोपासीत' इत्यादीनामेकवाक्योदितेत्यर्थः । आत्मानं लोकमुपासीतेति । तादर्थ्यमिति क्रियार्थत्वमित्यर्थः । पूर्वेषामिति मीमांसकानामित्यर्थः । ननु यागः क्रिया तत्र च कारकं कारणमिति कथमेवमित्यत आहुः सहकारीत्यादि । कारणं तु एकप्रक्रमपठितप्रयाजादिकं तदाहुः अस्यामिति । भवतीति । न च 'यदेव विद्ययेति हि' इतिसूत्रभाष्यविरोधः । एतद्भाष्यास्वरसेनैव तत्र पक्षान्तरोल्ले-

न च बाधितत्वात् त्यज्यत इति वाच्यम् । ब्रह्मात्मज्ञानवत एव वशिष्ठादेर्यज्ञाधिकारात् । नन्वेवं किमनेनेति वाच्यम् । इत्थंभूतत्वाद्यज्ञस्य ।

भाष्यप्रकाशः ।

शक्तिनिश्चयाच्च । तथाच परमात्मरहस्यज्ञानात्मकब्रह्मज्ञानस्य श्रुतिसिद्धकारणतया अज्ञानाद् वेदानभिज्ञा इत्यर्थः । ननु सिद्धे फले साधनान्तरस्यानुपयोगेन, उत्कृष्टस्य निकृष्टशेषतयाऽसंगतत्वेन तस्याः श्रुतिसिद्धाया अनादराज्ञानभिज्ञत्वमिति समाधिं दूषयन्ति नचेत्यादि । त्यज्यत इति नाद्रियते । अधिकारपदेनात्र मुख्याधिकारो विवक्षितः । तथाच यदि ज्ञानमात्रेणाविद्यानिवृत्त्यादि स्याद् वशिष्ठादिर्ज्ञानी यागादिकं न कुर्यात् । यदि स ज्ञानित्वेन भवदभिमतो न स्यात् तद्वचनानि नाद्रियेरन् । अतः पुराणादिप्रसिद्धैर्भवदादृतैरपि यागादिकरणेन तत्रादरस्यचनात् तद्विरोधेन ज्ञानस्य सहकारितानादरे सुतरामनभिज्ञतेत्यर्थः । नन्पनिषदात्मकज्ञानपूर्वकेण वशिष्ठाद्यधिकारेण वेदान्तविचारे किं सिद्ध्यति, येनैवमाग्रहः क्रियत इत्याकाङ्क्षायामाहुः न चैवमित्यादि । अयमाशयः । 'यज्ञो वै विष्णुः' इति श्रुतेर्यज्ञोऽप्येकं ब्रह्मण एव क्रियात्मकं रूपम् । नच तत्राधिष्ठातृत्वमेव बोध्यते, न तु क्रियात्मकत्वमपीति शङ्क्यम् । 'धर्मो यस्यां मदात्मकः,' 'मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते ह्यहम्, एतावान् सर्ववेदार्थः' इत्याद्येकादशस्कन्धीयभगवद्वाक्यैस्तथात्वस्यापि निश्चयात् । स च द्रव्यदेवतायजमानयज्ञावचरादिभिरभिव्यज्यते । स चेल्लौकिकैरेवाभिव्यज्येत तदा प्रोक्षणादिसंस्कारा अवहननादीनां च नियमा मुधैव स्युः । अतो वेदोक्तफलसिद्ध्यर्थं यथा ते तथा मोक्षफलार्थमुपनिषदप्युपयुज्यते । तदभावे तु साङ्गस्य यज्ञस्य लौकिकेष्वर्थेष्वध्यस्यमानत्वात् तदङ्गानां लौकिकत्वे तैराधिदैविकयज्ञस्वरूपानाविर्भावात् । उपनिषदा त्ववगते सर्वस्य ब्रह्मत्वे ब्रह्मभूतैरङ्गैराधिदैविकयज्ञा-

रश्मिः ।

स्यात् । शक्तीत्यादि तेन विद्या उद्गीथाद्यंशमात्रविषया, श्रद्धा तात्पर्यं, उपनिषद् देवताविषयोपासनेति विश्वेश्वरव्याख्यानमपि परास्तम् । मात्रशब्दपरित्यागे तु युक्तम् । यदेव विद्ययेत्यादिभाष्यविरोधाभावात्, तथास्तिक्यबुद्धिः श्रद्धेति बहुस्थलेषु प्रसिद्धेः । तथैवोपनिषच्छब्दरूपा न तूपासनारूपार्थरूपेत्यपि प्रसिद्धमिति च । उत्कृष्टस्येति आत्मज्ञानस्येत्यर्थः । तस्या इति कारणताया इत्यर्थः । समाधिमित्यादि बाधितत्वात्त्यज्यत इति समाधिमिति न च वाच्यमित्यनेन दूषयन्तीत्यर्थः । मुख्याधिकार इति । गौणमुख्यन्यायादितिभावः । तेन काम्यकर्माधिकाराज्ज्ञानात् पूर्वं न विरुद्धमिति बोध्यम् । नाद्रियेरन्निति द्वितीयाध्याये 'स्मरन्ति च' इति सूत्रे स्मरन्ति च व्यासादयः इति नाद्रियेरन्नित्यर्थः । तत्रेति श्रुतिसिद्धकारणतायामित्यर्थः । उपनिषदात्मकज्ञानेति अर्थे ज्ञान उपनिषच्छब्दः आशयाग्रन्थत्वात् । तत्रेति विष्णावित्यर्थः । तथात्वस्येति यज्ञात्मकत्वस्येत्यर्थः । अपि च अधिष्ठातृत्वबोधने लक्षणाप्यापद्येत । स च द्रव्येति । यज्ञावचरो यज्ञप्रचारहेतुः । यथा त इति । यथा प्रोक्षणादिसंस्कारा इत्यर्थः । तदभाव इति 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इतिश्रुतेरुपनिषच्छब्दरूपकारणाभावे । यज्ञस्यावयविनः लौकिकेष्ववयवेष्वङ्गेषु । अध्यस्यमानस्येति कारणाभावाद्यज्ञाविर्भावाभावे यज्ञ इति प्रतीतिर्भ्रम इत्यध्यस्यमानत्वं तस्मात् । अत्र हेतुमाहुः तदङ्गाना-

किंच । कर्मफलवद् ब्रह्मफलस्यापि लौकिकत्वात् । 'य एवं वेद प्रतितिष्ठति, अन्नवानन्नादो भवति महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन महान् कीर्त्या' इति । अत्यन्ताविद्यावतो यज्ञानधिकारात् तन्निषेधार्थं ज्ञानमुपयुज्यते ।

भाष्यप्रकाशः ।

विर्भावः । तथा तादृशां यज्ञे यज्ञाधिष्ठातुर्भगवतोऽप्याविर्भावः । यथा विश्वसृजां सहस्रसमे हिरण्मयशकुनिरूपस्य ब्रह्मणस्तथैव पृथुनाभिप्रभृतीनां यागेषु रूपान्तरेण । तदभावादेव नेतरेषां यागेषु तदाविर्भावः । तथा यागस्य विद्योपयोग आचार्यस्यापि संमत इति तु, सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरित्यादिसूत्रप्रणयनादेव गम्यते । नच मोक्षस्य जन्यत्वम् । ब्रह्मण आप्यत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् । अतो मुमुक्षूणां यज्ञस्यावश्यकत्वात् तत्रेत्थंभूतमधिकारं बोधयितुमयमाग्रह इति । तदेतदुक्तम् । ननु मुमुक्षूणां यज्ञा नावश्यकाः । कर्मफलस्य लौकिकत्वात् । अधिकारिभेदेऽपि मनुष्यादिब्रह्मान्तानां शरीरवतामेव तद्भोगकथनेन तथानिश्चयात् । नच किं तेनेति वाच्यम् । 'न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति' इति श्रुत्या दुःखसंभेदकथनेन तस्य संसाररूपत्वबोधनात् । अतो मुमुक्षूणां शरीरसंबन्धस्यानाकाङ्क्षितत्वाद् यज्ञानां कारणता श्रुतिसिद्धापि नाद्रियत इत्याशङ्कायामाहुः किंच, कर्मेत्यादि । ब्रह्मफलस्येति ब्रह्मज्ञानफलस्य । श्रुतिस्तु तैत्तिरीयाणां भृगूपनिषदि भार्गव्या विद्यायाः समाप्तिस्था । तत्र, 'सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता य एवं वेद प्रतितिष्ठति' इति । अत्र परमे व्योम्नि

रश्मिः ।

मित्यादि । यज्ञाधिष्ठातुरिति 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' इत्यत्र द्वितीयान्तयज्ञपदोक्ताया यज्ञाधिदैविकयज्ञाद्व्यतिरिक्तातीन्द्रिययज्ञाधिष्ठातुः । आदिना आधिदैविकयज्ञेन समुच्चयः । **विश्वसृजामिति** 'विश्वसृजः प्रथमाः सत्रमासत' इतिश्रुतेः । **हिरण्मयेत्यादि** 'ततो ह जज्ञे भुवनस्य गोपाः हिरण्मयः शकुनिर्ब्रह्मनाम' इतिश्रुतेराविर्भाव इत्यर्थः । **पृथुनाभीत्यादि** एतच्च श्रीभागवते स्फुटम् । आधुनिकानामधिष्ठात्राधिदैविकानाविर्भावे हेतुमाहुः **तदभावादेवेति** उपनिषच्छब्दरूपकारणाभावादेव नाधिष्ठात्राधिदैविकाविर्भावः । **आचार्यस्येति** व्यासस्य । **जन्यत्वमिति** जन्यत्वात्साध्यत्वं घटादिवत् सिद्धत्वेन जन्याप्यविकारिसंस्कार्येषु कर्मसु मोक्षरूपब्रह्मणः आप्यकर्मत्वेन जन्यकर्मत्वाभावान्न जन्यत्वमित्याहुः **आप्यत्वस्येति** 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यादौ परमित्यादेः क्रियाजन्यफलशालित्वरूपाप्यकर्मत्वादित्यर्थः । **वक्ष्यमाणत्वादिति** अधिकरणसमाप्तावित्यर्थः । इत्थंभूतत्वादिति भाष्यं विवृण्वन्तिस्म **तत्रेत्थमिति** । **तदेतदुक्तमिति** अयमाशय इत्यारभ्य व्याख्यातं न चैवं किमनेनेतिवाच्यम् **इत्थंभूतस्वाधस्येति** भाष्येणोक्तमित्यर्थः । **शरीरवतामिति** 'अशरीरं वा व सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' इति 'विदेहं सन्तमात्मानं सुखदुःखे न स्पृशतः' इति वदन्त्याः शरीरवतामेव कर्मफलयोः सुखदुःखयोर्भोगकथनेनेत्यर्थः । **किं तेनेति** शरीरवतामेव तद्भोगकथनेन किं स्यादिति प्रश्नः । **दुःखेत्यादि** दुःखमिश्रीभावकथनेनेत्यर्थः । **ब्रह्मज्ञानेति** ब्रह्म च तज्ज्ञानं चेति कर्मधारयः, ब्रह्मज्ञानं च तत्फलं च ब्रह्मज्ञानफलं, तस्येत्यर्थः । **परमे व्योमन्निति** 'सुपां सुलुक्' इति सप्तम्या लुक् । **परमव्योम्नीति** परो मीयते ज्ञायतेऽनेनेति परमं तस्मिन् । आकाशशरीरं ब्रह्मेति श्रुतेः । **श्रुतौ** एकतिङ्वाक्यमिति प्रतिवाक्यमाश्रयभेद इत्याशयेनाहुः

नच देहाध्यासस्य कारणत्वम् । ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविरित्यादिस्मृतेः । तस्मादन्योन्योपयोगित्वे न कोऽपि दोषः ।

भाष्यप्रकाशः ।

प्रतिष्ठाकथनेनास्या विद्याया अत्युत्कृष्टत्वं दुर्लभत्वं च प्रोच्यते । विद्यापदोक्त्या फलेषूपासनाफलत्वभ्रमो निवार्यते । तत्तत्फलकथनमुखेन गृहस्थाद्यधिकारश्च बोध्यते । तेनायमर्थः । कर्मणो विद्यायाश्च फलस्येतरेतरवैलक्षण्यं प्रदर्श्य कर्मफलस्य शरीरिभोग्यतया संसारात्मकत्वात् तादृशफलजनकत्वेन तस्य विद्याजनकत्वमनादृत्य यदि कर्म त्यज्यते, तदा तस्य दोषस्य ब्रह्मविद्यायामपि तौल्यात् तस्या अपि त्याज्यत्वापत्तिः । अथ यद्यधिकारजाघन्यात् त्यज्यते, तदा तूक्तश्रुत्या विद्यासाहित्यबोधनेन जाघन्यस्य निवारितत्वान्न कर्मणस्त्याग उचितः । यदि च विद्यावत्त्वेऽपि देहाध्यासस्यानिवृत्तत्वात् तस्यैव कर्मकारणत्वमिति विभाव्यते, तदा तु ब्रह्मार्पणमित्यादिस्मृत्या, 'य एवास्मि स सन् यजे' इत्यादिश्रुत्या चाध्यासस्य कारणतानिवारणात् तासामेव विरोध इति वेदानभिज्ञत्वमनिवार्यमेवेत्यर्थः । एवं विद्यास्वातन्त्र्यवादिशांकरमतमपास्यान्येषामेकदेशिनां संग्रहायाहुः तस्मादित्यादि । वेदानभिज्ञत्वस्य विद्यास्वातन्त्र्यवादिन्येव पर्यवसानात् कर्मणां विद्याकारणत्वस्योपनिषदश्च कर्मसहकारित्वस्य श्रुत्यैव बोधनान्मूर्खोद्भावित इतरेतराश्रयदोषोऽपि व्यक्तिभेदादेव निवृत्तः । नच छान्दोग्य औषस्त्य अविदुषामपि

रश्मिः ।

दुर्लभत्वमिति भक्त्येकलभ्यत्वात् शुद्धभावप्रसादाच्च । **उपासनाफलत्वभ्रम इति ।**

'उपास्तिं मन्यन्ते मधुमथनभक्तिं निजकृता-
र्थतां तत्रोपास्यं परमपुरुषं चापि सुविदः ।
द्वयोः सारूप्यात्तद्भ्रमहतिकृते मानसगतं
मुदा भक्तेर्हंसं प्रकटमकरोद्विट्ठलकृती ॥' इति भक्तिहंसात् ।

गृहस्थादीत्यादि प्रतिष्ठान्नवत्त्वान्नादत्वप्रजापशुवत्त्वानि गृहस्थाधिकारं बोधयन्ति ब्रह्मवर्चसं ब्रह्मचार्यधिकारं, कीर्तिस्तु 'मोक्षकाम उदारधीः' इतिवाक्यात् वानप्रस्थसंन्यासाधिकारमिति विभागः । **प्रदर्श्येति** तयोश्चोदनालक्षणयोरर्थानर्थयोर्धर्माधर्मयोः फले प्रत्यक्षे सुखदुःखे शरीरवाङ्मनोभिरेवोपभुज्यमाने विषयेन्द्रियसंयोगजन्ये ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु प्रसिद्धे । अतएवानुष्ठेयफलविलक्षणं मोक्षाख्यमशरीरत्वं नित्यमिति भाष्येण प्रदर्श्येत्यर्थः । **तस्येति** शरीरभोग्यस्य प्रतिष्ठादेः फलस्य संसारात्मकस्य जनकत्वं तस्येत्यर्थः । अत्यन्तेत्यादिभाष्यं विवरीतुमाहुः **अथ यदीत्यादि** । विवृण्वन्ति **तदा त्वित्यादि** । तदा त्वत्यन्ताविद्यावतो यज्ञानधिकारमालोच्य ज्ञानरहितस्याधिकारनिषेधार्थं यज्ञे ज्ञानमुपयुज्यते इति वदन्त्या उक्तश्रुत्या तथेत्यर्थः । न च देहेत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति **यदि चेत्यादि** । **य एवेत्यादि** यः प्रकटमिदंशोऽस्मि स एव सन् यजे यागं कुर्वे इत्यर्थः । **व्यक्तिभेदादिति** अयमर्थः । न वयं कर्मस्वरूपज्ञाने ब्रह्मज्ञानस्य कारणत्वं ब्रूमः । न वा ज्ञानस्वरूपज्ञाने कर्मस्वरूपज्ञानस्य येन हन्त्यमिति न्यायेनान्योन्याश्रयो दोषाय भवेत् किंतु ब्रह्मज्ञाने यज्ञानां कारणत्वं यज्ञे चात्मविदाचार्यकं ज्ञानं जीवस्वरूपज्ञानं सहकारिकारणमिति विषयभेदभिन्नज्ञानव्यक्तिभेदादित्यर्थः । न च जिज्ञासाधिकरणस्य किंचोपनिषदेत्यादिभाष्येणास्यार्थस्योक्तेः पुनरुक्तिः शङ्क्या तस्य ब्रह्मजिज्ञासायाः आवश्यकत्वसाधनपरत्वात् । अत्र तूपरवादिदूषणाय तदुपक्षेपस्यावश्यकत्वाच्च । **औषस्त्येति** तृतीयप्रपाठक इत्यर्थः । चक्रस्यापत्यमुष-

१. अयसं इति प्रत्यन्ते ।

क्रियाज्ञानयोः स्वातन्त्र्येण पुरुषार्थसिद्ध्यर्थं भिन्नतया शास्त्रप्रवृत्तिः।

किंच। वेदान्तवाक्यानामस्मिञ्छास्त्रे समन्वय एव प्रतिपाद्यते संदेहनिराकरणद्वारा। तत् कथं सिद्धवद्धेतुत्वेन निर्देशः। अग्रिमवैयर्थ्यं च स्यात्।

भाष्यप्रकाशः।

यजमानादीनां श्रावणात् कर्मणामविद्वदधिकारकत्वमेवेति शङ्क्यम्। तत्राप्यविद्वत्तायां मूर्धविपातश्रावणेनात्यन्ताविदुषामनधिकारस्यैव बोधनात्। अतः पूर्वसूत्रभाष्य उक्ते ज्ञानकर्मसमुच्चये न कोऽपि दोषः। तेन मायावादिव्यतिरिक्ता अस्मिंशे सर्वेऽप्येकदेशिनो वेदाविरुद्धवादिन इत्यर्थः। नन्वेवं परस्परसाकाङ्क्षत्वे ऐकशास्त्र्यमेव स्यान्न तु शास्त्रभेदः। ततश्च वेदमनूच्येत्यादिपृथक्समाप्तिश्रावणव्याकोप इति शङ्कायामाहुः क्रियेत्यादि। तथा च त्रिवर्गसाधन उभयोरपि स्वातन्त्र्यात् सिद्धे शास्त्रभेदे पूर्वोक्तदोषस्य न लेश इत्यर्थः।

एवं वेदानभिज्ञत्वं शांकराणां बोधयित्वा सूत्रार्थानभिज्ञत्वं सर्वेषामेव बोधयन्ति किंच वेदान्तेत्यादि। अयमर्थः। शंकराचार्यैर्हि, सर्वज्ञं सर्वशक्ति जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणं ब्रह्म वेदान्तशास्त्रादवगम्यत इति प्रतिज्ञाय, समन्वयादिति हेतुः सर्वेषु हि वेदान्तेषु वाक्यानि तात्पर्येणैतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानीत्येवं व्याख्यातः। तत्रोक्तधर्मवत्त्वसाध्यकं ब्रह्मपक्षकं वाक्यसमनुगतत्वहेतुकमनुमानमभिसंहितं प्रतीयते।

भास्कराचार्यैस्तु ब्रह्मस्वरूपं शास्त्रमवबोधयति, न केवलं कार्यमेव। कुतः। समन्वयात्। समन्वितानि हि ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरत्वेन सृष्टिप्रकरणगतानि वाक्यानीत्येवं हेतुर्व्याख्यातः। तेन तन्मते शास्त्रपक्षकम्। तथैव शैवस्य च मते।

रामानुजाचार्यास्तु समन्वयः सम्यगन्वयः पुरुषार्थतयाऽन्वय इति हेतोरर्थमुक्त्वा परम-

रश्मिः।

स्तिर्नाम तत्संबन्धिनीत्यर्थात्। **यजमानादीनामिति।** आदिशब्देन प्रस्तोता। **श्रावणादिति** 'मा भवानवोचत् कतमा सा देवतेति प्राण इति होवाच' इत्यादिश्रुतिभिस्तथेत्यर्थः। कतमा सेतिशब्देन यजमानस्याविद्वस्त्वम्। **मूर्धेत्यादि** 'स ह प्रस्तोतारमुवाच प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान् प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यति' इत्यादिना तथेत्यर्थः। इदानीं जिज्ञासाधिकरणे उक्तोप्ययमर्थो नोपपादितोऽत्रोपपादित इति न पुनरुक्तिरिति वदन्ति **अतः पूर्वेत्यादि।** **दोष इति** अन्योन्याश्रयदोषः। अन्योन्याश्रये गते पूर्वोक्तमितरदोषनिवारणं सूपपन्नमिति। न कोपीति दोषविशेषणम्। **एकदेशिन इति** आचार्यमतस्य सर्वोत्तमस्य सर्वोत्तमत्वे ज्ञाते न्यूनाधिकभावेनैकदेशित्वं बोध्यम्। तेन भेदाभेदमते भेदोधिकः। भेदमतयोर्नित्यक्रीडास्थ इवार्थे भेदे प्रापञ्चिकत्वमपीत्याधिक्यम्। विशिष्टाद्वैतयोर्वैशिष्ट्यस्य पदार्थान्तरत्वादाधिक्यम्। एवमविभागाद्वैतेऽपि वैपरीत्यम्। पूर्वं यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं पश्चादेकमेवेति नानावृक्षरसानामेकमधुवत्। **त्रिवर्गेति।** फलयोस्त्वङ्गाङ्गिभाव इतिभावः। **पूर्वोक्तदोषस्येति** आभासोक्तैकशास्त्र्यरूपस्य। **उक्तधर्मेत्यादि** सर्वशक्तिमत्त्वसाध्यकमित्यर्थः। ब्रह्म सर्वशक्तिमत् वाक्यसमनुगतत्वात् कम्बुग्रीवादिमान् घट इतिवाक्यसमनुगतघटवदित्यनुमानम्। **कार्यमेवेति** धर्ममात्रमित्यर्थः। **शास्त्रेति** शास्त्रं ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादकं सृष्टिप्रतिपादकवाक्यानां ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरत्वेन समन्वयात्। हेतुः शोभितोऽग्रे वाच्यः। एवं रामानुजाचार्यमतेऽपि ज्ञेयम्। **शैवस्य चेति**

मथ प्रतिज्ञागर्भितहेतुत्वम्। अनुपयोगात्। गौणमुख्यभावे परं विवादः।

भाष्यप्रकाशः।

पुरुषार्थभूतस्यानवधिकातिशयानन्दस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽभिधेयतयान्वयाच्छास्त्रप्रमाणकत्वं सिद्ध्यतेवेति व्याचक्रुः। तत्र शांकरे व्याख्याने यथावस्थिते हेतोः स्वरूपासिद्धत्वम्। अतस्तत्रापि शास्त्रपक्षकमेवानुमानं वक्तव्यम्। ततश्च वेदान्तशास्त्रं ब्रह्मस्वरूपस्य प्रतिपादकं, तद्वाक्यानामेतदर्थप्रतिपादने समनुगतत्वात् यदीयं वाक्यं यदर्थप्रतिपादने तात्पर्येण समनुगतम्, तच्छास्त्रं तस्यार्थस्य प्रतिपादकम्। क्रियार्थप्रतिपादकपूर्वकाण्डवदित्यनुमानं मतत्रयेऽपि कर्मवादिवारणाय प्रयुक्तमिति फलति। तत्रेदं विवेचनीयम्। किमयं हेतुरविप्रतिपन्नः सिद्ध उत साध्यः। तत्राविप्रतिपन्न इति तु न वक्तुं शक्यम्। तथा सति पूर्वपक्षस्यैवानुत्थानप्रसङ्गात्। नापि सिद्धः। अस्मिञ्छास्त्रे संदेहनिराकरणद्वारा तस्यैव प्रतिपाद्यत्वात्। सिद्धत्वेऽग्रिमस्य समन्वयसाधकग्रन्थस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च। अतस्तस्य सिद्धवन्निर्देशो न युक्त इति। अथ बुद्धिस्थं यथा प्रतिज्ञायते, तथा बुद्धिस्थमत्र हेतूक्रियत इति समन्वयसाधनप्रतिज्ञागर्भितस्य हेतोः सिद्धवन्निर्देशेऽपि न दोष इति विभाव्यते तदाप्ययुक्तमित्याहुः नचेत्यादि। भवद्भिर्हि भाट्टप्राभाकरयोस्तदनुसारिण एकदेशिनश्च निराकरणायायं हेतुरेवं व्याख्यायते। तत्र प्रतिज्ञाया बुद्धिस्थत्वेन वादिनिग्रहवेलायां साधनस्याभावेन हेतोः साध्यसमतया तदनिग्राहकत्वादनुपयोगः। किं च। तैरपि वेदान्तानां ब्रह्मप्रतिपादकता न स्वीक्रियते इति तु न। किं तु गौणत्वेन। तथा सति गौणमुख्यभाव एव विवादो न तु प्रतिपादकत्व इति विवक्षितासाधकत्वादप्यनुपयोगः। अथ सम्यक्त्वकुक्षौ मुख्यतां निवेश्य ब्रह्मणो मुख्यतया प्रतिपादनेऽनुगतत्वादित्येवं विभाव्यते, तदापि शांकराणां शैवानां च मतमयुक्तमित्याहुः

रश्मिः।

चकारेण माध्वस्य। **स्वरूपासिद्धत्वमिति** समनुगतत्वस्य शास्त्रनिष्ठतया पक्षधर्मत्वाभावात्तथेत्यर्थः। **तत्रापीति** शांकरमतेपीत्यर्थः। **मतत्रय इति।** प्रसिद्धोपात्ताभिप्रायोऽयं ग्रन्थः, कर्मवादिवारणं त्रयाणामेव वा। **अयमिति** समन्वयादिति हेतुः। **अविप्रतिपन्न इति** निःसंदिग्ध इत्यर्थः। **तथास्तीति** ब्रह्मप्रतिपादने निःसंदिग्धत्वे सति साध्यार्थपर एव वेदो न सिद्धार्थपर इति पूर्वपक्षस्य ब्रह्मणि समन्वयनिःसंदिग्धत्वेनानुत्थानप्रसङ्गादित्यर्थः। वेदान्तवाक्यानामित्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति **अस्मिन्नित्यादि।** **तस्यैवेत्यादि** समन्वयस्यैव साध्यत्वादित्यर्थः। **अग्रिमेत्यादिभाष्यं** विवृण्वन्ति **सिद्धत्व इत्यादि।** तत्कथमित्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति **अतस्तस्येति।** साध्यत्वात्समन्वयरूपस्य हेतोरित्यर्थः। **यथेति** 'वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदीयं विरच्यते' इति यथा प्रतिज्ञायते इत्यर्थः। **एकदेशिन इति** ब्रह्मपरित्यागादेकदेशित्वम्। **साध्यसमेति** हेतोः साध्यत्वेन साध्येन समता। **अनुपेति** उपलक्षणमेतत्। 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यत्र सूत्र एव यच्छब्दार्थे कारणे प्रकृतिर्यच्छब्दार्थः कर्तृ कारणं प्रत्ययस्त्विसित्यर्थः समवायिकारणं प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं भूतस्तयोस्तु प्रत्ययः प्राधान्येनेति नियमादतोऽनुपयोगादित्यस्य। **गौणमुख्येत्यादिभाष्यं** व्याचक्षते **किंच तैरित्यादि।** **गौणत्वेनेति** नियोज्यप्रतिपादकत्वात् नाखिल्यनिराकरणाय धर्माङ्गतयेत्यर्थः। **अनुपयोगादिति** भाष्यमावृत्त्या योजयन्ति **विवक्षितेत्यादि।** गौणत्वेन ब्रह्माप्रतिपादकत्वासाधकत्वेन भाट्टादिनिराकरणासाधकत्वाद्धेतोरनुपयोग इत्यर्थः। नन्वस्त्युपयोगः समन्वयो हि मुख्यतयानुगतत्वं न च तैर्मुख्यतयानुगतत्वमुरीक्रियते इत्याहुः **अथ सम्यगित्यादि।** **विभाव्यत इति।** हेतुस्तथेत्यर्थः। **अयुक्तमिति** आनन्दमयाधिकरणखण्डना-

नच येन रूपेण समन्वयो मतान्तरस्थैर्विचारितस्तथाग्रे सूत्रेषु निर्णयोऽस्ति ।

भाष्यप्रकाशः ।

नच येनेत्यादि । शांकरैर्हि जगत्कारणरूपे वाक्यानां समनुगतत्वं व्याख्यायाग्रे उच्यते । नच तेषां कर्तृस्वरूपप्रतिपादनपरतावसीयते, तत् केन कं पश्येदिति क्रियाकारकफलनिराकरणश्रुतेरिति । ततश्च तन्मते यावद्धर्मशून्ये रूपे समन्वयो विचारितो भवति । तेन रूपेण समन्वयविचारस्त्वा-ध्यायसमाप्त्याशास्त्रसमाप्तिवाचकेष्वपि सूत्रेषु न दृश्यते । सर्वत्र तत्तद्धर्मपुरःसरं कर्त्रादिरूपेणैव तेषां तेषां वाक्यानां ब्रह्मप्रतिपादकतया निर्णीतत्वात् । अतोऽपि व्याख्यातृाकारस्य हेतोरनुप-योगः । एवं चानुपयोगादिति गृहीतो हेतुरस्तीत्यन्तेन विभक्तो बोध्यः । एवं शैवमतस्याप्य-संगतिर्बोध्या । शिवरूपेणापि निर्णयस्य सूत्राक्षरेष्वनुपलम्भात् । तन्मतस्यर्वाचीनमित्याचार्यैर्न तदर्थं किमप्युक्तम् । मया तु प्रहस्ताख्ये भिन्दिपालाख्ये च वादे शिवतत्त्वविवेकादिग्रन्थ-दूषणेन निपुणतरं दूषितमिति न तदर्थमिह संरम्भः क्रियते । तथापि तत्र तत्र प्रसङ्गेन दूष-यिष्यामि । तत्र तावत्, सदेव सौम्येदमग्र आसीदित्युपक्रमस्तत्त्वमसीत्युपसंहारः शिव-रूपगमक इति यत् तदसंगतम् । 'ॐ तत् सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः' इति गीतायां ब्रह्मवाचकत्वस्यैवोक्तत्वेन तयोः शिवाकारगमकत्वाभावात् । नापि, 'धातुः प्रसादान्महि-मानमीशम्'इति, 'यः परः स महेश्वरः' इत्यनयोरुपक्रमोपसंहारयोः । उपक्रमे 'अणोरणीयान् महतो महीयान् आत्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः । तमक्रतुं पश्यति वीतशोकः' इति पादत्रयोत्तरं, 'धातुः प्रसादात्' इति तुरीयपादः । तत्र तमित्यनेन पूर्वोक्तं महतो महीयां-समात्मानं दर्शनकर्मतया परामृश्य तद्विभूतिरूपमीशं पश्यतीत्याह । अन्यथा पौनरुक्त्या-पत्तेः । महिमपदस्य विभूतिवाचकत्वं च, 'गो अश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दास-

रश्मिः ।

च्छिवरूपप्रतिपादनाभ्यामयुक्तम् । भास्कररामानुजाचार्यौ तु नानन्दमयखण्डकौ नापि शिवरूपप्रति-पादकौ अतस्तन्मते नोक्ते । **क्रियेति** व्यापारः, कारके कर्मकरणे फलम् । **तेनेति** यावद्धर्मशून्यत्वेने-त्यर्थः । **आध्यायेत्यादि** आशास्त्रसमाप्तीतिच्छेदः । अत्राप्यनुपयोगादिति भाष्यमावर्तयन्ति **अतो-पीत्यादि** । अव्यवहितहेतोरपि । **संरम्भ** इति उद्यम इत्यर्थः । मयापि ग्रन्थविस्तृतिभिया न वितन्यते तथापि संक्षिप्तवरयुक्तयस्तु वक्तव्या इत्याहुः **तथापीत्यादि** । एवं प्रासङ्गिके दूषयितव्ये प्रकृतेऽपि तत्पदं शिववाचकमिति यत्तदपि दूष्यमिति तत्पदार्थस्य शिवरूपत्वं यदभ्युपगतं तदनुवदन्ति **तत्रेत्यादि** । **तयो-रिति** सत्तत्पदयोरित्यर्थः । **तत्रेति** मन्त्र इत्यर्थः । अत्र विशेषणविशेष्यभावप्रतीतेश्चकारानुक्तेश्च नायमर्थः साधीयानिति शङ्कामपनेतुं महिमपदस्य महत्त्वावच्छिन्नमर्थं परित्यज्य विभूतिपरत्वोपवर्णने च युक्तिमाहुः **अन्यथेत्यादि** । अन्यथेति तथा व्याख्यान इत्यर्थः । अत्रेदं बोध्यम् । महत इति महान्, शतृ, अतिशयेन महान्, महीयान्; ईयसुन् । एवं महतीति मंहत इति वा महिमेति वक्तव्यं, महिमशब्दस्य ब्रह्मपरत्वं वदतां । तत्रेमनिचो 'हृभृधृसस्तृशृभ्य इमनिच्', 'जनिमृङ्भ्यामिमनिन्', 'वेञः सर्वत्र' इति सूत्रैर्विशेषविहितत्वेन महेः 'उणादयो बहुलम्' इति सूत्रेणेमनिच् साधनीयः । एवमप्यतिशयमात्राधिक्ये पुनरुक्तिरिति । 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' इति 'वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ्च' इति भावे विहित इमनिच् तु श्रुत्यनुगृहीतोऽपीत्याहुः **महिमेत्यादि** । तथाच महतो भावो महिमेति विभूतिरेवार्थ इति भावः । ईयसुनोऽतिशयत्वमादाय

भाष्यप्रकाशः ।

मार्यम्' इति छान्दोग्यश्रुतौ सिद्धम् । किंचेशमहेश्वरशब्दौ रूढौ शिवे । वैयासे तु दर्शने लिङ्गा-दिभिर्निर्णयस्याभिप्रेतत्वं तल्लिङ्गाद्यधिकरणेषु दृश्यत इति रूढिरप्रयोजिका । किंच,

'नारायणः शिवो विष्णुः शंकरः परमेश्वरः ।
एतैस्तु नामभिर्ब्रह्म परं प्रोक्तं सनातनम्' ॥

इति वाराहपुराणवाक्ये रुद्रादिशब्दानां परब्रह्मनामत्वेनैव व्यवस्थापनात् त्रिलोच-नादिविशिष्टरूपस्य ततोऽप्यसिद्धेः । नृसिंहतापनीये नृकेसरिशक्तिगणनायां 'श्रियं लक्ष्मीमौ-पलामम्बिकां गाम्' इति श्रावणात् । वाराहे, ॐमित्येकाक्षरीभूताया उमाया नारायणदारत्वेन कथनाच्च । नाम्बिकापत्युमापतिपदाभ्यामपि तत्सिद्धिः । नापि 'यो वै रुद्रः स भगवान्' इत्यथर्व-शिरोवाक्येन । 'अथर्वशिरःशिखाध्यायिश्रुतमेकमेकेन मन्त्रराजजापकेन तत्समम्' इति पूर्वताप-नीये नृसिंहमन्त्रराजजापकस्योत्कर्षश्रावणात् विद्यावदुत्कर्षस्य च विद्योत्कर्षाधीनत्वात् विद्यो-त्कर्षस्य च वेद्योत्कर्षाधीनत्वान्मन्त्रराजवेद्ये नृकेसरिण्येवोत्कर्षविश्रान्तेरथर्वशिरःशिखावेद्यस्य ब्रह्मरूपत्वेऽपि तत्र परत्वस्यापर्यवसानात् । एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । ब्रह्मरूपत्वं सर्वविद्येशानत्वं सर्वदेहीश्वरत्वं गुरुत्वोपाधिना मोक्षदातृत्वं तु तत्तच्छ्रुतिपुराणानुसारेणानुमन्यामह इति दिक् ।

रश्मिः ।

न पुनरुक्तिरित्यत आहुः । **किंचेशेत्यादि** । अप्रयोजिकेति अत एव सायणीये रुवैदिकः शब्दस्तं-द्रवति प्राप्नोतीति रुद्रः इति योगेन ब्रह्मपरत्वमुक्तम् । योगस्तु ईष्ट इति ईशः महांश्चासावीश्वरश्चेति । तत्रेशृ ऐश्वर्यं चेश्वरस्य भावः ईश्वरश्च व्यापकः, 'अश्नोतेराशुकर्मणि वरट् च' इति सूत्रेण चकारेणोपधाया ईत्वं, विदधता निष्पन्नत्वात् । यदि चेष्ट इतीश्वरस्तदा 'स्थेशभासपिसकसो वरच्' इति सूत्रेण वरच् । नन्वयं योगोऽपि शिवे वर्तते 'एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः य इमान् लोकानीशत ईशनीभिः' इतिश्रुतेरिति चेत्तत्राहुः **किंचेत्यादि** । **ततोऽपीति** श्रुतितोऽपीत्यर्थः । अपी रूढीं समुच्चिनोति तेन सर्वा श्वेताश्वतरोपनि-षद् ब्रह्मपरेत्युक्तम् । यः परः स महेश्वर इत्युपसंहारोऽपि ब्रह्मपर इति च 'सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्य-मानैः' इति समासशास्त्रात्पूज्यत्वस्येश्वरशब्देनैवोपस्थापनान्महच्छब्दो निरतिशयं पूज्यत्वमाचष्टे इति । इदानीं महानारायणोपनिषदि 'अम्बिकापतय उमापतये नमो नमः' इतिश्रुत्या प्रत्यवतिष्ठमानं प्रत्याहुः **नृसिंहेत्यादि** । **तत्सिद्धिरिति** त्रिलोचनादिविशिष्टरूपसिद्धिरित्यर्थः । तेन महानारायणीयोपनिषदपि निष्प्रत्यूहं नारायणपरत्वे गर्जति । अथर्वशिरसः शिवप्रतिपादकत्वमपि जलधिशायिनृकेसरितोपकृष्टत्वे-नेत्याहुः **नापीत्यादि** । अतिदिशन्ति **एवमित्यादि** । अन्यत्रेति महोपनिषदि—

'ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं नृकेसरि-
विग्रहं कृष्णपिङ्गलमूर्ध्वरेतं विरूपाक्षं शंकरम् ।
नीललोहितमुमापतिं पशुपतिं पिनाकिं ह्यमितद्युतिम्' ॥

इत्यादावित्यर्थः । ऋतमनारोपितं, पिङ्गं तडिद्गौरं ब्रजभक्तरूपं लाति गृह्णातीति पिङ्गलः, कृष्णश्चासौ पिङ्ग-लश्च कृष्णपिङ्गलस्तं निष्कामत्वादूर्ध्वरेतसं विशिष्टं सुन्दरं रूपं निरुपमं ययोस्तादृशेऽक्षिणी यस्य तं, शं कल्याणं करोतीति शंकरस्तं, नीललोहितं मेघश्यामं पशुपतिं गोपतिं पिनाकिं पिनाकादयश्चेति 'पाते-राक इत्वं नुम्च'इति विषमपदव्याख्या । ननु तर्हि ब्रह्मरूपत्वादिबोधिका अप्यन्यथा नेया इति चेत्तत्राहुः **ब्रह्मेत्यादि** । **तत्तच्छ्रुतीत्यादि** ताश्च 'यो वै रुद्रः स भगवान् अथ कस्मादुच्यते प्रणवो यस्मादुच्चार्य-

१५ अ० सू० १०

शास्त्रारम्भस्तु प्रथमसूत्र एव समर्थितः। तस्मात् समवायिकारणत्वमेवानेन

भाष्यप्रकाशः ।

प्रकृतमनुसरामः । ननु भवन्मते सर्वस्य वेदस्य सिद्धार्थपरत्वेन सिद्धस्वरूपब्रह्मप्रतिपादकत्वे संदेहाभावाच्च तदर्थं शास्त्रारम्भो वक्तुं शक्यः । ज्ञानकर्मसमुच्चयस्याप्यङ्गीकारेण कर्मण्यपि गौणतात्पर्यस्य विद्यमानत्वाच्च तदर्थमपि । ब्रह्मणः कारणतायास्तेषु तेषु रूपेषु पर्यायेणाङ्गीकरिष्यमाणत्वाच्च न विष्णुशिवादिव्यतिरिक्तस्य ब्रह्मत्वनिरासार्थम् । अभिन्ननिमित्तोपादानवादिनो यावन्तस्तैः सर्वैरपि जन्मादिसूत्रविषयवाक्यविचारेणैव सर्वविधकारणतायाः समर्थनाच्च तद्विशेषनिर्धारार्थमपीति भवन्मते शास्त्रारम्भवैयर्थ्यम् । नैवमन्यमते । तत्तदन्यस्मिन् वेदान्ततात्पर्याभावसमर्थकतया सार्थक्यादिति शङ्कायामाहुः शास्त्रेत्यादि । प्रथमसूत्र इति । तत्र शेषषष्ठीसमर्थनस्थले, नच गौणतापत्तिरजिज्ञास्यत्वं चेत्यादिना । तन्मया विवृतं, केन प्रकारेणेत्यारभ्य दर्शनादितीत्यन्तेनेति ततो बोध्यम् । सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि । शास्त्रारम्भस्य प्रथमसूत्र एव समर्थितत्वाद् द्वितीयसूत्रविषयवाक्ये, यतो

रश्मिः ।

माण एव ऋग्यजुःसामाथर्वाङ्गिरसो ब्रह्मब्राह्मणेभ्यः प्रणामयति नामयति च तस्मादुच्यते प्रणव' इति । 'अथ कस्मादुच्यते सूक्ष्मं यस्मादुच्चार्यमाण एव स सूक्ष्मो भूत्वा शरीराण्यधितिष्ठति सर्वाणि चाङ्गान्यभिमृशति तस्मादुच्यते सूक्ष्मम्। अथ कस्मादुच्यते तारं यस्मादुच्चार्यमाण एव गर्भजन्मव्याधिजरामरणसंसारमहाभयात्तारयति त्रायते तस्मादुच्यते तारमिति' । तथा महानारायणोपनिषदि 'तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्' इत्युक्त्वा 'ईशानः सर्वविद्यानाम्'इति श्रूयते, जाबालेच 'रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे'येनासावमृतीभूत्वा मोक्षीभवतीति गुरुत्वोपाधिना मोक्षदातृत्वं विस्पष्टं श्रूयते । पुराणे श्रीभागवते चतुर्थस्कन्धे ब्रह्मकृतशिवस्तुतौ 'यत्तद्ब्रह्म निरन्तरम्' इति अष्टमे मोहिनीस्वरूपदर्शनानन्तरं भवानीं प्रति भववाक्यं 'अहं कलानामृषभो विमुह्ये' इति पुनश्चतुर्थस्कन्धे रुद्रगीते 'शक्तित्रयसमेताय मीढुषेऽहंकृतात्मने' इति कर्तृकरणकर्मशक्तित्रयसमेताहंकाररूपेण सर्वदेहीश्वरत्वं अन्यत्रापि द्रष्टव्यम्। तत्रैव प्रचेतसां मोक्षदातृत्वं

'इदं विविक्तं जप्तव्यं पवित्रं मङ्गलं परम् ।
निःश्रेयसकरं चापि श्रूयतां तद्वदामि वः' ॥

इति शिववाक्यमिति । तदर्थमिति गौणत्वेन सिद्धधर्मज्ञानार्थमित्यर्थः । ब्रह्मण इत्यादि अस्य तत्पदेनाप्यन्वयाद्रूपेभ्यो भेदः । तेष्विति सच्चिदानन्देष्वित्यर्थः । तत्र जन्माद्यधिकरणसमन्वयाधिकरणाभ्यां सद्रूपे लक्षणं योजितम् । ईक्षत्यधिकरणे च चिद्रूपे लक्षणं योजयिष्यन्ति । आनन्दमयाधिकरणे चानन्द इति कथं तेषु तेषु कारणतेति चेन्न 'सत्त्वं रजस्तम' इत्यस्य सुबोधिन्यां 'सद्रूपेण रजः आनन्देन तमः' इति निरुक्तेः । ननु किमतो यद्येवं मैवं

'सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैर्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते ।

स्थित्यादये हरिविरिञ्चिहरेति संज्ञाः श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः'इति तत्तद्गुणसंबन्धे तत्तद्रूपतोपपत्तेः सामञ्जस्यात् । तथा च सद्रूपनिर्गतसत्त्वतनुर्विष्णुरिति सद्रूपे कारणतायोजनं विष्णावेव योजनमेवमन्यत्रापीति न दोषः । तद्विशेषेति कारणताविशेषसमवायित्व इत्यर्थः । शास्त्रारम्भ इति आद्यं सूत्रं तदारम्भवैयर्थ्यम् । तत्तदित्यादि तेभ्यस्तेभ्यो निर्गुणगुणत्रयविशिष्टविष्णुशिवपुरुषोत्तमेभ्योऽन्यस्मिन्नित्यर्थः । संज्ञोपसर्जनीभूतत्वाभावात्समासाभावादि । ननु मृदो घट इतिवत् यत इति पञ्चम्या समवायित्वनिर्णयो भविष्यतीति चेत्तत्राहुः द्वितीयेत्यादि । ननु ब्रह्मस्य

सूत्रेण सिद्धम् । ननु कारणत्वमेवास्तु ब्रह्मणः। किं समवायिकारणत्वेन। विकृतत्वं च स्यात्। अनर्थरूपत्वेन कार्यस्यायुक्तता च। तस्मादनारम्भणीयमेवैतत् सूत्रमिति

भाष्यप्रकाशः ।

चेत्यादेः कारणतामात्रबोधनेऽपि चारितार्थ्येन, 'यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इत्यस्याधारतामात्रबोधनेऽपि चारितार्थ्येन, 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' इत्यत्रापि, तत्तेजोऽसृजतेत्यादिना कर्तृत्वस्यैवासंदिग्धतया उपादानत्वं केवलस्य वा शरीरद्वारा वेति संदेहानपायात् । सौत्रस्य योनिशब्दस्यापि कारणमात्रवाचकत्वेन प्रमाणाबोधकत्वादुपादानत्वनिर्द्धारणासमर्थत्वाच्चेतः पूर्वसूत्रयोरुपादानत्वस्यासिद्धत्वादनेनैव सूत्रेण युक्तिनिर्देशात् तत्सिद्धमित्यर्थः । नन्वत्रोपादानपदं परित्यज्य समवायिपदेन कुतो व्यवहार इति चेदुच्यते । लोके उपादानपदेन कर्तृक्रियया व्याप्तस्य परिच्छिन्नस्यैवाभिधानदर्शनात् । 'प्रकृतिर्ह्यस्योपादानम्' इति, 'पुंस्त्वस्तदुपादानमात्मानं लीलयाऽसृजत्' इति श्रीभागवतेऽपि भगवता मैत्रेयेण च तादृश एवोपादानपदस्य प्रयुक्तत्वाच्चेति जानीहि ।

अत्र ब्रह्मस्वरूपस्य समवायित्वममन्वानाः प्रत्यवतिष्ठन्ते नन्वित्यादि । अयमर्थः । समन्वयसूत्रे ब्रह्मस्वरूपस्य समवायित्वायाग्रहो यः क्रियते, स न पूर्वसूत्रोक्तकारणतासमर्थनार्थः । शास्त्रयोनित्वेनैव समर्थितत्वात् । नापि शास्त्रयोनित्वसमर्थनार्थः । त्वया तथाऽनङ्गीकारात् । किं तु कारणत्वे विशेषान्तरस्यापि बोधनार्थः । स न युक्तो विकृतत्वादि-

रश्मिः ।

ध्वंसरूपत्वेन कपाले घटो ध्वस्त इतिवत् ब्रह्मणि जगल्लीनमिति प्रतीत्या ब्रह्मणः समवायित्वमस्त्विति चेत्तत्राहुः यत्प्रयन्तीत्यादि । पूर्वं मृदेव घट इति प्रतीतिवत् सदेवेदमिति श्रुत्या तद्भविष्यतीति किमनेनेति चेन्नेत्याहुः सदेवेत्यादि । योनिशब्दादपि न निर्णय इत्याहुः सौत्रस्येत्यादि। प्रमाणेत्यादि। समवायित्व इत्यादि । समवायस्य द्वितीये दूषणात्तदस्तित्वप्रयुक्तं समवायित्वमपि न वक्तुं शक्यमित्युपादानपदमत्र भाष्ये वक्तव्यमिति पृच्छति नन्वत्रेत्यादि । कुतो व्यवहार इति अस्य मीमांसाशास्त्रस्य पृथक्त्वान्मित्रवत् कुतो व्यवहार इति । ननु प्रश्नश्चेत् यदीत्यर्थः । उच्यत इति न घटत इत्युच्यत इत्यर्थः । लोक इति स्मृतौ । परिच्छिन्नस्यैवेति सूत्रमृत्पिण्डादिरूपतूलांशमृदंशादेरेवेत्यर्थः । अन्यथा सूत्रमृत्पिण्डादिभावमनापन्नैरपि तूलादिभिः पटघटाद्युत्पद्येत इति भावः । ननु नैयायिकैः परिच्छिन्नेऽपि समवायित्वव्यवहारः क्रियते व्यासचरणैरपि समन्वयादित्युक्तत्वाच्च कैतादृशाक्रोशः प्रसिद्ध इत्यत आहुः प्रकृतिरित्यादि । स्वव्यतिरेकेणासृज्यत्वादात्मानमिति । तादृश इति परिच्छिन्नप्रधाने परिच्छिन्नपुरुषावतारे चेत्यर्थः । जानीहीति तथा च ब्रह्मणोऽपरिच्छिन्नत्वमपीति नोपादानपदप्रयोग इति भावः । यः परिच्छिन्नोंशः स उक्तः । समवायश्च तादात्म्यमित्युक्तम् । उपलक्षणमेतत् दूषितेपि प्रसिद्धिप्राचुर्यात्पर्याये प्रयोगानर्हत्वं नेति भाष्येण ज्ञाप्यते इत्यस्य । अमन्वाना इति नैयायिकाः । यथाहुः 'संसारमहीरुहस्य बीजाय' निमित्तकारणाय इत्यर्थ इति मुक्तावल्यां विश्वनाथाः । शास्त्रेत्यादि । सूत्रांशेनेत्यर्थः । त्वयेति सिद्धान्तिनेत्यर्थः । विकृतत्वमित्यादि अयुक्तता चेत्यन्तं भाष्यं विवृण्वन्ति स नेत्यादि । अत इति कार्यस्यानर्थरूपत्वेन तत्समवायित्वस्य ब्रह्मण्युपयुक्तताया

चेन्मैवम् । सर्वोपनिषत्समाधानार्थं प्रवृत्तः सूत्रकारः । तथापि ब्रह्मणः समवायित्वं न ब्रूयात् भूयानुपनिषद्भागो व्यर्थः स्यात् । 'इदं सर्वं यदयमात्मा,' 'आत्मैवेदꣳ सर्वम्' । 'स सर्वं भवति,' 'ब्रह्म तं परादात्' इत्यादि, 'स आत्मानꣳ स्वयमकुरुत,' 'एकमेवाद्वितीयम्,' 'वाचारम्भणं विकारः' इत्यादि । एवमादीनि वाक्यानि स्वार्थे बाधितानि भवेयुः ।

भाष्यप्रकाशः ।

दोषापादकत्वात् । अतः शरीरस्य सोपाधेर्वा भिन्नाया एव प्रकृतेर्वा तथात्वं वक्तव्यम् । तथा सति स्वरूपसमन्वयस्याभावादनारम्भणीयमेवैतत् सूत्रं तव मते स्यादिति । अत्र समादधते मैवमित्यादि । व्यर्थः स्यादित्यत्र हेतुः बाधितानि भवेयुरिति । अयमर्थः । समवायित्वं यन्निषिध्यते, तत् किं पूर्वसूत्रस्य निराकाङ्क्षत्वादुत दोषोत्पादकत्वात् । नाद्यः । व्यासस्य सर्वोपनिषदां यथावाश्रुतार्थबोधनार्थं प्रवृत्तत्वेन भूयस उपनिषद्भागस्य वैयर्थ्ये जन्मादिसूत्रस्यविशेषाकाङ्क्षाया अनिवृत्तेः । नेतरः । तदभावस्याप्यनुपदं व्युत्पाद्यत्वात् । स भागस्त्विदं सर्वमित्यादिरूपः । अत्राद्यं वाक्यं मैत्रेयीब्राह्मणस्थम् । तत्र हि 'आत्मनि वा अरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते सर्वमिदं विदितम्' इत्यनेनात्मज्ञानादिभिः सर्वज्ञानरूपं फलं दर्शयित्वा, तज्ज्ञानं किं प्रकारकमित्याकाङ्क्षायां, 'ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद' इत्यादिना 'योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद' इत्यन्तेन ब्रह्मादिसर्वान्तेष्वात्मभिन्नत्ववेत्तुः कैवल्याभावरूपममृतत्वाभावरूपं वा पराभवं प्रदर्श्य 'इदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमे यज्ञा इमानि भूतानीदं सर्वं यदयमात्मा' इत्युपसंहारे ज्ञानप्रकारदर्शनेन सर्वस्यात्माभेदं दर्शयति । तस्मिंश्चाभेदे सर्वस्यात्मोपादेयत्वमन्तरेणाघटमाने वाक्यमेव बाधितार्थं भवेत् । एवं द्वितीयवाक्यमपि, छान्दोग्ये सनत्कुमारसंवादे । तत्राप्यग्रे, 'आत्मनः प्राण आत्मन आशा' इत्यादि श्राव्यते । तदप्यात्मनः समवायित्वं विना नोपपद्यते । तदतिरिक्तस्योपादानस्याश्रावणात् । तृतीयं तु पुरुषविधब्राह्मणस्थम् । तत्रापि 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' इति सृष्टिपूर्वकाले केवलात्मसत्तामुक्त्वा, ततः 'सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत्' इत्यनेन सृष्ट्यनन्तरमन्यदर्शनमुपक्रम एव निषेधति । मध्ये च, किमु तद्ब्रह्मावेद् यस्मात् तत्सर्वमभवदिति प्रश्ने, 'तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात् तत्सर्वमभवत्' इत्युत्तरमुक्त्वा तदिदमप्येतर्हि 'य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति' इति सर्वा-

रश्मिः ।

इत्यर्थः । **शरीरस्येत्यादि** । नैयायिकशंकराचार्यसांख्यानां मते यथाक्रमम् । **तथात्वमित्यादि** । समवायित्वं तत्तन्मतीयमङ्गीकार्यमित्यर्थः । **तस्मादित्यादि** भाष्यं विवृण्वन्ति **तथा सतीत्यादि** । तथा चास्थूलेत्यादिभाष्यसंग्रहाय कोष्ठ्यन्तरं निवेशमाना विकल्पमाहुः **अयमर्थ इति** । भाष्ये यत्फलितं तदाहुः **जन्मादीत्यादि** । शास्त्रयोनित्वांशे जन्मादिसूत्रस्य समवायित्वप्रतिपादकशास्त्रप्रतिपाद्यसमवायित्वरूपविशेषाकाङ्क्षाया अनिवृत्तेरित्यर्थः । **अनुपदमिति** तथात्रास्थूलेत्यादिभाष्येणेत्यर्थः । **इदमित्यादि** भाष्यं विवृण्वन्ति **स भाग इत्यादि** । **तज्ज्ञानमिति** सर्वज्ञानमित्यर्थः । **ज्ञानप्रकारेति** सर्वविशेष्यके ज्ञान आत्माभिन्नत्वरूपप्रकारेत्यर्थः । द्रव्यादीनां विद्यमानसमवायिकत्वनियमादाहुः **तदतीत्यादि** । **सृष्टसेदमा निदर्शनादग्र इति**पदेन सृष्टिपूर्वकालस्य बोधनाच्च वीक्षणं नात्मविषयकमनोश्च न प्रलयानन्तरमर्थस्तदाहुः **सृष्ट्यनन्तरमन्येत्यादि** । **अवेदिति** ।

भाष्यप्रकाशः ।

त्वभावरूपं फलमाह । समवायित्वानङ्गीकारे तदपि सर्वं बाधितं भवेत् । तुरीयं तु तद्भिन्नत्ववेत्तु उक्तरूपं पराभवं वक्तीत्युक्तम् । मध्ये वाक्यद्वयं तु सर्वत्रैकवाक्यतार्थम् । पञ्चमं तु तैत्तिरीये ब्रह्मवित्प्रपाठके । तत्रापि करोतिकर्मत्वेनात्मनः श्रावणात् तस्यैवोपादानोपादेयभावः स्फुटति । सोऽपि तथा भवेत् । एकमेवेत्यादिकं तु छान्दोग्यस्थम् । तत्राप्येकमेवेति विशेष्यान्वितेनैवकारेणान्यसत्त्वे व्यवच्छिन्नेऽपि 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इति कोशादेकशब्दस्य नानार्थत्वेनात्र मुख्येतरव्यवच्छेद एवाभिसंहित इति । श्रुत्यन्तरे, 'नान्यत् किंचन मिषत्' इति कथनाद् व्यापारं कुर्वतो वान्यस्य निषेधोऽभिसंहित इति वा शङ्का स्यादिति तन्निवारणायाद्वितीयपदेन द्वित्वसंख्यापूरकस्य निषेधः सृष्ट्यादौ क्रियते । सोऽपि सदितरस्य समवायिनः सत्त्वे बाध्येत । वाचारम्भणवाक्ये तु मृण्मयादिभिर्दृष्टान्तैः स्फुटमेव समवायित्वमवगम्यते । तथा द्वितीये गार्गीब्राह्मणे कस्मिन् वा आकाश ओतश्च प्रोतश्चेति प्रश्ने, एतद्वै तदक्षरं गार्गीत्यादिना अक्षरे ओतप्रोततामाकाशस्य वदति । सा च समवायित्वस्यैव लिङ्गम् ।

'नैतच्चित्रं भगवति ह्यनन्ते जगदीश्वरे ।
ओतप्रोतमिदं यस्मिंस्तन्तुष्वङ्ग ! यथा पटः' ॥

इत्यादिपुराणवाक्यैस्तन्निश्चयात् । नच, 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव' इति गीतावाक्यान्नैवमिति शङ्क्यम् । तत्र केवलप्रोतत्वस्यैवोक्तत्वेऽप्यग्रे, 'रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः' इत्यादिभिः स्वस्य भूतसूक्ष्मत्वादिबोधनेनौतत्वस्यापि सूचिततया तत्राप्येवमर्थ्येनोक्ततौल्यात् । तथा

'त्वय्यग्र आसीत् त्वयि मध्य आसीत् त्वय्यन्त आसीदिदमात्मतन्त्रे ।
त्वमादिरन्तो जगतोऽस्य मध्यं घटस्य मृत्स्नेव परः परस्मात्' ॥

इत्यष्टमस्कन्धीयब्रह्मवाक्येऽपि समवायित्वस्योपबृंहणात् । आथर्वणानां गोपथब्राह्मणारम्भे च, 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् स्वयंभ्वेकमेव तदैक्षत महद्वै यक्षं तदेकमेवाऽस्मि हन्ताहं मन्मात्रं द्वितीयम्' इत्यादि श्राव्यते । तृतीयस्कन्धे च 'विश्वं वै ब्रह्म तन्मात्रम्' इति । एवंजातीयकानि

रश्मिः ।

लङ् । **तदपीति** सृष्ट्यनन्तरमात्मान्यादर्शनाद्यपीत्यर्थः । **वेत्तु उक्तेति** वेत्तुरुक्तेति पाठः प्रतिभाति । तादृशस्य कैवल्याभावरूपममृतत्वाभावरूपं वा पराभवमित्यर्थः । ननु प्रथमतुरीयाभ्यामेव समवायित्वसिद्धेः किं मध्यस्थेन वाक्यद्वयेनेत्यत आहुः **मध्य इत्यादि** । मैत्रेयीब्राह्मणेन साकं छान्दोग्यपुरुषविधब्राह्मणयोरेकवाक्यताप्रतिपत्तिः प्रयोजनम् । **एवमन्यत्रापीति** सर्वत्रेत्युक्तम् । **तत्रापीति** तदात्मानमिति श्रुतौ स आत्मानमित्यपि क्वचित्पाठः । **उपादानेत्यादि** यथा कुलालो मृदं घटमकुरुतेति प्रयोगो न तु दण्डं घटमकुरुतेति । मृदो दण्डस्येति वा मृदं घटात्मना करोति न तु दण्डं घटात्मना करोतीति वा, एवं प्रकृतेपि प्रयोगादुपादानोपादेयभाव इत्यर्थः । **व्यवच्छिन्न इति** यथा पार्थ एव धनुर्धर इत्यत्र । **निषेध इति** श्रुत्यन्तरैकवाक्यतयात्र निषेध इत्यर्थः । **सत्त्व इति** दोषापादकत्वेन ब्रह्मणोसमवायित्वे जगतः पूर्वं समवाय्यपेक्षया सत्त्व इत्यर्थः । **अन्यान्यपि** श्रुतिपुराणवाक्यान्यादिपदार्थत्वेनाहुः **तथेत्यादि** । **नैवमिति** सूत्रमणिगणयोरुपादानोपादेयभावाभावान्नैवमित्यर्थः । **ऐवमर्थ्येनेति** 'सह सुपा' इति समासः । **ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ्** ।

नन्वेवं निःसंदिग्धत्वात् कथं सूत्रप्रवृत्तिः । उच्यते । अस्थूलादिवाक्यान्यपि सन्ति सर्वत्र प्रपञ्चतद्धर्मवैलक्षण्यप्रतिपादकानि । ततोऽन्योऽन्यविरोधेनैकस्य मुख्यार्थबाधो वक्तव्यः । तत्र स्वरूपापेक्षया कार्यस्य गौणत्वात् प्रपञ्चरूपप्रतिपादकानामेव कश्चित् कल्पयेत् । तन्माभूदिति जन्मादिसूत्रवत् समन्वयसूत्रमपि सूत्रितवान् । तथाचाऽस्थूलादिगुणयुक्त एवाविक्रियमाण एवात्मानं करोतीति वेदान्तार्थः संगतो भवति । विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वं तु ब्रह्मणो भूषणाय ।

भाष्यप्रकाशः ।

वाक्यान्यादिपदेन संगृह्यन्ते । अतः पूर्वसूत्राकाङ्क्षापूरणायेदं सूत्रमावश्यकमित्यर्थः ।

पुनश्चोदयति नन्वेवमित्यादि । एवमिति पुरःस्फूर्तिकयथाश्रुतार्थग्रहणे । तथाच सूत्रकारो हि वेदान्तार्थं दुर्बोधमाकलयँस्तत्रान्येषामृषीणामपि शुक्रादिकृतं बुद्धिमोहमवधार्य लोकाननुजिघृक्षँस्तदर्थं व्यक्तीकर्तुं प्रवृत्तो यद्येवं समवायित्वमसंदिग्धमेव जानीयात् समन्वयसूत्रं न प्रणयेत् । अतः सूत्रप्रवृत्तिरेव समवायित्वाभावं बोधयतीत्यर्थः । अत्रप्रवृत्तिमुपपादयन्तः समादधते उच्यत इत्यादि । अर्थस्तु निगदेनैव व्याख्यातः । जन्मादिसूत्रवदिति यथा जन्मादिसूत्रं कर्तृत्वादिधर्मनिर्धारणेन निर्विशेषमात्रतानिराकरणार्थं तथेदमपि समवायित्वनिर्धारणेन तदर्थं, न तु सांख्यं निराचष्टुम् । तस्याग्रे वक्ष्यमाणत्वादिति भावः । एतेन पूर्वचोदितस्य द्वितीयदूषणस्यापि निवृत्तिं बोधयन्ति तथाचेत्यादि । संगतो भवतीति । उक्तदूषणस्योद्धृतत्वादसंदिग्धो भवति । तथा चैतत्सूत्राभावे उक्तसंदेहानपायात् तदर्थं सूत्रप्रवृत्त्या समवायित्वमावश्यकमित्यर्थः । नन्वविक्रियमाणस्य समवायित्वं काल्पनिकम् । कल्पना तु लोकाविरुद्धैव प्रामाणिकसमाजे शोभते । तत इदमसंगतमित्याशङ्कायामाहुः विरुद्धेत्यादि । भूषणायेति 'तदेजति तन्नैजति' । 'आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः' । 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' इत्याद्यनेकश्रुतिसिद्धत्वाद् भूषणाय । ब्रह्मणः श्रुत्येकसमधिगम्यत्वस्य सर्वेषामेव संमतत्वादित्यर्थः ।

नतु फलार्थं सर्वः प्रवर्तते । तस्यैव पुरुषशेषत्वात् । तदैहिकं मोक्षरूपं वा यद् यस्या-

रश्मिः ।

अन्तर्यामिपरत्वे पूर्वतौल्यात् । निगदेनेति अभिधानेनैवेत्यर्थः । तदर्थमिति निर्विशेषमात्रतानिराकरणार्थमित्यर्थः । किंचिन्निराचक्षते न त्वित्यादि । प्रकृतिः समवायिनीति सांख्यमित्यर्थः । तस्याग्र इति सांख्यनिराकरणस्य चतुर्थपाद इत्यर्थः । पूर्वचोदितस्येति समवायित्वं यन्निषिध्यते इत्यादिनोक्तविकल्पोक्तस्येत्यर्थः । धातूनामनेकार्थत्वात् । तज्ज्ञापयत्याचार्य इत्यत्र ज्ञा नियोग इत्यस्य ज्ञानार्थत्वं यथा, न तु ज्ञा अवबोधने इत्यस्य, नापि ज्ञाने ज्ञापने च वर्तमानस्य ज्ञपेः प्रयोगः । पूर्वस्य मारणतोषणनिशामनेषु ज्ञा इत्यनेन मित्वाद् ह्रस्वे ज्ञपेस्तु 'ज्ञपमिच' इत्यनेन मित्वात् 'मितां ह्रस्वः' इत्यनेन ह्रस्वे ज्ञपयतीति प्रयोगात् । निशामनं ज्ञानम् । उद्धृतत्वादिति मैवं सर्वेत्यादिभाष्येणोद्धृतत्वादित्यर्थः । उक्तेत्यादि उपादानत्वे कर्तृत्वे च संदेह इत्यादिभाष्योक्तसंदेहानपायादित्यर्थः । नैयायिकः शङ्कते नन्वित्यादि । तस्यैवेत्यादि 'फलं च पुरुषार्थत्वात्' इति सूत्रादित्यर्थः । इदं तृतीयस्य तृतीयाधिकरणे चिन्तितम् 'द्रव्यगुणसंस्कारेषु बादरिः' इत्यत्र । तत्र

किंच । अन्यपदार्थस्रष्टौ वैषम्यनैर्घृण्ये स्याताम् । कर्माधीनत्वे त्वनीशता । ततः कर्तृत्वमपि भज्येत । ततः सर्वमाहात्म्यनाश एव स्यात् ।

नन्वेवमेवास्तु, अपवादार्थत्वात् । रज्जुसर्पवदयुक्तार्थकथनेऽपि न दोषः ।

भाष्यप्रकाशः ।

भीष्टं तत् सर्वं, ब्रह्मोपासनया वा तज्ज्ञानेन वा सर्वस्य यथाधिकारं ब्रह्मणि सर्वकर्तृत्वं सर्वेश्वरत्वादिकं चानुसंदधानस्य सेत्स्यत्येव । नच समवायित्वानुसंधानस्यावश्यकत्वम् । शरीरद्वारापि तदङ्गीकारे पूर्वोक्तमाहात्म्यानपायेन तथानुसंधानस्यानावश्यकत्वात् । अतोऽपार्थप्रयासात् तव मते एतत्सूत्रवैयर्थ्यमेवापद्येतेत्यत आहुः किंचेत्यादि । तत इति अनीशत्वे । तत इति कर्तृत्वभङ्गे । तथाच वैषम्यादिवारणेन कर्तृत्वादिसमर्थनार्थमप्यावश्यकत्वान्न वैयर्थ्यमतस्तवापि निर्दोषनिखिलगुणगणालंकृतब्रह्माङ्गीकर्तुरावश्यकमित्यर्थः ।

अत्र विरुद्धधर्माश्रयत्वमसहमानो निर्विशेषमात्रवादी पुनः शङ्कते नन्वित्यादि । अयमर्थः । अस्तु कर्तृत्वादिभङ्गः । अस्थूलादिवाक्यैः स्वरूपस्य निर्विशेषत्वे निश्चिते तेषां कर्तृत्वादीनामविद्याकल्पितत्वेनापवादार्थत्वात् । न चैवं मिथ्यार्थकथने वाक्यप्रामाण्यभङ्गः । यथा अतिचपले बाले तस्य भीत्युत्पादनाय रज्जुः सर्प इति प्रदर्श्यते, ततो विनीते तस्मिन् रज्जुरियमिति स्वरूपं कथ्यते । तथा संसारासक्तेषु भीत्यर्थं माहात्म्यं कर्तृत्वफलदातृत्वनियामकत्वादिरूपमुच्यते । ततो वैराग्याद्युत्पत्तौ स्वरूपं बोध्यत इति रज्जुसर्पवदयुक्तार्थकथनेऽपि न दोषः । तत्र तात्पर्याभावात् । अथेदं सर्वं यदयमात्मेत्यादीनां स्वार्थत्यागादस्यासंगतत्वं विभाव्यते । तदबोधात् । गीतायां विश्वरूपं पश्यता पार्थेनैव सर्वव्याप्त्या सर्वत्वकथनेन तदर्थनिश्चयादसंगत्यभावादिति ।

रश्मिः ।

स्फ्यकपालादिद्रव्यं, अरुणिमादिर्गुणः, अवघातप्रोक्षणादिः संस्कारः । एतेषु त्रिष्वेवोपकारित्वरूपं शेषत्वम् । फलपुरुषकर्मसु न शेषत्वमुपकारित्वाभावात्, इति बादरिर्मन्यते, जैमिनिस्तु पारार्थ्यं शेषलक्षणमुररीचकार उपकारित्वस्य प्रधाने स्वामिन्यपि दर्शनेनातिव्याप्तत्वादिति । तथा च 'कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात्', 'फलं च पुरुषार्थत्वात्', 'पुरुषश्च कर्मार्थत्वात्', इति सूत्रत्रयादेतेष्वपि पारार्थ्याच्छेषत्वं ज्ञेयम् । एवकारेण प्रमाणप्रमेयसाधनव्यवच्छेदः । शरीरद्वारापीति नव्यमते विश्वमेवेश्वरशरीरमित्यनादरेऽपिशब्दः । एवं द्वितीयोऽपिशब्दः । अनावश्यकत्वादिति प्राचां नैयायिकानामिव प्राचस्तवाप्यनावश्यकत्वादित्यर्थः । नैयायिकयुक्तिपराहतत्वादनावश्यकत्वादिति वा । अनीशत्व इति सार्वविभक्तिकस्तसिरिति भावः । कर्तृत्वं 'स्वतन्त्रः कर्ता' इत्यनुशासनात्तदपि तदभावे भज्येत । तवापीति । नैयायिकस्यापीत्यर्थः । तेन रामानुजा अप्याक्षिप्ता ज्ञेयाः । अत्रेत्यादि मध्ये नैयायिकाशङ्काया उक्तत्वात् पुनरिति । रज्जुः सर्पवदिति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म न चैवमिति । तत्रेति कर्तृत्वादावयुक्तार्थकथन इत्यर्थः । सर्वमित्यादि भाष्यं विवरीतुमाहुः अथेदमित्यादि । अस्येति आरोपप्रवादस्येत्यर्थः । सर्वव्याप्त्येति सर्वं

'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः' इति स्मृतेश्चेति चेत् मैवम्। तथा सति पाषण्डित्वं स्यात्। एतादृशशास्त्रार्थाङ्गीकर्तुरासुरेषु भगवता गणितत्वात्।

'असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत् कामहेतुकम्' इति।

भाष्यप्रकाशः।

अत्र समादधते मैवमित्यादि। तथा सतीति सर्वधर्मापवादे कृते सति। पाषण्डित्वमिति पापलिङ्गवत्त्वम्। 'तानि पापस्य षण्डानि लिङ्गं षण्डमिहोच्यते' इति श्रीभागवतवाक्यात्। गीतावाक्यार्थस्तु, ते आसुराः, असत्यं नास्ति सत्यं वेदपुराणादिप्रमाणं यस्मिंस्तदसत्यम्। वेदादिस्वरूपसत्त्वेऽपि तत्प्रामाण्यानभ्युपगमाद् विशिष्टाभावः। अत एव नास्ति धर्माधर्मरूपा प्रतिष्ठा हेतुव्यवस्था यस्येत्यप्रतिष्ठम्। तथा नास्ति शुभाशुभफलदातेश्वरो नियन्ता यस्येत्यनीश्वरं जगदाहुरिति। यद्वा। सत्यं सत्यशब्दनिर्दिष्टं ब्रह्म, तदुपादेयत्वेन तदात्मकत्वे जगदपि सत्यं भवति, तद्विरुद्धमसत्यम्। न विद्यते ब्रह्मणि प्रतिष्ठा यस्येत्यप्रतिष्ठम्। न विद्यते नियामकः सत्यसंकल्प ईश्वरो यस्येत्यनीश्वरमिति। किंच, सर्वं पशुमनुष्यादिकं योषित्पुरुषयोः परस्परसंबन्धेन जातमुपलभ्यते। अनेवंभूतमपरस्परसंभूतं तादृशमन्यत् किं, न किमपि। अत इदं सर्वं कामहेतुकमिति। यद्वा। यतः सर्वमेवमतोऽदृष्टं कारणं किमपि नास्ति। अदृष्टाङ्गीकारेऽपि क्वचिद्गत्वाऽन्ततः स्वभाव एव पर्यवसानात् स्वाभाविकमेव जगद्वैचित्र्यमस्तु। दृष्टे संभवत्यदृष्टकल्पनानवकाशात्। अतः काम एव प्राणिनां कारणं, नान्यददृष्टेश्वरादीत्याहुरिति। इयं च लौकायतिकदृष्टिरिति। ततश्चायमर्थः। धर्माणामपवादमातिष्ठतस्तद्विशिष्टस्येश्वरस्य काल्पनिकत्वेन वस्तुतस्तदभावात् प्रच्छन्नानीश्वरवादितया स्वभाववाद एव विश्रान्त्या लौकायतिककल्पत्वाद् पाषण्डित्वस्य गीतोक्तलक्षणकत्वादासुरत्वस्य चापत्तिर्वेदस्यापि कल्पितत्वापत्त्या तस्यानर्थक्यम्। कथंचित्प्रामाण्याङ्गीकारेऽपि संसारभ्रमस्यौत्पत्तिकत्वात् तद्भ्रमनिवारणाय स्वरूपमात्रस्यैव वक्तव्यत्वेन शेषशास्त्रस्य प्रक्षालनपङ्कन्याया-

रश्मिः।

समाप्नोषीत्यनेनेत्यर्थः। योऽन्यथेति श्रुत्यनुकूलमर्थमाहुः पापेत्यादि। तत्प्रामाण्यादिति अविद्यावद्विषयत्वादिति भावः। इदं चाध्यासभाष्ये स्फुटम्। विशिष्टेत्यादि जगति वेदसत्त्वेऽपि प्रामाण्यरूपविशेषणाभावात् प्रमाणं वेदादिर्जगति न विद्यते इति विशेषणाभावप्रयुक्तो विशिष्टाभाव इत्यर्थः। नास्तीति। औपाधिकत्वादिति भावः। जगति सर्वेषां कामहेतुकत्वाभावात्किमन्यदित्यायंशं प्रकारान्तरेण योजयन्ति यद्वेत्यादि। प्राणिनामिति गोमयोत्पन्नवृश्चिकघटादिनिष्ठजलजन्यजन्त्वादिव्यतिरिक्तानामिति वाच्यम्। शांकरैर्यथाकथंचिदीश्वराङ्गीकारान्नास्तिकैस्तु तदनङ्गीकारादाहुः इयं चेत्यादि। कथं तर्ह्यस्य निर्विशेषमात्रवादिशङ्कानिराकरणाय भाष्ये उपक्षेप इत्याकाङ्क्षायां निर्विशेषमात्रवादिनो नास्तिकतौल्यादुपक्षेप इति वक्तुं तत्तौल्यं स्फुटयन्ति ततश्चेत्यादि। आपत्तिरिति एतदन्तं तथासतीत्यारभ्य कामहेतुकमित्यन्तस्य भाष्यस्य फलितोर्थः। शास्त्रानर्थक्यं चेति भाष्यं विवृण्वन्ति वेदस्यापीत्यादि। तद्भ्रमेति संसारात्मकभ्रमेत्यर्थः। स्वरूपस्यैवेति विशेषज्ञानरूपस्य। एवकारेण कार्यलक्षणप्रतिपादकभागव्यवच्छेदः। शेषशास्त्रं माहात्म्यप्रतिपादकं तस्येत्यर्थः। आरोपापवादे प्रक्षालनेत्यादि। ननु कर्तृत्वादिप्रतिपादकस्य

शास्त्रानर्थक्यं च। सर्वं समाप्नोषीत्यप्यसंगतं स्यात्। वस्तुपरिच्छेदात्। नहि वेदो निष्प्रपञ्चरूपकथनमुक्त्वा स्वोक्तं जगत्कर्तृत्वं निषेधति। तस्मादध्यारोपा-

---

भाष्यप्रकाशः।

दानर्थक्यम्। स्वस्वमतकल्पितरूपस्य चेतनविशेषस्येश्वरस्य सर्वैरेवाङ्गीकारेण तत्सत्तासाधनायाप्यनुपयोगात्। अपवादार्थमेवारोपितमेव सर्वमुच्यत इत्यङ्गीकारे, सर्वं समाप्नोषीत्यस्याप्यसंगतिः। पदार्थान्तरस्य व्याप्यस्याभावेनावस्तुनश्चाव्याप्यत्वेनास्य वस्तुपरिच्छेदबोधकत्वार्थबाधापत्तेः। असंगतत्वं विभजन्त एव तदुपपादकमाहुः न हीत्यादि। यदि हि निष्प्रपञ्चकथनं मुक्त्वा जगत्कर्तृत्वं ब्रह्मणि निषेधेत्, तदा कर्त्रन्तरादिसत्तया जगदपि सर्वं स्यात्। तदा व्याप्यसिद्धौ सर्वं समाप्नोषीति वाक्यं संगतं स्यात्। यथा तात्त्विकभेदवादिनां मते। तव मते तु निष्प्रपञ्चत्वकथनपूर्वक एव कर्तृत्वादिनिषेध इति त्वन्मत इदं वाक्यमसंगतमेवेत्यर्थः। एवं तन्मतमपास्य तमुपहसन्ति तस्मादित्यादि। तस्मादिति युक्तिप्रमाणविरुद्धत्वात्। तथाचैवंविधव्याख्यानरोगेण स्वयंनिष्ठदैवभावैरासुरत्वरूपमरणप्राप्त्या अस्पृश्यैर्वेदान्ता अपि शवतिलापो यथा अमङ्गला अस्पृश्यास्तथा कृता इत्यर्थः। अत एव प्रबोधचन्द्रोदयनाटकेऽपि बौद्धोक्तिः।

'प्रत्यक्षादिप्रमासिद्धविरुद्धार्थाभिधायिनः। वेदान्ता यदि शास्त्राणि बौद्धैः किमपराध्यते' ॥

इति। 'असद्वा इदमग्र आसीत्, ततो वै सदजायत' इति श्रुतिछायायास्तादृशैरप्यालम्बनात्। अत एव पाद्मोत्तरखण्डेऽप्युक्तम्—

'मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते। मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा' ॥

रश्मिः।

शेषशास्त्रस्य नानर्थक्यं कर्तृत्वस्यापि नैयायिकादिभिरङ्गीकारेण तत्प्रतिपादनस्यावश्यकत्वादित्याशङ्कां निराचिकीर्षवो हेतुमप्याहुः स्वस्वमत इत्यादि। सर्वं समाप्नोषीत्यादि भाष्यं व्याकुर्वन्ति अपवादेत्यादि। असंगतौ हेतुभूतं भाष्यं विवृण्वन्ति पदार्थेत्यादि। तथा च वस्तुपरिच्छेदं समाश्रित्य यच्छास्त्रं सर्वं समाप्नोषीति तदप्यसंगतं स्यादिति भाष्यार्थः। उपपादकमिति तर्कमित्यर्थः। निःप्रपञ्चेत्यादि निर्गुणरूपप्रतिपादकं वाक्यप्रबन्धं मुक्त्वेत्यर्थः। क्त्वस्तु भावोर्थः अव्ययकृतो भाव इति वार्तिकात्। 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' इत्यादिसूत्रैः योत्यं समानकर्तृकत्वादिकमित्युच्यत इति भूषणे स्थितम्। पूर्वोत्तरभावः सामानाधिकरण्यं च संसर्गः। तथा च तादृशवाक्यप्रबन्धवचनसमानाधिकरणमुत्तरकालिकं कर्तृत्वनिषेधं कुर्यादित्यर्थः। कर्त्रन्तरादिसत्तयेति सगुणादिरूपकर्त्रन्तरेत्यर्थः। यथेत्यादि नैयायिकानां यथा घटादि कर्त्रन्तरसत्तया प्रत्यक्षसिद्धया जगद्रूपव्याप्यसिद्धौ सर्वं समाप्नोषीति संगतं भवति तथा स्यादित्यर्थः। त्वं तु निष्कलं निष्क्रियं शान्तमित्यादिभिः निःप्रपञ्चत्वं प्रपञ्चविरहवैशिष्ट्यं कथयन्नेव कर्तृत्वं निषेधतीति मन्यसे इति कर्त्रन्तरसत्ताऽसिद्ध्या व्याप्यासिद्धेरिदमसंगतमेव स्यादित्याहुः तव मत इत्यादि। आसुरस्वेत्यादि 'मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः' इति वाक्यात् स्वरूपविस्मारकत्वेनासुरत्वं मृत्युः। तथाकृता इति। भगवन्माहात्म्यनाशकत्वादिति भावः। अत एवेति अनुभूय युक्तिप्रमाणातिक्रमादेवेत्यर्थः। किमपराध्यत इति तादृशवाक्यानां सर्वेषामप्रामाण्यात्कोऽपराध इत्यर्थः। सर्वोऽपि वेदो नाङ्गीक्रियत इत्यपराध इत्यत आहुः असद्वेत्यादि। यथा अस्थूलादिश्रुतिर्निर्वि-

पवादपरत्वेन व्याख्यातृभिर्वेदान्तास्तिलापः कृता इति मन्यामहे । सर्ववाक्यार्थबाधात् । यथा निर्दोषपूर्णगुणविग्रहता भवति तथोपरिष्टाद् वक्ष्यामः ।

ननु पुरुषार्थार्थानि शास्त्राणि । इदं च शास्त्रं मोक्षरूपपुरुषार्थसाधकम् । मोक्षश्चाविद्यानिवृत्तिरूप इति युक्तम् । अविद्या चाज्ञानं ज्ञानेनैव नश्यति । ततो ज्ञानोपयोगित्वेन व्याख्यातव्ये वेदान्तेऽध्यारोपापवादव्यतिरेकेण व्याख्यानमयुक्तम् । अतो यथाकथंचिद् व्याख्यानेऽपि पुरुषार्थसिद्धेर्न कोऽपि दोष

भाष्यप्रकाशः ।

इत्यादि । ननु ब्रह्मणः प्रपञ्चसमवायित्वमयुक्तम् । कार्यस्य कारणसाजात्यनियमेन प्रपञ्चगतदोषाणां ब्रह्मण्यापातादित्याकाङ्क्षायामाहुः यथा निर्दोषेत्यादि । उपरिष्टादिति अन्तस्तद्धर्माधिकरणे ।

अपवादार्थत्वे उक्तान् दोषानसहमानो निर्विशेषवादी पुनः प्रत्यवतिष्ठते नन्वित्यादि । युक्तमिति 'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्गः' इति गौतमसूत्रे मिथ्याज्ञानापायस्य मोक्षसाधकत्वेन कथनाद्युक्तम् । अविद्या चाज्ञानमिति । 'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या' इति पतञ्जलिसूत्र उक्तं भावरूपमज्ञानं, न तु ज्ञानाभावः । योगभाष्ये, अमित्रो न मित्रं, न वा मित्राभावः, किंतु मित्रविरुद्धसम्पदिति दृष्टान्तेन व्यासपादैरेव भावरूपताया उक्तत्वादिति । ततश्चायमर्थः । शास्त्रस्य स्वार्थाबाधने य आग्रहः क्रियते स शास्त्रस्वरूपं विचार्य कार्यः । न हि शास्त्रत्वेन शास्त्राणामुपादेयता येन स युक्तः स्यात् । किंतु पुरुषार्थार्थत्वेन । पुरुषाश्च नानास्वभावाः स्वस्वोपयोगिशास्त्रमाद्रियन्ते । तत्रेदं शास्त्रं मोक्षसाधकं मुमुक्षूपयोगि । मोक्षस्त्वमिथुक्तैरविद्यानिवृत्तिसाध्यतयोक्तत्वादविद्यानिवृत्तिरूप एवात्र वक्तव्यो न तु स्वरूपात्मकः । तस्याजन्यत्वात् । तत्र च साधनानामनुपयोगेन तदुपदेशवैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च । नचाविद्यानिवृत्तेर्जन्यत्वे कदाचित् तन्नाशः शङ्क्यः । ध्वंसरूपत्वात् । अत एव जन्यभावत्वेन नश्वरत्वेन व्याप्तिराद्रियते, न तु केवलं जन्यत्वेन । ततश्च साधनसाध्यो मोक्षोऽविद्यानिवृत्तिरूप एवेत्यविवादम् । तत्र साधनविचारे यद्यपि दर्शनान्तराभिमानिभिः साधनान्तराणि कर्मसमुच्चिततत्तद्विधज्ञानरूपाण्युक्तानि तथापि श्रौतेऽस्मिन् वेदान्तदर्शने केवलं ज्ञानमेव साधनम् । अविद्याया अज्ञानरूपत्वस्य साधितत्वात् । विवक्षितज्ञानमात्रेणैव तन्निवृत्तिसिद्धौ साधनान्तराणां समुच्चयस्य चापार्थत्वात् । ततो ज्ञानोपयोगित्वेनैव वेदान्तव्याख्याने कर्तव्येऽध्यारोपापवादपक्षमपहाय स्वार्थपरत्वेन व्याख्यानं नाभियुक्तजनरुचिरम् । अतो यथाकथंचिद्व्याख्यानेऽपि ज्ञानोत्पत्त्या अज्ञाननिवृत्तौ, 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इतिरूपस्वरूपावस्थात्मकपुरुषार्थसिद्धेरप्रत्यूहत्वात् पाषण्डित्वासुरत्वशास्त्रानर्थक्यादिरूपाणां दोषाणां लेशस्याप्यभावादनुचितोऽयमुपहास इति । एवं तेन स्वोपहासे विनिवारिते तस्यापत्रपत्वं बोधयन्तः स्वोक्तं स्थिरीकर्तुं तदुक्तं

रश्मिः ।

शेषवादिनावलम्ब्यते तथेयं तैरवलम्ब्यते इति लोकायतिकतौल्यमिति भावः । दुःखजन्मेत्यादि । इदं सूत्रं शंकराचार्यैरुपन्यस्तं भाष्ये । साधनपादस्थं सूत्रमाहुः अनित्येत्यादि । स्वरूपात्मक इति ब्रह्मस्वरूपात्मक इत्यर्थः । अत एवेति ध्वंसस्य जन्यत्वे सत्यनश्वरत्वादेवेत्यर्थः । जन्यभावत्वेनेति

इति चेत् । न । पुरुषार्थस्य शास्त्रार्थस्य वा स्वरूपं शास्त्रैकसमधिगम्यं, न स्वबुद्धिपरिकल्पितम् । अतः स्वबुद्ध्या शास्त्रार्थं परिकल्प्य तत्र वेदं योजयन्तो महासाहसिकाः सद्भिरुपेक्ष्याः ।

पुरुषार्थः पुनर्यथा वेदान्तेष्ववगतः । 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति', 'ब्रह्म-

भाष्यप्रकाशः ।

निषेधन्तः प्रामाणिकप्राचीनरीतिमाहुः नेत्यादि । अयमर्थः । यदुक्तं, पुरुषार्थार्थानि शास्त्राणीत्यादिना, तदङ्गीकुर्मः । परंतु पुरुषार्थः शास्त्रार्थश्च कीदृशो विवक्षित इति विचारणीयम् । किं स्मार्त उत श्रौतः ? । तत्र नाद्यः । विरुद्धानां शास्त्राणां व्यासेनैव निराकरणात् । वाक्याभासयुक्त्याभासावष्टम्भाः पूर्वपक्षवादिन इहोत्तिष्ठन्ति । तत्र पदवाक्यप्रमाणज्ञेनाचार्येण वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मावगतिपरत्वप्रदर्शनाय वाक्याभासयुक्त्याभासप्रतिपत्तयः पूर्वपक्षीकृत्य निराक्रियन्त इति भवद्भाष्यकृतापि तन्निराकरणाङ्गीकारात् । अतो द्वितीय एवादरणीयः । तथा सति पुरुषार्थस्य शास्त्रार्थस्य च स्वरूपं श्रुत्येकसमधिगम्यं, न तु दर्शनान्तरवाक्यादरणेन स्वबुद्धिकल्पितमिति सिद्धम् । एवं सति पदवाक्यप्रमाणनिष्णातेनाचार्येण कार्यलक्षणस्यैव पूर्वं विचारितत्वादग्रे तत्तद्धर्मादिविचाराच्च धर्मविशिष्टब्रह्मज्ञानमेव शास्त्रार्थो, न त्वध्यारोपापवादेन यावद्धर्मशून्यब्रह्मावगतिः । अतः स्वबुद्ध्या तथा शास्त्रार्थं कल्पयित्वा तत्र वेदस्यैकवाक्यत्वं बोधयन्तो लोकान्तरीयभयराहित्येन महासाहसकर्तृत्वात् सद्भिर्वेदानुसारिभिरसंभाष्या इति । मोक्षस्याविद्यानिवृत्तिरूपत्वव्युदासायाहुः पुरुषार्थ इत्यादि । तथाचाविद्यानिवृत्तिरूपो मोक्षः कुत्रापि नोक्त इति त्वन्मतीयः पुरुषार्थोऽपि काल्पनिक इत्यर्थः । एतदेव बोधयितुं वाक्यान्युदाहरन्ति ब्रह्म वेदेत्यादि । अत्र प्रथमे ब्रह्मभावो, द्वितीये परब्रह्मप्राप्तिरेव च फलत्वेनोच्यते । तृतीये च संसाराद्युत्थभावः । चतुर्थे गीतावाक्ये आप्तिस्वरूपं निष्कृष्यते । पञ्चमे च वैयासे सूत्रे तृतीयवाक्यार्थनिर्धारणेन जन्यभावत्वनश्वरत्वयोर्व्याप्तिर्निराक्रियते । अत्रायमाशयः । भवद्भाष्ये न्यायसूत्रोपन्यासेनाविद्यानिवृत्तेरूर्ध्वं सरूपत्वादनश्वरत्वं यदस्त्यपि, तद् आश्रमवासिके भारतीये पर्वणि महता प्रबन्धेन, त्यक्तदेहानां कुरुपाण्डवसैन्यानां व्यासेन पुनर्दर्शितानां स्वस्वपत्नीभिः

रश्मिः ।

न तु जन्यत्वेनेति भावः । ध्वंसस्य जन्यत्वेऽपि नश्वरत्वाभावात् । निराकरणादिति । द्वितीयाध्याये तथेत्यर्थः । 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इति सूत्रस्थं शांकरभाष्यं संमतये आहुः वाक्याभासेत्यादि । एवं पीठिकामुक्त्वा व्याकुर्वन्ति स्म तथा सतीत्यादिना । स्वबुद्ध्येति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म न स्थिति । अत इत्यादिभाष्यं विवरीतुमाहुः एवं सतीत्यादि । आप्तिस्वरूपमिति परमाप्नोतीत्युक्तभाष्यं कर्म ब्रह्म तन्निष्ठाप्तिस्वरूपमित्यर्थः । भक्त्या हृदि प्रकटे प्रवेश आप्तिरिति निष्कर्षः । निराक्रियत इति यदीयं व्याप्तिः प्रामाणिकी स्यात्तर्हि श्रुतिस्मृतिव्याकोपः स्यात् इति तर्केण तथेत्यर्थः । एवं सामान्यतः सिद्धान्तग्रन्थं व्याख्याय प्रेक्षावत्प्रवृत्तये शंकरभाष्यं पूर्वपक्षकोटौ निवेशयितुमाशयं वर्णयन्ति अत्रायमित्यादि । अस्त्वपीति नित्यश्च मोक्षः सर्वैर्मोक्षवादिभिरभ्युपगम्यत इत्युक्त्वा 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादिश्रुतिजालमुपन्यस्यैकमाधाः श्रुतयो मोक्षप्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रमेवात्मज्ञानफलं दर्शयन्तीति निरुध्यास्योपन्यासेन तत्स्वीकृतं तथात्वमस्त्वपीत्यर्थः । स्मार्तं स्मार्तेनैव दूष्यमित्याशयेनाहुः नदाश्रमेत्यादि । वाक्यानि तु

विद्राप्नोति परम्', 'न स पुनरावर्तते', 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्', 'अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्' इत्येवमादिभिः श्रुतिस्मृति-

भाष्यप्रकाशः ।

सहैकरात्रिकृतविहारामश्रणादिकथनाद् ध्वंसस्याप्यनश्वरत्वं प्रायिकमेव, न तु नियतमतस्तद्विद्या-कृताविद्यानिवृत्तेरपि स्वप्नप्रबोधन्यायेन च निवृत्तिसंभवादानश्वरत्वं, गुणानामन्योन्याभिभव-जननमिथुनवृत्तितया सत्त्वेन रजस्तमसोरिव ताभ्यां सत्त्वस्याप्यभिभवे पुनरप्यविद्योत्पत्ति-संभवादसंगतम् । अतस्तद्विहाय श्रौत एव ब्रह्मप्राप्तिरूपः पुरुषार्थ आदर्तव्यः । नच तस्य नश्वरत्वं शङ्क्यम् । 'न स पुनरावर्तते' इति ब्रह्मप्राप्तस्यानावृत्तिबोधनेन तस्यानश्वरत्वनिश्चयात् । जन्यभावत्वेन नश्वरत्वेन व्याप्तेर्लौकिकत्वबोधनायैव सूत्रे शब्दादित्यस्य हेतोरुपन्यासात् । नच ब्रह्मणः सर्वगतत्वेन नित्याप्तस्वरूपत्वादनाप्यत्वं शङ्क्यम् । आप्तस्वरूपत्वेऽप्युक्तगीतावाक्ये आप्तिस्वरूपविवरणेनेदानीं तस्याभावादाप्यत्वस्यापि सत्त्वात् । एतदर्थापत्त्यैवान्तस्त्वबहिष्ट्वयोरपि तत्र मन्तव्यत्वात् । नच श्वेताश्वतरोपनिषदि, 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' इतिमायानिवृत्ते-र्मोक्षरूपत्वश्रावणादविद्यानिवृत्तेरप्यनश्वरत्वं श्रौतत्वं च शङ्क्यम् । मायाऽविद्ययोर्भेदात् ।

'विद्याऽविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव शरीरिणाम् । मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते' ॥

इति भगवता तयोः कार्यकारणभावबोधनात् । माया चाविद्या च स्वयमेव भवतीति ताप-नीयश्रावितद्वैरूप्यपक्षेऽपि तयोर्भेदेन तन्नाशयोरपि भिन्नत्वान्मायानिवृत्तेरेव मोक्षत्वं, नाविद्यानि-

रश्मिः ।

विद्वन्मण्डने सन्ति । अनुभवमप्याहुः स्वप्नप्रबोधेत्यादि । अविद्यया विद्यानिवृत्तिं व्युत्पादयन्ति स्म गुणानामिति । असंगतमिति यदसूचि तदसंगतमित्यर्थः । अतस्तदिति स्मृत्यनुभव-सूत्रविरुद्धत्वात्स्मार्तमित्यर्थः । अत्र यस्य तूत्पाद्यो मोक्षस्तस्य मानसं वाचिकं कायिकं वा कार्य-मपेक्षते इति युक्तं, तथा विकार्यत्वे च तयोः पक्षयोर्मोक्षस्य ध्रुवमनित्यत्वम् । नहि दध्यादिविकार्य-मुत्पाद्यं वा घटादि नित्यं दृष्टं लोके इति शंकरभाष्योक्तमाशङ्क्य निराकुर्वन्ति न चेत्यादि । स्वरूपव्यतिरिक्तत्वेऽपि ब्रह्मणो नाप्यत्वं, सर्वगतत्वेन नित्याप्तस्वरूपत्वात्सर्वेण ब्रह्मण आकाशस्ये-वेति शंकरभाष्योक्तमाशङ्क्य निषेधन्ति न च ब्रह्मण इत्यादि । तस्येति प्रवेशस्येत्यर्थः । तथा च लोकन्यायेनोपष्टब्धत्वाच्चायमेवार्थस्तात्त्विक इति भावः । एतदित्यादि अभिहितानुपपत्तिरूपयेत्यर्थः । इदमिह तत्त्वं गीतावाक्यावगतोऽर्थः प्रवेशरूपो ब्रह्मणो व्यापकत्वेन नित्याप्तस्वरूपत्वादनुपपन्नत्वेन ज्ञातः सन्नर्थान्तरं सान्तस्त्वबहिष्ट्वरूपं कल्पयतीति, यथा ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेत्यत्र यागस्य क्षणिकत्वेन स्वर्गसाधनतानुपपत्त्या मध्यवर्त्यपूर्वं कल्प्यते तद्वत् । श्रुतीनामेकवाक्यत्वायाहुः माया-निवृत्तिरित्यादि 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' इति स्मृतिरप्येतेन संगृहीता । तदुक्तम् ।

'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति । समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्यो यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' । इति ।
मायावरणोत्तरं ब्रह्मभाव इति वस्तुस्थितिः ।

'अपश्यत्पुरुषं पूर्णं मायां च तदुपाश्रयाम् । यया संमोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम् ॥
परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतं चाभिपद्यते । अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे' । इति समाधिभाषायाः ।

ब्रह्मणो व्यतिरिक्तत्वमाश्रित्यानाप्यत्वं यदुक्तं तद्दूषितमिदानीं तु स्वात्मरूपत्वे सत्यनाप्यत्वादिति

न्यायैर्ब्रह्मप्राप्तेरेव पुरुषार्थत्वम् । ब्रह्म च पुनर्न जीवस्यात्ममात्रम् । अज्ञानबद्धः :

'एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते । बन्धोऽस्याविद्ययाऽनादिर्विद्यया च तथेतरः'

इति भगवता जीवस्यैवाविद्यावत्त्वप्रतिपादनात् । तस्मान्न्यायोपबृंहितसर्व-वेदान्तप्रतिपादितसर्वधर्मवद् ब्रह्म । तस्य श्रवणमनननिदिध्यासनैरन्तरङ्गैः शमदमादिभिश्च बहिरङ्गैरतिशुद्धे चित्ते स्वयमेवाविर्भूतस्य स्वप्रकाशस्य सायुज्यं परमपुरुषार्थः । तस्मात् सर्वे वेदान्ताः स्वार्थ एव युक्तार्था इति न्यायैर्वक्तव्यत्वाद् ब्रह्मणः समवायित्वाय समन्वयसूत्रं वक्तव्यम् ॥ ३ ॥

इति प्रथमाध्याये प्रथमपादे तृतीयं समन्वयाधिकरणम् ॥ ३ ॥

इति श्रीवेदव्यासमतवर्तिश्रीवल्लभाचार्यविरचिते श्रीब्रह्मसूत्राणुभाष्ये प्रथमाध्याये प्रथमपादस्यादिमत्रिसूत्रीभाष्यं समाप्तम् ॥

भाष्यप्रकाशः ।

वृत्तेः । मायानिवृत्तिश्च मोक्षस्य पूर्वा कक्षेति परममोक्षत्वं ब्रह्मप्राप्तेरेव निश्चेयम् । तदेतदुक्तं ब्रह्मप्रा-प्तेरेव पुरुषार्थत्वमिति । यदपि मोक्षस्य स्वात्मस्वरूपत्वेनानाप्यत्वमुक्तं यच्च ब्रह्मणोऽविद्याश्र-यत्वादज्ञानवत्त्वं तदप्यसंगतमिति ज्ञापनायाहुः ब्रह्म चेत्यादि । आत्ममात्रमिति 'मात्रं कार्त्स्न्ये-ऽवधारणे' कृत्स्नमात्मस्वरूपम् । तथाचाऽस्मिन् वाक्ये जीवस्यांशत्वकथनेन स्वस्यांशित्वं बोधयता भगवता ब्रह्मणो जीवात्ममात्रत्वे निवारिते मोक्षस्यात्मरूपत्वेनानाप्यत्वं निवारितम् । जीवस्या-विद्यया बन्धकथनेन ब्रह्मणोऽविद्यावत्त्वमपि निवारितमतस्तदप्यसंगतमित्यर्थः । सिद्धमाहुः तस्मा-दित्यादि । तस्मादिति एकदेशिमतस्योपबृंहणविरुद्धत्वात् । तस्येति सर्ववेदान्तप्रतिपादितधर्म-विशिष्टस्य ब्रह्मणः । स्वयमाविर्भूतस्येति नायमात्मेतिश्रुत्या साधनाधीनत्वे ब्रह्माविर्भावस्य वारिते आविर्भावः स्वोक्तकरणेन प्रसादादेव भवतीति तेन स्वयमाविर्भूतस्य । तथाच श्रौतानां स्मार्तानां च ब्रह्मविषयाणां साधनानां चित्तकषायशोषण एव पर्यवसानात् तैरतिशुद्धे चित्ते परमव्योमात्मके सति तत्राविर्भूतस्य ब्रह्मणः, 'सोऽश्नुते' इतिश्रुत्युक्तं सायुज्यमेव सर्वोत्कृष्टः पुरुषार्थो ध्वंसाप्रति-योगित्वात् । न तु ब्रह्मात्मावगतिमात्रम् । अतस्तादर्थ्येन यथाकथंचिद् वेदान्तव्याख्यानमयुक्त-

रश्मिः ।

भाष्ये ब्रह्मैक्यादनाप्यत्वं यदुक्तं तदनुवदन्ति यदपीत्यादि । स्वयंपदात्पुष्टिमार्गं व्याचक्षते स्म नायमात्मेतीति । ननु पुष्टिमार्गबोधकं किं पदं श्रुताविति चेन्न 'वृणुते' इति पदसत्त्वात् । साधननिषेधपूर्वकं, वृङ् संभक्तौ इति धातुपाठात् स्वीयत्वेन स्वीकारस्तु संभक्तिरूपपुष्टिसंबन्धि-त्वेन तत्त्वात् । तेनेति प्रसादेन दर्शनसाधनेन 'तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादात्' इति श्रुत्युक्तेनेत्यर्थः । आविर्भूतस्येति लोकरीत्याविर्भूतस्येत्यर्थः । तत्राविरिति व्योमात्मके शरीरे आविर्भूतस्यानन्दस्य । 'आकाशशरीरं ब्रह्म' इतिश्रुतेः । अदृश्यत्वाधिकरणात् । यद्यपि सेवाफल-विवृतिविवृतौ सायुज्यं 'भक्त्यामामभिजानाति' इति स्मृत्युक्तः प्रवेश इत्युक्तं, तथाप्यत्र परमपुरुषार्थ-पदसमभिव्याहारादलौकिकसामर्थ्यरूपं मुख्यं फलं सह युनक्तीति सयुक् सयुजो भावः सायुज्यमिति व्युत्पत्त्या संयोगानुभवरूपं सायुज्यं विवक्षितमित्याशयेनाहुः सोऽश्नुते इतीति । तादर्थ्येनेति स्वसैद्धान्तिकपुरुषार्थार्थत्वेनेत्यर्थः । इदमत्र बोध्यम् । निमित्तत्वस्य श्रुतिसिद्धत्वादित्युक्तम् । अत्र च समवायित्वाय समन्वयसूत्रं वक्तव्यमित्युक्तम् । अतो निमित्तत्वे सति समवायि ब्रह्म इत्युक्तं भवति ।

भाष्यप्रकाशः ।

मित्यर्थः । एवमेकदेशिमतानि व्युदस्य पूर्वोक्तं सूत्रप्रयोजनं निगमयन्ति तस्मादित्यादि ।

इति तृतीयं समन्वयाधिकरणम् ॥ ३ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणनखचन्द्रनिरस्तहृदयध्वान्तस्य श्रीपीताम्बरात्मजस्य पुरुषोत्तमस्य कृतौ भाष्यप्रकाशे प्रथमाध्याये प्रथमपादस्यादिम-त्रिसूत्रीप्रकाशः समाप्तिमगमत् ॥

रश्मिः ।

अतएव द्वितीयस्कन्धे 'अन्वयव्यतिरेकाभ्याम्' इत्यस्य सुबोधिन्यां अभिन्ननिमित्तोपादानं जगत् ब्रह्मकारणकं इत्युक्तं भवतीत्युक्तम् । तदिदं लोकाप्रसिद्धमिति चिन्त्यते समवायश्च तादात्म्यं न तु वैशेषिकमतप्रतिपन्नमिति द्वितीयाध्याये समवायदूषणावसरे व्युत्पाद्यं, तच्च कृत्स्नस्यांशस्य वा, अंशस्येति सिद्धान्तः । तथा च 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' इतिश्रुतिव्याकोपः । मैवं 'कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा' इत्याशङ्क्य 'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्' इति भगवता व्यासेनैव तन्निराकरणात् । अत एव । अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन । विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ इति स्मृतिः । तस्य निमित्तत्वं दुरुपपादम् । समवाय्यसमवायिभिन्नत्वे सति कारणत्वस्य तल्लक्षणत्वात् । नैतत् निमित्तकारणलक्षणस्यैकांशेन समवायिन्यविरुद्धत्वात् । अवयवभेदस्यावयविनि सत्त्वात् । तथा चैषा प्रक्रिया । ब्रह्माविकृतमेवैकांशेन समवायि, दृष्टान्ताभावो भूषणाय 'न तत्समः' इति श्रुतेः धेनुविशेषवद्वा, तदेव प्रकृतिरूपं, कचित्कालरूपं स्वांशमुपादानं करोति । प्रमाणं तु पूर्वमुक्तम् । उपादानं च द्विविधम् । परिणाम्युपादानं विवर्तोपादानं च । तत्राद्यं स्वसमानसत्ताकं कार्याकारेणाविर्भवति । उपादानसमसत्ताकोऽन्यथाभावः परिणामः । स च विकृताविकृतभेदेन । द्विविधः । तत्राद्यो यथा मृदो घटशरावादिः । द्वितीयस्तु यथा सुवर्णस्य कटककुण्डलादिः । विवर्तस्तूपादानविषमसत्ताकोन्यथाभावः । यथा रजतादिरूपेण शुक्तेः ख्यानं । यद्यपि समवायिकारणभिन्नं यत्कारणं तन्निमित्तकारणम् । असमवायि कारणस्यातिरिक्तकारणताकल्पने प्रयोजनाभावात् । कारणसामग्र्यामन्तर्भाव इत्युक्तं तत्तथैव एतदुक्तमाचार्यचरणैः 'प्रपञ्चो भगवत्कार्यस्तद्रूपो माययाभवत्' इति शास्त्रार्थप्रकरणे । तथाच शरीरि, प्रसिद्धकर्तृत्वात् कुलालवदिति साकारत्वसिद्धिः । पृथ्वी जलं शोषयति तेजः पिबतीत्यादि कर्तृत्ववारणाय प्रसिद्धेति हेतुविशेषणम् । अन्यद्विद्वन्मण्डने स्फुटम् ।

इति तृतीयं समन्वयाधिकरणम् ॥ ३ ॥

इति श्रीविठ्ठलेश्वरैश्वर्यनिरस्तसमस्तान्तरायेण श्रीगोविन्दरायजित्पौत्रेण संपूर्णपेत्रा विठ्ठलरायजिद्भ्रात्रीयगोकुलोत्सवात्मजगोपेश्वरजिता कृते भाष्यप्रकाशस्य रश्मौ प्रथमाध्याये प्रथमपादस्यादिम त्रिसूत्री रश्मिः संपूर्णतामगमत् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम् ।



भाष्यप्रकाश-रश्मि-परिबृंहितम् ।

अथ प्रथमोऽध्यायः ।

एवं ब्रह्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय किं लक्षणकं ब्रह्मेत्याकाङ्क्षायां जन्मादिसूत्रद्वयेन वेदप्रमाणकं जगत्कर्तृ समवायि चेत्युक्तम् । एवं त्रिसूत्र्या जिज्ञासालक्षणविचारकर्तव्यता सिद्धा ।

भाष्यप्रकाशः ।

अतः परं प्रस्तोष्यमाणग्रन्थावतरणाय पूर्वोक्तस्य शास्त्रार्थसंग्रहरूपत्वं बोधयन्तः तदर्थमनुवदन्ति एवं ब्रह्मेत्यादि । तेन सिद्धमाहुः एवं त्रिसूत्र्येत्यादि । कर्तव्यतापदस्य जिज्ञासादिपदैः प्रत्येकं संबन्धः । सिद्धेति सूचिता । तथाच पूर्वसूत्रे जिज्ञासापदमहिम्ना ज्ञाने-

रश्मिः ।

अतः परं चिद्रूपेऽव्याप्तिवारकं प्रकृतिपरमाण्वादावतिव्याप्तिवारकं च सप्तसूत्रमीक्षत्यधिकरणभाष्यमाक्षेपसंगत्या पूर्वमवतारयन्ति अतः परमित्यादि । संगतिस्तु पूर्वपक्षभाष्ये स्फुटिष्यति 'क्रियाशक्तिज्ञानशक्ती संदिह्येते परस्थिते' इति भाष्यकारिकाया ज्ञानशक्तिसंदेहोत्र । त्रिसूत्र्येति । करणत्वबोधकतृतीयानुरोधादत्र द्वन्द्व इति सूचयन्त आहुः कर्तव्यतेत्यादि । प्रत्येकमित्यादि । द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वादिति भावः । जिज्ञासासूत्रे कर्तव्यपदानध्याहाराज्जन्मादिसूत्रे च लक्षणपदानुक्तेः समन्वयसूत्रेपि कारणविशेषविचारानुक्तेराहुः सूचितेति । सूचकपदेन सिद्धेत्यर्थः । साचेयं नार्थव्यञ्जना किंतु शब्दव्यञ्जनेत्याहुस्तथाचेत्यादि । जिज्ञासापदमहिम्नेति । अयमर्थः । यथा—

'भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशाल-
वंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य ।
यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य
दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत्' । इत्यत्र

भद्रात्मनोऽनाक्रमणीयमूर्तेः, विस्तीर्णे वंशे कुले उन्नतिरभ्युदयो यस्य, कृतः शरसंग्रहो येन, अनुपप्लुता मण्डूकवद्गतिर्यस्य, वैरिनिवारकस्य, एतादृशस्य यस्य राज्ञो हस्तः सततं दानोदकसेकसुन्दरोऽभूदिति मुख्यो वाच्योर्थः । इदानीं व्यङ्ग्योर्थः । भद्रात्मनः अत्युन्नततयाऽनाक्रमणीयस्य, विशाला पृष्ठवंशस्योन्नतिर्यस्मिन्, कृतभ्रमरसंग्रहस्य, अनुपप्लुतगतेः, एवंविधस्य परवारणस्य; पर उत्कृष्टो वारणस्तस्य, हस्तः शुण्डादण्डः, मदोदकसेकसुभगोभूदिति । अत्र व्यञ्जनया गजप्रतीतिः । राज्ञो वाच्यत्वस्य प्रकरणनियतत्वात् उक्तव्यञ्जनाद्वारा व्यञ्जकशब्दं लक्षयति । शब्दस्यार्थविशेषयुक्तस्य व्यञ्जकत्वादर्थोपि सहकारित्वेन व्यञ्जको बोध्यः । तद्वत्प्रकृतेपि । तथाहि ।

तत्र ब्रह्मणि चतुर्धा विचारः। स्वरूपसाधनफलप्रतिपादकानि वेदान्तवाक्यानि त्रिविधानि मतान्तरनिराकरणं च। तत्र स्वरूपे विचारिते मतान्तरनिरासव्यतिरेकेण साधनफलयोरनुपयोगात्। अतः प्रथमं स्वरूपनिर्णयः। तदनु मतान्तरनिरासः। तदनु साधनानि फलं चेति। तत्र प्रथमेऽध्याये स्वरूपवाक्यानि विचार्यन्ते। तानि द्विविधानि। संदिग्धानि, निःसंदिग्धानि च। तत्र निःसंदिग्धानां निर्णयो न वक्तव्यः। संदिग्धानि पुनश्चतुर्विधानि। कार्यप्रतिपादकान्यन्तर्यामिप्रतिपादकान्युपास्यरूपप्रतिपादकानि प्रकीर्णकानि चेति। तत्र प्रथमपादे कार्यवाक्यानां निर्णय उच्यते। सच्चिदानन्द-

भाष्यप्रकाशः।

च्छासारणेन, 'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्' इति ब्रह्मस्वरूपमर्यादाबोधनाद् ब्रह्मज्ञानोत्तरमपि तस्याः करणावश्यकता सूचिता। द्वितीये स्वरूपलक्षणमनुक्त्वैव कार्यलक्षणकथनेन तस्य गौणत्वनिवारणात् तत्करणावश्यकता सूचिता। तृतीये समवायित्वनिर्णायकहेतुकथनेन विरुद्धधर्माश्रयत्वबोधनाद् विचारकरणावश्यकता च सूचितेति त्रिसूत्र्युक्त एवार्थोऽग्रे विशेषाकारेण बोधनीय इत्यर्थः। तमेव वैशेषिकं बोधयितुं प्रकारमाहुः तत्र ब्रह्मणीत्यादि। अत्राध्यायार्थक्रमनियमे तत्तदुपजीव्योपजीवकभावं हेतुत्वेनाहुः तत्र स्वरूप इत्यादि। तथाचैवं चतुर्धा विचारः शास्त्रार्थः। तत्तद्विधाविचारस्तत्तदध्यायार्थ इत्यर्थः। प्रथमाध्यायस्य विशेषाकारेणार्थमाहुः तत्र प्रथम इत्यादि। निःसंदिग्धानीति 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादीनि। न वक्तव्य इति निर्णयस्य संदेहनिरासार्थत्वात् तेषु च तस्याभावान्न वक्तव्यः। तथाच स्वरूपनिरूपकत्वेऽपि संदेहाजनकत्वादेव तद्विचारो व्यासेन न क्रियत इत्यर्थः। पादसंख्यायां हेतुभूतां विधामाहुः संदिग्धानीत्यादि। प्रथमपादार्थमाहुः तत्रेत्यादि। निर्णेतव्यानां वाक्यानां विधां वदन्ति सच्चिदित्यादि। सच्चिदानन्दरूपेण कारणं निर्दिश्य कार्यप्रतिपादकानि, आकाशवायुतेजोवाचक-

रश्मिः।

'संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः'॥ इति।

संयोगादयो विशेषस्मृतिहेतव उक्तास्तत्र जिज्ञासासूत्रे ब्रह्मपदसांनिध्येन विचारस्य वाच्यत्वे नियमिते ज्ञानेच्छाकरणावश्यकताव्यञ्जकः शब्दो लाक्षणिकस्तस्य व्यङ्ग्योऽर्थस्तत्करणावश्यकतारूप इत्यर्थः। 'ज्ञानी चेद्भजते कृष्णम्' इति वाक्यात्। नैयायिकास्तु लक्षणयैव निर्वाहयन्ति। विजानतामिति इदमित्थतयाऽस्माभिर्ब्रह्म ज्ञातमित्यभिमानवतामित्यर्थः। अविजानतामिति तादृशाभिमानशून्यानामित्यर्थः। करणेत्यादि। जन्मादिसूत्रेषु ज्ञानेच्छाधिकारादर्शनात् व्यङ्ग्येऽर्थे विवक्षिते कर्तव्यपदस्यार्थस्य चाध्याहार इति भावः। कर्तव्यपदप्रत्ययार्थत्वेन तदैवावश्यकत्वाप्रतीतेः। भाष्ये कर्तव्यतापदाच्च व्यङ्ग्येऽर्थेऽधिकारक्रियानन्वयो दोषाय। तस्येति जन्मादिकर्तृत्वस्य निर्वाहकसंगत्या निरूपणेनेत्यर्थः। वैशेषिकमिति विशेषेण संसृष्टमित्यर्थः। 'संसृष्टे' इति सूत्रेण ठक्। तस्येति

भाष्यप्रकाशः।

शब्देन कारणं निर्दिश्य कार्यप्रतिपादकानीत्येवं षड्विधान्याद्ये पादे निर्णीयन्त इत्यर्थः। नन्वन्यवाचकैः शब्दैः कुतो निर्देश इति शङ्कानिरासायाहुः अन्यत्रेत्यादि। तथाच तेषां नैसर्गिकशक्तिबोधनेन भूताकाशादिषु ब्रह्मलक्षणस्यातिव्याप्तिपरिहारायैवं निर्देश इति बोधयितुमयं निर्णय इत्यर्थः। एवमुपोद्घातेनार्थकथनादिदं बोधितम्। विचारस्य शास्त्रार्थत्वाज्जिज्ञासासूत्रस्य सर्वत्र विषयिविषयभावः संगतिः। शास्त्रस्याध्यायेषु तेषां स्वपादादिषु पादानां स्वावयवेषु सामान्यविशेषभावः। अधिकरणानां परस्परमन्यान्या एव संगतय ऊह्या इति। संगतिस्त्वनन्तराभिधानप्रयोजकाकाङ्क्षाजनकज्ञानविषयोऽर्थः। इदं वाक्यमेतद्वाक्यानन्तरं कस्मादुक्तमीदृशी या जिज्ञासा सा अनन्तराभिधानप्रयोजकाकाङ्क्षा। तज्जनकं तत्स्वरूपयोगि यज्ज्ञानं तत्र विषयत्वेन योऽर्थः प्रकाशते सोऽर्थः संगतिशब्दवाच्यः। तद्भेदाश्च षट्।

'सप्रसङ्ग उपोद्घातो हेतुताऽवसरस्तथा।
निर्वाहकैककार्यत्वे षोढा संगतिरिष्यते'॥

रश्मिः।

संदेहस्येत्यर्थः। तेषामित्यादि आकाशादिपदानां नैसर्गिकशक्तेर्ब्रह्मणि बोधनेनेत्यर्थः। स्वावयवेष्विति अधिकरणेष्वित्यर्थः। अन्यान्या इति तत्तदधिकरणे वक्तव्याः। आनन्तर्यपदघटितत्वं दीधितिकृतोपगतं संगतिलक्षणस्य तथापि गदाधर्यां चातुर्वर्ण्यादित्वात्स्वार्थे ष्यञमभिधायोत्तरार्थत्वमात्रं व्याख्यातमिति तदाहुः अनन्तरेत्यादि। विशिष्यावयवानर्थमाहुः इदमित्यादि। यथा प्रत्यक्षनिरूपकवाक्यनिरूपणानन्तरमनुमाननिरूपकवाक्योक्तिस्तत्रानुमाननिरूपकमिदं वाक्यं प्रत्यक्षनिरूपकवाक्यानन्तरं कस्मादुक्तमीदृश्या अनन्तराभिधानहेतुविषयकं यज्ज्ञानं तद्विषयिणी या इच्छा तद्रूपाया जिज्ञासायाः स्वरूपं ज्ञानेच्छारूपं तत्रोपयोगिज्ञानपूर्वकत्वेन कार्यत्वमनुमानमिति तन्निरूपकवाक्ययुक्तमित्येवमुपयोगि यज्ज्ञानं कार्यत्वत्वेनोपस्थितं कार्यत्वं तद्विषयज्ञानं तत्र विषयत्वेन ज्ञाननिरूपितविषयतावच्छेदकविशेषात्मकेन कार्यत्वत्वेन प्रकाशमानस्य धर्मस्योपजीव्योपजीवकत्वस्य संगतित्वमिति। एवं कारणत्वस्यापि न तु कारणत्वस्यैव। अत्र प्रत्यक्षोपजीवकज्ञानमुपजीवकत्वत्वेनोपस्थितोपजीवकत्वसामान्यप्रकारेण ततः कार्यविशेषान्वेषणनिवृत्तिस्त्वनन्तरमनुमानपददर्शनात्। एवं हि स्वरूपोपयोगः स्यात्। अनुमाननिरूपकमिदं वाक्यं प्रत्यक्षनिरूपकवाक्यानन्तरं कस्मादुक्तमिति पूर्वोक्तजिज्ञासायां ततश्चानुमानं प्रत्यक्षस्य कार्यत्वात्तदनन्तरमुक्तम्। इति विशेषावधृतिरिति। इयं च जिज्ञासा व्याख्यातुरेव न तु निरूपयितुः। निरूपयितुरपि वा ग्रन्थकरणानन्तरं मया कस्मादुक्तमिति जिज्ञासासंभवात् न च निरूपितप्रत्यक्षानुमानयोः संभवतीयम्। उक्तमिति क्तान्तपदघटितत्वादिह त्वनुमानस्य निरूपयिष्यमाणत्वादिति वाच्यम्। तत्कालीनप्रत्यक्षानुमानयोर्निरूपयितुरपि वा ग्रन्थकरणानन्तरं मया कस्मादुक्तमिदं स्यादिति जिज्ञासासंभवात्। वस्तुतस्तु 'धातुसंबन्धे प्रत्ययाः' इति सूत्रेण भविष्यत्काले लुट् स्यादित्यध्याहारः। मनोरमायां विशेषानुल्लेखात् तथाप्युदाहरणानुरोधेन श्रूयमाणतिङन्तस्थले एव सूत्रप्रवृत्तिस्तदा तु उक्तमित्यत्र वचनीयं स्यादिति वक्तव्यम्।

१. ज्ञानेच्छा जिज्ञासा, ज्ञानं यद्यपि हेतुरूपविषयेण पूरितं तथापि विशेषहेतुना न पूरितमिति इच्छाविषयज्ञानविषयत्वेनेत्यर्थः। २. हेतुविशेषादयं विषयविधया हेतुः।

रश्मिः ।

बुद्धिस्थं यद्विचारितं तत्पर्यायोक्तमिति । वस्तुतस्तु अस्य वाक्यस्यैतद्वाक्यानन्तरं निरूपणे को हेतुः स्यादित्येव जिज्ञासा । एवं चानुमानस्येत्यस्य स्पष्टप्रतिपत्तिप्रयोजनकतया तत्रोपयोगिज्ञाना-गोचरत्वम् । तथा ज्ञानविषयेत्यत्र हेतुमित्त्वेति वक्तव्यत्वेन नेत्यर्थस्य हेतोर्गोचरत्वमिति कार्यत्वस्य संगतित्वमित्यपि न । कार्यत्वमनुमानस्येत्यत्र कार्यत्वमित्येतावतैव जिज्ञासापूर्तेरिति ध्येयम् । सामान्यहेतोर्विशेषकार्यस्वरूपहेतुत्वादित्यपि ध्येयम् । तथा तज्जनकमित्यस्य कार्यज्ञान-मिष्टसाधनमिति ज्ञानमिति विवरणं गदाधरभट्टकृतम् । कारणस्य कार्यमावश्यकमिति कार्य-स्वरूपेण कार्यसामान्यज्ञानमिति विवरणं भवानन्दरामनाथकृतम् । तत्र गदाधरकृत-व्याख्यानेऽभिधातुः पूर्वोक्तं ज्ञानं संभावितं न तु निश्चितं दीधितिकृतानुल्लेखात् । अस्मदुक्त-ज्ञानजिज्ञासयोरपि संभवाच्च विषयताविशेषस्य विवक्षा चेति दूषणद्वयम् । इतरयोस्तु शिष्यस्य प्रतिभाविरहेण तद्विरहेण च शिष्यज्ञानयोर्वक्तुमशक्यतया ज्ञाने व्याख्यातुरभिधातुर्वा प्राप्तेते संभाविते न अपि तु निश्चिते दीधितिकृतोल्लेखात् । अतस्तज्जनकं तत्रोपयोगीति व्याख्यातम् । तथा तत्रोपयोगिज्ञाननिरूपितविषयतावच्छेदकं कार्यत्वत्वोपस्थितकार्यत्वावच्छिन्नकार्यानुमाननि-रूपकवाक्यवद्यद्यपि वक्तुं शक्यते तथापि कार्यत्वं कण्ठरवेणोक्तं झटिति बुद्धावारोहति । एवं च उपयोगिज्ञाननिरूपितविषयतावच्छेदकं कार्यत्वत्वमिति ज्ञेयम् । गदाधरभट्टास्तु प्रत्यक्षान-न्तरमस्य किमुपजीवकमित्यादिजिज्ञासां प्रति उपजीवकत्वादिज्ञानं हेतुरित्यनुमानस्य प्रत्यक्षा-नन्तरमभिधाने प्रयोजिका किमस्योपजीवकमिति जिज्ञासा तज्जनकं कार्यज्ञानमिष्टसाधनमिति उप-जीवकत्वविषयकज्ञानं तद्विषयत्वमुपजीवकत्व इति लक्षणसंगतिः । एवमुपजीव्येपि बोध्यम् । तथा च कारणत्वस्य कार्यत्वस्य च संगतित्वं न तु कार्यत्वस्यैव जनकज्ञानविषयेत्यनेन जनकीभूते-ष्टसाधनताज्ञानीयज्ञाननिष्ठविशेष्यतायां विषयतासंबन्धेन यदवच्छेदकत्वं तन्निरूपितावच्छेदकतात्म-कविषयताविशेषस्य विवक्षितत्वात् । न ज्ञाननिष्ठेष्टसाधनत्वेतिव्याप्तिर्भवति चोपजीवकज्ञान-मिष्टसाधनमित्यत्रेष्टसाधनताज्ञानैकदेशज्ञाने या विशेष्यता उपजीवकत्वप्रकारकज्ञाननिष्ठेष्टसाधन-ताविषयकं ज्ञानमिति बोधात् । तादृश्यां विशेष्यतायां विषयितासंबन्धेन यदवच्छेदकत्वं इष्टसाधनतावच्छेदकत्वं इष्टसाधनतानिष्ठविषयता निरूपिता तद्द्वारा विषयितासंबन्धेन विशेष्य-तायाः इष्टसाधने सत्त्वात् तादृशेष्टसाधनतानिरूपितमवच्छेदकत्वमुपजीवकत्वे इष्टसाधनताधिकरणे ज्ञाने विषयतासंबन्धेनोपजीवकत्वस्य सत्त्वात्तदात्मकस्य विषयताविशेषस्योपजीवकत्व एव सत्त्वा-दतिव्याप्तिवारणम् । भवानन्दभट्टास्तु प्रत्यक्षस्य कारणत्वज्ञाने कारणस्य कार्यमावश्यक-मिति क्रमेण कार्यस्वरूपेण कार्यसामान्यज्ञानं ततः सामान्यधर्मप्रकारकज्ञानस्य विशेषधर्मप्रका-रकजिज्ञासाजनकत्वात् किमस्य कार्यमित्याकारिका शिष्यजिज्ञासा, ततः शिष्यस्य किमस्य कार्यमिति शब्दप्रयोगः, ततः शिष्यजिज्ञासाज्ञानं गुरोः, तत इष्टसाधनताज्ञानेनानन्तराभिधानमिति क्रमेण जिज्ञासायामनन्तराभिधानप्रयोजकत्वमिति वदन्ति । रामनाथस्तु आनन्तर्याभिधानप्रयोजक-शिष्यज्ञानगोचरतदिच्छाजनकीभूतशिष्यज्ञानविषयत्वमेव संगतिरित्याह । प्रत्यक्षनिरूपणानन्तरं कार-णस्य कार्यमावश्यकमिति शिष्यस्य कार्यत्वसामान्यज्ञानं ततश्च किमस्य कार्यमिति शिष्यजिज्ञा-सायां गुरुणानुमानाभिधानं क्रियते इति शिष्यज्ञानजिज्ञासे अनुमानाभिधानावसरे शिष्यजिज्ञा-

१. पञ्चमपदास्याह ।

रूपेणाकाशवायुतेजोबाधकवाक्यानि षड्विधान्यपि निर्णीयन्ते । अन्यत्रान्य-बाधकान्यपि वेदान्तेषु भगवद्बाधकानीति ।

रश्मिः ।

सायाः प्रतिभाविरहेण तद्विरहेण च वक्तुमशक्यतया जिज्ञासा चानन्तराभिधातुरेवेति गदाधराः । घटत्वादिप्रत्यक्षेण को घट इति जिज्ञासोदयात् घटत्वादौ प्रत्यक्षसंगतित्ववारणाय प्रयोजकान्तम् । नन्वेवमपि न निस्तारः । प्रत्यक्षादौ निरूपिते स्वसामग्रीवशात् को घट इति कस्यचि-ज्जिज्ञासया केनचिद् घटो निरूपितः तादृशनिरूपणप्रयोजकतयाविधजिज्ञासामादाय, घटत्वादावपि प्रत्यक्षादिसंगतित्वप्रसक्तेः प्रयोजकान्तमुपादायाप्यशक्यवारणत्वात् । अथ तत्र घटत्वादेः संग-तित्वमिष्टमेव प्रसङ्गमध्ये तस्यान्तर्भावनीयत्वाच्च । अन्यथा तादृशनिरूपणं संगत्यभावेनाबद्धप्रलापः स्यात् । आकाङ्क्षिताभिधाने तु स न स्यादिति । एवं च घटत्वादीनां लक्ष्यत्वेन प्रयोजका-न्तमनर्थकमित्युच्यते तदा तु यन्निरूपणानन्तरं कदाचिदपि कस्यचिद्धर्मस्यावान्तरधर्मप्रकारकज्ञानेच्छा न जायते अपि तु कालान्तरे जायते, तदा तस्य तत्संगतित्ववारणाय प्रयोजकान्तोपादानात् । न च तादृशधर्म एव दुर्लभः । तादृशधर्मसंभावनयातिव्याप्तिसंदेहेनातिव्याप्तिवारकविशेषणदानौचि-त्यात् । यद्वा यन्निरूपणानन्तरं यद्धर्मावच्छिन्नस्य यस्य पुंसो विशेषजिज्ञासा न जाता अपि त्वन्याभिधानानन्तरमेव, तद्धर्मस्य तं प्रति तत्संगतित्ववारणाय प्रयोजकान्तमुपादेयम् । अस्तु तदनन्तराभिधानप्रयोजकज्ञानविषयत्वं सा प्रयोजकजिज्ञासाजनकेत्यधिकं मैवं पटादिकं निरूप्य प्रतिपाद्यस्य जिज्ञासामन्तरेणैव यत्रासंबद्धघटाद्यभिधानं कृतं केनचित् तत्रास्य घटज्ञानं भव-त्वित्याकारकेच्छाजनकीभूतं वक्तृघटादिज्ञानं तद्विषयघटत्वादावतिप्रसङ्गः । घटविषयकज्ञानस्यापि घटादिबुबोधयिषाद्वारा पटाद्यभिधानानन्तरं घटाद्यभिधानप्रयोजकत्वादतो जनकान्तरमप्युपादेयम् ।

न चैवमपि पटघटादिनिरूपणोत्तरं घटसंबन्धेन दण्डादिस्मरणे को दण्ड इत्यादिजिज्ञा-सया दण्डादिनिरूपणं तत्र तादृशजिज्ञासाजनकज्ञानविषयस्य पटनिरूपितसंगतित्वापत्तिरिति वाच्यम् । यदभिधानानन्तराभिधानप्रयोजकजिज्ञासायां तदभिधानप्रयोज्यत्वस्य निवेशनीयत्वादिति पदकृत्यं गदाधर्याम् । निवेशप्रकारस्तु यदभिधानानन्तराभिधानप्रयोजनकतदभिधानाप्रयोज्य-जिज्ञासाजनकज्ञानविषयोर्थः संगतिरिति बोध्यः । पटाभिधानानन्तरं दण्डादिनिरूपणाभावाच्च पट-निरूपितसंगतित्वं दण्डादिनिरूपणे अस्य लाघवाय जिज्ञासा निरूपिता ज्ञानमिष्टविषयतावच्छेद-कत्वविशेषः संगतिर्लाघवात् । भवति च जिज्ञासा तत्स्वरूपैकदेशभूतेच्छा तन्निरूपिता या तद्द्वि-तीयदलज्ञाननिष्ठायोग्यता तदवच्छेदकमनुमानं विषयविधया तथा चानुमाने तदवच्छेदकमनुमानत्व-मपि परंत्ववच्छेदकत्वविशेषः कार्यत्वमिति लक्षणसमन्वयः । जिज्ञासा चात्र किमनुमानं कार्यभूत-मित्येव विचारः । तादृशजिज्ञासयैवानुमाननिरूपणादिति स्थितं गदाधर्याम् । गदाधरव्याख्या-नमनुवदन्ति तत्रेत्यादि । स्मृतस्य पूर्वाभिहितवस्तुसंबन्धेन स्मृतस्योपेक्षानर्हत्वम् । विरोधो नञर्थः । द्वेष्यज्ञानविषयता चोपेक्षार्हत्वम् । एवं च द्वेष्यज्ञानविषयताविरोधि यद्रूपं तत्, जिज्ञासाविषयतावच्छेदकरूपमिति यावत् । स्मृतस्येत्यभिधानं जिज्ञासाया आनन्तर्याभिधानप्रयो-जकत्वलाभाय । उपोद्घातादिषट्कभिन्नत्वे सतीति पूरणीयम् । तथाचोपोद्घातादिषट्कभिन्नसं-गतिः प्रसङ्ग इति पर्यवसितार्थः । तेनाधेयत्वाधिकरणत्वघटत्वादीनामत्रैवान्तर्भावः । उपेक्षान-

१. चक्षुःसंनिकर्षादिसामग्रीवशात् । २. जिज्ञासाया अजनकीभूतो यस्तद्वाग्र्थः तत्संगतित्वेत्यर्थः । ३. वक्ष्यमाणा ।

भाष्यप्रकाशः ।

इत्यभियुक्तोक्तेः । तत्र स्मृतस्योपेक्षानर्हत्वं प्रसङ्गः । प्रकृतार्थसाधकत्वमुपोद्घातः । उपजीव्योपजीवकभावो हेतुता । सा सापेक्षत्वादुभयसंग्राहिका । प्रतिबन्धकीभूतजिज्ञासानिवृत्तावश्यवक्तव्यत्वमवसरः । निर्वाहप्रयोजकता निर्वाहकत्वम् । एकजातीयकार्यजनकत्वमेक-

रश्मिः ।

र्हत्वं च विभाजकमात्रमतस्तादृशधर्माणां मुमुक्षानर्हत्वादिरूपाणां निरूपणप्रयोजकजिज्ञासाविषयतावच्छेदकत्वविरहेपि न क्षतिः । उदाहरणं त्वाधारनिरूपणेन स्मृतस्याधेयस्योपेक्षानर्हत्वज्ञानेन किमाधेयमिति जिज्ञासयाधेयनिरूपणमिति । प्रकृतार्थेत्यादि । तदुक्तं 'चिन्तां प्रकृतसिद्ध्यर्थामुपोद्घातं विदुर्बुधाः' इति । प्रकृतसिद्ध्यर्थी प्रकृतोपपादकत्वविषयिणीं किमस्योपपादकमिति चिन्तामुपोद्घातसंगतित्वनिर्वाहिकां विदुरित्यर्थः । तादृशजिज्ञासामादायैवोपोद्घातत्वे लक्षणसमन्वयात् । अर्थसाधकत्वं च उपपादकत्वं तच्च निर्वाहकत्वं तच्च क्वचित् तद्घटकतया क्वचित्तद्घटकतयेति । तत्राद्यं विशिष्टपरामर्शत्वस्यानुमितिजनकतावच्छेदकत्वं परामृश्यमानलिङ्गलिङ्गपरामर्शान्यतरव्यापारकज्ञानकरणकं ज्ञानमनुमितिरित्यनुमितिलक्षणघटकतयानुमितिलक्षणोपपादकम् । परामर्शज्ञानेन विना परामर्शघटितलक्षणानिर्वाहादिति परामर्शव्यवस्थापने उपोद्घातः संगतिः । द्वितीयं तु सामान्यप्रत्यासत्तेरनुमितिपूर्वं नियमतो विशिष्टपरामर्शनिर्वाहकतया विशिष्टपरामर्शत्वावच्छिन्ना यानुमितिकारणता तन्निर्वाहकत्वादेव परामर्शघटितानुमितिलक्षणोपपादकत्वं न त्वनुमितिलक्षणघटकतयेति द्विविधमुपपादकत्वम् । उपजीव्येत्यादि इयं विवेचिता । ननु कार्यत्वं षोढात्वं व्याहनिष्यतीत्याकाङ्क्षायां हेतुतापदमजहत्स्वार्थवृत्त्या कार्यत्वकारणत्वोभयसाधारणेन केनचिद्रूपेण तदुभयपरमिति नाधिक्यमित्यनुवदन्ति सा सापेक्षेत्यादि । प्रतिबन्धकीत्यादि । अत्र किमिदानीं वक्तव्यमिति जिज्ञासाजनकज्ञानविषयत्वमादाय लक्षणसमन्वयः । यद्यपि तादृशजिज्ञासाविषयतायां जिज्ञासानिवृत्तिघटितं नावच्छेदकमिति तेन रूपेण संगतित्वं नास्ति अपि तु निवृत्त्युपलक्षिततत्कालवक्तव्यत्वरूपेणैव तथापि न क्षतिः । यादृशस्य संगतित्वं तादृशस्यैव विभाजकत्वमित्यनियमात् । जिज्ञासानिवृत्तेर्विभाजकधर्माघटकत्वे बाधकाभावादिति । इयं च प्रत्यक्षोत्तरोपमाने संगतिः । अत्र प्रतिबन्धकीभूतानुमान जिज्ञासा किमनुमानमिति तस्या अनुमाने उपमानापेक्षया प्राथमिकजिज्ञासाविषयत्वप्रयोजकबहुवादिसंमतत्वकथनेन नानुमाननिरूपणाद्विषयसिद्ध्यानिवृत्तौ सत्यामुपमानमवश्यं वक्तव्यमिति जिज्ञासया किमिदानीं वक्तव्यमिति जिज्ञासया वोपमाननिरूपणात् । निर्वाहेत्यादि । उदाहरणं तु व्याप्तिपक्षधर्मतयोर्ज्ञानस्यानुमितिजनकत्वेन तादृशव्याप्तिनिरूपणानन्तरं किमनुमितिनिर्वाहप्रयोजकमिति जिज्ञासया पक्षधर्मतानिरूपणमिति । पक्षधर्मताज्ञानं कारणमिति पक्षधर्मता निर्वाहप्रयोजिका । एकजातीयेत्यादि । उदाहरणं तु अनुमानस्येश्वरसिद्ध्यपवर्गयोः संगतिरत्रैकजातीयं येन केनापि धर्मेणेश्वरसिद्ध्यपवर्गाख्यं कार्यं तज्जनकत्वमनुमान इति । सामान्यत एकजातीयानेककार्यजनकत्वज्ञाने ईश्वरसिद्ध्यनन्तरं किमन्यकार्यजनकत्वमिति जिज्ञासयापवर्गरूपकार्यनिरूपणात् सामान्यलक्षणसमन्वयः । भवानन्दभट्टैस्तु नैयायिकेनेश्वरसिद्ध्यनन्तरं शक्तिं निरस्य परमप्रयोजनं त्वनुमानस्यापवर्ग इत्यनेनेश्वरसिद्ध्यपवर्गयोरनुमानजन्यत्वलक्षणैककार्यत्वसंगतिः सूचिता । एकस्य कारणकार्यतायाः तदर्थ-

१. विशिष्टे बाधितो विधिर्विशेषणमुपसंक्रामति शिखी न इतिवत् । एवं चोपमाननिष्ठवक्तव्यत्वे संगतित्वम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

कार्यत्वम् । इदं च संगत्यभिधानमात्रोपयोगित्वात् स्वरूपकथनमात्रम् । लक्षणं तु प्रसङ्गाद्यन्यतमत्वमेव । तेन पूर्वस्येष्टसाधनत्वाधाराधेयभावादावव्याप्तावपि न दोष इति नैयायिका

रश्मिः ।

त्यादिरित्युक्तम् । इदानीं भवानन्दोक्तमनुवदन्ति इदं चेत्यादि । विभाजकं चेत्यर्थः । सामान्यलक्षणं चेति वार्थः । लक्षणफलमनुवदन्ति तेन पूर्वस्येत्यादि । इष्टसाधनत्वेति इदं त्विह वक्तव्यं इष्टसाधनत्वस्य कार्यकारणभावात्मकत्वं कैश्चित्स्वीकृतं तन्मतं भवानन्द्यादावनूदितं तत्राव्याप्तिः । नैयायिकैस्तत्र संगतित्वानङ्गीकारात् । नैयायिका इति अस्य 'क्रतूक्थादिसूत्रान्ताद् ठक्' इति ठकि नैयायिका इत्येव । अतः परं पूर्वोक्तं संगतिसामान्यलक्षणमुपजीवकत्वे न संभवति किं प्रत्यक्षोपजीवकमिति जिज्ञासयानुमाननिरूपणाभावात् । अपि तु किमनुमानमिति जिज्ञासयैव निरूपणं तस्य । इयं च जिज्ञासानिरूपयितुः अनुमाननिरूपणात्पूर्वं संभवात् । या तु प्रत्यक्षग्रन्थानन्तरं मया कस्मादुक्तमिदमिति पूर्वोक्ता जिज्ञासा सानुमाननिरूपणानन्तरं निरूपयितुर्विचारसामयिकी । नचात्र किं मानमिति वाच्यम् । अनुमानत्वरूपलक्ष्यतावच्छेदकविशिष्टे लक्षणप्रतिपादकस्य तत्करणमनुमानमित्युत्तरस्य संगतेरेव मानत्वात् । अन्यथा पूर्वोक्तजिज्ञासास्वीकारे तु यद्धर्मप्रकारकयद्विषयिणी जिज्ञासा तद्धर्मावच्छिन्नतदुद्देश्यकं लक्षणादिनिरूपणमिति नियमस्य को घटः कम्बुग्रीवादिमान् घटः इत्यादिषु दर्शनात् उपजीवकमनुमानमित्युत्तरस्य प्रसङ्गात् । ननु पूर्वोक्तां जिज्ञासां स्वीकृत्योपजीवकपदमध्याहृत्योत्तरस्योपजीवकमनुमानं तच्च तत्करणमित्यर्थात् संगतिरिति चेन्न । किं प्रत्यक्षोपजीवकमिति जिज्ञासायाः प्रत्यक्षोपजीवकत्वविशिष्टेऽनुमितिकरणत्वरूपविशेषधर्मबोधकात्तत्करणमित्यादिवाक्यादेव निवृत्तेः । तथा चानन्तराभिधानप्रयोजकजिज्ञासाजनकज्ञानविषयत्वरूपसंगतित्वं प्रकृते नोपजीवकत्वे संभवति । किंतु निरूप्यतावच्छेदकेनुमानत्वे इत्यनन्तराभिज्ञानप्रयोजकजिज्ञासाजनकनिरूप्यतावच्छेदकधर्मप्रकारकस्मरणप्रयोजकनिरूप्यनिष्ठसंबन्धः संगतिरित्येव लक्षणं युक्तम् । प्रत्यक्षानुमानपदार्थयोरुपजीव्योपजीवकभावसंबन्धज्ञानादनुमानपदार्थत्वरूपप्रकृतलक्षणलक्ष्यतावच्छेदकप्रकारेणानुमानस्मरणादनुमानपदार्थः क इति विशेषजिज्ञासयानुमितिकरणमनुमानपदार्थ इति निरूपणादुपजीवकत्वे संगतित्वनिर्वाहात् । एवं च पूर्वापरनिरूपणविषययोः संबन्ध एव संगतिः । न तु निरूप्यतावच्छेदक इति । इदं यद्यपि साधीयः संगतमित्यत्र संबद्धमिति व्यवहारात् तथाप्यवश्यवक्तव्यत्वस्य संबन्धत्वविरहादवसरे व्याप्तताद्दृशस्थले हेतुतासंबन्धाश्रयणात् । किंच यत्र गां पश्यन् सास्नादिमतीयं गौरिति प्रयुङ्क्ते तत्र संगतेप्यानन्तर्याभिधानाभावादव्याप्तिः । किंच शरीरगौरवं शक्यतावच्छेदकगौरवं च । अपिच जिज्ञासाधिकरणसंगतौ लक्षणस्याप्रवेशः । आनन्तर्याभिधानघटितत्वात् । अधिकरणस्य प्राथम्येनानन्तराभिहितत्वात् । अन्यच्च प्रतिपत्तिगौरवं चेति मत्वा

१. विशेषणज्ञानस्य कारणत्वादिति भावः । २. यत्रापि तु संगतेरपि सत्वाज्जन्मादिसूत्रस्याजातत्वेनानन्तर्याभिधानप्रयोजकजिज्ञासाभावाल्लक्षणस्याप्रवेशमाहुरपि चेति ।

भाष्यप्रकाशः ।

आहुः । वयं तु, सावधानपुरुषप्रयुज्यमानवाक्यप्रयोजकत्वेन स्मृतस्योपेक्षानर्हत्वमेव संगतिः ।

रश्मिः ।

संगतमित्यत्रोपेक्षानर्हमिति व्यवहारारम्भं वा लक्षणान्तरमाहुः वयं त्वित्यादि । इति रोचयामह इति संबन्धः । प्रयुज्यत इति प्रयुज्यमानमुच्चार्यमाणमित्यर्थः । एतादृशवाक्यस्य प्रयोजकं परंपरया कारणं यद्धेतुतादिस्तदवच्छेदकत्वेनानुमानवाक्यत्वादिना स्मृतिविषयोनुमानवाक्यादिः । अवच्छेदकत्वं तृतीयार्थः । उपेक्षानर्हता च क्वचिद्धेतुतया क्वचिदुपोद्घातेनेत्येवं ज्ञेया । तथा च सावधानाभिन्नपुरुषकर्तृकप्रयोगकर्मीभूतवाक्यनिरूपितप्रयोजकतावच्छेदकरूपेण कर्तृनिष्ठस्मृतिनिष्ठविषयितानिरूपितविषयताशालिवाक्यपदान्यतरनिष्ठोपेक्षानर्हत्वं संगतिः । अत्रेदं हृदयम् । सावधानपुरुषप्रयुज्यमानं वाक्यमथातो ब्रह्मजिज्ञासेति तत्प्रयोजकं प्रकृतोपपादकत्वमस्य जातित्वविरहाद्धर्मत्वेन प्रकृतोपपादकरूपत्वात्तत्तावच्छेदकेन ब्रह्मभक्त्यादिविचारप्रतिज्ञावाक्यत्वेन स्मृतस्य ब्रह्मभक्त्यादिविचारप्रतिज्ञावाक्यस्योपेक्षानर्हत्वं संगतिः । बुद्धिस्थमेव सर्वोपि प्रयुङ्क्ते इति दृष्टानुयायिनः । तादृशावच्छेदकस्य संगतित्वविरहात् तत्रातिव्याप्तिवारणाय विशेष्यम् । अनुभवविषयीभूतघटादिसंबन्धेन स्मृतस्य दण्डादेरुपेक्षानर्हत्वं द्वेष्यज्ञानविषयताविरोधिरूपात्मकमिति तत्रातिव्याप्तिः तद्वारणाय विशेषणदलम् । दण्डः संगत इत्यव्यवहाराद्वाक्यधर्म एव संगतिः । प्रयुक्तवाक्यनाशोत्तरं कालान्तरे तदुपपादकत्वेन स्मृतस्योपेक्षानर्हत्वं संगतिः स्यात् तत्रातिव्याप्तिवारणाय प्रयुज्यमाने इति । यदि च तादृशस्थले संगतित्वव्यवहारः प्रामाणिक एव तदा तु स्पष्टप्रतिपत्तिः प्रयोजनं वाक्येत्यादितृतीयानां तूपेक्षानर्हताप्रयोजकस्फूर्त्यै । प्रकृतोपपादकत्वावच्छेदकब्रह्मभक्त्यादिविचारप्रतिज्ञावाक्यत्वादिना वाक्यादिस्फुरणे सत्युपेक्षानर्हता वाक्यादेर्यतः । पुरुष इति तु वक्तव्यमेव योग्यत्वात् । तत्त्वं च जीवेशत्वं तच्च स्त्रीपुरुषसाधारणं तेन स्त्रीप्रयुज्यमानवाक्यप्रयोजकत्वेन स्मृतस्योपेक्षानर्हत्वे नाव्याप्तिः । केनचित्प्रतिष्ठायै पुरुषेण प्रयुज्यमानं वाक्यमानन्तर्यावच्छेदकावच्छेदेन प्रतिपत्स्यमानावच्छेदकमित्याद्यनर्थकं तादृशवाक्यप्रयोजकत्वेनासंबद्धोच्चारणे पदप्रतारणाय यदुपेक्षानर्हत्वं तत्रातिव्याप्तिवारणाय सावधानेति । स चानवधानपुरुष इति नासंबद्धेऽतिव्याप्तिः । किं च सावधानेत्यनुक्तौ भ्रान्तपुरुषोपि संगृह्येतेति सावधानेत्यवश्यं वक्तव्यमेव । तर्हि स्मृतस्येत्यवक्तव्यं, वक्तव्यं तत् । सावधानपुरुषप्रयुज्यमानवाक्यप्रयोजकत्वेनाधारत्वेनोपेक्षानर्हत्वस्य कालेपि सत्त्वात् । स्मृतस्येत्युक्ते तु स्मरणविषयत्वविरहात् काले नातिव्याप्तिः तादृशप्रयोजकत्वेन स्मृतत्वमेव संगतिरिति तु न । स्मरणविषयतायां संगतित्वव्यवहाराभावादतिव्याप्तिप्रसङ्गात् । अथवात्र भगवान् व्यासः सर्वमपि ब्रह्मभक्तिविचारं स्मृत्वेदं सूत्रं प्रणिनिनायेति । सावधानपुरुषप्रयुज्यमानवाक्यं 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यारभ्य 'अनावृत्तिः शब्दात्' इत्यन्तं तत्प्रयोजकत्वेन तदुपपादकत्वेन स्मृतस्य ब्रह्मभक्तिविचारवाक्यस्योपेक्षानर्हत्वं संगतिः । पूर्वत्र तु स्मर्यमाणप्रयुज्यमानयोः वाक्ययोः संगतिरत्र तु प्रयुज्यमानयोरेव । एवं स्मर्यमाणयोरपि ज्ञेया । झटिति बुद्ध्यारोहणेन प्रतिपत्तिगौरवमपि नास्ति ।

१. जन्मादिसूत्रस्याजातत्वेपि बुद्धिस्थत्वात्तदादायानन्तर्याभिधानप्रयोजकजिज्ञासादिसंभवस्य तु 'सिद्धान्तकौमुदीयं विरच्यते' इत्यादौ दृष्टत्वात्तदनुयायिनः ।

भाष्यप्रकाशः ।

हेतुतादयः सर्वे उपेक्षानर्हत्वस्यैव प्रयोजका धर्मास्ते तद्बोधकतया संगतित्वेनोच्यन्ते ।

रश्मिः ।

शक्यतावच्छेदकलाघवं स्फुटम् । शरीरलाघवं च । स्मृतस्योपेक्षानर्हत्वं संगतिरित्यन्यस्य परिष्कारत्वात् । ईश्वरलिखापितं पञ्चम्यन्तम् । यत्र गां पश्यन्नित्याद्युक्तस्थलेपि सावधानपुरुषप्रयुज्यमानं सास्नादिमती गौरियमिति वाक्यं तत्प्रयोजकत्वेन हेतुत्वेन स्मृतस्य वाक्यस्योपेक्षानर्हत्वं संगतिरिति नाव्याप्तिः । अत्र गां पश्यन्नित्यनुभवस्थले गां पश्यामीत्येवं वाक्यं स्मृत्वा स्मर्यमाणोच्चार्यमाणयोर्वाक्ययोः संगतिर्ज्ञेया । अत्र यद्यप्युच्चार्यमाणवाक्यं संगतमिति प्रतीतेः संगतिरत्रापेक्ष्यते तथापि स्मर्यमाणत्वोच्चार्यमाणत्वमात्राहितभेदावच्छिन्नत्वान्न दोषः । अथवा भारतकरणोत्तरं ब्रह्मसूत्रप्रणयनेन सावधानपुरुषप्रयुज्यमानं वाक्यं भारतरूपं वर्तमानत्वाविवक्षणात् । तत्प्रयोजकत्वेन भारतार्थवेदार्थनिर्वाहकत्वेन स्मृतस्य ब्रह्मभक्तिविचारस्योपेक्षानर्हत्वं संगतिः । एवमन्येन सावधानपुरुषेण प्रयुक्तं यद्वाक्यं घटोयमिति तदुपपादकत्वेनेतरेण स्मृतस्य प्रयुक्तस्य च नीलोयं घटोतः प्रत्यक्ष इति वाक्यस्योपेक्षानर्हत्वं संगतिः । प्रथमवाक्ये तु तद्घटकपदानां वाक्यत्वमाश्रित्य पदधर्मः संगतिवाक्ये चकास्तीति । यद्यपि गदाधरभट्टैः यद्यप्युपोद्घातादिपञ्चकभेदमनिवेश्य सर्वा संगतिः प्रसङ्ग एवान्तर्भावयितुं शक्यते तथापि विभाजकस्य स्वतन्त्रेच्छकृततया न पर्यनुयोगावसर इति सामान्यलक्षणं प्रसङ्गलक्षणमित्युक्तं तथापि तद्विशेषणरहितमिति ततोपि वैलक्षण्यं ज्ञेयम् । न च जिज्ञासानिरूपिताज्ञाननिष्ठविषयतावच्छेदकतावच्छेदकत्वविशेषः संगतिरस्तु किमनेनेति वाच्यम् । निरूप्यतावच्छेदकस्य संगतित्वविरहात् । अवच्छेदकत्वविशेषपदेन यत्रावच्छेदकत्वे संगतित्वव्यवहारस्तन्मात्रविवक्षणेपि जिज्ञासाविरहेण गोदर्शनानन्तरं सास्नादिमती गौरिति संगतवाक्येऽव्याप्तिः । नापि प्रसङ्गाद्यन्यतमत्वं, निरुक्तलक्षणमनुसरतामुपेक्षानर्हतापदेनोपेक्षानर्हतावच्छेदकोपस्थितेरावश्यकत्वात् । अन्यथा निरुक्तसामान्यलक्षणेनैकवाक्यतानापत्त्यासाव्याप्तिरापद्येत । तथा सति निरूप्यतावच्छेदकस्य संगतित्वविरहेणासंभव एव दूषणम् । अवच्छेदकत्वविशेषग्रहणेपि पूर्वोक्तस्थलेऽव्याप्तिः । आनन्तर्यघटितनिरुक्तसामान्यलक्षणमनुसरतां तु प्रसङ्गादिलक्षणान्यानन्तर्याभिधानप्रयोजकजिज्ञासाजनकज्ञानविषयत्वघटितान्यावश्यकानि । अन्यथा यत्रानन्तर्याभिधानं जातं न भवति तत्रत्यस्यापि स्मृतनिष्ठोपेक्षानर्हत्वादेः प्रसङ्गादिसंगतित्वापत्तेः । संगतिसामान्यलक्षणानाक्रान्ततया संगतत्वेन प्रतीतेष्वपि संगतत्वशून्यत्वाभ्युपगमात् । नन्वेवमपि सर्वत्र हेतुतादिषु संगतित्वव्यवहाराय विशेषलक्षणान्यपि वक्तव्यानीत्याशङ्कायां तत्र लाक्षणिको व्यवहार इति तानि न वक्तव्यानीत्याहुः हेतुतादय इति । एतेन तत्र तत्र तत्तद्व्यवहारे नियामकमप्युक्तम् । एवं हि प्रयोजकास्तथाहि सावधानपुरुषप्रयुज्यमानवाक्यमाधारनिरूपकं तत्प्रयोजकत्वेनाधेयत्वेन स्मृतस्याधेयनिरूपकवाक्यस्योपेक्षानर्हत्वं भवतीति आधेयत्वस्य प्रसङ्गान्तर्गतस्योपेक्षानर्हत्वप्रयोजकत्वम् । तथा सावधानपुरुषप्रयुज्यमानवाक्यमनुमितिनिरूपकं तत्प्रयोजकत्वेनानुमितिलक्षणोपपादकत्वेन स्मृतस्य परामर्शस्योपेक्षानर्हत्वं भवतीति उपोद्घातस्य प्रयोजकता । एवं सावधानपुरुषप्रयुज्यमानवाक्यं प्रत्यक्ष-

१. विशेषणनिष्ठो धर्मः । २. भूतले घटवद्भूतलमित्यत्रच ।

तत्र लक्षणविचार एव सद्रूपाणां वाचकता निर्णीता। चिद्रूपस्य ज्ञान-
प्रधानस्य निर्णयार्थमीक्षत्यधिकरणमारभ्यते सप्तभिः सूत्रैः। सप्तद्वारत्वाज्ज्ञानस्य।

भाष्यप्रकाशः।

तत्रेयत्तानियामकस्यासद्दर्शनेऽनुक्तत्वादन्येषामपि संग्रहो न दुष्ट इति रोचयामहे। तत्र जन्मा-
द्यधिकरणे जगदुत्पत्त्यादिरूपसदात्मककार्यनिरूपणेन सामान्यतः कारणतया विशेषतः कर्तृ-
तया च स्वरूपं निरूपितम्। समन्वयाधिकरणे च सर्वत्र ब्रह्मणः समनुगतत्वादुपादानतया
विशेषतस्तन्निरूपितम्। तत्र यत् सामान्यतः सिद्धं तदनुवदन्ति तत्रेत्यादि। उक्तविधेषु वाक्येषु
पूर्वसूत्राभ्यां कृते लक्षणविचार एव। सद् रूप्यते यैस्तेषां 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' इत्या-
दिवाक्यगतानां पदानां ब्रह्मवाचकता निर्णीता। कार्यस्य सदात्मकत्वेन तत्कारणभूतं ब्रह्मैव
सच्छब्दैर्वाक्येषूच्यत इति निर्णयः कृत इत्यर्थः। अतः परमग्रिमाधिकरणप्रयोजनमाहुः चिद्रू-
पस्येत्यादि। निर्णयप्रयोजनमग्रिमसूत्रे स्फुटीभविष्यति। सप्तद्वारत्वादिति पञ्च चक्षु-

रश्मिः।

निरूपकं तत्प्रयोजकत्वेन कार्यत्वेन स्मृतस्यानुमानवाक्यस्योपेक्षानर्हत्वं भवतीति हेतुताकार्यतयोः
प्रयोजकता। एवं सावधानपुरुषप्रयुज्यमानवाक्यं प्रत्यक्षनिरूपकं तत्प्रयोजकत्वेनावसररूपनिरूप-
णीयतावच्छेदकेनावश्यवक्तव्यत्वेन स्मृतस्योपमानवाक्यस्योपेक्षानर्हत्वं भवतीति अवसरस्य प्रयोज-
कता। एवं तादृशवाक्यं व्याप्तिनिरूपकं तत्प्रयोजकत्वेन तत्कार्यनिर्वाहकत्वेन स्मृतस्य पक्षधर्म-
तानिरूपकवाक्यस्योपेक्षानर्हत्वं भवतीति निर्वाहकस्य प्रयोजकता। एवं तादृशवाक्यमीश्वरनि-
रूपकं तत्प्रयोजकत्वेन तत्सजातीयत्वेन स्मृतस्यापवर्गनिरूपकस्योपेक्षानर्हत्वं भवतीति एककार्य-
त्वस्य प्रयोजकता। अथवा तादृशवाक्यमपवर्गनिरूपकं तत्प्रयोजकत्वेनेश्वरसिद्धिसजातीयकार्यजन-
कत्वेन स्मृतस्यानुमानवाक्यस्योपेक्षानर्हत्वं भवतीति एकजातीयकार्यजनकत्वस्य प्रयोजकता।
नन्वेवं घटत्वादावपि उपेक्षानर्हताप्रयोजकत्वदर्शनेन कथमिमे षडेव प्रयोजका इत्याकाङ्क्षायां तत्त्वे
इष्टमभ्युपगच्छन्ति तत्रेत्यादि। उपेक्षानर्हत्वप्रयोजकेष्वित्यर्थः। अन्येषामिति उपेक्षानर्हत्व-
प्रयोजकानां घटत्वादीनामित्यर्थः। तस्मादव्याप्त्यतिव्याप्त्यसंभवविरहाच्छोभनमिदं लक्षणमिति
सुधीभिराकलनीयम्। संगतिव्यवहारस्तु तत्रतत्र स्पष्टत्वाय हेतुतादिभिः प्रयोजकधर्मैरेव वक्तव्य
इत्यपि ज्ञेयमित्यलं विस्तरेण। एवं संगतिं निरूप्य भाष्यमवतारयन्ति जन्मादीत्यादि। जग-
दित्यादि जगदुत्पत्त्यादिना रूप्यते व्यवह्रियते यत्सदात्मकं कार्यं तस्य निरूपणेनेत्यर्थः। यद्यपि मृदो
घट इति समवायित्वेपि पञ्चमी दृष्टा तथापि विकृतत्वापादकत्वेन न तथा वक्तुं शक्येति मत्वाहुः
विशेषतः कर्तृतयेति। उपादानतयेति समन्वयपदसामर्थ्यात्तथेत्यर्थः। निर्णयप्रयो-
जनमिति ब्रह्मणः सच्चिदानन्दरूपत्वेन पूर्वाधिकरणाभ्यां सद्रूपे लक्षणसमन्वय उक्तः। चिद्रूपे
लक्षणसमन्वयनिरूपणेनाव्याप्तिपरिहाररूपं तदित्यर्थः। उपलक्षकमेतत्। संगतिरपि निर्वाहक-
त्वरूपा स्फोटिष्यति। सप्तद्वारत्वादिति मनसोधिकरणत्वेन द्वारत्वमिव ब्रह्मणश्चिद्रूपांशो
जीव इति द्वारत्वम्। चक्षुरादिद्वारा मनसा जीवस्य द्रष्टृत्वमिव जीवद्वारा ब्रह्मणो द्रष्टृत्वात्।
'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' इति श्रुतेः। न च द्रव्यत्वम्। स्वप्ने चिद्रूपतानुभवात्।

१ इदं हेतुतया वाक्यम्। २. हेतुता। ३. कृतम्।

तत्रैवं संदेहः। ब्रह्मणः स्वप्रकाशत्वेन सर्वप्रमाणाविषयत्वाद् 'यतो वाचो निवर्तन्ते'
इति श्रुतेश्च विचारः कर्तुं न शक्यते। स्वप्रकाशत्वविरोधाच्छ्रुतिविरोधाच्च।

भाष्यप्रकाशः।

रादीनि मनो जीवश्चेत्येवं सप्तद्वारत्वात्। तथाचान्यत्र गुणवाचका अपि ज्ञानादिशब्दा वेदा-
न्तवाक्यविशेषेषु ब्रह्मवाचका इति बोधनाय सप्तसूत्राणीत्यर्थः। संशयस्याकारमाहुः तत्रैव-
मित्यादि। स्वप्रकाशत्वेनेति। 'तमेव भान्तमनुभाति विश्वम्' इतिश्रुत्या स्वप्रकाशत्वेन।
स्वप्रकाशत्वविरोधादिति प्रमाणविषयत्वे तज्ज्ञानस्य प्रमाणतन्त्रत्वेन स्वप्रकाशत्वाभावेन
तद्विरोधात्। श्रुतिविरोधादिति विचारस्य मनोवाग्विषयत्व एव संभवेनोक्तश्रुतिविरोधात्।

रश्मिः।

ब्रह्मवाचका इति। 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः' इति बृहदारण्यकात्सप्तस्वरूपाणि
वक्ष्यमाणानि, प्रज्ञां स्मरणात्मकानि कुर्वीत कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्षणेन पटतन्तुवत्। ततो
ज्ञानैकब्रह्मवाचका इत्यर्थः। ज्ञानस्येतिभाष्यात्। सप्तसूत्राणीति सूत्रसंख्यातात्पर्योक्तिरियं
पुत्रेष्टिन्यायेन। तथाहि। पुत्रेष्टौ श्रूयते 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते' इत्युपक्रम्य
'यदष्टाकपालो भवति गायत्र्यैवैनं ब्रह्मवर्चसेन पुनाति यन्नव कपालं त्रिवृतैवास्मिन् तेजो दधाति
यद्दशकपालो विराजैवास्मिन्नन्नाद्यं दधाति यदेकादशकपालस्त्रिष्टुभैवास्मिन्निन्द्रियं दधाति यस्मिन्
जाते एतामिष्टिं निर्वपति पूत एव तेजस्व्यन्नाद इन्द्रियावी पशुमान् भवति' इति। अत्रोत्पन्नशिशो-
र्गायत्र्यादिजनितपूततासिद्ध्यर्थमष्टादिसंख्याककपालसंस्कृतपुरोडाशा न न्यूनाधिकसंख्याककपाल-
संस्कृतपुरोडाशाः। एवं त्रिवृदादिवाक्येष्वपि तत्तत्संख्याबोधने किं गमकमिति चेत् मैवं गाय-
त्रीपादस्याष्टाक्षरत्वेनाष्टकपालसंस्कृतपुरोडाशप्रचारे उत्पन्नशिशोर्गायत्र्यैव पावित्र्यं नन्दयितु-
मर्हति नान्यथापि। तथा च श्रुतिः 'गायत्री चतुर्विंशत्यक्षरा त्रिपदा' इति एतदभिप्रायेणै-
वाचार्यैः पुरुषोत्तमसहस्रनामस्तोत्रे 'गायत्री च तथा छन्दो देवता पुरुषोत्तमः' इति द्वात्रिंशद-
क्षरेषु गायत्रीत्वमुक्तं श्लोकस्य चतुष्पात्त्वात्। किंच गायत्र्याश्चतुर्थोपि पादोस्ति बृहदारण्यके
गायत्र्युपासने 'अष्टावक्षराणि ह वा एकं गायत्र्यै पदम्' इत्यादिना पादत्रयमुक्त्वा 'अथास्या एतदेव
तुरीयं दर्शितं पदम्' इतिश्रुतेः। एतदित्यस्य पादत्रयात्मकमित्यर्थः। तथा च गायत्र्यास्त्रिपादीत्वेनै-
कैकस्य पादस्याष्टाक्षराणि भवन्तीति गायत्रीजन्यपावित्र्यापेक्षायामष्टकपालसंस्कृतपुरोडाशप्रचारो युक्त
इति। एवमन्यत्रापि। एतच्च स्फुटं 'त्वमेव पूर्वसर्गेऽभूः' इत्यस्य सुबोधिनीटिप्पण्याम्।
अन्यत्र यथा 'आत्मना प्रथमा लीला मनसा तु ततः परा' इत्याद्युक्ते सप्तके। आत्मा जीवः
यशः मनः चक्षुः लीलाः क्रियाः, ज्ञानं पञ्चरात्रात् ऐश्वर्यं वाक् भागवतरसनं 'स्वादु स्वादु
पदे पदे' इति भागवतात् धर्मी, प्राणः त्वक् वैराग्यं, प्राणवैराग्ययोर्भगवत्त्वात्, इन्द्रियं
घ्राणः श्रीः। अत्र चक्षुर्मनो वा वक्तव्यमिन्द्रियमुख्यत्वात्तथापीन्द्रियश्रीः शृङ्गारं विना न भव-
तीति पृथ्वीः श्रीतन्मात्रा, गन्धस्तु ग्राहकघ्राणः शरीरं श्रोत्रं वीर्यं नभस्त्वात्, रूपं समष्टिः।
अष्टरूपाणि कृतकृत्यीकुर्वन्तीति। अत्राष्टाकपालत्वादयो गुणाः कर्मान्तरविधायकाः, उत वैश्वानर-
स्तावका वेति संशये कर्मान्तरविधायका इति पूर्वपक्षे शते पञ्चाशदिति न्यायेन द्वादशकपालेष्व-
ष्टादीनां संभवात्स्तावका एवेति प्रथमस्य तृतीयपादे 'पूर्ववन्तोऽविधानार्थास्तत्सामर्थ्यं समाम्नाये'

आहोस्विद् विरोधपरिहारेण शक्यत इति। किं तावत् प्राप्तम्। न शक्यत इति। कुतः।

ज्ञापनार्थं प्रमाणानि सन्निकर्षादिमार्गतः।
सर्वथाऽविषयेऽवाच्येऽव्यवहार्ये कुतः प्रमा॥

ऐहिकामुष्मिकव्यवहारयोग्ये हि पुरुषप्रवृत्तिः। प्रवृत्त्यर्थं हि प्रमाणानि। ब्रह्म पुनः सर्वव्यवहारातीतमिति। नन्वेतदपि वेदादेवावगम्यत इति चेत् तर्हि

भाष्यप्रकाशः।

विधिकोटिस्तु स्फुटैव। पूर्वपक्षयुक्तिं गृह्णन्ति ज्ञापनार्थमित्यादि। सन्निकर्षादिमार्गत इति। आदिपदेन सहकारीणि। मार्गं उपायः। सर्वथाऽविषय इति स्वप्रकाशत्वेन मनोनिवृत्तिश्रुत्या च सर्वप्रमाणाविषये। अवाच्य इति वाङ्निवृत्तिश्रुत्या सत्यज्ञानादिपदैरपि लक्ष्यत्वादवाच्ये। अव्यवहार्यत्वं विभजन्ते ऐहिकेत्यादि। व्यवहारो नाम मनोमात्रेन्द्रियप्राणजन्यपुरुषप्रवृत्तिरूपो व्यापारः। सर्वव्यवहारातीतमिति लौकिकवैदिकव्यापारानर्हम्। एतदिति अविषयत्वादिकम्। वेदादिति। 'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्'। 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' इत्यादिरूपात्। अयमर्थः। प्रमाणैर्हि द्रव्यगुणक्रियादिरूपाः पदार्था लौकिकालौकिकसन्निकर्षेण यथार्हं प्रमीयन्ते। ब्रह्म त्वस्थूलादिवाक्यैरतद्रूपत्वादसंगत्वेनासन्निकृष्टत्वाच्च सर्व-

रश्मिः।

इत्यधिकरणे पूर्वतन्त्रसिद्धान्तः। न च संख्यायाः पुरोडाशविशेषणतया श्रावणेन पुरोडाशेऽष्टाकपालत्वादिरूपतद्धर्मे वा पर्यवसानान्नेदं संगच्छत इति वाच्यम्। अप वै सोमेनेजानाद्देवताश्च यज्ञश्च क्रामन्त्याग्नेयं पञ्चकपालमुदवसनीयं निर्वपेत्, अग्निः सर्वा देवताः, पाङ्क्तो यज्ञो देवताश्चैव यज्ञं चावरुन्धे गायत्रो वाग्निर्गायत्रच्छन्दस्तं छन्दसा व्यवर्धयति यत्पञ्चकपालं करोति। अष्टकपालः कार्योऽष्टाक्षरा गायत्री गायत्रो वा अग्निः गायत्रच्छन्दः स्वेनैवैनं छन्दसा समर्धयति पङ्क्त्यौ याज्यानुवाक्ये भवतः पाङ्क्तो यज्ञः तेनैव यज्ञान्नैतीत्युदवसानीयविधायकश्रुतेस्तथानिश्चयात्। तत्र हि अष्टाकपालपुरोडाशविधाने तस्मिन् पञ्चकपालत्वस्य सत्त्वेपि तदनादृत्य याज्यानुवाक्ययोः पञ्चसंख्याकत्वविधानेन पञ्चसंख्याकयज्ञादनपगमविधानतस्तथानिश्चयो ज्ञेयः। अतः संख्यायाः सतात्पर्यकत्वमपेक्षितस्थले निश्चेयम्। अनपेक्षितायाः निस्तात्पर्यकत्वमितिदिक्। ब्रह्मवाचका इति उक्तरीत्या व्यष्ट्या समष्ट्या च। तमेवेति काचित्कोयं पाठः। पुस्तकान्तरे मुण्डके श्वेताश्वतरे च 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' इति पाठात्। उक्तश्रुतीति भाष्योक्तश्रुतिविरोधात्। विधिकोटिरिति विरोधपरिहारेण शक्यते इति विचारः कर्तव्य इति विधिकोटिः। लोके लेटोऽदर्शनात्। लटो विध्यर्थत्वाभावात्। यद्वा छन्दोवत्सूत्राणि व्याख्यानं चेति शक्यते इति लेट्। भक्ष्यत्वादिति सत्यज्ञानानन्तजगज्जन्मादिकर्तृपदानां वाङ्निवृत्तिश्रुत्या शक्यार्थे बाधे सत्यपदं सत्यत्वमनभिदधच्छक्यार्थमभेदेनासत्यत्वाभावरूपलक्ष्यार्थं वक्तीत्यभेदसंबन्धो लक्षणा। एवं लक्षणद्वये ज्ञानादिपदानामभेदसंबन्धो लक्षणेति ज्ञेयम्। मन इत्यादि 'व्यवहारः संनिपातो मनोमात्रेन्द्रियासुभिः' इत्येकादशस्कन्धात्। द्रव्य-

बाधितार्थप्रतिपादकत्वान्न वेदान्ता विचारयितव्या इति प्राप्ते उच्यते।

ईक्षतेर्नाशब्दम्॥ ४॥ (१।१।४)

न विद्यते शब्दो यत्रेत्यशब्दं सर्ववेदान्ताप्रतिपाद्यं ब्रह्म न भवति। कुतः। ईक्षतेः। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्युपक्रम्य 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इति। 'तत्तेजोऽसृजत'। तथाऽन्यत्र। 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत् किंचन मिषत्'। 'स ऐक्षत लोकान्नु सृजा' इति।

भाष्यप्रकाशः।

प्रमाणाविषयम्। अतद्रूपत्वादेव च नामाख्यातनिपातोपसर्गरूपचतुर्विधपदजाताप्रतिपाद्यतया अवाच्यम्। अवाच्यत्वादेव वैदिकव्यवहारादप्यतीतम्। तदेतत्सर्वमभिप्रेत्य, 'यतो वाचः' इत्यादयस्ततो वागादीनां निवृत्तिं तस्य विदिताविदितान्यत्वं च श्रावयन्तीत्यतस्तदविचार्यम्। तस्याविचार्यत्वादेव तत्प्रमितिफला वेदान्ता अप्यविचार्याः। अथ ब्रह्मण एवंरूपतापि वेदादेवावगम्यत इति तस्याप्रमेयत्वज्ञानायैव विचार्या वेदान्ता इति विभाव्यते, तदा तु स्वव्यापारेण तत्समर्पयन्तस्तस्य तथात्वं बोधयन्तीति, मम माता वन्ध्येतिवाक्यवद् बाधितार्थप्रतिपादकत्वादेवाविचार्या इति। एवं पूर्वपक्षमुक्त्वा सिद्धान्तं वक्तुं सूत्रं पठन्ति।

ईक्षतेर्नाशब्दम्॥४॥ व्याकुर्वन्ति नेत्यादि। ननु ब्रह्मणो वेदान्ताद्यात्मकशब्दप्रतिपाद्यत्वे ईक्षतिधातुनिर्देशस्य कथं हेतुत्वमित्याकाङ्क्षायां विषयवाक्यान्युदाहरन्ति सदेवेत्यादि। अत्र प्रथमं वाक्यं छान्दोग्यस्थम्। द्वितीयमाश्वलायनानामैतरेयोपनिषत्स्थम्। तृतीयं प्रश्नोपनिषदः षष्ठप्रश्नस्थम्। मिषदिति व्यापारं कुर्वत्। आदिपदेनादिसृष्टिविषयकेक्षणघटितानां, 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् स्वयंम्वेकमेव तदैक्षत महद्वै यक्षं तदेकमेवास्मि हन्ताहं मदेव मन्मात्रं द्वितीयं तदेव निर्ममे' इत्यादीनां संग्रहः। तथाच, न केवल ईक्षतिर्ब्रह्मणो वेदान्तशब्दप्रतिपाद्यत्वे हेतुभूतः, किं तु वाक्यगतः। तेन च स्वार्थप्रत्यायने वाक्येषु ब्रह्मकर्तृका ईक्षा प्रतीयते। ईक्षा च पर्यालोचनम्, एवं करिष्यामीत्यध्यवसायः। सोऽत्रैतादृश

रश्मिः।

गुणेति आदिशब्देन विशेषसमवायाभावाः पूर्वपक्षग्रन्थस्थत्वात्। अतद्रूपत्वादिति अद्रव्यादिरूपत्वादित्यर्थः। तर्हीत्यादि भाष्यं विवरीतुमाहुः अथ ब्रह्मण इति। विवृण्वन्ति स्म तदा स्विति। स्वव्यापारेणेत्यादि 'यतो वाचो निवर्तन्ते' 'न तत्र चक्षुर्गच्छति' इत्यादिवेदान्तः स्वीयवागप्राप्यचक्षुरप्राप्यमनोऽप्राप्यरूपार्थिकपदानामभिधारूपव्यापारेण प्रमेयत्वं समर्पयन्नेव ब्रह्मणोऽप्रमेयत्वं बोधयतीति तथेत्यर्थः। अथवा यथा अशेषनिषेधशेषपदाभ्यामभिधावृत्त्या ब्रह्मप्रमापकाभ्यामेवाप्रमेयत्वं बोध्यते। इत्यभ्युपगमवादवदस्थूलादिपदानामभिधारूपव्यापारेण प्रमेयत्वं समर्पयन् वेदान्तो ब्रह्मणस्तैरेव पदैरप्रमेयत्वं तात्पर्येण बोधयतीति तथेत्यर्थः।

ईक्षतेर्नाशब्दम्॥ ४॥ ब्रह्म वेदः अशब्दं न विद्यते शब्दः बोधकव्यापारवान् पदसमूहो यत्रेत्यशब्दं सर्ववेदान्ताद्यप्रतिपाद्यं न भवति ब्रह्मकर्तृकेक्षाप्रत्ययादिति सूत्रार्थः। यथा 'तदैक्षत' इत्यादिवाक्यं शब्दार्थयोर्नित्यसंबन्धाद्योऽपि ब्रह्मपक्षः। सोऽत्रेति ईक्षाकर्ताघो-

भाष्यप्रकाशः ।

इति कार्यबलादुन्नीयते । अत एतादृशेक्षाबोधकेनेक्षतिना यत्र यत्रैवं पूर्वमव्यवहार्यत्वेऽपि पश्चाद् व्यवहार्यत्वेन प्रतिपाद्यत्वाभावस्तत्र तत्रैवमीक्षणकर्तृत्वेन प्रतिपाद्यत्वाभाव इति

रश्मिः ।

क्षजस्तच्छब्दार्थः । न चाधोक्षजोपि शब्द इति तस्याप्यविषय इति वाच्यं ईक्षतेः । तथा चेदमित्थतयाधोक्षजशब्दविषयो भवत्येव । अथवा विरुद्धधर्माश्रयत्वात् विषयोविषयो वान्यथा 'न कोपि मग' इति छान्दोग्यीयसच्छब्दाविषयत्वे ब्रह्माज्ञानमेव भवेदिति महानेवान्यायः स्यात् । न च 'मनसैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम्' इति श्रुत्या शब्देतरमनसा ब्रह्मज्ञानं भवतीति शब्दाविषयत्वेप्यक्षतिरिति वाच्यम् । भक्तिरूपमनोनुद्रष्टव्यत्वेन प्रमाणप्रस्तावे तद्विचाराप्रसक्तेः । भक्तिरस्य भजनमितिश्रुतिः भक्तिरूपमनसा द्रष्टव्यत्वं वक्ति ततश्च प्रकृतेः प्रमाणबलेनाविषयः स्वेच्छया विषयश्च । **एतादृश** इति लोकदृष्टिद्वारा व्यवहार्यो भविष्यामीति भाष्योक्ताकारक इति विचक्षणस्य ब्रह्मणोस्तिभातिप्रियत्वेनात्र व्यवहाररूपकार्यबलादुन्नीयते तर्क्यत इत्यर्थः । तथा च श्रुतौ ऐक्षतेत्यस्य बहुत्वज्ञानेक्षो जात इत्यर्थः । बहु स्यां प्रजायेयेतीच्छाकारावेदकश्रुतिप्रामाण्यात् । ईक्ष दर्शन इति धातुः, अत्र त्वीक्षापर्यालोचनमित्युक्तं तद्दर्शनार्थमादायेत्यविरोधः । **यत्र यत्रैवमिति** ब्रह्मरूपार्थः पक्षस्तत्र । **एवमिति** । वेदान्तशब्दैः प्रतिपाद्यत्वाभाव इति प्रतिपाद्यत्वसंबन्धेनाशब्दत्वाभावः । **एवमिति** भाष्योक्तरीत्या वाक्यगतेक्षणकर्तृत्वेनेत्यर्थः । **प्रतिपाद्यत्वाभाव** इति प्रतिपाद्यत्वसंबन्धेन ब्रह्मव्याप्यीभावः । **व्याप्तिरिति** यदि च यथा तेजः इति दृष्टान्तेनान्वयव्याप्तिरपीति विभाव्यते तदा तद्वाक्यगतेक्षणकर्तृत्वेन प्रतिपाद्यत्वसंबन्धेन ब्रह्मव्याप्यं हेतुर्बोध्यः । ब्रह्मपक्षः ज्ञानप्रधानः । 'तत्तेज ऐक्षत' इति छान्दोग्यमत्रानुसंधेयम् । प्रकृते पूर्वमव्यवहार्यत्वेपि पश्चात्प्रतिपाद्यत्वसंबन्धेन व्यवहार्यत्वमशब्दत्वरूपं व्यापकं साध्यम् । एवमीक्षणकर्तृत्वेन रूपेण प्रतिपाद्यत्वसंबन्धेन ब्रह्मव्याप्यं हेतुः । अतः साध्यत्वेपि व्याप्यत्वात् पूर्वं वचनं व्यतिरेकव्याप्तित्वाद्वा । सा च 'नियतधर्मसाहित्ये उभयोरेकतरस्य वा व्याप्तिः' इति सांख्यप्रवचनसूत्रादव्यभिचारविशिष्टा हेतुनिष्ठा साध्याधिकरणवृत्तिता । सूत्रार्थस्तूभयोः समव्याप्तिकयोः कृतकत्वानित्यत्वादिरूपयोः एकतरस्य विषयव्याप्तिकस्य धूमादेः नियतधर्मसाहित्येऽव्यभिचरितधर्मरूपे सामानाधिकरण्ये व्याप्तिः व्याप्तिशब्दः शिष्टैः प्रयुज्यत इति । अव्यभिचारस्तु यत्र यत्र हेतुस्तत्र तत्र साध्यं यत्र साध्याभावस्तत्र हेत्वभावः इति नियमः । सिषाधयिषायां सत्यां साधकत्वेनोपादीयमानत्वं हेतुत्वं, सिषाधयिषाविषयत्वं साध्यत्वं, घनगर्जितेन मेघानुमाने सिषाधयिषास्त्येव विनापि तं तथानुमानमानुभाविकमिति चेदस्तु तर्हि सिषाधयिषाविषयत्वयोग्यत्वात्साध्यत्वम् । एवं च वह्निमान् धूमादित्यादौ धूमनिष्ठं तादृशाव्यभिचारविशिष्टं वह्निसामानाधिकरण्यमस्तीति लक्षणसमन्वयः । धूमवान् वह्नेरित्यादावतिव्याप्तिवारणाय विशेषणदलम् । अयःपिण्डादौ वह्नेः साध्यव्यभिचारान्नातिव्याप्तिः । हेतुसाध्यपदे तु व्याप्त्यस्वरूपभूते यद्यपि तथापि सामानाधिकरण्यस्य ससंबन्धिकतया संबन्धिबोधनायोपात्ते विशेषाकाङ्क्षानिवृत्त्या

रश्मिः ।

विशेषणस्वरूपपरिनिष्ठायै विशेष्यम् । अव्यभिचरितं हेतोः साध्यमित्यलक्षणम् । व्याप्तेर्हेतुधर्मत्वात् । कथंचिद्गुणभूतत्वेन व्यवह्रियमाण आधेयोऽर्थो हेतुः । न चैवमव्याप्तिः । पर्वतीयधूमे महानसीयवह्निसामानाधिकरण्याभावादिति वाच्यम् । हेतुसाध्ययोर्हेतुतावच्छिन्नसाध्यतावच्छिन्नत्वाभ्यां विशेषणीयत्वात् । न च धूमावयवेषु धूमसत्त्वाद्वह्नेश्चासत्त्वादन्वयव्यभिचारः । समवायसंबन्धेन वह्न्यभाववति महानसादौ धूमसत्त्वाद्व्यतिरेकव्यभिचारश्च शङ्क्यः । हेतुतावच्छेदकसाध्यतावच्छेदकसंबन्धावच्छिन्नत्वाभ्यामपि तयोर्विशेषणीयत्वात् । नाप्येतत्क्षणीये धूमे पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टवह्निसामानाधिकरण्याभावादव्याप्तिरिति वाच्यम् । तत्र वैशिष्ट्यानवच्छिन्नत्वस्यापि विशेषणीयत्वात् । वस्तुतस्तु सिषाधयिषोदयानन्तरं हेतुसाध्यभावेन ततः पूर्वं तदभावात्तस्य वह्नेरसाध्यत्वेन तदसामानाधिकरण्येप्यदोषात् । सिषाधयिषोत्तरक्षणात्मकक्षणात्पूर्वक्षणत्वविवक्षयाऽव्याप्त्युद्भावनं तु काकदन्तविचारमनुहरति । आप्राकृतमापण्डितं च पूर्वोक्तरीतिकव्याप्तिज्ञानमात्रेणानुमितिदर्शनस्य सार्वजनीनत्वात् । एतादृशदर्शनेनैव वह्निघटोभयावच्छिन्नप्रतियोगिताकवह्न्यभाववति केवलवह्निदेशे धूमदर्शनेन व्यतिरेकव्यभिचारप्रासात्प्रसिद्धानुमाने व्याप्तिशङ्कापि निरस्ता वेदितव्या । व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नाभावस्थले साध्यदर्शनेन सविशेषणे हीति न्यायादभावस्योभयत्व एव विश्रान्तेश्च । ज्ञेयं वाच्यत्वादित्यादौ केवलान्वयि साध्यके हेतुनिष्ठा साध्यसमानाधिकरणताऽव्यभिचरितेति ध्येयम् । एवं सत्तावान् जातेरित्यत्रापि ज्ञेयम् । एवं च साध्यवदन्यावृत्तित्वं साध्यात्यन्ताभाववदवृत्तित्वं च नातिदुष्टम् । ब्रह्मणि ज्ञेयत्वाद्यभावेन सर्वत्रापि केनचिद्रूपेण ज्ञेयत्वाद्यभावेन प्रमेयत्वे प्रमेयत्वस्य वाच्यत्वे वाच्यत्वस्यानवस्थात्माश्रययोः यथासंभवं मियाऽभावेन च केवलान्वयिसाध्यकानुमानस्यैवाभावात् । मीमांसकानामपीदमिष्टम् । न चाव्याप्यवृत्तिसाध्यके कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वादित्यादौ साध्यात्यन्ताभाववदवृत्तित्वस्याव्याप्तत्वं शङ्क्यम् । दृष्टे कपिसंयोगे सिद्धसाधनत्वेनादृष्टे चाहेतुत्वेन तस्य दुरनुमानत्वात् । न च दृष्टेपि कपिसंयोगे सिषाधयिषयानुमितिसंभवात्तादृशस्थले सिद्धसाधनस्य दोषत्वात् । सदनुमानमेवेदं यथाहुः प्रत्यक्षेण परिकल्पितमप्यर्थमनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिका इतीति शङ्क्यम् । एतद्वृक्षत्वस्यैकव्यक्तिमात्रवृत्तित्वेनान्यत्र सहचारग्रहस्य व्याप्त्यनुग्राहकस्याभावेन मूलावच्छेदेन व्यभिचारज्ञानाद्व्याप्तिप्रतिबन्धात् । न चैवं संयोगे द्रव्यत्वादित्यादावपि सहचारग्रहाभावाद्व्याप्तिप्रतिबन्धो भवेदिति शङ्क्यं पक्षैकदेशे सहचारग्रहसत्त्वेनादोषात् । अस्तु व्यतिरेकव्याप्तिग्रहः परं तु सिषाधयिषा तु न भवत्येव । इच्छाया ज्ञानानुरूपकार्यत्वात् । अत एव ज्ञाते इच्छानुदयात् । तयाचानुमितप्रकारकमपि संयोगज्ञानात्पूर्वमभावात्कथमनुमित्सा । न च कपिसंयोगज्ञानमात्रमिच्छोदये प्रयोजकं न तु विचारणावच्छिन्नं तस्य च पूर्वं सत्त्वादनुमित्सोदय इति वाच्यम् । अयं घट इति ज्ञानादनुमित्सोदयप्रसङ्गात् । अतो यत्र पूर्वमनुमितिविषयत्वस्य यद्धेतुकत्वस्य च ज्ञानं तत्र सिद्धौ सत्यां सिषाधयिषा तया चानुमानं नात्र तथेति । महानसादिवह्न्यनुमितौ तथादर्शनादिति ध्येयम् । परं तु सत्तावान् जातेरित्यत्र साध्यवदन्यस्मिन् सामान्यादौ जात्यभावादव्याप्त्यभावेपि हेतुतावच्छेदकसंबन्धेन समवायेन वृत्तेरप्रसिद्धत्वादव्याप्तिरिति नातिदुष्टं लक्षणद्वयम् । एवं च कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वादित्यत्राव्याप्तिपरिहाराय यच्चिन्तामणौ प्रति-

'स इमाँल्लोकानसृजत' इति । 'स ईक्षाञ्चक्रे' । 'स प्राणमसृजत' इत्येवमादिषु सृष्टिवाक्येषु ब्रह्मण ईक्षा प्रतीयते ।

किमतो यद्येवम् । एवमेतत् स्यात् । सर्वव्यवहारप्रमाणातीतोऽपि ईक्षाञ्चक्रे लोकसृष्टिद्वारा व्यवहार्यो भविष्यामीति । अतो यथा यथा कृतवाँस्तथा तथा

भाष्यप्रकाशः ।

व्याप्तिर्बोध्यत इतीक्षतेर्हेतुत्वमित्यर्थः । एवं सर्वत्र हेतुशोधनप्रकारो बोध्यः । ननु प्रतीयतामीक्षा, तावता पूर्वोक्तविरोधस्य कथं परिहार इति पृच्छति किमतो यद्येवमिति । समादधते एवमित्यादि । तथाच ब्रह्मणः पूर्वोक्तरूपत्वस्येक्षायाश्च श्रुतिसिद्धत्वाच्छ्रौतत्वेनैकतरबाधस्याप्यनुचितत्वात् विरुद्धधर्माधारत्वस्य ब्रह्मणि भूषणत्वात् तस्यापि 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितात्', 'तदेजति तन्नैजति' इत्यादिश्रुतिसिद्धत्वादभिन्ननिमित्तोपादानवादमुपगच्छता तस्याप्यङ्गीकाराच्चैवमीक्षाकारसिद्धौ सुखेन सिद्ध्यति विरोधपरिहारे ब्रह्मणो विचार्यत्वस्यापि सिद्धि-

रश्मिः ।

योगिव्यधिकरणस्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिना सामानाधिकरण्यं व्याप्तिरिति प्रतियोगिव्यधिकरणो यः साध्यसमानाधिकरणात्यन्ताभाव इति प्रतियोगिव्यधिकरणत्वेनाभावो विशेषितस्तदपि मुधैव । तस्य दुरनुमानत्वात् । यदपि मञ्जरीकारः हेतुसमानाधिकरणा यावन्तस्ते साध्यसमानाधिकरणास्तत्त्वं व्याप्तिरिति । तदपि न रुचिरम् । यावत्त्वस्यानेकपदार्थघटितत्वेनापेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वरूपयावत्त्वाङ्गीकारेपि अपेक्षाबुद्धेरयमयमयमेते सर्वे इत्याकारकत्वेन तत्पदार्थविषयकतयानेकपदार्थघटितत्वानपायेन प्रतिपत्तिगौरवग्रासात् । यावत्त्वस्य व्यापकत्वरूपत्वेपि व्यापकत्वस्य तद्वन्निष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वरूपतया भावद्वयनिवेशेनोक्ततुल्यकक्षत्वादित्यलं पल्लवितेन । यद्यप्यत्र न विशेषस्तथापि सिद्धान्तादृतलक्षणबोधायेदम् । आत्मशब्दादित्यादिहेतुष्वतिदिशन्ति एवं सर्वत्रेत्यादि । अनुमानं तु ब्रह्म पूर्वं सर्वव्यवहारप्रमाणाद्यतीतमपि पश्चात्तद्विषयः । एवमीक्षितृत्वात् यन्नैवं तन्नैवं जीववदिति व्यतिरेकी हेतुः । न च केवलान्वयित्वमस्य । जीवस्यैवंप्रकारेण श्रुत्याद्यनुक्तत्वेन दृष्टान्ताभावाद् व्यतिरेकी हेतुरित्यत उक्तं शोधनप्रकार इति । पूर्वोक्तविरोधस्येति पश्चाद्व्यवहार्यत्वे स्वीकृते पूर्वपक्षोक्ताव्यवहार्यत्वविरोधस्येत्यर्थः । विरुद्धधर्मेति सर्वव्यवहारप्रमाणातीतोपि ईक्षांचक्रे लोकसृष्टिद्वारा व्यवहार्यो भविष्यामीति भाष्योक्तस्य तस्य । भाष्यार्थस्तु व्यवहाराश्च प्रमाणानि च व्यवहारप्रमाणानि सर्वाणि च तानि व्यवहारप्रमाणानि सर्वव्यवहारप्रमाणानि तेभ्योतीतः अतिक्रम्य गतः 'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि' इत्यादि केनोपनिषदा वागादीन्द्रियाविषयः स सर्वप्रमाणातीतः । व्यवहार इन्द्रियादिकार्यं तदतीतः । तत्रैकत्रेक्षतिर्हेतुः । गौणश्चेत्यादिसूत्रैः साधितः । स्वतन्त्रहेतूनां स्वाप्ययादीनां सर्वव्यवहारातीतत्वं साध्यं बोध्यम् । उपगच्छतेति सिद्धान्तिनेत्यर्थः । सिद्ध्यतीति सप्तम्यन्तमिदम् । अतो यथेत्यादिभाष्यं विवृ-

१. पर्वतत्वादयः ।

स्वयमेवोक्तवान् । पूर्वरूपं फलरूपं च सृष्टस्यांशपुरुषार्थत्वाय । ततश्च प्रमाणबलेनाविषयः, स्वेच्छया विषयश्चेत्युक्तम् ।

ननु सर्वप्रमाणविषयत्वे दूषिते केवलवेदविषयत्वं कथं सिद्धान्तीक्रियते । उच्यते । चक्षुरादीनां प्रामाण्यमन्यमुखनिरीक्षकत्वेन, न स्वतः । भ्रमाद्युत्पत्ति-

भाष्यप्रकाशः ।

स्त्वाद्ब्रह्मप्रकृतिबोधकत्वेन वेदान्तानामप्यबाधितार्थत्वात् तेषामपि विचार्यत्वसिद्धिरित्यर्थः । एवं करणकथनयोः प्रयोजनमाहुः पूर्वमित्यादि । स्वांशा जीवास्तदुपयोगिपुरुषार्थत्वं तेजःप्रभृतीनां भवत्वितीच्छया पूर्वं प्रथमतो रूपं प्रजादिशब्दवाच्यं शरीरं फलरूपं लोकादिकं च सृष्टम् । तथाचैतेषां पुरुषार्थत्वेन जीवानां स्वत्वार्थैवं कृत्वा तत्कर्तृतया फलदातृतया च स्वस्य व्यवहार्यत्वं च कृतवानिति तत्संपादनं प्रयोजनमित्यर्थः । तेन सिद्धमाहुः तत इत्यादि ।

अत्र प्रत्यवतिष्ठते नन्वित्यादि । केवलवेदविषयत्वं कथमिति सर्वप्रमाणानां तुल्यत्वेनाविशेषात् केवलवेदवेद्यत्वं ब्रह्मणः कयोपपत्त्येत्यर्थः । अत्र समाधातुमुपपत्तिमाहुः उच्यत इत्यादि । न हि प्रमाणानां प्रामाण्यं तुल्यम् । तथा सति शुक्तिरजतादिविषयकचाक्षुषादिभ्रमो न स्यात् । हेतुषु चाभासता न स्यात् । शब्देषु च वाक्यप्रामाण्याप्रामाण्यविभागो न स्यात् । अतश्चक्षुरादिमनोऽन्तानां तदुपजीविनां च प्रामाण्यं न स्वतः, किंतु परमुखनिरीक्षकत्वेना-

रश्मिः ।

ष्वन्ति स्म एवं करणेत्यादि । एवं सृष्टिकरणं वेदान्तेषु व्यासाद् भागवतात्तत्कथनं च तयोरित्यर्थः । तेजःप्रभृतीनामिति बृहदारण्यके दृप्तबालाकिब्राह्मणे 'स होवाच गार्ग्यः य एवासावादित्ये पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपासे' इत्यादि । यद्वा । छान्दोग्ये 'तत्तेज ऐक्षत' 'तदाप ऐक्षन्त' इति च पुरुषार्थत्वम् । तत्संपादनेति करणकथनसंपादनप्रयोजनमित्यर्थः । वेदान्तेषु ब्रह्मकृत्यबोधने पूर्वोक्तरूपेण व्यवहार्यत्वं कृतं न स्यात् । लोकानां शास्त्रादेव ब्रह्मज्ञानं भवतीति भावः । तत इत्यादीति यथा गोवर्धननाथजित् । आभासता न स्यादिति व्याप्तिज्ञानरूपप्रमाणकजन्यहेत्वाभासता धूमवान् वह्नेरित्यत्र न स्यात् । उपमानस्यामानान्तरत्वादनुक्तिः । सादृश्यातिदेशवाक्यार्थस्मरणसहकारेण चक्षुरादिनैव संज्ञासंज्ञिपरिच्छेदोपपत्तौ सादृश्यज्ञानादेर्मानान्तरत्वकल्पनस्यायुक्तत्वात् । अन्यथा घटाभाववति घटोपलब्धावपि इन्द्रियसंबद्धविशेषणतायाः सत्त्वेन घटाभावप्रतीतिः साक्षात्कारणायाभावग्रहे हेतुतया स्वीक्रियमाणाया योग्यसहकारिसंपन्नानुपलब्धेरुपयोग्यानुपलब्धेरपि मानान्तरत्वप्रसक्तेः । न चैवं सति परोक्षत्वं व्याहन्येतोपमितेरिति वाच्यम् । इष्टापत्तेः । न च चक्षुर्व्यापारापगमेपि जायमानत्वान्नैवमिति वाच्यम् । पूर्वं जातस्य ज्ञानस्य करणव्यापारोपरमेप्यनुपरमस्यानुभवसाक्षिकस्य सत्त्वात्पुनर्जननकल्पनस्यायुक्तत्वात् । उपेक्षान्यज्ञानस्य त्रिक्षणावस्थायित्वकल्पनस्याभ्युपगमैकशरणत्वात् । मानसं वा तदस्तु । अतिदेशवाक्याल्लक्षणत्वेन पूर्वं ज्ञातस्य ततः पदार्थस्फुरणेन स्फुरितस्य सादृश्यस्य संस्कारेण शब्दाभिव्यक्तौ दृष्टसंवादनिश्चितप्रामाण्यस्य च वाक्यस्य च सहकारेण मनसाप्ययं गवयपदवाच्य इति संज्ञासंज्ञिपरिच्छेदस्य प्रसिद्धपदसमभिव्याहृतवाक्यस्मरणसहकृतमनसा मधुकरादिशक्तिग्रहस्येवोपपत्तेः । तदुत्तरमेतत्पदवाच्यत्वेनैनं जानामीत्यनुव्यवसायेन मानसत्वनिश्चयाच्चेति । तत्रापि सादृश्यभ्रमो ज्ञेयः । चक्षुरादीनामिति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म अतश्चेति । तदुपजीविनामिति अनुमानादीनामित्यर्थः ।

प्रसङ्गात् । सत्त्वसहितानामेव चक्षुरादीनां प्रामाण्यात् । अतो निरपेक्षा एव भगवन्निःश्वासरूपवेदा एव प्रमाणम् । संकेतग्रहस्तु वैदिक एव वेदविद्भिः कृतः ।

भाष्यप्रकाशः ।

न्याधीनम् । यदधीनं स तु सत्त्वगुण एव प्रकाशकत्वात् । तत्सहितानामेव तेषां प्रामाण्यात् । तस्य यदा गुणान्तरेणोपमर्दस्तदानुग्राहकाभावेन तेषां नैर्बल्यादप्रामाण्यमेव । सत्त्वशुद्धिस्तु वेदोदितयथावस्थितसाधनैरेवेति तेषां सर्वेषां सुदूरवर्तिनोऽपि वेदस्यैव स्वसार्थकत्वार्थमपेक्षा । वेदस्य तु न कथमपि तदपेक्षा । जैमिनीयादिनये तस्यापौरुषेयत्वात् । काणादादिनये चेश्वरजन्यत्वात् । अतोऽन्यनिरपेक्षा वेदान्तनये भगवन्निःश्वासरूपत्वेनैव सिद्धा आस्तिकमात्रमते अविप्रतिपन्ना वेदा एव प्रमाणम् । अतः सर्वप्रमाणाविषयत्वेऽपि सर्वनिरपेक्षत्वाद्भगवन्निःश्वासरूपत्वात् सर्वास्तिकोपजीव्यत्वाच्च वेदैकविषयत्वं सिद्धान्तीक्रियते । तथा चैषा युक्तिरित्यर्थः । नन्वेवंरूपत्वेऽपि वेदस्य न सर्वनिरपेक्षत्वं शब्दत्वात् । शब्दस्य बोधकतायाः पदपदार्थसंबन्धग्रहाधीनत्वात् तद्ग्रहस्य च प्रयोजकप्रयोज्यव्यवहाराधीनत्वात्, वस्तुतस्तु ब्रह्मणोऽव्यवहार्यत्वेन तत्र संबन्धग्रहस्य दौर्घट्यात् बोधकताया अभावेन वेदविषयत्वसाधनमप्यनर्थकमेवेत्याशङ्कायामाहुः संकेतेत्यादि । नैवमबोधकत्वं सापेक्षत्वं वा शङ्कनीयम् ।

रश्मिः ।

एवेति अनुभवसाक्षिकत्वादेवकारः । सत्त्वेत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति यदधीनमिति । तेषामिति चक्षुरादीनामित्यर्थः । वेदोदितेत्यादि । 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः' इत्यभिप्रेतश्रुत्येकदेशप्रामाण्यात्तथेत्यर्थः । अतो निरपेक्षा इति भाष्यं विवृण्वन्ति अतोन्येति । अत्र विशेषणसंगतैवकारद्वयमयोगव्यवच्छेदकं शङ्खः पाण्डुर एवेति । तथा च भगवन्निःश्वासरूपवेदाः निरपेक्षत्वायोगव्यवच्छेदवन्तः प्रमाणं भगवन्निःश्वासरूपवेदत्वायोगव्यवच्छेदवदिति बोधो भाष्ये । पदपदार्थेति वाक्ये तु आकाङ्क्षादिग्रहाधीनापि । प्रयोजकेत्यादि पूर्वतन्त्रे प्रथमे 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इत्यधिकरणे प्रयोजकस्य तत्प्रयोज्यस्य च पुरुषस्य यो व्यवहारो गामानयेति वाक्ये गवानयनरूपमध्यमप्रवृत्तिरूपस्तमवलोक्य सर्वैर्गोशब्दस्य सास्नादिमति पिण्डे संगतिर्गृह्यते इति तदधीनत्वमिति स्थितम् । तत्रेयं प्रनाडी गामानयेति प्रयोजकवृद्धेनोक्तः प्रयोज्यवृद्धस्तदर्थमवगत्य गामानयति तत्पश्यन् बालस्तया क्रियया तस्य प्रयत्नमनुमिनोति प्रयत्नवान् क्रियायाः यथाहमिति तेनेच्छामिच्छावान् प्रयत्नाद्यथाहमित्यनुमिनोति तदनन्तरं गोविषयकज्ञानवान् तद्विषयकेच्छाया यथाहमितीच्छया तद्विषयकं ज्ञानमनुमिनोति ततस्तत्र हेत्वाकाङ्क्षायामुपस्थितत्वाच्छब्दमेव कारणत्वेन कल्पयति ततो गवादिपदानां प्रत्येकमावापोद्वापाभ्यां गोपदं गोधीजनकमित्यादि कल्पयति क्लृप्ते च तस्मिन्नतिप्रसङ्गभङ्गभिया तज्जननानुकूलं शक्तिरूपं संबन्धं कल्पयति तदुत्तरं च कचिद्व्यवहारात् कचिदुपमानात् कचिच्छब्दान्तराकरणादिरूपाद्भवतीति । संबन्धग्रहस्येति प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावस्य । आशङ्कायामिति शांकराशङ्कायामित्यर्थः । इदानीं ब्रह्मलोको व्यापकः सर्वोपरि वरीवर्ति 'अथ. यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वा विजिज्ञासितव्यम्' इतिश्रुतेः । अग्रे च तस्य दुरत्वसंपादनार्थं किं तत्र वर्तते यदन्वेष्टव्यं यद्वा विजिज्ञासितव्यमिति प्रश्ने 'यावान् वायमाकाशः तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' इत्या-

भाष्यप्रकाशः ।

यतः सदेवेत्यादिसंदर्भ एव तेजःप्रभृतिसृष्ट्युत्तरमेव श्राव्यते । 'तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्याण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्' इति । 'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इति । नहि तदानीं वैदिक्या इतरा कापि सृष्टिर्न वा देवतिर्यग्मनुष्या इतरे पुरुषाः, न वा भगवतोऽन्यः कश्चित्संकेतक इति प्रथमतः संकेतग्रहो वैदिक एव

रश्मिः ।

दिनाग्निर्वायुः सूर्यश्चन्द्रविद्युन्नक्षत्राण्युक्त्वा 'यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितम्' इति श्राव्यते । अनित्यतानिवृत्त्यै च ब्रह्मपुरे जीर्णे ध्वस्ते वा तदाश्रितं किमवशिष्यते इति प्रश्ने 'नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यते एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन् कामाः समाहिताः एष आत्मा अपहतपाप्मा' इत्यादि श्राव्यते । तेन ब्रह्मपुरशब्देन शरीरं परामृशन्तः परास्ताः । अत्र तु विरुद्धसर्वधर्माधिकरणमित्युपपन्नतरमेतत् । उपबृंहितं च द्वितीये—

'तस्मै स्वलोकं भगवान् सभाजितः संदर्शयामास परं न यत्परम् ।
व्यपेतसंक्लेशविमोहसाध्वसं स्वदृष्टवद्भिर्विबुधैरभिष्टुतम् ॥
प्रवर्तते यत्र रजस्तमस्तयोः सत्त्वं च मिश्रं न च कालविक्रमः ।
न यत्र माया किमुतापरे हरेरनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिताः' ॥ इति ॥

किंच परिदृश्यमान आदित्यलोके नित्यत्वमस्मदाद्यपेक्षया दृष्टम् । शरीराणां तैजसत्वेन उत्कर्षश्चेति नैयायिका अप्यनुमन्यन्ते । ततोऽप्युत्कृष्ट आनन्दात्मा ब्रह्मलोकोऽनुमास्यतेऽतो ब्रह्मपुरं निःसंदिग्धं गर्जति सा वैदिकी सृष्टिरस्याः प्रपञ्चात्मिकायाः व्यतिरिच्यत एवैतत्सर्वं हृदि कृत्वाहुः यतः सदेवेत्यादि । तेजःप्रभृतीत्यादि 'तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इति । 'ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहि' इति ईक्षाश्रावणात् तेजोपां व्यस्तानां ब्रह्मार्चनताबोधनेनोपलक्षणस्य सदेवेत्यत्र वारणार्थं तेजःप्रभृतिसृष्ट्युत्तरमेव श्राव्यत इत्यर्थः । एतद्भन्थप्रयोजनं सदेवेत्यत्रोपलक्षणवारणमुक्तं बीजभेदात्सृष्ट्योर्भेद उक्तः । तदानीमिति ब्रह्मांशसच्चित्त्वायामना- नत्वेनोपलभ्यमानेदानींतनसृष्टेः सदात्मकतापत्तिकाले वैदिक्या ब्रह्मलोकरूपायाः इतरा कापि सृष्टिर्न वक्तुं शक्येत्यर्थः । संकेतग्रह इति साधुत्वापरपर्याया अनादिवाचकत्वरूपाया अर्थबोधाविर्भावकशक्तेर्ग्रह इत्यर्थः । अन्यत्र ब्रह्मणः संकोचस्य शक्तित्वम् । सा च शक्तिरतिरिक्तेति मीमांसकाः । तदेव सिद्धान्तेऽप्यविरुद्धत्वात् । न त्वतिरिक्तशक्तिकल्पने गौरवादर्थसापेक्षं शब्दस्वरूपमेव वाचकत्वापरनामकं शक्तिः कारणत्वादिवदिति वैयाकरणोक्तमादरणीयमिति चेन्न । आविर्भावकशक्तिसत्त्वेन तस्या एवार्थबोधार्थं शब्देऽपि स्वीकारेणातिरेकस्यादोषत्वात् । तदाधारत्वस्य च बोधरूपकार्यादेव सिद्धत्वात् । ननु केयमाविर्भाविका शक्तिरिति चेन्न । उपादानस्य कार्यस्य व्यवहारगोचरत्वसंपादिका शक्तिः सेति । आविर्भावस्य व्यवहारयोग्यतात्मकत्वात् । न च किमनयेति शङ्क्यम् । तदाधारत्वस्य कारणलक्षणत्वात् । ननु अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्तित्वं कारणत्वं तन्न । पूर्ववर्तित्वस्य कार्यसापेक्षत्वात् कार्यस्य च नियतपश्चाद्भावित्वात् अन्योन्याश्रयग्रासात् । अनन्यथासिद्धत्वस्यान्यथासिद्धभिन्नत्वेनान्यथासिद्धेश्चान्यत्र गृहीतकारणताकत्वरूपत्वेन तत्राप्यस्यैव कारणलक्षणस्य वक्तव्यत्वादात्माश्रयापत्तेश्च । कौर-

भाष्यप्रकाशः ।

प्रपञ्चे वेदविद्भिर्भगवच्छिक्षया वा भगवद्दत्तस्वमनीषया वा भगवदिच्छामात्रेणैव वा कृत इति तथा गृहीतसंबन्धस्य वेदस्य नाबोधकत्वम्, न वा लौकिकसापेक्षत्वमित्यर्थः। एवमेव पुरुषसूक्तेऽपि सहस्रशीर्ष्णो महापुरुषाधिराजस्तन्मध्यगानां च सृष्ट्यादिकं श्रावयित्वा,

'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसस्तु पारे ।
सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते' ॥

इत्यादि मन्त्रत्रयं पठ्यते । तत्रास्मिन् मन्त्रे हेतुः पूर्वपक्षनिरासे । अस्मिन् प्रपञ्चेनादित्वं परमाणुजन्यत्वगुणजन्यत्वादिशङ्का महति पुरुषे च शबलत्वादिशङ्का न कार्या । तत्र हेतुः, 'तमसः पारे' इति । अस्य पदद्वयस्य महापुरुषे सर्वेषु रूपेषु च देहलीदीपन्यायेन संबन्धः। यदास्त इति यत्पदं हेतुबोधकम् । तेनास्मिन् मन्त्रे छान्दोग्यवदेव सर्वं सृष्टिस्वरूपमभिवदितृत्वेन भगवत एव शिक्षकत्वं च बोधितम् । ततो द्वितीये,

'धाता पुरस्ताद् यमुदाजहार शक्रः प्रविद्वान् प्रदिशश्चतस्रः ।
तमेवंविद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था अयनाय विद्यते' ॥

इति मन्त्रे धातुः प्रथमं तद्बोद्धृतया तद्वक्तृत्वं शक्रस्य दिशां देवतानां श्रोतृत्वं चोक्त्वा उत्तरार्धे केवलस्यैव सर्वकर्तृत्वेन सर्वात्मकत्वेन यद्वेदनं तस्य फलमाह । ततस्तृतीये,

रश्मिः ।

वाच्च । नापि कारणं कारणमित्यनुगताकारप्रतीतिसंज्ञिकजातिविशेषस्तत् । अभावेपि तस्याङ्गीकारेण जातेरेवाशक्यवचनत्वात् । अखण्डोपाधित्वं त्वगतिकगतिः । नापि कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकित्वं तत् । मूलकारण आकाशादौ च व्यभिचारात् । तत्तन्मते तस्य तस्य नित्यविभुत्वेन कालतो देशतश्चाव्यतिरेकात् । नन्वीश्वरेच्छासंकेतः । नैवम् । शब्दवृत्तित्वाभावात् । संबन्धान्तरस्याप्रयोजकत्वात् । अतस्तद्देशकालविभेदेनास्माभिरुच्चार्यमाणोयं शब्द इममेवार्थं बोधयतु न त्वन्यमितीश्वरेच्छाकृतनियमशक्तिसंकोच एव संकेतः । तत्रत्यानामपि न सर्वदा ब्रह्म प्रत्यक्षमिति ध्वनयन्तः पक्षान्तरमाहुः भगवद्दत्तेत्यादि । पूर्वं भगवद्दीक्षयेत्यत्राप्तवाक्याच्छक्तिग्रह उक्तः । इदानीं विवृतेर्वदन्तीत्युच्यते यत्तदुच्यते भगवद्दत्तमनीषां विना विवृत्यसंभवात् । वक्ष्यमाणभगवदिच्छामात्रेणेत्यत्र व्याकरणाच्छक्तिग्रहः । 'अनागतमतीतं च' इतिवाक्याद्वेदविदां व्याकरणदर्शनेच्छाविषयत्वात् । न च विपरीतं कुतो न स्यादिति वाच्यम् । मात्रप्रत्ययेन भगवद्दत्तमनीषाव्यवच्छेदात् । दत्तमनीषाया इच्छाविषयमनीषातिरिक्तत्वात् । महाराजाधिराजत्वेनोपपत्तेः । ब्रह्मलोकेप्युत्तममध्यमनिकृष्टव्यवहारोस्तीत्यपि सूचितमनेन । अन्यथा लीलानुपपत्तेः । तदुक्तम्—'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये' इति । पूर्वपक्षेति 'सहस्रशीर्षा' इति ग्रन्थस्मारितपूर्वपक्षनिरासे । अस्मिन्निति परिदृश्यमानेपीत्यर्थः । न कार्येति विधेरपि सृष्टसृष्टत्वादस्य प्रपञ्चस्य तत्सृष्टसृष्टसृष्टत्वाच्च मीमांसकनैयायिकसांख्यैर्न कार्येत्यर्थः । संबन्ध इति यतस्तमसोऽविद्यायाः पारे धीरः सर्वाणि रूपाणि विचित्य नामानि कृत्वाभिवदन्नास्तेऽतस्तमसः पारे महान्तं पुरुषमादित्यवर्णमेतमहं वेदेत्यर्थान्तयेत्यर्थः । प्रकर्षश्चाधिदैविकतेत्याहुः देवतानामिति । प्रविद्वानित्यस्यार्थमाहुः श्रोतृत्वमिति । एवमित्यस्यार्थमाहुः सर्वकर्तृत्वेनेत्यादि । फलमिति अमृत इह भव-

आकृतिमात्रार्थं लोकापेक्षा । अनधिगतार्थगन्तृ च प्रमाणं, लोकानधिगत इत्यर्थः । धर्मब्रह्मणोरलौकिकत्वं सिद्धमेव । लौकिको व्यवहारः सन्निपात-

भाष्यप्रकाशः ।

'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्ते यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः' ॥

इतिमन्त्रे तादृशे यज्ञे सिद्धानामेव धर्माणां प्राथम्यं तत्फलं चाह । तेनापि पूर्वोक्त एवार्थः सिद्धः । एतदेव श्रीभागवतद्वितीयस्कन्ध उपबृंहितम् ।

'यदास्य नाभ्यान्नलिनादहमासं महात्मनः ।
नाविदं यज्ञसंभारान् पुरुषावयवादृते ॥
तेषु यज्ञस्य पशवः सवनस्पतयः कुशाः' । इत्यारभ्य,
'तमेव यज्ञपुरुषं तेनैवायजमीश्वरम्' ॥

इत्यन्तेन । अतो वेदैकसमधिगम्यत्वसाधनं नानर्थकमिति । ननु भवत्वेवं तदानीन्तनानां, तावतेदानीन्तनानां कथं संकेतग्रह उपायाभावात् । तथा सतीदानीं तु स दोषस्तदवस्थ इत्यत आहुः आकृतीत्यादि । आकृतिमात्रार्थमिति आकृत्यवधारणार्थम् । सिद्धमेवेति तव मतेऽपि सिद्धमेव । तथाच यथा दारवमार्तिकाद्युपकरणे गृहीतसंकेताः सौवर्णेऽपि तस्मिंस्तया आकृत्या संकेतमवधारयन्ति, तथात्राप्तवाक्याद् यादृशो लौकिकस्तादृशे वैदिकेऽपि प्रपञ्चे संकेतमवधारयिष्यन्तीतिबोधनार्थम्, 'यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन' इत्यादीनां लौकिकदृष्टान्तानां श्रुतावप्यादरणादिति लौकिकानां पुरुषाणामेव परापेक्षत्वं, न वेदस्य । यदि चैवमपि सापेक्षत्वमेवेति विभाव्यते तदा तु धर्मब्रह्मणोरपि बोधने लोकप्रसिद्धपदादिसमभिव्याहारसापेक्षत्वादनपेक्षतायै तिलाञ्जलिरेव प्रदीयताम् । तथानधिगतार्थगन्तृत्वस्यापि । प्रसिद्धपदसमभिव्याहारशून्यतायामबोधकताया एवापत्तेर्धर्मोऽपि न दुष्येतैव । तथा निषेधावधिभूतब्रह्मस्वरूपमपि लोकप्रसिद्धमर्थमेव निषिध्य बोध्यत

रश्मिः ।

तीत्यमृतरूपं फलमित्यर्थः । तानीत्यस्य यज्ञेन पुरुषावयवेन यजनं यत्तत्परामर्शकत्वात्तदर्थमाहुः सिद्धानामेवेति । तत्फलमिति महिमानो भगवद्विभूतिरूपाः नाकं स्वर्गं सचन्ते 'षच समवाये' संभजन्तीति धर्मफलमित्यर्थः । पूर्वोक्त इति वैदिक्येव सृष्टिर्वेदविद एव पुरुषा भगवानेव शिक्षक इति वैदिकसृष्टौ वेदशब्दानां संकेतग्रह इत्युक्त इत्यर्थः । 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त' इत्यं-शमुपबृंहन्ति एतदेवेत्यादि । स दोष इति संकेताग्रहरूपदोष इत्यर्थः । आकृतीति 'मात्रं कार्त्स्न्येऽवधारणे' इति कोशात् । तव मत इति पूर्वोक्तलक्षणाङ्गीकर्तुर्मीमांसकशांकरादेर्मतेपि । आप्तवाक्यादिति तेन पूर्वोक्ता प्रनाडी संगृहीतेति बोधितम् । प्रस्थानरत्नाकरे तु प्रगल्भातिमात्रमनुपादाय प्रत्यक्षविरोधो दत्त इत्यदोषः । आदरणादिति एतेनैवकारो बहुश्रुत्युपष्टम्भत्वाल्लौकिकसिद्धत्वव्यवच्छेदकः । परापेक्षत्वमिति लौकिकपदेष्वाकाङ्क्षादिरूपपरापेक्षत्वमित्यर्थः । वेदे पुरुषाभावादाहुः वेदस्येति । एवमपीति आकृतिमात्रार्थे लोकापेक्षायामपीत्यर्थः । निषेधावधीति निषेधश्चासाववधिरिति कर्मधारयः तद्भूतेत्यर्थः । निषेधशेषभूतब्रह्मस्वरूपमि-

१. वैदिक्येव सृष्टिः वेदविदेव पुरुषः भगवानेव शिक्षकः इति वैदिकसृष्टौ वेदशब्दानां संकेतग्रह इति.

रूपत्वात् पुरुषार्थासाधक एव । तर्हि शब्दमात्रस्य कथं ग्रहणम् । वेदव्याख्यातृवाग्विषयत्वादिति ब्रूमः ।

भाष्यप्रकाशः ।

इत्यस्ति तद्बोधनेऽपि लोकापेक्षेति । तदभावे तदपि न युज्येत । अथ तत्र प्रसिद्धान्यपि पदादीनि वैदिकान्येवेति न दोष इति चेत् तर्ह्यत्रापि व्यवहारं वैदिकमेवानुसंधत्स्व । इदानीं विधूयमानेऽपि तस्मिन् भगवता,

'मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते ह्यहम् ।
एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम् ।
मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति' ॥

इति श्रीभागवते कथनात् । अतो धर्मब्रह्मबोधन इव वैदिकप्रपञ्चबोधने आकृतिमात्रार्थं लोकापेक्षायामपि न दोष इत्यर्थः । तदेतदुक्तं, सिद्धमेवेत्यन्तेन । नन्वेवं सति लौकिकव्यवहारस्याप्यादरे को दोष इत्यत आहुः लौकिक इत्यादि । एकादशस्कन्धे,

'सन्निपातस्त्वहमिति ममेत्युद्धव या मतिः ।
व्यवहारः सन्निपातो मनोमात्रेन्द्रियासुभिः' ॥

इति भगवता प्राकृतगुणान् प्रकृत्य मनआदिव्यवहारस्य सन्निपातत्वकथनाल्लौकिकव्यवहारस्य सन्निपातकार्यत्वेनाऽप्रामाणिकत्वात् पुरुषार्थासाधक इत्यतो नाद्रियत इत्यर्थः । एवं ब्रह्मणो वैदिकव्यवहारविषयत्वमसहमानश्चोदयति तर्हीत्यादि । यदि सूत्रकृत एवं ब्रह्मणो वैदिकव्यवहारविषयत्वमभिप्रेतं स्यात् तर्हि शब्दमात्रस्य नाशब्दमित्यनेन कथं ग्रहणं कुर्यात् । नावेदं, नावेदान्तमित्येव वदेत् । अतो नायं सूत्रार्थ इत्यर्थः । अत्र समादधते वेदेत्यादि । 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि' इति मैत्रेयीब्राह्मणे श्रावणाद् वेदव्याख्यातृवाचामपि तथात्वेन ब्रह्मणस्तद्विषयत्वमपि सूत्रकृतोऽभिप्रेतमित्यतः शब्दशब्दग्रहणमिति ब्रूमः । तथा चैवमभिप्रेतत्वादयमेव सूत्रार्थो, नान्यः । सांख्यनिरा-

रश्मिः ।

सार्थः । तदभाव इति लोकाभावे । तदपि निषेधावधिप्रपञ्चस्वरूपमपीत्यर्थः । दोष इति सापेक्षत्वलक्षणः । तत्रेति वेद इत्यर्थः । सिद्धमेवेत्यन्तेनेति । भाष्ये । अनधिगतेति अनधिगतो योऽर्थो यागब्रह्मात्मकः तस्य गन्तृत्वप्रतिपादकत्वेन प्रापकत्वं प्रमाकरणत्वं तु नोक्तमनधिगतार्थप्रमाकरणत्वेन संशयविपर्यासकरणत्वाभावापत्त्या संशयविपर्यासप्रतिपादकवेदेऽप्रामाण्यप्रसङ्गात् । अधिगतार्थगन्तृत्वं वेदभागेऽपि पुनर्दर्शने भवति तद्वारणायाहुः लोकानधिगत इति । यागब्रह्मणोः पुनः पुनर्ज्ञानेऽपि वेदाधिगतत्वेऽपि लोकानधिगतत्वान्नाव्याप्तिरित्यर्थः । इदं लक्षणं दूष्यत्वेन जयराम्यामपि शिरोमणिटीकायामादृतम् । दूषणं तु लोकानधीति भाष्याभासोक्तम् । परिहारस्तु भाष्यम् । प्रकृते । अप्रामाणिकत्वादिति द्वैतापादकत्वेन द्रव्याद्वैतप्रमाऽजनकत्वात्तथा । तथात्वेनेति ब्रह्मप्रतिपादकत्वेनेत्यर्थः । नान्य इति अशब्दशब्दोऽत्र प्रकृतिवचन इति शंकराचार्यप्रभृतयः । सोऽन्यः सूत्रार्थः । स नेत्यर्थः । एवकारव्यवच्छेद्योऽप्ययमर्थः । अन्यैः सांख्यमत्र निरस्तमित्युक्तम् । तस्यानतिप्रयोजकत्वे हेतुमाहुः सांख्येत्यादि ।

एतेन 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इत्यपि समर्थितम् । तस्मात् सृष्ट्यादिप्रतिपादका अपि वेदान्ताः साक्षाद् ब्रह्मप्रतिपादका इति सिद्धम् ॥ ४ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

करणस्याग्रे आनुमानिकाधिकरणे करिष्यमाणत्वेनात्र तत्प्रयोजनाभावात् । अतो गृहप्रविष्टचौरतुल्यस्य मिथ्यावादिन एव निराकरणायेदं सूत्रमित्यर्थः । नन्वेवं सति सूत्रत्वव्याख्यानत्वादीनां सूत्रान्तरादिष्वपि सत्त्वाद् तद्व्याख्यानादिकमपि कुतो न संगृह्यत इति चेद्, उच्यते ।

'किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत् ।
इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद्वेद कश्चन' ॥

इत्येकादशस्कन्धे 'वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्' इति गीतायां च भगवद्वाक्याद् यथावस्थितवेदार्थवेत्ता भगवानेव । स तु, मां विधत्त इत्यादि, 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' इति च वक्ति । तथा,

'वदन्ति कृष्ण श्रेयांसि बहूनि ब्रह्मवादिनः ।
तेषां विकल्पप्राधान्यमुताहो एकमुख्यता' ॥ इत्युद्धवप्रश्ने,
'कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता ।
मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः ॥
तेन प्रोक्ता च पुत्राय मनवे पूर्वजाय सा ।
ततो भृग्वादयोऽगृह्णन् सप्त ब्रह्ममहर्षयः ॥
तेभ्यः पितृभ्यस्तत्पुत्रा देवदानवगुह्यकाः ।
मनुष्याः सिद्धगन्धर्वाः सविद्याधरचारणाः ॥
किंदेवाः किन्नरा नागा रक्षःकिंपुरुषादयः ।
बह्व्यस्तेषां प्रकृतयो रजःसत्त्वतमोभुवः ॥
याभिर्भूतानि भिद्यन्ते भूतानां मतयस्तथा ।
यथाप्रकृति सर्वेषां चित्रा वाचः स्रवन्ति हि ॥
एवं प्रकृतिवैचित्र्याद्भिद्यन्ते मतयो नृणाम् ।
पारंपर्येण केषांचित् पाषण्डमतयोऽपरे ॥
मन्मायामोहितधियः पुरुषाः पुरुषर्षभ ।
श्रेयो वदन्त्यनैकान्त्याद् यथाकर्म यथारुचि' ॥ इत्याद्याह,

अत्रागृह्णन्नित्यस्य किंपुरुषादय इत्यन्तं पृथक्संबन्धः । बह्वीनां प्रकृतीनां चित्रवाङ्निर्गमहेतुत्वम् । शेषं तु स्फुटमेव । तेन भगवदुक्तिविरुद्धस्य वेदव्याख्यानत्वप्रतीतावपि तस्य व्याख्यानत्वाभाव एव सिद्ध इति तन्न संगृह्यत इत्यवधेहि । एवं शब्दशब्दोक्तिं साधयित्वा तेन सिद्धमाहुः एतेनेत्यादि । एवं वैदिकशब्दप्रतिपाद्यत्वसमर्थनेन मनसैवानुद्रष्टव्यमिति श्रुतिसिद्धं कामवि-

रश्मिः ।

अग्र इति चतुर्थपाद इत्यर्थः । चित्रवागिति वाचश्च वेदव्याख्यानरूपा ज्ञेयाः । एतेनेति अर्थ उक्तः । कामपदं क्रोधोपलक्षकम् । वेदव्याख्यातृवाग्विषयत्वेन तत्साध्यस्वारस्येन ।

स्यादेतत् । कर्तृत्वमकर्तृत्वं च वेदे प्रतीयते ब्रह्मणः । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते', 'स आत्मानꣳ स्वयमकुरुत,' 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्,' 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इत्येवमादिवाक्येषु । तत्र द्वेधा निर्णयः संभवति । सर्वभवनसमर्थत्वाद्विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वेन, अन्यतरबाधाद्वा । अलौकिकापेक्षया लौकिकस्य जघन्यत्वात् कर्तृत्वादेर्लोकसिद्धत्वात् कर्तृत्वबाध एव युक्तः । ईक्षत्यादिकं तु प्रकृतिगुणसंबन्धादपि ब्रह्मणो युज्यते । तस्मादलौकिकसर्वभवनसमर्थत्वादिकल्पनापेक्षया लौकिक एवान्यतरबाधो युक्तः । ततश्च सत्यस्वरूपादन्यदेवैतदिति स्वयमेवाशङ्क्य परिहरति सूत्रकारः ।

भाष्यप्रकाशः ।

वर्जितातिशुद्धमनसानुद्रष्टव्यमिति समर्थितम् । अपिशब्दात्, 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्' इत्यादीनामपि संग्रहः । एवं व्यवस्थया विरोधपरिहारेण ब्रह्मणः सर्वप्रमाणाविषयत्वतद्विषयत्वयोः समर्थनेन यत् सिद्धं तन्निगमयन्ति तस्मादित्यादि । एवं ब्रह्मणोऽलौकिकप्रमाणगम्यत्वाद्वेदान्तानां ब्रह्मप्रतिपादकत्वेन विचारणीयत्वं सिद्धमित्यर्थः ॥ ४ ॥

अतः परं, गौणश्चेन्नात्मशब्दादिति द्वितीयं सूत्रमवतारयन्ति स्यादेतदित्यादि । कर्तृत्वमकर्तृत्वं चेति चकारादुपादानत्वमनुपादानत्वं च । अत्र पूर्वश्रुतौ हेतुत्वमात्रं प्रतीयते । तत्प्रकारान्तरेणापि संभवतीत्यतो द्वितीयश्रुत्युपन्यासः । तत्र कर्तृत्वं स्फुटमिति तद्विरुद्धं निष्क्रियत्वं शान्तत्वं च । तृतीयश्रुतौ तथैवोपादानत्वविरुद्धं निष्कलत्वं निरवद्यत्वं च । चतुर्थ्यामसङ्ग इत्यनेनासक्तेः संसर्गस्य च निषेधः क्रियां विकारित्वं च विरुणद्धि । युक्त इति उत्पत्तिशिष्टोत्पन्नशिष्टन्यायेनोपजीव्योपजीवकभावेन च बुद्ध्यावारोहाद्युक्तः । एतदिति शबलं स्वरूपम् ।

रश्मिः ।

समर्थितमिति न यत्र मनो निविशत इतिवाक्येन मनोऽविषये मनसैवेति बृहदारण्यकविरुद्धमतो विमतं ब्रह्म वेदो व्याख्यातृमनोविषयं वेदव्याख्यातृवाग्विषयत्वात् । अस्मदादिवाग्विषयवत् । तथा च श्रुतिः 'यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति' इति । एवं समर्थितमित्यर्थः । भक्तेर्दुर्लभत्वादप्रकरणत्वाच्च । 'भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्र फलभोगनैराश्येनामुष्मिन्मनःकल्पनमेतदेव च नैष्कर्म्यम्' इतिश्रुतेर्विषयः । अत एवाहुः अपीति । अत्र धीरत्वेन प्रत्यगात्मदर्शनत्वे कार्यकारणभावः सोऽपि भक्तिमार्गविषयः । विवेकधैर्याश्रयग्रन्थस्य भक्तिमार्गीयत्वात् । आदिशब्देन 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' इतिश्रुतिः मैत्रेयीब्राह्मणस्थत्वाद्भक्तिमार्गीयत्वम् । एवं 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यत्र सर्वात्मभावप्रकरणीयत्वात् । तस्मादुक्तश्रुतिरत्रेति ज्ञेयम् । व्यवस्थेति प्रमाणबलेनाविषयः स्वेच्छया विषयः । ब्रह्मप्रतीति स्वरूपलक्षणवन्निर्वाहकसंगत्या साक्षाद्ब्रह्मप्रतिपादकत्वेनेत्यर्थः । तेन चिद्रूपे लक्षणाव्याप्तिः परिहृता । तेनैव प्रकृतिपरमाण्वादावतिव्याप्तिरपि निवारिता ॥ ४ ॥

अवतारयन्तीति प्रसङ्गसंगत्यावतारयन्तीत्यर्थः । प्रकारान्तरेणेति निमित्तत्वमात्रेणेत्यर्थः । उत्पत्तिशिष्टेत्यादि द्वितीयस्य द्वितीयपादे 'गुणश्चापूर्वसंयोगे वाक्ययोः समत्वात्' इतिसूत्रे वैश्वदेव्यामिक्षेति यागं विधायाम्नायते वाजिभ्यो वाजिनमिति । तत्रोत्पत्त्यामिक्षारूपद्रव्ययुक्तं कर्मावधारितमिति न तत्र वाजिनरूपद्रव्यान्तरसंबन्धापेक्षेति वाजिनं तत्र प्रवेशमलभमानं सत् कर्म भिनत्ति इति स्थितम् । तेन न्यायेनेत्यर्थः । उपजीव्येत्यादि एतच्च—

'उपजीव्यत्वतः श्रौतवाक्यैश्चान्यपरत्वतः । अन्तरङ्गत्वतश्चापि निर्विशेषं निरूप्यते' ॥

इत्यादिपूर्वपक्षग्रन्थे विद्वन्मण्डने स्फुटम् । एतदितीति स्यादेतदिति भाष्यान्वय इत्यर्थः ।

गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॥ ५ ॥

ईक्षत्यादियुक्तः परमात्मा गौणः प्रकृतिगुणसत्त्वसंबन्धवानिति चेन्न तथा वक्तुं न शक्यते । कुतः । आत्मशब्दात् । 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' इत्युपक्रम्य, 'स ऐक्षत' इत्युक्तम् । आत्मशब्दः पुनः सर्वेषु वेदान्तेषु निर्गुणपरब्रह्मवाचकत्वेनैव सिद्धः । तस्यैव जगत्कर्तृत्वं श्रुतिराह । ननु चोक्तमन्यतरबाधो युक्त इति । न युक्तः । स्वातन्त्र्याभावेन सगुणस्य कर्तृत्वायोगात् । वेदाश्च प्रमाणभूताः । ततः सर्वभवनसामर्थ्यमेव श्रुतिबललभ्यमङ्गीकर्तव्यम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॥ ५ ॥ अयुक्तत्वे हेतुमाहुः स्वातन्त्र्याभावेनेत्यादि । कारकमात्रस्य स्वव्यापारं प्रति स्वातन्त्र्ये सत्यपि यत् कर्तृलक्षणतया स्वातन्त्र्यस्य कीर्तनं तत् कारकान्तरनियामकतयैवातो गुणानामुपादानत्वे वा करणत्वे वाऽवश्यं कर्तृनियम्यतैव युक्ता, न तु प्रयोजकता । तथा सति तेषामेव सृष्ट्यादिकार्ये स्वातन्त्र्येण ब्रह्मनियामकतया सगुणस्य स्वातन्त्र्याभावेन कर्तृत्वायोगादित्यर्थः । ननु गुणानां जडत्वेन चेतनाधीनत्वाच्च सगुणस्य स्वातन्त्र्यहानिरतो गुणसंबन्धिन्येव कर्तृत्वं युक्तमित्यत आहुः वेदाश्चेत्यादि । अनपेक्षत्वाद्भगवन्निःश्वासरूपत्वाच्च वेदाः स्वतः प्रमाणभूताः । ते च, 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्', 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' इत्यादिषु विशेष्यान्वितेनैवकारेणेतरयोगं व्यवच्छिन्दन्तस्तदानीं केवलस्य शुद्धस्यैवात्मनः कर्तृत्वमावेदयन्ति । न च कालवाचकाग्रपदेन तत्सत्ताया अपि बोधनादेवकारो नान्ययोगव्यवच्छेदक इति शङ्क्यम् । बोधनार्थमेव तथोक्तेः । कथमेतदितिचेदित्थम् । इयं हि श्रुतिः सर्वापेक्षया प्राथमिकं वृत्तान्तं वक्ति । तत्रैवकारेण सदितरयावद्व्यवच्छेदे भिन्नविधप्रमाणान्तरस्यापि व्यवच्छिन्नत्वात् तस्याप्यभावेनाग्रपदे प्रमाणान्तरसिद्धकालानुवादकतया वक्तुमशक्यत्वेन, एतस्यैव वाक्यस्य कालसत्ताबोधकत्वे चात्मासीत् कालोऽप्यासीदित्येवं वाक्यभेदप्रसङ्गेन कालसत्ताया अशक्यवचनत्वे केवलस्यात्मनोऽपि निरूपणमशक्यमिति वाक्यस्याबोधकत्वे प्रसक्ते सृष्ट्युत्तरव्यवहारानुसारेण सर्वाधारतया प्रतीयमानो यः कालस्तदुपरञ्जनेन पूर्ववृत्तान्तं वक्तीत्येवं बोधनार्थत्वं जानीहि । अत एव सृष्ट्युत्तरमपि केवलं ब्रह्मैवेति बोधनाय सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यदित्येवं श्रुत्यन्तरेऽप्युच्यते । एवं तदानीमितराभावे गुणानां सत्ता तदानीं वक्तुं न शक्यत इति न सगुणः कर्ता । नचोत्पत्तिशिष्टन्यायस्योपजीव्यन्यायस्य वा

रश्मिः ।

गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॥ ५ ॥ कीर्तनमिति 'स्वतन्त्रः कर्ता' इति सूत्रे कीर्तनमित्यर्थः । गुणानामिति प्राकृतानामित्यर्थः । निःश्वासेत्यादि व्यासादिभिरुच्चार्यमाणा वेदाः परंपरया निःश्वासा इति वक्तव्यम् । एवकारेणेत्यादि सदन्ययोगव्यवच्छेदवदिदमिति । एकान्ययोगव्यवच्छेदवानात्मेति च यथायथं बोधात्तथेत्यर्थः । नान्ययोगेत्यादि किंत्वयोगव्यवच्छेदक इति भावः । तथा च सत्त्वावच्छिन्न इदंत्वावच्छिन्नायोगव्यवच्छेदवान् तथैकत्वावच्छिन्न आत्मायोगव्यवच्छेदवानिति च बोधात्कालसत्तायामपि न क्षतिरिति भावः । वाक्यभेदेत्यादि वाक्यभेदस्य दोषत्वं गौरवप्रसञ्जकतया पौरुषेयत्वं वा दूषकताबीजं पुरुषाणां दोषत्वस्य संभावितत्वात् ।

किंच । अस्तिभातिप्रियत्वादिधर्मवद्ब्रह्मगतकर्तृत्वं लोके प्रतीयते । कार्यत्वात् । तस्मादात्मशब्दप्रयोगाद् गुणातीतमेव कर्तृ ॥ ५ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

प्रवृत्तिरत्र शङ्कनीया । विरुद्धधर्माधारत्वेन बाध्यबाधकभावाभावात् । ततः श्रुतिबललभ्यं, श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यारूपेषु षट्सु प्रमाणेषु श्रुतिबलसिद्धं ब्रह्मणः सर्वभवनसामर्थ्यमेवाङ्गीकर्तव्यमित्यर्थः ।

ननु मास्त्वेवं कर्तृत्वादिबाधस्तथापि कर्तृत्वस्य लौकिकत्वं नापैतीति तत एव तद्बोधोऽस्त्वित्यत आहुः किंचेत्यादि । प्रियत्वादीत्यादिपदेनापहतपाप्मत्वसंग्रहः । तथाच ब्रह्मधर्मस्य

रश्मिः ।

विरुद्धेत्यादि । साधनाध्यायद्वितीयपादे 'अम्बुवदग्रहणात्' इत्यधिकरणे वक्ष्यमाणेन विरुद्धधर्माधारत्वेन बाध्यबाधकभावाभावेन निर्गुणे धर्मप्रवेशस्य संभवेनोपजीव्यत्वादीनां सगुणप्रतिपादकास्वपि सत्त्वेन न न्यायप्रसर इत्यर्थः । ततः सर्वेत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति ततः श्रुतीत्यादि । तत्र 'निरपेक्षो रवः श्रुतिः' 'सामर्थ्यं सर्वभावानां लिङ्गमित्यभिधीयते' इति पदार्थे लिङ्गं 'समभिव्याहारो वाक्यम्' 'उभयाकाङ्क्षा प्रकरणम्' 'देशसामान्यं स्थानम्' समाख्या यौगिकः शब्दः तत्र यजेत इत्याद्या विधात्री श्रुतिः । व्रीह्यादिरूपा अभिधात्री विनियोक्त्री च । स यस्य शब्दस्य श्रवणमात्रेण संबन्धप्रत्ययः । सा च त्रिधा विभक्तिरूपा, एकाभिधानरूपा, एकपदरूपा चेति । 'व्रीहिभिर्यजेत' इत्यत्र विभक्तिरूपया तृतीयया श्रुत्या व्रीहीणां यागाङ्गत्वम् । पशुना यजेत इत्यत्रैकत्वपुंस्त्वयोः समानाभिधानरूपया श्रुत्याङ्गत्वम् । यजेत इत्याख्याताभिहितसंख्याया भावनाङ्गत्वम् । समानाभिधानश्रुतेरेव पदश्रुत्या च यागाङ्गत्वं 'बर्हिर्देवसदनं दामि' इत्यस्य लवनाङ्गत्वलिङ्गेनायं मन्त्रो लवनं प्रकाशयितुं समर्थः । वाक्येन यस्य पर्णमयी जुहूर्भवतीत्यत्र पर्णताया जुह्वङ्गत्वम् । साध्यत्वादिवाचकद्वितीयाद्यभावे वस्तुतः शेषशेषिणोः सहोच्चरणरूपवाक्यसत्त्वात् । प्रकरणेन प्रयाजादिषु समिधो यजतीति । अत्रेष्टविशेषस्यादर्शनात्समिधा योगेन किमित्यस्त्युपकार्याकाङ्क्षा । दर्शपूर्णमासवाक्येपि दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत् कथमित्यस्त्युपकारकाकाङ्क्षा तया प्रयाजादीनां दर्शपूर्णमासाङ्गत्वम् । स्थानेन यथासंख्यपाठरूपेण 'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत् वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्' इत्येवं विहितेष्टिषु इन्द्राग्नी रोचनादिव इत्यादीनां याज्यानुवाक्यामन्त्राणां यथासंख्यं प्रथमस्य प्रथमं द्वितीयस्य द्वितीयमित्येवं विनियोगाः संनिधिपाठरूपेण स्थानेन वैकृतानामङ्गानां प्राकृताङ्गाननुवादेन विहितानां विकृत्यर्थत्वम् । तेषां कैमर्थ्याकाङ्क्षायाः फलवद्विकृत्यपूर्वस्य भाव्यत्वेन संबन्धादेव पूरणात् । अनुष्ठानसादेश्यरूपेण स्थानेन पशुधर्माणामग्नीषोमीयार्थत्वं समाख्यया वैदिक्या होतृचमस इति होतुश्चमसभक्षणाङ्गत्वं लौकिक्याध्वर्यवसमाख्ययाध्वर्योस्तत्तत्पदार्थाङ्गत्वम् । एवेति लिङ्गादिषु प्रत्यक्षस्य विनियोजकस्य शब्दस्याभावात्ते श्रुतितो निर्बला इत्येवकारः । अत एव गार्हपत्यमुपतिष्ठत इत्यत्र लिङ्गादैन्द्या इन्द्रोपस्थानार्थत्वं कल्प्यते । तावत्प्रत्यक्षया श्रुत्या गार्हपत्योपस्थानार्थत्वं प्राप्यत इति दृश्यते मीमांसायाम् । अपैतीति अप आ एतीति पदच्छेदः तेन वात्र वृद्धिदोषः न पररूपं, वृद्ध्यनन्तरं तथास्तु । तथाचेति अस्तिभातिप्रियत्वाश्रयत्वेन

नन्वात्मशब्दोऽपि लोकवद् गौणोऽस्तु । लोके हि केनचित् पृष्टो विष्णुमित्र आह, यज्ञदत्तो ममात्मेति । अत्र गौणत्वमुपचार इत्येवं प्राप्तेऽभिधीयते ।

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥ ६ ॥

एवं हि श्रूयते । 'असद्वा इदमग्र आसीत्, ततो वै सदजायत,' 'तदात्मानꣳ स्वयमकुरुत' इत्युपक्रम्य, 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते, अथ सोऽभयं गतो भवति' इति । प्रापञ्चिकधर्मरहिते ब्रह्मणि एतस्मिन् पूर्वोक्तजगत्कर्तरि परिनिष्ठितो मुक्तो भवतीत्यर्थः । तत्र यदि जगत्कर्ता गौणः स्यात् तन्निष्ठस्य संसार एव स्यान्न मोक्षः ॥ ६ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

कर्तृत्वस्य लोके प्रत्ययेन तस्य कार्यासाधारण्याभावान्न लौकिकत्वमिति न तत्प्रयुक्तोऽपि बाध इत्यर्थः । सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि । केनापि प्रकारेण बाधस्य वक्तुमशक्यत्वादात्मशब्दश्रुतिरूपमुख्यप्रमाणप्रमितत्वाच्च तथेत्यर्थः ॥ ५ ॥

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥ ६ ॥ एवं द्वितीयसूत्रं व्याख्याय, 'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्' इति तृतीयसूत्रमवतारयन्ति नन्वात्मेत्यादि । लोकवत्पदं विभजन्ते लोके हीत्यादि । तथाच मास्तु गुणसंबन्धाद् गौणत्वमात्मनस्तथाप्यात्मपदश्रुतेर्मुख्यौपचारिकसाधारण्येन संदिग्धत्वादमुनया निर्णय इति पूर्वपक्षाशयः । अत्र सूत्रं पठित्वा समादधते एवं हीत्यादि । असदिति लौकिकविलक्षणमव्याकृतम् । यदा ह्येवेत्यस्यार्थस्तु, यदा यस्मिन् काले, ह्येव निश्चयेनैव, एष साधक, एतस्मिन् पूर्वोक्ते ब्रह्मणि, अदृश्ये नामरूपशून्ये, अनात्म्ये आत्मन इदमात्म्यं शरीरं तद्रहिते, अनिरुक्ते विकारो हि विशेषवत्त्वान्निरुच्यते नत्वविकार इति विकारशून्यत्वाद् विदिताविदितात् परत्वेन निर्वक्तुमशक्यत्वाद्वा अनिरुक्ते, एवं भूते ब्रह्मणि अभयं यथा स्यात् तथा प्रतिष्ठां स्थितिं विन्दते 'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति' इत्येवंरूपां प्राप्नोति, अथ तदनन्तरमेव स साधकः, अभयं गतो मुक्तिं प्राप्तो भवतीति । तदाहुः प्रापञ्चिकेत्यादि । सूत्रसिद्धं निर्णयमाहु-

रश्मिः ।

कुलालादिषु ब्रह्मकार्यत्वेन ब्रह्मत्वे सतीत्यर्थः । अथवा ब्रह्मास्तीत्यादिप्रत्ययात् सत्तादिकर्तृत्वे विवादे ब्रह्मगते लोके प्रतीयमाने सतीत्यर्थः । एतद्बोधनायैव भाष्येऽस्तिभातीत्यादिकं ब्रह्मविशेषणम् । कार्यासाधारण्येत्यादि कार्यमात्रवृत्तित्वाभावादित्यर्थः । आत्मशब्देति आत्मशब्दरूपा श्रुतिः । निरपेक्षस्वरूपा तद्रूपेत्यादिः । अवतारयन्तीति हेतुपपादकत्वेनोपोद्घातसंगत्यावतारयन्तीत्यर्थः । गुणसंबन्धादिति प्राकृतगुणसंबन्धादित्यर्थः । भाष्ये । लोके यादृशं गौणत्वं तदाहुः अत्रेत्यादि ॥५॥

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥ ६ ॥ प्रकृते । पञ्चमस्कन्धे 'योऽसौ भगवति सर्वभूतात्मन्यनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने परमात्मनि वासुदेवे तन्निमित्तभक्तियोगलक्षणो नानागतिनिमित्ताविद्याग्रन्थिरन्धनद्वारेण यदा हि महापुरुषपुरुषप्रसङ्गः' इतिगद्यात् । स्थितिश्च सर्वात्मभावस्तस्यैव फलजनकत्वादित्याशयेनाहुः यत्र नान्यदित्यादि । तदुक्तम् ।

'ता नाविदन्मय्यनुषङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेदम् ।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे' ॥ इति ।

किंच।

हेयत्वावचनाच्च ॥ ७ ॥

इतोऽपि निर्गुण एव जगत्कर्ता। वेदान्तेषु सर्वत्र साधनोपदेशो पुत्रादिवज्जगत्कर्ता हेयत्वेन नोपदिश्यते। यदि सगुणः स्यात् प्राकृतगुणपरिहारार्थं मुमुक्षुभिर्जगत्कर्ता नोपास्यः स्यात् पुत्रादिवत्। अत ईक्षत्यादयो न सगुणधर्माः। सूत्रत्रयस्य ईक्षतिहेतुसाधकत्वाच्चकारः। एवं सूत्रचतुष्टयेन ईक्षतिहेतुना जगत्कर्तृत्वोपपत्त्या सृष्टिवाक्यानां ब्रह्मपरत्वमुपपादितम् ॥ ७ ॥

भाष्यप्रकाशः।

स्तत्रेत्यादि। तथाचास्यां श्रुतावुपक्रमगतं कर्तृभूतं ब्रह्मैवेति तस्मिन्नित्यनेन परामृश्य तस्यैव प्रापञ्चिकधर्मराहित्यबोधनेन विरुद्धधर्माधारत्वं निगमयित्वा तादृशे तस्मिन् परिनिष्ठितस्य मुक्तिं वदन्ति। तथान्यत्रापि, सदेव सौम्येदमित्यादिना कर्तृत्वादिविशिष्टं ब्रह्मोक्त्वा, 'आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' इति। अतस्तादृशब्रह्मनिष्ठस्य मोक्ष उपदिश्यत इति सृष्टिप्रकरणोक्तं फलमेव तत्रत्यात्मशब्दस्यौपचारिकत्वनिवर्तकं तात्पर्यलिङ्गत्वादिति सूत्राशय इत्यर्थः ॥ ६ ॥

हेयत्वावचनाच्च ॥ ७ ॥ आत्मशब्दस्यात्र गुणातीत एव कर्तरि तात्पर्यमिति बोधयन्तश्चतुर्थसूत्रमाहुः किंच। हेयत्वावचनाच्चेत्यादि। अर्थस्तु निगदव्याख्यातः। तथा चात्रोपपत्ति-

रश्मिः।

तथान्यत्रेति छान्दोग्येऽष्टम इत्यर्थः। पुरुषो वेदेति पुरुषः स्त्री वेहेत्यर्थः। संपत्स्य इति भक्तिफलबोधकपदसमभिव्याहारात्। चिरमिति सत्संपत्तौ विलम्ब इत्यर्थः। तदाहुः अत इत्यादि। तत्रत्येति आत्मा वा इदमिति श्रुतिभवेत्यर्थः। न 'चात्मा वा इदम्' इत्यादिश्रुतिरन्यत्र वर्तते। 'असद्वा इदम्' इत्यादिश्रुतिः तैत्तिरीय आनन्दवल्ल्यामित्यन्यत्रोक्तं फलमुपचारनिवर्तकं कथं कथं चास्य तन्निवर्तने हेतुतेति शङ्के पराकुर्वन्ति तात्पर्येत्यादि। तथा च तदात्मानमित्यत्रात्मशब्दस्यानुपचरित एवात्मनि तात्पर्यमिति फलेन स्वसमभिव्याहारद्वारा बोधनात्तादृशतात्पर्ये लिङ्गत्वादुपचारनिवर्तने हेतुत्वं तैत्तिरीयस्यात्मनोनुपचरितत्वसमर्थनेनान्यत्रात्मा वा इदमिति श्रुतावपि तदुपचारनिवर्तनादित्यर्थः। भाष्ये। किं चेति हेत्वन्तरनिरूपणमारभ्यत इत्यर्थः ॥ ६ ॥

हेयत्वावचनाच्च ॥ ७ ॥ भाष्ये। निर्गुण इति प्रकृतिगुणसंबन्धरहित इत्यर्थः।

'आत्ममायामृते राजन् परस्यानुभवात्मनः।
न घटेतार्थसंबन्धः स्वप्नद्रष्टुरिवाञ्जसा' ॥

इति वाक्येवस्थितमतस्येष्यात्ममाया सा शुद्धसत्त्वरूपास्त्येव 'प्रवर्तते यत्र रजस्तमस्तयोः सत्त्वं च मिश्रं न च कालविक्रमः' इति वाक्यात्। सर्वत्रेति बृहदारण्यकादिषु 'किं प्रजया करिष्यामः अमृतत्वस्य तु नाशास्ति' इत्यादिनेत्यर्थः। सगुण इति प्राकृतगुणसत्त्वसहित इत्यर्थः। नोपास्यः स्यादिति 'तज्जलान् शान्त उपासीत' इत्यादिषु तथा न स्यादित्यर्थः। न च शुद्धसत्त्वप्रधाना माया तत्र प्रतिबिम्बितं चैतन्यमीश्वरपदवाच्यं मलिनसत्त्वप्रधानाऽविद्या तत्र प्रतिबिम्बितं चैतन्यं जीव इत्युपाधिभेदकृतविशेषेण हेयत्वोपादेयत्वोपपत्तिरिति शङ्क्यम्। प्रतिबिम्बपक्षस्य

अतः परं स्वतन्त्रहेतूनाह, 'स्वाप्ययाद्', 'गतिसामान्यात्', 'श्रुतत्वाच्च' इति सूत्रत्रयेण।

ननु किमर्थं हेत्वन्तराणि। साधकत्वे एकेनापि तत्सिद्धेः। असाधकत्वे शतेनाप्यसिद्धेरितिचेत्। मैवम्। रूपभेदार्थं हेत्वन्तराणि। नानाविधान्नभोजनतृप्तिवत्। तद्यथा आत्मशब्दात्, तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशाद्, हेयत्वावचनाच्चेति निर्गुणस्य स्वरूपपरतया कार्यपरतया च। कार्यस्य पुनर्विधिनिषेधभेदाद् द्विरूपतेति। एवमुत्तरत्रापि प्रपञ्चयिष्यते।

तत्र सृष्टिवाक्यानामीक्षतिहेतुना भगवत्परत्वमुक्तम्। इदानीं प्रलयवाक्यानामाह।

भाष्यप्रकाशः।

रूपात् तात्पर्यलिङ्गादप्यात्मशब्दस्य गुणातीतवाचकत्वेन निर्णयादीक्षत्यादयो न सगुणधर्मा इत्यर्थः। शेषं स्फुटम् ॥ ७ ॥

अग्रिमसूत्राण्यवतारयन्ति अतः परमित्यादि। स्वतन्त्रहेतूनिति वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मपरत्वप्रतिपादने प्रत्येकं समर्थान् हेतून्। एतेषां हेतूनां वैयर्थ्यमाशङ्कते नन्वित्यादि। समादधते मैवमित्यादि। रूपभेदार्थमिति ब्रह्मणो व्यवहार्यत्वे केवलं सृष्टिरेव न द्वारं, किंतु द्वारान्तराण्यपि सन्ति तानि तत्तद्रूपनियतानीति तेषां रूपाणां विशेषस्य ज्ञापनार्थम्। एवं तात्पर्योक्तौ गमकमाहुः तद्यथेत्यादि। तथाच चतुःसूत्र्यामाद्येनेक्षतिं सामान्यत उक्त्वा द्वितीयो हेतुः स्वरूपपरतया ततोऽग्रिमौ द्वौ कार्यपरतया चेति हेतुत्रयमुक्तम्। तथाग्रे त्रिसूत्र्यामपि कार्यान्तरपरतयेत्यर्थः। कथं कार्यान्तरपरतेत्यत आहुः कार्यस्येत्यादि। द्विरूपतेतीति। इति अस्माद्धेतोर्हेत्वन्तराण्युच्यन्त इत्यर्थः। एवमेवात्र तात्पर्यमित्यत्र गमकमाहुः एवमित्यादि।

रश्मिः।

द्वितीयाध्याये दूष्यत्वात्। इदं च भाष्यं साक्षाद्भक्तिर्नास्त्येव दृष्ट एव स्नेह इत्युपपत्तेरिति पक्षमनुग्रहीतुम्। अदृष्टेपि मनोव्यापाररूपोपासासंभवात्। सौत्रश्चकारः समुच्चयं द्योतयतीत्याहुः सूत्रेत्यादि। एवं सूत्राद्यर्थो निगदेन व्याख्यात इत्यर्थः। प्रकृते। सिद्धमाहुस्तथाचेत्यादि। तात्पर्यलिङ्गादिति। षष्ठीतत्पुरुषः उपपत्त्या तात्पर्यं वक्तुरिच्छा लिङ्ग्यते ज्ञाप्यत इति। शेषमिति सूत्रत्रयेत्यादिभाष्यमित्यर्थः। घञजपाः पुंसीत्यस्य प्रायोवादत्वान्नपुंसकत्वमपि। हेतूनिति। साध्यं तु नाम्नव्दमित्येव। एतदेवाहुर्वेदान्तवाक्यानामित्यादि। द्वारान्तराणीति लयमोक्षसाम्यसर्वकार्यरूपाणीत्यर्थः। तेषामिति स्वाप्ययत्वगतिसामान्यश्रुतत्वानामित्यर्थः। द्विरूपतेतीति विधिनिषेधरूपविषयिभेदान्मोक्षहेयत्वरूपविषयस्य भेदः। एवमित्यादीति। उत्तरत्रेति अग्रेवाग्रे तेनात्र त्रिसूत्र्याम्। यथा गौणश्चेदिति सूत्रे ब्रह्मशब्दं विहाय आत्मशब्दो निर्गुणस्य स्वरूपपरतयोक्तः। द्वन्द्वं न्यञ्चि पात्राणि प्रभुनक्तीति गृह्यसूत्रात् प्रयोगेमोक्षजनकस्थल आत्मशब्दप्रयोगोमोक्षजत्येपि हिरण्यगर्भप्रयोगे तथादर्शनात्।

१. द्वितीयसुत्रोपिन्याम्।

स्वाप्ययात् ॥ ८ ॥

ब्रह्मणो न सर्वव्यवहारातीतत्वम् । कुतः स्वाप्ययात् । स्वस्मिन्नप्ययात् । तत्र चित्प्रकरणत्वाज्जीवस्योच्यते । एवं हि श्रूयते । 'यत्रैतत् पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा संपन्नो भवति तस्मादेनं स्वपिति' इत्याचक्षते । स्वं ह्यपीतो भवतीति ।

स्वपितीति न क्रियापदं, किंतु जीवस्य नाम । तदेव स्वपितिनामत्वं यदा सता संपद्यते । सति स्वशब्दवाच्ये अपीतिं लयं प्राप्नोतीत्यर्थः । अहरहर्जीवो ब्रह्म संपद्य ततो बलाद्यधिष्ठानं प्राप्य पुनर्नव इव समायाति । वासनाशेषात् । स्वशब्देन चाभेदः । अर्थतः सच्छब्दसामानाधिकरण्यान्निर्गुणत्वम् ।-

---

भाष्यप्रकाशः ।

स्वाप्ययात् ॥ ८ ॥ एवं सूत्रत्रयप्रयोजनमुक्त्वा पूर्वसंगतिज्ञापनाय तत्रोक्तमनुवदन्तः स्वाप्ययसूत्रमवतारयन्ति **तत्रेत्यादि** । व्याकुर्वन्ति **तत्र चिदित्यादि** । **उच्यत** इति लय उच्यते । **श्रूयत** इति छान्दोग्ये श्वेतकेतूपाख्याने श्रूयते । श्रुतिं व्याकुर्वन्ति **स्वपितीति** । **नेत्यादि** तथाच सत्संपत्तिरहितस्वापदशायां तु स्वपितीति यत्र प्रयोगस्तत्रास्य क्रियापदत्वमेव । सत्संपत्तिदशायां तु स्वशब्दस्यात्मवाचकत्वेन सति स्वशब्दवाच्य आत्मनि अपीतिं लयं प्राप्नोति । तदा तस्मिन् पितिर्लयो यस्यासौ स्वपितिः । पृषोदरादित्वादकारनाश ईकारस्य विकृतौ च सत्यां स्वपितिनाम्नः सिद्धिः । वस्तुतस्तु केवलयौगिकत्वे नामत्वाभावाद् योगरूढोऽयं शब्द इत्यर्थः । एवंप्रकारेण हेतुकथनस्य प्रयोजनमाहुः **अहरहरित्यादि** । अयमर्थः । सुषुप्तिस्तावद् द्विधेति तदभावो नाडीष्वित्यत्र वक्तव्यम् । तथा छादोग्य एव श्राव्यते 'तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तोऽपि न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा

रश्मिः ।

'ब्रह्मन् पुंसि च' इति व्याकरणसूत्रात् । कार्यं मोक्षो हेयत्वं च ते सूत्रद्वये तथात्र स्वाप्ययादित्यत्र निर्गुणस्य स्वरूपपरतया सूत्रद्वये मोक्षः सर्वकार्यत्वं चेत्येवं कार्यपरतया तत्राप्यस्य प्रपञ्चः करिष्यत इति । **पूर्वसंगतीति** निर्वाहकत्वसंगतिज्ञापनायेत्यर्थः । ननु भाष्ये प्रसङ्गसंगतेः सूचनाद्वायं प्रकाशार्थ इति चेन्न । सामान्यलक्षणस्य गौरवग्रस्तत्वेनास्यार्थस्यानतिरेकात् । भाष्ये तु सूत्रयोः संगतिरुक्ता प्रसङ्गरूपा । सा सामान्यलक्षणम् । किमन्यं नाशब्दत्वनिर्वाहकमिति जिज्ञासया त्रिसूत्र्यवतारात् । एवं च सामान्यसंगतेः सूचितत्वेनाभिहितमुक्तम् । **तत्रे-त्यादीति** । प्रलय इति ब्रह्मविद्योपनिषदि 'यत्रोत्पत्तिं लयं चैव ब्रह्मविष्णुमहेश्वरात्' इत्यत्रोत्पत्त्यनन्तरं लयोक्तेरत्रापि लय उक्तः । स्थितिस्तु चशब्दार्थ इत्यकथनेऽप्यदोषः ॥ ७ ॥

स्वाप्ययात् ॥ ८ ॥ भाष्ये । ब्रह्मण इत्यादि, अग्रे व्युत्पाद्यम् । **तत्र चिदित्यादीति** चित्प्रकरणं चिद्रूपस्य ज्ञानप्रधानस्येत्यादिभाष्येणोक्तमेव । **प्रकृते** । अपितेः पितिरूपतां संपादयन्ति **पृषोदरेत्यादि** । **विकृता**विति ह्रस्वेकाररूपायामित्यर्थः । **नामत्वाभावादिति** पाचकपाठकादिवत्तथात्वादित्यर्थः । **योगरूढ** इति पङ्कजादिपदवदित्यर्थः । स्वं ह्यपीतो भवतीत्यस्य यः प्रकृतः सच्छब्दवाच्यस्तमपीतो भवत्यपिगतो भवतीत्यर्थः । **वक्तव्यमिति** तृतीयस्य द्वितीयपादे

ननु प्रलये वक्तव्ये कथं सुषुप्तिः । मोक्षातिरिक्तदशायां तथाकर्मसंबन्धाभावादिति ब्रूमः ॥ ८ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दत्यनृतेन हि प्रत्यूढाः' इति । तत्र नाड्यां दुःखाभावमात्रम्, ब्रह्मणि सुषुप्तौ तु तदा अस्यैतदतिच्छन्दोऽपहतपाप्माऽभयं रूपमशोकान्तरमिति बृहदारण्यके श्रावणाद् ब्रह्मसंपत्त्या बलादिरूपं यदधिष्ठानं, करणे ल्युट्, देहनियमनसाधनं तत् प्राप्य तथा समायातीति बोधनमेकम् । च पुनः स्वशब्द आत्मवाचकोऽत्र प्रयुक्तस्तेन पूर्वोपक्रान्तस्य सत आत्माऽभेदबोधनमपरम् । किंचात्र विभक्त्यन्तरप्रयोगेण शब्दतः सामानाधिकरण्याभावेऽप्युपक्रमे सत एव निर्दिष्टत्वेनार्थतः सच्छब्दसामानाधिकरण्यात् सतो निर्गुणत्वबोधनं चेति तृतीयं प्रयोजनमिति । तथाचैवंप्रकारेण गुणातीतस्य प्रलयकारणतां बोधयितुमेवं हेतुनिर्देश इति हृदयम् । अत्र सूत्रस्य विषयवाक्यस्य च विरोधमाशङ्कते **नन्वित्यादि** । समादधते **मोक्षेत्यादि** । मोक्षातिरिक्तदशायां कर्मसंबन्धे सत्यपि यथा जाग्रत्स्वप्नयोः कर्मसंबन्धस्तथा सुषुप्तौ प्रलये च नास्ति, किंतु वासनामात्र इति प्रलयसाम्यात् तत्कथनमिति ब्रूम इत्यर्थः । एवं चात्र ब्रह्म न सर्वव्यवहारातीतं, सुषुप्तिप्रलययो-

रश्मिः ।

वक्तव्यमित्यर्थः । **भाष्ये । वासने**ति । कर्मवासनावशात् । कर्मजसंस्कारो वासना । **प्रकृते** । **स्वशब्देन चाभेद** इति भाष्यं विवृण्वन्ति **च पुनरित्यादि** । **अत्रेति** चतुर्ष्वर्थेषु मध्येऽत्र सूत्रे प्रयुक्त इत्यर्थः । **पूर्वेत्यादि** श्रुतौ 'सता सोम्य' इत्यनेनेत्यर्थः । **आत्माभेदेत्यादि** । एतादृशबोधनफलं तु सच्छब्दस्य जडपरत्वनिवृत्तिः । **अर्थत** इत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति **किंचात्रेत्यादि** । ननु भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वे सत्येकार्थबोधकत्वरूपं सामानाधिकरण्यं सच्छब्दस्यात्मवाचकत्वाच्छब्दतोऽपीत्यर्थत इति भाष्यांशोऽसंगत इत्याकाङ्क्षायामाहुः **विभक्त्यन्तरे-त्यादि** । अयमर्थः । सतेति तृतीया विभक्तिः सहार्था तथा चात्मसाहित्यवानिति तस्यार्थः । स्वमित्यत्र कर्म द्वितीयार्थः । आत्मा संयोगाश्रय इत्यर्थः । सूत्रेपि व्यपेक्षालक्षणसामर्थ्यपक्षे स्वस्मिन्नित्यस्य आश्रय आत्मेत्यर्थः । एवं सति निरुक्तं सामानाधिकरण्यमत्र विशेष्याभावान्नास्तीत्यर्थः । ननु तथापि कथमर्थतः सामानाधिकरण्यं यावता प्रवृत्तिः शब्दत इति चेन्न । एकार्थविशेष्यकप्रतीतिजनकत्वमात्रस्य तल्लक्षणत्वात् । अत एव युगपदधिकरणवचनतापेक्षपट्वीमृद्व्यावित्यत्र पुंवत्त्वमाशङ्क्य वृत्तौ वृत्तेः प्राक् यत्र सामानाधिकरण्यं तत्रैव तत्प्रवृत्तिः । प्रकृते च न ततः प्राक्सामानाधिकरण्यमित्युत्तरितं द्वन्द्वसूत्रभाष्ये 'नामन्त्रिते समानाधिकरणे' इतिसूत्रभाष्ये च सामान्यवचनमित्यस्याभ्ये देवि सरस्वति इति पर्यायेषु प्रत्युदाहरणं दत्तमिति स्थितं 'स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कात्' इति सूत्रस्य शब्देन्दुशेखरे । एवं चोक्तरूपस्यैकार्थबोधकत्वस्य सामानाधिकरण्यस्य शब्दप्रयुक्ताभावप्रतीतावप्यर्थस्य विषयविधया कारणत्वेन ततः सामानाधिकरण्यादित्यर्थः । **निर्गुणत्वेत्यादि** । **तेनैतत्सिद्धम्** । गुणातीतोपमात्मा यत्र लीयते तत्तत्पदवाच्यं ब्रह्म गुणातीतमेव । नह्येतादृशस्य स्वसंबन्धेन कर्मसंबन्धविनिर्मुक्तपरमसुखानुभवसंपादकं सगुणं भवितुमर्हतीति । अतः स्वाप्ययसंपादकत्वात् न सर्वव्यवहारातीतं नापि सगुणमित्यतस्तथेत्यर्थः । **वासनामात्र** इति । कर्मसंबन्ध इति शेषः । **प्रलयसाम्यादिति**

मुक्तिवाक्यानामाह ।

गतिसामान्यात् ॥ ९ ॥

गतौ सामान्यात् । गतिर्मोक्षः । समानस्य भावः सामान्यम् । मोक्षे सर्वस्यापि भगवतापि तुल्यत्वात् । एवं हि श्रूयते । 'स यथा सर्वासामपा१ समुद्र एकायनम्' इत्युपक्रम्य वागेकायनमिति दृष्टान्तार्थं निरूप्य, 'स यथा सैन्धवखिल्य

भाष्यप्रकाशः ।

जीवाधारत्वेन श्रुतत्वात्, यद् यदा यदाधारत्वेन श्रुतं तद् तदा तत्प्रयुक्तव्यवहारविषयमित्येवमनुमानं बोध्यम् । ततश्च यस्मिंल्लयं याति पुरत्रयं चेत्यादौ जडलयाधारत्वेन श्रावणात् तत्प्रयुक्तव्यवहारविषयत्वादपि सर्वव्यवहारातीतत्वाभावः सेत्स्यति । तेनायं हेतुर्लक्षणवाक्यस्थस्य यत्प्रयन्तीति भागस्य समर्थनार्थ इति बोधितम् । प्रलयवाक्यानां ब्रह्मणि समन्वये वक्तव्ये सुषुप्तिवाक्योदाहरणं सूत्रे स्वाप्ययपदसूचितव्यासाशयज्ञापनार्थम् । अग्रिमसूत्रे मुक्तिवाक्यविचारात् पूर्वस्मिन् प्रलयोऽपि सूच्यत इति ज्ञायते । अन्यथा न्यूनता स्यादिति ॥ ८ ॥

गतिसामान्यात् ॥ ९ ॥ गतिसामान्यादिति षष्ठं सूत्रमवतारयन्ति मुक्तीत्यादि । तेषां ब्रह्मपरत्वमाहेत्यर्थः । गतिर्मोक्षः । गतिशब्दः फले रूढः । 'अन्ते या मतिः सा गतिः', 'सा काष्ठा सा परा गतिः' इत्यादौ तथा दृष्टत्वात् । अत्र चाप्ययोत्तरमभिसंवेशस्यैव समर्थनीयत्वात् तथेत्यर्थः । श्रूयत इति बृहदारण्यके मैत्रेयीब्राह्मणे श्रूयते । दृष्टान्तार्थमिति लयाधिकरणदृष्टान्तार्थम् ।

रश्मिः ।

तथा च सूत्रेणैव विषयवाक्यं स्मार्यत इति भावः । एकसंबन्धिज्ञानमपरसंबन्धिस्मारकमिति न्यायात् । यथा मोक्षे कर्मसंबन्धाभावस्तथा मोक्षातिरिक्तदशायां सुषुप्तावकामभगवद्रूपायां तथा कर्मसंबन्धाभावः प्राप्तः स नेति प्रलयसाम्यम् । एवं चेति स्वाप्ययहेतुसमर्थनेन सर्वव्यवहारातीतसाध्यस्य न्यूनतारूपदोषनिवारणाय ग्रहणे च । तत्प्रयुक्तेत्यादि तत्प्रयुक्तव्यवहारविषयं यथा भवति तथा ज्ञेयमिति क्रियाविशेषणत्वेन द्वितीयान्तमिदम्, आर्दि पचतीतिवत् । तेन 'घाजन्तश्च' इति सूत्रेण विषयशब्दस्य नियतपुंस्त्वेपि न दोषः । यथा वियति विहंगम इत्यत्र विहंगमाधारत्वेन वियति विहंगमप्रयुक्तो यस्तदाधारत्वव्यवहारः तद्विषयत्वमिति दृष्टान्तः । अनुमानमिति पूर्वं तु ब्रह्म नाशब्दं वाक्यगतेक्षतेः । यन्नैवं तन्नैवं, जीववत् । वेदान्तशब्दप्रतिपाद्यं नाशब्दम् । अन्वयव्याप्तिरपि तेजोदृष्टान्तेन । स्वाप्ययपदसूचितव्यासाशयमाहुः अग्रिमेत्यादि । सूच्यत इत्यादि स्वाप्ययपदेन सूच्यत इति । 'यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इतिश्रुतेः कर्मसंबन्धार्हदशायामपि तदभिभूय तादृशसुखसंपादकत्वसामर्थ्यरूपव्यासाशयो ज्ञा[illegible]त इत्यर्थः । 'बुद्धिप्रेरककृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु' इति 'अतः सेवापरं चित्तं विधाय स्थीयतां सुखम्' इति च । अत्र युक्तिमाहुरन्यथेत्यादि । प्रलयवाक्यानां ब्रह्मणि समन्वयाप्रतिपादनेऽस्य समन्वयाध्यायत्वं न्यूनं स्यादित्यर्थः ॥ ८ ॥

गतिसामान्यात् ॥ ९ ॥ उक्तभाष्यं समर्थयन्ति स्म गतिशब्द इति । अभिसंवेशस्य इति लक्षणवाक्यस्थस्याभिसंविशन्तीतिभागाभिहितस्येत्यर्थः । बृहदिति स्पष्टा सूत्र-

उदके प्रास्त' इत्यादिना लयदृष्टान्तं निरूप्य, 'न प्रेत्य संज्ञास्ति' इति प्रतिपाद्य तन्निरूपणार्थं 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरम्' इत्यादिना सर्वस्य शुद्धब्रह्मत्वं प्रदर्शितम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

इत्यादिनेति प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत नाहास्योद्ग्रहणायेव स्याद् यतो यतस्त्वाददीतेति ग्रन्थेन, न प्रेत्य संज्ञास्तीति प्रतिपाद्येति, विमुक्त्यनन्तरं भोक्तृभावादिनिवृत्त्या जीवादिसंज्ञाराहित्यं प्रतिपाद्य । तन्निरूपणार्थमिति संज्ञाभावनिरूपणार्थम् । सर्वस्येति जडस्य जीवस्य च । अत्रायमर्थः । यथाऽबादीनामंशानां कार्याणामबाद्यात्मकाः समुद्रादयो लयाधिकरणभूतास्तथा सदात्मकस्य सर्वस्य सदात्मकं कारणभूतं ब्रह्मैव लयाधिकरणभूतम् । न च स्पर्शादीनां त्वगाद्यंशत्वस्य प्रत्यक्षबाधितत्वात् केवलं लयस्थानत्वमेव विवक्षितं न तु तस्य कारणत्ववैशिष्ट्यमपीति शङ्क्यम् । त्वचस्त स्पर्शवायोश्चेति ।

'मुखतस्तालुनिर्भिन्नं जिह्वा तत्रोपजायत ।
ततो नानारसो जज्ञे जिह्वया योऽधिगम्यते' ॥

इत्यादिश्रीभागवतद्वितीयस्कन्धवाक्येषु तथादर्शनेनात्र वैराजानामेव तेषां दृष्टान्तत्वेन विवक्षितत्वात् । यथा सदंशानां कार्याणां लयस्थानं ब्रह्म तथा चिदंशानां जीवानामपि लयस्थानं ब्रह्मैवेति वक्तुं स यथा सैन्धवेत्यादिना यथा सामुद्रलवणशकल उदके प्रक्षिप्त उदकमेव लक्षीकृत्य विलीयते, न तु खिल्यत्वेन ग्रहणाय कोऽपि समर्थः संभाव्यते, किंतु यस्माद्यस्माद्देशादादीयते तत्र तत्र लवणरस एवास्वाद्यत इति तत्र तत्सत्ता निश्चीयत इत्येवं लयदृष्टान्तं निरूप्य, एवं वा अरे इदं महद्भूतमनन्तपारम्, अरे मैत्रेयि, इदं जीवात्मत्वेनानुभूयमानं महत् पूर्वोक्तेभ्योऽबादिभ्य उत्कृष्टम्, अनन्तम्–अविनाशि, अपारम्–अनादितत्त्वं विज्ञानघने चिदेकस्वरूपे ब्रह्मण्येवैतेभ्यः स्थूलसूक्ष्मशरीरात्मकेभ्योऽनुपलक्षितेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय पृथग्भूय तान्येव भूतान्यनु तल्लयोत्तरं विनश्यति विशेषेणादर्शनं प्राप्नोति ब्रह्मणः पृथक् न ज्ञायते । तत्र हेतुः । न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति । लयोत्तरं जीवसंज्ञैव निवर्तते, ब्रह्मैव भवतीति । ततो लवणरसस्य सर्वत्रो-

रश्मि ।

संगतिरत्र । प्रास्त उदकमिति तेन नवसु पदेषु मोक्षे लवणमुदके निधायेत्याद्युपदेश इति ज्ञापितम् । तेन जीवेऽणुत्वं वास्तविकमित्युपदेशः । तेन मोक्षे नान्यविषयत्वमत्र प्रयोजनम् । तेन मैत्रेयीब्राह्मणे भक्तिप्रतिपादनात्तत्प्रत्या मुक्तिरप्युपदेशः । अबादीनामिति अप्स्पर्शगन्धादीनाम् । तत्रत्यश्रुत्युक्तानामंशानां सदंशानां कार्याणां न तु चिदानन्दांशानामबादीनां तिरोहितत्वेन प्रकटसदंशत्वेन तथेति । अत्र कार्यार्थकानामंशानामिति त्याज्यमिति वक्तुमबादीनामित्यादिपदार्थे किंचिदाशङ्क्य निषेधन्ति न च स्पर्शेत्यादि । 'स यथा सर्वासामपा१समुद्र एकायनमेव१सर्वेषा१स्पर्शानां त्वगेकायनमेव१सर्वेषां गन्धानां नासिके एकायनम्' इत्यादिश्रुतिभ्ये-तद्बोध्यम् । तस्येति लयस्थानस्य । तथेति 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' इति श्रुतिकारणत्ववैशिष्ट्यदर्शनं तेन । अत्रेति छान्दोग्ये मैत्रेयीब्राह्मणे च । उपष्टम्भकत्वात्पुराणानामेवकारः । तथाच 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' इत्यत्रोपष्टम्भकमिदं पुराणमिति विकल्पः । इति वक्तुमिति सैन्धवखिल्यस्य जलीयसदंशत्वमिव जीवस्यानुप्रभावसंबन्धेन वृक्षः पुनः पुनः पेपीय-

आदिमध्यावसानेषु शुद्धब्रह्मण एवोपपादानात् । सर्वेषां वेदान्तानां ब्रह्मसमन्वय उचित इति ॥ ९ ॥

किंच ।

श्रुतत्वाच्च ॥ १० ॥

'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशि-

भाष्यप्रकाशः ।

दकेऽनुभवाल्लवणत्वेन वर्तत एवोद्ग्रहणमिति कुतो निषिध्यते संज्ञेत्येवं मैत्रेय्या मोहे पुनः संज्ञाभावनिरूपणार्थं, यत्र हि द्वैतमित्यादिना भेदकधर्मसत्तायां द्वैतदर्शनकथनपूर्वकं, 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येज्जिघ्रेदभिवदेच्छृणुयान्मन्वीत विजानीयाद् येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद् विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इत्यन्तेन, यत्र तु यस्मिन्नधिकरणे अस्य संबन्धि सर्वं स्थूलं सूक्ष्मं चात्मैवाभूद् आत्मरूपमेवाभूत् तत् तदा करणस्य विषयस्य च लयादैकरूप्ये करणविषयभावापगमात् केन कं पश्येदित्यादि । ननु यद्यप्यन्यल्लीनं, तथापि विज्ञाता तु तिष्ठति स यथा स्वप्ने स्वयंज्योतिः पश्यत्येवं स्वयं कुतो न विजानातीत्याकाङ्क्षायां विज्ञातुः स्वरूपस्यापि समुद्रे लवणस्येवात्मत्वं स्मारयति, विज्ञातारमित्यादिना । तथाच तदा विज्ञातापि न विज्ञातृरूपेणास्ति, किंतु गुणातीतेनात्मरूपेणातो न विजानातीत्युत्तरमुखेन सर्वस्य ब्रह्मतौल्यं च निरूपितम् । एवं च ब्रह्म न सर्वदा सर्वव्यवहारातीतं मोक्षे तथात्वेन श्रावितत्वाद् यदेवं तदेवं मैत्रेयीब्राह्मणश्रावितमर्ववदित्येवमत्रानुमानसिद्धेरस्य हेतुत्वं बोधितम् । तेनात्र यतो वेतिश्रुतिस्थोऽभिसंविशन्तीति भागः समर्थितः । किं चैतेनैव सर्वस्य शुद्धब्रह्मत्वमपि दर्शितमिति । तेन फलितमाहुः आदीत्यादि । आदावमृतत्वलिङ्गेन, मध्ये आत्मदर्शनादिना सर्ववेदनप्रतिज्ञामारभ्य, वागेकायनमित्यन्तेनावसाने सर्वस्यात्मभावकथनेन च तेषु शुद्धब्रह्मण एव सर्वरूपत्वेन सर्वकर्तृत्वेन चोपपादनाद् ये केऽपि वेदान्तास्ते सर्वे येनकेनचिद्रूपेण ब्रह्मैव वदन्तीति सर्वेषां वेदान्तानां ब्रह्मणि तात्पर्येणान्वय उचित इत्यर्थः ॥ ९ ॥

श्रुतत्वाच्च ॥ १० ॥ सप्तमं सूत्रं पठित्वा तद्विषयवाक्योपन्यासेनैव व्याकुर्वन्ति पूर्णमि-

रश्मिः ।

मान इति परंपरितजीवसंबद्धत्वमपीति छान्दोग्यीयेन 'अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य' इत्याद्युपदेशेन सिद्ध्यति । तत्केन कमिति जिघ्रेदित्यादिष्वेतत्पठनीयम् । अधोक्षजे सर्वव्यवहारातीतत्वेनेति वक्तुं सर्वेदेति । तथात्वेनेति सामान्येनेत्यर्थः । मैत्रेयीति 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्' इति पूर्वोक्तमैत्रेयीत्यादिः । अस्येति गतिसामान्यस्येत्यर्थः । आदाविति 'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्' इति श्रुतावित्यर्थः । ननु तर्हि घटादिभ्योपि ब्रह्मबोधो भवेदिति चेत्तत्राहुः येनकेनेति । तेन घटत्वादिभिर्बोधे न ब्रह्मबोधः । ब्रह्मत्वेन बोधे तु ब्रह्मबोधो भवत्येव । तात्पर्येणेति पत्यादिकेषु अभिधयान्वयः इति भावः ॥ ९ ॥

श्रुतत्वाच्च ॥ १० ॥ अभिसंवेशविचारमनुपूर्तौ सप्तसूत्रमिति भाष्यविरोधोतः सप्तममिति । पठित्वेति सर्वभाष्यरीत्या । तद्विषयेति तत्प्रसिद्धमुपबृंहितं विषयवाक्यं तस्योपन्यासेन । उपबृंहणं समाधिभाषा तेनाभिसंवेशनकथनेपि यत इत्यस्यार्थाकथनात् नाभिसंवेशान्ताधिकरणपूर्तिः । व्याकुर्व-

भाष्यप्रकाशः ।

ष्यादि । अयं बृहदारण्यके द्वितीयवंशब्राह्मणानन्तरं परिशिष्टलक्षणखिलकाण्डारम्भे वर्तते । अस्मिन् मध्ये तु सर्वस्य ब्रह्मात्मैकत्वनिर्णयार्थम् 'आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत्'इत्यादिश्रुत्यर्थ एवोपसंह्रियते । व्याख्या तु, पूर्णमदः, अदः परोक्षं ब्रह्म पूर्णम्, आकाशवद् व्यापि निरन्तरं निरुपाधिकम् । पूर्णमिदम्, इदं नामरूपाभ्यां व्यवह्रियमाणमवतारादिरूपमपि पूर्णं पूर्वोक्तरूपमेव । एवं व्यवहार्याव्यवहार्यस्वरूपयोर्निरुपाधिकत्वमुक्त्वा कार्यरूपेऽपि तथात्वमाह पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णात् कारणात्मनः सकाशात् पूर्णमुत् पूर्णानन्दं सद् अच्यते, पूर्णं सद् उदच्यते वा । अञ्चु गतिपूजनयोः, अच इत्येक इति पाणिनिः । पूज्यते उद्गच्छति वा । एवं स्थितिदशायां कार्यस्य ब्रह्मरूपतामुक्त्वा प्रलयदशायां तथात्वमाह । पूर्णस्य ब्रह्मणः पूर्णं निरुपाधिकमेकरसत्वलक्षणं स्वभावं प्रलयदशायामादाय पूर्णं ब्रह्मैव सदवशिष्यते अव्यवहार्यत्वेन रूपेण तिष्ठतीति । तथाचानया श्रुत्याऽसंदिग्धं यथा स्यात् तथा सर्वकार्यरूपत्वं ब्रह्मणः प्रतिपादितम् । तेन पूर्णज्ञानिनां व्यवहारदशायामपि कार्यं गुणातीतं ब्रह्माभिन्नमेव । व्यवहारस्तु भगवतः सत्यसङ्कल्पत्वाद् 'बहु स्यां प्रजायेय' इत्यादिरूपया इच्छयैव । नचात्र सर्वत्र पूर्णपदादुद्गतस्य कार्यस्यांशस्य च पूर्णैश्वर्यादिमत्त्वं शङ्क्यम् । ऐश्वर्यप्रकरणाभावात् । पूर्णैश्वर्यादिबोधकस्य भगवच्छब्दस्य भगवत्येवानुपचारिकत्वमिति विष्णुपुराणे सिद्धत्वात् । नच परममोक्षदशायां ब्रह्मैक्ये तत्र तथात्वं शङ्क्यम् । दशमस्कन्धे श्रीवसुदेवं प्रत्यखण्डाद्वैतोपदेशे, खं वायुरितिश्लोके भगवता सच्चिदानन्दधर्मतारतम्यादिकृतनानात्वाविरुद्धैकत्वस्यैव प्रतिपादनेन पूर्णैश्वर्यादीनां स्वस्मिन्नेव निय-

रश्मिः ।

न्तीत्यस्य विवृण्वन्ति स्येत्यर्थः । अयमिति मन्त्रः । एवेति उत्तराधिकरणादेवेति । यत इत्यस्य पूर्णार्थकत्वानुक्तेः विषयवाक्यमिव विषयवाक्यमित्युपचारस्तत्प्रयोजनं तु 'सदेव सोम्य' इत्यत्र सच्छब्दार्थनिर्णयद्वारा 'यतो वा' इत्यत्र यच्छब्दार्थनिर्णयः । विषयवाक्यं तु समाधिभाषा उपष्टम्भिका न वेति संदेहेनेति प्राप्तं सापेक्षत्वापत्तेर्वेदस्येति । उपष्टम्भिकेति सिद्धान्तः । 'इतिहासपुराणैस्तु वेदं समुपबृंहयेत्' इतिवाक्यात् । प्रामाणिकी सापेक्षतापि न दोषायेति । तथा चैवकारेण मुख्यविषयवाक्योपन्यासव्यवच्छेदः । अत्र सूत्रं विवृण्वन्तीति वक्तव्ये सप्तममित्यादेरयमर्थः । 'विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक् सम्यग्व्यवस्थितम् । सत्यं पूर्णम्' इति द्वितीयस्कन्धादाहुः सप्तममिति । अन्यथास्या एव श्रुतेर्ग्रहणे मानाभावापत्तिः । एवं तु सच्छब्दार्थपूर्णग्रहणार्थं सूत्रम् । तमेवोपसंहारं दर्शयन्ति व्याख्या त्वित्यादि । परोक्षमिति ।

'इदमः प्रत्यक्षगं रूपं समीपतरवर्तिनि चैतदो रूपम् ।
अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात्' ॥ इति

विष्णुपुराण इति ।

'ऐश्वर्यस्य समस्तस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा' ॥

इतिवाक्य इत्यर्थः । पूर्णैश्वर्यादीति पूर्णत्वं बृहदारण्यकोक्तं ज्ञेयम् । स्वजायाधनपुत्रकर्मात्मकमलौकिकं प्राणाग्निहोत्रोपनिषदि । प्रमाणबलेनाविषयः स्वेच्छया विषयश्चेति भाष्यादाहुः

ष्यते' इति श्रुत्यैवासंदिग्धं सर्वकार्यत्वं प्रतिपादितम् । 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इति च । चकारोऽधिकरणसंपूर्णत्वद्योतनाय ।

भाष्यप्रकाशः ।

मितत्वाच्च । अतः सर्वव्यवहारातीतत्वमनपहायैव सर्वव्यवहारविषयं ब्रह्मेत्यर्थः संपद्यते । एतेन फलितमाहुः सर्वे वेदा इत्यादि । तथाचाभिधया वृत्त्यापि सर्वे शब्दा ब्रह्मवाचका इति सर्वेषां वेदान्तानामभिधया तात्पर्येण च ब्रह्मण्येव समन्वय इत्यर्थः । अत्रेदं बोध्यम् । इयं श्रुतिः काठके द्वितीयवल्लीस्था, 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात् । अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत् पश्यसि तद्वद' इति प्रश्ने मृत्युनोक्ता । 'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्' इति पदं पदनीयं प्राप्तव्यमिति यावत् । आमनन्ति प्रतिपादयन्ति । यद्वदन्ति यत्प्राप्त्यर्थानि । संग्रहेण संक्षेपतः । तदेव संक्षेपत आह, ओमित्येतदिति । तथाचोङ्कारेण यत् संक्षेपत उच्यते तदेव सर्वैर्वेदैर्विस्तरेणोच्यत इत्यर्थः । एतदेव द्वादशस्कन्ध उपबृंहितं, 'समाहितात्मनो ब्रह्मन् ब्रह्मणः परमेष्ठिनः' इत्यारभ्य,

'ततोऽभूत् त्रिवृदोङ्कारो योऽव्यक्तप्रभवः स्वराट् ।
स्वधाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद् वाचकः परमात्मनः ।
स सर्वमन्त्रोपनिषद्वेदबीजं सनातनम्' ॥

इत्यादिभिः । तथाच बीजशक्तिरेव सर्ववृक्षे प्रसरतीत्योङ्कारस्य या परमात्मवाचकता सैव सर्वस्मिन् वेदतरौ प्रसृतेति सर्वे वेदा अभिधया प्रतिपादयन्तीति युक्तम् । किं च । जैमिनीये नये सर्वे शब्दाः प्रायेण धर्मवाचका एव । धर्मश्च घटत्वादिरूपः । त्वप्रत्ययश्च भावे । भाव इति भूधातोर्घञि रूपम् । भूधातुश्च सत्तायां व्याप्तौ वा । उभयथापि सतो व्यापकस्य वा धर्मो घटत्वादिरिति सिद्ध्यति । तादृशश्च धर्मी भगवानेवेति धर्मद्वारा भगवद्वाचका एव सर्वे शब्दाः । वैयाकरणमतेऽप्येवम् ।

'संबन्धिभेदात् सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु ।
जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः ॥
तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते ।
सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः' ॥ इति वाक्यपदीयात् ।

रश्मिः ।

अत इति । अधोक्षजत्वेन निषेधेन च प्राप्तं सर्वव्यवहारातीतत्वम् । भाष्योक्तस्वेच्छया विषयदशायामाहुः अभिधयेत्यादि । प्रमाणबलपर्यालोचने त्वाहुस्तात्पर्येणेति । तपांसि पुराणानि । वदव्रज गताविति गत्यर्थकाद्वदतेः शतरि रूपमिदं न तु क्रियापदमित्याशयेनाहुः यत्प्राप्त्यर्थानीति । नय इति मते । यद्यपि 'प्रयोगचोदनाभावादर्थैकत्वमविभागात्स्यात्' इत्यादिसूत्रेषु प्रथमाध्यायस्थेषु आकृतावेव शक्तिरिति स्थितं शास्त्रदीपिकायाम् । तथापि सर्वेषां न संभवति यथा 'यः सिक्तरेताः स्यात् स प्रथमामुपदध्यात्' इत्यादिश्रुतौ । सिक्तरेतस्त्वादेराकृतित्वाभावेन व्यक्तौ संबन्ध ईदृशस्थलेवश्यं तैरभ्युपगन्तव्यः । वैदिकपदार्थानां नित्यत्वेन न व्यक्त्यनित्यत्वप्रयुक्तं

भाष्यप्रकाशः ।

नैयायिकादिमतेन विशिष्टवाचकत्वपक्षेऽप्येषैव व्यवस्था । घञ् चात्र स्वार्थे । अन्यथाऽनवस्था स्यादिति । एवं पदवद्वर्णा अपि स्वभावतो भगवद्वाचका एव ।

'वेदाक्षराणि यावन्ति पठितानि द्विजातिभिः ।
तावन्ति हरिनामानि कीर्तितानि न संशयः' ॥

इति शिष्टवैदिकप्रसिद्धवाक्यात् । वाक्यानि तात्पर्येण बोधयन्तीति सर्वस्य वेदस्य भगवद्वाचकत्वमप्रत्यूहमिति । सौत्रस्य चस्य प्रयोजनमाहुः चकार इत्यादि । एवमत्र त्रिसूत्र्यां सुषुप्तिविचारेण दैनन्दिनप्रलयकर्तृत्वं, द्वितीये मोक्षविचारेणात्यन्तिकतत्कर्तृत्वं, तृतीये सर्वकार्यकर्तृत्वप्रतिपादनेन नैमित्तिकादितत्कर्तृत्वं बोधितमिति प्रतिभाति ।

रश्मिः ।

संबन्धानित्यत्वम् । अत एव व्यक्तावेव संबन्ध इति सिद्धान्त इति प्रस्थानरत्नाकरे । एतदभिप्रेत्याहुः प्रायेणेति । व्याप्तौ वेति भू प्राप्ताविति धातुपाठात् । एषैवेति जातिधर्मान्यतरविशिष्टवाचकत्वरूपेत्यर्थः । अत्रेति । 'तस्य भावस्त्वतलौ' इति सूत्रे सिद्धावस्थापन्ने धात्वर्थे घञ् न तु प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारतयाभिमत इत्यर्थः । यद्यपि वृत्तौ सिद्धावस्थापन्ने धात्वर्थे वाच्य इति विस्पष्टमुपलभ्यते तथापि प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारो भाव इत्यस्यापि संभाव्यतयोक्तिरियम् । अनवस्थेति त्वस्यार्थो भावः भावश्च घञा निष्पन्नो भावान्तर इत्यनवस्थेत्यर्थः । भगवद्वाचका इति न च न तथाप्रतीतिरिति वाच्यम् । संकेताग्रहेणाबाधकत्वात् । तदाहुः वेदाक्षराणीत्यादि । ननु 'यतो वा इमानि' इत्यादि वाक्यानां यद्धेतुका प्रत्यक्षभूतनिष्ठोत्पत्तिरित्याद्यर्थात् कथं ब्रह्मबोधकत्वमित्यत आहुः वाक्यानीत्यादि । तात्पर्यनिर्णयलिङ्गभूतैरुपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वताफलार्थवादोपपत्तिभिः 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' इत्यादिस्मृतेश्च भगवदिच्छया ब्रह्म बोधयन्तीत्यर्थः । ननु पूर्वं सृष्टेरुक्तत्वात् ब्रह्मणो व्यवहार्यत्वमपि लयाधारत्वेनैव वाच्यम् । इति सुषुप्तिमोक्षसर्वकार्यत्वविचारोऽप्रासङ्गिक इति चेत् तत्राहुः एवमत्रेत्यादि । दैनंदिनेत्यादि तत्स्वरूपं द्वादशस्कन्धे चतुर्थेऽस्ति ।

'नित्यदा सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां परंतप । उत्पत्तिप्रलयावेके सूक्ष्मज्ञाः संप्रचक्षते ॥
कालस्रोतोजवेनाशु ह्रियमाणस्य नित्यदा । परिणामिनामवस्थास्ता जन्मप्रलयहेतवः ॥
अनाद्यन्तवतानेन कालेनेश्वरमूर्तिना । अवस्था नैव दृश्यन्ते वियति ज्योतिषामिव' ॥ इति ।

तथा च देहादेर्दिने दिने ध्वंसो दैनंदिनप्रलयः । सुषुप्तिरपि दैनंदिनेति तादृशप्रलयकर्तृत्वं बोधितमित्यर्थः । तथा च सुषुप्तौ दिने दिने च ब्रह्मण्यप्यय इति सूत्रार्थः । आत्यन्तिकेत्यादि । अयं च मोक्षात्मा तदुक्तम्—

'यदैवमेतेन विवेकहेतिना मायामयाहंकरणात्मबन्धनम् ।
छित्त्वाच्युतात्मानुभवोऽवतिष्ठते तमाहुरात्यन्तिकमङ्ग संप्लवम्' ॥ इति ।

गतेः प्रलयरूपताकथनेनाप्रासङ्गिको मोक्षविचार इति परास्तम् । नैमित्तिकादिति । ब्रह्मणो निद्रां निमित्तीकृत्य प्रवर्तमानो लोकत्रयप्रलय इत्यर्थः । तदुक्तम्—

'चतुर्युगसहस्रं च ब्रह्मणो दिनमुच्यते । स कल्पो यत्र मनवश्चतुर्दश विशांपते ॥
तदन्ते प्रलयस्तावान् ब्राह्मी रात्रिरुदाहृता । त्रयो लोका इमे यत्र कल्पन्ते प्रलयाय हि ॥
एष नैमित्तिकः प्रोक्तः प्रलयो यत्र विश्वसृक् । शेतेऽनन्तासनो विश्वमात्मसात्कृत्य चात्मभूः' ॥

भाष्यप्रकाशः ।

अत्रैकदेशिन इमानि सूत्राणि सांख्यनिरासकतया व्याकुर्वते । तथाहि । सांख्यपरिकल्पितं प्रधानं जगत्कारणत्वेन नाश्रयितुं शक्यम् । अशब्दं हि तत् । कथमशब्दम् । ईक्षतेः । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्युपक्रम्य 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इति 'तत्तेजोऽसृजत' इति जगत्कारणस्येक्षणकर्तृत्वश्रावणात् । तथाऽन्यत्रापि । 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीदित्युपक्रम्य, स ईक्षत लोकान्नु सृजा' इति । क्वचिच्च षोडशकलं प्रस्तुत्य, स ईक्षाञ्चक्रे स प्राणमसृजतेति । ईक्षतेरिति धात्वर्थनिर्देशो लक्षणया । विषयिणा विषयलक्षणात् । यथा यजतेः । तेन 'यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः, तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते' इत्यादीनां सर्वज्ञेश्वरकारणपराणामपि वाक्यानां संग्रहः । नच सत्त्वधर्मेण ज्ञानेन प्रधानस्यापि सर्वज्ञताया ईक्षितृत्वस्य च शक्यवचनत्वान्नानेन प्रधानवारणमिति वाच्यम् । तस्य प्रधानावस्थायां गुणसाम्यात् सत्त्वधर्मस्य ज्ञानस्य तदानीमशक्यवचनत्वात् । तदा तदादरे रजस्तमोधर्मस्याप्यवर्जनीयत्वेन ज्ञानप्रतिबन्धस्यापि संभवेन किंचिज्ज्ञत्वस्याप्यापत्तेश्च । किंचासाक्षिकाऽसत्त्ववृत्तिर्न क्वापि जानाति, नाभिधीयत इत्यचेतनस्य प्रधानस्य सार्वज्ञ्यमनुपपन्नम् । नच योगिवदिति वाच्यम् ।

रश्मिः ।

इति । आदिना प्राकृतिकः प्रलयः । महदहंकारपञ्चतन्मात्राणां सप्तप्रकृतीनां तत्कार्यस्य ब्रह्माण्डस्य लयात्प्राकृतिकः । तदुक्तम् ।

'द्विपरार्धे त्वतिक्रान्ते ब्रह्मणः परमेष्ठिनः । तदा प्रकृतयः सप्त कल्पन्ते प्रलयाय वै ॥
एष प्राकृतिको राजन् प्रलयो यत्र लीयते । आण्डकोशस्तु संघातो विघात उपसादिते' ॥

इति द्विपरार्धं ब्रह्मायुस्तेनास्मिन् सूत्रेऽप्यप्रासङ्गिको विचार इति परिहृतम् । एकदेशिन इति । तथाहि ब्रह्मैकदेशस्य पुच्छरूपस्य ब्रह्मताङ्गीकारात् प्रमाणैकदेशस्य 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यस्य प्रमाणत्वेन स्वीकारात् । 'एवं कदाचिद्भगवान् साक्षात्सर्वं करोत्यजः' इत्यादिना षड्भेदभिन्ना सृष्टिरुक्ता निबन्धे । तत्रैकदेशस्यान्तरालिकसृष्टिरूपस्य स्वीकारादेकदेशित्वम् । स ईक्षत इति स ऐक्षितेति पाठः । (बृहदारण्यके तु स ऐक्षत इत्येव) । षोडशकलमिति । पुरुषमिति शेषः । स प्राणमसृजत प्राणात्खं वायुर्ज्योतिरापःपृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपोमन्त्राः कर्मलोकनाम चेति रथप्रभाकारेणोक्ताः षोडशकलाः । मन्वीक्षतेरिति धातुनिर्देशो भवति इक्श्तिपौ धातुनिर्देश इति कात्यायनस्मरणान्न तु धात्वर्थनिर्देश इत्यत आहुः ईक्षतेरितीति विषयी धातुः विषयो धात्वर्थः प्रतिपाद्यतासंबन्धेनेति यावत् । यथा यजतेरिति । यजतेरर्थपरत्वम् । 'इतिकर्तव्यताविधेर्यजतेः पूर्ववत्त्वम्' इति जैमिनिसूत्रे यजतिपदेन लक्षणया धात्वर्थस्य यागस्य कथनाद् बोध्यम् । ज्ञानमयमिति ज्ञानमीक्षणं तद्विकार इव विकार एव तप इत्यर्थः । सत्त्वधर्मेणेति प्रधानस्य त्रिगुणात्मकत्वेन ज्ञानस्य च 'सत्त्वात्संजायते ज्ञानम्' इतिस्मृतेः । सत्त्वधर्मत्वेन तथेत्यर्थः । सत्त्वधर्मस्येति सत्त्ववृत्तेरित्यर्थः । केवलसत्त्ववृत्तेर्ज्ञानत्वं स्वीकृत्य प्रधानस्य सर्वज्ञत्वं निरस्तम् । इदानीं जडवृत्तिर्ज्ञानशब्दार्थो न भवति किं तु साक्षिबोधविशिष्टा वृत्तिः वृत्तिव्यक्तबोधो वा ज्ञानं तज्जडस्य प्रधानस्य न संभवतीत्याहुः किं चासाक्षिकेति । क्वापीति देवदत्तो जानातीत्येव न तु घटो जानातीति । योगिवदिति सत्त्वोत्कर्षनिमित्तं सर्वज्ञत्वमिति शेषः । सेश्वरसांख्यमतमाहुः

भाष्यप्रकाशः ।

तेषां चेतनत्वेनादृष्टान्तत्वात् । यदि च तप्तायःपिण्डस्य दग्धृत्ववत् साक्ष्यधिष्ठितस्य प्रधानस्येक्षितृत्वं कल्प्यते, तदा तु यन्निमित्तं प्रधानस्येक्षितृत्वं तस्यैव सर्वज्ञत्वाज्जगत्कारणत्वं वक्तव्यम् । तद्धेतोरेवेति न्यायात् । नच ब्रह्मणो नित्यज्ञानत्वेन विवक्षितत्वादीक्षणात्मकज्ञानक्रियां प्रति स्वातन्त्र्यासंभवात् कथं सर्वज्ञत्वमिति वाच्यम् । प्रततौष्ण्यप्रकाशेऽपि सूर्ये सविता दहति प्रकाशत इति प्रयोगदर्शनादिहापि तद्वत् सत्यसति च ज्ञानकर्मभूते विषये नित्यज्ञानतया तादृशप्रयोगोपपत्तेः । नच प्राक् सृष्टेः पदार्थान्तराभावादीक्षणात्मकस्येश्वरज्ञानस्य निर्विषयत्वं शङ्क्यम् । तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वाच्ययोर्नामरूपयोर्व्याचिकीर्षितत्वेन तयोरेव विषयत्वात् । नच तयोरनागतत्वेनाविषयत्वं शङ्क्यम् । अतीतानागतविषयकज्ञानस्य योगिषु दर्शनात् तस्येश्वरे तादृशाशङ्काया एवासंगतत्वात् । नच प्राक् सृष्टेर्ब्रह्मणोऽशरीरित्वादीक्षितृत्वमनुपपन्नमिति शङ्क्यम् । सवितृप्रकाशवद् ब्रह्मणो नित्यज्ञानस्वरूपत्वेन ज्ञानसाधनानपेक्षत्वात् । 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' इति, 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' इतिमन्त्राभ्यामपि तथा निश्चयात् । नच चैतन्यैक्य[?]दिनो जीवेश्वरभेदाभावात् संसारिणो जीवस्यापि तथाज्ञानापत्तिरिति शङ्क्यम् । घटगिरिगुहाद्युपाधिभेदेन व्योम्न इव ब्रह्मचैतन्यस्याप्युपाधिभेदेन भेदस्याप्यङ्गीकारेणोक्तदूषणाभावादित्यादि । तज्जयतीर्थेन माध्वेनैवं दूष्यते । सांख्यप्रतिपन्नं प्रधानं न श्रौतं जगत्कारणं, तदैक्षतेतीक्षतिश्रवणादशब्दं तदिति यद् व्याख्यातं तदयुक्तम् । तथाहि । अत्राशब्दमित्यनेनोक्तमश्रौतत्वं न सांख्यस्य प्रतिवादिनः सिद्धम् । तेन वैदिकत्वाभ्युप-

रश्मिः ।

यदि चेत्यादि । तद्धेतोरेवेति हेतुहेतुमतोर्हेतुत्वे तद्धेतोरेव हेतुता इति न्यायादित्यर्थः । सर्वज्ञत्वं नाम ज्ञानकर्तृत्वमिति मत्वाशङ्कां निषेधन्ति न च ब्रह्मण इत्यादि । ज्ञानक्रियामिति ईक्ष दर्शनाङ्कनयोरिति धातुपाठाज् ज्ञानस्य धात्वर्थत्वेन क्रियात्वम् । भूवादयो धातवः क्रियावाचिन इति । नित्यस्यापि ज्ञानस्य तत्पदार्थोपहितत्वेन ब्रह्मस्वरूपाद् भेदं कल्पयित्वा कार्यत्वोपचाराद् ब्रह्मणस्तत्कर्तृत्वव्यपदेशः साधुरिति सदृष्टान्तमाहुः प्रततेत्यादि । तद्वदिति दाहप्रकाशयोः कर्मभूते विषये सत्यसति च प्रयोगवत् । ज्ञानकर्मेति । सर्वं जानातीत्यत्र नित्येति । नित्यत्वं ज्ञाने विषयाविनाभूतत्ववत् विषयविनाभूतत्वमपीति । तादृशेति सर्वं जानातीति प्रयोगोपपत्तेरित्यर्थः । तत्त्वान्यत्वाभ्यामिति सतोऽबाधात् सत्त्वेनानिर्वाच्ययोरसतोऽप्रत्ययादसत्त्वेनानिर्वाच्ययोरित्यर्थः । ईश्वरत्वेश्वरान्यत्वाभ्यामिति वार्थः । सत्तामात्रत्वान्नामरूपयोः प्राक् सृष्टेरिति भावः । गङ्गानिष्ठशुक्लत्वनीलत्वाभ्यां गङ्गात्वगङ्गातीरत्वाभ्यां सर्वात्मत्ववदवाच्यानिर्वाच्ययोर्वा नामरूपयोः । घटगिरीति मलिनसत्त्वप्रधानाऽविद्या जीवोपाधिः शुद्धसत्त्वप्रधाना मायेश्वरोपाधिः । यत्र मते त्वणुत्वं वास्तविकं यत्तदेव भेदकम् । इत्यादीति आदिना यदुक्तं प्रधानस्यानेकात्मकत्वात् मृदादिवत्कारणत्वोपपत्तिर्नासंहतस्य ब्रह्मण इति तत्प्रधानस्याशब्दत्वेनैव प्रत्युक्तम् । यथा तु तर्केणापि ब्रह्मण एव कारणत्वं निर्वोढुं शक्यते न प्रधानादीनां तथा प्रपञ्चयिष्यति 'न विलक्षणत्वादस्य' इत्येवमादिनेति भाष्यसंग्रहः । अशब्दपदेन प्रधानं न ग्रहीतुं शक्यमित्याह अत्राशब्दमित्यादि । इतीति तथाच सगुणस्य कारणता न स्यात् किं तु

भाष्यप्रकाशः ।

गतेः । नापि स्वन्यायेन तदुक्तिः । अजामेकामित्यादौ प्रधानस्य श्रुतत्वात् । नच तत्रान्यत् कल्प्यम् । नाममात्रे विवादाद्दर्शनान्तरस्य चाभावात् । किं च ब्रह्मणोऽपि श्रौतत्वं न युक्तम् । अवाच्यत्वात् । अवाच्ये वृत्त्यन्तरायोगात् । नापि तस्येक्षितृत्वम् । तस्येक्षतिस्वरूपत्वात् । नच मायावच्छिन्नस्य जगत्कारणस्येक्षितृत्वं संभवतीति वाच्यम् । जिज्ञास्यस्यैव जगत्कारणताया उक्तत्वात् । नहि जिज्ञास्यं मायावच्छिन्नम् । तज्जिज्ञासाया अप्रयोजकत्वात् । किंच माययेक्षितृत्वं भवत्युपचर्यते वा । आद्ये दृश्यत्वाद्यपि किं न स्यात् । द्वितीये प्रधानेऽपि तत्संभवादिति ।

मम त्वन्यदपि स्फुरति । सूत्रव्याख्याने यदुक्तम्, ईक्षतेरिति धात्वर्थनिर्देशो लक्षणया विषयिणा विषयलक्षणाद् यथा यजतेरिति तदपि फल्गिवति । सूत्राणां वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वस्य पूर्वं स्वयमेव कथनादत्रापि पूर्वं विषयवाक्योपन्यासाद्वाक्यविशेषगतत्वेन स्वार्थप्रत्यायकस्यैव धातोर्निर्देशस्य सूत्रकाराशयगोचरतया लक्षणाया अत्राविवक्षितत्वात् । किंच पञ्चशिखवृत्तौ ब्रह्मपदस्य प्रधानवाचकताङ्गीकारात् तेन चेत् तत् स्मरेत् तदा प्रसङ्गे जात आनुमानिकादिसूत्राण्यप्यत्रैव वदेत् । जन्मादिसूत्रविषयश्रुत्या तु न वक्तुं शक्यम् । तत्र तत्प्रसङ्गाभावात् । श्रुत्यन्तराणां त्वानुमानिकपाद एव विचारादिति । सूत्रान्तरव्याख्यानं तु नातिविरुद्धमित्युपरम्यते । हेयत्वावचनसूत्रे चकारं प्रतिज्ञाविरोधाभ्युच्चयार्थमाहुः श्रुतत्वाच्चेति । चकारप्रयोजनं न किमप्याहुः ।

रश्मिः ।

शुद्धसत्त्वप्रधानमायामात्रस्य । पूर्वमिति जन्मादिसूत्र इत्यर्थः । अविवक्षितत्वादिति तेन 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्यादीनां संग्रहो य उक्तः सोप्यसंगत इति भावः । अधुनास्मिन् प्रधाननिरूपणरूपपूर्वपक्षोत्थानमसंगतमित्याहुः किंचेत्यादि । अत्र प्रधानस्मारकपदाद्यभावेन प्रसङ्गसंगतेर्वक्तुमशक्यत्वात् । उपोद्घातादीनां चासंभवादसंगतमिदं स्यात् । यदि च ब्रह्मपदस्य प्रकृतिवाचकत्वं सांख्यसंमतमिति जिज्ञासासूत्रेण प्रधानं स्मरेदिति नासंगतं प्रधाननिरूपणरूपपूर्वपक्षोत्थानमिति विभाव्यते तदा दूषणान्तरमाहुः पञ्चशिखेत्यादि । सूत्राणीति चतुर्थपादे वक्ष्यमाणानि । जन्मादीत्यादि 'यतो वा इमानि भूतानि' इतिश्रुत्या जन्मादिसूत्रेण चेत्यर्थः । तया च जगत्कर्तृत्वेनार्थेन प्रधानस्मरणं वक्तुं शक्यं प्रधाने जगत्कर्तृत्वस्य सांख्याभिमतत्वादित्यपि नेत्यर्थः । तत्प्रसङ्गेति किं तु 'अधीहि भगवो ब्रह्म' इति ब्रह्मण एवोपक्रान्तत्वात्तत्संगतिरिति भावः । जन्मादिसूत्रविषयश्रुतिपदस्योपलक्षकत्वात् । श्रुत्यन्तराणामिति 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः' इत्यादीनामित्यर्थः । विचारादिति जीवप्रकरणेन जीवपरत्वोपपादनरूपाद्विचारात् । तथा चात्र सूत्रे प्रधानस्मरणाभावात्पूर्वपक्षोऽसंगत एवेति भावः । ईक्षतिसूत्रे प्रधानस्मरणस्यासंगतत्वेनाग्रेपि तत्स्मरणस्यासंगतत्वमित्याशयेनाहुः नातिविरुद्धमिति । प्रतिज्ञेत्यादि यथारुन्धतीं दिदर्शयिषुस्तत्समीपस्थां स्थूलां तारामसुख्यां प्रथममरुन्धतीं ग्राहयित्वा तां प्रत्याख्याय पश्चादरुन्धतीमेव ग्राहयति तद्वन्मुख्यमात्मानमुपदिदिक्षुः प्रधानस्य हेयत्वं वदेत् स आत्मा तत्त्वमसीत्यत्र न चैवमवोचदिति सूत्रं व्याख्याय 'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतम्' इत्याद्युपक्रमे श्रावणात् कारणविज्ञानेन

भाष्यप्रकाशः ।

भास्कराचार्या अप्येतदधिकरणं प्रधानकारणतानिरासायैवेति व्याचक्रुः ।

रामानुजाचार्यास्तु, मुख्यतया प्रधानकारणवादनिरासं व्याख्याय निर्विशेषचिन्मात्रब्रह्मवादोऽप्येताभिर्युक्तिभिः सूत्रकारेण निरस्यते । पारमार्थिकमुख्येक्षणादिगुणयोगिजिज्ञास्यं ब्रह्मेति स्थापनात् । निर्विशेषवादे हि साक्षित्वमप्यपारमार्थिकम् । वेदान्तवेद्यं ब्रह्म च जिज्ञास्यतया प्रतिज्ञाय तथेक्षतेर्नाऽशब्दमित्यादिसूत्रैश्चेतनमिति प्रतिपाद्यते । चेतनत्वं नाम चैतन्यगुणयोगः । अत ईक्षणगुणविरहिणः प्रधानतौल्यमेव । किंच निर्विशेषप्रकाशमात्रब्रह्मवादे तस्य प्रकाशत्वमपि दुरुपपादम् । प्रकाशोऽपि नाम स्वस्य परस्य च व्यवहारयोग्यतामापादयन् वस्तुविशेषः । निर्विशेषवस्तुनस्तदुभयरूपत्वाभावाद् घटादिवदचित्त्वमेवेति । अथ तदुभयरूपत्वाभावेऽपि तत्क्षमत्वमस्तीति चेन्न । तत्क्षमत्वं हि तत्सामर्थ्यवत्त्वम् । तत्सत्त्वे निर्विशेषत्वहानेः । अथ श्रुतिप्रामाण्यादयमेको विशेषोऽभ्युपगम्यते, हन्त तर्हि सर्वज्ञशक्तित्वादयोऽन्येऽपि तथेति निर्विशेषवाद एव त्यक्तः स्यादित्याद्याहुः ।

शैवस्तु रामानुजमतस्यैव चौरो मध्वमतस्य च क्वचित् क्वचित् तद्विरुद्धां शैवश्रुतिमुदाहरन् भिन्नं प्रस्थानमभिमन्यते । तन्मते ईक्षत्यधिकरणं जन्माद्यधिकरणोक्तलक्षणस्य प्रधानेऽतिव्याप्तिवारणाय । आनन्दमयाधिकरणं च जीवेऽतिव्याप्तिवारणायेति ।

मध्वाचार्यास्तु, 'यतो वाचः', 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्', 'अवचनेनैव प्रोवाच' 'यद्वाचानभ्युदितम्' इत्यादिषु श्रुतिषु वाच्यत्वनिषेधाद् ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वसूत्रोक्तं शास्त्रप्रमाणकत्वं न युज्यत इति पूर्वपक्षनिवृत्त्यर्थमीक्षत्यधिकरणम् । तत्र विषयवाक्यं तु, 'स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते', 'आत्मन्येवात्मानं पश्येत्', 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत'इत्यादि । एतेष्वीक्षणीयत्वश्रावणाद् वाच्यमेव ब्रह्म । न चेक्षणस्य दर्शनात्मकत्वात् कथं तेन वाच्यत्वसिद्धिरिति शङ्क्यम् । 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति वाक्यान्तरे उपनिषदेकगम्यत्वश्रावणेन प्रत्यक्षाद्यवेद्यत्वे सिद्धे वचनेनैवेक्षणस्य विवक्षितत्वात् । नचाऽवचनेनोवाचेत्यादिश्रुतिविरोधः । तत्र साकल्येनावचनस्य विवक्षितत्वात् ।

'अप्रसिद्धेरवाच्यं तद् वाच्यं सर्वागमोक्तितः ।
अतर्क्यं तर्क्यमज्ञेयं ज्ञेयमेवं परं स्मृतम्' ॥

इति गारुडेन तथानिश्चयादिति व्याख्यायाग्रे प्रधानस्याश्रौतत्वं न सांख्यमतसिद्धमतस्तस्याशब्दत्वव्यवस्थापनमसंगतमिति सूचयन्ति । ततो गौणश्चेत्यादिसूत्रेषु जीवात्मनीक्षणीयत्ववाच्यत्वादिश्रौतगुणयोगं नानाश्रुतिस्मृत्युपन्यासेन निराकुर्वन्ति । समाप्तौ च पुनरपि

रश्मिः ।

सर्वविज्ञानमिति प्रतिज्ञानस्य विरोधः । नहि सच्छब्दवाच्ये प्रधाने भोग्यवर्गकारणे हेयत्वेनाहेयत्वेन वा ज्ञाते भोक्तृवर्गो विज्ञातो भवतीति । चकारं प्रतिज्ञाविरोधसमुच्चयार्थमाहुरित्यर्थः । चौर इति भगवच्चौर इत्यर्थः । अतिव्याप्तीति तेनैतन्मते मध्वरामानुजमतोक्तं ज्ञेयम् । तथेतीति प्रमाणभूतश्रुतिबोधिता इति निश्चयादित्यर्थः । नानाश्रुतिस्मृतीति ।

'यो गुणैः सर्वतो हीनो यश्च दोषविवर्जितः ।
हेयोपादेयरहितः स आत्मेत्यभिधीयते' ॥

भाष्यप्रकाशः।

सिंहावलोकनन्यायेन ब्रह्मणोऽवाच्यत्वमेव युक्त्यन्तरैर्दूषयन्ति।

तत्रेदमवधेयम्। तथाहि। द्विविधं कपिलसूत्रप्रसिद्धं सांख्यम्। समासरूपमष्टाविंशतिसूत्रम्। तदुपरि पञ्चशिखर्षेर्वृत्तिः। प्रवचनसूत्रात्मकं च षडध्याययुक्तम्। तत्राद्ये तु शास्त्रप्रतिपाद्यानामर्थानामुद्देशमात्रं नान्यत्। द्वितीये तु, 'सत्त्वरजस्तमःसाम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकारोऽहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं स्थूलभूतानि पुरुष इति। पञ्चविंशतिर्गणः' इत्येकस्मिन् सूत्रे सर्वानुद्दिश्य ततोऽग्रे 'स्थूलात् पञ्चतन्मात्रस्य', 'बाह्याभ्यान्तराभ्यां तैरहंकारस्य', 'तेनान्तःकरणस्य', 'ततः प्रकृतेः', 'संघातपरार्थत्वात् पुरुषस्य' इति पञ्चसूत्र्या स्थूलभूतानि प्रत्यक्षसिद्धान्यादाय तेभ्यः कार्येभ्य उपरितनानामानुमानिकत्वमेव कपिलाचार्यैरादृतम्। ततोऽग्रे यद्यपि 'प्रधानाज्जगज्जायते' इति श्रुतिं सूत्राकारेण पठन्ति त्रिविधं प्रमाणं चाङ्गीकुर्वन्ति, तदप्युक्तोपष्टम्भायैव, न तु शब्दस्य प्राधान्याय। अत एव व्यासचरणैरप्यानुमानिकसूत्रे तथैव तन्मतं सूचयित्वा दूष्यते। तेन सांख्यमते प्रकृतेर्मुख्यतया शब्दगम्यत्वाभावेनाशब्दत्वमेव सिद्ध्यति। शब्दगम्यत्वस्यानुमानिकपादे निराकरणेन तस्याभिमानिकत्व एव पर्यवसानादिति। अत एतद्व्यतिरिक्तं सर्वं

रश्मिः।

'एतदन्यस्वभावो यः स नात्मेति सतां मतम्।
अनात्मन्यात्मशब्दस्तु सोपचारः प्रयुज्यते'॥

इति वामन इति स्मृतिः 'द्वे वा व ब्रह्मणो रूपे आत्मा चैवानात्मा च तत्र यः स आत्मा स नित्यः शुद्धः केवलो निर्गुणश्च अथ ह योऽनीदृशः सोऽनात्मा' इति तलवकारश्रुतिः। **युक्त्यन्तरैरिति** न ह्यशब्दः श्रूयते न चाप्रसिद्धं कल्प्यं सर्वशब्दावाच्यस्य लक्षणायुक्तेरित्येवं युक्त्यन्तरैरित्यर्थः। प्रधानस्याश्रौतत्वं न सांख्यमतसिद्धमिति भागोऽसंगतः। तन्मते प्रधानादीनामानुमानिकत्वेनाश्रौतत्वात्। अन्यत्सर्वं संगतमित्याहुः **तत्रेदमित्यादि**। **नान्यदिति**। तथा च तस्य प्राथम्येपि विस्पष्टप्रतीत्यजनकत्वान्नोच्यत इति भावः। **द्वितीये त्वित्यादि** प्रवचनसूत्रात्मके। सत्त्वरजस्तमसामिति व्यस्तोपि पाठः। **आनुमानिकत्वमिति** 'कार्यात्कारणानुमानं तत्साहित्यात्'। 'अव्यक्तं त्रिगुणाल्लिङ्गात्'। 'तत्कार्यतस्तत्सिद्धेर्नापलापः'। 'सामान्येन विवादाभावात्' 'धर्मवदनुमानम्' इति सांख्यप्रवचनसूत्रेषु सत्त्वादिधर्मवदव्यक्तस्यानुमानेन तथेत्यर्थः। अथवा 'अचाक्षुषाणामनुमानेन बोधो धूमादिभिरिव वह्नेः' इति सूत्रे तथेत्यर्थः। तथा च स्थूलभूतातिरिक्तानां प्रकृत्यादीनामानुमानिकत्वमेवेति भावः। ननु 'प्रधानाज्जगज्जायत इति' इतिसूत्रे प्रधानं श्रौतमित्यप्यादृतं तत्राहुस्ततोऽग्र इति। स्थूलादित्याद्यारभ्य त्रयोदशसूत्रीपठनानन्तरमित्यर्थः। **श्रुतिमिति** इतिशब्दान्तां श्रुतिम्। **त्रिविधमिति** 'त्रिविधं प्रमाणं तत्सिद्धौ सर्वसिद्धेर्नाधिक्यसिद्धिः' इति सूत्रेणेत्यर्थः। तच्च प्रत्यक्षानुमानशब्दात्मकम्। **उक्तोपष्टम्भायेति** प्रकृत्यादीनां यदुक्तमानुमानिकत्वं तदुपष्टम्भायेत्यर्थः। 'प्रधानाज्जगज्जायते' इति जगता प्रधानमनुमातव्यमिति श्रुतिमात्रप्रामाण्ये पूर्वोक्तं न सिद्ध्येदिति प्रमाणत्रयमङ्गीकृतमिति हृदयम्। **प्राधान्यायेति** तथा च प्रधानादित्यादिसूत्रं प्रधानस्य जगत्कर्तृत्वबोधने परिसमाप्तं न तस्य श्रौतत्वबोधनायालमिति भावः। **तथैवेत्यादि**। **आनुमानिकमिति** प्रकृत्यादि-

भाष्यप्रकाशः।

सम्यगेव। अत एव भाष्यान्तरेऽपि प्रकृतेस्तथात्वस्यैवादरणमिति दिक्।

विज्ञानेन्द्रभिक्षुस्तु, ननु यदि प्रलये प्रधानादिसमन्वयो ब्रह्मण्युपगतस्तर्हि तस्यैव श्रुत्युक्तं जगत्कारणत्वमस्तु। भवदभिमतब्रह्मकल्पने तस्य जगदधिष्ठानकारणत्वकल्पने च गौरवात्। सांख्यसूत्रेष्वीश्वरस्य निराकृतत्वात्। ब्रह्मशब्दश्च व्यापकत्वात् प्रधानजीवयोरुपपद्यत एव। अधिष्ठानकारणत्वं च जीवानामेवास्तु। समस्तकार्याणामदृष्टद्वारा जीवकार्यत्वस्य अदृष्टवदात्मसंयोगजन्यतया जीवाधेयत्वस्य च सर्वास्तिकसंमतत्वात्। 'सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद' इति, 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि,' 'येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि' इति जीवप्रकरणस्थश्रुतिस्मृतिभ्यामपि तथावसायाच्च। अतः शास्त्रस्य नित्येश्वरपरत्वे शास्त्रयोनित्वादितिहेतुराश्रयासिद्धः। कार्येश्वरपरत्वे च पृथक् शास्त्रारम्भवैफल्यम्। सांख्यादिभिरेव तथाविधब्रह्मनिरूपणादिति शङ्कायामिदं सूत्रं प्रवृत्ते। ईक्षतेर्नाशब्दमिति। विवादास्पदप्रधानादिभ्योऽतिरिक्तं ब्रह्म न अशब्दं, न अशास्त्रयोनि, न जगत्कारणश्रुत्यप्रतिपाद्यमिति यावत्। कुतः। ईक्षतेः। इतरावृत्तिश्रुत्युक्तेक्षतिधर्मकत्वात्। तथाच कारणश्रुतिः पराभिमतप्रधानाद्यन्यविषया, तदवृत्तिधर्मप्रकारेण बोधकत्वात्। आकाशाद् वायुरित्यादिश्रुतिवदिति। अथवा तज्जगज्जन्मादिकारणं ब्रह्म चेतनमचेतनं वा। चेतनत्वेऽपि स्वयंभूस्तदतिरिक्तो वेति विशेषाकाङ्क्षायां प्रवृत्ते ईक्षतेर्नाशब्दमिति। जगत्कारणं ब्रह्म ना पुरुष एव। कुतः ईक्षतेः। ईक्षणश्रुतिगोचरत्वात्। अत एवेक्षणात् तद् ब्रह्म अशब्दं शब्दब्रह्मणो हिरण्यगर्भादतिरिक्तं च भवति, सुतरां पुरुषान्तरेभ्य इत्यर्थः। हिरण्यगर्भस्य वेदमयत्वेन वेदगर्भत्ववच्छब्दब्रह्मत्वमपि स्मर्यते

'पूर्वस्यादौ परार्द्धस्य ब्राह्मो नाम महानभूत्।
कल्पो यत्राऽभवद् ब्रह्मा शब्दब्रह्मेति यं विदुः'॥

इति भागवतादिष्विति। एवं द्विधा सूत्रं व्याख्याय, तदैक्षत बहु स्यामितिविषयवाक्यं दर्शयित्वा।

रश्मिः।

विशेषणदानेनानुमानिकं प्रकृत्यादीति तन्मतं सूचयित्वेत्यर्थः। **भाष्यान्तर इति** अनुव्याख्यानसंज्ञके मध्वभाष्य इत्यर्थः। **तथात्वस्यैवेति** मुख्यतयात्राऽशब्दत्वस्यैवेत्यर्थः। यथाहुः।

'न च सांख्यनिराकृत्यै सूत्राण्येतान्यचिक्लृपत्।
भगवान् न ह्यशब्दत्वं प्रधानेऽङ्गीकरोत्यसौ'॥

इति। **तस्यैवेति** अविभक्ततया स्थितस्य ब्रह्मणः 'अविभक्तं च भूतेषु' इति वाक्यात्। **भवदभीति** प्रायोपाधिक इत्यर्थः। पदार्थद्वयकल्पने गौरवात्। प्रकृत्यविभक्तं तु क्लृप्तमेवेति गौरवम्। **जगदधिष्ठानेति** एतदुपपादितम्। **सांख्यसूत्रेष्विति** 'ईश्वरासिद्धेः' इत्यादिष्वित्यर्थः। 'मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः'। 'उभयथाप्यसत्कारत्वम्'। 'मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासासिद्धस्य वा' इति सूत्रेष्वित्यर्थः। **अधिष्ठानेत्यादि** उक्तसूत्राग्रे 'तत्संनिधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्' इतिसूत्रस्यैवेत्यर्थः। 'विशेषकार्येपि जीवानाम्' 'सिद्धरूपबोद्धृत्वात् वाक्यार्थोपदेशः' 'अन्तःकरणस्य तदुज्ज्वलितत्वाल्लोहवदधिष्ठातृत्वम्' इतिसूत्राण्यालोच्याह **समस्तेत्यादि**। **शास्त्रयोनित्वहेतोरी**श्वरेऽभावाज्जीवेनादावाहुः **आश्रयेति**। **शास्त्रारम्भेति**। शास्त्रं वेदान्तः। **नेति** चेतन

१. अनुव्याख्याने। २. तप्तायःपिण्डवत्।

भाष्यप्रकाशः।

'सर्गकाले तु संप्राप्ते ज्ञात्वा तं कालरूपकम्।
अन्तर्लीनविकारं च तत् स्रष्टुमुपचक्रमे।
तस्माद्व्यक्तमुत्पन्नं ततश्चापि महानभूत्'॥

इति स्मृतिं च दर्शयित्वाह। नहीदमीक्षणं प्रधानादीनामचेतनानां संभवति। ईक्षणध्यानचिन्तनादिशब्देषु चैतन्यस्य विशेष्यत्वात्। ईक्षणादिशब्दस्योपाधिवृत्तिवाचकत्वेऽपि प्रकृतिस्वातन्त्र्यवादिभिरपि प्रधाने तत्पूर्विकाया वृत्तेरनङ्गीकाराच्च। नापि जीवानां, महदादिसृष्टेः पूर्वं करणाभावेन तेषां चैतन्यफलोपधानाभावात्। नचेयमीक्षणपूर्विका सृष्टिर्महत्तत्त्वसृष्टेः पश्चादिति वक्तुं शक्यम्, तथा सतीक्षणात् पूर्वमपि द्वैतापत्त्या, 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इतीक्षणाव्यवहितपूर्वश्रुत्यनुपपत्तेः। ततश्चापि महानभूदिति स्मृतिविरोधाच्च। नच तत् पूर्वसर्गीयमिति वक्तुं शक्यम्। सर्गकाले तु संप्राप्ते ज्ञात्वेति सर्गसमकालीनज्ञानावगमादित्यादि। ततः शांकरमतीयं सूत्रव्याख्यानं, मायां तु प्रकृतिं विद्यादिति श्रुतिव्याख्यानं च दूषयित्वा ततः सांख्ययोगयोर्वेदाविरुद्धत्वं च साधयित्वा रजस्तमःसंभिन्नतया मलिनं कार्यसत्त्वं परमेश्वरस्य नोपाधिः, किंतु केवलं नित्यज्ञानेच्छानन्दादिमत् सदैकरूपं कारणसत्त्वमेव तस्योपाधिः। 'न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गम्' इत्यागामिसूत्रात्। ब्रह्मविष्णुमहेश्वरास्तु सृष्टिस्थितिसंहाराधिकारिणः कार्यसत्त्वाद्युपाधिका महदाख्या अवान्तरेश्वरा एव। तेषां च कार्योपाधित्वम्।

'गुणेभ्यः क्षोभ्यमाणेभ्यस्त्रयो देवा विजज्ञिरे।
एका मूर्तिस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
सात्त्विको राजसश्चैव तामसश्च त्रिधा महान्'॥

इति मात्स्यादिभ्यः। बुद्ध्याख्यसमष्टिमहत्तत्त्वं हि त्रिगुणात्मकरज्जुवत् त्रिगुणात्मकमेकमेव। सत्त्वाद्यंशभेदेन त्रयाणां देवानां च शरीरं भवतीत्येका मूर्तिरित्युच्यते हरिहरात्मकदेहवत्। अत एव चैतत्सूक्ष्मशरीराधारभूतं विराडाख्यं स्थूलशरीरमेकमेवेति त्रयाणामेव विश्वरूपत्वमुपपद्यते। त्रयश्च देवाश्चेतनरूपा भिन्ना एव। अत एव त्रयाणामेकपिण्डतया वातपित्तकफवत् परस्परसापेक्षत्वात्।

रश्मिः।

इत्यर्थः। विशेष्यत्वादिति आश्रयतयाऽपेक्षणीयत्वेन तथात्वादित्यर्थः। ईक्षणादिमच्चैतन्यमिति प्रयोगोऽत्र। नन्वीक्षणादेर्द्वित्वादिवद्व्यासज्यवृत्तित्वेन शबलवृत्तित्वात् प्रधानज्ञानवाचकत्वमपि निर्दुष्टमिति शङ्कायामाहुः ईक्षणेत्यादि। तत्पूर्विकाया इति चैतन्यवृत्तिपूर्विकायाः प्रधानवृत्तेरित्यर्थः। उपाधिपूर्विकाया वा, वृत्तिर्ज्ञानविशेषः। नापीत्यादि ईक्षणं संभवतीति योजना। करणेत्यादि शरीरेन्द्रियादिरूपस्य करणस्याभावेनेत्यर्थः। चैतन्येत्यादि जीवानां चैतन्यस्य फलं कार्यं तस्य यदुपधानं जननयोग्यत्वं तदभावादित्यर्थः। 'मनोमात्रमिदं ज्ञात्वा' इत्यादिवाक्यान्महत्तत्त्वाख्यं मनो ब्रह्मण्यन्तर्भाव्याशङ्कते न चेयमिति। द्वैतापत्त्येति महदादिसर्जनार्थं शरीराद्यपेक्षणादिति भावः। महत्तत्त्वेन द्वैतापत्तिर्वा। इतिस्मृतीत्यादि महत्सृष्टेः पूर्वमीक्षणबोधकस्मृतिविरोधाच्चेत्यर्थः। ततश्चेत्यादि तत इत्यनेनाव्यक्तपरामर्शादिति भावः। तत्पूर्वेति। तदिति स्मृत्युक्तं महत्सर्जनम्। सर्गसमेति 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' इति क्त्वो विधायकसूत्रात्तयेत्यर्थः। संभिन्नतयेति

भाष्यप्रकाशः।

'अन्योन्यमनुरक्तास्ते ह्यन्योन्यमनुजीविनः।
अन्योन्यं प्रणताश्चैव लीलया परमेश्वराः'॥

इति मत्स्यादिवाक्यमप्युपपन्नम्। एतेन त्रयाणां भेदाभेदावपि व्याख्यातौ वेदितव्यौ। ननु तेषां कार्योपाधिकत्वेऽपि, 'त्रिधा कृत्वाऽऽत्मनो देहं सोऽन्तर्यामीश्वरः स्थितः' इति स्मृतेर्योगिकायव्यूहवल्लीलावतारत्वमेवाऽस्तु, किमर्थं विष्ण्वादीनां चेतनान्तरत्वं कल्प्यत इति चेन्न। कौर्मे—

'प्रधानं पुरुषं चैव प्रविश्याशु महेश्वरः।
क्षोभयामास योगेन परेण परमेश्वरः॥
प्रधानात् क्षोभ्यमाणाच्च तथा पुंसः पुरातनात्।
प्रादुरासीन्महद्बीजं प्रधानपुरुषात्मकम्'॥

इत्यनेन, तथा विष्णुपुराणादिषु च पुरुषान्तरेण सह प्रकृतिं संयोज्यैव परमेश्वरस्तदुभयात्मकं देवतात्रयरूपं महान्तं सृजतीत्यवगमात्।

'ब्रह्मादीनां त्रयाणां तु स्वहेतौ प्रकृतौ लयः।
प्रोच्यते कालयोगेन पुनरेव समुद्भवः'॥

इति मात्स्यादिभ्यस्तेषामुत्पत्तिलयसिद्धेश्च। अस्मिन् कूर्मवाक्ये ईश्वरप्रवेशो जीवस्य ज्ञानेच्छाप्रयत्नव्यापनरूपः। क्षोभश्च गुणद्वारा। योगश्चैकाग्र्यम्। अयं च क्षोभः संयोगविशेषद्वारा महतो हेतुः। एवं पुराणान्तरेभ्योऽपि न तेषां साक्षादवतारत्वम्। किंच। मनुना

'यत् तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति गीयते'॥

इत्यनेनाव्यक्तब्रह्मकार्यस्यापि लौकिकब्रह्मत्वमुक्त्वा, 'आपो नारा इति प्रोक्ताः' इत्यादिना योगेन तस्यैव नारायणत्वमुक्तमतो नारायणादप्यतिरिक्त एव परमेश्वर इति। नच नारायणादिशब्दानामुपाधिमात्रपरत्वमिति वाच्यम्। तथा सति लक्षणापत्तेरिति। अत एव विष्ण्वादिदेवतायाः कृष्णाद्यवतारेषु न पुरुषान्तरप्रवेशः श्रूयते, फलवान् वा भवतीत्यतोंऽशावतारत्वमेव। अत एव भागवते ऋष्यादीन् प्रकृत्य स्मर्यते,

रश्मिः।

मिश्रतया। ननु 'प्रधानं पुरुषं चैव प्रविश्य' इत्युक्तौ जीवद्वयमेकत्र देहे स्यादित्यत आहुः अस्मिन् कूर्मवाक्य इति। प्रधानपुरुषयोः संचालनसंभवेन कर्मत्वानुपपत्तिमाशङ्क्याह क्षोभश्चेति। तथा च गुणान् संचालयामासेत्यर्थः। धात्वर्थमाह अयं चेति तथा च गुणानां मुख्यगौणभावेन संयोगं कृतवानित्यर्थः। उपाधिमात्रेति मात्रचा शुद्धस्वरूपव्यवच्छेदः। तथा चाविभागाद्द्वैतहानिरिति भावः। लक्षणापत्तेरिति जहदजहल्लक्षणापत्तेरित्यर्थः। नारायण इत्यत्र नारा आपस्तासां त्यागोऽस्वमात्रमात्मा नारायणान्तर्गतीयोऽस्वसंबन्धस्य त्यागः। अस्वात्मनोरैक्यम्। एवं तत्त्वमसीत्यत्र मायाविषयोस्त्यागः ब्रह्मविष्ण्वोरप्येवम्, एतन्मते त्वविभक्तत्वेनैवाद्वैतम्। गीतोक्तसात्त्विकविषयम्। अत आपत्तिशब्दः। अत एवाविभागाद्वैतं सिद्धम्। पुरुषेति विष्णुपुरुषादन्यः पुरुषः पुरुषान्तरं तस्मिन् प्रवेशः। किंतु स्वस्मिन् विष्ण्वंश एव कृष्णे। फलं कार्यं तद्वान् पुरुषान्तरप्रवेशः। अंशेति विष्ण्वंशावतारत्वमित्यर्थः। 'सर्वं तं परादात्' इत्युक्तश्रुत्यैषकारः। अत्र प्रमाणमाहुः अत इति।

भाष्यप्रकाशः ।

'एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे' ॥ इति ।

अत्र कृष्णो विष्णुः स्वयं परमेश्वरः, तस्य पुत्रवत् साक्षादंश इत्यर्थः । ऋष्यादीनामंशांशिवचनादिति । न चैवं सति, 'मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनञ्जय' इति गीतावाक्यविरोध इति वाच्यम् । तथाविधवाक्यानां व्यक्तपरत्वात् । ईश्वरस्य चाव्यक्ततया व्यवहार्यत्वाभावात् । एतेनापि विष्ण्वादीनां परमेश्वरत्वादिकं व्यक्तापेक्षया बोध्यम् । नित्यत्वं च 'आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते' इति स्मृतेर्बोध्यम् । अथवा, 'यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्' इतिश्रुतेर्विष्णुदेवताया औत्पत्तिकब्रह्मात्मभावान्मत्तः परतरं नास्तीत्यादिवचनोपपत्तिः । वक्ष्यति चाऽऽचार्यः, 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' इति । अत एवानुगीतायां, 'परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया' इति श्रीकृष्णवचनाद् भगवद्गीतायां परब्रह्मैव कार्यब्रह्मणा श्रीकृष्णेनाहमित्युपदिष्टमिति निर्णीतम् । किंच । अन्येषामपि ज्ञानिनां ब्रह्मभावेऽपि विष्णावेव मुख्यतो ब्रह्मभावान्मत्तः परतरं नास्तीति वचनमुक्तं, नान्यस्य । तस्य सर्वज्ञानिमुख्यत्वमुक्तं मोक्षधर्मे,

'अनाद्यन्तं परं ब्रह्म न देवा नर्षयो विदुः ।
एकस्तद्वेद भगवान् धाता नारायणो विभुः ॥
नारायणादृषिगणः' इत्यादिना ।

तथा शिवस्यापि मत्तः परतरं नास्तीति वचनं बोद्धव्यम् । किंच । योगयुक्ता ये जीवाः पूर्वपूर्वेषु सर्गेषु करणवर्गेण सह च सायुज्यमुक्त्या परमेश्वरतां गतास्ते वासुदेवव्यूहेऽन्तर्भवन्ति । तत्र च व्यूह एक एव वासुदेवो नित्येश्वर इतरे तदंशा वासुदेवाः । तथा संकर्षणप्रद्युम्नोऽनिरुद्धाख्यव्यूहरूपिणो विभूतिगणाः पूर्वसिद्धाः । त एते यथायोग्यं महदादिविराडन्तरूपेण ब्रह्मविष्णुरुद्ररूपेण चांशावताराः परमेश्वरस्य भवन्ति । 'आगच्छन्ति यथाकालं गुरोः संदेशकारिणः' इति मोक्षधर्मात् । तथाच ये हरिहरादयः परमेश्वरकोटयस्तेषां, मत्तः परतरं नास्तीति वचनमुपपद्यत एव । यद्यपि तेषां जगद्व्यापारवर्जमेवैश्वर्यं तथापि परमेश्वरात्मकतया सर्वस्रष्टृत्वसर्वाधारत्वा-

रश्मिः ।

मृडयन्तीति सुखयन्तीत्यर्थः । अत्रार्थे प्रमाणमाहुः ऋष्यादीनामिति । वाक्येंऽशस्य कला इति समासं मत्वाहुः अंशांशीति । तथा चांशस्यापेक्षणात्कृष्णोंऽश इत्यर्थः साधुः । ऋष्यादीनामंशाः पुत्रादयस्ते सन्त्येषां तेंऽशिन इत्यर्थः । व्यक्तपरत्वादिति तथा च व्यक्तं 'मत्तः परतरं नान्यत्' इत्यर्थः । परमेश्वरत्वबोधकानां संगतिमाह एतेनेति । विष्ण्वादिनित्यत्वबोधकानां संगतिमाह नित्यत्वं चेत्यादि । एकस्यांशांशिभावः उक्तः स विरुद्ध इति पक्षान्तरमाहुः अथवेति । 'प्रत्यबुध्यत' यथावदात्मानं प्रतिबोधितवान् । औत्पत्तिकेति नित्यब्रह्मात्मभावस्तत्कृतः स कृष्णस्तदभिन्नान्मत्तः इत्यर्थः । तर्ह्यन्येषामपि ब्रह्मभाव एतादृशः स्यात्तथा चये आत्मनोप्यविभाग इति । ब्रह्मात्मभावादित्यत्रात्मशब्दोऽधिक इत्यत आह किं चेत्यादि । ब्रह्मभावादिति कृष्णरूपात् । वचनमिति तस्य वचनमुक्तं नान्यस्यर्षेः । योगयुक्ता इति । स्वमार्गेपि मानसीसेवाया योगत्वेन व्याख्यानात् । अन्ये तु 'पतन्त्यधो नादृतयुष्मदङ्घ्रयः' इतिवाक्यविषयाः । करणेति सूक्ष्मदेहेन । द्वितीयस्कन्धेस्ति । इतर इति कृष्णाद्याः । परमेति परमेश्वर आत्मा येषां त्रयाणां

भाष्यप्रकाशः ।

दुपदेशोऽपि तेषु युज्यत एव । ननु यद्येवं तदा गीतादिषु विष्ण्वादिदेवतैश्वर्यमेव कुत उक्तं, न परमेश्वरस्तदैश्वर्यं वेति चेन्न ।

'एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः' ॥

इति प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां विष्णुदेवाद् भेदेन परमेश्वरकथनात् । 'अनादिमत् परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते' इत्यादिना च परमेश्वरस्यैश्वर्यादिकथनादिति । ये त्वीश्वरस्यान्तर्याम्यतिरिक्तविषयापि योगिनामिव लीलाशरीरमिच्छन्ति, तेषां मते, 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते', 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः', 'अक्षरात् परतः परः' इत्यादिश्रुतीनां, 'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्' इत्यागामिसूत्रस्य च विरोधः । कार्यं शरीरम् । करणं बुद्ध्यादि । बुद्ध्यादिना हि शरीरं प्रेर्यत इति । 'सर्वदेहविवर्जितः' 'अशरीरः शरीरेषु सर्वेषु निवसत्यसौ' इति, 'देहद्वयस्थितो नित्यः सर्व देहविवर्जितः' । इति भारतादिष्वीश्वरस्य देहद्वयप्रतिषेधात् । अतो विष्ण्वादिदेवानामेव स्थित्यादिलक्षणस्वाधिकारपालनाय मत्स्यादयो लीलावताराः । ते च परब्रह्मणः प्रकृष्टशक्तितया आवेशावतारतया वा परमेश्वरत्वेनोपास्या इति । तथाच श्रुतिः—

'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' ॥
'यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्' ॥

इति । नन्वेवं परब्रह्मणः सकाशाद् विष्ण्वादिदेवानां भिन्नत्वे विष्णुशिवप्रकरणस्थानि सृष्ट्यादिवाक्यानि ब्रह्मनिरूपणे साध(क)नतया विचारकैः किमित्युपन्यस्यन्त इति चेत्तयोरीश्वरकोटितया परमेश्वरेण सह व्यवहारसाम्यादिति गृहाण । अत एव, 'त्रयाणामेकभावानां यो न पश्यति वै भिदाम्' इत्यादिभिस्त्रयाणामेव देवानां स्वाभाविकब्रह्मात्मभावसाम्यात् सर्वोपनिषत्सु त एवोपासनार्थं ब्रह्मतयोपदिश्यन्त इति । परब्रह्मणश्च स्वतो नामरूपाद्यभावः ।

'न सन्ति यत्र सर्वेशे नामजात्यादिकल्पनाः ।
सत्तामात्रात्मके ज्ञेये ज्ञानात्मन्यात्मनः परे ॥
नामरूपे न यस्यैको योऽस्तित्वेनोपलभ्यते' ।

इत्यादिरूपविष्णुपुराणादिवाक्यात् । आत्मनः पर इति जीवादतिरिक्ते । अतः परब्रह्मणो नामरूपाद्यभावान्मुख्यविकारयोर्हरिहरयोर्नामरूपाभ्यामेव शास्त्रेषु प्रायशो व्यपदेशः । अत एव वैष्णवाः शैवाश्च विष्ण्वाद्यतिरिक्तं परमेश्वरमविद्वांसो ब्रह्ममीमांसाशास्त्रं विष्ण्वादिपरतया व्याचक्षाणा अविवेकिन एवेति मन्तव्यम् । एवं पञ्चसूत्र्यां संक्षेपतः प्रदर्शितः शास्त्रार्थ इतः परं प्रपञ्च्यत इत्याह ।

रश्मिः ।

तत्फलं वा । अविभागाद्वैतादेवेति । ऐश्वर्यादीति अहं परं यस्येति बहुव्रीहिणेत्यर्थः । अन्तर्यामीति अन्तर्यामिब्राह्मणे स्फुटमिदम् । देहद्वयेति स्थूलसूक्ष्मदेहद्वय इत्यर्थः । व्यष्टिसमष्ट्यात्मकदेहद्वयेति वा । व्यवहरेति अविभागाद्वैतेन तथा । पञ्चसूत्र्यामिति एतत्सूत्रपर्यन्तायां जन्माद्यस्येति

भाष्यप्रकाशः ।

तदप्यविचाररमणीयमेव । सदेव सोम्येदमग्र आसीदित्यनेन निरूपिताया आदिसृष्टेः पूर्वं केवलं ब्रह्मैव, नान्यदित्यस्यार्थस्य साधने तदभिमताविभागलक्षणाद्वैतस्याऽवान्तरसृष्टिप्राक्कालविषयत्वव्युत्पादनेन तदानीं तदभिमतप्रकारेण प्रधानादिसमन्वयस्याशक्यवचनतया जीवादृष्टस्याप्यभावेन प्रथमव्याख्यानगतपूर्वपक्षस्यैवासंगतत्वेन तदपाकरणाय सूत्रप्रवृत्तेर्वक्तुमशक्यत्वात् । द्वितीयव्याख्यानं तु न दुष्टम् । सांख्ययोगयोः सर्वांशेन श्रुत्यविरुद्धत्वोपपादनं त्वसंगतमेव ।

'अक्षपादप्रणीते च काणादे सांख्ययोगयोः ।
त्याज्यः श्रुतिविरुद्धोंऽशः श्रुत्येकशरणैर्नृभिः ॥
जैमिनीये च वैयासे न विरोधोऽस्ति कश्चन' ।

इति पराशरोपपुराणीयवाक्यविरोधात् । नच योऽभ्युपगमवादत्वेनोक्तो नित्येश्वरदूषणादिः स एव त्याज्योऽस्त्विति वाच्यम् । तदुक्तषड्व्याख्यां तस्याभ्युपगमवादत्वगमकानुपलम्भात् । नित्यानित्यवस्तुविवेकव्यतिरिक्तांशान्तरेऽपि तथात्वात् । 'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्' इति श्रुत्या तथा निश्चयात् । एवं योगेऽपि द्रष्टव्यम् । जीवात्मज्ञानमात्रेण मोक्षाङ्गीकारस्यापि तथात्वात् ।

'येऽन्येऽरविन्दाक्ष ! विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः' ॥

इति श्रीभागवते विविक्तजीवात्मज्ञानाद्विमुक्तमानिनां पातकथनेन तथा निश्चयादिति । तथा परमेश्वरस्य ब्रह्मविष्णुमहेश्वरातिरिक्तस्य कारणसत्त्वोपाधिकत्वस्थापनमप्यसंगततमम् । शिवतत्त्वविवेकस्थापितस्योङ्कारवाच्यस्य गुणसाम्योपाधिकस्य सर्वेश्वरस्येव कारणसत्त्वोपाधिकस्यापि

रश्मिः ।

सूत्रद्वयमिति । एतदपि विशिष्टाद्वैततुल्यमिति दूषयन्ति तदपीत्यादि । तदभिमतेत्यादि त्रिगुणात्मकरज्जुवत्त्रिगुणात्मकब्रह्मविष्णुशिवात्मकमेकमेव नित्यज्ञानेच्छानन्दादिमत्सदेकरूपकारणसत्त्वोपाधिकं ब्रह्मकार्यं तत्कारणं ब्रह्म इत्येवं तदभिमतेत्यादि । तदानीमिति प्रथमसृष्टिकाल इत्यर्थः । अतीतार्थमात्रपरत्वकल्पनेपि साकारप्रतिपादकत्वेनादोषाद्दाहुः द्वितीयेति । अभ्युपगमवादत्वेनेति आग्रहवादो युक्तिरहितोऽभ्युपगमवादः । ननु किं तेनेत्यत आहुः नित्यानित्येत्यादि । तथात्वादिति श्रुतियुक्तिविरुद्धत्वेनाभ्युपगमवादत्वादित्यर्थः । तदर्थं श्रुतिविरोधमाहुः काल इत्यादि । अत्र योनिवादनिरासात्प्रधानवादोप्यभ्युपगमवाद इति निश्चयादित्यर्थः । 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' इतिसूत्रादष्टाङ्गयोगे किंचिदाहुः एवं योग इति । षडङ्गयोगस्यौपनिषदत्वात् । शिवतत्त्वेत्यादि 'अथास्य पुरुषस्य चत्वारि स्थानानि भवन्ति नाभिर्हृदयं कण्ठं मूर्धा तत्र चतुष्पादं ब्रह्म विभाति जागरिते ब्रह्मा सुप्ते विष्णुः सुषुप्तौ रुद्रस्तुरीयमक्षरं स आदित्यो विष्णुश्च' इति ब्रह्मादिभ्यः परमक्षरशब्दं सर्वदेवतात्मकं तत्त्वान्तरं दर्शितम् । स एव 'न तत्र देवा ऋषयः पितर ईशते' इति श्रुत्यानन्येश्वरः । 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' इति श्रुत्यान्तर्यामी चेति ब्रह्मोपनिषदि । अपि च जगत्कारणं ब्रह्म मायोपाधिकचैतन्यमित्यविवादं ब्रह्मविष्णुरुद्रास्तु तदीयगुणविशेषोपाधिचैतन्यरूपाः' सैषा चित्रा सुदृढा बहुङ्कुरा स्वयं गुणभिन्नाङ्कुरेष्वपि गुणभिन्ना सर्वत्र ब्रह्मविष्णुशिवरूपिणी' इति श्रुतेः । तत्रोपा-

भाष्यप्रकाशः ।

निरुपाधिकपरमेश्वरप्रतिनिधित्वेनैव ब्रह्मोपनिषन्नृसिंहतापनीयमैत्रायणीयाथर्वशिखासु सिद्धत्वात् । इदं यथा तथा प्रहस्ताख्ये वादे निपुणतरमुपपादितमिति नेह प्रपञ्च्यते । नच निरुपाधिकस्य निराकारत्वं शङ्क्यम् । 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति' इति मुण्डके, 'अकारं ब्रह्माणं नाभौ उकारं विष्णुं हृदये मकारं रुद्रं भ्रूमध्ये ॐकारं सर्वेश्वरं द्वादशान्ते आनन्दाऽमृतरूपं प्रणवं षोडशान्ते' इति तापनीये, 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः' इति पञ्चरात्रस्मृतौ, 'अथवा परमात्मानं परमानन्द-

रश्मिः ।

धिभेदे उपहितभेदस्यौचित्यात्, गुणमूर्तिभ्यः परं मायोपाधिकं जगत्कारणं ब्रह्मेति सिद्धम् । तथोमासहायं परमेश्वरं प्रभुम्, 'ऋतं सत्यं परं ब्रह्म'इति कैवल्योपनिषच्छ्रुतेरेतद्वपुरित्यप्पयदीक्षितास्तत्र वदन्ति तादृशेश्वरस्येवेत्यर्थः । प्रतिनिधित्वेनेति अत्रैवं ज्ञेयम् । यन्मूर्तित्रयातीतं तुरीयं तत्त्वं परं ब्रह्मेति प्रत्यपादि तन्मन्दम् । ब्रह्मोपनिषद्येव पूर्वोक्तानन्तरं पठ्यते तेषां मध्ये यत्परं ब्रह्म विभाति स्वयममनस्कमश्रोत्रमपाणिपादं ज्योतिर्वर्जितं नेत्यक्षरस्वरूपं निरुच्य तस्य ब्रह्मलोकत्वप्रसिद्ध्यै 'तत्र लोका न लोका देवा न देवा वेदा न वेदा यज्ञा न यज्ञा माता न माता पिता न पिता स्नुषा न स्नुषा चाण्डालो न चाण्डालः पौल्कसो न पौल्कसः श्रमणो न श्रमणः पशवो न पशवस्तापसो न तापसः इत्येकमेव परं ब्रह्म विभाति' इत्यनेन तत्र लोकादीनां ब्रह्मत्वमुच्यते न तु लोकादयो निषिध्यन्ते । एकेनैव लोकादिपदेन चारितार्थ्यात् । ततो हृद्याकाशे तद्विज्ञानमाकाशं तत्सुषिरमाकाशमित्यनेन तस्य भक्तहृदयाकाशत्वलोकादीनां ब्रह्मत्वोक्तिर्निरुच्य प्रायपाठानुरोधप्राप्तप्रथमार्थसप्तम्या ततस्तादृशहृदि वेद्यं पूर्णं ब्रह्म ज्ञपयितुं तद्वेद्यं हृद्याकाशे 'यस्मिन्निदं सं च विचरति' 'यस्मिन्निदं सर्वमोतप्रोतमिति तल्लक्षणमुक्तम् । तथा च ब्रह्म प्रतिनिधीयतेस्मिन् इति प्रतिनिधिरक्षरं तत्त्वेनेत्यर्थः । नृसिंहतापनीयेत्यादि यदप्यप्पयदीक्षितेन 'अकारं ब्रह्माणं नाभौ उकारं विष्णुं हृदये मकारं रुद्रं भ्रूमध्ये' इति नाभिहृदयभ्रूमध्येष्वकारादिमात्रात्रयवाच्यानां ब्रह्मादीनामुपासाविधानानन्तरं ॐकारं सर्वेश्वरं द्वादशान्त इति द्वादशान्तोपास्यं तेभ्यः परं तत्त्वान्तरं तापिनीये दर्शितमित्युक्तम् । तत्रापि तदनन्तरं सप्तात्मानं चतुरात्मानं चतुःसप्तात्मानं चतुरात्मानमानन्दामृतरूपं प्रणवषोडशान्तर इति भक्तसाहित्यलिङ्गेन प्रतिनिधेरेवोक्तेर्युक्तत्वात् । यदपि तेन मैत्रेयोपनिषदि 'तमो वा इदमेकमास' इत्यारभ्य 'तत्परेणेरितं विषमत्वं प्रयात्येतद्वै रजसो रूपम्' इत्यादिना तपोधिष्ठातुः परस्य संकल्पेनाविद्याख्यस्य तमसो गुणविभागं निरूप्य तस्य प्रागुक्ता अग्र्यास्तनवो ब्रह्मा रुद्रो विष्णुरिति 'अथ यो ह खलु वा वास्य राजसोंशो योयं ब्रह्माथ यो ह खलु वा वास्य तामसोंशोऽसौ योयं रुद्रोथ यो ह खलु वा वास्य सात्त्विकोंशोऽसौ योयं विष्णुः' इति तेभ्यः परं तत्त्वान्तरं दर्शितमित्युक्तम् । तत्रापि ततः पूर्वं ब्रह्मणो वा एता अग्र्यास्तनवः परस्यामृतस्याशरीरस्येत्युक्तत्वात् तस्येव तमोभवनादिरुच्यते इति प्रतिनिधिरेव तत्त्वान्तरम् । यत्त्वथर्वशिखायां शिव उच्यत इति तदप्योंकारप्रणवनाम्नो निर्वचनाद् ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्राः संप्रसूयन्ते इति वचनात् प्रतिनिधित्वेन सिद्धम् । नात्र प्रसवविरोधः संपद्याविर्भावात् । तदुक्तं मैत्रायणीये 'ब्रह्मणो वा एता अग्र्यास्तनवः परस्यामृतस्याशरीरस्य तस्यैव लोके प्रतिमोदन्ति' इति । एतदेवाहुः निपुणतरमुपपादितमिति । यत्तत्पदाध्याहारे गौरवं मत्वाहुः किंचेति । अग्रिमाधिकरणे

१. आदित्या मासा वा । २. ॐकारो भक्तः, साहित्यं प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावसंबन्धेन ।

भाष्यप्रकाशः ।

विग्रहम्' इति योगियाज्ञवल्क्यस्मृतौ चानन्दाकारस्यैव सिद्धत्वात् । नच, 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' इत्यस्य विरोधः । तस्य तत्संबन्धि यत् तत् कार्यं जन्यं न, किं त्वजन्यमेव । किंच, तस्येति षष्ठ्या भेदो निरूप्यते । तथाच जीववत् स्वरूपातिरिक्तं ज्ञानक्रियादिषु करणमिन्द्रियादिकं च तस्य नास्ति । अथवा नित्यत्वादाकारस्य तद्धेतुभूतं करणं क्रिया, सापि नास्ति । अत एव, न तत्सम इत्यादीति तदर्थात् । एतेनैव 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' इत्यस्याप्यविरोधः सिद्धः । नाप्यरूपवत्सूत्रस्य विरोधः । तत्रापि रूप्यते निरूप्यते व्यवह्रियत इति रूपं सर्वव्यवहारविषयत्वं तद्युक्तं रूपवद्विश्वम् । ब्रह्म तु तद्विलक्षणम् । यद्वा रूप्यते व्यवह्रियतेऽनेनेति रूपं करचरणादि तद्वत् तद्युक्तं ब्रह्म न, किंतु तद्विलक्षणम् । करादेरपि ब्रह्माभेदाद्रूपरूपं ब्रह्मैव, नतु रूपवदिति । ननु कुत एतदवगम्यत इत्याकाङ्क्षायां तद्विनिगमकं सूत्रशेषेणाह 'तत्प्रधानत्वात्' इति । सर्वेषां वेदान्तानां प्राधान्येन ब्रह्मप्रतिपादकत्वात् । तथाच ब्रह्मप्रकरणे निरूपित आकारो ब्रह्माभिन्न एवेति । नचाऽऽकारनिरूपकाणां ब्रह्मपरिचायनार्थत्वात् तेषां ब्रह्माभिन्नकराद्याकारनिरूपकत्वेऽपि न प्राधान्येन ब्रह्मप्रतिपादकत्वप्रतिरोध इति शङ्क्यम् । 'स यथा सैंधवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवं वा अरे अयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञान(घन) एव' इतिश्रुतौ बाह्याभ्यन्तरभेदराहित्यबोधने ज्ञानाकारत्वस्यैव सिद्धत्वात् । आकारभूतकरादिराहित्येन केवलज्ञानात्मकतायां बाह्याभ्यन्तरत्वप्रतीतिराहित्येन तन्निषेधानुपपत्तेः । अकृत्स्नादिप्रतीतिराहित्येन कृत्स्नघनपदयोर्वैयर्थ्यापत्तेश्च । अतः केवलसच्चिदानन्दात्मकब्रह्माभिन्नकरचरणाद्याकाराङ्गीकारे न कस्यापि विरोधः । यत् पुनस्तलवकारादिश्रुत्या परमेश्वरस्य साक्षादुपास्यत्वाभाव उक्तः स तु तामेव श्रुतिं विरुणद्धि । पूर्वार्धे मनःप्रवृत्तिरहितं तत्प्रेरकं यदुक्तं, तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं प्रेर्यत्वेनानुभूयमानं जीवात्मरूपं न विद्धि । यत् प्रेरकं तत् किमित्यत आह । यदिदं सच्चिदानन्दाकारमुपासते वैदिकोपासका इति तत्रार्थात् । अनुपास्यत्वेऽभिप्रेते तु द्वितीयेदंकारं न वदेदेव । नेदं यदुपासत इत्येनावतैव चारिताथ्र्यात् । 'यस्यामतं तस्य मतम्' इत्यत्रापि, 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्' इति वरणहेतुकतनुविवरणस्य श्रुत्यन्तरे श्रावणाद् वरणाभावे यस्यामतमविदितं तस्य मतं, यस्य पुनस्तद्भावेऽपि मतं स न वेदेति । यद्वा, अनिरुक्तश्रुतौ ब्रह्मणो वाक्यपरिच्छेद्यत्ववारणाद् यस्यामतमनिरुक्तत्वात् सम्यक्तया अज्ञातं तस्य मतम् । यस्य पुनस्तद्विपरीतं स न वेदेति । अविज्ञातं करचरणादिविशिष्टतया जानतां, विज्ञातं तदभिन्नतया

रश्मिः ।

वक्ष्यन्ति च ब्रह्मणि त्विन्द्रियाद्यभावादानन्देनैव कार्यं क्रियते इति । अविरोध इति आकारहेतुभूतः प्राणादिर्नास्तीत्यविरोध इत्यर्थः । एवेतीति करादीनां प्रत्येकं सच्चिदानन्दात्मकत्वादेवकारः । सर्वेषामिति समासस्तु तस्य प्रधानत्वं तत्प्रधानत्वं तस्य ब्रह्मणः प्रधानत्वात् मुख्यत्वादिति भाष्यात् । अविभागाद्वैतवादी शङ्कते न चाकारेति । बाह्याभ्यन्तरेत्यादि । कृत्स्नेति शेषः । यद्वा सप्तम्यन्तं पदं तृतीयान्तं वा । उक्त इति तथा च श्रुतिरित्यादिनोक्तः । अस्मिन् व्याख्याने वरणाभावेपि ब्रह्मावबोध आयाति स सिद्धान्तविरुद्ध इति भिन्नां व्याख्यामाहुः यद्वेत्यादि । अनिरुक्तेत्यादि तन्निष्ठस्येत्यादिसूत्रविषयभूतायामित्यर्थः । सम्यक्तयेति इदमित्यतयेत्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

जानतामित्यर्थादिति । अतो न परब्रह्मणोऽनुपास्यत्वाज्ञेयत्वादिकं युक्तम् । यदपि परब्रह्मणः स्वतो नामाद्यभावसाधनाय विष्णुपुराणादिवाक्यमुपन्यस्तं तत्रापि कल्पनापदात् काल्पनिकनामादिनिवृत्तिरेवाभिप्रेता, न यावन्नामादिनिवृत्तिः । 'ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः' । ॐकारं प्रकृत्य 'सधाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद्वाचकः परमात्मनः' । 'तस्य वाचकः प्रणवः' इति गीताश्रीभागवतपातञ्जलसूत्राणां विरोधात् । वाचकस्यैव नामत्वात् । एवं सिद्धे सदादिनामकत्वे,

'नारायणः शिवो विष्णुः शंकरः परमेश्वरः ।
एतैस्तु नामभिर्ब्रह्म परं प्रोक्तं सनातनम्' ॥ इतिवाराहपुराणवाक्यात्,
'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः ।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते' ॥

इत्यादिश्रुतिभ्यश्च नामान्तरस्वीकारेऽप्यदोषात् । 'अनादिमत्परं ब्रह्म' इति स्वलिखितगीतावाक्याग्रिमगीतावाक्य एव सर्वतःपाणिपादान्तमित्यादिना परमेश्वररूपस्याप्युक्तत्वेन तस्याप्यङ्गीकार्यत्वात् । ज्ञेयं प्रस्तुत्यैव तस्य कथनेनोपासनागन्धस्याप्यभावात् । अतो नामरूपे न यस्येति द्वितीयवाक्येऽपि काल्पनिकनामाद्यभाव एवास्थेय इति परमेश्वरस्य लीलाविग्रहाङ्गीकारे दोषाभावान्मत्स्यादीनां परमेश्वरलीलावतारत्वेऽपि न दोषः । द्वितीयस्कन्धे, 'लीलावतारान् पुरुषस्य भूम्नः' इति प्रतिज्ञाय ब्रह्मणा मत्स्यादीनां कथनात् । न च 'एते चांशकलाः पुंसः' इति प्रथमस्कन्धविरोधः । तेषामेतद्भिन्नत्वात् । त्वदुपगतनित्यकार्यवासुदेववन्नामरूपादिसाम्येऽपि भेदस्योपक्रमोपसंहाराभ्यां यथायथमवगन्तुं शक्यत्वात् । गीतायां श्रीभागवते च विभूतिमध्ये

रश्मिः ।

तद्विपरीतमिति इदमित्यतया ज्ञातम् । युक्तमिति न च मन्त्रोपासनेति भक्तिहंसविरोध इति वाच्यं मन्त्रोपासनेत्येकपदात् । वस्तुतस्तु भक्त्येकसमधिगम्यं 'नेदं यदिदमुपासते' किं तु यदिदं भजन्त इति भावः । तस्य वाचक इत्यादि । अस्य सूत्रस्य समाधिपादे 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' इतिसूत्रमुपक्रम्य पाठात्तत्पदेनेश्वरपरामर्शादिति भावः । तस्यापीति तथा चैतत्स्वारस्येनाहं परो यस्येति बहुव्रीहिर्ज्ञेयः । ननूपासनास्पृश्यत्वलिङ्गेन नायं समासः साधीयानित्यत आहुः ज्ञेयमित्यादि । उपासनागन्धस्येति । त्रयोदशे 'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते' इति पूर्वार्धात् 'एवं सतत' इत्यादेर्द्वादशस्थत्वात्तथेत्यर्थः । लीलावतारत्वेपीति लीलावतारपदं योगरूढं साक्षात्सच्चिदानन्दरूपाणामैश्वर्यादिगुणसहितानां मुख्यानां भगवदवताररूपाणां वाराहयज्ञकपिलदत्तसनकादिनरनारायणध्रुवादीनां नाम । अवतारशब्दार्थस्तु ।

'सत्त्वरूपशरीरेषु ब्रह्मणः संक्रमः स्मृतः ।
अशुद्धशुद्धभावेन शरीराणामतो द्विधा ।
कार्यकाले संक्रमणमावेशः सर्वदा परम्' ॥ इति ।

एतच्च 'स एव प्रथमं देवः' इत्यस्य सुबोधिन्यां प्रथमस्कन्धे स्फुटम् । न दोष इति यथाविमवादिकार्यकर्तृत्वेन विष्ण्वाद्यवतारत्वं भगवतो भिक्षोर्मते तथा भक्तैः सह निगूढभावकरणाऽभावेपि लीलाक्षरं तत्कार्यकर्तृत्वेन लीलावतारत्वेपि निगूढभावाकरणं दोषो नेत्यर्थः । नन्वक्षराद् विविधा भावाः प्रजायन्ते तत्रैव चापियन्ति नैवमन्यत्रेति चेन्न । तत्पुराणादिषु तेभ्योपि जननप्रलयाद्युक्तेः । अंशकला इति धर्मावेशिन इत्यर्थः । तेषामिति मत्स्यादीनामित्यर्थः । भेदकमाहुः त्वदुपगतेत्यादि । उपक्रमेत्यादि द्वितीयस्कन्धे

भाष्यप्रकाशः ।

वासुदेवस्य गणनाच । यत्पुनः, 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' इत्येतत्स्वयंपदस्य पुत्रवत् साक्षात् परमेश्वरांशः । ऋष्यादीनामंशांशिवचनादित्युक्तम् । तदप्यसंगतम् । भूभारहारकं कृष्णमंशेपूक्त्वा तदंशित्वेन पुमांसं चोक्त्वा ब्रह्माण्डात्मकपुंरूपताभ्रमवारणाय तुशब्दोक्तिपूर्वकं स्वयं भगवत्त्व-विधानस्यावबोधात् । 'कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्' इति, 'वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः' इत्यादिवाक्यानामप्यविचाराच । गीतायां तु

'परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे' ॥

इति वाक्यमपि प्रायो नावलोकितं, येन 'मत्तः परतरम्' इतिवाक्यस्य वामदेववच्छास्त्रदृष्ट्या ज्ञानिमुख्यवाक्यत्वेन गतिश्चिन्तिता । नहि परब्रह्मत्ववक्तार ऋषयः सर्वे भ्रान्ता येनैवं भगवदुक्ते गौणीं वृत्तिं ब्रह्मदृष्टिं च नावगच्छन्ति । तथा व्यक्तपरत्वेन गतिरप्यसंगतैव । अव्यक्तस्याक्षरत्वेन भगवद्धामतयैव सिद्ध्या भगवतस्ततोऽपि परत्वात् । नच व्यवहार्यत्वान्नेश्वरत्वमिति युक्तम् । तस्य सूत्रव्याख्यान एवोपपादितत्वात् । यदपि मोक्षधर्मवाक्येन नारायणाद्भिन्नत्वं

रश्मिः ।

'प्राधान्यतो यानृष आमनन्ति लीलावतारान् पुरुषस्य भूम्नः ।
आपीयतां कर्णकषायशोषाननुक्रमिष्ये त इमान् सुपेशान्' ॥ इत्युपक्रमः ।

'सोयं तेभिहितस्तात भगवान् विश्वभावनः ।
समासेन हरेर्नान्यदन्यस्मात्सदसच्च यत् ॥
इदं भागवतं नाम यन्मे भगवतोदितम् ।
संग्रहोयं विभूतीनां त्वमेतद्विपुलीकुरु' ॥ इत्युपसंहारः ।

अत्र पुरुषस्य भूम्न इत्यनेन भगवदवतारत्वमुपक्रमे । उपसंहारेपि भगवान् विश्वभावनः इत्यनेनैतेषां भगवत्त्वं सिद्ध्यति । प्रथमस्कन्धे तु 'एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम्' इत्यनेन वक्ष्यमाणानामवताराणां मत्स्यादिरूपाणां पुरुषावतारे स्थानत्वमुद्गमहेतुत्वं चोक्तमिति पुरुषावतारत्वमुपक्रमे उपसंहारे च 'एते चांशकलाः पुंसः' इत्यनेन पुंसो विराजोवतारत्वं सिद्ध्यतीत्युभयेषां भेदः । तथा च लीलावतारा भूमपुरुषस्यान्ये पुरुषस्य । गणनाचेति तथा चैक एव वासुदेवो नित्येश्वर इतरे तदंशा वासुदेवा इति भागः संमत इति भावः । अंशेष्विति ।

'एकोनविंशे विंशतिमे वृष्णिषु प्राप्य जन्मनी ।
रामकृष्णाविति भुवो भगवानहरद्भरम्' ॥

इत्यनेन तेषूक्ता इत्यर्थः । पुमांसमिति 'एते चांशकला पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' इत्यनेनेत्यर्थः । गौणीमिति आत्मीयवाचकत्वे स्वयमित्यत्र गौणी, पुत्रपितृगुणयोगाद्गौणी । सिद्ध्येति

'अव्यक्तोक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' ॥

भाष्यप्रकाशः ।

परमेश्वरस्योक्तं, तत्र तु नारायणपदं यौगिकमेव । धातृपदविशेषितत्वात् । न तु रूढम् । अतो यत्र नारायणपदेन परमेश्वर उच्यते तत्र रूढ्यैवोच्यते यथा महोपनिषदि । तत्र हि 'एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा न ईशानो नापो नाग्नीषोमौ' इत्यादिना ब्रह्मादिसर्वनिषेधेऽपामपि निषेधात् । स एकाकी नर एवेत्यनेन पुरुषाकारस्योक्ततया निराकारत्वस्यापि वारणात् । तस्य ध्यानान्तस्थस्य यज्ञस्तोममुच्यते, तस्मिन् पुरुषाश्चतुर्दशाऽजायन्तैका कन्येति प्रस्तुत्य, दशेन्द्रियाणि मन एकादशं तेजो द्वादशमहंकारस्त्रयोदशः प्राणाश्चतुर्दश आत्मा पञ्चदशी बुद्धिरिति तेषां स्वरूपकथने तेजःपदेन महत्तत्त्वस्य गणितत्वात् ।

'विश्वमात्मगतं व्यञ्जन् कूटस्थो जगदङ्कुरः ।
स्वतेजसाऽपिबत्तीव्रमात्मप्रस्वापनं तमः' ॥

इति पुराणे तस्य तेजोरूपत्वावगमात् । अतो यत्किंचिदेकदेशमालम्ब्य सकलशास्त्रविप्लावनं

रश्मिः ।

इत्यत्र सिद्ध्येत्यर्थः । तस्येति ब्रह्मणो व्यवहार्यत्वस्येत्यर्थः । यौगिकमेवेति पूर्वमीमांसाकारिकास्वाचार्यैर्वेदान्ते योगमात्राङ्गीकारादेवेति । धातृपदेत्यादि 'धाता नारायणो विभुः' इति । नतु रूढमिति । ननु रूढेः स्वमतेऽभावादप्रसक्ताया निषेधः कुत इति चेन्न । स्वमते शक्तिसंकोचलक्षणायाः रूढेः प्रस्थानरत्नाकरेऽङ्गीकारात् । तथा च न परमेश्वरभिन्ने नारायणपदं शक्तिसंकोचयुक्तमिति । रूढ्यैवेति अपां सत्यज्ञानानन्तेऽक्षरे संकोचः । अक्षरं नारं जीवसमूहः अयनं यस्येति न तत्राधोक्षजेऽघटितयोगः संभवतीत्येवकारः । नारमयनं यस्येति योगाबाधं वदन्तो हेतुमाहुः यथेति । तेनाघटितविग्रहे रूढिरित्युक्तम् । ननु सर्वेषां शब्दानां परमेश्वरे योगोऽङ्गीकृतः प्रस्थानरत्नाकरे इति चेन्न भैक्षवबोधनपरत्वाद् ग्रन्थस्य । अपामपीति तथा च नारा अयनं यस्येति योगस्य तदानीमभावान्नारायणपदं रूढमेवेत्यर्थः । तेन सर्वशक्तिमत्यधोक्षजे रूढिरपि युक्ता कदाचिदिति ध्वनितम् । एकाकीति 'एकाकी त्वेक एककः' 'एकादाकिनिच्' । इदानीं तेन यन्महतो देवतात्रयात्मकत्वमुक्तं तन्निराकुर्वन्तः साकारत्वे प्रमाणान्तरमाहुः तस्य ध्यानेत्यादि । तेषामिति ते पुरुषाश्च सा कन्या चात्र विवक्षितास्तथा च ते च सा च ते तेषामित्यर्थः । नस्तोममिति नासिकासमूहः वायुस्थानम् । अग्रे वायवीसृष्टिमिति भावः । तेजोरूपत्वेति येन तमसा पूर्वं महत्तत्त्वं प्रस्वापितं लयं प्रापितमासीत्तन्मूलभूतं तमो महत्तत्त्वेन पीयते इति तृतीयस्कन्धसुबोधिन्या इति शेषः । इमं न्यायं यदप्यप्पयदीक्षितेन 'उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं ऋतं सत्यं परं ब्रह्म' इति श्रुत्या ।

य एकः शाश्वतो देवो ब्रह्मवन्द्यः सदाशिवः ।
त्रिलोचनो गुणाधारो गुणातीतोक्षरोव्ययः ॥
जाता सिसृक्षा तस्यापि वीक्ष्यात्मस्थं गुणत्रयम् ।
वेदत्रयमिदं ज्ञेयं गुणत्रयमिदं हि यत् ॥
पृथक्कृत्यात्मनस्तद्धि तत्र सारं विभज्य च ।
दक्षिणेनासृजत्पुत्रं ब्रह्माणं वामतो हरिम् ॥
पृष्ठदेशे महेशानं त्रीन् पुत्रानसृजत्प्रभुः ।

एवं चिद्रूपस्य कारणतानिरूपणेन वेदान्तानां ब्रह्मपरत्वं निरूपितम् ॥ १० ॥

इति प्रथमाध्याये प्रथमपादे चतुर्थमीक्षत्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

अतः परमानन्दरूपस्य कारणत्वोपपादनेन तद्वाक्यानां ब्रह्मपरत्वमुपपाद्यते, आनन्दमयाद्यष्टभिः सूत्रैः। तत्र तैत्तिरीयशाखायां ब्रह्मभृगुप्रपाठकद्वयेन।

भाष्यप्रकाशः ।

न सतां मार्ग इति बोध्यम् । एवं शिवरूपेऽपि ज्ञेयम् ।

'यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्तात् ।
तदेवर्तं तदु सत्यमाहुस्तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम्' ॥

इति श्रुतेरनन्तरूपः परमेश्वरः कदाचिच्छिवाकारेणैव सर्वं जगत् करोतीति । अतो विचारकाणां विष्णुशिवप्रकरणीयवाक्यलिखनमस्मदुक्ताभिप्रायेण, न तु त्वदुक्तेनेति गृहाण । एतावान् परं विशेषो यन्नृसिंहतापनीये, 'अनुपनीतशतमेकमेकेनोपनीतेन तत्समम्' इत्यादिना गृहस्थवानप्रस्थयतिरुद्रजापकाथर्वशिरःशिखाध्यायिपर्यन्तमुक्त्वा अथर्वशिरःशिखाध्यायिशतमेकमेकेन मन्त्रराजजापकेन तत्सममिति नृसिंहमन्त्रराजजापक उत्कर्षविश्रान्तिबोधनात् तद्विद्यावेद्यरूप एवोत्कर्षविश्रान्तिः । एतदपि प्रहस्ताख्यवादादेवावगन्तव्यमिति दिक् । अतः परं प्रकृतमनुसरामः ।

ईक्षत्यधिकरणप्रयोजनमाहुः **एवमित्यादि** । वेदान्तवाक्येष्वव्यवहार्यत्वादिना बोधितस्य **चिद्रूपस्य कारणतासमर्थनेन** सर्वेषां **वेदान्तानां** कार्यद्वारा ब्रह्मस्वरूपनिरूपकत्वाद् **ब्रह्मपरत्वं** ब्रह्मणि तात्पर्येण समन्वितत्वं **निरूपितम्** । तथा चेदमधिकरणप्रयोजनमित्यर्थः ॥ १० ॥

इति चतुर्थमीक्षत्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

नन्वीक्षत्यधिकरणे सर्वेषां वेदान्तानां ब्रह्मपरत्वं सिद्धमेवेत्यग्रिमाधिकरणस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां तद्वदन्तस्तदवतारयन्ति **अतः परमित्यादि** । **तद्वाक्यानामिति** आनन्दप्रतिपादकवाक्यानाम् । तथाच लक्षणगताव्याप्त्यादिदोषपरिहारायेदमधिकरणम् । अत्रापि सामान्यविशेषभावगर्भोऽवसर एवाधिकरणसंगतिरित्यर्थः । तानि कानीत्याकाङ्क्षायां विषयवाक्यानां बाहुल्यादाकरमेव प्रदर्शयन्ति तत्रेत्यादि । आनन्दकार्यं प्रतिपाद्यत इति शेषः । तानि विषय-

रश्मिः ।

इति शिवराघवसंवादस्थस्मृतिभिश्च यस्तु कचित्कचिच्छ्रुतिपुराणादौ विष्णोरुत्कर्षः प्रतिपादितः स तु प्रतर्दनाख्यायिकायामिन्द्रस्येव तदन्तर्यामिण्येव परशिवे पर्यवस्यतीति शिव एव परं ब्रह्मेत्युक्तं तत्रापि प्रसङ्गादतिदिशन्ति **एवं शिवेत्यादि** । **अस्मदुक्तेति** अव्यवहितपूर्वोक्ताभिप्रायेण । **अवगन्तव्यमिति** एतच्च 'समान एवं चाभेदात्' इति सूत्रे वक्तव्यं साधनाध्याये । **तथा चेदमिति** चेतनेऽव्याप्तिवारणम् ॥ १० ॥ **इति चतुर्थमीक्षत्यधिकरणम्** ॥ ४ ॥

तद्वदन्त इति प्रयोजनं वदन्तोधिकरणमवतारयन्तीत्यर्थः । **लक्षणेति** आदिशब्देनानन्दप्रतिपादकवेदान्तासमन्वयादध्यायार्थे न्यूनताख्यनिग्रहस्थानं गृह्यते । **सामान्येत्यादि** सामान्यतश्चिन्निरूपकाणां पूर्वाधिकरणे निरूपणादानन्दप्रसङ्गेन विशेषतश्चिन्निरूपणस्य वक्ष्यमाणत्वात्सामान्यविशेषभावगर्भोवसरः । आनन्दनिरूपणे प्रतिबन्धकीभूता जिज्ञासा किमत्र चिन्निरूप्येति जिज्ञासा तस्याश्च लक्षणवाक्ये प्रथमनिर्देशेनानन्दापेक्षया प्राथमिकजिज्ञासाविषयत्वात् चिद्रूपतानिरूपणाद्विषयसिद्ध्या निवृत्तौ सत्यामानन्दतावश्यं वक्तव्येति जिज्ञासया किमिदानीं वक्तव्यमिति जिज्ञासया वानन्दरूपतानिरूपणादित्यर्थः । तानि कानीति स्वोक्तं व्याकुर्वन्ति स्म **तानीति** ।

तत्रानन्दमय इति मयट्प्रत्ययान्तस्याब्रह्मत्वेनाजगत्कर्तृत्वे ब्रह्मप्रपाठकस्याब्रह्मपरत्वं स्यादिति तन्निराकरणार्थमानन्दमयाधिकरणम् । षडिन्द्रियस्वरूपद्वयानन्दभेदेनानन्दस्याष्टविधत्वादष्टसूत्राणि ।

ननु कथं संदेहः, कथं वास्याब्रह्मत्वे प्रपाठकासंगतिरिति । उच्यते । ब्रह्मविदः परप्राप्तिं प्रतिज्ञाय ज्ञेयांशे कारणत्वायानन्दांशमप्रवेश्य जडत्वपरिहाराय सर्वज्ञानन्दरूपं फलमुपपाद्य तन्निरूपणार्थं सर्वोऽपि प्रपाठक आरब्धः। तत्र साधनशेषब्रह्मणो वाक्यादेव निःसंदिग्धप्रतीतेः फलस्य ब्रह्मत्वं प्रतिपादनीयम्।

भाष्यप्रकाशः ।

वाक्यानीत्यर्थः । नन्वेतद्वये ब्रह्मणः कार्यमुच्यते । सत्यज्ञानानन्तलक्षणकं ब्रह्म प्रस्तुत्य 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इत्यादिना कार्यकथनात् । तथाग्रिमेऽपि, 'यतो वा इमानि' इति ब्रह्म लक्षयित्वा, 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि' इत्यादिना ब्रह्मण एव निष्कर्षाच्चानन्दकार्ये संदेह एव न भविष्यतीति व्यर्थोऽधिकरणारम्भ इत्यत आहुः **तत्रानन्दमय इत्यादि** । **तत्रेति** ब्रह्मप्रपाठके । **मयट्प्रत्ययान्तस्येति** मयट्प्रत्ययान्तप्रतिपाद्यस्य । तथाचानन्दरूपेणात्र जगत्कर्तृत्वस्य प्रतिपिपादयिषितत्वान्मध्ये च संदिग्धशब्दनिवेशात् तन्निवृत्त्यर्थमयमारम्भ इत्यर्थः । नन्वानन्दरूपेणैवात्र कारणताप्रतिपिपादयिषितेत्यत्र किं गमकमित्याकाङ्क्षायामधिकरणसूत्रसंख्यैव गमिकेत्याशयेनाहुः **षडित्यादि** । षडिन्द्रियात्मपरमात्मभिर्हि लोके कार्यं क्रियते । ब्रह्मणि त्विन्द्रियाद्यभावादानन्देनैव कार्यं क्रियत इति तत्तदात्मक आनन्द एवेत्यानन्दस्यैवाष्टविधत्वात् तावन्ति सूत्राणीति सैव तथेत्यर्थः । एवमधिकरणारम्भे साधिते आनन्दमयस्याब्रह्मत्वेनापि प्रपाठकस्य ब्रह्मपरत्वं मन्वान एकदेशी चोदयति **ननु कथमित्यादि** । एवं प्रश्ने संदेहादिकं व्युत्पादयति । **उच्यते । ब्रह्मविद इत्यादि** । 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति वाक्ये ब्रह्मविदः परप्राप्तिं प्रतिज्ञायैतद्वाक्यविवरणभूतायामृचि आनन्दांशस्य कारणत्वबोधनाय 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद' इति लक्षणवाक्योक्तज्ञेयांशस्य साधनशेषत्वेन तदपेक्षया फलस्योत्कृष्टत्वात् फलभूतमानन्दांशं तत्राप्रवेश्य कारणस्य प्रकृत्यादेर्लोके जडत्वदर्शनात् तद्विलक्षणत्वमानन्दांशे

रश्मिः ।

आकरमिति वाक्यनिकुरम्बोत्पत्तिस्थानमित्यर्थः । **अग्रिम इति** भृगुप्रपाठक इत्यर्थः । मयट्प्रत्ययान्तत्वं शब्दस्य संभवति । तत्राब्रह्मत्वेनेत्यादिरापत्तिर्न संभवतीति लक्षणयार्थपरत्वेन व्याकुर्वन्ति **मयडित्यादि** । भाष्ये तु शब्दार्थात्यन्ताप्रविवेकपक्षः । तथाप्रतिज्ञानादिति भावः । तदपि जैमिनिसूत्रप्रामाण्यात् । **संदिग्धशब्देति** मयडादिशब्दानां निवेशात् । आत्मोपनिषदाहुः **षडिन्द्रियेति** । षडिन्द्रियाण्यन्तरात्मा, आत्मा बाह्यात्मा, परमात्मा चेति त्रयं तैरित्यर्थः । **इन्द्रियाद्यभावादिति** 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' इति श्रुतेरित्यर्थः । **सैवेति** अष्टसंख्यैव । **ननु कथमित्यादीति** मयडादौ संदेहः । ऋचीति 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' इति ऋचीत्यर्थः । अनन्तपदप्रवेशस्य तात्पर्यमाहुः **आनन्दांशस्येत्यादि** । कारणत्वं जगतः । **भाष्ये** । अकारणत्वायेति छेदे तु अकारणत्वायेत्यस्य फलसाधनत्वाभावाय किं तु फलत्वायेत्यर्थः । **साधनेत्यादि** वेदेत्युक्तस्येह-

तत्राऽन्नत्वान्नमयादितुल्यवचनात् सुखवाचकशब्दानामेव वचनाच्च संदेहः। आनन्दांशस्यैव कारणत्वेन ब्रह्मत्वप्रतिपादनार्थत्वात् तदभावे प्रपाठकवैयर्थ्यं च। फलस्य नैकट्यप्रतिपादनायात्मपदप्रयोगेण फलरूपेण जगत्कारणतामुक्त्वा

भाष्यप्रकाशः।

बोधयितुं तस्य जडत्वपरिहाराय विपश्चिद्ब्रह्मपदाभ्यां सर्वज्ञानन्दरूपं फलमृगुत्तरार्धे, सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सहेत्यनेनोपपाद्य तस्य सर्वज्ञानन्दरूपस्य फलस्य निरूपणार्थं सर्वोऽपि प्रपाठक आरब्धः। तत्रर्चि साधनशेषस्य ज्ञेयब्रह्मणो लक्षणवाक्यादेव निःसंदिग्धं स्वरूपावगमात् फलस्य ब्रह्मत्वं प्रतिपादनीयम्। प्रतिज्ञावाक्ये परपदात् तस्य च ऋगुत्तरार्धेन विवरणे भिन्नविभक्तेर्भिन्नपद-वचनयोश्च कथनेन परपदार्थानिश्चयाद् ऋग्व्याख्यानरूपे प्रपाठकेऽवश्यं कारणत्वादिना ब्रह्मत्व-मुपपादनीयमित्यर्थः। एवं प्रपाठकार्थमुक्त्वा संदेहबीजमाहुः तत्राऽन्नत्वेत्यादि। अन्नत्वान्नम-यादीनि अन्नरूपं यदन्नमयादीत्यर्थः। एवं संदेहमुपपाद्य प्रपाठकासंगतिमुपपादयन्ति आनन्दांशस्यैवेत्यादि। सदेव सोम्येति, 'स ऐक्षत लोकान्नु सृजै' इत्यादिश्रुत्यन्तरे सच्चिदंशयोः कारणत्वस्य प्रतिपादितत्वेन तत्सहचरितस्यानन्दांशस्यापि तथात्वेन तस्यान्यत्र कारणत्वाकथनात् तदभावे कार्यानुसारिलक्षणस्याव्यापकत्वप्रसक्तेरत्र तस्यैव कारणत्वेन ब्रह्मत्वप्रतिपादनार्थत्वात् तदभावे तद्वैयर्थ्यमित्येवमसंगतिरित्यर्थः।

ननु कारणतावाक्ये 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' इत्यात्मपदादात्मा वा इदमेक एवेत्यादावि-वात्रापि चिदंशकारणताप्रतिपादनस्य संभवदुक्तिकत्वात् कथमत्रानन्दांशकारणताप्रतिपादनविनि-गमनेत्याकाङ्क्षायामात्मपदोक्तितात्पर्यं वदन्तस्तद्विनिगमकयुक्तिमाहुः फलस्येत्यादि। यथा मलय-

रश्मिः।

व्यापारकज्ञानरूपसाधनविषयत्वेनेत्यर्थः। **फलस्येति** परस्येत्यर्थः। **भिन्नेत्यादि** 'सत्यं ज्ञान-मनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायाम्' स इत्यनेन प्रतिज्ञावाक्यगतं ब्रह्मविदितिपदं विवृतम्। आप्नोति परमित्यस्य अश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति व्याख्यानं, तत्र परमित्यत्र द्वितीया विभक्तिः। परपदमेकवचनं च। विवरणे तु सर्वान् कामान् इति सर्वपदं कामपदं च बहुवचनं च। ब्रह्मणा विपश्चितेत्यत्र तृतीयाविभक्तिर्ब्रह्मपदं विपश्चित्पदं चेति विभक्तेः पदवचनयोश्च भिन्नत्वम्। **भाष्ये। तुल्यवचना**दिति अवयवित्वेन तथात्वादित्यर्थः। तर्ह्यब्रह्मत्वम-संदिग्धं स्यात् तन्निवृत्तय आहुः **सुखेत्यादि**। 'तस्य प्रियमेव शिरः' इत्यादिना तथात्वादित्यर्थः। **प्रकृते। संदेहबीजमिति** अन्नमयादितुल्यवचनं विभूतित्वगमकं सुखवाचकशब्दवचनं ब्रह्म-त्वगमकमत्रत्यबीजत्वेन बीजग्रहणाद् बीजद्वयमित्यर्थः। **अन्यत्रेति** भृगुप्रपाठकादन्यत्र। **तदभाव** इति कारणत्वाभाव इत्यर्थः। **कार्यानुसारीति** निरङ्कुशजगत्कर्तृत्वेन शास्त्रप्रतिपाद्यस्वरूपलक्षण-स्येत्यर्थः। कार्यं जगत् तदनुसारि यत्स्वरूपं तस्य लक्षणमिति। सगुणनिर्गुणाभेदं वक्तुं कार्य-लक्षणमित्यनुक्त्वा **कार्यानुसारिलक्षणस्येत्युक्तम्**। यथान्येषां सास्नादिमत्त्वं गोलक्षणमस्मन्मते सास्नावत्त्वम्। **अव्यापकत्वेत्यादि** हेतौ पञ्चमी तथा चास्माद्धेतोः अत्राधिकरणे तस्यैवानन्दस्ये-त्यर्थः। **ब्रह्मत्वेत्यादि** प्रपाठकस्येति शेषः। **तद्वैयर्थ्यमिति** प्रपाठकवैयर्थ्यमित्यर्थः। **असंगति-**

तस्यैव मध्ये सर्वान्तरत्वं प्रतिपादितं 'तस्माद् वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः' इति। अन्ते च, 'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति' इति आदिमध्यरूपे अनूद्य फलत्वेनोपपादितम्। तन्निरूपकस्यापि तत्तुल्यफलत्वं वक्तुमन्नमयादीनामपि ब्रह्मत्वेनोपासनमुक्तम्।

तत्र पूर्वपक्षेऽन्नमयादेरिवानन्दमयस्यापि न ब्रह्मत्वम्। अन्नमयादितुल्य-वचनात् तथैव फलसिद्धेरिति। एवं प्राप्तेऽभिधीयते।

आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥ ११ ॥ (१।१।५)

आनन्दमयः परमात्मा, नान्नमयादिवत् पदार्थान्तरम्। कुतः। अभ्यासात्।

भाष्यप्रकाशः।

जस्याभीष्टत्वेऽपि दूरत्वात् तदर्थं न पुरुषप्रवृत्तिस्तथात्र मा भूदिति तदर्थं फलस्य नैकट्यप्रतिपादना-यात्मपदप्रयोगेण तदेतत्पदाभ्यां सन्निहितपरामर्शात् फलरूपेण जगत्कारणतामुक्त्वा तस्यैवानन्दस्य मध्ये सर्वान्तरत्वमन्ते फलत्वं चानन्दमयपदाभ्यामुक्तम्। तेनादिमध्यावसानेषु कारणत्वसर्वान्त-रत्वफलत्वानि तत्रैव साधितानि। तथान्नमयादीनां ब्रह्मत्वेनोपासनकथनात् तदान्तरत्वनिरूपकाणां यदा तत्तुल्यं फलत्वं, तदाऽऽनन्दमयस्य सर्वान्तरस्य फलत्वं किं वाच्यमित्याशयेन फलत्वमेव दृढीकृतम्। तथाच यदि केवलमात्मपदमेव कारणताप्रतिपादकवाक्ये स्यात् तदा त्वदुक्तं स्यादपि। न त्विह तथा किंतु तदेतत्पदसमभिव्याहृतम्। तथा सत्यात्मपदं नैकट्यमेव बोधयति, नतु तेन रूपेण कारणताम्। सा च प्रतिपिपादयिषिते पर्यवस्यतीति संपूर्णवाक्यविचारादवसीयते। अतः पूर्वोक्ताः फलत्वादय एतद्विनिगमकयुक्तिरूपा इत्यर्थः। एवं विनिगमकबोधनेन परोक्तं प्रतिक्षिप्य प्रकृते पूर्वपक्षमाहुस्तत्रेत्यादि। तथैवेति ब्रह्मत्वेनोपासनेनैव। सूत्रं व्याकुर्वते अभिधीयत इत्यादि।

आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥ ११ ॥ ननु हेतुना साध्यसिद्धिर्व्याप्तिनिश्चये सति भवति। प्रकृते

रश्मिः।

रिति स्वरूपलक्षणप्रतिपादकानन्दकर्तृत्वप्रतिपादकप्रपाठकयोरसंगतिरित्यर्थः। **तदर्थमिति** प्रवृत्त्यर्थ-मित्यर्थः। **तदेतदिति** 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' इतिश्रुतौ। **फलरूपेणेति** ब्रह्मविदाप्नोति परमिति सन्निहितश्रुत्युक्तेनेत्यर्थः। **तस्येति** विपश्चिद्ब्रह्मणः। इदं फलमत आहुरानन्दस्येति। **आनन्द-मयपदाभ्यामिति** 'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः' 'एतमानन्दमयमात्मा-नमुपसंक्रामति' इति श्रुतिद्वयघटकाभ्यामित्यर्थः। **तन्निरूपकस्यापीत्यादि**भाष्यं कैमुतिकन्यायेन व्याकुर्वन्ति **तथान्नमयेत्यादि**। **एतद्विनिगमकेत्यादि**। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' इति श्रुतावात्मपदेनानन्दांशकारणताप्रतिपादनविनिगमकेत्यर्थः। नन्वानन्दस्य कारणत्वेप्यक्षरानन्दस्य वक्तव्यम्। धर्मिणो भक्तैः सह निगूढभावकरणस्य दशमसुबोधिन्यामुक्तेस्तद्रूपानन्दस्य जगत्कारणता-भावादिति चेन्न। अदृश्यत्वाधिकरणोक्ताक्षराभेदमादायोपपत्तिसंभवात्। पुरुषविधब्राह्मणस्यात्र वक्तव्यत्वात्तत्र पर्यंशसत्ताया अभावात्। अत एवापि सदानन्दस्य जगज्जन्मादिकर्त्री शक्तिरित्युक्तं द्वितीयस्कन्धनवमाध्याये। **उपासनेति** प्रायपाठादेवकारः।

आनन्दमयोऽभ्यासात्॥११॥ भाष्ये। **अभ्यस्यत इत्यादि**। एतेन विधेरविशेषेण पुनः श्रवणमभ्यासः इति शास्त्रदीपिकोक्तलक्षणं विधिपदरहितं युक्तं 'एकस्यैवं पुनः श्रुतिरविशेषादनर्थकं

अभ्यस्यते पुनः पुनः कीर्त्यत इत्यभ्यासस्तस्मात् । अभ्यासस्य भेदकत्वं पूर्वतन्त्रसिद्धम् ।

यथा पूर्वतन्त्रे शब्दान्तराभ्याससंख्यागुणप्रक्रियानामधेयानां षण्णां

भाष्यप्रकाशः ।

चाभ्यासत्वेन परमात्मबोधकत्वेन व्याप्त्यभावादसिद्धोऽयं हेतुरित्यत आहुः **अभ्यासस्येत्यादि** । पूर्वतन्त्रे हि,'समिधो यजति,' 'तनूनपातं यजति,' 'इडो यजति,' 'बर्हिर्यजति,' 'स्वाहाकारं यजति' इति पञ्चकृत्वो यजत्यावृत्तौ मीमांसितं, किमत्र तनूनपादादिषु चतुर्षु पूर्वयागानुवाद उत यागान्तरविधानमिति । तत्र पूर्वपक्षिणा धात्वर्थप्रत्यभिज्ञानादिडादिगुणविधानार्थं समिद्यागानुवादेऽङ्गीकृते सिद्धान्तितम् । भेदाभेदसाधारण्या यजिश्रुत्या यागमात्रप्रत्यभिज्ञानेन श्रुतेर्यागान्तरपक्षे तुल्यत्वाद् गुणविधानपक्षेऽपि चतुर्थीतद्धितयोरभावेन देवतायास्तृतीयाया अभावेन द्रव्यस्य च वक्तुमशक्यत्वाद् द्वितीयया चाग्निहोत्रं जुहोतीत्यादिवत् तेषां कर्मनामत्वनिश्चयात् पदान्तरसमभिव्याहृतेन यजतिना यागान्तरमेव बोध्यत इति । तथाच यत्र यत्र वाक्ये पदान्तरसमभिव्याहृतस्य यस्य पदस्याभ्यासस्तत्र तस्य पदस्य पूर्वस्मादर्थान्तरगमकत्वमिति व्याप्तेः पूर्वस्मादर्थान्तरत्वेन परमात्मसाधनान्नासिद्धो हेतुरित्यर्थः । नन्वभ्यासस्य भेदकत्वमात्रं सिद्धम् । तस्य फलमितरभेदः सोऽत्र शब्दान्तरादेव सिद्धो वाक्यान्तरसिद्धमसन्निहितमभ्यासं स्वलाभाय नापेक्षते । तथा सति कथं तेन परमात्मावगतिरित्यत आहुः **यथेत्यादि** । तथाच शब्दान्तरेण सिद्धेऽपि भेदे वैलक्षण्यमभ्यासः साधयति । सिद्धाच्च वैलक्षण्यादन्नमयादिभ्य आनन्दमयस्यातुल्यत्वं सिद्ध्यति । तेन ब्रह्मात्माव-

रश्मिः ।

हि स्यात्' इति सूत्रे विधिपदाश्रवणात् । अत एव विधिभिन्नस्याप्यविशेषेण पुनः श्रवणेऽभ्यासत्वव्यवहार इति बोधितम् । **प्रकृते** । **परमात्मेत्यादि** । इदं चाधिकारसूत्राद् ब्रह्मेत्यनुवृत्तौ लभ्यते । तेन पक्षहेतुनिर्देशोऽपि सूत्रे न दोषाय । **पूर्वतन्त्र** इति द्वितीयस्य द्वितीयपादे 'एकस्यैवं पुनः श्रुतिरविशेषादनर्थकं हि स्यात्' इत्यधिकरण इत्यर्थः । **पूर्वयागेति** समिद्यागानुवाद इत्यर्थः । **धात्वर्थेत्यादि** । करणीभूतधात्वर्थभेदेऽपि शब्दैकत्वेनार्थैकत्वस्य दृढतरप्रत्यभिज्ञानादित्यर्थः । प्रत्यभिज्ञानं च तत्तेदन्ताप्रकारकं ज्ञानं स एवायं यजतिरित्याकारकम् । **इडादीत्यादि** । अत्र तनूनपादादीत्यनूदितव्ये इडादीत्यनुवादः शास्त्रदीपिकादौ तनूनपादादीति पदमसंगतमिति ध्वनयति । **तथाहि** । तनूनपादादीत्यत्रातद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः संभवति । अन्यपदार्थस्य संयोगसमवायातिरिक्तसंबन्धेन संबन्धित्वात् । पञ्चानामपि यागानां भिन्नत्वात् । लक्ष्यतावच्छेदकस्य विशेष्यान्वय्यन्वयित्वाभावात् । नैयायिकलक्षणस्याप्यसमन्वयात् । तथा च चतुर्णां यागानां संग्रहायेडादीत्येव वक्तव्यम् । आदि चेड् चेडादी 'अल्पाच्तरं पूर्वम्' इतीडः पूर्वनिपातः । इड् आदिर्ययोरित्यतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । इडादी च इडादी चेडादय इत्येकशेषः । तथा चेडादीनां तनूनपादिड्बर्हिःस्वाहाकाराणां देवतारूपाणां द्रव्यरूपाणां वा गुणानां विधानार्थमित्यर्थः । **चतुर्थीत्यादि** अग्नये जुष्टं निर्वपामि, आग्नेयोऽष्टाकपालः, इतिवत् । **तृतीयाया** इति दध्ना जुहोतीतिवत् । **इतरभेद** इति यथा पृथिव्या भेदकस्य गन्धवत्त्वस्य जलादिभेदसाधकत्वाज्जलादिभेदः फलं तद्वदित्यर्थः । **शब्दान्तरादिति** द्वितीयस्य द्वितीयपादे 'शब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वात्' इत्यधिकरणे सोमेन यजेत हिरण्यमात्रेयाय ददाति दाक्षिणानि जुहोति इत्यत्र यजत्यादीनां शब्दान्तरत्वात् कर्मभेदकत्वमिति चिन्तितम् । तद्वदत्राप्यन्नमयादिशब्दान्तरादेवेतरभेदः सिद्धः किमभ्यासेनेत्यर्थः । तथा चानन्दमयः शब्दान्तरादिति

कर्मभेदकत्वमेवमेवानन्दमयस्याप्यभ्यासात् पूर्ववैलक्षण्यम् । अतोऽतुल्यत्वाद् ब्रह्मत्वम् । एवमभ्यासः श्रूयते 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' । 'एष ह्येवानन्दयाति' इत्यर्थतोऽभ्यासः ।

भाष्यप्रकाशः ।

गतिरित्यर्थः । नन्वभ्यासस्यान्नमयादिवाक्येष्वपि दर्शनादत्रैव कथं वैलक्षण्यसाधकत्वमित्यत आहुः **एवमभ्यास इत्यादि** । अयमर्थः । पूर्वानुवाकेष्वन्नादीनां प्रशंसामुक्त्वापि, को ह्येवान्यादिति वाक्ये किंशब्दद्वयेन पूर्वोक्तं सर्वं परामृश्यते । तेन तदननादिकं प्रति व्यतिरेकमुखेनानन्दस्यैव हेतुता श्राव्यते । तेनान्नादीनामपि यत्स्वकार्ये सामर्थ्यं तस्यानन्दसापेक्षता बोध्यत इति सर्वोपजीव्यत्वेन स्तुत्या सर्वत्राऽऽनन्दोऽर्थतोऽभ्यस्यत इति स्तावकत्वेन वैलक्षण्यसाधकत्वमित्यर्थः । ननु स्तावकाभ्यासस्य पूर्वेष्वपि सत्त्वाद् वैलक्षण्यस्य तेष्वपि सिद्धेर्वैलक्षण्यं नानन्दमयस्य परमात्मत्वनिर्णायकम् । लिङ्गेन सिद्ध्यतस्तस्य मयट्श्रुत्यपेक्षया दुर्बलत्वात् । अर्थान्तरत्वेऽपि प्रायपाठेन तुल्यत्वनिश्चयात् । किं चायं विकारे मयट् । 'द्व्यचश्छन्दसि' इति नियमस्य, मृण्मयं गृहं राजमहं गममित्यादिमयेषु व्यभिचारात् । तेन विकारार्थे द्व्यचो भवत्येव । अन्यस्मात्तु विकारार्थे भवति, न भवति चेति व्यवस्थितविकल्पाश्रयणेन त्र्यचोऽप्यानन्दशब्दात् तस्य विकारार्थे

रश्मिः ।

सुवचमिति शङ्कितुराशयः । **इत्यर्थ** इति तथा च प्रकृतोपयोगिहेतुत्वस्याभ्यास एव सत्त्वान्न तत्सुवचमिति भावः । तथा चेदं प्रथमस्य शब्दान्तरस्य त्यागे मानमिति भावः । नन्वेवमप्यभ्यासस्य पूर्वतन्त्रे भेदकत्वमात्रं सिद्धमिति कथमत्र वैलक्षण्यसाधकत्वमस्येत्याशङ्कते **नन्वभ्यासस्येति** । **एवमभ्यास इत्यादीति** । एवं पूर्वोक्तेभ्यो विलक्षण इत्यर्थः । नन्वभ्यासस्वरूपं पूर्वतन्त्रसिद्धमेवेत्येवमभ्यासः श्रूयते इति भाष्यस्य किं प्रयोजनमित्याशङ्कायां प्रयोजनं वदन्तः पूर्वेभ्याद्विलक्षणोयमभ्यास इत्याहुः **अयमर्थ** इति । अस्य भाष्यस्येदं प्रयोजनमित्यर्थः । **परामृश्यत** इति सर्वनाम्नामुत्सर्गतः प्रधानपरामर्शकत्वादिति भावः । प्रसिद्धवाचका इति सुबोधिन्यां तत्र तत्र तच्छब्दस्य यच्छब्दस्य व्याख्यानात् । अभ्यासे चाप्राधान्यबोधकतृतीयाभावात् सर्वमित्युक्तम् । **श्राव्यत** इति आनन्दत्वाभावात्कः पूर्वोक्तोऽन्नमयादिरन्यात्प्राण्याच्च यत एष आकाश आनन्दोतोयमेव अनिति प्राणिति चेत्येवं श्राव्यत इत्यर्थः । **बोध्यत** इति सूच्यते व्यञ्जनतया बोध्यत इत्यर्थात् । अत्र सुबन्तस्यानन्दपदस्यैकवारं कीर्तनादानन्दमयपदाभावाच्चाहुः **अर्थतोऽभ्यस्यत** इति । **स्तावकत्वेनेति** पूर्वतन्त्रोक्तस्य तस्यास्तावकत्वेनास्य स्तावकत्वेनेत्यर्थः । एतेन पूर्वतन्त्रेऽभ्यासस्य भेदकत्वमात्रं सिद्धं कथमत्र वैलक्षण्यसाधकत्वमस्येति शङ्कापि परास्ता । **पूर्वेष्विति** अन्नमयादिष्वित्यर्थः । अन्नं न निन्द्यात्तद्व्रतं प्राणो वा अन्नमित्यादिभिरिति शेषः । **लिङ्गेनेत्यादि** स्तावकाभ्याससामर्थ्येन । **सिद्ध्यतः** परमात्मत्वनिर्णायकवैलक्षण्यस्य अपरमात्मत्वनिर्णायकविकारमयट्श्रुत्यपेक्षयेत्यर्थः । यथैन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते इति श्रुतौ यावल्लिङ्गादैन्द्रया इन्द्रोपस्थानार्थत्वं कल्प्यते तावत्तत्सक्षया गार्हपत्यमिति श्रुत्या गार्हपत्योपस्थानार्थत्वं क्रियते इत्यैन्द्री गार्हपत्योपस्थानाङ्गं तद्वत् । नन्वानन्दशब्दकृतं वैलक्षण्यं परमात्मत्वं साधयिष्यतीत्याकाङ्क्षायामाहुः **अर्थान्तरत्व** इति । प्राचुर्यविकारान्यतरत्वे विकारप्रायपाठेनान्नमयादितुल्यत्वनिश्चयात् । अभ्यासात्पूर्वहेतोर्भेदसाधकस्य शब्दान्तरस्यार्थान्तरत्वोक्तिरत्र । **तेनेति** व्यभिचारदर्शनेनेत्यर्थः । **व्यवस्थितेत्यादि** । सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्पन्ते इति न्यायादिति भावः ।

स्तुत्या मयडर्थत्वम्प्रकृतिस्तु तुल्या । पुनर्वचनेनाभ्यासेन प्रवाहाद् भेदे साधिते

भाष्यप्रकाशः ।

ह्रुवचत्वात् । तथा सति न तेन वैलक्षण्यसिद्धिर्वैलक्षण्यसिद्धावपि न तेन परमात्मत्वसिद्धिरित्यत आहुः **मयडर्थत्वे**त्यादि । मयट् प्रत्ययः । अर्थत्वमर्थान्तरत्वम् । ताभ्यां सहिता प्रकृतिर्मयडर्थत्वप्रकृतिः शब्दान्तररूपा । सा तुल्या व्यवस्थितविकल्पाश्रयणेऽपि पदार्थान्तरपक्षे परमात्मपक्षे च साधारणा । यद्वा स्तुत्या तुल्या यादृशी स्तुतिस्तादृशमर्थान्तरं बोधयति । अतो न तयाऽवान्तरप्रायपाठेन वा विकारार्थाग्रहो युज्यते । तदपेक्षयाऽसाधारणस्य लैङ्गिकाभ्यासस्यैव ज्यायस्त्वादित्यर्थः । तेन सिद्धमाहुः **पुनरि**त्यादि । किमः पुनर्वचनेन बोधितो य आर्थिकोऽभ्यासस्तेन मयडर्थान्तरयोः प्रवाहाद् भेदे आनन्दमयस्य साधिते तस्य ब्रह्मत्वं सिद्धमित्यर्थः ।

रश्मिः ।

ननूक्तं पूर्वस्माद्विलक्षणोत्राभ्यास इति तत्राहुः **वैलक्षण्यसिद्धावपीति** । **तेनेति** सिद्धेन वैलक्षण्येन दुर्बलेन लिङ्गेन वेत्यर्थः । **अर्थान्तरत्वमिति** प्राचुर्यविकारान्यतरत्वम् । **शब्दान्तररूपेति** उभयोरेकतरानन्दमयशब्दान्तररूपा । **साधारणेति** स्तुत्येत्यत्रान्वेति । तथा च प्रायपाठेपि स्तुत्या तेन साधारणेत्यर्थः । तथा चानन्दमयशब्दमहिम्नैव परमात्मत्वसिद्धिरित्याशयः । मुख्ये प्राचुर्यार्थे संभवति गौणविकारार्थानौचित्यात् । इदानीं प्रायपाठविरोधं परिहरन्तः **स्तुत्येति** पदमत्र योजयन्तोऽर्हार्थकप्रत्ययान्त तुल उन्मान इति धातुनिष्पन्नस्य तुल्येत्यस्योन्मातुं योग्येति यौगिकार्थं हृदिकृत्य पक्षान्तरमाहुः **यद्वेति** । **अत** इत्यादि सर्वोत्कृष्टस्तुत्यानन्दमयस्यान्नमयादिभ्य उत्कर्षात् न तया स्तुत्येत्यर्थः । **लैङ्गिकेति** आर्थिकाभ्यासस्येत्यर्थः । केचित्तु मयटोर्थो वाच्यं प्राचुर्यं पूर्वापेक्षयाप्याधिक्यं यत्र प्राचुर्यविशिष्टानन्दे स मयडर्थः तस्य भावो मयडर्थत्वं, प्राचुर्यं विशेषणीभूतं तस्य या प्रकृतिरानन्दशब्दात्मिका सा त्वानन्दमयशब्दनिष्ठा स्तुत्या कृत्वा प्रदर्श्यमानवाक्यनिष्ठानन्दशब्देनैकार्थवाचकत्वेन तुल्या । प्रदर्श्यमानवाक्ये स्तुतिर्वाक्यार्थः । आनन्दमयशब्दे तु प्रत्ययार्थ इति तुल्यत्वमिति व्याचक्षते । (अस्मिन् पक्षे स्तुत्या इति षष्ठ्यन्तम् । निरूपितत्वं षष्ठ्यर्थः ।) अन्ये तु को ह्येवान्यादिति श्रुतौ आनन्दस्याभ्यासः न त्वानन्दमयस्येत्यभ्यासाभावादानन्दमयो न ब्रह्मेत्याशङ्कायामाहुः **अर्थतोभ्यास** इति । शब्दत आनन्दस्याभ्यासेप्यर्थतः आनन्दमयस्यैवाभ्यास इत्यर्थः । अर्थतः कथमभ्यास इत्याशङ्कायामाहुः **स्तुत्या मयडर्थत्वमिति** । एवं सानुस्वारपाठोङ्गीकृतः । स्तुत्या 'को ह्येवान्यात्' इत्यादिरूपया । मयडर्थत्वं मयटोर्थः प्राचुर्यं यस्मिन् स मयडर्थ इति व्यधिकरणपदबहुव्रीहिणा मयडर्थ इत्यस्यानन्दमय इत्यर्थः । तथा च को ह्येवान्यात् इत्यादिस्तुत्यानन्दस्य मयडर्थत्वमानन्दमयत्वमित्यर्थः । स्तुतौ प्राचुर्यस्य प्रयोजकत्वात् । प्रभवो धनादिमन्त एव स्तूयमाना दृश्यन्ते इति । अतोत्र स्तुत्या प्राचुर्यं ज्ञाप्यते । एवं सति 'को ह्येवान्यात्' इत्यत्र स्तूयमान आनन्द एवेत्यानन्दप्रचुरस्यानन्दमयस्यैवाभ्यास इति भावः । **प्रकृतिस्तु तुल्येति** आनन्दशब्दरूपेत्यर्थः । आनन्दमयपदे मयटा प्राचुर्यं बोध्यते को ह्येवान्यादित्यादौ आनन्दस्तुत्या प्राचुर्यं बोध्यते । आनन्दशब्दस्त्वानन्दशब्दे आनन्दमयशब्दे च तुल्य इति भाव इत्याहुः तदेतद्भाष्ये प्राचुर्येण प्रस्तुतेर्थेनुशासिते मयट्येकदेशं प्राचुर्यमादाय वक्ष्यमाणसूत्रानुसारेण व्याख्यातव्यम् । मयडर्थत्वेत्यादेर्भाष्यस्यानुमानपक्षेर्थः । नन्वानन्दमयः परमात्मा अभ्यासात् इडादियागान्तरवत् । एवं सूत्रे पक्षहेतुनिर्देशापत्त्या वह्निमान् धूमादितिवत् साध्यहेतुनिर्देशस्य प्रसिद्धस्य त्यागोतः परमात्मानन्द-

ब्रह्मत्वम् । न तु द्वयापत्तिः । उत्तरस्य साधकत्वात् । तस्माद् आनन्दमयं ब्रह्मैव ।

भाष्यप्रकाशः ।

नन्वानन्दमयस्य ब्रह्मत्वे द्वैतापत्तिः । 'तस्य प्रियमेव शिरः' इत्यादिसंबन्धषष्ठ्या तस्य भेदबोधनात् । तथा सति ब्रह्मत्वस्याप्यसिद्धिः । नेह नानास्तीत्यादौ ब्रह्मणि भेदनिषेधादित्याशङ्कायामाहुः **न त्वि**त्यादि । उत्तरस्यैतदभ्यासवाक्यादग्रिमस्य 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति' इत्यन्तरशब्दवाच्यभेदकृतिनिन्दावाक्यस्य राहोः शिर इत्यादिवदभेदषष्ठीसाधकत्वान्न द्वयापत्तिरित्यर्थः । सिद्धमाहुः **तस्मा**दित्यादि । चोद्याभावात् तथेत्यर्थः । उपचयापचयशङ्किताब्रह्मत्वपरिहारस्तु गुणोपसंहारपादे प्रियशिरस्त्वादिसूत्रे आचार्येण विधेय एवेति न चोद्यावसर इति बोधयितुमेवकारः । एवमस्मिन् वर्णकेऽन्नमयादीनां ब्रह्मकार्यत्वेन पदार्थान्तरत्वमङ्गीकृत्य आनन्दे फलत्वस्य वक्तव्यत्वात् साधनशेषभूते ज्ञेये ब्रह्मण्यानन्दं चाभिवेश्यार्थिकाभ्यासादानन्दमयस्य तेभ्यो भेदः साधितः ।

रश्मिः ।

मयः अभ्यासादित्युक्तेपि हेतुः स्वरूपासिद्धः पक्षे व्याप्यत्वाभिमतस्य हेतोरभावादित्याशङ्क्य स्वरूपासिद्धत्वं वारयन्ति स्म **स्तुत्या मयडिति** । स्तुत्या मयडर्थः प्राचुर्येण प्रस्तुतः प्रकृष्टप्रकृत्यर्थः । प्राचुर्यं यत्राभ्यासवाक्ये तन्मयडर्थं प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं भूतस्तयोस्तु प्रत्ययः प्राधान्येनेति । तस्य भावस्तत्त्वं प्रकृतिरानन्दरूपा तु तुल्या अन्नादिभिस्तुल्या ब्रह्मत्वेनेत्यर्थः । तेन पक्षे हेत्वभावाभावात् न स्वरूपासिद्धत्वं हेतोरिति भावः । **प्रवाहादिति** विकारप्रवाहात् । **न त्विति** भाष्यं विवृण्वन्ति **न त्विति** । **उत्तरस्येति** भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **उत्तरस्येति** । **उदरमिति** स्वल्पमित्यर्थः । **गुणोपेति** । साधनाध्यायतृतीयपाद इत्यर्थः । गुणानामुपसंहारो यत्रेति समासात् । तेनानन्दाधिष्ठातरि विधातर्यव्याप्तिः परिहृता । यत ईक्षतिसूत्रे सद्रूपं सत्यं 'सत्यं परं धीमहि' इति मङ्गलाचरणात् । मूर्ध्नां तस्य परं पदं विष्णुर्ज्ञानं तत्त्वेन सत्यं अनन्तत्वेन च तत्प्रतिपादकवेदात्यन्तामिलनात् । अत एवानन्दत्वेनापि सत्यं तत्राव्याप्तिरत्र परिहृता । ब्रह्मादिषु लक्षणसमन्वयस्यावश्यकत्वात् । यतो मुण्डके कर्मादित्रयं मुण्डकत्रयेणोक्त्वा प्रश्ने परब्रह्मान्वेषणे प्राणविद्योक्ता तदनु विद्योपनिषदि ।

'ब्रह्मविद्यां प्रवक्ष्यामि सर्वज्ञानमनुत्तमाम् ।
यत्रोत्पत्तिं लयं चैव ब्रह्मविष्णुमहेश्वरात्' ॥

इत्युक्तं ततः । **अत्रैवं बोध्यम्** । 'मायेत्यसुराः' इति श्रुतेः 'असत्यमप्रतिष्ठं ते' इति स्मृतेश्चासुरसिद्धान्तस्य जाघन्यात् साकारं व्यापकं ब्रह्म तदेव विरुद्धानामणुत्वादिधर्माणामाश्रयः पुरुषोत्तमश्चायमूर्तिः । श्रौतं स्मार्तं च प्रमेयं भिन्नं 'योगिनः प्रति स्मर्यते स्मार्ते चैते' इति चतुर्थाध्यायस्थसूत्रे तथैव सूचनात् । श्रौतं ज्ञानं भक्तिर्वा साधनं, स्मार्तं तु भक्तिरेवेति श्रीमदाचार्याणां सिद्धान्तः । एष चात्र निबन्धे च स्फुटः । श्रीमद्विट्ठलेश्वरदीक्षितानां तु पुरुषोत्तमो यशोदोत्सङ्गलालित एव ब्रह्म, विरुद्धानां व्यापकत्वादिधर्माणामाश्रयः । 'समान एवं चाभेदात्' इति तृतीयाध्यायस्थसूत्रे तथैव व्यासपादानामभिप्रायव्यवस्थापनेन सूत्रसमाप्तौ—

'एवं विचारचातुर्यवद्भिः सद्भिर्व्रजाधिपे ।
आनन्दमयतानन्दसंदोहायावधार्यते' ॥

अथवा 'स नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्, स हैतावानास' इत्यादिश्रुतिभिरेष उ एवेतिश्रुतेश्च तानि तानि साधनानि कारयित्वा तानि तानि फलानि ददद् भगवान् स्वक्रीडार्थमेव जगद्रूपेणाविर्भूय क्रीडतीति वैदिकैर्निर्णीयते। एतदेव काण्डद्वयेऽपि प्रतिपाद्यते।

भाष्यप्रकाशः।

सांप्रतं तु प्रभुचरणैरखण्डब्रह्मवादेन पूर्वं सिद्धं कार्यस्यापि ब्रह्मत्वमनूद्यानन्दस्य साधनशेषत्वेऽपि रूपभेदेन फलत्वानपायाज्ज्ञेयकोटावानन्दं निवेश्यापि तेभ्य आनन्दमयभेदः 'तस्यैष एव शारीर आत्मा' इत्यादिवाक्याभ्यासाद् वर्णकान्तरेणाधिदैविकवादमाश्रित्य साध्यते अथवेत्यादि। तदर्थं पूर्वं सर्वश्रुतीनां ब्रह्मपरत्वेनैकवाक्यत्वाय प्रतीयमानस्य द्वैतस्य बाध्यताप्रकारबोधनाय च सृष्टिप्रक्रियासारणपूर्वकमखण्डब्रह्मवादस्वरूपं सप्रमाणं निरूप्यते स वै नैवेत्यादि। वैदिकैरिति प्राचीनौपनिषदैः। एतेन संमतिरपि शिष्टानामुक्ता। एतेन सृष्टीच्छायां प्रयोजिका क्रीडेच्छेति बोधितम्। एतदेव काण्डद्वयेऽपि प्रतिपाद्यत इति 'शाब्दस्य हि ब्रह्मण एष पन्थाः' इत्यनेन

रश्मिः।

इति श्लोकेन भाष्यसमाप्तौ च—

'जानीत परमं तत्त्वं यशोदोत्सङ्गलालितम्।
तदन्यदिति ये प्राहुरासुरांस्तानहो बुधाः' ॥

इति श्लोकेन च तथैवोक्तत्वात्। भक्तिरेव साधनं श्रौतस्मार्तं च प्रमेयमेकमेव 'स्मृतेश्च' इति सूत्रेण श्रौतस्याप्यर्थस्य व्यासपादैः स्मृत्योपबृंहणादित्येतावान् मतभेदः। अन्यत्समानमित्याशयेन भाष्यं भिन्दन्ति सांप्रतमित्यादि। प्रभुचरणैरिति श्रीमद्विठ्ठलेश्वरदीक्षितैरित्यर्थः। तेन पूर्ववर्णकस्यापि मुख्यत्वं न तु तत्र किमप्यस्वारस्यमिति ध्वनितम्। एवं तत्र तत्र मतभेदो द्रष्टव्यः। प्राकरणिकग्रन्थनिबन्धाद्येकवाक्यतायां विचार्यमाणायां तु एकमेव मतमिति वस्तुस्थितिस्तत्त्वं चेति विभावनीयं महद्भिः। 'पितृप्रवर्तितपथप्रचारसुविचारकः' इति नामरत्नग्रन्थनाम्नः प्रभूणाम्। अत एव मिलितयोरेवाचार्यत्वम्। अखण्डब्रह्मवादेनेति नात्राखण्डब्रह्मवादो 'अखण्डं कृष्णवत्सर्वं' इति निबन्धोक्तः, तस्य ज्ञानमार्गीयत्वात् 'भजनं सर्वरूपेषु' इत्यस्य तत्त्वदीपे तथाकथनात्। किं तु लीलासामग्रीसहितमेवाखण्डं ब्रह्मेति परमभागवतेन वादेनेत्यर्थः। एतत्स्वरूपं द्युभ्वाद्यायतनाधिकरणे 'प्रकरणात्' इति सूत्रे वक्ष्यति। रूपभेदेनेति गणितत्वागणितत्वकृतेनेत्यर्थः। द्वैतस्येति संशयरूपस्य संख्यारूपस्य वा बाध्यताप्रकारसूचनाय सर्वस्य ब्रह्मत्वबोधनेनेत्यर्थः। निरूप्यत इति। यत्तु शंकरपादा अतः परस्य ग्रन्थस्य किमुत्थानमुच्यते द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते इत्यादिना सोपाधिकनिरुपाधिकभेदेन श्रुतिव्यवस्थामाहुः तत्तात्त्विकत्वातात्त्विकत्वाभ्यां द्वेधा भेदस्य विद्वन्मण्डने निपुणतरं खण्डनात्। ग्रन्थोत्थाने प्रकारान्तरमुपदिशद्भिरिति शेषः। स वै नैवेत्यादीति इदं प्रजापतिपरमिति शांकरा व्याचक्षते तदशोभनं 'सर्वान् पाप्मन औषत् तस्मात्पुरुषः' इति पुरुषनिर्वचनश्रुतेः अपहतपाप्मत्वस्य ब्रह्मलिङ्गस्य तत्र सत्त्वेन विराडात्मकप्रजापतेर्ग्रहीतुमशक्यत्वात्। किं च सोऽबिभेदित्यपि भयं न बाधकं बाललीलायां तत्स्वीकारात् भक्तानुरोधेन। माहात्म्यं चैतद्ब्रह्मणो यद्भक्तवश्यत्वम्। अत एकोऽप्यसाधारणो धर्मो विद्यमानः शिष्टान् संदिग्धानपि ब्रह्मधर्मानेव गमयति इति 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' इत्यधिकरणभाष्याच्च। न च 'ततः पतिः पत्नी चाभवताम्' इत्यनन्तरं ततो मनुष्या-

अन्यथा जीवस्य साधनफले निरूपयन्त्याः श्रुतेर्जीवपरत्वमेव स्यान्न ब्रह्मपरत्वम्। कर्मब्रह्मणोरपि जीवशेषत्वं नापेयात्।

एवं सति पूर्वकाण्डेऽवान्तरफलान्युक्त्वा 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इतिश्रुतेर्निरवध्यानन्दात्मकमेव परमं फलमिति तद्विवक्षमाणा पूर्वं सामान्यत आह, ससाधनं तैत्तिरीये 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति। अक्षरब्रह्मवित् परं ब्रह्माप्नोतीत्यर्थः। अत्र परशब्दस्य पूर्वपरत्वे तदित्येव वदेत्।

भाष्यप्रकाशः।

द्वितीयस्कन्धे उक्तार्थस्यैवोपबृंहणात् क्रीडनमेव प्रतिपाद्यत इत्यर्थः। तेन सृष्टीच्छा क्रीडेच्छारूपैवेति निर्णीयोक्तोपबृंहणेऽन्यस्याप्यर्थस्य संभवदुक्तिकत्वात् तदनुक्त्वा विपक्षे बाधकं तर्कमेवाहुः अन्यथेत्यादि। अन्यथेति भगवतः सर्वरूपत्वाभावे। नापेयादिति पारार्थ्यस्य शेषलक्षणस्य फलद्वारा तत्र सत्त्वान्नापेयादित्यर्थः। नच जीवशेषत्वमेव काण्डद्वयस्यास्तु बाधकाभावादिति वाच्यम्। 'सर्वे वेदा यत् पदम्', 'ॐमित्येतदक्षरम्', 'इदं सर्वम्', 'यस्यात्मा शरीरम्' इत्यादिषु वेदादेर्भगवत्परत्वस्य भगवतो जीवशेषित्वस्य च श्रावणेन तद्विरोधस्यैव बाधकत्वात्। तस्मान्नात्र शङ्कालेशः। एवमखण्डब्रह्मवादस्यैव श्रौतत्वादुक्तरीतिक एवार्थ इति हृदिकृत्याधिदैविकवादेन भेदं साधयितुं विषयवाक्यं व्याकरिष्यन्तः सिद्धमनूद्य तदवतारयन्ति एवं सतीत्यादि। एवं सतीति उक्तदोषपरिहारायोक्तरीत्या श्रुतीनां ब्रह्मपरत्वे सति। इति श्रुतेरिति। आनन्दान्तरस्यैतदंशत्वादिति शेषः। सामान्यत इति संक्षेपेण। विषयवाक्यप्रतीकं धृत्वा व्याकुर्वन्ति ब्रह्मेत्यादि। साधनशेषाद् ब्रह्मणः परस्यातिरिक्तत्वे गमकमाहुः अत्रेत्यादि। तथाच शब्दान्तरेण निर्देश एव भेदगमक इत्यर्थः। एतेन निरवधिसत्यज्ञानात्मकत्वे

रश्मिः।

अजायन्त' इति श्रुत्या पतिर्मनुः पत्नी शतरूपेति व्याख्यायत इति वाच्यम्। मनुशब्दस्य मुख्यवृत्तिर्ब्रह्मण्येवेति मनुष्यपदोपपत्तेः। किं चोपसंहारेत्र ह्येते सर्वमेकं भवन्ति तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्मा अनन्त इत्येतत्सर्वं वेद इति सर्वपरायणत्वं सर्वपदनीयत्वं तज्ज्ञानेन सर्वज्ञत्वं तैर्ब्रह्मलिङ्गैरुपक्रमस्य निःसंदिग्धं ब्रह्मपरत्वं, अतोऽन्तस्तद्धर्माधिकरणन्यायेनाकाशस्तल्लिङ्गाधिकरणन्यायेनातिदेशाधिकरणन्यायेनास्य ब्रह्मपरत्वात्। चतुर्थचरणे समाकर्षाधिकरणेप्युपपादयिष्यते। क्रीडनमिति एतच्चैतस्य सुबोधिन्यामस्ति। इच्छान्तरादर्शनादाहुः तेन सृष्टीच्छेति। अन्यस्येति अज्ञबुद्ध्याच्छादनाय कल्पितप्रकारस्य शांकरमतसिद्धस्येत्यर्थः। परमार्थ एव पूर्वोक्तः। आहुरिति उपबृंहणस्यापामरप्रसिद्धत्वाद्वैदिकंमन्यस्य वैदिकेनैव प्रकारेण बोध्यत्वाद्वा श्रौतेनैव विचारेण तमर्थं समर्थयन्तो गतेरर्थवत्त्वसूत्रे तर्ककथनात् तन्न्यायेनाहुरित्यर्थः। पारार्थ्यस्येति पूर्वतन्त्रोक्तस्येत्यर्थः। फलद्वारेति तत्र कर्मब्रह्मणोः फलाभ्युपायः द्वारं स्त्रीत्वविवक्षायां द्वारा 'द्वारं पुनर्निगमनेऽभ्युपायः' इति विश्वात्। फले शेषत्वमन्येषां नास्ति। अतः फले शेषत्वं मतस्यस्य मतावलम्बनमभ्युपायः तयेति शेषः। इदानीं पूर्वमीमांसकाशङ्कां पराकुर्वन्ति न च जीवेत्यादि। भेदमिति प्रकाशाश्रयन्यायसिद्धमित्यर्थः। भाष्ये। ससाधनमिति तेनास्य प्रकारस्य मर्यादामार्गीयत्वं सूचितम्। वस्तुतस्त्वित्यादि मुख्यपक्षे तूभयमार्गपरत्वं ज्ञेयम्। प्रकृते। विषयेत्यादि। सिद्धमिति काण्डद्वयसिद्धम्। संक्षेपेणेति संक्षेपेणोत्तरकाण्डार्थमाहेति भाष्येणान्वयः। विषयवाक्यप्रतीकमिति 'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर

पूर्वं ब्रह्मोक्त्वाग्रे यत् परमित्याह तेन सान्निध्यात् तत एव परं पुरुषोत्तमरूपमेवाऽत्राभिप्रेतमिति ज्ञायते ।

किंच प्रतिवादिना तदाप्तिर्ज्ञानात्मिकैव वाच्या । तथा सति ब्रह्मप्राप्तो ब्रह्म प्राप्नोतीत्यर्थः स्यात् । स चासंगतः । साधनसाध्यभावव्याहतिश्च ।

भाष्यप्रकाशः ।

सत्यक्षरादुत्कृष्टत्वमिति परस्य लक्षणमप्युक्तप्रायम् । तथोत्कृष्टत्वमानन्दमीमांसोत्तरं, 'यतो वाचः' इति श्लोके गणनापरिच्छेदरहितावाङ्मनसगोचरानन्दरूपत्वेन सिद्धं भविष्यति । ननु 'सर्वं ब्रह्म' इतिवित् परं ब्रह्माप्नोतीत्यर्थोक्तौ न कोऽपि दोष इत्यत आहुः **किंचेत्यादि** । **असंगत इति** पुनरुक्तिदोषादसंगतः । नन्वत्र व्याख्यानव्याख्येयभाव एव संगतिरिति चेत् तत्राहुः **साधनेत्यादि** । नच शाब्दज्ञानवान् परं साक्षात्काररूपं ज्ञानमाप्नोतीत्युक्तौ न दोष इति वाच्यं-प्रत्यक्षविरोधात् । नच साधनान्तरासमवधानाददोष इति वाच्यम् । तस्यात्रानभिप्रेतत्वात् । अनुपदेशेन तथाव-

रश्मिः ।

आत्मानन्दमयः' इति विषयवाक्यस्य पूर्वाङ्गमित्यर्थः । प्रतीकमित्यस्यावयवमित्यर्थः । **भविष्यतीति** अनन्तपदार्थनिरूपणे भविष्यतीत्यर्थः । यद्वा एकप्रक्रमपठितत्वेन भविष्यतीत्यर्थः । वस्तुतस्तु निरवध्यानन्दत्वमेव लक्षणम् । सत्यज्ञानानन्तविपश्चित्त्वं वा लक्षणमेकश्रुत्युपपादितत्वात् । प्रकटचिदंशत्वेन न सूर्येऽतिव्याप्तिः सत्यानन्तयोराच्छन्नत्वात् । परे तु त्रयं प्रकटमिति । प्रकटमिति लक्षणे विशेषणम् । निरवधिसत्यज्ञानत्वे सतीति विशेषणाभावे शृङ्गाररसेतिव्याप्तिः स्वमतहानिश्च 'सत्यं परं धीमहि' इति 'सत्यव्रतं सत्यपरम्' इति च ।

'आत्ममायामृते राजन् परस्यानुभवात्मनः ।
न घटेतार्थसंबन्धः स्वप्नद्रष्टुरिवाञ्जसा' ॥ इति च ।

अर्थसंबन्धो देहसंबन्धः । विशेष्याभावे ब्रह्माज्ञानमेव भवेत् । अधोक्षजत्वेन निरवध्यानन्दद्वारा तज्ज्ञानात् । 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इति श्रुतेः । अक्षरेतिव्याप्तिवारणाय निरवधीति । शंकरोपनिषद्भाष्योक्तार्थं वदन्त आशङ्कामाहुः **नन्वित्यादि** । सर्वं ब्रह्मेत्युपासकः परं ब्रह्माप्नोति इत्यर्थोक्तावित्यर्थः । **न कोपीति** यद्यपि प्राप्यस्य ब्रह्मणः उपासकाद्भिन्नत्वेन भवनमुक्तं तथापि माध्वमणिकं ब्रह्म जीवाद्व्यतिरिक्तं नापि तु तस्यैवोपासकस्याविद्यालेशशून्यं निर्विशेषचिन्मात्रैकरसस्वरूपं तदेव 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति मन्त्रेणोच्यते । अग्रे 'यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह' इत्यनेन वाङ्मनसयोरगोचरत्वस्योक्तेरिति दोषोपि नेति न कोपि दोष इत्यर्थः । **व्याख्यानव्याख्येयेति** । तथा चोपनिषद्भाष्यं ब्रह्मविदिति ब्रह्म वेद ब्रह्मैवेति वक्ष्यमाणलक्षणं बृहत्तमत्वात् ब्रह्म तद्वेत्तीति ब्रह्मविदाप्नोति परं निरतिशयं तदेव ब्रह्म परं नह्यन्यस्य विज्ञानादन्यस्य प्राप्तिरिति । **साधनेत्यादीति** 'धर्मादिष्वनियमः' इत्यनेन 'अल्पाच्तरं पूर्वम्' इत्यस्य बाधादेवं प्रयोगः । धर्मादिश्चाकृतिगणः । ब्रह्मज्ञानं साधनं परप्राप्तिः साध्या सापि ज्ञानात्मिकेत्येकस्य साधनसाध्यभावव्याहतिश्चेत्यर्थः । व्याख्यानव्याख्येयभावेपि तन्मतेन साधनसाध्यभावमाशङ्क्य निषेधन्ति **न च शाब्देत्यादि** । प्रत्यक्षेति शाब्दपरोक्षापत्त्या तथा । **साधनान्तरेति** संन्यासयोगरूपसाधनान्तरासमवधानात् । **अत्रेति** श्रुतावित्यर्थः । **अनभीत्यादि** छान्दोग्ये आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्येति गार्हस्थ्यलिङ्गाद्वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थानां पुंसां तदनिवेशे गृहस्थानां ब्रह्मलोके

अतः परं विशेषतस्तद्विवक्षमाणानुभवैकगम्यं तत्स्वरूपं नान्यमानगम्यमिति ज्ञापयितुमन्यमुखेनाह 'तदेषाभ्युक्ता' इति । अन्यथा सर्वार्थतत्त्वप्रतिपादिका श्रुतिरेवं कथं वदेत् । तदित्यव्ययम् । तथाच तत् पूर्वोक्तं ब्रह्मविदः परप्राप्तिलक्षणमर्थं विशदतया प्रतिपाद्यत्वेनाभिमुखीकृत्योपगृह्य ऋगेषा विदितपरब्रह्मकैरुक्ता । पूर्ववाक्योक्तार्थस्य वैशद्यमनया क्रियत इत्यर्थः संपद्यते ।

भाष्यप्रकाशः ।

सायात् । 'यमेवैषः' इति श्रुत्या साक्षात्कारस्य वरणेतरसाधनानधीनत्वाच्च । साधनान्तरकल्पनायामपि पूर्वोक्तरीत्या परशब्दवैयर्थ्याच्च । अत उक्तविधस्यैवार्थस्यात्र संक्षेपत उक्तिरेवेति निश्चयः । एवं सामान्यत उक्तिं तथैव व्याख्याय विशेषतो व्याख्यातुं सामान्यविशेषभावे गमकाकाङ्क्षायां व्याख्यानव्याख्येयभाव एव गमक इत्याशयेनाहुः **अतः परमित्यादि** । **अन्यथेति** व्याख्यानत्वाभावे, परस्य तत्प्राप्तेश्चानुभवैकवेद्यत्वाभावे च । **एवमिति** अन्यमुखेन । **अव्ययमिति** हेतुपञ्चम्यन्तमव्ययम् । श्रुतिव्याख्यानगतं तत्पदं त्वर्थाध्याहृतमर्थविशेषणत्वाय नाऽव्ययमित्यु-

रश्मिः ।

परामृताद्धिरण्यगर्भमोक्षात् मोक्षानापत्तेः । तथा सति 'न स पुनरावर्तते' इति छान्दोग्यविरोध इति तथा । **भाष्ये** । काण्डद्वयेपीत्यादिना गृहस्थाधिकारस्य पूर्वकाण्डसिद्धस्यापि संग्रहात् । परमहंसयतीनां तु गार्हस्थ्यमपि प्राप्तं चेत् पारिभाषिकसंन्यासो गृहस्थानां यथा । 'काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः' इत्यादि गीतायाः । अत्र हेतुमाहुः **अनुपदेशेनेति** 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः' इत्यत्रोक्तगार्हस्थ्यस्य तैत्तिरीयेनुपदेशेन तथा साधनान्तरत्वाभावनिश्चयात् । अनुपदेशेप्यपेक्षितोपसंहार एकवाक्यतयोचित एवेत्यत आहुः **यमेवेति** । वरणेनरेत्यादि प्रमेयबलमेवैतत् । वरणं वैदिकमनुग्रहो वेदान्तः । नन्वस्तु तत्र तथापरमत्र तु ब्रह्मविदिति साधनोपदेशेन भक्तिरूपसाधनत्वव्यापारत्वेन निवेशस्यावश्यकत्वाद्भक्तेर्वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थानां संन्यासयोगाच्छुद्धसत्त्वानां प्राकट्यात् तद्वत्काण्डद्वयेपीत्यादिभाष्यादस्माभिरपि साधनान्तरं कल्प्यत इत्यत आहुः **साधनान्तरेत्यादि** । **पूर्वेति** अत्रैव पूर्वोक्तरीत्या चेति । अत्र व्यवहारे भाट्टत्वाभावेन निहितं गुहायामित्यस्याग्रे ब्रह्मणाश्नुते एकीभवतीत्युक्तं स्यात् न तु परमे व्योमन्नित्यादिरुपनिबद्धः स्यात् । अतः स्वमते पुष्टिमर्यादाभक्तफलं वक्तीति युक्तम् । 'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति' इत्यत्र ज्ञानफलमिति चकारार्थः । **अत उक्तेति** भाट्टवदर्थवादत्वाभावादक्षरब्रह्मविदः पूर्णानन्दप्राप्त्युपदेशरूपस्यैवेत्यर्थः । **ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवतीति** श्रुतेर्ज्ञानमार्गस्य सावकाशत्वाद्भक्तिमार्गस्य निरवकाशत्वादेवकारः । **अत्रेति** ब्रह्मविदाप्नोति परमितिमात्रे । **उक्तिरेवेत्ये**वकारेण व्याख्यानत्वव्यवच्छेदः । **निश्चय इति** । शब्दादपरोक्षस्य सर्वनिर्णये मर्यादामार्ग एव स्यादित्यादिना दूषितत्वादितोधिकाकाङ्क्षिणा स द्रष्टव्यः । **सामान्यविशेषेत्यादि** तदेषाभ्युक्तेति श्रुतेरित्यर्थः । **एवेति** एवकारोप्यर्थकस्तेन तदेषाभ्युक्तेति श्रुतेरपि सामान्यविशेषभावे गमकत्वं द्रष्टव्यम् । **अन्येत्यादि** विदितपरब्रह्ममुखेनेत्यर्थः । यद्यपि श्रुतं नारदमुखादित्यन्यमतत्वं संभाव्यते तथापि पुरुषविधब्राह्मणवत्तद्वा एतद्विदितं मीमांसितमिति श्रुत्यायमर्थः साधुः । श्रुत्यर्थस्तु एतदित्यस्य यथोक्तकर्मणामवश्यकर्तव्यत्वं, विदितमित्यस्य भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञः पितृयज्ञो देवयज्ञ ऋषियज्ञश्चेति पञ्चमहायज्ञप्रकरणे विदितं विज्ञातमित्यर्थः । **भाष्ये** । तत्पदं द्वितीयान्तत्वेन व्याख्यातं तत्तात्पर्यमाहुः **श्रुतिव्याख्यानेत्यादि** । अध्याहारदोषादाहुः **अर्थेत्यादि** । अर्थशब्दस्य नियतपुंलिङ्गत्वादिति

तामेवाह। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता'। सोपपत्तिकमानन्दात्मकत्वमग्रे निरूपणीयमित्यधुना तदनिरूप्य सच्चिदंशौ देशकालापरिच्छिन्नत्वं चोक्तवती।

अथवा, अक्षरब्रह्मण्यानन्दात्मकत्वे सत्यपि तस्य परिच्छिन्नत्वान्न परमफलत्वमत आनन्देऽपरिच्छिन्नत्वमेव परमफलतावच्छेदकमिति तद्धर्मपुरःसरं

भाष्यप्रकाशः।

क्तम्। तथाच संपूर्णा ऋक् फलांशविवरणार्थैवेति संपद्यत इत्यर्थः। तामित्यादिना ऋचं पठित्वा व्याकुर्वन्ति सोपपत्तिकमित्यादि। एवमग्रे फलनिरूपणावसरे निरूपणीयमित्यधुना साधननिरूपणावसरे सोपपत्तिकमनिरूप्य सत्यज्ञानपदाभ्यां सच्चिदंशावनन्तपदेन देशकालापरिच्छिन्नत्वं च ज्ञेयस्य ब्रह्मणः साधनशेषत्वायोक्तवतीत्यर्थः। एवं पूर्ववर्णकस्यास्य ज्ञेयांशे कारणत्वायानन्दांशमप्रवेश्येत्यस्य संग्रहाय तदाशयो विशदीकृतः। तेन ब्रह्मत्वे तुल्येऽपि क्षरस्य देशकालापरिच्छिन्नत्वाभावान्न विवक्षितफलसाधनशेषत्वम्। अक्षरस्य तु तदपरिच्छिन्नत्वात् तादृशसाधनशेषत्वमिति बीजं प्रकाशितम्।

अतः परं प्रस्तूयमानवर्णकरीत्या विवक्षितफलविवरणार्थमत्रानन्दांशप्रवेशं वक्तुमनन्तशब्दस्यार्थान्तरमाहुः अथवेत्यादि। परिच्छिन्नत्वादिति गणनया परिच्छिन्नत्वात्। एवमत्र

रश्मिः।

भावः। तथा च तदिति तं द्वितीयान्तं न पञ्चम्यन्तमस्मिन् पक्षे। भाष्ये। विदितपरब्रह्मकैरिति 'तासां मे पौरुषी प्रिया' इति पुराणद्वारा पुरुषविधब्राह्मणाङ्गीकर्तृभिः स्वस्या अक्षरं ब्रह्म परमं स्थानमिति स्वोत्कृष्टैरित्यर्थः। तेन यदध्येतृभिरिति परैरुक्तं तदसंभवि। अध्येतॄणामसामर्थ्यादिति बोधितम्। प्रकृते। फलांशेत्यादि फलं चांशश्च फलांशौ तयोर्विवरणार्थेत्यर्थः। यद्यप्याह ससाधनमित्यस्य पूर्ववाक्योक्तार्थस्य वैशद्यमनया क्रियते इत्यस्य च भाष्यस्य विरोधः स्यात् तथाप्यनुभवैकगम्यं तत्स्वरूपमित्याद्याभासभाष्यानुसारेणाह ससाधनमिति। पूर्वोक्तस्य भाष्यस्य अथवेत्यादिवक्ष्यमाणद्वितीयपक्षानुमानाभासत्वं पूर्ववाक्योक्तार्थस्येति भाष्यस्य फलांशप्रतिपादकत्वस्येत्यर्थः। इत्यविरोधः। साधिष्ठानमेव तत्स्वरूपमिति 'आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः' इति सूत्रभाष्ये तु द्वितीयपक्षानुसारी नेति। तामित्यादि अत्र कर्ता भगवान् 'वेदान्तकृत् वेदविदेव चाहम्' इति स्मृतेः। साधनेत्यादि फलांशे निरूपणीये साधनत्वेनाधिष्ठानरूपसाधनत्वेन स्वरूपे प्रतीतं साधनं तस्य निरूपणावसर इत्यर्थः। फलांशनिरूपणे साधननिरूपणमन्यथासंगतं स्यात्। एवमेव ज्ञेयस्येत्यादिकं स्वरूपे प्रतीतं ग्राह्यम्। एवं पूर्वेत्यादि फक्किकातात्पर्यं तु ज्ञेयम्। पूर्ववर्णके ब्रह्मविदाप्नोतीत्यस्य विषयवाक्यत्वाभावात्। तथाहि। ननु फलांशे वर्णनीयानन्दाप्रवेशो नैव युज्यते यतः आनन्दत्वेन फलत्वमिति चेत्तत्राहुः एवं पूर्वेति। पूर्वोक्तप्रकारेण पूर्वं वर्णकं यस्य भाष्ये वक्ष्यमाणवर्णकस्य द्वितीयस्य तत्स्थस्येत्यादिरतः फलांशेऽप्यदुष्टो निरानन्दपक्ष इति। तदाशय इति शंकरमतमपाकर्तुं निरानन्दपक्षो ज्ञानमार्गे इति तथेत्यर्थः। तुल्येपीति क्षरस्य सत्त्वेन ब्रह्मत्वमक्षरस्य तु चित्त्वेनेति तयोरंशत्वात्तुल्येपीत्यर्थः। तदपरिच्छिन्नत्वादिति अक्षरात्मकेऽपरिच्छिन्ने सत्येव हृदि परस्यापरिच्छिन्नस्य प्रादुर्भावात्तथेत्यर्थः। फलविवरणार्थमिति आप्नोति परमित्येतावत्फलस्य सत्यमित्यादिनैव विवरणार्थमित्यर्थः। गणनयेति 'ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्दः' इति श्रुतेः। परिच्छिन्नत्वादिति।

परमानन्द एवानन्तशब्देनोच्यतेऽत्र। 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म', 'सच्चिदानन्दविग्रहम्' इत्यादिश्रुतिषु त्रयाणामप्येकप्रक्रमपठितत्वाद् द्वितयोक्तौ तन्नियतसहचरितत्वेनाऽनुक्तोऽप्यानन्दः प्राप्स्यत एवेत्याशयेन चानन्दः स्फुटतया नोक्तः। अथ वेदनपदार्थमाह। यो वेदेत्यादिना। अत्रेदमाकूतम्। 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वाम्' इति श्रुत्या वरणेतरसाधनाप्राप्यत्वमुच्यते।

एवं सति श्रुतिद्वयविरोधपरिहारायाक्षरब्रह्मज्ञानेनाविद्यानिवृत्त्या प्राकृतधर्मराहित्येन शुद्धत्वसंपादनेन पुरुषोत्तमप्राप्तौ स्वरूपयोग्यता संपाद्यते। तादृशे जीवे स्वीयत्वेन वरणे भक्तिभावात् सहकारियोग्यतासंपत्त्या पुरुषोत्तमप्राप्ति-

भाष्यप्रकाशः।

वेद्यपदार्थो गणितागणितानन्दभेदेन द्वेधा विवृतः। अनन्तरूपमिति श्रुत्यन्तरादत्राप्यनन्तपदं रूपानन्त्यवाचकमेवास्तु। तथा सति नानन्तपदेन परमानन्दलाभ इत्याशङ्क्य पक्षान्तरमाहुः सत्यं विज्ञानमित्यादि। अथेति वेद्यनिरूपणोत्तरम्। नन्वेवं द्वेधा वेद्यव्याख्याने किं बीजमित्याकाङ्क्षायामाहुः अत्रेत्यादि। इदमाकूतमिति। वरणेतरसाधनाप्राप्यत्वमिति अत्र प्रवचनपदं वेदे रूढम्। तदत्र वाच्यतासंबन्धेन तदुक्तसाधनान्युपलक्षयति। मेधा धारणावती बुद्धिः सा च पुरुषनिष्ठस्वाभाविकसाधनानि श्रुतं चागन्तुकानि साधनानीति। तथा ऋचि वेदनव्याख्यानांश इदं वक्ष्यमाणं तात्पर्यम्। एवं सतीति व्याख्येये यजुषि वेदनप्राप्यत्व उक्ते सति। सहकारियोग्यतासंपत्त्येति सहकारियोग्यतयोः संपत्त्या। तथाच वरणाभावे ज्ञानमार्गरीत्या

रश्मि।

अतोत्राक्षरं नोच्यत इति भावः। द्वेधेत्यादि प्रकाशाश्रयन्यायेनाभेदमाश्रित्य द्वेधा विवृत इत्यर्थः। यद्यप्यक्षरनिरूपणमप्रयोजनं तथापि श्रुत्यन्तर आनन्दमात्रपदान्निरूपितम्। एवेति अयमानन्दव्यवच्छेदकः। सत्यं विज्ञानमित्यादीति यद्यपि सर्वोपनिषदि 'सत्यं ज्ञानमनन्तमानन्दं ब्रह्म' इति श्रुतिरस्ति तथापि स्पष्टेति नानावादानुरोधिरूपोपयोगिनी न भवतीति पद्मपुराणीयवाक्येन यमुनाजित्परामप्यर्थाक्षिप्तत्वेन तस्यास्तामङ्गीचक्रुरिति बोध्यम्। किं बीजमिति पूर्वं प्रकाशाश्रयन्यायसूचनेन बीजस्योक्तत्वेपि विशेषजिज्ञासायां प्रश्नः। रूढमिति 'प्रवचनं स्मृतं वेदे' इति विश्वात्। योगरूढमिति वक्तव्ये नामैकदेशग्रहणम्। अत्र वाच्यतासंबन्धो लक्षणा। अग्रे तु स्वलक्ष्ये सामानाधिकरण्यसंबन्धो लक्षणेति ज्ञेयम्। श्रुतं चेत्यादि 'श्रुतं शास्त्रावधृतयोः' इति विश्वात्। शास्त्रान्तरवाच्यान्यागन्तुकानि साधनानि इति तथा वरणेतरसाधनाप्राप्यत्वम्। उच्यत इति शेषः। वेदनेत्यादि अत्रेति पदस्यार्थः। तात्पर्यमिति आकूतपदस्यार्थः। व्याख्येय इति साधनांशव्याख्यानेन व्याख्येये। वेदनप्राप्यत्व इति अक्षरब्रह्मवेदनस्य सत्यं ज्ञानमित्यारभ्य यो वेद निहितं गुहायामित्यन्तस्य न परमे व्योमन्नित्युक्तसाधनशून्यस्य परप्राप्तिसाधकत्वमदृष्टत्वादिति साधनान्तरोपलक्षकता श्रुत्यन्तरस्वारस्याच्च। वरणजभक्तिस्तु न साधनान्तरमपेक्षतेऽश्रुतत्वादित्येवं पूर्वोक्तसाधनांशव्याख्येयवेदनप्राप्यत्वप्रकारे सतीत्यर्थः। सहकारीति सहकारिणी भक्तिः। योग्यताऽविद्यानिवृत्त्या शुद्धत्वम्। भावाः कारणानि परप्राप्तौ। सिद्धमाहुः तथाचेति निर्णीयत इत्यन्तभाष्येण 'यो वेद निहितं गुहायाम्' इत्यन्तर्गतार्थः उक्तः। तत्रोपासनया शुद्धत्वं निरूप्यते न कर्मणा। एवं चाक्षरब्रह्मज्ञानेनेत्यस्य भाष्यस्य न शाब्दापरो-

भवतीति निर्णीयते। तदेव गुहायां परमव्योमाविर्भावः। परो मीयते दृश्यतेऽनेनेति तथा। ज्ञानमार्गीयजीवज्ञेयप्रकारकाद्वैशिष्ट्येनापि तथा। परमव्योम्नोऽत्यलौकिकत्वज्ञापनायालौकिकः प्रयोगः कृतः।

भाष्यप्रकाशः।

ज्ञानप्रधानतया ब्रह्मज्ञानं, वरणे तु भक्तिमार्गरीत्याऽऽनन्दप्रधानतया ब्रह्मज्ञानं, येन परप्राप्तिरिति वेद्यस्य द्विधाविर्भाव एव द्विधा व्याख्याने बीजमित्यर्थः। अस्या ऋच एवं निर्णायकत्वे गमकमाहुः **तदेवेत्यादि**। **कृत** इत्यन्तम्। तथाच श्रुत्यन्तरे वेद्यनिरूपणे हार्दाकाशविशेषण-

रश्मिः।

क्षेणेत्यर्थः पूर्वदूषणान्नापि सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति श्रुत्युक्तेनेत्यर्थः भक्तिकारणत्वात्। किं तु यथा यथा परिमृज्यत इति श्लोकोक्तेनेत्यर्थः। न च तत्र न ज्ञाननिरूपणं किं तु ज्ञानाङ्गभक्तिनिरूपणमिति वाच्यम्। 'अच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्' इति वाक्ये केवलज्ञाननिषेधात्। ज्ञानं फलं न तु साधनमिति च। ततः कार्यकारणभावादविधानिवृत्त्या तज्जन्यधर्मराहित्येन। **शुद्धत्वेनेत्यादि** आध्यात्मिकशुद्धान्तःकरणं सत्यलौकिकत्वेन 'दिव्यमन्त्रेण बहुशः कुर्यादात्ममलच्युतिम्' इत्यमृतबिन्दूपनिषच्छ्रुतेः। **स्वरूपेति** मुक्तोपसृप्यव्यपदेशादिति सूत्रात्। एवं ज्ञानमार्गरीत्येत्यर्थः। **ब्रह्मज्ञानमिति** अक्षरज्ञानम्। तदा तु

'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्'॥

इति गीतायाः भक्तिद्वारा परप्राप्तिः। साधनांशविवरणे श्रुतिविरोधपरिहारायाहुः **वरणे त्वित्यादि**। **भक्तिमार्गेत्यादि** भक्तिमार्गः श्रवणादिसरणिरूपस्तत्र तत्र ग्रन्थेषु प्रसिद्ध एव। प्रकारभेदेन 'भक्तिमार्गो बहुविधः' इति वाक्यात्। स भाष्ये पुष्टिमर्यादाभेदेन वरणे भक्तिभावः पुष्टिः। साधनैः सहकारिणो भक्तिरूपस्य योग्यताया आधिदैविकशुद्धत्वरूपायाः संपत्त्या, 'यथा यथात्मा परिमृज्यतेसौ' इति वाक्याद्भक्तिशुद्धत्वयोः पूर्वापरीभावः, तदनु शुद्धत्वे पूर्वोक्तो भक्तिभावपदैकदेशभावस्याभिव्यक्त्या पुरुषोत्तमेत्यादिः। 'तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मम्' इति वाक्यात्। भावः सर्वात्मभावान्तर्गतो दानसाध्य इति पुनर्भाष्ये नोक्तः। **अनया** भक्तिमार्गरीत्येत्यर्थः। नन्वेकादशस्कन्धीयान्याध्यायोक्तभक्तिमनादृत्य कुत आज्ञाशेषभक्तिमार्गादर इति चेन्न। निबन्धे त्रयोदशे हंसकृतनिर्णयः सर्वसंमतः 'एवं विमृश्य' इत्युक्तः। तद्भक्तिस्वरूपं स्वरूपलाभः। सोपि चतुर्दशे ज्ञानशेषभक्तिनिरूपणनिरूपितो भविष्यत्यतस्त्रयोदशाध्यायनिर्णयार्थं प्रवृत्तत्वात्।

'अन्यच्चेच्छ्रेय एतादृक् उपायो वा भवेत्तदा।
न कृष्णत्वं फलं पूर्णं नापि त्यागस्तथोभयोः'॥

उभयोरिति गुणचेतसोः। **ब्रह्मज्ञानमिति** साधनशेषाक्षरब्रह्मज्ञानमित्यर्थः। (सर्वात्मभावचरमवृत्तिरूपम्, तृतीयाध्याये लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणे स्पष्टम्)

'भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्'॥

इति गीतोक्ता परप्राप्तिः। **वेद्यस्येति** ब्रह्मविदित्युक्तस्य सत्यज्ञानमित्यादिना विवृतस्य वेद्यस्य ज्ञानप्राधान्येन आनन्दप्राधान्येन च द्विधाविर्भाव इत्यर्थः। **एवमिति** साधनान्तरीयपररूपाक्षरचिदानन्दः परमाप्नोति न तु अक्षरविदित्येवमित्यर्थः। **तदेवेत्यादीति** ब्रह्मभावकाल इत्यर्थः। ब्रह्मभूतस्य भक्तिकथनात्। **श्रुत्यन्तर** इति। 'अथ यदिदमस्मिन्' इत्यस्यां दहराधिकरणीयायां वेद्यनिरूपणे

भाष्यप्रकाशः।

त्वेन परमादिपदाभावोऽत्र तु तत्सद्भाव इत्येव गमकमित्यर्थः। यत आकारायुधादिलिङ्गानां व्यूहेष्ववतारेषु च सत्त्वात् पुरुषोत्तमत्वं तैर्निश्चेतुमशक्यम्। अक्षरास्थितत्वज्ञाने तु निश्चेतुं शक्यमतोऽक्षरात्मकस्य व्योम्नः परमत्वम्,

'अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'॥

इति गीतावाक्यस्वारस्यात्। तस्य परमव्योमत्वं तु, 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्', 'यदक्षरे परमे व्योमन्' इत्यादिश्रुतिभ्योऽवगन्तव्यम्। नचाव्यक्तपदादक्षरपदं प्रकृतिवाचकमिति शङ्क्यम्। 'यं प्राप्य न निवर्तन्ते' इति मुक्तिस्थानस्वरूपलिङ्गविरोधात्। प्रकृतिं प्राप्तानां तु पुराणे प्रकृतिचिन्तकानधिकृत्य, 'पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्ति विगतज्वराः' इति वाक्येन तदुत्तरं पुनरावृत्तिबोधनात्। 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च' इति पुरुषत्वोक्तिविरोधाच्च। अव्यक्तत्वं त्वक्षरीयमेव प्राथमिककार्यत्वात् प्रकृतिगामि भवति। आकाशजन्ये वायौ नीरूपत्ववत्। न तु तत्प्रकृत्यसाधारणम्। अतोऽक्षराधिष्ठातृत्वं पुरुषोत्तमाऽसाधारणमित्यक्षरस्यैव

रश्मिः।

पुरुषोत्तमनिरूपणे दहरः परमात्मा न जीव इति भाष्यादित्यर्थः। **अत्र त्विति** श्रुतौ तु तत्र हार्दाकाशे परमादिपदसद्भाव इत्यर्थः। **व्यूहेष्वित्यादि** प्रद्युम्नानिरुद्धसंकर्षणवासुदेवेष्वित्यर्थः। सोवतारो भवति यः सत्त्वरूपे स्वधाम्नि प्रविष्टः कार्यं करोति तेष्वित्यर्थः। **अक्षरात्मेति** तेनाक्षरं व्योम प्रकृतिः पुराणोक्ता इन्द्रः स्वराडिति पर्यायाः। इदं व्योम भूतानां छिद्रदात् 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इति गीतोक्तम्। 'छिद्रा व्योम्नीव चेतनाः'। जीवा भिन्नाः। ततः परमत्वं भक्तिसाधनजन्यं परमत्वस्य भक्त्यन्तःपातित्वात्। **अवगन्तव्यमिति**। तथा चैतत्परमत्वस्यात्र संनिवेश इति भावः। **प्रकृतीति** सशङ्खचक्रो हरिरित्यत्र हरिशब्दस्य विष्णुवाचकत्ववत्। **चेति** तेन प्रधानमित्यपि नपुंसकं न पुरुषः। मुख्यकारणगता धर्माः कार्ये समायान्तीत्याशयेनाहुः **अक्षरीयमेवेति**। एवकारेण पुरुषोत्तमव्यावृत्तिः। न च 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इत्यत्राकाशोक्षर एव इति कथमात्मशब्दार्थपुरुषोत्तमव्यावृत्तिरिति शङ्क्यम्। आत्मन इत्यत्रोक्तरीत्यांशद्वयात् तत्र पुरुषोत्तमव्यावृत्तिः। 'अक्षरात्सोम्य विविधा भावाः प्रजायन्ते' इत्युक्तेनाक्षरव्यावृत्तिः। भक्तैः सह निगूढभावकरणातिरिक्तकार्याभावात्। **नीरूपत्ववदिति** आकाशे नीरूपत्वं तु आधेयतया रूपाभावात्। अन्यथा **प्रस्थानरत्नाकरे** वायौ नीरूपत्वं स्फुटं परं त्वाकाशे नीलो नास्ति नीलमाकाशं तु वरीवर्ति इति भणितं विरुद्धं स्यात्। एवं चारूपित्वे सति चालनव्यूहनद्रव्यशब्दगन्धनयनसर्वेन्द्रियबलदानाख्यकार्यत्वं लक्षणं सिद्धम्। अत्राकाशजन्यो नीलरूपो वायुर्न भाति चालनादिकार्याभावात्।

'चालनं व्यूहनं प्राप्तिर्नेतृत्वं द्रव्यशब्दयोः।
सर्वेन्द्रियाणामात्मत्वं वायोः कर्मादिलक्षणम्'॥

इति स्पर्शस्तन्मात्रा। नीरूपे सति स्पर्शवत्त्वं स्वरूपलक्षणम्। **न तु तदिति** तदक्षरपदम्। **प्रकृतीति** त्वन्मते प्रकृतिसाधारणं परं तु प्रकृतिर्मायेन्द्रियरूपा पुराणमते त्रिगुणात्मिकेत्यक्षरपदं स्वयंप्रकाशासाधारणं न प्रकृतिसाधारणम्। अत इति प्रकाशासाधारणात्। **अक्षरेत्यादि** अक्षर-

रश्मिः ।

तदधिष्ठातृपुरुषोत्तमसाधारणमित्यर्थः । तृतीयाध्यायद्वितीयपादे तदव्यक्ताधिकरणे तथोक्तेः । पुरुषोत्तमेत्यत्र समासस्तु पञ्चमीतत्पुरुष इति केचित् । तन्न । तद्विधायकसूत्राभावात् योगविभागस्यागतिकगतित्वाच्च । पुरुषेषूत्तम इति सप्तमीसमास इत्यन्ये । तन्न । तथा सति सप्तमीसमासेन नरक्षत्रियशूरतम इति प्रयोगापत्तेः । न चेष्टापत्तिः 'न निर्धारणे' इति निषेधवैयर्थ्यापत्तेः । निर्धारणे तादृशप्रयोगस्यासाधुत्वज्ञापनेनैव तत्सार्थक्यात् । एके तु सप्तमीसमास एवायम् । निषेधस्य स्वरभेदनियामकषष्ठीसमासनिषेधफलकत्वात् । कैयटस्तु यतश्च निर्धार्यते यच्च निर्धार्यते यश्च निर्धारणे हेतुः तत्रितयसन्निधान एव निर्धारणषष्ठी, तत्रैव चायं निषेधः । पुरुषोत्तम इत्यत्र तु त्रितयसन्निधानाभावात् न निर्धारणविभक्तिः किं तु संबन्धसामान्ये षष्ठीति तया समासः । अत एव हलादिःशेष इतिसूत्रे किमयं हलामादिरिति षष्ठीसमास इति भाष्ये उक्तेः । गुणवचनेन निषेधस्त्वनित्य इति तरप् सूत्रे आह । अत्र जयरामः । उक्तत्रितयसंनिधौ तदङ्गीकारे नरशूरक्षत्रिय इति प्रयोगस्याप्युपपत्तेः । तत्रितयसंनिधानात् । अत एतादृशप्रयोगात् नराणां क्षत्रियः शूरतमः इत्यर्थे नरक्षत्रियशूरतम इत्यप्रयोगाच्च समासवाक्यादन्यतो निर्धारणनिर्धारणप्रयोजकरूपोपस्थितावेव समासनिषेधः । अतोऽत्र निर्धारणाभावात् न षष्ठीसमासनिषेधः । यत्र तु पुरुषाणामुत्तमः कृष्णस्तत्र तु कृष्णस्य विधेयत्वेन निर्धारणोपगमान्न समासः । विधेयस्यैव तन्निर्धारणप्रयोजकत्वस्वीकारात् ।

'नाथः सृजत्यवति यो जगदेकपुत्र-
प्रीत्या ततः परमनिर्वृतिमादधाति ।
तस्मै नमः सहजदीर्घकृपानुबन्धं
लब्धत्रितत्त्वतनवे पुरुषोत्तमाय' ॥

इति लीलावत्यां यः सृजति तस्मै पुरुषोत्तमाय नम इति तत्प्रयोजकरूपोपस्थितावपि न क्षतिरित्याह । नागोजिभट्टास्तु 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः' इति स्मृतिस्वारस्यात् कर्मधारय एव राजदन्तादित्वादुत्तमशब्दस्य परनिपात इत्याहुः । एतदेव च युक्तम् । 'एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः' इतिश्रुतिस्वारस्याच्च । अत्र वदन्ति । कर्मधारयसमासे उत्तमपुरुष इति प्रयोगापत्तिः । जातिविशिष्टवाचकस्य गुणक्रियाविशिष्टवाचकयोगे जातिविशिष्टप्राधान्यनियमात् नीलोत्पलमित्यादौ तथादर्शनात् । अन्यत्र त्वनियमः । यथा खञ्जकुब्जः कुब्जखञ्जः इत्यादौ तदपि पूर्वोक्तस्मृतिस्वारस्यात् तादृशनियमस्यैतदतिरिक्तस्थले एव स्वीकारात् परास्तम् । उत्तमपुरुष इति प्रयोगानापत्तिस्तु राजदन्तादित्वादुत्तमशब्दस्येत्युक्तम् । यद्यपि कैयटजयरामोक्तषष्ठीसमासपक्षे पुरुषतादात्म्यवानुत्तम इति बोधः । षष्ठ्यास्तादात्म्यार्थकत्वात्तथापि तादात्म्यस्य भेदसहिष्णुरभेदोऽर्थ इत्यभेदबोधकस्मृत्युपपत्त्यर्थं कर्मधारय एव युक्त इति बोध्यम् । 'स आत्मानं स्वयमकुरुत' इत्यत्र तादात्म्यं भेदघटितं चेद्विभक्तसदृशो भेदपदार्थः । 'विभक्तमिव च स्थितम्' इति गीतावाक्यात् । भाष्ये । तथेति परमत्वे नास्ति । ज्ञानमार्गीय इत्यादि । अत्रायं परमार्थः । 'आनन्दांशप्रकाशाद्धि ब्रह्मभावो भविष्यति' इत्यस्य तत्त्वदीपे तिरोहितस्याविर्भावे ब्रह्मभाव इति प्रतिपादनाज्ज्ञानमार्गे पराभिध्यानसूत्रोक्तरीत्या जीवे तिरोहितो य आनन्दस्तस्याविर्भावेऽक्षरात्मकतया जीव एव ज्ञेयः । अत्र तु तत्र पुरुषोत्तमाविर्भावकथनेन न ततो वैशिष्ट्यमिति । एतच्चैवं सतीत्यारभ्य निर्णीयत इत्यन्तेनोक्तम् । तत्र तिरोहितानन्दाविर्भावो

'भक्त्याऽहमेकया ग्राह्यः' 'नाहं वेदैः' इत्युपक्रम्य, 'भक्त्या त्वनन्यया शक्यः' इत्यादिस्मृतिरप्येवमेव संगच्छते । अन्यथा ज्ञानमार्गिणामपि ब्रह्मविदां परप्राप्तिः स्यान्न त्वेवम् ।

'मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः ।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ॥
तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः ।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह' ॥

भाष्यप्रकाशः ।

तद्धर्मकत्वमिति हृदयम् । ननु वरणपदार्थो लक्षणया ज्ञापनात्मको ग्राह्यो न तु रूढोऽङ्गीकारात्मक इति नात्र भक्तिनिवेशे किंचिद् बीजं पश्याम इत्याशङ्कायां स्मृत्या स्वोक्तमुपष्टभ्नन्ति भक्त्येत्यादि । एवमेवेति वरणपदस्याङ्गीकारपरत्व एव । विपक्षे बाधकं तर्कमाहुः अन्यथेत्यादि । न त्वेवमिति न ज्ञानमार्गिणां विवक्षितलक्षणा परप्राप्तिः । एवमृचो निर्णायकत्वमुपपाद्यैवंप्रकारकज्ञानस्य

रश्मिः ।

निवेशनीयः । अलौकिक इति परमे व्योमन्निति रूप इत्यर्थः । प्रकृते । लक्षणयेति ज्ञानाङ्गीकारयोर्जन्यजनकभावसंबन्धो लक्षणा । रूढ इति तेन न वृङ् संभक्तौ इत्यस्य भक्तिनिवेशबीजस्य प्राप्तिरिति नात्र भक्तिरित्यादिः । उपष्टभ्नन्तीति व्यासचरणैः स्मृतेश्चेति सूत्रेण स्वोक्तोपष्टम्भनात् ।

'कृष्णवाक्यानुसारेण शास्त्रार्थं ये वदन्ति हि ।
ते हि भागवताः प्रोक्ताः शुद्धास्ते ब्रह्मवादिनः' ॥

इति शास्त्रार्थाच्चोपष्टभ्नन्तीत्यर्थः । भक्त्येत्यादीति । 'न ज्ञानं न च वैराग्य'मिति । न च 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतः' । 'जनयत्याशु वैराग्यम्' इति वाक्ये भगवदाविर्भावकारणं वैराग्यकारणं भक्तिरिति भक्तिप्राप्यवैराग्यं च कुतो न प्रायः श्रेयः इति वाच्यम् । काठकोक्तब्रह्मविषयिण्यां मत्यां तर्कपरित्यागापत्तेः 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' इति काठकश्रुतिः । न हि तर्केणाश्चर्यरहितेन तिरोहितसदानन्दसद्रूपेण घटादिज्ञानं पारमार्थिकं भवति । आश्चर्यवतो भक्तस्य तु भवति । एवं वैराग्येऽक्षरात्मकप्रतिकृतिवैतृष्ण्ये तदाविर्भूतपुरुषोत्तमावज्ञापत्तेः । अङ्गीकारेति अङ्गीकारपरत्वे सति भक्तिमार्गीयत्व एवेत्यर्थः । परप्राप्तिरिति तेन 'नायमात्मा' इति श्रुतौ भक्तिनिवेशे उपपत्तिरुक्ता भवति । अत एव वाराहे सप्तविंशे ।

'ज्ञानादेव तु कैवल्यं प्राप्यते नान्यथा तु यत् ।
इति वेदवचः स्फीतं गीयते विदुषां गणैः ॥
श्रवणानन्तरं कार्यं मननं भक्तिपूर्वकम् ।
ततो ध्यानं प्रकुर्वीत ततः साक्षाद्भवेद्धरिः' ॥

इति ज्ञानात्केवलभक्त्या कैवल्यमिति 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति श्रुतौ च भक्तिनिवेशः स्फुटमुक्तः । श्रुतिरप्येवमाह 'स्वप्रभं सच्चिदानन्दं भक्त्या जानाति चाव्ययम्' इति वासुदेवोपनिषदि । एवमृच इति वरणद्वार[1] ऋचः । एवंप्रकारेत्यादि अक्षरत्वप्रकारकज्ञानस्य । फलयोर्गौणत्वादित्यर्थः । भाष्ये । गुहायामित्यारभ्य यो वेदेत्यन्तःसंदर्भो

1. अन्तरा प्रतिबन्धः नञ्शब्दो निषेधार्थकः छप्रत्ययोभवार्थः । अप्रतिबन्धे भवत्वं तस्मात् स्वार्थे कः (इति मान्तरीयकव्याहृतिः) ।

इत्यादिवाक्यैः । एतदेवाह । गुहायां हृदयाकाशे यदाविर्भूतं परमं व्योमाक्षरात्मकं व्यापिवैकुण्ठं, तस्य पुरुषोत्तमगृहरूपत्वात् तत्र निहितं स्थापितमिव वर्तमानं यो वेद स भक्तो ब्रह्मणा नित्याविकृतरूपेण विपश्चिता, विविधं पश्यचित्त्वं हि विपश्चित्त्वम् । पृषोदरादित्वात् पश्यच्छब्दावयवस्य यच्छब्दस्य लोपं कृत्वा व्युत्पादितो विपश्चिच्छब्दः । तेन विविधभोगचतुरेण सह सर्वान् कामानश्नुत इत्यर्थः । एतेन परप्राप्तिपदार्थ उक्तो भवति । शुद्धपुष्टिमार्गीयत्वादस्य भक्तस्य स्वातन्त्र्यं भोग उच्यते । सहभावोक्त्या ब्रह्मणो गौणत्वम् । अत एव भक्ताधीनत्वं भगवतः स्मृतिष्वप्युच्यते । 'अहं भक्तपराधीनः', 'वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या' इत्यादिवाक्यैः ।

यद्यप्यश भोजन इति धातोरश्नातीत्येव रूपं भवति, अशूङ् व्याप्ताविति धातोर्भवत्यश्नुत इति रूपं, विकरणभेदात् पदभेदाच्च । तथाप्यत्राश भोजन इति धातोरेव प्रयोग इति ज्ञायते । तथाहि । अत्राशनक्रियायां ब्रह्मणा सहभाव उच्यते । तथाच व्याप्त्यर्थकत्वे ब्रह्मणा सहभूतान् कामान् व्याप्नोतीत्यर्थो भवत्यथवा ब्रह्मणा सह भूतः स जीवः कामान् व्याप्नोतीति । एतौ त्वनुपपन्नौ । न हि कामवज्जीवकर्तृकव्यापनक्रियाकर्मत्वं ब्रह्मणि संभवत्यतिमहत्त्वात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

फलनान्तरीयकत्वादुत्तरार्धं सर्वमेव व्याकुर्वन्ति एतदेवाहेत्यादिना । एतेनेति ऋगुत्तरार्धेन । एतमर्थं स्मृत्योपष्टभ्नन्ति अत एवेत्यादि । नचास्य नवमस्कन्धीयवचनस्य सात्त्विकांशभूतविष्णुवाक्यत्वेन पुरुषोत्तमवाक्यत्वाभावान्नोक्तार्थोपष्टम्भकत्वमिति शङ्क्यम् । तस्य भिन्नत्वेऽपि मूलपुरुषरूपनामलीलासाम्येनादोषात् । पराशरपुराणे—

'वैष्णवानि पुराणानि समस्तानि महामुने ।
त्रिमूर्तीनां हरेर्नाम्ना मूर्त्या तस्य परं पदं प्रवदन्ति' ॥

इति साम्यस्मरणादिति । उक्तेऽर्थेऽनुपपत्तिमुद्भाव्य परिहरन्ति यद्यपीत्यादि । व्युत्पादयन्ति तथाहीत्यादि । विपक्षोद्भावितयोरर्थयोराद्यं दूषयन्ति न हीत्यादि । कामवदिति सप्तम्यर्थे वतिः । अतिमहत्त्वादिति,

रश्मिः ।

दहराधिकरणे स्फुटमुपपादितः । स्थापितमिवेति इवपदेनाक्षराधिकरणभाष्यविरोधः परिहृतः । दर्शनमात्रे परे विशेषात् । परप्राप्तिपदार्थ इति । अयं फलाध्याये स्फुटतर इति ततोवधेयः । शुद्धपुष्टीति एतन्मार्गद्वयं सहकार्यन्तराधिकरणे स्पष्टम् । शुद्धत्वं निवेदितात्मत्वं 'निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे' इतिवाक्यात् । ब्रह्मणो गौणत्वमिति 'सहयुक्तेऽप्रधाने' इति पाणिनिसूत्रात् । प्रकृते । त्रिमूर्तीनामित्यादि त्रिमूर्तीनां मध्ये हरेर्नाम्ना मूर्त्या च तस्य गुणावतारस्य परं पदं मुख्यं रूपं प्रवदन्तीत्यर्थः । अनुपपत्तिमिति श्नुरूपविकरणस्यात्मनेपदस्य च नानुपपत्तिमित्यर्थः । भाष्ये । कामानिति काम्यन्त इति कामा आनन्दादयस्तानित्यर्थः । भाष्ये । ब्रह्मणि संभवतीति ब्रह्मसाहित्यवदभिन्नान्कामानिति शाब्दबोधेन व्यापनरूपफलाश्रयत्वस्य विशेषणभूते ब्रह्मण्यपि

व्यापनं चात्र स्वाधीनीकरणमेव वाच्यम् । न हि कामानां तथात्वं स्वतः पुरुषार्थरूपम् । भोगशेषत्वात्तेषाम् । पूर्वोक्तपरप्राप्तिव्याकृतिरूपत्वाच्चास्य तथार्थोऽनुपपन्नः ।

तेन अश भोजन इति धातोरेवायं प्रयोगोऽर्थस्यालौकिकत्वज्ञापनायालौकिकः प्रयोगः कृतः । 'व्यत्ययो बहुलम्' इति सूत्रेण छन्दसि तद्विधानात्, श्नाप्रत्ययपरस्मैपदयोर्व्यत्ययेन श्नुप्रत्ययात्मनेपदे जाते इति भोगार्थक एवायं धातुः एवमेव, 'न तदश्नोति कंचन, न तदश्नोति कश्चन' इत्यत्र प्रत्ययमात्रव्यत्ययेन प्रयोगोऽशधातोरेवेति ज्ञेयम् । अन्यथा सर्वव्यापकस्य ब्रह्मणस्तन्निषेधोऽनुपपन्नः स्यात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

'एकः शुद्धोऽक्षरो नित्यः सर्वव्यापी तथा पुमान् ।
सोऽप्यंशः सर्वभूतस्य मैत्रेय परमात्मनः' ॥

इतिवाक्यादित्यर्थः । द्वितीयं दूषयन्ति व्यापनं चेत्यादि । संयोगरूपव्यापनस्यापुरुषार्थत्वाद् व्यापकात्मवादिमते तस्य स्वतःसिद्धत्वाच्च तद्विधानासंगत्यापत्तेरत्र कामस्वाधीनीकरणरूपं तद् वाच्यम् । तेन कामप्राप्तिरेव व्याकृता भवति, न परप्राप्तिरिति सोऽर्थोऽनुपपन्न इत्यर्थः । एतेनैव, ब्रह्मणा करणभूतेन सर्वान् कामान् सहाश्नुते युगपद् भुङ्क्त इति योजनासिद्धोऽर्थोपि निरस्तो बोध्यः । भोगस्य सुखसाक्षात्कारातिरिक्तोदासीनज्ञानात्मकोऽर्थस्तु पूर्वमेव निरस्तः स चासंगत इत्यादिना । तेनोक्तैव योजना । अयमेव चार्थ इति निश्चयः । सिद्धमाहुः तेनेत्यादि । जाते इति प्रथमाद्विवचनम् । श्रुत्यन्तरेऽप्ययमेवार्थ इत्याहुः एवमित्यादि । तथाच तत्राप्यस्थूलादिलक्षणं ब्रह्म कमपि न भुङ्क्ते, कोपि ब्रह्म न भुङ्क्ते इत्येवार्थो वक्तव्यः । सकलप्रापञ्चिकधर्मनिषेधे प्रापञ्चिकभोगनिषेधकथनस्यापि युक्तत्वादित्यर्थः । एवं परप्राप्तिपदार्थे भोगरूपे व्याख्याते भोगलिङ्गात् परस्य सोपाधिकत्वं ब्रह्मवित्पदस्य सकामोपासकपरत्वं चापाद्य

रश्मिः ।

सत्त्वेन कर्मत्वं ज्ञेयम् । प्रकृते । इत्यर्थ इति श्रुतिरपि 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति बृहत्त्वाद्बृंहणत्वाच्च ब्रह्मेति च । तथा च कामप्रदेशानां कर्मत्वप्राप्त्या कामानां कर्मत्वानुपपत्त्या लक्षणापत्तिरिति भावः । संयोगरूपेत्यादि । सिद्धान्त इति शेषः । सर्वदा सत्त्वेनापुरुषार्थत्वादित्यर्थः । अन्यसंमतिमाहुः व्यापकेति । भास्कराचार्यमते । स्वत इति द्रव्ययोः संयोगः प्रसिद्धः । अत्रेत्यादि द्वितीयव्याख्याने ब्रह्मणः कामविशेषणत्वाभावेन केवलकामस्वाधीनीकरणरूपमित्यर्थः । 'वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या' इति वाक्यात् । अत एव भाष्य एवकारः । अनुपपन्न इति 'अकाम आत्मकाम आप्तकामः' इति श्रुतेः अनुपपन्नः । अकामत्वेन कामकामाभावात् कामप्राप्तेरभावात् । एतेनैवेति ब्रह्मासंपृक्तकामस्वाधीनीकरणस्य परप्राप्तित्वाभावेनैवेत्यर्थः । तेनोक्तेति एवकारद्वयं वचनानामुक्तानामनुसंधानात् । प्रथमेत्यादि तेन धर्मधर्मिभेदेनोभयविधमप्यानन्दं भक्तोनुभवतीति निष्कर्षः । भाष्य एवकारस्तु 'परोक्षवादो वेदोयम्' 'परोक्षं च मम प्रियम्' 'परोक्षप्रिया इव हि देवाः' इतिवाक्यैः फलांशे परोक्षवादौचित्यात् । इत्येवेति एवकारेण व्यापनरूपार्थव्यवच्छेदः क्रियते । व्यापननिषेधेऽपसिद्धान्तात् । भोगस्य साधितस्य निषेधायोगादन्यभोगं निषेधन्ति सकलेत्यादि । आपाद्येति उपनिषदाख्या ता आपाद्येत्यर्थः

---

१. ब्रह्मरहित ।
२६ अ० सू० १०

ननु सकामोऽज्ञोऽपासकस्तदुपास्यं च सगुणं ब्रह्म । द्वयोरपि कामोपभोगश्रवणात् । 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' इत्युपक्रम्य, 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्' इत्यादिनाऽन्यदर्शनादिनिषेधाद् ब्रह्मविदः कामोपभोगासंभवश्चेति चेन्मैवम् । तदेषाभ्युक्तेति वाक्येन पूर्ववाक्योक्तार्थनिरूपिकेयमृगित्युक्तत्वेन प्राकृतगुणसंबन्धस्य तत्र वक्तुमशक्यत्वात् । तथा सति ब्रह्मवित्प्राप्यत्वपरत्वयोरसंभवापत्तेः । न च वेद्यस्यागुणत्वमुत्तरस्य सगुणत्वमिति वाच्यम् । परत्वानुपपत्तेः । साधनशेषभूतस्यागुणत्वं तत्फलस्य सगुणत्वमित्यसंगततरं च । 'यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः' इति श्रीभागवतवाक्येन गुणातीतपुंसां वैकुण्ठदर्शनाधिकार उच्यते यत्र तत्र किमु वाच्यं तत्प्रदर्शने ।

यच्चोक्तं ब्रह्मविदो द्वैतदर्शनानुपपत्त्या कामभोगासंभव इति । तत्राप्युच्यते । यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूदिति श्रुतिरखण्डब्रह्माद्वैतभाने ब्रह्मविदः प्रापञ्चिकभेदादर्शनं वदति, न तु प्रपञ्चातीतार्थदर्शनं बोधयति निषेधति वा । पुरुषोत्तमस्वरूपं तु यावत्स्वधर्मविशिष्टं प्रपञ्चातीतमेवेति तद्दर्शनादौ किमायातम् । 'पुरुष एवेद९ सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्' इत्यनेन ब्रह्मात्मकत्वं प्रपञ्चस्योक्त्वैतदपि तस्य विभूतिरूपं पुरुषस्त्वितो महानित्याह, 'एतावानस्य महिमा

भाष्यप्रकाशः ।

चोदयति ननु सकाम इत्यादि । तथाच वृथा पूर्वोक्ता चिन्तेति चोद्याशयः । तत्र समादधते मैवमित्यादि । तत्र हेतुमाहुः तदेषेत्यादि दर्शन इत्यन्तम् । एवं पूर्वदूषणं परिहृत्य द्वितीयं परिहर्तुमनुवदन्ति यच्चेत्यादि । समादधते तत्रापीत्यादि । किमायातमिति श्रुत्यविरोधात् किं दूषणमायातं, न किमपीत्यर्थः । ननु धर्मविशिष्टस्य पुरुषोत्तमस्य प्रपञ्चातीतत्वे किं मानमित्याकाङ्क्षायां तदुपपादयन्ति पुरुष एवेत्यादि । तथाचोक्तश्रुत्या प्रपञ्चाज्ज्यायस्त्वकथनेन तदतीतत्वमेव बोध्यतेऽतस्तथेत्यर्थः । एवं चोद्यनिराकरणेन पूर्वोक्तचिन्तायाः सार्थकत्वाय

रश्मिः ।

दर्शन इत्यन्तमिति । आत्मबोधोपनिषद्यप्ययमर्थोऽनुभूयते 'ॐ नमो नारायणाय' इति मन्त्रोपासको 'वैकुण्ठं भगवल्लोकं गमिष्यति' इत्युक्त्वा 'अथ यदिदम्' इत्यादिनोपासनमुक्त्वा 'अस्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत्समभवत् यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिँल्लोके स्वर्हितं तस्मिन्मां धेहि पवमानामृते लोकेऽक्षिते अमृते लोकेऽक्षिते अमृतत्वं गच्छत्यमृतत्वं गच्छत्यमृतत्वं गच्छत्यों नमः' इति । अत इति प्रपञ्चातीतत्वान्निर्गुणस्य वस्तुनोऽभावाच्च 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' इति श्रुतेरनन्ताः पराः सर्वोत्कृष्टाः आनन्दरूपास्ताश्च स्वाभाविक्यो

अतो ज्यायांश्च पूरुषः' इति श्रुतिरतो न किंचिदनुपपन्नम् । एवं सति ब्रह्मविदः परप्राप्तेः पूर्वदशा तत् केनेत्यादिनोच्यते, उत्तरदशा तु सोऽश्नुत इत्यनेनोच्यत इति सर्वं सुस्थम् । छान्दोग्येऽपि, 'यत्र नान्यत् पश्यति' इत्यादिना भूमस्वरूपमुक्त्वा, 'आत्मैवेद९ सर्वम्' इत्यन्तेन तद्द्विभावमुक्त्वोच्यते । 'स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' इति । एतच्च, 'लिङ्गभूयस्त्वात् तद्धि बलीयस्तदपि' इत्यधिकरणे प्रपञ्चयिष्यते ।

भाष्यप्रकाशः ।

सिद्धमाहुः एवं सतीत्यादि । ननु शाखाभेदेन पूर्वोत्तरदशावैपरीत्यस्यापि शक्यवचनत्वान्नेदं सुस्थमिति शङ्कायामाहुः छान्दोग्येपीत्यादि । तद्द्विभावमिति उत्तरदशारूपसर्वात्मभावस्योद्दीपकमखण्डब्रह्मभानरूपं विभावम् । तथाचात्राऽखण्डब्रह्मभानात्मरतिक्रीडादीनां पूर्वोत्तरभावस्य स्पष्टत्वान्न पूर्वोक्तस्य सुस्थत्वाभावः शङ्कितुं शक्य इत्यर्थः । नन्वेवं चेच्छान्दोग्यवाक्यमपि सम्यग् व्युत्पाद्यमित्यत आहुः एतच्चेत्यादि । एतदिति छान्दोग्यवाक्यम् ।

एवमनेन अन्वेन श्रुतौ मुख्यतया फलमेव निरूप्यत इत्युपगम्य श्रुतिर्व्याख्याता । व्याख्येयवाक्ये ज्ञानस्य ज्ञातृविशेषणतया प्रवेशेनाऽमुख्यत्वात् । तथापि तद्व्याख्यानभूतायामृचि साधनस्य पृथङ्निरूपणाद् व्याख्यानस्य विशेषप्रतिपत्तिहेतुत्वात् तामनुसृत्य पूर्वोक्तमर्थं द्रढयितुं

रश्मिः ।

न त्वागन्तुक्यः ज्ञानं बलं भक्तिर्ब्रह्मवशीकारत्वात् क्रियाश्च विविधा इत्यत इत्यर्थः । शाखाभेदेनेति उत्सन्नप्रच्छन्नशाखाभेदेनेत्यर्थः । आहुरिति सकलश्रुतिसंमतोऽयमर्थ इत्याहुरित्यर्थः । तद्द्विभावमिति तद्विभावमिति द्वितीयः पाठः । भक्तेः रसत्वादाहुः उत्तरेत्यादि । उत्तरदशया रूप्यते सम्यगभिव्यक्तो निरूप्यते इत्युत्तरदशारूपः उत्तरदशारूपश्चासौ सर्वात्मभावः तस्येत्यर्थः । यद्यपि पूर्वदशायामपि सर्वात्मभावस्तथापि न सम्यज् ज्ञात इति विशेषणमुत्तरदशारूपेति । अयं भूमेति भूमालम्बनविभावः उद्दीपकं भूमचेष्टा सा चाखण्डब्रह्मज्ञानरूपं 'सा सा सा सा जगति सकले कोयमद्वैतवादः' इति कामुकवद्ब्रह्माद्वैतवादः इति द्वितीयं विभावं कामुकदृष्टान्तः सदानन्दस्य जगज्जन्मादिकर्त्री शक्तिस्तत्संबन्धि जगत् स्त्रीप्रायमिति । ब्राह्मणस्यापि तथात्वात् भूम्नोरभेदेन निरूपणम् । 'स्वयमेवात्मनात्मानम्' इतिवाक्यात् । परप्राप्तिविवरणात् तादृशसाधनफले एकीकृत्याहुः तथाचेति 'स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' इति श्रुतौ एवंशब्देन 'स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणत स उत्तरतः स एवेद९ सर्वम्' इत्यादिश्रुत्युक्तं परामृष्टत्वादखण्डब्रह्मभानमात्मरत्यादिकं स्पष्टम् । पूर्वोत्तरेति अखण्डब्रह्मभानस्यात्मरत्यादीनां च पूर्वोत्तरभावस्येत्यर्थः । फलमेवेति गुहायां निहितं वेदेति पुरुषोत्तमविषयकज्ञानवदुक्त्या वेदनस्य फलान्तरगतत्वात्साधनफले एकीकृत्य फलमेव निरूप्यत इत्यर्थः । एतेन परप्राप्तिपदार्थ उक्तो भवति इति भाष्यादेवकारः । व्याख्येयेति 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यस्मिन् । ज्ञात्रित्यादि विदित्यस्य ज्ञानकर्ताश्रय इत्यर्थाच्चयेत्यर्थः । पृथगिति एकतिङ् वाक्यमिति तथा । ल्यब्लोपे पञ्चमी । पृथङ्निरूपणमुपलभ्येत्यर्थः । तामित्यादि व्याख्यानस्य प्रतिज्ञाहानिभागत्यागलक्षणे परिहर्तुमनुसृत्य । पूर्वोक्तमव्यवहितपूर्वोक्तमर्थम् । द्रढयितुमिति अव्यवहितपूर्वव्याख्याने पर-

अथवा तदेषाऽभ्युक्तेति वाक्येन पूर्ववाक्योक्तब्रह्मनिरूपिकेयमृगित्युच्यते। तत्र साधनफले निरूपिते इति ऋच्यपि ते एव निरूप्येते। तथाहि। आनन्दस्य फलात्मकत्वेन साधनशेषभूते ब्रह्मणि तमनुक्त्वा, यो वेदेत्यन्तयर्चा, 'ब्रह्मवित्' इत्येतावतो वाक्यस्य विवरणं क्रियते। एतेन फलासौ स्वरूपयोग्यतासंपत्तिरुक्ता। तत उक्तरीत्या भगवद्वरणेन भक्तिलाभे गुहायामाविर्भूतं यत् परमं व्योम, तस्मिन्निहितः पुरुषोत्तम एवेति। तं निहितमिति तृतीयार्थे द्वितीया। तथाच तत्र निहितेन ब्रह्मणेत्यग्रे पूर्ववत्।

अथ परमफलत्वाभिरवच्छ्यानन्दात्मकत्वमन्तरङ्गेभ्योऽप्यन्तरङ्गत्वं स्वस्मिन् ज्ञापयितुं सर्वस्य सर्वरूपत्वेन सर्वाधिदैविकरूपत्वमपि ज्ञापयितुमाधिभौतिका-

भाष्यप्रकाशः।

पूर्ववर्णकोक्तव्याख्यानमेवानुसरन्तः पक्षान्तरमाहुः अथवेत्यादि। पूर्ववदित्यन्तम्। एवं चोक्तरीत्येत्यस्य ब्रह्मणेत्यादिनाऽन्वयः। तथाच ब्रह्मणा सह तदात्मकानेव कामानश्नुत इत्यर्थः। यत्तु, न ह्यन्यज्ञानेनान्यप्राप्तिर्भवतीति परैर्दूषणमुक्तम्। तदसंगतम्। 'य एवं वेद प्रतितिष्ठति' इत्यादिश्रुतिविरोधात्। यच्च परिच्छिन्नत्वेऽन्यत्वे च प्राप्तिर्नापरिच्छिन्नत्वेऽनन्यत्व इति। तदपि तथा। इच्छयाविर्भावतिरोभावाभ्यामेवोपपत्तेः। अनन्यत्वं तु सुवर्णशकलन्यायेन ब्रह्मणः सकाशाज्जीवस्य, न तु जीवस्य सकाशाद् ब्रह्मण इति तस्यापि प्राप्तिप्रतिबन्धकत्वाभावादिति। तेन ज्ञानमपीच्छयैवेति न कोऽपि दोषः। एवमुक्तातात्पर्यमुक्त्वाधिदैविकवादमाश्रित्य सृष्ट्यादिनिरूपकग्रन्थस्य तात्पर्यमुपयोगं चाहुः अथेत्यादिना। सर्वस्य सर्वरूपत्वेनेत्यादि 'प्राणस्य प्राण-

रश्मिः।

मन्योन्याविर्भावे भक्तिरूपं साधनं नोक्तम्। पुरुषोत्तमस्य साधनकोटिनिवेशश्चेत्यदृढं पूर्वोक्तं प्रसिद्ध्या पुराणस्य द्रढयितुमित्यर्थः। एवेति गुणविधिवद्वर्तमानत्वाद्व्याख्यान्तरव्यवच्छेदक एवकारः। एवं चेति अस्यार्थस्य पुराणोपबृंहितस्य पक्षान्तरत्वे पूर्वार्थसदृशत्वे चेत्यर्थः। इत्यादिनेति इत्यादिनान्वय इत्यर्थः। यथाश्रुतान्वये बाधकाभावात्। तथा चेति ब्रह्मणा पुरुषोत्तमाभेदे सति। तदात्मकान् पुरुषोत्तमात्मकान्। एवकारेणाक्षरमात्रकामव्यवच्छेदः। अत्राक्षरस्याविपश्चित्त्वमङ्गीकृतम्। अस्थूलादिवाक्येषु पर्युदासार्थकनञाश्रयणात्। परैरिति व्याख्यातृभिः। य एवमिति 'सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता' इति पूर्वमुक्तत्वात् विद्याज्ञानेन प्रतिष्ठाप्राप्तिश्रावणेन तद्विरोधादित्यर्थः। किंचाक्षरस्य पुरुषोत्तमाभेदपक्षेऽन्यत्वाभावादेव नेयमाशङ्केति ज्ञेयम्। अपरिच्छिन्नप्राप्तिप्रकारमाहुः इच्छयेति। भक्तेच्छयेत्यर्थः। कदाचित्स्वेच्छयापीति सामान्योक्तिः। 'यथाद्विया' इति वाक्याद् 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' इति श्रुतेश्च। अनन्यस्य प्राप्तिप्रकारमाहुः अनन्यत्वमित्यादि। तस्यापीति भेदाभेदस्यापि किं त्वनन्यत्वमात्रस्य प्रतिबन्धकत्वात्। अपिशब्देनानन्यत्वस्यापि। 'अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः' इति सूत्रात्। इच्छयैवेति 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे रूपमैश्वरम्' इति वाक्यात् दानशक्तेरपीच्छाशक्त्यधीनत्वात्। आधिदैविकेति आनन्दमययोर्वादम्। पक्षान्तरभाष्ये निरूप्येते इति पुराणोपबृंहिते अपि भक्तिमार्गीयत्वायाक्षरव्यावृत्त्या निरूप्येते। स्वरूपेति अक्षरब्रह्मणेऽक्षरज्ञानाभावे मुख्यफलाभावोक्ते मुख्यफले

1. गणितानन्दस्य।

दिरूपेणाविर्भवितुं भगवानाकाशादिरूपेणाविर्भूतोऽत एव भवन आकाशस्यैव कर्तृत्वमुच्यते। अग्रेऽन्नमयादीनि चत्वारि रूपाणि पूर्वं निरूपितान्युत्तरोत्तरमन्तरङ्गभूतानि। अन्नरसमयशरीरभूतात् प्राणमयस्तस्मान्मनोमयस्तस्माद् विज्ञानमयः। कश्चित्त्वेतानि रूपाणि विकारात्मकत्वात् प्राकृतान्येवैतेभ्योऽप्यन्तरङ्गो विमुक्ताविद्यो जीव एवानन्दमय उच्यत इत्याह। स प्रतिवक्तव्यः।

भाष्यप्रकाशः।

स्य चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इति श्रुत्यनुसारेणात्राप्यन्नमयस्यान्नमयः प्राणमयस्य प्राणमय इत्येवमानन्दमयमात्मा मे शुद्ध्यन्तामिति तैत्तिरीयश्रुत्यन्तरे शोध्यत्वज्ञापनेन, 'आनन्दमानन्दमयोऽवसाने' इति स्मृतौ च क्रममुक्तिप्रकरणेन कारणशरीरनिविष्टविमुक्ताविद्यजीवयोरानन्दमयत्वकथनात् तयोरपि य आधिदैविकस्तमानन्दामयमत्र ज्ञापयितुमित्यर्थः। कर्तृत्वमुच्यत इति तेनात्र नाकाशादीनां प्राकृतत्वं, किंतु विभूतिरूपत्वमेवेत्यर्थः।

अत्यन्तरङ्गत्वं विशदयन्ति अग्रे इत्यादि। अन्योऽन्तर आत्मेति सर्वत्र कथनात् तथेत्यर्थः। अत्र मायावादी मयटो विकारार्थकत्वमङ्गीकृत्य सूत्राण्यन्यथा नीत्वा आनन्दमयमपि जीवं मन्यते। तन्मतमनूद्य परिहरन्ति कश्चिदित्यादि। स प्रतिवक्तव्य इत्यादि। तत्र मयटः संदिग्धार्थ-

रश्मिः।

स्वरूपयोग्यताऽक्षरज्ञानरूपा तस्याः संपत्तिरुक्तेत्यर्थः। ततोऽविद्यानिवृत्त्या प्राकृतधर्मराहित्येन शुद्धसत्त्वसंपादनेन पुरुषोत्तमप्राप्तौ स्वरूपयोग्यता संपाद्यते। यत आधिदैविकशुद्धसत्त्वे चित्ते भक्तिर्भवति पुरुषोत्तमप्राप्तिसाधनम्। अत्र भक्तिः पुष्टिरूपेत्याहुः भगवद्वरणेनेत्यादि। आविर्भूतमिति काय आकाशशरीरस्य ब्रह्मणो यत्प्रसिद्धं परमं शरीरं व्योम तस्मिन्निहित इत्यर्थः। सूच्यार्थोपि नितरां हितः स्निग्धः स्नेहभक्तिविषय इति। पुरुषोत्तम एवेति 'आकाशशरीरं ब्रह्म' इति श्रुतेर्ब्रह्म पुरुषोत्तमस्तल्लिङ्गात्। न त्वक्षरमतोक्षरयोगव्यवच्छेदक एवकारः। द्वितीयेति उक्तलिङ्गाद्ब्रह्मणेत्यनेनान्वयाय 'छन्दसि बहुलम्' इति सूत्रेण बाहुलकाद्द्वितीया। ब्रह्मणेति पुरुषोत्तमेन न तु सूर्येणाधिकारिणा विपश्चिन्मात्रेण 'सूर्यो विपश्चिन्मनसा पुनातु' इति श्रुतेः विपश्चित्पदं न सूर्यव्यावर्तकं विशेषणमिति पक्षान्तरं वा। तथाच विपश्चित्पदं प्रस्थानरत्नोक्तरीत्या पुरुषोत्तमे यौगिकं सूर्ये रूढमिति ज्ञेयम्। प्रकृते। सृष्ट्यादीति प्रपाठकद्वय इत्यर्थः। चेति आनन्दमयाधिकरणाभासोक्तसर्वोपि प्रपाठक आरब्ध इति भाष्यीयं स्फुटमित्यनुक्तसमुच्चये चकारः। भाष्ये। स्वस्मिन्निति। आत्मनि आनन्दमये। प्रकृते। स्मृताविति इयं द्वितीयस्कन्धे द्वितीयाध्यायेस्ति। कारणेत्यादि धर्मादिरयं शब्दः 'लघ्वक्षरं पूर्वम्' इति सूत्रेण शरीरस्य लघ्वक्षरस्य पूर्वप्रयोगप्राप्तेः। तेन कारणं च शरीरं च कारणशरीरे इति द्वन्द्वः। तत्र निविष्टयोर्मुक्ताऽविद्ययोः जीवयोः मुक्तेः पूर्वभावित्वं जीवस्यानन्दप्रवेशे विमुक्तत्वमिति द्विवचनम्। आनन्दमयकोशात्मकं कारणशरीरं प्राणमयाद्यात्मकं लिङ्गम्। अन्नमयं स्थूलमिति। एवं चानन्दमयमात्मेत्यादिश्रुतौ कारणशरीरनिविष्टः आनन्दमानन्दमय इत्यत्र विमुक्ताविद्य इत्यर्थः। ज्ञापयितुमिति अपिशब्देनानन्दं ज्ञापयितुं प्रस्तुतम्। तेनेत्यादि 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इत्यत्र क्तस्य कर्त्रर्थकत्वाद्विभूतिरूपत्वात् भगवद्भवन आकाशस्यैव कर्तृत्वेनेत्यर्थः। आत्मन इति पञ्चम्युक्तं समवायित्वं त्वात्मनोऽक्षुण्णमेव अभिन्ननिमित्तोपादानत्वमक्षररूपाकाशाभिन्नत्वपक्षेणाद्वयत्वाधिकरणात्। जीवं मन्यत इति मुख्यमेवात्मानमुप-

अग्रिमप्रपाठके भृगुणा अधीहि भगवो ब्रह्मेति पृष्टो वरुणस्तदोत्तमाधिकाराभावात् स्वयं ब्रह्मस्वरूपमनुक्त्वा, तपसाऽधिकारातिशयक्रमेण स्वयमेव ज्ञास्यतीति तदेव साधनं सर्वत्रोपदिष्टवान्। 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व' इति। ब्रह्मातिरिक्तेन साधनेन न तज्ज्ञातुं शक्यमिति ज्ञापनाय, तपो ब्रह्मेति सर्वत्रोक्तवान् । तथाच तपसा साधनेन ब्रह्मत्वेन ज्ञातानि रूपाणि प्राकृतानीति विचारकेण न वक्तुं शक्यमिति। तर्हि पुनर्ब्रह्मविषयकप्रश्नसाधनोपदेशतत्करणपूर्वातिरिक्तब्रह्मज्ञानानां परंपरा नोपपद्यते इति चेत्। मैवम्। भगवतो हि विभूतिरूपाण्यनन्तानि। तत्र येन रूपेण यत्कार्यं करोति तेन रूपेण समर्थोऽपि तदतिरिक्तं न करोति। तथैव तल्लीला यतः।

तथाचान्नमयादिरूपैः क्षुद्राण्येव फलानि ददाति । हीनाधिकारिणां तावतैवाकाङ्क्षानिवृत्तिर्भवति । एवं सति यादृशेनाधिकारेणान्नमयस्वरूपज्ञानं भवति तादृशे तस्मिन् संपन्ने तज्ज्ञानमपि तथा। एवमेवोत्तरत्रापि। तथाचाकाशादिरूपमाधिभौतिकस्वरूपमुक्त्वाऽऽध्यात्मिकं तत् पुरुषरूपं वदन्ती पक्षिरूपमाह। यतस्तेनैव रूपेणाधिभौतिके रूपे आध्यात्मिकस्य पुरुषस्य प्रवेशः। तदुक्तं वाजसनेयिशाखायाम्। 'पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः, पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्' इति। वस्तुतस्तु पुरुष एव। परं तु पुरःसंबन्धी सन् पक्षी भूत्वा पुरः शरीराण्याविशदित्यर्थः। प्राकृतीषु विविधासु पूर्वप्राकृतस्यैकविधस्य प्रवेशोऽनुचितो यद्यपि तथापि स्वप्रवेशं विना न किंचिद् भावीति गतिप्रतिबन्धकमुल्लङ्घ्यालौकिकया गत्या प्रविशामीति ज्ञापनाय पक्षिभवनम्। स हि तादृशः। अत एव द्विपदश्चतुष्पद इत्युक्तम्।

आधिदैविक एक एवेति यः पूर्वस्येति सर्वत्रोक्तम्।

भाष्यप्रकाशः।

कत्वादनिर्णायकत्वेन श्रुत्यन्तरादेव निर्णय उचित इत्याशयेनाहुः अग्रिमेत्यादि। तर्हीति तेषां ब्रह्मरूपत्वे। यत इति 'सोऽकामयत, बहु स्यां प्रजायेय', 'तस्मादेकाकी न रमते', 'स हैतावानास' इत्यादिष्वेकस्यैव बहुत्वोच्चनीचभावलीलानामुक्तत्वादित्यर्थः।

तज्ज्ञानमपि तथेति तज्ज्ञानमपि तदुक्तफलदमित्यर्थः। एवं विभूतिरूपज्ञानफलमुक्त्वानन्दमयस्याधिदैविकत्वं बोधयितुं पूर्वोक्तं स्मारयन्ति तथाचेत्यादि। आकाशादिरूपमाधिभौतिकं स्वरूपं तस्माद्वेत्यारभ्यान्नात् पुरुष इत्यन्तेनोक्त्वा आध्यात्मिकमन्नमयादिपुरुषरूपं वदन्ती श्रुतिस्तस्येदमेव शिर इत्यादिना पक्षिरूपमाहेत्यर्थः। ननु तस्येदमेवेतीदमा प्रत्यक्षविषयस्यैव शिरआदेः परामर्शात् प्रत्यक्षविषयस्यैव पक्षित्वं कल्पनयोपदिश्यत इति नात्राध्यात्मिकपुरुषोपदेश इत्याशङ्कायां तद्बोधनाय स्वोक्ते हेतुमाहुः यत इत्यादि। तथा च पक्षिरूपस्यातिरिक्तत्वाङ्गीकारे पक्षादिपदेषु लक्षणाभावादयमेव पक्षो ज्यायानित्यतस्तथेत्यर्थः। ननु तथापीदंपदे लक्षणागौरवं चाधिकमतो नेदं साधीय इत्यतः स्वोक्तमुपष्टम्भन्ति तदुक्तमित्यादि। तथाचातिरेकस्य श्रुत्युक्तत्वात् तेनेदंपदलक्षणाया अप्यदुष्टत्वादयमेव पक्षो ज्यायानित्यर्थः। एकविधस्येति अन्नमयेऽन्नमयरूपस्येत्येवमित्यर्थः। स हि तादृश इति पक्षी यतो गतिप्रतिबन्धकोल्लङ्घनेनेष्टदेशप्रवेशसमर्थ इत्यर्थः। प्रतिबन्धकज्ञापकमाहुः अत एवेत्यादि। तथाच पुरां विशेषणबलात् तथावसीयत इति नात्र कल्पनालेशोऽपीत्यर्थः। नन्वेवं पक्षिरूपस्यान्नमयादिषु पञ्चस्वपि सत्त्वादानन्दमये को विशेष इत्याकाङ्क्षायामाहुः आधिदैविक इत्यादि। एवमत्र श्रुत्यर्थे निर्णीते यः पूर्वपक्षोऽधि-

रश्मिः।

दिदिक्षु शास्त्रं लोकबुद्धिमनुसरदन्नमयशरीरमनात्मानमत्यन्तमूढानामात्मत्वेन प्रसिद्धमनूद्य मूषानिषिक्तद्रुतताम्रादिप्रतिमावत्ततोऽन्तरं ततोऽन्तरमित्येवं पूर्वेण समानमुत्तरमनात्मानमात्मेति ग्राहयत् प्रतिपत्तिसौकर्यापेक्षया सर्वान्तरमुख्यमानन्दमयमात्मानमुपदिदेशेति श्लिष्टतरमिति भाष्येण मन्यत इत्यर्थः। ब्रह्मरूपत्व इति ब्रह्मरूपत्वाधिकरणे काले। भाष्ये। पुनर्ब्रह्मविषयकेत्यादि पुनर्ब्रह्मविषयकः प्रश्नस्तद्वाक्यं पूर्वोक्तमेव। साधनोपदेशस्तद्वाक्यमपि। अत एव भाष्ये सर्वत्रोक्तवानित्युक्तम्। तत्करणं तपःकरणम्। तद्वाक्यं 'स तपोतप्यत' इति। इदमपि सर्वत्रैकमेव। पूर्वातिरिक्तब्रह्मज्ञानं च तत्प्रतिपादकानि 'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्, प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्, मनो ब्रह्मेति व्यजानाद्विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्' इत्येवमनेकानि वाक्यानि तेषां परंपरेत्यर्थः। प्रकृते। पूर्वोक्तमिति जन्माद्यधिकरणादावुक्तमित्यर्थः। वदन्तीति 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' इत्यनेन रसमये 'स वा एष पुरुषविध एव' इत्यनेनावशिष्टेष्वित्यर्थः। नात्राध्यात्मिकेति इदमा निर्दिष्टशिरस्कादिकप्रत्यक्षविषयमेदान्नेत्यर्थः। आध्यात्मिकत्वं त्वाधिभौतिकसंबन्धात् पुरुषस्याधिदैविकस्य। पुरा आस पुरयुषति पुरि शेते इति त्रेधा व्युत्पन्नः पुरुषशब्दः। लक्षणाभावादिति लक्षणायाः पुरुषावयवेष्वभावादित्यर्थः। अतस्तथेति पक्षस्य ज्यायस्त्वात्पक्षिरूपस्याधिभौतिकस्याध्यात्मिकपुरुषातिरिक्तत्वम्। लक्षणागौरवं चेति परिदृश्यमानस्य पक्षिशिरआदेरपरिदृश्यमानेन पुरुषशिरआदिनाध्यात्मिकेन प्रतियोगितासंबन्धो लक्षणा। पुरुषमतिरिक्तं मत्वा ऐलेवत्[1] पक्षिभवनकल्पने गौरवं चेत्यर्थः। आधिदैविकेत्यादि 'तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य' इत्यन्नमयादि प्रकृत्य प्रत्येकं कथनात् पूर्वं फलत्वेनोक्तमाधिदैविकानन्दमयत्वमेव विशेष इत्यर्थः। भाष्ये। एवमुक्तेरिति 'तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य' इत्युक्तेरित्यर्थः। न त्वेवमिति न तु वदतीत्यर्थः। आध्यात्मिकरूपाणामिति आध्यात्मिकाः 'देहप्राणमनोबुद्धिजीवा अन्नमयादयः पञ्च कोशाः' इति श्रुतिरत्रानुसंधेया। प्रकृते। पक्षिरूपस्येति आधिदैविकस्य। यद्वाक्यमाश्रित्य ग्रन्थप्रवृत्तिः। तेनान्नमयादीनां पक्षित्वेपि न क्षतिः। आधिदैविक इत्यादीति। तथा चैकरूपत्वमेव विशेष इत्यर्थः। तथा चेति। यत्तु शंकराचार्यैः न चात्रानन्दमयाभ्यासः श्रूयते 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' 'सैषानन्दस्य मीमांसा भवति' 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इत्यादिषु प्रातिपदिकार्थमात्रमेवाभ्यस्यते इति वदन्ति तन्न। 'तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य'

[1] परिदृश्यमानवत्।

नन्वानन्दमयेऽप्येवमुक्तेर्नायमपि परमकाष्ठापन्नरूपः, किं तु पूर्वोक्तेभ्योऽतिशयितधर्मवान् विभूतिरूप एव। न च शिरआदीनामानन्दरूपत्वेनैवोक्तेरयं परमात्मैवेति वाच्यम्। अन्नमये यथावयवानां तद्रूपत्वं तथाऽऽनन्दमयेऽपि तेषां तद्रूपत्वादन्यथा तस्यैष एव शारीर आत्मेति न वदेत्। शरीरं हि पूर्वोक्तं तत्संबन्धी हि शारीरस्तद्भिन्नः प्रतीयते। तथाच परब्रह्मत्वं स्वान्यात्मवत्त्वं च सर्वश्रुतिविरुद्धम्। नन्वेतद्व्यतिरिक्तं चेद् ब्रह्म स्यात् तदानन्दमयादन्योऽन्तर आत्मा ब्रह्मेत्यपि वदेत्। सत्येवमतोऽयं पर एवेति चेन्न। आध्यात्मिकरूपाणामेवात्र निरूपणात् तेषां च पञ्चरूपत्वात् तावतामेव निरूपणमतोऽस्मादन्य एव पर इति प्राप्ते प्रतिवदति। आनन्दमयोऽभ्यासात्। आनन्दमयशब्दवाच्यः पर एव। कुतः। अभ्यासात्। तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्येत्यन्नमयादिषु सर्वत्रैवात्मत्वेनानन्दमयस्यैव कथनात्। ननु न किंचिन्मानमत्र पश्यामः। किं च। आनन्दमयस्यैव सर्वत्रात्मत्वेन कथने आनन्दमयेऽपि, तस्यैष एवेत्यादि न वदेत्स्वयमेव पूर्वस्यात्मेति वदेदतो नानन्दमयः पर इति चेत्। उच्यते। न हीश्वरादन्यः सर्वेषामेक आत्मा भवितुमर्हति। तस्यानन्दरूपत्वं तु 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति। रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।

भाष्यप्रकाशः।

करणावतारणायोत्तिष्ठति तमाहुः नन्वित्यादि। तथाच योग्यत्वात् प्रायपाठाच्चानन्दरूपत्वमवयवानामुच्यते, न तु परमात्मत्वादित्यर्थः। परमात्मत्वाभावे गमकमाह अन्यथेत्यादि। पूर्वोक्तमिति आनन्दमयम्। शेषं निगदव्याख्यातम्। एवं च मयटो विकारार्थत्वानङ्गीकारेऽप्यन्नमयादीनामिवानन्दमयस्याऽप्याध्यात्मिकविभूतिरूपेणापरब्रह्मत्वं प्रायपाठबलादङ्गीकर्तव्यं, न तु परब्रह्मत्वमिति पूर्वपक्षाशयः। अत्र सूत्रमुपन्यस्य समादधते आनन्दमयोऽभ्यासादिति। तस्येत्यादि तथाच वाक्याभ्यासात् तथेत्यर्थः। अयं प्रकारो गुणोपसंहारपादे, आत्मगृहीतिकार्याख्यानाधिकरणाभ्यां पुनः स्फुटीकर्तव्यः। अत्र चोदयति। नन्वित्यादि। अत्रेति उक्तवाक्येष्वानन्दमयग्रहणे। साधकतर्काभावमुक्त्वा बाधकतर्कमाह किंचेत्यादि। अनयोर्दूषणयोः पूर्वं निरस्यन्ति न हीत्यादि, मन्तव्यमित्यन्तम्। तथाच सर्वेभ्योऽन्तरात्मत्वमानन्दमयस्य निरूपयिष्यन्त्या यत् तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्येति प्राणमयाद्यानन्दमयान्तस्य, एष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्यान्नमयस्येत्यन्नमयसंबन्धिन आत्मनः सर्वसंबन्ध्यात्मत्वमभ्यस्तम्। अन्नमयाभिमानी तु पूर्वं नोपक्रान्तः

रश्मिः।

इत्यनेन वाक्येनान्नमयादिषु सर्वत्रानन्दमयस्यैवात्मत्वेनाभ्यासादित्यर्थः। भाष्ये। आनन्दमयस्यैवेत्येवकारेण 'असन्नेव सः' इत्यादिशंकरपादोक्तपुच्छाभ्यासो निराकृतः। व्याख्येयविरोधस्य तत्रातिस्फुटत्वात्। प्रकृते। तथेति आनन्दमयत्वमित्यर्थः। स्फुटीति तेन साष्टसूत्रसार्धाध्याय एतस्य शेष इति शेषशेषिभावः संगतिः सूचिता। चोदयतीति वाक्याभ्यासं स्फुटजिज्ञासुस्तथेत्यर्थः।

भाष्यप्रकाशः।

किंतु जगत्कर्त्रैवोपक्रान्तस्तत्रापि सृष्टिकथनेन तदेतच्छब्दाभ्यां सभिहितं विपश्चिद् ब्रह्मैव परामृश्यत इति तदेव पञ्चानामात्मेति बोध्यते। अत आत्मपदघटितवाक्याभ्यासस्तस्य सर्वात्मत्वं सर्वान्तराऽऽत्मत्वं वा बोधयंस्तत्र निरङ्कुशमीश्वरत्वं निगमयति। एतस्यैवानन्दस्येति श्रुत्यन्तरं चानन्दप्राचुर्यम्। तच्च निरवधिसच्चिदंशापेक्षयेति प्रकृतत्वात् सिद्ध्यति। तथा रसो वै स इत्यादिश्रुत्यन्तरं चानन्दरूपताम्। एवं सर्वश्रुत्येकवाक्यत्वेऽभ्यस्यमानवाक्यगतस्तस्यैष इत्ययमेतच्छब्दः पूर्वोक्तमात्मानं परामृशन्नेतादृशं तं सर्वत्र ग्राहयतीति पूर्वोक्तश्रुत्यैकवाक्यतापन्नस्यास्यैव मानत्वान्न मानाभाव इत्यर्थः। एतेनैव बाधकतर्कोऽपि निरस्त एव। शारीरपदं तु शरीरसंबन्धित्वमात्रबोधकं, न त्वभिमानित्वबोधकम्। किंचाभिमानित्वपक्षेपि नाभिमानित्वं दोषः। सर्वात्मकत्वात्। अन्यस्यान्यस्मिन्नभिमानस्यैवाध्यासरूपत्वेन दोषत्वात्। अत एव पुरुषविधब्राह्मणे, ब्रह्म वा इदमग्र आसीदित्युपक्रान्तस्यात्मनो ब्रह्मत्वं निगमयित्वा तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीत्युच्यते। नच तस्यैष इति षष्ठ्या भेदनिर्देशान्नात्र तथेति वाच्यम्। राहोः शिर इतिवदभेदेऽपि

रश्मिः।

जगत्कर्त्रेति 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इति श्रुत्या स एवोपक्रान्त इत्यर्थः। ननु नेयमुपक्रमश्रुतिः किंतु 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यतः कथं जगत्कर्त्रैवोपक्रान्तः इति चेत्तत्राहुः तत्रापीत्यादि। जगत्कर्तृबोधकश्रुतावपीत्यर्थः। बोध्यत इति। तथा च तदेतच्छब्दाभ्यां परामर्शार्होऽस्योपक्रमस्तत्रेति नोक्तदोष इत्यर्थः। नन्वस्तु विपश्चिद् ब्रह्म पञ्चानामात्मा तथाप्यानन्दमात्राभ्यास इति कथमानन्दमयाभ्यास इत्याकाङ्क्षायां प्रत्ययार्थविशिष्टप्रातिपदिकार्थरूपत्वं तस्य मन्तव्यमित्यन्तभाष्यं विवृण्वन्तो व्युत्पादयन्ति एतस्यैवेत्यादि। निगमयतीति पूर्वेणान्वयः। सिद्ध्यतीति तेनानन्दमयस्य ब्रह्मत्वेंऽशतो दुःखसत्तां प्रापयतीति शांकरोक्तं प्रत्युक्तम्। भाष्ये तु विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यत इति न्यायादानन्दानन्दमयावेकौ इति न दुःखसत्तावारणायान्यापेक्षा तथापि प्रकृतत्वादस्तु। आनन्दरूपतामिति निगमयतीति पूर्वेणान्वयः। एतादृशंतमिति प्रत्ययार्थविशिष्टप्रातिपदिकार्थं तमानन्दमयमित्यर्थः। अस्यैवेति आनन्दमयपरामर्शकतदेतच्छब्दघटितश्रुतिवाक्यस्यैवेत्यर्थः। न मानाभाव इति। ननु न किंचिन्मानमत्र पश्यामः इत्युक्तो मानाभावो नेत्यर्थः। तेन 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' 'सैषानन्दस्य मीमांसा भवति' 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इत्यादिषु प्रातिपदिकार्थमात्राभ्यासान्नानन्दमयाभ्यासः श्रूयत इति शंकरभाष्योक्तं प्रत्युक्तम्। एतेनैवेति 'तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य' इत्यत्र पूर्वोक्तात्मपरामर्शोपपादनेनैव पूर्वपक्षग्रन्थोक्तोऽन्यथा तस्यैष एवेत्यादिरूपो बाधकस्तर्क इत्यर्थः। नन्वस्त्वेवं तथापि शारीरपदं कथं संगच्छते इति चेत्तत्राहुः शारीरपदमिति। न त्वभिमानित्वेति व्याकरणे तदर्थकतद्धिताभावादिति भावः। ननु संबन्धस्त्वभिमानरूप एवेति कथमेवमिति चेत्तत्राहुः किंचाभीत्यादि। सर्वात्मकत्वादिति आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादित्वेन देहेन्द्रियाद्यात्मकत्वादित्यर्थः। ब्रह्मण्यध्यासं वारयन्ति अन्यस्येत्यादि। अन्यस्य चैतन्यस्यान्यस्मिन् जडे देहादावित्यर्थः। उच्यत इति अभिमान उच्यत इत्यर्थः। पूर्वतन्त्ररीत्या तु द्वन्द्वप्रयोगः। 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' 'ब्रह्मैवेदमग्र आसीत्' इति। तथेति सर्वावयवरूपत्व-

एष ह्येवानन्दयाति' इत्यादिश्रुतिभिर्निर्णीयते। एवं सति तदेकवाक्यतायै प्रकृतोऽप्यानन्दमयशब्दस्तद्वाच्येवेति मन्तव्यम् । अन्यथानन्दमयादन्योऽन्तर आत्मेत्यपि वदेत्।

नन्वुक्तमाध्यात्मिकानामेवात्र निरूपणादित्यादीनि चेन्न । उक्तरीत्याधिदैविकस्यैवान्ते निरूपणात्। अत एव भार्गव्यां विद्यायामपि भृगोरन्नमयादिज्ञानानन्तरमपि पुनर्ब्रह्मजिज्ञासोक्ता, न त्वानन्दमयज्ञाने। न हि भृगोराध्यात्मिकज्ञानार्थं प्रवृत्तिः, किं तु ब्रह्मज्ञानार्थमेव। अधीहि भगवो ब्रह्मेति प्रश्नवचनात्।

किंच, ब्रह्मविदाप्नोति परमित्युपक्रमादन्ते ज्ञेयानन्दगणनामुक्त्वा, 'स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः' इति वाक्यैर्ब्रह्मविदि पुरुष आदित्ये च तदेवाक्षरं ब्रह्म प्रतिष्ठितमिति तदानन्दोऽपि तथैवेति तयोरानन्दयोरैक्यम्। एवंरूपं ब्रह्मेति यो वेद तस्य क्रमेणान्नमयादिप्राप्तिमुक्त्वा अन्ते वदत्येतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामतीति। एवं सत्युपक्रमे परप्राप्तेः फलत्वेनोक्तेरुपसंहारेऽपि तथैव भवितव्यत्वादानन्दमयप्राप्तेरेवान्ते फलत्वेनोक्तेस्तदुत्तरमन्यस्यानुक्तेरानन्दमय एव परः।

भाष्यप्रकाशः।

षष्ठीदर्शनात् । नन्वस्त्वेवं, तथाप्यानन्दमय एतत्कथनस्य किं प्रयोजनमित्याशङ्का तु, शरीरप्रवेशप्रयोजनेत्यादिनाऽनुपदमेव निवारणीया । तस्मान्न कोऽपि दोषः । उक्तसाधनाय विपक्षबाधनाय च तर्कमाहुः अन्यथेत्यादि । अत्र चोदयति नन्वित्यादि। तत्र समादधते नेत्यादि । उक्तरीत्येति सर्वात्मत्वादेरन्यत्रासंभवेन । एतमेवार्थं श्रुत्यन्तरेणोपष्टम्भन्ति अत एवेत्यादि । ननु भृगोर्ब्रह्मज्ञानार्थं प्रवृत्तिरिति सत्यं, परंतु तत्रानन्दत्वेन ब्रह्मज्ञानाज्जिज्ञासोपरतिर्न त्वानन्दमयत्वेन ज्ञानात् । अतो नानया श्रुत्या तदुपष्टम्भ इत्याकाङ्क्षायां प्रस्तुतप्रपाठकोपक्रमादिविचारेणापि तमर्थं साधयन्ति किंचेत्यादि पर इत्यन्तम् । तथाचास्य प्रपाठकस्य, ब्रह्मविदाप्नोति परमिति सूत्रितार्थविवरणरूपत्वात् फलविवरणमेवानन्दमये प्रपाठकस्य तात्पर्यं नियमयत् तस्य ब्रह्मत्वं गमयति । एवं भृगुप्रपाठके

रश्मिः ।

मित्यर्थः । तथा चाध्यासापत्तिरिति भावः । षष्ठीदर्शनादिति तथा शरीरस्यायं शारीर इत्यत्रापि षष्ठ्याऽभेदार्थकत्वेन 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति' इति श्रुतेः आनन्दात्मकशरीरभिन्न आत्मेत्यर्थादभेद एव संसर्गो न त्वध्यास इति बाधकस्तर्को निरस्त इत्यर्थः। एतत्कथनस्येति शारीर आत्मत्वकथनस्येत्यर्थः । उक्तेति आनन्दानन्दमयाभेदसाधनाय । विपक्षेति भाष्ये आध्यात्मिकरूपाणामेवेत्यादिनोक्तो विपक्षस्तस्य बाधनायेत्यर्थः । अन्यत्रेति आध्यात्मिकाधिभौतिकयोरित्यर्थः । अत्र भाष्य आधिदैविकस्यैवेति सर्वेषां पदार्थानां तत्तदाधिदैविकं तत्तदाकारमव्यापकतया भातीति विश्रुतम् । आनन्दत्वेनेति 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इति श्रुतेरित्यर्थः । सूचितार्थेत्यादि । अयमर्थः । उपसंहारे 'आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति' इति वचनादुपक्रमेप्याप्नोति परमित्यत्र परपदेनानन्दप्राचुर्यं सूच्यते। उत्कृष्टार्थत्वात् । अन्यथा तु नैकवाक्यतेति। सूत्रितार्थेति पाठः। अयमपि क्वाचित्क इति विवृतः । सूत्रलक्षणाक्रान्तत्वाद्वा सूत्रितार्थेति पाठः।

ननूपसंक्रमणं ह्यतिक्रमणमतो न तथेति चेत्। हन्तैवमतिक्रान्तशब्दार्थो त्वन्मतिर्भाति । यतः संक्रमणशब्दः प्राप्त्यर्थकः सर्वत्र श्रूयते । अत एव रवेर्मकरादिराशिप्राप्तौ तत्तत्संक्रमणमित्युच्यते। नचेयं न परममुक्तिः। अस्माल्लोकात् प्रेत्येति पूर्वमुक्तेः। अत एव पुरुषोत्तमानन्दानुभवे सत्यनुभवैकगम्योऽय-

---

भाष्यप्रकाशः।

यद्यपि जिज्ञासोपरतिस्थले आनन्दमयपदाभावस्तथापि समाप्तौ 'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य एतत् साम गायन्नास्ते' इति फलकथनेन द्वयोरपि प्रपाठकयोरैकार्थ्यावगमात् तस्याप्युपष्टम्भकत्वमव्याहतमित्यर्थः । अत्र वादी परमफलत्वाभावमाशङ्कते नन्वित्यादि। संक्रमः प्रतिसंक्रम इति पुराणप्रयोगात् तथेत्यर्थः । समादधते हन्तेत्यादि । उच्यत इति 'कार्मुकं तु परित्यज्य झषं संक्रमते रविः' इत्यादिवाक्येपूच्यते । ननु संक्रम एव प्राप्तिर्नतूपसंक्रमोऽपीति चेत् तथाप्युपोपसर्गेणातिक्रमोऽर्थः कथं लब्धव्यः । तर्हि किमर्थोऽयमुपसंक्रम इति चेत् भेदेन स्थित्वा भोगार्थ इत्यवधेहि । ऋचि तथैव सिद्धत्वेन तदुपपादकग्रन्थेऽपि तथैव सिद्धेरावश्यकत्वादिति । नन्वेवं भेदे सति नेयं परममुक्तिः, किं तु जीवन्मुक्तिरेवेयमिति चेत्तत्राहुः नचेत्यादि। तथाचैतच्छरीरत्यागकथनेनात्र जीवन्मुक्तेरशक्यवचनत्वात् परममुक्तिरेवात्रोच्यत इत्यर्थः । तर्हि देहान्तरे सिद्धिरेवास्तु । परममुक्तौ बाधकस्य भेदस्योक्तत्वादिति चेन्न । तथा सति करणग्रामसद्भावात् प्राणमयादिसत्त्वेन पुनस्तत्संक्रमोक्तिविरोधापत्तेः । तस्मादत्र परममुक्तिरेव विवक्षित इति हृदिकृत्यैतस्याः परममुक्तित्वसाधकं हेत्वन्तरमाहुः अत एवेत्यादि। अस्य परममुक्तित्वादेव पुरुषोत्तमानन्दानुभवे सति

रश्मिः ।

तस्यापीति भृगुप्रपाठकस्यापि। वादीति व्याख्याता। आशङ्कत इति पुच्छत्वेनोक्तं ब्रह्म प्रधानमित्यङ्गीकृत्य न त्वानन्दमयस्योपसंक्रमयितव्यस्यान्नमयादिवदब्रह्मत्वे सति नैवं विदुषो ब्रह्मप्राप्तिः फलं निर्दिष्टं भवेन्नैष दोषः। आनन्दमयोपसंक्रमणनिर्देशेनैव पुच्छप्रतिष्ठाभूतब्रह्मप्राप्तिफलस्य निर्दिष्टत्वादितिभाष्येणाशङ्कत इत्यर्थः। कार्मुकं धनुः। झषं मीनम्। उच्यत इति। तथा च पुराणेपि प्रतिसंक्रम उक्तो न त्वतिसंक्रम इति न तस्य विरोधः । प्रतिसंक्रमस्तु लयः । समीपार्थकोत्रोपेत्याशयेनाहुः भेदेनेत्यादि। अत्रार्थे एकवाक्यतां प्रमाणयन्ति ऋचीत्यादि । 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यादृचि। जीवन्मुक्तिरिति 'असक्तबुद्धिः सर्वत्र' इत्यादिवाक्योक्तोऽध्यासाभावो जीवन्मुक्तिः ।

'विद्ययाऽविद्यानाशे तु जीवो मुक्तो भविष्यति ।
देहेन्द्रियासवः सर्वे निरध्यस्ता भवन्ति हि ॥
तथापि न प्रलीयन्ते जीवन्मुक्तगताः स्फुटम् ।
आसन्यस्य हरेर्वापि सेवया देवभावतः ॥
इन्द्रियाणां तथा स्वस्य ब्रह्मभावाल्लयो भवेत् ।
आनन्दांशप्रकाशाद्धि ब्रह्मभावो भविष्यति' ॥

इति शास्त्रार्थात्। तर्हीति जीवन्मुक्त्यसंभवकाल इत्यर्थः । तत्संक्रमोक्तीति प्राणमयमुपसंक्रामतीति प्राणमयादिसंक्रमोक्तिविरोधापत्तिः । भेदस्तु सर्वात्मना लीनो भावनालीनो वर्तत एव । तस्मादिति ज्ञानाग्निना सर्वकर्मनाशात्तदनुजभक्त्या वेति कर्मजन्यशरीरस्य शङ्कितुमप्यशक्यत्वादेवेत्यर्थः। पुरुषोत्तमेति पुरा आस पुरि शेते इति व्युत्पत्तिद्वयं पुरमुपतीत्यधिष्ठान-

भाष्यप्रकाशः।

चरणैकहेतुकानुभवमात्रगम्योऽयमानन्दो, न मनोवाग्विषय इति ब्रह्मण आनन्दं ज्ञात्वा विद्वान् सन् कुतश्चन लोकवेदादिभ्योऽपि न बिभेतीति सर्वतो भयाभावमनेन श्लोकेनोक्तवतीति

रश्मिः।

व्युत्पत्तिः। पुरुषोत्तमो धर्मी स 'यद्यत्प्रिय' इति वाक्यानुगुणो भजनविषयः। तस्यानन्दो भजनानन्दः तस्यानुभवो हि सर्वात्मभावरूपसाधनेन 'पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः' इति सूत्रात्। पुरुषोत्तमस्तु अग्निशिखेव त्रिष्वपि हृदि वर्तते।

'विष्णुर्नाम महायोगी महामायो महत्तपाः।
तत्त्वमार्गे यथा दीपो दृश्यते पुरुषोत्तमः'॥

इति योगतत्त्वोपनिषच्छ्रुतेः। स पुरुषोत्तमो 'यद्यद्धिया' इति वाक्यानुगुण इत्युक्तः। स्वात्मकसाधनलभ्यः।

'शुद्धस्फटिकसंकाशं किंचित् सूर्यमरीचिवत्।
लभते योगयुक्तात्मा पुरुषोत्तमतत्परः'॥

इति श्रुत्युक्तं तत्साधनम्। व्यानवायुः पूर्वोपार्थः। अमृतबिन्दूपनिषदि तथोक्तः। तदन्वमृतबिन्दूक्तं साधनम्। तदा शून्याभावे सिद्धे ब्रह्मोपनिषदोऽशून्यभावनिश्चयः। तेन धर्मी पुरुषोत्तमः। तत्र भक्ता लक्ष्मीर्वर्तते पुरुषविधब्राह्मणात्। तया भक्त्या 'अचलत्वं चापेक्ष्य' इति सूत्रभाष्योक्तरीत्यात्मबोधोपनिषदुक्तस्वरूपलाभे शाब्देऽन्यस्मिन् वा। लभत इति। अमृतबिन्दूपनिषदुक्तप्रत्याहारप्रभृतिकयोगयुक्तात्मा निरोधानन्तरं मानसीसेवावान्। पुरुषोत्तमतत्पर इति। अत्र साधने पुरुषोत्तमयोगाध्यायोक्ते ऊर्ध्वमूलमधःशाखोऽश्वत्थः कालात्माश्वो बृहदारण्यकोक्तोऽप्सुयोनिर्नारायण इव वर्तमानः। शाखास्तु देवलोकभूलोकभुवर्लोकरूपाः। कर्मानुबन्धीनि मूलानि मनुष्यलोके तच्छेदनेन भगवद्धामाक्षरप्राप्तिः। ज्ञानकर्मभेदपक्षे पञ्चरात्रोक्ते। जीवांशोऽधिकारी। तेजोरूपं तेजोबिन्दूपनिषदि प्रोक्तम्। पश्चाच्चत्वारोऽर्थाः सर्वत्र प्रतिपाद्यन्ते इति ओजः। सोमो रसात्मकः। वैश्वानरोऽन्नपाचकः। सर्वहृत्स्थश्चतुर्थः। वेदान्तकृच्च क्षराक्षरपुरुषोत्तमाः सर्वभावश्च समष्टिः। सर्वात्मभावश्च। कृतकृत्यता फलम्। गुह्यतमत्वात्पुरुषोत्तमात्मकं साधनं गीतात्रयोदशाध्याये सर्वम्। अत्र तत्पर इत्यर्थः। तथा च गोपीचन्दनोपनिषदि श्रुतिः। अथ चिद्घनानन्दैकरूपपुरुषोत्तमरूपेण वसुदेवसधन्याविर्भविष्यतीति। अयं मध्यमः पक्षः। उत्तमस्तु स्वरुच्या निश्चित्य तत्परः। यथात्रैव भाष्ये अग्निशिखा पुरुषविधः 'यद्यद्धिया' इति वाक्यात् 'नाहं वेदैः' इति वाक्याच्च। 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्' इति काठकाच्च 'त्रिषत्या ह वै देवाः' इति श्रुतेः ब्रह्मामृतात्मबोधोपनिषदः उदाहृतास्तदग्रमन्याः। रामोत्तरतापिनीयेऽपि 'सोऽमृतत्वं च गच्छति सोऽमृतत्वं च गच्छति सोऽमृतत्वं च गच्छति' इति वारत्रयमुक्तं त्रिषत्यम्। भिन्नाभिन्नयोरानन्दयोरभिन्नमानन्दमुक्त्वा भिन्नानन्दमाहुः चरणैकेत्यादि। चरणैकहेतुको भक्त्याख्यः प्रियत्वानुभव इत्यर्थः। अयमानन्द इति उक्तपुरुषोत्तमानन्दभिन्नो भेदघटितत्वेन भक्तिमार्गीयानन्दः। लोक इति आदिना कालः। न कुतश्चनेत्युक्त्या लोकाद्भयाभावो यथा चोराद् बिभेतीत्यादिभयहेतवः। तेभ्यो विद्वानित्युक्त्या द्वितीयाभावान्न भयम्। इष्टनिवृत्त्यनिष्टप्राप्तिज्ञानजतापहेतुकं भयं भवति तदपि विद्वानित्युक्त्या 'एतꣳह वाव न तपति' इति तापाभावान्न

मानन्दो, न मनोवाग्विषय इति ज्ञात्वा लोकवेदकालादिभ्योऽपि न बिभेतीति, 'यतो वाचः' इति श्लोकेनोक्तवती। अन्यथा आनन्दे मनसोऽप्यगम्यत्वमुक्त्वा, विद्वानिति कथं वदेत्।

एवं सति सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेत्यृचि यत् फलमुक्तं तदेवान्ते विवृतमिति ज्ञायते। अन्यथा अस्माल्लोकात् प्रेत्येत्युक्तत्वाद्देहाभावेन भयानुपस्थित्या तन्निषेधासंभवः कामभोगासंभवश्च। अत एव

भाष्यप्रकाशः।

सर्वभयाभावः परममुक्तेर्लिङ्गमिति स एव तथात्वसाधक इत्यर्थः। विपक्षबाधकतर्कोक्तिमुखेन पुनर्हेत्वन्तरमाहुः अन्यथेत्यादि। अन्यथेति परममुक्तित्वाभावे। तथाच मनोवागविषयानन्दवेदनमपि परममुक्तेरेव लिङ्गमित्यर्थः। एवं हेतुत्रयेणास्याः परमाप्तेः परममुक्तित्वसाधनेनेदं सिद्धम्। या ज्ञानमार्गिणां ब्रह्माभेदरूपा परममुक्तिः सा भक्तानां फलानुभवे स्वरूपयोग्यतासंपादकतयोपयुज्यते। तस्यां सत्यां भक्त्या तादात्म्येन फलानुभवात्। अतः सा पूर्वकक्षारूपेति। तदेतद् हृदिकृत्य सिद्धमाहुः एवं सतीत्यादि। एवं सतीति आनन्दमयप्राप्तेरेवं परममुक्तित्वे सति। विवृतमिति यतो वाच इति श्लोकेन विवृतम्। अस्य श्लोकस्यर्गुक्तफलांशविवरकत्वमृगंशस्य च यजुर्विवक्षितफलबोधकत्वमिति द्वयं निगमयितुं तद्विपरीतवादबाधकं तर्कमाहुः अन्यथा अस्मादित्यादि। तथाच यद्यस्यर्गंशविवरकत्वं न स्यात् तदोक्तरीत्या भयाभावेन भयनिषेधनमसंगतं स्यात्। यदि ऋगंशस्य विवक्षितफलबोधकत्वं न स्यात् तदा कामभोगोक्तिरप्यसंगता स्यादित्युभयमत्रवर्णादेवोभयं निगम्यत इत्यर्थः। अथैतत्साधकं हेत्वन्तरमाहुः अत एवेत्यादि। तथाच विवक्षितफलविवरकत्वादेव तथोक्तमित्यर्थः। एवमेतस्याः श्रुतेः फलांश-

रश्मिः।

तद्धेतुकं भयम्। 'न यत्र कालः' इतिवाक्यात् कालाभावाच्च तद्धेतुकमपि भयम्। स एवेत्यादि सर्वभयाभावोऽपि परममुक्तित्वसाधकः। विपक्ष इत्यादि परममुक्तित्वाभावेन तावद्रूपव्यापनाभावपक्ष इत्यर्थः। न वदेदित्यन्यथाज्ञानरूपबाधकतर्कोक्त्युपायेनेत्यर्थः। हेत्वन्तरं परममुक्तित्वे। हेतुत्रयेणेति एतच्छरीरत्यागसर्वभयाभावमनोवागविषयानन्दवेदनरूपेणेत्यर्थः। ब्रह्माभेदेति कर्मादिजन्यचित्तशुद्ध्यनन्तरमक्षराभेदरूपेत्यर्थः 'आनन्दांशाभिव्यक्तौ तु तत्र ब्रह्माण्डकोटयः' इति शास्त्रार्थात्। न तु शाब्दापरोक्षरूपं ब्रह्म। तस्यामित्यादि योग्यतायां सत्याम्। सिद्धान्तमुक्तावलीटीकोक्तज्ञानिभक्तौ चेद्विशेषतोऽनुगृह्णाति तदा पुष्टिभक्तिं प्राप्नुतः। आदाविति ग्रन्थोक्तपुष्टिमर्यादाभक्तयेत्यर्थः। तादात्म्येति भेदसहिष्णुनाभेदेनेत्यर्थः। भक्तानां पुरुषोत्तमाभेदस्त्वन्तरायरूपस्तदानन्दानुभवे इति तं तत्र न संपादयति इति 'अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः' इति सूत्रे वक्ष्यते। अक्षरेण तद्रूपजीवेन च पुरुषोत्तमाभेदरूपादाधेयभेदः स इवार्थे इति न परमतप्रवेशः अदृश्यत्वाधिकरणे स्पष्टः। चरणरूपाक्षरेण पुरुषोत्तमाभेदः पूर्वोक्तेनाक्षरेण 'अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्' इति गीतोक्तः पुरुषोत्तमेनाभेदः। जीवस्य तु भक्तत्वाद् दत्तो भेदोऽभेदस्तिरोहितः। पूर्वकक्षेति 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा' इति गीतावाक्यात्। यजुर्विवक्षितेत्यादि ब्रह्मविदित्यादियजुषा विवक्षितधर्मधर्मिभेदेन द्विविधानन्दरूपफलेत्यर्थः। तथोक्तमिति आनन्द-

सामानाधिकरण्यमनुक्त्वा 'आनन्दं ब्रह्मणः' इत्युक्तम्। एतेन लौकिकं पूर्वदेहं त्यक्त्वा साक्षाद्भगवद्भजनोपयोगिनं भगवद्विभूत्यात्मकं संघातं प्राप्नोत्यादौ। तथाहि। देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवात्मको हि संघातः। तत्र स्थूलं शरीरमाद्य-विभूतिरूपम्। द्वितीयं स्पष्टम्। तृतीयं सर्वेन्द्रियसंबन्धित्वेनेन्द्रियरूपत्वेन चान्तः-करणात्मकत्वेन चेन्द्रियान्तःकरणरूपम्। तुरीयं जीवतत्त्वात्मकम्। यत्र गुहायां

भाष्यप्रकाशः।

विवरकत्वमुपपाद्य तेन सिद्धं निगमयितुमाहुः एतेनेत्यारभ्य, अवगम्यत इत्यन्तम्। आद्यविभूतिरूपमिति अन्नमयविभूतिरूपम्। मनोमयविभूतिरूपस्येन्द्रियान्तःकरणरूपत्वे हेतूनाहुः तृतीयमित्यादि। अत्र मनसः सर्वेन्द्रियनियामकत्वान्मनोमयस्य सर्वेन्द्रियसंबन्धि-त्वम्। शेषं स्फुटम्। तथाच कार्यद्वारा मनसैव सर्वेन्द्रियाण्याक्षिप्यन्त इति तथेत्यर्थः। जीवस्य विद्यमानत्वाद्विज्ञानमयविभूतिर्बुद्धिरूपा मनसः पृथग् भविष्यतीत्याशङ्कावारणाय तत्स्वरूपमाहुः तुरीयमित्यादि। जीवतत्त्वात्मकमिति जीवस्य यत् तत्त्वं स्वरूपसहका-रियोग्यतासंपत्तिस्तदात्मकमित्यर्थः। अत्र गमकं यत्रेत्यादिना प्रोक्तं ज्ञेयम्। एवं

रश्मिः।

ब्रह्मणोः सामानाधिकरण्येनोक्तमित्यर्थः। एतेनेत्यारभ्येत्यादि। अत्र भाष्ये। संघातमिति यद्बृहदारण्यके शारीरब्राह्मणे ब्राह्ममित्युक्तं तत्। साक्षाद्भगवद्भजनेति विशेषणेन तस्य फलत्वात्। विवृण्वन्ति स्म अत्रेत्यादि। अत्र प्रकृते संघाते मनस उत ये मनो विदुरिति श्रुतेराधिदैविक-रूपमनस इत्यर्थः। 'मनसो वशे सर्वमिदं बभूव' इति वाक्यात् सर्वेन्द्रियाणि प्राणाः इन्द्रियाणि प्राणाः अन्तःकरणं स्थानं तेर्थाः सर्वेन्द्रियपदवाच्याः। तेषां नियामकत्वादित्यर्थः। मनोमयस्येति मनःप्राचुर्यस्य विभूतित्वात्। सर्वेन्द्रियाणि पूर्वोक्तानि तत्संबन्धित्वम्। आधिदैविकत्वेन प्रेर्यप्रेरकभावः संयोगरूपः सोस्यास्तीति सर्वेन्द्रियसंबन्धि तस्य भावः सर्वेन्द्रियसंबन्धित्वम्। शेषमिति। इन्द्रिये-त्यादि भाष्यं स्पष्टम्। तथा हि आधिदैविकादिरूपेण त्रैविध्यम्। सर्वेन्द्रियसंबन्धो नेयनायकभावः। इन्द्रियरूपत्वम्। 'मनोमात्रमिदं ज्ञात्वा' इतिवाक्यात्। अन्तःकरणात्मकत्वं मनःप्राचुर्येप्येक-देशविकृतन्यायेन, एवं स्पष्टम्। कार्यद्वारेति ज्ञानरूपकार्यद्वारा। आक्षिप्यन्त इति आक्षेपोर्थापत्तिः। 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' इति श्रुतेः। तथेति सर्वेन्द्रियसंबन्धि-त्वादिः। मनसेति अपृथगिति पदच्छेदः। मनोबुद्धिचित्ताहंकारा इति मनोभेदा इति। बुद्धिरूपेति इन्द्रियानुग्राहिकेत्यर्थः। बुद्धितारतम्येनेन्द्रियज्ञानक्रिययोस्तारतम्यदर्शनाद्बुद्ध्यैवानुगृहीतानीन्द्रियाणि पश्यन्ति कुर्वन्ति च। इदं च कार्यलक्षणम्। स्वरूपलक्षणं तु द्रव्यस्य घटादेः स्फुरणे शब्देनालोकेन संस्कारेण वा यद्विशिष्टं ज्ञानमिति। तृतीयस्कन्धे षड्विंशे 'तैजसात्तु विकुर्वाणाद्बुद्धितत्त्वमभूत्' इत्यस्य सुबोधिन्याम्। तल्लेखे प्रस्थानरत्नाकरे च स्फुटम्। तत्त्वपदस्याभिप्रायमाहुः मनसेति। तस्येन्द्रियप्रेरकत्वं कार्यलक्षणम्। संकल्पविकल्पात्मकत्वं स्वरूपलक्षणमिति तेन पृथक्। बुद्धेर्मनो-भेदत्वात्। स्वरूपेत्यादि ज्ञानेन्द्रियेषु विज्ञानमयप्रवेशात्तथेति वक्ष्यमाणभाष्योक्ता। यत्रेत्यादिनेति अग्रिमग्रन्थेन भाष्ये यत्र स्वरूपयोग्यतायां सत्यां बुद्धिरूपायां यतो जीवरूपं ज्ञानं बुद्धिरूपस्तत्त्वं विना न ब्रह्मवित्। बुद्धिमानयं पदार्थान् जानाति इति प्रत्ययात्। 'मनसि सर्वतो निवृत्तव्यापारे स्वयमुपलब्धनिजसुखानुभवो भवान्' इदमेव ब्रह्मज्ञानमिति द्वितीयपादे वक्ष्यन्ति। गुहायामित्यादेरर्थ-

भगवद्वरणेन परमव्योमाविर्भावस्ततः पूर्णानन्दात्मकं पुरुषोत्तमस्वरूपं फलरूपं प्राप्य उक्तभगवर्थरीत्या तेन सह सर्वकामाशनमेव मनोवागविषयानन्दवेदनं तद्वान् भवतीति वाक्यैकवाक्यतयावगम्यते।

भाष्यप्रकाशः।

विभूतिरूपाणि व्याख्याय तच्छेषिणं व्याकुर्वन्ति तत्र इत्यादि। अत्र कामाशनस्य वेदन-रूपत्वम्। भोगस्य सुखसाक्षात्काररूपत्वात्। वाक्यैकवाक्यतयेति उपसंक्रमेण वेदनम-यामावाभ्यां तापाभावादिभिश्चास्य फलांशविवरकत्वेन वाक्यानामेकवाक्यतया।

एवमानन्दमयप्राप्तेर्यथा परममुक्तित्वं, तथा प्रकारो विषयवाक्यभूतप्रपाठकविवरणेन प्रकाशितः। तत्र पूर्वोक्तानां विभूतीनां पक्षिरूपत्वं यदत्रोक्तं तल्लीलोपयोगिषु तेषु

रश्मिः।

माहुः गुहायामित्यादि। हृदि मनसि अयं हृदयं सप्तम्या लुक् तत्संबन्ध्याकाशे छिद्ररूपे 'छिद्रा व्योम्नीव चेतनाः' इति वाक्यात्। सुपर्णद्वययुक्तं वस्तु 'द्वौ सुपर्णौ भवतः' इति गोपालतापिनीयात्। मर्यादाभक्तस्यान्यत्र चरणयोर्लयात् पुष्टिभक्तस्य फलम्। सिद्धान्तमुक्तावलीटीकायां ज्ञानिभक्तौ चेद्विशेषतोनुगृह्णाति तदा पुष्टिभक्तिं प्राप्नुतः आदाविति ग्रन्थात्। पुष्टिमार्गत्वान्न भगवद्वरणाति-रिक्तं साधनमुक्तम्। भक्तिहेतौ त्वनुग्रह उक्तः स पुराणोक्तः।

'यदा यस्यानुगृह्णाति भगवानात्मभावितः।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्'॥

इतिवाक्यात्। न बिभेति कुतश्चनेति परिनिष्ठितमतित्यागः। गुहायां हृदये 'स मानसीन आत्मा जनानाम्' इति श्रुतेः। परमव्योमाविर्भावोऽयोगोलके वह्निरिव वरणातिरिक्तं साधनं नेत्युक्तम्। हृदि अयमात्मा सामानाधिकरण्येन तत्संबन्धिन्याकाशे जीवदेहे मनसि परमव्योमा-विर्भावः स्पर्शमणिसंबन्धेनायसि चामीकरत्वाविर्भाववत्। परो मीयते ज्ञायते येन व्यापकेन व्योम्नेति परमं व्योम। ननु जीवस्य देह आकाशात्मकोपि मांसरूपः। संहितायामाकाशस्य मांसत्वोक्तेः भगव-दंशत्वात् 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' इत्यादिकं भवति। आत्मनो जीवादाकाशो देहः। आकाशाद्वायुः प्राणादिः त्वक् च। वायोरग्निः दर्शनाग्निः जाठराग्निर्ज्ञानाग्निश्च। अग्नेरापः प्रस्वेदादिरूपाः। अद्भ्यः पृथिवी कठिनांशा अस्थ्यादि। पृथिव्या ओषधयः लोमानि केशाः। ओषधीभ्योऽन्नं लिक्षा अन्नापूकाः। पुरि शेरते इति पुरुषाः यथाकथंचिज्ज्ञेयाः। तत्र पुरुषोत्तमस्य दीपशिखावद्वर्तमाने पूर्णानन्दे अदृश्य-त्वाधिकरणोक्ते संपन्ने 'तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्' इति श्रुत्युक्तं भवति, स्वां स्वीयां तनुं विवृणुते प्रकाशयति। प्रकृते। तच्छेषिणमिति। आनन्दमयमित्यर्थः। तापाभावेत्यादि 'एतꣳह वाव न तपति' इति श्रुतेः। अस्येति प्रपाठकस्य। तथा च व्याख्येयव्याख्यानभावेनैक-वाक्यता तथा। अधुना प्रथमस्कन्धस्य 'अथो विहायेममसुं च लोकम्' इत्यादिश्लोकद्वयसुबोधिन्यु-क्तदिशान्नमयादिविभूतीनां साधनसंपत्तये लौकिकान्नमयादिकोशेषु तत्तदर्थं तत्प्रवेशं बोधयन्ती-त्याशयेन भाष्यमवतारयन्ति एवमानन्दमयेत्यादि। प्रकाशित इति सर्वरीत्या व्याख्याय पूर्वं पश्चात्प्रथमत्यागे मानाभावमाश्रित्याथवेत्यादिना प्रकाशितः। तल्लीलेत्यादि लीलापूर्वकालिकेषु

अथेदं विचार्यते । 'पुरश्चक्रे द्विपदः' इति श्रुतौ वस्तुतस्तु पुरुष एव । परंतु पुरःसंबन्धी सन् पक्षी भूत्वा पुर आविशदिति निरूपितम् । प्रकृते चान्नमयादयस्तथैवोक्ताः । एवं सत्येकस्यां पुरि बहूनां तेषां प्रवेशो न वक्तुमुचितः । प्रयोजनाभावादिति एकैकस्यां पुरि तथा वाच्यः । तत्र कीदृश्यां तस्यां कस्य प्रवेश इति विचार्यमाणे प्राकृतत्वब्रह्मत्वयोरविशेषाद् विनिगमकाभावात् सर्वेषां सर्वत्र प्रवेशोऽप्रवेशो वा भवेदिति चेत् ।

अत्रेवं प्रतिभाति । अस्माल्लोकात् प्रेत्येति वाक्ये इयंशब्दप्रयोगात् प्राकृत-

भाष्यप्रकाशः ।

कोशेषु पक्षिरूपेण यः प्रवेशस्तद्धेतुकमिति तद्बोधिकायाः श्रुतेरविचारे तत्र दृढं भवतीति तद्दृढीकरणाय पक्षिरूपप्रवेशबोधकश्रुतिविचारं प्रतिज्ञाय तद्विचारबीजं वक्तुं प्रथमतो विषयमाहुः अथेत्यारभ्य, उक्ता इत्यन्तम् । तथैवेति पक्षिरूपेण । अत्र विचारबीजं वदन्तः पूर्वपक्षमाहुः एवं सतीत्यादि, चेदित्यन्तम् । अविशेषादिति सर्वेषु पक्षिष्वविशेषात् । अप्रवेश इति उक्तश्रुतावेकस्य प्रवेशोक्तावप्यन्नमयादिषु पक्षिलिङ्गेन पुरि प्रवेशे प्राप्तेऽपि प्राणमयादिष्वन्तर आत्मेति श्रावणात् तेषां चतुर्णां तत्तदन्तःप्रवेशोऽस्तु । अन्नमये तु तदश्रावणात् तत्प्रवेशो न शक्यवचनः । किंच, द्विपत्त्वादिलिङ्गस्य स्थूलास्वेव सत्त्वात् तास्वेव प्रवेशोऽत्र भासत इति प्राणमयादिषु लिङ्गाभावेन विवक्षितपुच्छाभावान् तेष्वपि तदन्तराणां सोऽशक्यवचन इत्यप्रवेश इत्यर्थः । सिद्धान्तमाहुः अत्रेत्यादि । अयमर्थः । अस्माल्लोकात् प्रेत्येत्यत्र स्थूलशरीरत्यागाङ्गीकारे सूक्ष्मशरीरकारणशरीरयोः सत्त्वेन प्राणमयादिकोशानां सत्त्वेन, एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामतीत्याद्यग्रिम-

रश्मिः ।

लौकिककोशेष्वित्यर्थः । भाष्ये । निरूपितमिति आधिभौतिकेष्वाध्यात्मिकानां प्रवेश इति निरूपितमित्यर्थः । प्रकृते । तन्नेति प्रवेशहेतुकं नेत्यर्थः । तद्विचारबीजमिति पक्षिणामप्राकृतत्वब्रह्मत्वाविशेषो विनिगमकाभावश्च हेतू । तद्धेतुकः सर्वेषां सर्वत्र प्रवेशोऽप्रवेशो वा बीजम् । तस्य पक्षिरूपप्रवेशबोधकश्रुतिविचारस्य भवति । विषयमाहुरिति परोक्षवादरूपसिद्धान्तोपयोगिनं तमाहुरित्यर्थः । अथेत्यारभ्येति । ननु उपष्टम्भकश्रुतेर्विचारे किं मूलमिति चेन्न । अत्राधिकरणे पूर्वाधिकरणवन्नपुंसकलिङ्गानुक्तेरानन्दमय इति पुल्लिङ्गोक्तेः 'ब्रह्मन् पुंसि च' इति सूत्राद् ब्रह्मेति पुल्लिङ्गानुवर्तनाद्वेदगर्भकारणतानिरूपणेन । भाष्यत्वात् तादृशस्वपदवर्णने येन केनापि यागेन पूर्वकाण्डोक्तब्रह्मणोपि विचारमालोच्यास्याविचारात्पूर्वकाण्डानुगुण्यं पाषण्डनिवर्तकमेव मूलमिति । नपुंसके 'ततो ह जानातो भुवनस्य गोपा हिरण्मयः शकुनिर्ब्रह्मनामेति श्रुतिः। पूर्वपक्षमिति संशय उन्नेयः। सर्वेषामेकैकस्मिन् प्रवेशोऽप्रवेशो वा सर्वत्र प्रवेशोऽप्रवेशो वेति । श्रुतिः पूर्वपक्षयुक्तिश्च संशयबीजम् । उक्तश्रुताविति 'पुरश्चक्रे द्विपदः' इति श्रुतावित्यर्थः । एकस्य प्रवेशोक्ताविति 'स पक्षी भूत्वा' इत्यत्रैकत्वविवक्षणादिति भावः । अस्त्विति अत आत्मनश्चेतनत्वादिति भावः । न शक्येति । चेतनाभावादिति भावः । लिङ्गाभावेनेति द्विपत्त्वादिलिङ्गाभावेन । तदन्तराणामिति पक्षिणामित्यर्थः । सूक्ष्मेति । कारणशरीरं तु—

'अविप्रणाशः सर्वेषां कर्मणामिति निश्चयः ।
कर्मजानि शरीराणि तथैवाकृतयो नृप' ॥

गुणमयं प्रपञ्चमतिक्रम्य गुणातीतं प्रपञ्चं साक्षाल्लीलोपयोगिनं प्राप्नोतीत्यवगम्यते । तत्प्राप्त्यैव भगवद्भावे संपन्ने पूर्वं भगवद्विरहभावेनातितीव्रत्वेन सर्वोपमर्दिना शरीरेन्द्रियप्राणान्तःकरणानि नष्टान्येव स्युर्यदि तत्तद्रूपं ब्रह्म तेषु तेषु न प्रविष्टं स्यात् । जीवस्य च ब्रह्मण्येव लयेन लीलारसाननुभवेन नाश एव सः । तथाच तत्तद्रूपं ब्रह्म तेषु तेषु स्थितमिति न तेषां नाशः । जीवे त्वानन्दमयः पुरुषोत्तमः प्रविशतीति रसात्मकत्वादानन्दात्मकमेव विरहभावरसाब्धिमनुभूय

भाष्यप्रकाशः ।

वाक्यविरोधादस्माल्लोकादित्यस्येदम इदं सर्वं यदयमात्मा, अस्मिँल्लोकेऽर्धुकः स्यादित्यादाविदमः परिदृश्यमानयावत्संग्राहकत्वदर्शनादत्रापि ब्रह्मविदः फलप्रकरणे प्रापञ्चिकसर्वसंग्राहकताया एवाभिप्रेतत्वौचित्यात् तथावगम्यते । ततो गुणातीतप्रपञ्चप्राप्त्यैव भगवत्युत्कटरत्यां जातायां पूर्वं विरहभाव एवोद्रिच्यत इति तेन शरीरादीनि मूले सति लीनानि स्युरतस्तदभावाय प्रवेशः सर्वत्रावश्यकः । किंच, लये ज्ञानिसाधारण्येन वरणवैयर्थ्याल्लीलाननुभवे स जीवस्याप्यनिष्टरूप एवेत्यतोऽप्यावश्यक इत्यर्थः । ननु भवत्वन्यत्रान्येषां प्रवेशस्तथापि जीवस्य नित्यत्वात् तत्रानन्दमयप्रवेशो निष्प्रयोजनत्वादयुक्त इत्यत आहुः जीवे त्वित्यादि उच्यत इत्यन्तम् । प्रविशतीति रसानुभावनाय प्रविशति । इतिर्हेतौ तथाच सोपि सप्रयोजनः । तस्य पुरुषोत्तमत्वं श्लोकाद्युक्तभयाभावरूपाल्लिङ्गादेव ज्ञायते । एतदग्रिमा-

रश्मिः ।

इतिभारतोक्तम् । तथावगम्यत इति प्राकृतगुणमयं प्रपञ्चमित्याद्यवगम्यत इत्यर्थः । अत्र प्राकृतगुणातीतयोः प्रपञ्चयोर्मध्ये प्राप्तिसाधनं नोक्तं तथापि वरणमत्यन्तानुग्रहश्च ज्ञेयम् । पुष्टिमार्गीयत्वान्न साधनान्तरमपेक्षते । साधारणप्रवाहव्यवस्था तु शारीरब्राह्मणेस्ति । तत्प्राप्त्येत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति तत इत्यादि । गुणातीतेत्यादि एवकारेण वरणस्य विद्यमानत्वात्तदन्तर्गतात्यन्तानुग्रहस्यापि सत्त्वाद् गीतोक्तगुणातीतलक्षणोक्तधीरतुल्यप्रियाप्रियत्वातिरिक्तधर्मः व्यवच्छिद्यते । अव्यभिचारी भक्तिमांश्च 'स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते' स गुणातीतः तथा चैतादृशप्रपञ्चान्तर्गतानां धीरतुल्यप्रियाप्रियत्वाव्यभिचारिभक्तिपदार्थानां प्राप्तिर्विशेषतः करणं भगवदुत्कटरत्याम् । सर्वात्मभावस्य दानसाध्यस्यानुक्तिः । रतिस्तु सर्वात्मभावकस्य निरोधलक्षणग्रन्थोक्तसांधिभौतिकप्रेमसंबन्धादाध्यात्मिकयत उक्ता । पूर्वविरहेति । ननु संयोगौ भवतः पूर्वविरहः कुत इति चेन्न भगवदास्यार्तेरधिकारत्वात् । अक्षरब्रह्मत्वं तु गुणातीतप्रपञ्चप्राप्त्यैव प्राप्समतः प्रथमाधिकारो नायुक्तः । एवकारस्तु भक्तरुक्मिण्याहरणे पूर्वं तस्या विरहभावोक्तेः । 'जह्यामसून् व्रतकृशान् शतजन्मभिः स्यात्' इति प्रसादः स्यात् । तेन विरहभावेन सर्वोपमर्दिना शरीरादीनि तथा । मूले सतीति हृदि प्रकटे ब्रह्मणीत्यर्थः । पृथिव्यादाविति वा । ननु स एवास्तु फलत्वादित्यतो जीवस्य चेत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति किं च लयेत्यादि । भाष्ये । ब्रह्मण्येव लयेनेत्यत्र एवकारेणाक्षरात्मकचरणव्यवच्छेदः । तदानीं भक्त्यभावाल्लयप्रतिबन्धकाभावात् । प्रकृते । अनिष्टेत्यादि 'तदापीतेः संसारव्यपदेशात्' इति सूत्रे स्फुटिष्यति एवकारार्थोऽपि । रसानुभावनायेति प्रदीपाधिकरणे स्पष्टमिदम् । सोपीति जीवानन्दमयप्रवेशोपि । प्रयोजनं रसानुभावनम् । भाष्ये । रसात्मकत्वादिति 'रसो वै सः' इति श्रुतेः । रस शब्दे, रस आस्वादने चर्वणैकस्वभाव आनन्दमये रसशास्त्रप्रसिद्धे । शब्दा-

पश्चात् प्रादुर्भूतं प्रभुस्वरूपं प्राप्य, 'न बिभेति कुतश्चन' इति वाक्येन लोकात् तदभावमुक्त्वा, 'एतꣳह वाव न तपति किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवम्' इतिवाक्यैर्वेदाद्भयाभाव उच्यते ।

शरीरप्राणमनोऽन्तःकरणजीवात्मनां शरीरत्वं वाजसनेयिशाखायामन्तर्यामिब्राह्मणे पठ्यते । 'यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यस्य प्राणः शरीरं यस्य वाक् शरीरं यस्य चक्षुः शरीरं यस्य श्रोत्रं शरीरं यस्य मनः शरीरं यस्य त्वक् शरीरम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

र्थस्तु य एवमतापकरत्वेन एते साध्वसाधुनी विद्वान् स आत्मानं स्पृणुते ब्रह्म प्रीणाति । तत्र हेतुरुभे ह्येवैष इत्यादि । अत्र स्पृणोतिर्ज्ञानार्थक इति न पुनरुक्तिः । तेन सोऽपि युक्त इत्यर्थः । अत्र या स्वरूपप्राप्तिरुक्ता सा फलाध्यायतुरीयपादे निपुणतरं भाष्य उक्तेति मया तत्रैव व्युत्पादनीयेति बोध्यम् । किं च । द्विपत्त्वादीत्यादिनोक्तद्वितीयबाधकनिरासाय पुच्छं स्फुटीकुर्वन्ति शरीरेत्यादि । प्राणमनोऽन्तःकरणेतिपाठे मनोऽन्तरिति भिन्नं पदम् । एतद्गणनामध्ये इत्यर्थः । प्राणेन्द्रियान्तःकरणेति वा पाठः । अत्रायमर्थः । पुच्छं हि शरीरत्वम् । तच्च भूताद्यात्मान्तेषु तुल्यम् । तथा ब्रह्मण आन्तरत्वं च सर्वत्रात्रोक्तमिति प्रवेशोऽपि तस्य सिद्धः । एवं सत्येतदनुरोधाद् बहुपदां पुरां दर्श-

रश्मिः ।

र्थरसरूपधृत्त्वात् । एवेति विरहभावरसाब्धेर्हृदयात्मकत्वव्यवच्छेदकः । आनन्दसृष्टौ सुखात्मकत्वेपि सर्वस्य सुखे ईर्ष्यासूयादिमिश्रीभावे सुखमेव दुःखाय इति वाराहपुराणे चातुर्मास्यमाहात्म्येस्ति । विरहमनुभूयेत्युक्तौ तस्य प्रियमेव शिर इति श्रुत्युक्तभावात्मकत्वविरोधः भावात्मकस्य प्राज्ञत्वात् । तर्हि विरहभावमनुभूय इति वक्तव्यम् । न विरहभावस्तूष्णीकं नानुभूय इत्यस्य कर्म अतितीव्रत्वात् किं तु शब्दजास्वादरूपोऽतो रस इति । सोपि शाब्दविषयो लौकिकानामतोत्र शास्त्रदृष्ट्याब्धिशब्दः । लवणमेतदुदकमिति श्रुतिविषयः । जातानां लीलास्थानामभेदानुभवेन विलक्षणरसानुभवार्थम् । मानसीसेवा वा तत्रत्या । जातानां रसान्तस्थानां शरीराणां रेणुजत्वेन पार्थिवत्वात् तत्कारणायां दृष्टिरुचिता । नन्वात्मनः कारणत्वं 'आत्मन आविर्भावतिरोभावौ' इति श्रुतेरिति चेन्न तत्रत्यानां सर्वेषामात्मत्वेन यथादृष्टं कारणमिति । प्रादुर्भूतमिति राजवत्प्रादुर्भूतम् । न बिभेतीत्यादि पूर्वं व्याख्यातम् । एतदिति । पापमकरवमिति श्रुत्यग्रिमार्थस्तु अग्रिमा श्रुतिस्तु 'स एवं विद्वानेते आत्मानꣳस्पृणुते । 'उभे ह्येवैष एते आत्मानꣳ स्पृणुते य एवं वेद' इति । उभे ह्येवैष इत्यादि उभे ह्येवैष एते आत्मानꣳ स्पृणुते इति श्रुतिः । 'भक्त्या मामभिजानाति' इति न्यायेनाहुः अत्र स्पृणोतिरिति । ज्ञानार्थक इत्यादि । पृण प्रीणन इति धातोर्ज्ञाने लक्षणेति 'किमहं साधु नाकरवम् किमहं पापमकरवम्' इति 'स एवं विद्वानेते आत्मानꣳ स्पृणुते । उभे ह्येवैष एते आत्मानꣳ स्पृणुते' इत्यत्र स्पृणोतेर्न पुनरुक्तिरित्यर्थः । सोपीति जीवे आनन्दमयप्रवेश इत्यर्थः । द्विपत्त्वादिति अप्रवेश इति भाष्यव्याख्याने किं च द्विपत्त्वादित्यादिनोक्तपुच्छाभावरूपबाधकनिरासायेत्यर्थः । पदमिति करणं वागादि जीवो रेतःस्थः 'यो रेतसि तिष्ठन्' इति श्रुतेः । एतस्य क्लिष्टत्वादाहुः प्राणेन्द्रियेत्यादि । तथा च भाष्यत्वाद्वाहुल्कमिति भावः । सर्वत्रात्रेति अन्तर्यामिब्राह्मण इत्यर्थः । तस्येति ब्रह्मण इत्यर्थः । एवं सतीति प्राणमयादिषु शरीरत्वे

इत्यादेरन्तो यस्यात्मा शरीरमिति । अत्र पूर्वोक्तनिर्गुणदेहानां भगवच्चरणरेणुजत्वेन भूतरूपत्वाद् ब्रह्मशरीरत्वम् । तत्रान्नमयतत्प्रवेशेन तत्स्थितिः प्राणेष्वपि तथा । ज्ञानेन्द्रियेषु विज्ञानमयप्रवेशात् तथा । मनसि मनोमयप्रवेशात् तथात्वम् । जीवे त्वानन्दमयः प्रविशतीति तथात्वम् । अतो युक्तं पक्षित्वकथनम् ।

आनन्दमयस्य स्वरूपं विशेषतो वक्तुमशक्यमिति यः पूर्वस्येति सर्वत्रोक्तम् । शरीरप्रवेशप्रयोजनकपक्षिरूपत्वं पञ्चस्वपि साधारणमिति तेषु तथा वद-

भाष्यप्रकाशः ।

नादत्र प्रतिष्ठापदेन पादयोर्बोधनाच्च पुरश्चक्र इति श्रुतौ द्विपदादिपदं कृतपूर्मात्रोपलक्षकमिति तत्र तासां करणं, तासु प्रवेश इति चाभिप्रेतं, न तु तासां द्वैविध्यं स्थूलत्वं चेति निर्णये सर्वास्वेव कार्यार्थं पक्षिरूपेण प्रवेशः सिद्ध्यतीति पक्षिलिङ्गादन्नमयादीनामपि प्रवेशः शक्यवचन इत्यर्थः । एवं सर्वेषां प्रवेशं समर्थयित्वा लीलौपयिकप्रवेशार्थमप्राकृतविभूतिरूपाणां स्वरूपमाहुः अत्रेत्यादि । इदं च प्रथमस्कन्धसुबोधिन्यां, 'या वै लसच्छ्रीतुलसीविमिश्रपादाब्जरेण्वभ्यधिकाम्बुनेत्री' इत्यत्र सिद्ध्यति । प्रवेशं विभजन्ते तत्रेत्यादि । जीवस्य वरणेनैव शुद्धत्वाद् विज्ञानमयस्य प्रवेशोऽनर्थक इति शङ्कावारणाय तदधिकरणमाहुः ज्ञानेन्द्रियेत्यादि । जीवे तथात्वं लीलारसानुभवयोग्यत्वरूपं बोध्यम् । एवं सर्वत्र पक्षित्वोक्तिं समर्थयित्वानन्दमये शारीरत्वोक्तेस्तात्पर्यं वक्तुं यः पूर्वस्येति गूढोक्तेराशयमाहुः आनन्दमयस्येत्यादि । शरीरेत्यादि च । विशेषतो वक्तुमशक्यत्वं मनोवागगम्यत्वाद् बोध्यम् । तथाच तस्यैष इत्यत्र शब्द एव पूर्वसमो न त्वर्थोऽपि ।

रश्मिः ।

सिद्धे सतीत्यर्थः । अत्रेति तैत्तिरीये प्राणमयादिषु पृथ्वी पुच्छं प्रतिष्ठा, अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा, महत्पुच्छं प्रतिष्ठा, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा, इति यथायथं प्रतिष्ठापदेनेत्यर्थः । तासामिति पुरामित्यर्थः । द्वैविध्यमिति द्विपत्त्वं चतुष्पत्त्वमिति द्वैविध्यम् । सर्वेषां प्रवेशमिति एतेन पूर्वपक्षे अप्रवेशो दूषितः सिद्धान्ते । सिद्ध्यतीति । युक्तिस्तु अणुभाष्ये टीपिता सारोऽयमर्थः । सा च पार्थिवं शरीरमिति योगादिशास्त्रादत्रापि पार्थिवशरीराभावे सूत्रं निर्विषयं स्यात् । नन्वस्ति सर्वेषां पार्थिवशरीरमिति चेन्न आकाशत्वाच्छरीराणाम् । 'आकाशशरीरं ब्रह्म' इति श्रुतेः । तदंशानां व्योम्नीव छिद्राणां जीवानामाकाशशरीरत्वौचित्यात् । आकाशान्मांसरूपाद्दश वायवः । वायोस्त्रयोऽग्नयः दर्शनाग्निजाठराग्निज्ञानाग्निरूपाः । अग्ने रुधिरादिरूपा आपः । अद्भ्यः पृथिवी 'यत्कठिनं सा पृथिवी' इति श्रुतेः कठिनांशोऽस्थ्यादिः पृथ्वीति । पार्थिवत्वाभावात् । भगवदिच्छाधीनं सर्वं तथापि युक्त्यर्थं भाष्येऽन्नमयप्रवेश उक्तः । ब्रह्मशरीरत्वमिति भाष्ये ब्राह्मं वेति शारीरब्राह्मणं द्रष्टव्यम् । भाष्ये प्राणेष्वपि तथेत्यन्नमयप्रवेश इत्यर्थः । प्राणानामम्मयत्वेनान्नमयस्याप्यप्रचुरस्य प्रवेश उचितः । 'आपो वा अन्नम्' इति श्रुतेः । तथात्वमिति भाष्यं विवृण्वन्ति जीवे तथात्वमिति । गूढोक्तेरिति 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' इत्यत्र तदेतच्छब्दाभ्यां विपश्चिद्ब्रह्मपरामर्शाद् यः पूर्वस्येत्यत्र यच्छब्देन गूढानन्दमयोक्तेरित्यर्थः । तस्यैष इति 'तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य' इति श्रुतावित्यर्थः । अत्रेदं सारम् । 'रसो वै सः' 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इति श्रुतिसहस्रैरानन्दो ब्रह्मरस इत्यविवादम् । रसश्च मुख्यो भक्तिरूपः शृङ्गारश्च । इमौ द्विविधौ, संयोगविप्रयोगभेदात् । एवं चोभावेकः वस्तुस्वभावात् ।

न्यानन्दमयेऽपि तथैवोक्तवती श्रुतिरिति ज्ञेयम् । एवं सति स्पर्शमणिसंबन्धित्वेन रजतादेर्हेमत्वमिवोक्तप्रकारकप्रवेशादाश्रयाणामपि तत्तदात्मकत्वमित्युच्यते ।

भाष्यप्रकाशः ।

तेनात्रायमर्थः । तस्येत्यभेदे षष्ठी । तथाच पूर्वस्य यः शारीर आत्मा उपक्रमे जगत्कर्तृत्वेनोक्तस्तदभिन्न एष इति । एवमर्थोक्तौ गमकं तु, अग्रेऽन्यस्यान्तरात्मन उक्तयभाव एवेति प्रागेवोक्तम् । प्रवेशस्य योग्यतासंपादकत्वप्रकारं दृष्टान्तेनाहुः एवं सतीत्यादि । एवमत्र श्रुत्यन्तरानुसारेण वास्तवं पक्षिरूपमादृत्य प्रकृतश्रुत्यर्थो निर्णीतः । अतः परं 'परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः' इति श्रुतेः ।

रश्मिः ।

पूर्वोक्तो यद्यपि वाक्यान्वयाधिकरणे प्रियत्वस्य ब्रह्मधर्मत्वमुक्तमिति धर्मस्तथापि पूर्वोक्तश्रुत्या धर्म्यपि । आनन्दवत् । भक्तिश्च भावो 'रतिर्देवादिविषया भाव इत्यभिधीयते' 'केवलेन हि भावेन गोप्यः' इत्यादिवाक्यात् । एवं च पूर्णब्रह्म भावात्मकमिति निष्कर्षः । तच्च न निराकारं 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति' 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः' इति श्रुतिस्मृतिभ्याम् । प्रकृतश्रुतेश्च तत्राकारविचारे कृष्णाकारो मुख्यः । एतच्च 'समान एवं चाभेदात्' इति सूत्रे उपपादनीयम् । श्रीभागवते च स्फुटम् । न चैवं परिच्छिन्नस्याब्रह्मत्वं शङ्कनीयम् । वैश्वानराधिकरणे प्रादेशमात्रस्यैवाभिविमानत्वमिति सिद्धान्तात् । ज्योतिश्चरणाधिकरणे ज्योतीरूपत्वोक्तेर्यथा परिच्छिन्नोपि वह्निस्तूलादियोगान्महान् भवति तद्वदिति दृष्टान्तः । तदेव स्वधर्मेण सच्चिदानन्दरूपेण व्याप्तमिति समन्वयाधिकरण उपपादितम् । तदर्थं 'तदव्यक्तमाह हि' इत्यधिकरणे विरुद्धधर्माश्रयत्वं तस्य व्यवस्थापितम् । एवं च कल्पतर्वादिवत्तद्रस्त्वेव तादृशमिति वस्तुस्थितिः । अन्यथास्मदादितुल्यता स्यात् । सा चासंगततरा । 'हेयत्वावचनाच्च' इत्यादिसूत्रविरोधात् । तथा च तेजोमयो व्यापकः आनन्दमयो भावात्मकः कमनीयः साकारोऽनेकशक्तिभृतः पुरुषः परं ब्रह्मेति शास्त्रार्थः । तत्राक्षरं तस्य धाम भवतीति ततो भिन्नाभिन्नम् । एतच्च 'सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात्' 'तदधीनत्वादर्थवत्' इतिसूत्रयोर्भाष्ये स्फुटम् । तत्प्राप्तिश्च सर्वात्मभावरूपभक्तेः । एतच्च पुरुषार्थाधिकरणे तृतीयस्य चतुर्थचरण उपपादितम् । तत्प्राप्तिश्च साकारानन्दनिचयानुभव इत्यत्रैवोक्तम् । स च भक्तहृदये बहिश्च । तच्च ।

'गोप्यश्च कृष्णमुपलभ्य चिरादभीष्टं
यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति ।
दृग्भिर्हृदिकृतमलं परिरभ्य सर्वा-
स्तद्भावमापुरपि नित्ययुजां दुरापम्' ॥

इत्युत्तरार्धे त्रयस्त्रिंशाध्यायवाक्ये स्फुटं सुबोधिन्याम् । तदंशांशानन्दस्य हृदीदानीमप्यनुभवान्नासंभावना । एतादृशोपि स्वयं गौणः सन् भक्तमनोरथं पूरयतीति तस्य निसर्गः । 'सह ब्रह्मणा विपश्चिता' इति श्रुतेः । 'अहं भक्तपराधीनः' इति स्मृतेश्चात एव स्वस्तावकान् भक्तान् स्वात्मलीलायां प्रवेशयति 'ध्रुवासो अस्य कीरयो जनासः' इति ऋग्वेदात् । कीरयः स्तोतारः । अन्यथा जीवानां स्वरूपतो नित्यत्वाद् ध्रुवास इति न वदेत् । एवं स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यमानो यदा जगद्रूपेण क्रीडितुमिच्छति तदा नामरूपविभेदेन जगन्निर्माय तत्र क्रीडतीति वैदिकपरमभागवतसिद्धान्तः । तमिमं हृदिकृत्याहुः अतः परमित्यादि । परोक्षत्वं च फलांशत्वाज्ज्ञेयमिति

वस्तुतस्तु परोक्षवादोयमिति ज्ञायते । तथाहि । 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति वाक्येन ब्रह्मविदः परमाप्तिं सामान्यत उक्त्वा तत्तात्पर्यं सत्यं ज्ञानमित्यृचोक्तम् । तत्र सर्वात्मभाववान् भक्तो भगवता सह तत्स्वरूपात्मकान् कामान् भुङ्क्त इत्युक्तव्याख्यानेन तदर्थोऽवधार्यते । उक्तभक्तस्य सदैव, विरहभावे तु विशेषतः प्रियस्वरूपातिरिक्तास्फूर्त्या अन्नप्राणादिरूपः स एवेति ज्ञापनाय तत्तद्रूपत्वमुच्यते ।

तेन परमप्रेमवत्त्वं सिद्ध्यति । ततो भगवदाविर्भावे सत्यपि पूर्वभावस्यातितीव्रत्वेन ज्ञानादिसर्वतिरोधानेनाग्रिमरसानुभवो न भविष्यतीति स्वयमेव तदनुभवात्मको भवतीति ज्ञापनाय विज्ञानरूपत्वमुच्यते । तदानुभवविषयः प्रकट आनन्दमय इति तत्स्वरूपमुच्यते । तत्र निरुपधिप्रीतिरेव मुख्या, नान्यदिति ज्ञापनाय प्रियस्य प्रधानाङ्गत्वमुच्यते । तदा प्रियेक्षणादिभिरान-

भाष्यप्रकाशः ।

'वेदास्त्रिकाण्डविषया ब्रह्मात्मविषया इमे ।
परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं च मम प्रियम्' ॥

इत्येकादशस्कन्धीयभगवद्वाक्याच्च परोक्षवादस्यैव ज्यायस्त्वेनात्र परोक्षवाद एवास्तीत्याहुः वस्तुत इत्यादि । उपपादयन्ति तथाहीत्यादि प्रतिष्ठारूपत्वमित्यन्तम् । तत्रेति तात्पर्यकथने । तदर्थ इति ऋगर्थः । तत्तद्रूपत्वमिति अन्नप्राणमनोरूपम् । स्वयमेवेति भगवानेव ।

रश्मिः ।

फलांशे पारोक्ष्यमिति । अत्र पारोक्ष्यं च यत्रान्यथास्थितोर्थः संगोपयितुमन्यथाकृत्वोच्यते स परोक्षवादः । तथा च श्रुतिः 'तं वा एतं चतुर्हूतं सन्तं चतुर्होतेत्याचक्षते परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवाः' इति । वैयाकरणानां श्रोत्रात्परो वादः, वद व्यक्तायां वाचि भावे घञ्, अक्ष्णः श्रोत्रात् परमिति परोक्षम् । 'परोक्षवादो वेदोयम्' इत्यत्रैकादशस्कन्धे स्पष्टम् । तथा च पुरुषविधब्राह्मणे भक्तिधर्मानुपदिशतीति परोक्षाय पक्षिरूपत्वमाहेति ज्ञेयम् । अन्नप्राणेति । एतच्च तृतीयस्य तृतीयपादे 'व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत्' इति सूत्रे सिद्ध्यति स्फुटीकरिष्यते च तत्रैव । उदाहरणं तु 'लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः' इति । भाष्ये । उक्तेति सर्वात्मभाववद्भक्तस्य । सदैवेति व्रजभक्तवत् संयोगे विप्रयोगभावनम् । प्रेम वर्तते यद्यपि तथापि तन्न प्रधानमिति सदैवेत्युक्तम् । 'आन्तरं तु परं फलम्' इति वाक्यात् । संयोगरसोपि वर्तते 'भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित्' इतिवाक्यात् । प्रियस्येति लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणे स्फुटम् । अत्र भाष्ये स एवेत्येवकारेण पूर्वोक्तस्य भक्तप्रविष्टनामयसश्चामीकरणपक्षस्य व्यवच्छेदः क्रियते । फलाध्याये वाङ्मनसीति सूत्रे तस्य पक्षस्य पूर्वपक्षीयत्वात् । तेनेति पूर्वोक्तभावस्य सर्वात्मकभावरूपमुख्यभक्तिरूपत्वेनेत्यर्थः । परो मीयते ज्ञायते येन सर्वात्मभावेन स परमः परमश्चासौ प्रेमा च परमप्रेमा तद्वत्त्वम् । तदुक्तं 'सच्चिदानन्दता स्वतः' इति निरोधलक्षणग्रन्थे । तत इति सर्वात्मभावादित्यर्थः । विज्ञानरूपत्वमिति तथा चाङ्गुलिषु यथा सूर्यरश्मिप्रवेशस्तथा प्रविष्ट इत्यर्थः । तदेति विरहस्वरूपानुभवोत्तरकाल इत्यर्थः । प्रकट इति हृदि बहिश्च तथेत्यर्थः । ततश्च रसः पूर्णोस्तीति वक्तुं स्थायिनो विभावादिसंयोगं वदन्ति विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिरिति भरतोक्तिः ।

न्दात्मक एव विविधरसभावसंदोह उत्पद्यते यः स दक्षिणः पक्ष उच्यते। ततः स्पर्शादिभिः पूर्वविलक्षणः प्रकृष्टानन्दसंदोहो यः स उत्तरः पक्ष उच्यते। नानाविधपक्षसमूहात्मकत्वात्तयोः पक्षयोर्युक्तं तथात्वम्। स्थायिभावस्यैकरूपत्वादात्मत्वमुच्यते। यतस्तत एव विभावादिभिर्विविधभावोत्पत्तिः।

भाष्यप्रकाशः।

तत्रेति आनन्दमयस्वरूपकथने। प्रियस्येति प्रियस्वरूपस्य। तेन श्रुतौ प्रियमिति नपुंसकलिङ्गस्य नानुपपत्तिः। प्रधानाङ्गत्वमुच्यत इति कल्पनयोपदिश्यते इत आरभ्य कल्पनोपदेशो बोध्यः। तत्रायं प्रकारः। आनन्दमयानुभवे निरुपधिप्रीतिरेव मुख्या। 'भक्त्याऽहमेकया ग्राह्यः' इति वाक्ये तस्या एवानुभवजनकत्वकथनात्। नान्यत् साधनान्तरमिति ज्ञापनाय प्रियस्य प्रीतिविषयस्यानन्दस्वरूपस्य प्रधानाङ्गत्वं शिरस्त्वमुच्यते। शिरसा हि पुमानभिज्ञायते, सोऽयमिति। तथा निरुपधिप्रीत्या भगवानिति शिरःशब्दे तत्सिद्धिनिबन्धना गौणी। एवमग्रे, तदेत्यादिना वक्ष्यमाणयोर्भावयोर्दक्षिणोत्तरपक्षत्वेऽपि तथा। ताभ्यामुड्डीयाऽभीष्टदेशं प्राप्नोति। एवं दर्शनस्पर्शजनिताभ्यां भावाभ्यां शीघ्रं

रश्मिः।

तत्रेत्यादि विविधभावोत्पत्तिरित्यन्तम्। प्रियेक्षणादिभिरिति आदिशब्देन पुलकबाष्पादयः। स्पर्शादिभिरिति। आदिनालिङ्गनादयः। एवंविधानन्दे पक्षशब्दप्रयोगपारोक्ष्यतात्पर्यमाहुः नानाविधेति। तयोर्दक्षिणोत्तरपक्षयोर्नानाविधा नीलरक्तपीतहरितादिभेदेनानेकविधाः पक्षास्तेषां समूहात्मकत्वात्। प्रकृते चेक्षणादिभिर्मोदप्रमोदादयः। तथात्वं नानाविधत्वमित्यर्थः। ननु स्थायिभाव एव पूर्णः सन्रसत्वमापद्यते इति सिद्धान्तात्भक्तिरस आनन्दस्य स्थायित्वं न संभवति किं तु प्रेम्णस्तथा च विभावस्थायिभावयोर्वैपरीत्यं युक्तमित्याकाङ्क्षायामथवा तस्य प्रियमेव शिरः इत्यत्र स्थायिनि वक्तव्ये आलम्बनवैशिष्ट्यस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां स्थायिन आनन्दवैशिष्ट्येऽस्ति प्रयोजनमित्याशयेनाहुर्यत इत्यादि। एतच्च मान्त्रवर्णिकसूत्रभाष्ये स्फुटिष्यति। तेन शंकराचार्यैर्यदुक्तं यद्यपि अन्नमयादिभ्य इवानन्दमयादन्यो अन्तर आत्मेति श्रूयते तथापि नानन्दमयस्य ब्रह्मत्वं यत आनन्दमयं प्रकृत्य श्रूयते 'तस्य प्रियमेव शिरः मोदो दक्षिणः पक्षः प्रमोद उत्तरः पक्षः आनन्द आत्मा ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इति तत्र यद्ब्रह्म मन्त्रवर्णे प्रकृतं सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति तदिह ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेति पठ्यते। तद्विजिज्ञापयिषयैवान्नमयादय आनन्दमयान्ताः पञ्च कोशाः कल्प्यन्ते इति तन्निरस्तम्। मन्त्रवर्णेऽपि तस्य ब्रह्मणः साधनशेषत्वात्। प्रकृते। अत्र तस्य प्रिय एव शिर इति वक्तुमुचितं प्रियपदेन प्रीतिविषयानन्दस्याभिधानात् तस्य च पुंस्त्वात्। यथा न गन्धवत्सुवर्णमिति प्रयोगोऽपि तु गन्धवती सुवर्णं पृथ्वीविशेषणत्वात् तद्वदिति शङ्कां वारयितुमाहुः प्रियस्वरूपस्येति। तथा च स्वरूपस्य नपुंसकत्वान्नानुपपत्तिरित्याहुः तेनेति। प्रीतिविषयस्येति तेनात्र तस्य प्रियत्वमेव शिरः आनन्द एव शिर इत्यनुक्त्वा प्रीत्याश्रयस्य यच्छिरस्त्वमुक्तं तेन सर्वात्मभावरूपा प्रीतिः स्वाश्रयसंमिश्रितैव स्थायितां भजतीति सूचितम्। तत्सिद्धीत्यादि। अभिज्ञापकत्वगुणसिद्धिनिबन्धनेत्यर्थः। एतेन भक्तेः स्थायिभावः प्रदर्शितः। सालम्बनविभावः। इदानीमनुभावान्निरूपयन्ति तदा प्रियेत्यारभ्य तथात्वमित्यन्तेन भाष्येणेत्याहुः एवमग्र इत्यादि। तथेति ज्ञापकत्वनिबन्धना गौणीत्यर्थः। उपपादयन्ति ताभ्यामित्यादि। ययेति शेषः। प्राप्नोतीति हृदि तथेत्यर्थः। यत्तु शंकरभाष्ये

परमाप्तिसाधनीभूतब्रह्मज्ञानदशायां तदानन्दोऽपि यः पूर्वमनुभूतः स गणितानन्द इत्येतदानन्दानुभवानन्तरं तुच्छत्वेन भातीष्टगतावसाधनत्वेन स्वरूपतोऽपि तस्माद्धीनत्वं चेति पृष्ठभागादपि दूरस्थितपुच्छरूपत्वं ब्रह्मण उच्यते। पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वात् प्रतिष्ठारूपत्वं च। एवं सत्यक्षरादप्युत्तमत्वेऽप्यप्रधानीभूय

भाष्यप्रकाशः।

भगवन्तं प्राप्नोतीति। स्थायिभावस्येत्यादिनाऽऽत्मशब्देऽपि तत्सिद्धिनिबन्धना सा। परमाप्तीत्यादिना च पुच्छशब्दे पूर्वेषामानन्दानां प्रशंसानिबन्धना सा बोध्यते। प्रतिष्ठाशब्देऽपि तथा। एवमवयवेषु परोक्षवादो बोध्यः। तथाच स्वर्णघर्मानुवाके आनन्दरूपं परप्रकाशकं कमनीयं परमेश्वरस्य यत्स्वरूपं ब्रह्मा ज्ञातवान्। स सर्वान्तर्यामी सर्वनियामको बहुधा विचरति यत्र सर्वमेकं भवति स आत्मा जनानां मानसीनश्च मानससंबन्धी। मानसाश्चैते भावा आनन्दरूपा इति तज्जनकस्य यत् स्वरूपं भावरूपं कल्प-

रश्मिः।

ब्रह्मणः प्रकृतत्वेन प्रधानत्वेऽङ्गीकृते आनन्दमयावयवत्वेनापि ब्रह्मणि विज्ञायमाने प्रकृतत्वं न हीयते आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वात् इति प्राप्ते समाहितं तथासति तदेव ब्रह्म आनन्दमय आत्मावयवी, तदेव ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठावयवः, इत्यसामञ्जस्यं स्यादन्यतरपरिग्रहे तु युक्तं ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्यत्रैव ब्रह्मनिर्देशः आश्रयितुं ब्रह्मशब्दसंयोगान्नानन्दमयवाक्ये ब्रह्मशब्दसंयोगाभावादिति तदिदं दूषयितुमक्षरपुरुषोत्तमयोर्गौणप्रधानभावं दर्शयन्तः आनन्दस्य मुख्यतामुपपादयन्ति स्थायिभावस्येत्यादि। आनन्दरूपस्येत्यर्थः। 'आनन्द आत्मा' इति श्रुतेः। तत्सिद्धीति एकत्वनिबन्धना गौणीत्यर्थः। पूर्वेषामित्यादि मानुषानन्दमारभ्य प्रजापतिपर्यन्तानां पूर्वेषामानन्दानां 'ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्दः' इति आनन्दसंबन्धिनी ब्रह्मप्रशंसा तन्निबन्धनेत्यर्थः। पुच्छमपि मयूरादेः सर्वाङ्ग आनन्दोऽस्यैकपुच्छानन्द इति प्रशंसन्ति पुच्छे ब्रह्मानन्द इति किमु वक्तव्यं मोदादिरूपा आनन्दाः कीदृशा आनन्दाः मनोवागविषया इति प्रशंसा च तदा पूर्वेषामवयवानन्दानामित्यर्थः। प्रतिष्ठाशब्द इति पादयोस्तिष्ठतीत्यधिष्ठानत्वनिबन्धना सेत्यर्थः। तथा चानन्दमयवाक्ये ब्रह्मशब्दसंयोगाभावेऽपि मुख्यस्यानन्दशब्दस्य संयोगाद्यत्तैः समाहितं तत्समाहितमिति भावः। यदपि शंकरभाष्ये मुख्यत्वेन स्वीकृते ब्रह्मणि पुच्छत्वप्रतिष्ठात्वोक्तिसमर्थनाय पुच्छवत्पुच्छं प्रतिष्ठापरायणमेकनीडं लौकिकस्यानन्दजातस्य ब्रह्मानन्द इत्येतदनेन विवक्ष्यते नावयवत्वमित्युक्तं तदपि परास्तमनेन। स्वर्णघर्मेत्यादि 'सुवर्णं घर्मं परिवेदवेनं इन्द्रस्यात्मानं दशधा चरन्तम्। अन्तः समुद्रे मनसा चरन्तं ब्रह्मान्वविन्दद्दशहोतारमर्णे। अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां एकः सन् बहुधा विचारः शतं शुक्राणि यत्रैकं भवन्ति सर्वे वेदा यत्रैकं भवन्ति सर्वे होतारो यत्रैकं भवन्ति स मानसीन आत्मा जनानाम्' इत्यनुवाक इत्यर्थः। आत्मपदार्थमाहुः आनन्दरूपमिति। चरन्तमित्यस्यार्थमाहुः पदमिति। घर्मपदार्थमाहुः प्रकाशकमिति। सुवर्णपदार्थमाहुः कमनीयमिति। इन्द्रस्येत्यस्यार्थमाहुः परमेति। अन्वविन्ददित्यस्यार्थमाहुः ज्ञातवानिति। अन्तःप्रविष्ट इत्यस्यार्थमाहुः स सर्वेति। शास्तेत्यस्यार्थमाहुः सर्वेत्यादि। बहुधा विचार इत्यस्यार्थमाहुः बहुधा विचरतीति। शतमित्यादेरर्थमाहुः यत्र सर्वमित्यादि। आनन्दरूपा इति मनसा देवदत्त आनन्दं यातीति प्रयोगात् 'मन आनन्दम्' इति श्रुतेः। भावरूपमिति एतच्च प्रथमस्कन्धे नारदोपाख्याने व्याससमाधिप्रसङ्गे

भक्तकामपूरणकर्तृत्वेऽसंभावना विपरीतभावना च संभवति । तदभावायासन्नेव स भवतीत्याद्युक्तम् । स्वानुभवाभावेऽपि गुरूपदेशादिनापि तदस्तित्वमात्रमपि यो जानाति तं ब्रह्मविदः सन्तं सत्त्वधर्मविशिष्टं वर्तमानं च विदुरित्यग्रेऽस्ति ब्रह्मेति चेदित्यादिना । ब्रह्मासत्त्वज्ञानेऽसन् भवतीत्युक्त्वा तदस्तित्वज्ञाने सन् भवतीत्यनुक्त्वा, सन्तमेनं विदुरिति तस्येनान्यज्ञानं यदुक्तं, तेनोक्तपुरुषोत्तमानन्दानुभववन्तं ज्ञानक्रियाविशिष्टं जीवं वर्तमानं विदुः । अननुभवे केवलं गुरूपदेशादिना तादृग्ब्रह्मास्तित्वज्ञाने स्वरूपतः सन्तं तं विदुर्न तु ज्ञानादिमन्तम् । तदसत्त्वज्ञाने त्वलीकतुल्यमिति श्रुतितात्पर्यमिति ज्ञायते ।

एवं विचारचातुर्यवद्भिः सद्भिर्व्रजाधिपे ।
आनन्दमयतानन्दसंदोहायावधार्यते ॥ ११ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

तया परोक्षवादार्थमुच्यत इति बोध्यः । एतमर्थं दृढीकर्तुम्, 'असन्नेव स भवति' इति श्लोकं व्याकुर्वन्ति एवं सतीत्यादि ज्ञायत इत्यन्तम् । शेषाणां श्रुतीनामर्थस्तु पूर्वोक्तपक्षेष्वपि तुल्य इत्यतोऽग्रे न व्याख्यातम् । एवं परोक्षवादव्याख्यानस्य फलं कारिकयाऽऽहुः एवं विचारेत्यादि । एवमस्मिन् वर्णके आनन्दस्य ज्ञेयकोटिनिवेशे तदनिवेशे चानन्दमयस्य परब्रह्मत्वं निर्बाधमिति प्रभुचरणैर्व्यवस्थापितम् ॥ ११ ॥

रश्मिः ।

'गोप्यश्च कृष्णमुपलभ्य' इत्यत्रान्यत्र स्फुटतरं भूमाधिकरणे च । व्याकुर्वन्तीति अपि चेत्यादिना शंकरभाष्ये असन्नेवेति श्लोक आनन्दमयमननुकृष्य ब्रह्मण एव भावाभाववेदनयोर्गुणदोषाभिधानाद् ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्यत्र ब्रह्मण एव स्वप्रधानत्वमिति गम्यते । न ह्यानन्दमयस्यात्मनो भावाभावशङ्का युक्ता प्रियमोदादिविशेषस्यानन्दमयस्य सर्वलोकप्रसिद्धत्वादिति यदुक्तं तद् दूषयितुमानन्दमयेऽसंभावनाविपरीतभावने संभावयन्त एव व्याकुर्वन्तीत्यर्थः एवं सतीति । एवंविधाक्षरपुरुषोत्तमपरे व्याख्याने सतीत्यर्थः । भाष्ये । सन्तमेनमित्यत्रैतच्छब्दस्यान्वादेश एनादेशात्तदर्थमाहुः ब्रह्मासत्त्वेत्यादिना । सन्तमेनमित्यादि अन्वादेशबोधकैनादेशयुक्तसन्निहिततरपूर्ववाचकैतच्छब्दार्थविषयत्वेनान्यज्ञानं यदुक्तमित्यर्थः । अन्वादेशं वक्तुमाहुः तेनेत्यादि । एतच्छब्दार्थमाहुः पुरुषोत्तमेत्यादि । तथा चैतस्य सन्निहितत्वादेतदेनमित्यस्यार्थ इत्यर्थः । ज्ञानक्रियेत्यादि । अयमर्थः । जीवस्य स्वतो नित्यत्वेन सत्त्वकथनमनुपपन्नं सन्नित्यलीलाप्रविष्टस्वरूपं सत्त्वं वक्तीति । एवं कार्यार्थमुपादानमुक्त्वान्यत्कार्यविधानमाहुः अननुभवेति । तथा च पुरुषोत्तमानुभवार्थमुपात्तस्य तदभावे केवलसत्त्वविधानार्थमुपादानेनान्वादेशादेनमिति प्रयोग इति भावः । असन्नेवेत्यत्र तत्पदादेकमेवार्थमाहुः तदसत्त्वेति । अलीकतुल्यमिति 'आभास एव च' इति सूत्रभाष्योक्तमेतत् । सद्भिरिति प्रच्छन्नबौद्धनिरासार्थम् । व्रजाधिप इति तेन भजनीयत्वं सूचितम् । यतः

'यो बीजावापमारभ्य फलपाकावधि स्वयम् ।
पोषितस्तं व्रजतरुं नाथो नापि जिहासति' ॥

इति अत एव चानन्याधिपतिरिति फलाध्याये वक्ष्यन्ति । अत्र आचार्याणां ग्रन्थ इति सूचयन्ति प्रभुचरणैरिति ॥ ११ ॥

नन्वानन्दमयस्य न ब्रह्मता वक्तुं शक्या । मयटो लोके विकाराधिकारविहितत्वादित्याशङ्क्य स्वयमेव परिहरति ।

विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥ १२ ॥

अनेनैव पूर्वसूत्रार्थः सिद्धो भविष्यति । विकारवाची शब्दो मयट्प्रत्ययो यस्मिंस्तद्विकारशब्दं तस्मात्तच्छब्दवाच्यं ब्रह्म न भवति । ब्रह्मणोऽविकारित्वादिति चेत् । नात्र विकारे मयट्, किं तु प्राचुर्यात् । प्राचुर्यमतति प्राप्नोतीति प्राचुर्यात् । तथाच पाणिनिः । 'तत्प्रकृतवचने मयट्' । प्राचुर्येण प्रस्तुतं वचनं

भाष्यप्रकाशः ।

अतः परमग्रिमसूत्रमवतारयन्ति नन्वित्यादि । मयड्वैतयोर्भाषायामित्यनेन लोके मयटो विकाराधिकारे विहितत्वाद्वैदिकनिर्णयस्यापि वादिबोधनाय लोकन्यायेनैव कर्तव्यत्वादित्याशङ्क्य परिहरतीत्यर्थः । सूत्रं पठित्वा व्याकुर्वते ।

विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥ १२ ॥ अनेनेत्यादि । विकारार्थनिराकरणेनैव पूर्वसूत्रगत आनन्दमयशब्दो यौगिक इति बोधनाभिरवध्यानन्दरूपः परमात्मेति सिद्धो भविष्यतीत्यर्थः । विकारशब्दमिति पदमिति शेषः । अनेन सूत्रांशेन मायावादिवद् भ्रान्ताः प्रागपि ऋषयः सन्तीति, तथा प्राचुर्यादित्यनेन व्याकरणान्तरे प्राचुर्येऽपि मयडस्तीत्यपि बोधितम् । तथापीदानीं पाणिनीयस्यैवात्यादृतत्वात् प्रसिद्धत्वाच्च प्राचुर्यार्थे तत्संमतिमाहुः तथा चेत्यादि । ननु पाणिनीये सूत्रे तत्प्रकृतवचने मयडुक्तो, न प्राचुर्ये इति कथं तस्य संमतित्वेनोपन्यास इत्याकाङ्क्षायां व्याकुर्वन्ति प्राचुर्येणेत्यादि । सूत्रं तु काशिकायामेवं व्याख्यातम् । तदिति प्रथमा समर्थविभक्तिः । प्राचुर्येण प्रस्तुतं प्रकृतम् । तथाच, प्रथमान्तात् समर्थात् प्रकृतोपाधिकेऽर्थे वर्तमानात् स्वार्थे मयड् भवतीति । उदाहरणं तु प्रकृतमन्नमन्नमयमिति । अपरे तु प्रकृतमुच्यतेऽस्मिन्निति प्रकृतवचनम् । उदाहरणं तु प्रकृतमन्नमुच्यतेऽस्मिन्नित्यन्नमयो यज्ञ इति । उभयथा च सूत्रप्रणयनाद् द्वयमपि प्रमाणमिति । अयमेवार्थः प्रसादेऽनूदितः । सिद्धान्तकौमुद्यां तु तथानूद्य प्राचुर्येण प्रस्तुतं प्रकृतं तस्य वचनं प्रतिपादनमिति व्याख्यानेन सूत्रे षष्ठीतत्पुरुषो बोधितः । मनोरमादिषु तट्टीकासु तु यद्यपि प्रकृतशब्दः प्रस्तुतमात्रे रूढस्तथापि वचनग्रहणसामर्थ्याद् यादृशस्य प्रकृतस्य लोके प्रत्यायनमभिप्रेतं तत्रायं मयट् स्यादिति विशेषो लभ्यत

रश्मिः ।

विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥ १२ ॥ सन्तीतीति बोधितमित्यनेनान्वयः । एवं प्रकारान्तरेण सूत्रव्याख्याने बीजं वक्तुमन्येषु व्याख्यानेष्वस्वरसं प्रदर्शयन्तोऽनुवदन्ति सूत्रं त्वित्यादि । उभयथेत्यादि ल्युटो भावार्थत्वेऽधिकरणार्थत्वे च सूत्रप्रणयनं संभाव्येत्यर्थः । तथानूद्येति भावेऽधिकरणे च ल्युटं तयोरुदाहरणं चानूद्येत्यर्थः । अत्र ल्यप्प्रत्ययः पूर्वकाल इत्यस्याविवक्षायां कौमुद्यां व्याख्यानोत्तरकाले तदननुवादात् मनोरमाशब्दरत्नौ योजयित्वाहुः यद्यपीति । प्रत्यायनमभिप्रेतं तत्रेत्यादि मयटाभिप्रेतम् । प्रकृतमुच्यतेऽस्मिन्निति ल्युडधिकरण

तत्प्रकृतवचनं, तस्मिन् मयट्प्रत्ययो भवतीत्यर्थः।

भाष्यप्रकाशः।

इत्युक्त्वा स्वार्थिकप्रकरणवशात् प्रचुरार्थबोधविषयवृत्तिमतः प्रातिपदिकात् स्वार्थे मयड्विधाने प्रातिपदिकार्थोपस्थापिका प्रथमा विभक्तिः प्रकृतावर्थादेव सिध्यतीति वचनपदस्य भावव्युत्पत्तौ तच्छब्दग्रहणं व्यर्थम्। अधिकरणव्युत्पत्तौ तु प्रथमाप्रापकत्वात् सार्थकम्। उच्यमानता प्रकृतता च प्रकृत्यर्थविशेषणम्। ल्युटोक्तमधिकरणत्वं तु मयडर्थ इत्युक्तम्। शब्देन्दुशेखरे तु स्वार्थिकप्रकरणविरोधादधिकरणत्वं मयडर्थ इत्यसंगतम्। न चान्नमयो यज्ञ इत्याद्युदाहरणासिद्धिः। प्राचुर्यवदधिकरणलक्षकाच्छब्दात् स्वार्थे मयट्करणेऽपि तत्सिद्धेः। वृत्तेरप्यत एव संगतेश्च। सूत्रे तु तद्ग्रहणं चिन्त्यप्रयोजनमित्युक्तम्। तदेतत् सर्वं

रश्मिः।

उक्तः। प्रचुरेति प्रचुरार्थविधविषया वृत्तिः तद्वतः वृत्तिः कृद्रूपा। प्रकृताविति सामीप्ये सप्तमी। अर्थात् स्वार्थिकप्रकरणवशादेव। तच्छब्देति प्रथमासमर्पकस्य ग्रहणम्। उच्यमानतेत्यादि। इदं च प्रथमपक्ष एव। उच्यते इति वचनं उच्यमानं भावप्रधानो निर्देशः उच्यमानता। अत्रेदं ध्येयम्। प्रकृत इति लुप्तसप्तम्यन्तं भिन्नं वचन इति च प्रकृत्यर्थः। कस्य वचनाधिकरणत्वमित्यपेक्षायां सन्निधानात् भवन्मयोवनिपतिः तन्निष्ठोच्यमानता न गौणनिष्ठोच्यमानता प्रकृत्यर्थस्यैव लाभात् तस्यैवोच्यमानतेति। अन्यथा वचनशब्दीयप्रकृतिप्रत्ययार्थयोः प्रकृत्यर्थस्य मयट्प्रकृत्यर्थविशेषणता ल्युडर्थस्य प्रकृतमन्नमन्नमयमन्नमयो यज्ञ इत्यादावन्नादिरूपः। द्वितीयपक्षे विधेयप्रत्ययविशेषणत्वसंगतं स्यात्। उच्यमानता प्रकृत्यर्थस्य प्रायिकी। अत एव भवतीप्रचुर इत्यर्थे भवन्मय इति दृश्यते। ल्युटोक्तमिति ल्युडुक्तं वचनाधिकरणत्वं त्वित्यर्थः। मयडर्थ इति न चैवं स्वार्थिकप्रकरणविरोधः। आद्ये तत्प्रकरणपाठस्य चरितार्थत्वादिति शब्दरत्नकारः। शब्देन्दुशेखरे त्विति एतदग्रे एतावती त्रुटिरत्र भाति। वचनपदस्य भावार्थकल्युडन्तत्वपक्षे प्रचुरस्य वचने बोधने सति प्रातिपदिकात्प्रत्यय इत्यर्थः। प्रचुरार्थबोधकात्तदिति प्रथमासमर्थात् स्वार्थे मयडिति यावत्। अधिकरणार्थकल्युडन्तत्वपक्षे तु प्राचुर्येण प्रस्तुतान्तादिति वचनात् प्रथमासमर्थादधिकरणेऽर्थे द्योत्ये मयट्प्रत्यय इत्यर्थः। प्रकृतेति लुप्तसप्तम्यन्तं तत्र वर्तमानादिति तस्यार्थः। अस्मिन् पक्षे वचन इत्यत्र प्रकृत्यर्थोऽविवक्षितः। तेन 'निजामयोध्यामपि पावनीमयं भवन्मयो ध्यायति नावनीपतिः' इति प्रकृत्यर्थाधिकरणमात्रे मयडुपपन्नतरः। तथैवार्थद्वये सूत्रतात्पर्यं व्याख्यानात्। स्वार्थिकप्रकरणपाठस्तु आद्यपक्षे चरितार्थ इत्युक्त्वा वस्तुतस्त्वथ स्वार्थिका इत्यस्य प्रायेणेत्यादिर्बोध्यः। 'जात्यन्ताच्छ बन्धुनि' 'देवतान्तात्तादर्थ्ये यत्' इत्यादौ वाचकताया एव प्रतीतेः। बन्धुनीत्यस्य शोभनजातिव्यञ्जकद्रव्य इत्यर्थः। तत्पदग्रहणं वाक्यभेदेन प्राचुर्याभावेप्यत्यन्तस्वार्थिकमयडर्थं तेन चिन्मयं ब्रह्मेत्यादि सिद्धमिति स्थितम्। ग्रन्थान्तरे त्विति। ननु कथं तर्हि विकारशब्दसूत्रे तन्मयट्परतयेति वृत्तिरतआह वृत्तेरिति। अतएवेति प्राचुर्यवत अन्नादादेरधिकरणयज्ञलक्षकाच्छब्दात् स्वार्थे मयडङ्गीकारादेवेत्यर्थः। अन्नमाधेयं यज्ञोऽधिकरणमित्याधाराधेयभावसंबन्धो लक्षणा अन्नादिशब्दा लक्षकाः। एवमनूद्य तत्रास्वरसप्रदर्शनपुरःसरं प्राचुर्येणेत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति तदेतदित्यादि।

---

१. भवती इत्यस्याधिकरणे।

प्राचुर्येण पूर्वापेक्षयाऽप्याधिक्येन, 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्' इति वाक्ये प्रकर्षेण स्तुतम्। अतो मयट् पूर्वापेक्षया प्राचुर्यमयते। एकदेशनिर्देशेन तदर्थलक्षणया प्राचुर्यः। प्राचुर्येण प्रस्तुतार्थवाचकत्वादित्यर्थ इति वा।

भाष्यप्रकाशः।

वृत्तिविचारादेवानुसंधाय तद्ग्रहणं वैयर्थ्यनिवृत्त्यर्थम्। तेन प्रकृतं तत्प्रकृतम्, उच्यत इति वचनमवश्यप्रतिपादनम्। प्राचुर्येण प्रस्तुतस्य वचनं तत्प्रकृतवचनम्। तत्र तथेति सूत्रार्थः। तथाच तच्छब्दस्य विवक्षितप्रकारबोधनार्थत्वाद्वचनपदस्यावश्यकार्थत्वादेवं सूत्रार्थोक्तौ संमतित्वं निर्बाधमिति तथेत्यर्थः। स्वोक्तं विभजन्ते प्राचुर्येणेत्यादि। पूर्वापेक्षयेति अन्नमयादिचतुष्टयापेक्षया। ननु प्राचुर्येण प्रस्तुतेऽर्थेऽनुशिष्टो मयट् कथं प्राचुर्यबोधक इत्यत आहुः एकदेशेत्यादि। यथा हि भीमसत्यादिपदानि, विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्वा लोपो वाच्य इति वार्तिकेनैकदेशभूतान्यपि विशिष्टार्थनामानि, तथात्र नामत्वाभावेन वक्तुमशक्यत्वाल्लक्षणया प्राचुर्येण प्रस्तुतं बोधयतीत्यर्थः। पूर्वस्मिन् पक्षे कल्पनाक्लेशात् प्रकारान्तरेण व्याख्यातम्। तथाच पञ्चम्यन्तमिदं पदम्। तेन न कल्पनाक्लेश इत्यर्थः। ननु, मयड्वैतयोर्भाषायामिति सूत्रे विकल्पस्य भाषायां सिद्धेर्वेदे नित्यं विकारे मयट्। किं च, 'नित्यं वृद्धशरादिभ्यः' इत्यग्रिमसूत्रे भाषायामित्यस्यानुवृत्त्या भाषायां नित्यो, वेदे वृद्धादिभ्यो वैकल्पिक इति सिध्यति। एवं सत्यानन्दशब्दस्य वृद्धत्वात्

रश्मिः।

वृत्तिविचारादेवेति वृत्तिविचारस्तु तत्प्रकृतवचने मयट् प्राचुर्येण प्रस्तुतं प्रकृतं तस्य वचनं भावेऽधिकरणे वा ल्युडिति वृत्त्यर्थमाहुः तेन प्रकृतमित्यारभ्य तथेत्यन्तम्। सूत्रार्थ इति। अत्रेदं बोध्यम्। प्राचुर्यं तत्पदार्थः। प्रस्तुतः प्रकृतपदार्थः। प्रतिपादनं च वचनपदार्थः। प्रत्ययार्थविशेषणमिदं स्वार्थिकत्वस्य प्रायिकत्वात्। एवं च न तत्पदवैयर्थ्यं न वा प्रकृतपदस्य लक्षणया प्राचुर्येण प्रस्तुतस्य बोधकत्वं न वा प्रकृतपदे लुप्तविभक्त्यन्तत्वकल्पनं न वा वचनपदप्रकृत्यर्थत्यागः। अन्नमयो यज्ञ इति तु प्रतिपादनमित्यत्राधिकरणल्युटमाश्रित्य चिदेव चिन्मयमिति च प्रकृतवचने मयडिति योगविभागेन सिध्यतीति। विवक्षितेति प्राचुर्यरूपप्रकारबोधनार्थत्वादित्यर्थः। आवश्यकेति भावव्युत्पत्त्यावश्यकत्वं द्योत्यते, प्रतिपादनविषयत्वात्। प्राचुर्येणेत्यादीति। भाष्ये। तत्प्रकृतेति तेन प्रकृतं तत्प्रकृतं तस्य वचन इत्यर्थः। ननु स्वार्थिकाधिकारात् तदित्यस्य प्रथमान्तात्समर्थादित्यर्थो न तु तेन प्राचुर्येणेत्यर्थः इति चेन्न। तस्यार्थस्य 'समर्थानां प्रथमाद्वा' इत्यधिकारसूत्रलभ्यत्वात् वचनशब्दो भावल्युडन्तः। लक्षणयेति पदस्वारस्यमाहुः यथेत्यादि। वार्तिकेनेति तद्धिते स्वार्थिकाधिकारस्थेनेत्यर्थः। लक्षणयेति अवयवावयविभावसंबन्धो लक्षणा। प्राचुर्येण प्रस्तुतमवयवि, प्रस्तुतमवयव इति तेन भाष्ये तदर्थलक्षणयेत्यस्य प्राचुर्येण प्रस्तुतेऽर्थे लक्षणयेत्यर्थः। तथा च प्राचुर्यान्मयडित्यत्र हेतुगर्भं विशेषणमिति प्रथमान्तस्य हेतुत्वलाभः। प्राचुर्येणेति भाष्याभिप्रायमाहुः अस्मिन्नित्यादि। कल्पनेति हेतुत्वकल्पनाक्लेशात्। प्रतीतिविरोधोपि द्रष्टव्यः। इदं दूषणं 'तुष्यतु दुर्जनः' न्यायेनेति बोध्यम्। व्याख्यातमिति प्राचुर्येणेत्यादिना व्याख्यातमित्यर्थः। इदमिति प्राचुर्यादिति पदमित्यर्थः। आनन्दशब्दाद्विकारार्थे मयट् चतुर्भिः प्रकारैर्मनोरमायां प्रसङ्ग साधितस्तत्र तृतीयं प्रकारमाशङ्काशुस्तेनाहुः किंचेत्यादि। वृद्धत्वादिति 'वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्' इतिसूत्रेण

छन्दसि ब्रह्मव्यतिरिक्तस्थले मयटो विकारे विधानाभावाद् व्याकरणमप्यर्थनिर्णायकम्। विज्ञानमयानन्दमयशब्दौ पश्यन्नपि पाणिनिः 'मयड् वैतयोर्भाषायाम्', 'अभक्ष्याच्छादनयोः'... 'द्व्यचश्छन्दसि' इति कथमवोचत्।

भाष्यप्रकाशः।

ततो वैकल्पिको, विज्ञानशब्दाच्च नित्यो विकारे मयडव्यवारितः। अन्नादिपदेभ्यश्च स्वारसिक एवेति प्रायपाठानुग्रहाद् विकारार्थ एव युक्त इति तं विहाय प्राचुर्ये तदङ्गीकारो न युक्त इत्यत आहुः छन्दसीत्यादि। ब्रह्मव्यतिरिक्तस्थल इति बह्वच्स्थले। तथाच यदि सूत्रकारः पाणिनिस्तथाभिप्रेयात् तदा छन्दसि बह्वज्व्युदासाय द्व्यच एवेति न नियमयेत्। अतो नित्यो वैकल्पिको वा मयट् छन्दसि बह्वचो विकारे न भवत्येवेति पाणिनीयविचारेणापि प्राचुर्यार्थग्रहणं युक्तमेवेत्यर्थः।

अत्र शङ्कराचार्याः। अन्नमयादिविज्ञानमयान्तं विकारप्रायपाठमनादृत्यानन्दमयपदस्य प्राचुर्यार्थत्वब्रह्मविषयत्वयोरङ्गीकारे प्रायपाठविरोध आकस्मिकत्वं च। मान्त्रवर्णिकब्रह्माधिकाराद् ब्रह्मविषयत्वादरणेऽन्नमयादीनामपि ब्रह्मत्वप्रसङ्गः। अन्नमयाद्यान्तरस्यान्यस्य कथनात्तेषां न ब्रह्मत्वम्। आनन्दमयादन्तरस्यान्यस्याकथनात् तस्य ब्रह्मत्वमित्यङ्गीकारेऽप्येकस्यैवानन्दमयस्य ब्रह्मण आत्मत्वेनावयवित्वं, तस्यैव पुच्छत्वेनावयवत्वमित्यसामञ्जस्यम्। किं च। प्रियमोदादिविशेषयुतस्यानन्दमयस्य सर्वलोकप्रसिद्धत्वेन भावाभावशङ्कास्पदत्वाभावात् 'असन्नेव स भवति' इतिश्लोकस्यापि विरोधः। अपि चानन्दमयस्य ब्रह्मत्वेऽपि प्रियाद्यवयवयोगेन सविशेषब्रह्मत्वमङ्गीकर्तव्यम्। तथा सति वाङ्मनसाऽगोचरत्वबोधकस्य, 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति वाक्यशेषस्य विरोधः। किं चानन्दप्रचुर इत्युक्ते तत्र दुःखास्तित्वस्यापि प्रत्ययापत्तिः। लोके प्राचुर्यस्य प्रतियोग्यल्पतासापेक्षत्वात्। तथाच सति यत्र नान्यत् पश्यति शृणोति विजानातीति सुखैकरसे भूम्नि ब्रह्मणि तद्व्यतिरिक्ताभावबोधकश्रुत्यन्तरस्यापि विरोधः। किं च। प्रियादेः प्रतिशरीरं भिन्नत्वेनानन्दमयस्यापि तथात्वात् तस्य न ब्रह्मत्वं शक्यवचनम्। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति श्रुतौ, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' इति श्रुत्यन्तरे च ब्रह्मण आनन्त्यैकत्वयोः श्रवणात्। किं च। आनन्दपदस्यैवाभ्यासो, न त्वानन्दमयपदस्येत्यतोऽपि न ब्रह्मत्वम्। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामतीत्यभ्यासस्त्वन्नमयादिप्रवाहपतितत्वान्न ब्रह्मत्वसाधनसमर्थः। अत आनन्दमयशब्दस्य ब्रह्मविषयताया अनिश्चितत्वेन तत उत्तरेष्वानन्दमात्रप्रयोगेष्वा-

रश्मिः।

तथात्वादित्यर्थः। 'द्व्यचश्छन्दसि' इतिसूत्रादाहुः एवेति। एतेन विज्ञानमयानन्दमयशब्दावित्यादि भाष्यमपि व्याख्यातप्रायम्। व्याकरणमित्यादि भाष्यं तु ननु पाणिनिनानुक्तेपि शंकरभगवत्पादभाष्योक्त्या विकारे व्यचोपि मयड् भविष्यतीति चेत्तत्राहुः व्याकरणमिति व्याकरणमप्यर्थनिर्णायकं न तु तदुक्तेरेवेत्यर्थः। तदुक्तिस्तु क्रीडान्तरे चरितार्था नात्र निविशत इति च योज्यम्। यद्वा श्रुत्या निर्णीतं व्याकरणं नापेक्षत इत्यत आहुः व्याकरणमिति अङ्गत्वादर्थनिर्णायकमित्यर्थः। सूत्रेण ज्ञाप्यते अन्यानि पञ्चाङ्गानि वेदे एवेति। प्रतियोगीति आनन्दप्रचुर इत्युक्ते प्रतियोगिनो दुःखस्याल्पता तत्सापेक्षत्वात्। आनन्दो दुःखं च द्वन्द्वत्वात् संबन्धि ?। तथा चेति अल्पप्रतियोगि-

अत्र केचित् सर्वविप्लववादिनो विकारार्थत्वं वदन्ति। श्रुतिसूत्रादीनामर्थाज्ञानात्। तद् वेदाद्यर्थविद्भिर्भगवतो नवमावतारकार्यं ज्ञात्वोपेक्ष्यम्।

भाष्यप्रकाशः।

नन्दमयाभ्यासस्य कल्पयितुमशक्यत्वान्नानन्दमयो ब्रह्मेत्याहुः।

तन्मतस्याधिकरणसमाप्तौ दूषणीयत्वादत्रैतत्सूत्रे पूर्वपक्षतयोदितमानन्दमयपदस्य विकारार्थत्वं यत् सिद्धान्तितं, तस्यासंगतत्वायाहुः अत्र केचिदित्यादि। अत्रानन्दमयशब्देऽन्नमयादिषु पञ्चस्वपि वा केचिन्निर्विशेषवादग्रहिला विवर्तवादाद्यङ्गीकारेण भगवन्माहात्म्यादिनाशकत्वात् सर्वविप्लववादिनो विषयवाक्याकरश्रुतेस्तद्विचारकाणां व्याससूत्राणां व्याकरणसूत्राणां च तात्पर्याज्ञानाद् विकारार्थत्वं वदन्ति। तत उक्तश्रुत्याद्यर्थविद्भिर्भगवतो नवमावतारस्य बुद्धस्य कार्यं वेददूषणरूपं ज्ञात्वोपेक्ष्यम्। पाद्मोत्तरखण्डे उमामहेश्वरसंवादे तामसशास्त्रकथनं प्रतिज्ञाय कानिचिदसच्छास्त्राण्युक्त्वा,

'मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते।
मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा॥
अपार्थं श्रुतिवाक्यानां दर्शयँल्लोकगर्हितम्।
कर्मस्वरूपत्याज्यत्वमत्रैव प्रतिपाद्यते॥
सर्वकर्मपरिभ्रष्टं वैकर्मत्वं तदुच्यते।
परेशजीवयोरैक्यं मयात्र प्रतिपाद्यते॥
ब्रह्मणश्च परं रूपं निर्गुणं वक्ष्यते मया।
सर्वस्य जगतोऽप्यत्र मोहनार्थं कलौ युगे॥
वेदार्थवन्महाशास्त्रं मायावादमवैदिकम्।
मयैव वक्ष्यते देवि जगतां नाशकारणात्'॥ इति।

शिववाक्याद् वेदाद्यर्थविद्भिर्नादरणीयमित्यर्थः। नच प्रायपाठविरोधः। विकारार्थस्य प्राणमयपद एवाभावात्। प्राणादीनां त्रयाणां वृत्तित्वेनाकाशपृथिव्योश्च भूतान्तरत्वेन तदवयवकल्पनाग्रन्थतस्तत्र मयटः स्वार्थिकत्वस्यैव भट्टभास्करोक्तरीत्या निश्चयात्।

रश्मिः।

स्वीकार इत्यर्थः। भगवदिति आदिशब्देनैक्यज्ञानं नहि खपुष्पशब्दार्थो नापि विवर्ते ऐक्यमुत्पाद्यं प्रतियोग्यभावात्। अतो भक्तिकारणनाशकत्वात्सर्वेषां भक्तिमुख्यत्वेन तदभावे नाशः। भगवन्माहात्म्यस्तुतिः साधनाभावाच्च च्युतिमात्रं किं तु विप्लवः संसारसागरे मज्जनम्।

'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्'॥

इतिवाक्यात्। अच्युतभावेपि निर्गुणा भक्तिरेव। सगुणा तु निन्द्यते तृतीयस्कन्धकपिलवाक्येष्विति। अतः सर्वेभ्यो विगतः प्लवो भक्तिर्यस्माद्वादात्तादृशवादो येषां ते सर्वे विप्लववादिनः। तात्पर्येति अत्रैव स्पष्टमिदं प्रमेयम्। कुतोऽभाव इत्यतोऽसंभवादित्याहुः प्राणादीनामिति तस्य 'प्राण एव शिरः व्यानो दक्षिणः पक्षः अपान उत्तरः पक्षः' इत्येषां त्रयाणां वायुवृत्तिविशेषत्वेनेत्यर्थः। आकाशेत्यादि 'आकाश आत्मा पृथ्वी पुच्छं प्रतिष्ठा' इति श्रुत्युक्तयोरित्यर्थः। स्वार्थिक इत्यस्यैवेति स्वार्थः प्रातिपदिकार्थः स इमे प्राणादयः पञ्चेत्येवकारः। निश्चयादिति

भाष्यप्रकाशः ।

नच घटाकाशस्य घटविकारत्ववत् प्राणाद्युपाध्यवच्छिन्नस्य प्राणविकारत्वं भामत्युक्तरीत्या सिद्ध्यतीति प्रायपाठसिद्धिरिति वाच्यम् । एतस्या रीतेर्मज्जत्फेनालम्बनकल्पत्वात् । अवच्छिन्ने तद्विकारत्वस्याप्रत्ययात् । शास्त्रेषु क्वापि तथाप्रयोगादर्शनाच्च । तुष्यतु दुर्जनन्यायेन तदङ्गीकारेऽपि तस्य सत्यामुभयत्र प्राप्तावेकतरनिर्णायकत्वं, न तु तत्प्रापकत्वमिति द्व्यचश्छन्दसीति व्याकरणसूत्रेण, न बह्वृच इति नियमिते विज्ञानानन्दशब्दाभ्यां वैकारिकमयट्प्राप्तेरेवाभावेनाऽकिंचित्करत्वाच्च । नच मनोरमादिषु, 'मयड् वा' इति सूत्रेण, हेतुमनुष्येभ्य इत्यनुवर्तमाने हेतुवाचकानन्दशब्दादागतार्थे मयटं साधयित्वा विकारस्यार्थिकत्वमुक्तमित्यस्त्येव प्राप्तिरिति वाच्यम् । पञ्चस्वप्यन्नमयादिषु स्वार्थे मयट्प्राप्तौ बाधकाभावेन वृथा तदतिहायैवं क्लिष्टकल्पनस्यायुक्तत्वात् । हेतुत्वस्य निमित्तोपादानसाधारणत्वेन विकारस्यार्थिकताया निर्णेतुमशक्यत्वाच्च । नचानन्दप्राचुर्यस्योक्तरीत्या दुःखशाबल्यस्फोरकत्वेनानन्दमये ब्रह्मत्वसिद्ध्यभावादागतार्थमादाय विकारादरणेऽपि को दोष इति वाच्यम् । लोकेऽपि प्रचुरप्रकाशः सविता, प्रभूतसन्तापो निदाघदिवसोऽन्धकारमयी वर्षाविभावरी, बहुधनो वैश्रवण इत्यादिवाक्यश्रवणे प्रतियोगिनां तमःशैत्यप्रकाशदारिद्र्याणां प्रत्यक्षतो बाधेन तत्र तदल्पत्वशङ्काया अनुदयात् । वेदे तु सर्वभूतोपजीव्यांशानन्दप्राचुर्यबोधके दूरापेतैव प्रतियोग्यल्पत्वशङ्का । यदि हि तत्र वेदो दुःखसंभेदमभिप्रेयादवयवकल्पनायां तदपि क्वचिन्निवेशयेत् । सजातीयैरेवार्थैरवयवकल्पनाया अनुपक्रान्तत्वात् । आकाश आत्मा पृथिवी पुच्छं महः पुच्छमित्यादिना तथा निश्चयात् । यच्च शारीर आत्मेति शरीरसंबन्धबोधनं दुःखसंभेदमर्थकमित्युक्तं, तदप्यन्तर्यामिब्राह्मणाननुसंधानहेतुकम् । अत एवं सत्यपि यत् तदविचारेणानन्दमये दुःखास्तित्वकथनं, तद् ग्रन्थकृतो महादुःखसंस्कारस्य प्राबल्यमेव गमयतीति दिक् ।

भास्कराचार्यास्तु स्वरूपैक्ये प्राचुर्यवचनं प्रचुरप्रकाशो रविरितिवदितराल्पत्वमपेक्षत इत्याहुः ।

रामानुजाचार्यास्तु, तत्प्रचुरत्वमितरसत्तां नावगमयति । अपि तु तस्याल्पत्वं निव-

रश्मिः ।

तथा च प्राणाकाशपृथिवीप्रचुरे प्राणमये प्राणविकारत्वासंभवान्न 'द्व्यचश्छन्दसि' इति विकारे मयडित्यर्थः । मज्जदित्यादि मज्जतो यत्फेनावलम्बनं तत्तुल्यत्वादित्यर्थः । तथाप्रयोगेति घटाकाशो घटविकार इति प्रयोगाभावादित्यर्थः । तस्येति प्रायपाठस्येत्यर्थः । तत्प्रापकत्वमिति विकारे मयट्प्रापकत्वमित्यर्थः । मनोरमोक्तं चतुर्थं प्रकारमाशङ्क्य पराकुर्वन्ति न च मनोरमेत्यादि । आर्थिकत्वमिति यो यतो निर्गतः स तस्य विकार इति लोकप्रसिद्धेः । अशक्यत्वादिति उपादानस्यैव विकारदर्शनादिति भावः । मनोरमायां प्राचुर्ये मयट्यपि प्रकृत्यर्थविरोधिनो लेशतोनुवृत्तिलाभात् प्रकृते विकारार्थः पर्यवसतीत्युक्तम् । तत्र तत्पर्यवसानं कथमिति चिन्त्यमिति शब्दरत्नकारः । तत्र चिन्तितप्रकारमुखेन हेतुग्रन्थेन शब्दरत्नमुत्क्षिपन्तो द्वितीयप्रकारमाशङ्क्य निषेधन्ति न चानन्देत्यादि । एवं शब्दरत्नमाक्षिप्य मनोरमोक्तमाशङ्क्य तन्निषिद्ध्य तत्र हेतुमाहुः लोकेपीति । तदपीति दुःखमपीत्यर्थः । आकाशेत्यादि आकाशपृथिव्योः प्राणमयावयवयोर्विजातीयत्वं विज्ञानमयावयवस्य महसो विजातीयत्वमिति तथेत्यर्थः । आदिना योग आत्मेति ज्ञानमयावयवस्य योगस्य विजातीयत्वम् । अन्तर्यामीत्यादि । तत्र सर्वेषां ब्रह्मशरीरत्वकथनादिति भावः । इतराल्पमिति दुःखस्य लेशमित्यर्थः । इतरसत्तामिति दुःखसत्तामित्यर्थः । तस्येति आनन्दस्येत्यर्थः ।

योऽर्थऽस्तमवोचाम ॥ १२ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

र्तयति । इतरसद्भावासद्भावौ तु प्रमाणान्तरावसेयौ । इह त्वपहतपाप्मेत्यादिना प्रमाणान्तरेण तदभाव एवावसीयते । तथा आनन्दमीमांसायां ब्रह्मणि निरतिशयदशाशिरस्कानन्दबोधिकया श्रुत्या पूर्वोक्तजीवानन्दापेक्षया प्राचुर्यबोधनेन सापेक्षत्वमप्येवं पूर्यत इति दुःखसद्भावावगमकथनमसदित्याहुः । तदपि युक्तमेव । उपपन्नत्वात् ।

यत्तु, 'श्रीग्रामण्योश्छन्दसि' इत्यत्र श्रियश्छन्दसीत्यंशे भाष्यकृता छन्दसि विभाषाया व्यवस्थितत्वमुपेत्य प्रत्याख्यातस्तद्रीत्या प्रकृतेऽपि भाषाग्रहणं, 'द्व्यचश्छन्दसि,' 'नोत्वद्वर्ध्रबिल्वात्' इति सूत्रद्वयं च त्याज्यम् । तथाचानन्दमय इत्यादावपि विकारे मयट् सुकर एवेति शंकराचार्योक्तं सम्यगेवेति मनोरमायां समर्थितम् । तत्तु विकारत्वप्रकारकबोधविवक्षायां बह्वृचः परस्य मयट्प्रत्ययस्यासाधुत्वज्ञापनाय, 'द्व्यचश्छन्दसि' इत्यादेरावश्यकत्वेन दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यादिति दूषणं प्रदर्श्य रामकृष्णशास्त्रिभिरेव सिद्धान्तरत्नाकरे दूषितमिति न कथमपि विकारे मयट्सिद्धिः । यदपि प्राचीनवृत्तिकारैर्विज्ञानमयस्थले विकारार्थकत्वं यदाश्रितं तत्रैवैव गतिरिति मनोरमायामुक्तम् । तदपि कल्पितमिवाभाति । रामानुजाचार्यैर्वृत्तिकारानुसरणस्य कृतत्वेन तैरननूदितत्वात् । अथास्ति तत्र तर्हि तत्रैव दोषो नान्यत्रेति, न किंचिदेतत् । किं च पूर्वसूत्रे, अभ्यासादित्युक्त्वाऽस्मिन् सूत्रे प्राचुर्यादिति यदुक्तं तेनान्नमयादिषु पञ्चस्वपि प्राचुर्यमेव बाधकाभावात् सिद्ध्यतीति प्रायपाठोऽप्येतस्यैवानुग्राहको, न तु विकारार्थस्येति बोधनायाहुः **योऽर्थस्तमवोचामेति** । यः सर्वत्रानुस्यूतः पञ्चानामर्थस्तं व्याकरणसूत्रोपन्यासेनावोचामेत्यर्थः ॥ १२ ॥

रश्मिः ।

अपाप्मेति पापमपि दुःखं पापजनकत्वादिति भावः । तदभाव इति दुःखाभावः । प्रथमं प्रकारमाहुः यत्त्वित्यादि । श्रीति आमो नुडिति वृत्तिः । श्रीणामुदारो धरुणो रयीणां सूतग्रामणीनामित्युदाहरणम् । त्याज्यमिति सति हि भाषाग्रहणे शरमयं बर्हिरित्यादिसिद्ध्यर्थं द्व्यचश्छन्दसीति वक्तव्यम् । मौञ्जं शिक्यम् । वार्ध्रं चर्म बैल्वो यूप इत्यादौ द्व्यच इति प्राप्तं प्रतिषेद्धुं नोत्वदिति सूत्रमारब्धव्यं भाषाग्रहणे त्यक्ते तु सूत्रद्वयं व्यर्थमिति त्याज्यमित्यर्थः । उत्वान् उकारवान् तथात्रोकारवद्वर्ध्रबिल्वेभ्यो विकारे मयण् न भवतीति सूत्रार्थः । तत्रैवेति वृत्तावेवेत्यर्थः । अभ्यासादिति भाष्य एवमभ्यासः श्रूयते इत्यनेन ग्रन्थेनान्नमयादिव्यावृत्तोभ्यास इत्युक्त्वान्नमयादिव्यावृत्तो हेतुरेवमत्रापि तद्व्यावृत्तो हेतुरित्यर्थो भाति क्त्वाप्रत्ययात् तथापि यदुक्तमित्यस्यान्नमयादिव्यावर्तकभाष्याभावात् तेनान्नेनेत्यादिः । बाधकेति पूर्वसूत्रे एवमितिवत् । अत्र सूत्रे अन्नमयादिपरत्वे सूत्रस्य बाधकभाष्याभावात् । एतस्यैवेति प्राचुर्यार्थस्यैवेत्यर्थः ॥ १२ ॥

१. दृष्टान्ते बाधाभावः.

शब्दबलविचारेण मयटो विकारार्थत्वं निवारितम्। अर्थबलविचारेणापि निराकरोति।

तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥ १३ ॥

हेतुत्वेन व्यपदेशो हेतुव्यपदेशः। तस्य हेतुव्यपदेशस्तद्धेतुव्यपदेशस्तस्मात्। 'एष ह्येवानन्दयाति' इति। आनन्दयतीत्यर्थः। सर्वस्यापि विकारभूतस्यानन्दस्यायमेवानन्दमयः कारणम्। यथा विकृतस्य जगतः कारणं ब्रह्म अविकृतं सच्चिद्रूपमेवमेवानन्दमयोऽपि कारणत्वादविकृतोऽन्यथा तद्वाक्यं व्यर्थमेव स्यात्। तस्मान्नानन्दमयो विकारार्थः। चकारः समुच्चयं वदन् सूत्रद्वयेनैकोर्थो मध्ये प्रतिपादित इत्याह ॥ १३ ॥

भाष्यप्रकाशः।

उक्तसूत्रेण विकारार्थे निरस्तेऽग्रिमसूत्रस्य किं प्रयोजनमित्यत आहुः शब्देत्यादि। 'तामिन्द्रो मध्यतोऽपरोच्य व्याकरोत्' इति श्रुतेः 'मुखं व्याकरणं स्मृतम्' इति परिशिष्टाच्च व्याकरणरूपः शब्दोऽर्थनिर्णायक इति तद्बलविचारेण तथाकृतम्। तदपेक्षया अर्थस्तु बलिष्ठः। प्रतिपाद्यत्वेन शेषित्वात्। उक्तरीत्या निराकरणे स चेद् विरुध्येत तदा प्रयासो व्यर्थः स्यादतस्तद्वारणाय सूत्रान्तरमित्यर्थः।

तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥ १३ ॥ उक्तरीतिकं विकारार्थनिराकरणं व्युत्पादयन्ति सर्वस्येत्यादि। व्यर्थमेव स्यादिति 'रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' इति पूर्ववाक्ये पूर्वप्रकृतस्यानन्दमयस्यैव रसत्वेन सिद्धत्वात् तल्लाभेनानन्दवत्ताश्रावणेनैव रसरूपस्यानन्दमयस्यानन्दकारणताया अर्थतः सिद्धौ पुनस्तत्कथनमप्रयोजनकं सत् तथास्यादतः कारणत्वेनाविकृतत्वबोधनायैवेदं वाक्यम्। तेनाविकारत्वमेव सिध्यतीत्यर्थविचारेणापि न तथेत्यर्थः ॥ १३ ॥

रश्मिः।

तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥ १३ ॥ भाष्ये। हेतुत्वेनेति भावप्रधानो हेतुरुक्तः। सहकारिकारणतारूपहेतुवारणाय। तस्येति प्रचुरानन्दस्य जीवादिनिष्ठस्य। आनन्दयातीति लडन्तं पदम्। प्रकृते तामिति तां वाचम्। मध्यतो मुखमध्यतः। अपरोच्य ल्यबन्तं पदम्। वैखरीकृत्येत्यर्थः। व्याकरोदिति तामेव व्याकरणमकरोदित्यर्थः। परिशिष्टं वेदोपाङ्गम्। तल्लाभेनेति। आनन्दमयलाभेनानन्दीभवतीत्यानन्दवत्ताश्रावणेनेत्यर्थः। तत्कथनमिति 'एष ह्येवानन्दयाति' इत्यनेन तथेत्यर्थः। अविकृतत्वेति व्यर्थं सत्किंचिज्ज्ञापयतीति वैयाकरणानां प्रसिद्धेः। फलमन्यत्र यतो वा इमानि इति श्रुतौ यच्छब्दार्थकारणाविकृतत्वम्। भाष्ये। एकोर्थ इति विकारार्थनिरासरूप इत्यर्थः ॥ १३ ॥

ननु किमिति निर्बन्धेन सूत्रत्रयेणैवं वर्ण्यते। अन्नमयादिवदुपासनापरत्वेऽपि श्रुत्युपपत्तेः। पक्षपुच्छादित्वेन मोदप्रमोदादीनामुक्तत्वाच्च। तस्माद् ब्रह्मत्वेन साधितमप्यावश्यकोपपत्त्यभावान्न ब्रह्मपरत्वमिति प्राप्तेऽभिधीयते।

मान्त्रवर्णिकमेव च गम्यते ॥ १४ ॥

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' इति मन्त्रः। मन्त्रेणाभिधया वृत्त्या प्रतिपाद्यं मान्त्रवर्णिकम्। तदुपपादनग्रन्थे तदेव मुख्यतया ज्ञायते। यत्र यदुद्दिष्टं तदेव मुख्यतया ज्ञातव्यम्। उपपादनीयं च संदिग्धम्। तत्र, ब्रह्मणा विपश्चितेति संदिग्धं सर्वज्ञं ब्रह्म।

भाष्यप्रकाशः।

मान्त्रवर्णिकमेव च गम्यते ॥ १४ ॥ मान्त्रवर्णिकसूत्रमवतारयन्ति नन्वित्यादि। एवमिति परमात्मपरत्वेन। नचोपास्तेरश्रवणादप्रामाणिकं कथं कल्पनीयमिति शङ्क्यम्। तदभावेऽपि विद्युद् ब्रह्मेत्यादिषु विद्युदाद्युपासनासु प्रकरणबलेन तत्स्वीकारात्। प्रकृते तु पक्षपुच्छादित्वेन मोदप्रमोदादीनां कल्पनयोक्तत्वाच्च लिङ्गस्यापि सद्भावात्। तस्मादुक्तहेतुद्वयाद् ब्रह्मत्वेन साधितमप्यानन्दमयपदमावश्यकोपपत्त्यभावान्न ब्रह्मपरमिति प्राप्ते इत्यर्थः। ब्रह्मपरत्वमिति पाठे त्वर्हतीति शेषस्त्रुटितो बोध्यः। को मन्त्रः, किं मान्त्रवर्णिकमित्याकाङ्क्षायामाहुः सत्यमित्यादि। तथाच यं कंचिदर्थमभिसंधाय शक्यसंबन्धानां नानात्वात् तेषु यं कंचिदादाय लक्षणया यत्किंचिदुच्यते, तन्न मान्त्रवर्णिकम्। किंतु मन्त्रेणाभिधया पदशक्त्या मुख्यवृत्त्या यत् प्रतिपाद्यं तत् तथेत्यर्थः। एतस्य मान्त्रवर्णिकस्य कथमुपपत्तित्वमित्यत आहुः तदित्यादि। तदुपपादनग्रन्थ इति सर्वस्मिन् प्रपाठके। तथा च तस्य मुख्यत्वादावश्यकोपपत्तित्वमित्यर्थः। मुख्यत्वमेवास्य कथमित्यत आहुः यत्रेत्यादि। ननु तदेषाऽभ्युक्तेति प्रतिज्ञानान्मन्त्रस्य ब्राह्मणव्याख्यानत्वं स्फुटम्। शिष्टस्य प्रपाठकस्य मन्त्रव्याख्यानत्वे किं गमकमित्यत आहुः उपपादनीयमित्यादि। संदिग्धमिति विभक्तिभेदात् पदभेदाच्च संदिग्धम्। तथाच संदिग्धोपपादकत्वमेव व्याख्यानत्वगमकमित्यर्थः। ननु

रश्मिः।

मान्त्रवर्णिकमेव च गम्यते ॥ १४ ॥ प्रकरणेति। ननु प्रकरणं कुत इति चेन्न ब्रह्मविदित्यत्र विदित्युपासनास्वीकारात्। अक्षरविषयत्वेन तथावसायात्। विभूतिविषयकं ज्ञानमुपासनेति। प्रीतिविषयः शिर इत्यानन्दमयो भक्तिविषयः। तत्स्वीकारादिति प्रामाणिकत्वस्वीकारात्। पूर्वपक्षत्वात्तूष्णीकमुपासापरत्वं वा। पक्षेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म प्रकृते इति। लिङ्गस्येति उपास्तिलिङ्गस्य। तस्मादिति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म तस्मादिति। बोध्य इति अबोध्य इति न हेतुः किं तु साधितमित्यस्य विशेष्यं ब्रह्मपरत्वं बोध्यमिति भावः। तथा चेति मान्त्रवर्णिकमित्यत्र शैषिकठञ्गकारेणेत्यर्थः। यं कंचिदिति यथा काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यत्र यं कंचित्काकरूपं यं कंचिद् दध्युपघातकत्वरूपं संबन्धमादाय यत्किंचित्काकपदेन दध्युपघातक उच्यते। यत्रेत्यादीति ब्रह्मविदाप्नोति परमिति यदुद्दिष्टं भाष्ये। प्रकृते परपदं च। व्याख्याने तु तृतीयाविभक्तिः ब्रह्मपदं चेति तयोर्भेदः। विभ-

४० म० सू० १०

तस्य हि फलत्वं वाक्ये नोपपाद्यते। फलं तु सर्वैः स्तुत आनन्दः। अभ्यासात् स्तुतत्वमित्यवोचाम। शिरःपाण्यादिकं तु स्तुत्यर्थमेव पुरुषविधत्वाय। लोके ह्यन्तर्भूतं बहिर्वेष्टितं च तदाकारं भवति।

भाष्यप्रकाशः ।

सर्वज्ञे ब्रह्मणि कस्मिन्नंशे कुतश्च संदेह इत्यत आहुः तस्य हीत्यादि । वाक्य इति मन्त्रे । तथाच ब्राह्मणवाक्ये द्वितीयया परस्य फलत्वबोधनात्, तद्व्याख्यानमन्त्रे तु द्वितीयया कामानां फलत्वबोधनाद् ब्रह्मणश्च गौणत्वबोधनात् तस्य फलत्वांशे संदेह इत्यर्थः। तर्हि कथं तस्य फलत्वमुपपाद्यत इत्याकाङ्क्षायां सर्वतः प्रचुरानन्दरूपत्वेनोपपाद्यत इत्याहुः फलं त्वित्यादि। सर्वैरिति प्रकारैः। प्रकारास्त्वभ्याससर्वान्तरत्वसर्वाधिकत्वादयो बोध्याः। ननु यदि प्रचुरानन्दरूपेणैव फलत्वमभिप्रेतं स्यादमूर्तस्य तथोक्तं स्यान्न तु शिरःपाण्यादिकं कल्प्येत । प्रयोजनाभावात्। कल्पनया चोपासनार्थता प्रतीयते, न तु परमफलतेत्यत आहुः शिर इत्यादि । शिरःपाण्यादिकमिति इदमा बोधितं शिरःपाण्यादिकम् । पुरुषविधत्वायेति सर्वेषां पुरुषविधत्वाय । यदि हि स्वयं पुरुषविधो न स्यात्तदा तदुपरितनोऽन्नमयान्तः कोऽपि पुरुषाकारो न स्यादिति तदर्थं तथोक्तिरिति तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविध इति वाक्यादेव प्रतीयते । अतः सा कल्पना नोपासनार्थाऽपि तु स्तुत्यर्थेति कल्पनाया लिङ्गत्वाभावात् प्रकरणापेक्षया वाक्यस्य बलिष्ठत्वाच्चानन्दमयपदस्य ब्रह्मपरत्वं न पारिप्लवमित्यर्थः । नन्वानन्दमयस्य पुरुषविधत्वेन कथं सर्वेषां तथात्वमित्यत आहुः लोके हीत्यादि । अयमर्थः । लोके ह्यन्तर्भूतस्य तदाकारता मूषानिषिक्तप्रतिमादौ दृष्टा ।

रश्मिः ।

स्त्वीति व्याख्येये द्वितीया विभक्तिः। वाक्य इतीति। वाक्येनेति पाठे करणत्वे नान्वयः किं तु सप्तम्यन्तम्। निषेधार्थं नञ् चेति। ब्राह्मणेति अस्यतत्कान्तमध्यमपुरुषान्तत्वाभावात्तथा। धृष्टिरसि ब्रह्म यच्छ इषेत्वोर्जेत्वा वायवस्थेत्युदाहरणानि । 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' इति ब्राह्मणवाक्ये इत्यर्थः। फलत्वांश इति फलत्वांशेपि संदेह इत्यर्थः। अभ्यासादित्यादि भाष्यमुपलक्षकतया विवृण्वन्ति अभ्यासेत्यादि। आदिशब्देनोपसंक्रमः। सर्वेषामिति अन्नमयादीनाम्। द्वा सुपर्णेति श्रुतेः पुरुषविधत्वाय। तदुपरीति आनन्दमयोपरितन इत्यर्थः। वाक्यस्येति तस्य पुरुषेत्यादिवाक्यस्येत्यर्थः। बलिष्ठत्वादिति यथा 'इन्द्राग्नी इदं हविरजुषेताम् अवीवृधेतामहोज्यायोऽक्राताम्' इत्यत्रेन्द्राग्नीपदस्य लिङ्गाद् दर्शाङ्गत्वे सिद्धे इदं हविरित्यादेरपि दर्शाङ्गत्वं तदेकवाक्यत्वान्न तु प्रकरणाद्दर्शपूर्णमासाङ्गत्वम्। प्रकरणाद्वाक्यस्य बलिष्ठत्वात्। आकाङ्क्षारूपं प्रकरणं वाक्यस्य वाक्यान्तरैकवाक्यत्वे प्रमाणम्। एवं च यावत्प्रकरणं वाक्यं कल्पयित्वा विनियोजकं भवति तावद्वाक्यं लिङ्गश्रुती कल्पयित्वा विनियोजकमिति बलीय इत्युक्तम्। तद्वद्बलिष्ठत्वादित्यर्थः। न पारिप्लवमिति पारिप्लवाख्यं कर्मेति पारिप्लवार्था इतिसूत्रे तृतीयस्य चतुर्थपादे वक्ष्यन्ति। तत्कर्म न पारिप्लवमाचक्षीत इत्येकवचनस्य विवक्षितत्वात्। एतस्य फलमुपाख्यानस्य न पारिप्लवशेषत्वम्। उपाख्यानं प्रपाठकद्वयस्थं किं तु यदुद्दिष्टं तन्मुख्यत्वज्ञानशेषत्वम्। अतो न कर्मशेषेयं विद्येति तृतीयस्य चतुर्थपादे भृगुप्रपाठकमुक्त्वा पारिप्लवशेषतानिराकरणात्। ब्रह्मपरत्वस्योपाख्यानं शंसनसाहित्यात्पारिप्लवत्वं प्राप्तं सर्वाण्याख्यानानि पारिप्लवे शंसतीति वाक्यात्।

जीवोऽत्र मुख्यः । कर्तृत्वेन व्यपदेशात् । स च वस्तुतो हंसरूपः। पुरुषाधिकारकं हि शास्त्रम्। तेन पुरुषशरीरे तदाकारः सर्वं फलं प्राप्नोति। अतः पुरुषं हंसरूपेणानुवर्णयति ।

भाष्यप्रकाशः ।

बहिर्वेष्टितस्य तदाकारता तृणदेहे सीवितवसनादौ च। तथाच यथा भाण्डकर्तारः प्रथमत आकृतिं मधूच्छिष्टादेः कृत्वा तदुपरि मृदं वेष्टयित्वा तन्मूषायां धातून् पूरयन्ति । अन्यथा पूरितभाण्डनिर्माणं न भवति । तथात्र तादृशोऽयं देहः । अतोऽत्र देहे कश्चिदान्तर एवंविधो वर्तते यदुपरि समागता अन्नरसादयः पुरुषाकारा भवन्ति । नो चेद् घटादिवत् कृतिसाध्यत्वाभावाद् भस्मोत्करवद् राशीभूता एव भवेयुः । अत्र तु श्रुतौ, 'तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः' इत्यादौ पूर्वं प्राणमयादिकमुक्त्वा तेन प्राणमयादिना आन्तरेण एषोऽन्नमयादिरुपरितनः पूर्ण इति पूर्वोक्तन्यायेन पूर्णतां प्रतिज्ञाय ततस्तां निगमयितुं, 'स वा एष प्राणमयादिः पुरुषविध एव' इत्यनेन तदाकारमुक्त्वा तस्य प्राणमयादेः पुरुषविधतामनुलक्ष्यीकृत्य, अयमन्नमयादिः पुरुषविध इति वदति । तेन सर्वान्तरस्यानन्दमयस्यैव - सर्वत्र पुरुषाकारसमर्पकता पर्यवस्यति । तेन तथा सिद्ध्यतीति । नन्वस्त्वेवं, तावता स्तुतिः का वा सिद्ध्यतीत्यत आहुः जीव इत्यादि। वर्णयतीत्यन्तम् । तेनेति हेतुना । तदाकार इति हंसाकारः । अयमर्थः । उक्तमन्त्रे सोऽश्नुत इत्यनेन जीवः फलाशने कर्तृतया व्यपदिष्टः फलभोगे मुख्यः । तस्य च, द्वा सुपर्णाविति श्रुत्या, 'एवं स मानसो हंसो हंसेनैव प्रबोधितः' इति स्मृत्या च हंसरूपेणैव सिद्धत्वात् पुरुषाधिकारेण प्रवृत्तस्य शास्त्रस्य तं प्रत्यप्रवृत्तौ तस्य ब्रह्मविस्वाद्यभावेन वेदनादिफलस्याप्यभावाच्छास्त्रादेर्वैयर्थ्यं स्यादिति फलार्थं शास्त्रसार्थक्यार्थं च जीवस्य पुरुषरूपमावश्यकम् । तथा समतां विना फलानुभवदौर्घट्याद् ब्रह्मसमतायाश्च, 'न तत्समः' इत्यादिश्रुत्या निषेधात् फलानुभावनार्थं समतायै ब्रह्मणोऽपि हंसरूपमावश्यकम् । अतः पुरुष एव यदा हंसरूपेण जीवान्तराविश्य तं पुरुषरूपेणान्तरितवाँस्तदा तद्वेष्टनेन पुरुषरूपो जीवः

रश्मिः ।

मूषेति सांचा इति लोक उच्यते। उपदेह इति नागकञ्चुक्यामित्यर्थः। मधूच्छिष्टादेरिति। मेन इति लोके।

फलानुभवेति फलं कर्मफलभोगस्तदर्थमत्रापि समता नायात्यतो गौणमुख्यन्यायेन साक्षिप्रलम्ब(फलं) सख्यरूपं फलं च तदनुभावनार्थं समता वक्तव्या अन्यथा तद्वाक्यवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। तस्यै समताया इत्यर्थः। विरुद्धधर्माश्रयत्वात् समतासमते उपपन्ने। अत इति हंसद्वयस्य पुरुषस्य चावश्यकत्वात्। पुरुष इति पुरा आस इति व्युत्पन्नः। न तु पुरि शेते इति न वा पुरमुषतीति व्युत्पन्नः। एवकार इममर्थं व्यवच्छिनत्ति। पुरा सृष्टिपूर्वं व्युत्पत्तिद्वयासंभवात्। तस्य रूपद्वयं हंसः पूर्वशास्त्रे 'ततो ह जातः' इति श्रुतेः। पुरुषो वेदान्तशास्त्रे 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' इति श्रुतेः। तयो रूपयोः समावेशः द्वा सुपर्णेति श्रुतेराहुः यदेति। हंसेति गतिप्रतिबन्धकमुल्लङ्घ्य प्रवेशार्थम्। जीवान्तरेति जीवो जीवमजीवयदिति वाक्यात्। 'यस्यात्मा शरीर'मिति श्रुतेश्च। तमिति जीवम्। 'आकाशशरीरं ब्रह्मे'ति श्रुतेः। 'आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता' इति श्रुतेश्च पुरुषरूपेण 'तासां मे पौरुषी

पञ्चस्वपि शारीर आत्मा जीव एक एव । तत्रान्नमये निःसंदिग्धत्वात्, तस्यैष एव आत्मेति नोच्यते । द्वितीयादिषु प्रथमोक्तमेवातिदिश्यते । तत्रान्नमये हस्तेन प्रदर्शयन्निव निःसंदिग्धं व्याख्यातम् । तदन्तरो हि प्राण आन्तरव्यवहार-

भाष्यप्रकाशः ।

सर्वं लौकिकालौकिकफलमनुभवति । परमात्मा च हंसेऽन्तर्भूतो हंसाकारस्य सँस्तत्फलमनुभावयतीति श्रुतिरपि परमात्मानं हंसरूपेण पुर्यावेशोत्तरं वर्णयति । तथाच स्वयमतिनहानपि जीवस्य फलभोजनार्थमेवं करोतीत्येषा स्तुतिरित्यर्थः । एवं पक्षिरूपकल्पनस्य शिरःपाण्यादिकथनस्य च स्तुत्यर्थतासमर्थनेन निरालम्बना प्रत्यगात्मविषया बुद्धिः कर्तुमशक्येति दृष्टशारीरात्मसामान्येन प्रत्यगात्मनि बुद्धिसिद्ध्यर्थं शाखाचन्द्रन्यायेनेदं कल्पनमित्यपास्तम् । तथा सति पुरुषरूपकल्पनयापि कार्यसिद्धेः पक्षिरूपकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गादिति । ननु यद्येवमभिप्रेतं स्यात् तर्ह्यानन्दमयस्यैव पक्षिरूपत्वं वर्णितं स्यादन्नमयादीनामतो नैवमित्याशङ्कायां स्वोक्तं विभजन्ते पञ्चस्वित्यादि । तथाच प्राणमयादीनां चतुर्णां व्याख्याने, तस्यैष एव शारीर आत्मेति कथनात् पञ्चस्वपि फलेष्वेकस्यैव जीवस्य भोक्तुः पञ्चानां शरीरतया भोग्यत्वस्य च ज्ञाप्यत्वेन हंसरूपजीवानुरोधादन्नमयादिष्वपि तथाकल्पनं युक्तमित्यर्थः । ननु यद्येवं तदान्नमय इदं वाक्यं कुतो नोच्यत इत्यत आहुः तत्रेत्यादि । कोशेऽन्नमये शरीरत्वस्यैकात्मभोग्यत्वस्य च प्रत्यक्षसिद्धत्वेन तत्तुल्येऽन्नमयेऽपि तथात्वस्यासंदिग्धत्वान्नोच्यत इत्यर्थः । नन्वेवं सत्यन्येष्वपि तत्तत्कोशतौल्यात् तत्रापि नोच्येतेत्यत आहुः द्वितीयेत्यादि । प्रथमोक्तमिति अन्नमय उक्तं पञ्चावयवकत्वम् । तथाचातिदेशदार्ढ्यार्थं तदुक्तिरित्यर्थः । एतदेव प्रपञ्चयन्ति तत्रेत्यादि । प्रदर्शयन्निवेति । वदतीत्यत इति शेषः । तथाच यत एवं वदत्यतः प्राप्यरूपेऽन्नमयेऽप्यत्र व्याख्यातं तदवयवसाम्यं निःसंदिग्धमित्यर्थः । प्रदर्शयतीवेति वा पाठः । प्राणमये आहुः

रश्मिः ।

प्रिया' इतिवाक्यात् । एवमिति आनन्दमयस्यैव साकारफलत्वमिति पूर्वोक्तप्रकारेण । नैवमिति न साकारफलत्वमित्यर्थः । फलेष्विति एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्येत्यादिश्रुतिभ्यः । फलत्वमानन्दमयान्नमयादिविभूतिसाधारणम् । हंसरूपेति मुक्तहंसरूपजीवस्य ब्रह्मसामर्थ्यानुरोधात् । तथेति पक्षिरूपत्वकल्पनमित्यर्थः । एवमिति हंसरूपजीवानुपजीवानुरोधेन पक्षित्वे । इदमिति तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्येति वाक्यम् । तथात्वस्येति एकात्मभोग्यत्वस्य । उक्तमिति एकात्मभोग्यत्वम् । तत्तत्कोशतौल्यादुक्तप्रायम् । शारीर आत्मेत्युक्त्या शरीरमप्यतिदिष्टमिवेत्याहुः पञ्चावयवेति । चकारः पूरणीयः । तथा चेति अन्येष्वपि तत्तत्कोशतौल्यादुक्तनाभावे प्राप्तत्वेपि यत्र शारीरपदान्तर्गतशरीरस्याप्यतिदेशस्तत्रैकात्मभोग्यत्वातिदेशे किमु वक्तव्यमित्येकात्मभोग्यत्वातिदेशदार्ढ्यार्थं तस्य 'तस्यैष एव शारीर आत्मा' इत्यतिदेशवाक्यपञ्चावयवरूपस्य शरीरस्योक्तिरित्यर्थः । एवकारस्तु दार्ढ्योक्तपञ्चावयवस्यापि व्यवच्छेदकः । प्रदर्शयन्निवेति वेदस्य कर्तृत्वमुक्तं तदा वेदरूपपक्षिवभक्तसंवलितत्वे सिद्धे क्रीडार्थं भक्तत्वाच । श्रुतेः कर्तृत्वायाहुः प्रदर्शयन्निवेति । तदन्तर इत्यादीति बहिर्व्यवहारकारणमुक्तमन्नमयशब्देन तस्यान्तरत्वाद्वीत्यनुभवान्निश्चयेनान्तरो यो व्यवहारः 'व्यवहारः संनिपातो मनोमात्रेन्द्रियासुभिः' इति वाक्येन भगवतोक्तस्तस्य कारणम् । 'संनिपातस्त्वहमिति ममेत्युद्धव या मतिः' इति भगवद्वाक्यात् । अहंममेतिमत्याः कारणम् ।

कारणम् । बलभोजनविसर्गादिषूपयोगात् । तस्य संचार आकाशे परिनिष्ठितः पृथिव्याम् । एवं लौकिकव्यवहारार्थं बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्वयम् ।

तदनु वैदिकव्यवहारः । स च मनोमयः पुरुषः । आदेशः कर्मचोदना । ब्राह्मणानि सशेषाणि । अथर्वाङ्गिरसे ब्रह्मकर्मत्वात् प्रतिष्ठा ।

भाष्यप्रकाशः ।

तदन्तर इत्यादि । अत्र, बलेत्यादिना प्राणादित्रयस्य कार्यमुक्तम् । कोशान्तरेदस्य दर्शितः । स पञ्चवृत्तिको दशवृत्तिको वा । अयं तु त्रिवृत्तिकः । तस्य संचारो नियते देशे हृदादौ । अस्य तु सर्वत्राकाश इति स तस्य स्वरूपलाभहेतुत्वादात्मा । स तु देहे स्थितोऽयं तु सर्वस्यां पृथिव्यामिति । अतो द्विविधभोगसाधनत्वेन स्वाभिमानाय द्वयोः कथनमित्यर्थः । अग्रिमप्रयोजनादिकमाहुः तदन्वित्यादि । लौकिके व्यवहारे वयःप्रभृतिभिः स्वातन्त्र्यसंपत्तौ सत्यां वैदिके प्रवर्तत इति वेदप्रयुक्तो मनोमात्रेन्द्रियप्राणव्यापारस्तस्यानन्तरभावी । तस्य च लौकिकाद् भेदः, 'शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्' इत्यत्र सोपपत्तिकं वक्तव्यः । तच्चोपभोगसाधनाय च स वेदात्मको मनोमयः पुरुषः । वेदस्य च मनोमयत्वमेकादशस्कन्धे, 'स एष जीवो विवरप्रसूतिः' इति श्लोकेन भगवतोक्तम् । सशेषाणीति सार्थवादानि । ब्रह्मकर्मत्वादिति । चातुर्होत्रविधाने ब्रह्मणः कृताऽकृतावेक्षकत्वेन तत्कर्मणोऽथर्वसिद्धस्य कर्म-

रश्मिः ।

प्रकृते । कार्यमुक्तमिति अत्र प्रथमे प्रश्नोपनिषदि 'अहमेतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्य एतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामि' इति श्रुतिः । द्वितीये व्यानस्य श्रुत्यन्तरात् आनन्दभुगित्यनेन विकल्प्यते श्रुत्यन्तरम् । विसर्गेऽपानस्य प्रसिद्धोपयोगः । भेदकमाहुः स पञ्चेत्यादि । 'प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः' इत्यमरादित्यर्थः । दशेति 'दशेमे पुरुषे प्राणाः' इति शाकल्यब्राह्मणश्रुतेः । पञ्च प्राणादयः पञ्च नागादयश्च । तस्येत्यादिभाष्ये तच्छब्देन प्राणः परामृष्ट इत्यत्रापि तस्येत्यस्य 'तुना' सह संबन्धः । अत्र आकाश आत्मेत्यत्रात्मपदं स्वरूपलाभहेतुत्वेन रूपेण प्राणदेहं वक्तीत्याशयः । प्राणेन्द्रियात्मधिष्ण्यत्वमित्याकाशलक्षणवाक्यादित्याशयेनोक्तं स तस्येत्यादि । पृथिव्यामिति अधोऽवलम्बनसाम्यात्पृथिव्याः पुच्छत्वमपि । द्वयोरिति पुच्छप्रतिष्ठयोरित्यर्थः । अत्र तस्य यजुरेव शिर इत्यत्र मनुष्यकर्मप्रतिपादकस्य यजुषः शिरस्त्वं व्यवहारे मनुष्यकर्मैव मुख्यं 'पुरुषत्वे च मां धीराः' इतिवाक्येनैतत्सजातीयशीर्षयुक्तश्रुत्या च पुरुषकर्माग्निहोत्रादिभिः 'आविस्तरां प्रपश्यन्ति' 'पुरुषत्वे च मां भगवन्तं धीरा' इति । ततः ऋग्वेदो देवदैवत्यो देवताप्रतिपादकः । कर्मविषयप्रतिपादको दक्षिणः पक्षः । ततः सामवेदः पित्र्यः पितृप्रतिपादकः उत्तरः पक्षः । देवानां पितॄणां चानेकप्रकारत्वात् । आदेशः कर्मनोदना कर्मनोदनाप्रतिपादकानि ब्राह्मणानि सशेषाणि ह्यात्मा । प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोर्नित्यसंबन्धात्सामानाधिकरण्यम् । धर्मप्रमितिकाले ब्राह्मणानि धर्मप्रमितिं जनयन्तीत्यनुष्ठानकालेऽनुष्ठीयमानान्धर्मान् विषयीकुर्वन्त्या ब्रह्मणः कर्मनोदनाया आत्मत्वम् । अग्रे नोदनाविषयस्य धर्मस्य पक्षत्वमिति नार्थान्तरम् । आदेश इत्यादि । वय इति प्रभृतिशब्देन 'लोकसिद्धं पुरस्कृत्य वैदिकं बोध्यते यथा' इत्युक्तलोकसिद्धपुरस्कारः । शब्द इतीति तृतीयपाद इत्यर्थः । भाष्ये । आदेश आत्मेति श्रुतिं विवृण्वन्ति । ऋग्दक्षिणः पक्षः सामोत्तरः पक्षः इत्येवां विवृण्वन्ति ब्राह्मणानीति । अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठेति श्रुतिं व्याकुर्वन्ति अथर्वेति । अथर्वाङ्गिरसां ब्रह्म मन्त्रो ब्राह्मणश्च अथर्वाङ्गिरसस्तस्मिन् । प्रकृते । चातुर्होत्रेत्यादि चत्वारो होतारो यत्र कर्मणीति योगः । योगरूढः शब्दः । कृतावेक्षकं तेन च साङ्गं कर्म भवति तदभावे तु व्यङ्गं कर्मेति । साङ्गं कर्म फलाय

तदनु नानाविधयागादिसाधनवतः फलं विज्ञानमयः । तत्र श्रद्धा आपः । तृतीयाध्याये स्वयमर्थो विस्तरेण वक्ष्यते । यथोक्तकर्तृत्वात् क्रममुक्तिः ।

ऋतसत्यौ प्रमीयमाणानुष्ठीयमानौ धर्मौ योगश्च मुख्यत्वादात्मा । अधो-

भाष्यप्रकाशः ।

स्थैर्यसंपादकत्वादथर्वाङ्गिरसः प्रतिष्ठारूप इत्यर्थः । शान्त्यादिकर्मबोधकत्वात् पुच्छत्वमपि तस्य बोध्यम् । एतेन नानावृत्तिकान्मनोमयकोशाद् भेदोऽपि दर्शितः । एवं द्विविधैहिकभोगौपयिकं द्वयं वैदिकव्यवहारौपयिकं तृतीयं चोक्त्वा पारलौकिकभोगौपयिकं चतुर्थमाहुः तदनु नानेत्यादि । विज्ञानमय इति विज्ञानप्रचुरः । तस्यावयवानां स्वरूपमाहुः तत्र श्रद्धेत्यादि । पञ्चाग्निविद्यायां, यतिथ्यामाहुत्या५ हुतायामापः पुरुषवचसो भूत्वा समुत्थाय वदन्तीति प्रश्नाभिरूपणभागे प्रथमाहुतौ, देवाः श्रद्धां जुह्वतीति कथनाच्च श्रद्धारूपा आपो मुख्या इति सा शिर इत्यर्थः । अस्यार्थस्य काल्पनिकत्वपरिहाराय विचारितत्वं बोधयन्ति तृतीयेत्यादि । रंहत्यधिकरण इत्यर्थः । ननु प्रथमाहुतौ श्रद्धाहोमस्ततः सोमवृष्ट्यन्नरेतःक्रमेण पञ्चम्यामाहुतौ हुतायां रेतसः पुरुषभाव इत्यवयवपूर्त्यभावात् कथमस्य जीवभोग्यत्वं भोगसाधनत्वं चेत्याकाङ्क्षायामाहुः यथोक्तेत्यादि । अन्नमयाद्युक्तोपासनाकर्तृत्वात् क्रममुक्तिः । एतेनोपासनाकथनप्रयोजनमपि बोधितम् । तथाच श्रद्धादीनामर्थानां पूर्वसिद्धत्वेन सत्त्वादेतदवयवास्तु पूर्णा एव । तेन जीवस्य तत्र क्रमिको भोग इति न दौर्घट्यमित्यर्थः । एतेन संशयविपर्यासादिनानावृत्तिकाद् विज्ञानमयकोशाद् भेदो दर्शितः । अत्रैतत् सिद्धम् । अन्नब्रह्मोपासनायां सर्वान्नप्राप्त्या लौकिको बाह्यो भोगस्ततोऽग्रिमोपासने सर्वायुःप्राप्तिरूप आन्तरः । तदग्रे ब्रह्मानन्दज्ञानात् सर्वदा भयाभावाद् वैदिकः । तदग्रे प्रमादाभावे सति पापनाशपूर्वकसर्वकामाप्तिरूप इति । अवयवान्तरस्वरूपमाहुः ऋतेत्यादि ।

रश्मिः ।

स्थिरम् । व्यङ्गं तु नेति । प्रतिष्ठेति स्वरूपलाभहेतुत्वात् । शान्त्यादीति शान्तिकर्मणः सर्वकर्मान्तिमत्वेन पुच्छत्वमित्यर्थः । आदिना पौष्टिकादिप्रतिष्ठाहेतोः शांकरभाष्योक्तस्य संग्रहः । तथा च शान्तिपौष्टिकादिप्रतिष्ठाहेतुकर्मबोधकत्वादित्यर्थः । तदन्वित्यादि । तदनु वैदिकव्यवहारलक्षितः । नानाविधयागादिसाधनवत इत्यादि इत्यंभूताख्यानेऽनुः । 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' इत्यत्र चित्तशुद्धिद्वारा यागादीनां विज्ञानमयफलकत्वात् । फलं स्वकारणानि विस्तारयति प्रवृत्तिद्वारा । तदुक्तं 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इत्यादिनात्रैव । यतिथ्यामिति यत्संख्यायामित्यर्थः । ननु कस्माद्ब्रह्मवाक्ये श्रद्धालाभः इत्यत आहुः निरूपणेति । तथा चैकवाक्यतया श्रद्धालाभः इति भावः । मुख्या इति पुरुषरूपफलरूपत्वेन मुख्यत्वम् । सेति तस्य श्रद्धैव शिरः इति श्रुतौ श्रद्धेत्यर्थः । इत्यवयवेति श्रद्धामात्रकथनेन सोमवृष्ट्यन्नरेतसामकथनाद्धेतोरवयवपूर्त्यभावादित्यर्थः । सर्वान्नेति 'सर्वं वै तेनान्नमाप्नुवन्ति येऽन्नं ब्रह्मोपासते' इतिश्रुतेरित्यर्थः । सर्वायुरिति सर्वमेव त आयुर्यन्ति ये प्राणं ब्रह्मोपासते इति श्रुतेरित्यर्थः । भयाभावादिति 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इतिश्रुतेस्तथेत्यर्थः । प्रमादाभाव इति ।

'विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति ।
शरीरे पाप्मनो हित्वा सर्वान्कामान् समश्नुते' ॥

इति श्रुतेरित्यर्थः । ऋतेत्यादि ऋतं प्रमीयमाणो धर्मो ब्राह्मणैः सत्यमनुष्ठीयमानो धर्मो

भागो महर्लोकः । तादृशस्य ततोऽर्वाक् संसृत्यभावात् । ततोऽपि ब्रह्मविद

भाष्यप्रकाशः ।

तादृशस्येति श्रद्धाहोमात् पूर्वजन्मनि निष्कामयज्ञकर्तुर्ज्ञानरहितस्य ततः श्रद्धादिक्रमेण

रश्मिः ।

मन्त्रैरित्यर्थः । भावार्थपादभाष्य इदं स्फुटमस्तु ।

ननु विपरीतं किं न स्यात् इति चेन्न संहितायां 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति' इतिश्रुत्या ब्रह्मसत्यमतोऽनुष्ठीयमानधर्मः सत्यं 'ऋतं सत्यं परं ब्रह्म' इति महानारायणात् । परब्रह्मकार्ये ऋतं प्रमीयमाणो धर्मः ब्राह्मणस्य वेदान्तत्वात् । प्रमीयमाणानुष्ठीयमानधर्मः परं ब्रह्म 'धर्मो यस्यां मदात्मकः' इतिवाक्यात् । योगश्चेति विज्ञानमयस्योपक्रान्तत्वाद् योग उक्तः । विज्ञानप्रचुरज्ञानयोग इत्यर्थः । ज्ञानमय इत्युक्ते ज्ञानधर्मत्वेन ज्ञानरूपत्वमपि स्यादतो मार्गत्वावयवीति 'विजातीयसंमेलने मार्गत्वं केवलस्य धर्मत्वम्' इत्येकादशसुबोधिन्यां अतो नार्मैकदेशग्रहणं योग आत्मा इति 'परो हि योगो मनसः समाधिः' इति चित्तवृत्तिनिरोधो योग इति स च समाधिः सायुज्यविशेषः । आश्रयव्यापकतयात्मायतनादित्यर्थः । अधोभाग इति 'षड्भिः संपद्यते धर्मः' इति तदन्तर्गतदेशो महर्लोकः । अधस्त्वाच्च प्रतिष्ठा ऋतसत्यरूपपरब्रह्मात्मकधर्मसाधनत्वाद्युक्ता । मह पूजायां कर्तर्यसुन् । विज्ञानमयस्यापि शिरस्त्वादिकं कथमिति चेच्छृणु । आपः पुरुषवचसो भवन्तीति निर्विवादम् । तत्र श्रद्धा आपः धर्मावपि शास्त्रदृष्ट्या स्वोपादानरूपावित्यमूर्तौ । ननु पक्षपदादमूर्तशिरःकथनं पृथक् कुतः इति चेन्न । शिरोधोदेश एव पक्षपदप्रवृत्तेः । अतो विभूतेः पुरुषशरीरस्य द्वौ भागौ धर्मात्मूर्तौ ताभिरर्चनं ज्ञानाङ्गमित्यपशिरस्त्वादिकमुपपन्नम् । नाप्यर्चनलाभो दुर्लभः साधने महःपदात् । न चार्चनं द्रव्यमन्यदिति वाच्यम् । सोर्चन्नचरत्तस्यार्चत आपोऽजायन्तेति बृहदारण्यकात् । विज्ञानमयेनाप्यम्मयो यज्ञस्तन्यते तद्विभूतित्वात् । ततोपि ब्रह्मविद इत्यग्रे भाष्यं तज्ज्ञाप्यमर्थमाहुः श्रद्धेति तच्छब्दात्पूर्वोक्तश्रद्धापदस्मारितश्रद्धाहोमपदमन्वयार्थं पञ्चम्यन्तं श्रद्धाहोमावधिके पूर्वजन्मनीति पूर्वजन्मलाभः । अग्रेन्वयार्थं सप्तम्यन्तं पदं ब्रह्मविद इतिवक्ष्यमाणत्वात् तत्साधननिष्कामयज्ञकर्तृलाभः । ननु यज्ञकर्तृपदेन यज्ञलाभे निष्कामशब्दस्य किं प्रयोजनमिति चेन्न श्रीमदाचार्यमार्गीययज्ञबोधनार्थत्वात् ।

'काम्यानां कर्मणां त्यागं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः' ॥

इति गीता । श्रद्धाहोमानन्तरं तादृशशरीरज्ञानस्य भावित्वात् ज्ञानरहितस्येत्यस्य लाभः । अग्रे । भाष्ये । ततोर्वागिति महर्लोकादर्वाक् भूर्भुवःसुवर्लोकेषु संसृतिः संसरणं तदभावात् । तथा च संसरणमपेक्ष्य महर्लोक एवाध इति भावः । महालोकवासिनो भृग्वादयो ज्ञानिनः 'नमस्कृतं ब्रह्मविदामुपैति कल्पायुषो यद्विबुधा रमन्ते' इति द्वितीयस्कन्धात् । अत्रेदं बोध्यम् । श्रद्धायाः पुरुषवचस्त्वानन्तरं यथोक्तोपासनया क्रममुक्तिः शरीरे पाप्मन इत्यग्रेतनश्लोकात् । उपासा तु धर्मप्रमित्यनन्तरं तदनुष्ठाने शुद्धे चित्ते वृत्तिनिरोधः इत्यतः ऋतसत्यावित्यादिभाष्यमवयवत्रयनिरूपकम् । भाष्ये महःपुच्छमित्यादेस्तात्पर्यमाहुरध इत्यादि । अधोभाग इति पुच्छपदार्थः । लोक इति प्रतिष्ठापदार्थः । कुत इत्यत आहुः तादृशस्येति (ततोर्वागिति महर्लोकादर्वाक् भूर्भुवःसुवर्लोकेषु संसृतिः संसरणं तदभावात् । तथा च संसरणमपेक्ष्य महर्लोक एवाध इति भावः । महर्लोकवासिनो भृग्वादयो ज्ञानिनः 'नमस्कृतं ब्रह्मविदामुपैति कल्पायुषो यद्विबुधा रमन्ते' इति द्वितीयस्कन्धात्) अत्र सुबोधिन्यां कल्पायुष इति विबुध-

आनन्दमयः फलम्। तस्य स्वरूपस्यैकत्वाद् धर्मभेदेन शिरःपाण्यादि निरूप्यते। तस्य मुख्यतया प्रीतिविषयत्वं धर्मस्तच्छिरः। मोदप्रमोदावपरिनिष्ठितपरिनिष्ठितावानन्दातिशयौ। आनन्दस्तु स्वरूपम्। साधनरूपत्वाद् ब्रह्म पुच्छमिति। श्लोकौ तु सविषयांशबोधकौ केवलानन्दत्वपरिहाराय।

भाष्यप्रकाशः।

प्राप्तयोग्यदेहस्य। एतादृशस्य ज्ञानप्राप्त्या मुख्यं फलं भवतीति विवेक्तुमाहुः ततोऽपीत्यादि। साधनरूपत्वादिति ज्ञेयत्वेन साधनशेषतया तथात्वात्। एवं, लोके हीत्यादिना वर्णयतीत्यन्तेनोक्तमर्थं विभज्य पुरुषविधत्वं पक्षिरूपत्वं च समर्थितम्। तेन च मन्त्रे द्वितीयान्तकामपदेनोक्ता एत एव धर्माः। आनन्दमयस्तु विपश्चिद् ब्रह्म। धर्मधर्मिणोः प्रकाशाश्रयवद्भेदेऽप्यभेदादेतादृशमेव व्याख्येयवाक्योक्तं परमिति बोधितम्। तावतापि तस्य विविधज्ञानवत्त्वं लक्षणोक्तसविद्वैशिष्ट्यं च सम्यङ्नावगम्यत इति तदर्थमग्रिमो ग्रन्थो, न तु साधनशेषब्रह्मज्ञानायेत्याहुः श्लोकौ त्वित्यादि। श्लोकात् पूर्वं, तदपीत्यनेनानन्दमयं लक्ष्यीकृत्य, असन्नेवेति श्लोक उक्तः। तेनानन्दमयमेवास्ति ब्रह्मेति वेत्तव्यमित्यायाति। एवमसद्वेतिश्लोके कर्तृत्वसमवायित्वयोर्बोधनाच्चिदंशलाभः। तेन द्वावेतौ विपश्चित्त्वसमर्थनायेति फलति। तथा सति तच्छ्लोकोत्तरं यो ग्रन्थः सोऽपि श्लोकोक्तार्थपोषणायेति

रश्मिः।

विशेषणात् सत्त्वात्मकशरीरेण क्रममुक्तो जीवोपि तत्र कल्पपर्यन्तं तिष्ठतीति महर्लोके एतादृशी संसृतिः तस्य रमन्त इतिपदाच्च संसृतिः। महर्लोकादर्वाक् लोकेषु तु न संसृतिः एतावत्कालमवस्थानाभावात्।

'यदा प्रयास्यन्नृप पारमेष्ठ्यं वैहायसानामुत यद्विहारम्।
अष्टाधिपत्यं गुणसंनिवाये सहैव गच्छेन्मनसेन्द्रियैश्च॥
योगेश्वराणां गतिमाहुरन्तर्बहिस्त्रिलोक्याः पवनान्तरात्मनाम्।
न कर्मभिस्तां गतिमाप्नुवन्ति विद्यातपोयोगसमाधिभाजाम्॥
वैश्वानरं याति विहायसा गतः सुषुम्णया ब्रह्मपथेन शोचिषा।
विधूतकल्कोथ हरेरुदस्तात् प्रयाति चक्रं नृप शैशुमारम्'॥

इत्येतेषु तथोपलम्भात्। 'तद्विश्वनाभिं त्वतिवर्त्य विष्णोरणीयसा विरजेनात्मनैकः' इति पूर्वार्धे नमस्कृतमित्यस्यार्थस्तु स्फुट आकरे। श्रद्धेत्यादि एतच्च तृतीयाध्यायेनैव स्फुटिष्यति। ततोपीत्यादीति। एकत्वादेकरसत्वेन तथा मोदप्रमोदरूपधर्मभेदेन तस्य प्रियमित्यत्र भावप्रधानो निर्देशस्तदाहुः प्रीतिविषयत्वमिति। प्रीतिविषयस्यात्मत्वम्। शिर इति शिरसा सर्वात्मभावेन ज्ञायते पुरुषोत्तम इति। अपरीति अल्पाक्षरत्वाभावेपि अभ्यर्हितत्वात्पूर्वनिपातः। चराचरेति सूत्रेप्यल्पाच्तरोभ्यर्हित इति पूर्वनिपातः। अतो न विरोधः। आनन्देति अनन्तानन्द इति स्वरूपलक्षणप्रविष्टत्वादिति भावः। अतिशयो भक्तमनोरथोत्तरो ज्ञेयः। वृद्धिह्रासभाक्त्वात् आत्मानन्दस्तु सदैकरसः। ज्ञेयत्वेनेति 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यत्र तथा। पुरुषेति विज्ञानब्रह्मरूपे। भेदेपीति ब्रह्मस्वरूपान्तर्गतेवशब्दार्थः। गीतायामिव प्रसिद्धं विविधेति पक्षयोरिव धर्माणां विवक्षितत्वात्। तदप्येष श्लोको भवतीति श्रुतौ तदित्यव्ययम्, अपि अन्वर्थे इत्याशयेनाहुः श्लोकात्पूर्वमिति। असद्वेति 'असद्वा इदमग्र

अपरौ तु श्लोकौ माहात्म्यज्ञापनाय वाग्गोचरागोचरभेदेन। अवान्तरानन्दास्तु सर्वे तदंशाभ्यूनतया तदुत्कर्षत्वबोधनाय। तस्मात् सर्वत्र प्रपाठके मान्त्रवर्णिकमेव प्रतीयते। अतो मुख्योपपत्तेर्विद्यमानत्वेनानन्दमयः परमात्मैव। चकारो मध्ये प्रयुक्तो विधिमुखविचारेणाधिकरणसंपूर्णत्वबोधकः॥ १४॥

भाष्यप्रकाशः।

बोधितम्। तेनाथातोऽनुप्रश्ना इत्यादिना ग्रन्थेन साधनस्य विद्वत्त्वस्य फलोपधायकस्वरूपप्रश्नः। सोऽकामयतेत्यारभ्य तस्यैव भयं विदुषोऽमन्वानस्येत्यन्तेनोक्तरूपतया सर्वदा विचारयत एव पूर्णं विद्वत्त्वं तदेव फलं नान्यथेति सिद्ध्यति। भीषास्मादित्यादिग्रन्थस्य तात्पर्यमाहुः अपरावित्यादि। भीषास्मादिति श्लोको वाग्गोचरमाहात्म्यबोधनाय। 'यतो वाचः' इति तु वागाद्यगोचरतद्बोधनाय। तथाच सव्याख्यानावेतौ परत्वस्य निगमनायेति सिद्ध्यति। गणितागणितानन्दत्वरूपविशेषावगमं विना ज्ञेयब्रह्मणः सकाशात् परस्य निष्कष्टुमशक्यत्वादिति। शेषं स्फुटम्। श्रीभागवते दशमस्कन्धे वेदस्तुतौ, 'पुरुषविधोन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः' इत्यनेनायमर्थ उपबृंहितः। अन्नमयादिषु चरम आनन्दमयो भगवानिति। तथा सति तेन पुरुषाकारे समर्पिते सर्वस्य पुरुषाकारता सिद्ध्यति।

रश्मिः।

आसीत्ततो वै सदजायत' 'तदात्मानꣳस्वयमकुरुत' 'तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत' इति श्लोकपूर्वार्धेन कर्तृत्वस्योत्तरार्धेन समवायित्वस्येत्यर्थः। श्लोकद्वयोत्तरग्रन्थतात्पर्यमाहुः तेनाथेत्यादि। भीषेति

भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः।
भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

इतिश्लोक इत्यर्थः। अत्रापि तदुत्तरग्रन्थस्तत्पोषायेत्याहुः तथा चेति। सव्याख्यानाविति 'सैषानन्दस्य मीमांसा भवति' 'एतं ह वा व न तपति' इतिव्याख्या तत्सहितावित्यर्थः। आनन्दमीमांसायाः कथं व्याख्यानत्वं तत्राहुः गणितेति। इतीति। तथा च मृत्युनियामकत्वेन लिङ्गेन व्याख्येये परं निष्कृष्टं तदत्रापि तथेति तथेत्यर्थः। द्वितीयश्लोकस्य विद्वानित्यन्तोंशः स य एवं विद्वानित्यन्तेन व्याख्यातः। अपरांशस्तु 'एते आत्मानꣳस्पृणुते उभे ह्येवैष एते आत्मानꣳस्पृणुते य एवं वेद' इत्यनेनेत्यपि बोध्यम्। यद्वा 'एतꣳह वा व न तपति' इत्यादिकं ब्रह्मविन्माहात्म्यबोधनद्वारा विद्यादिमाहात्म्यबोधकमिति तथा। शेषमित्यादि मान्त्रवर्णिकमेवेत्येवकारेण मन्त्रवर्णातिरिक्तोपनिषद्व्यवच्छेदेनुक्तत्वेनातिरिक्तोपनिषत् संग्रहाश्चेतर इत्यादिवक्ष्यमाणसूत्रैर्विधिरूपोपायविचारेणाधिकरणसंपूर्णत्वस्यानुक्तत्वेन संग्रहादनुक्तसमुच्चायकश्चो विधिमुखविचारेणाधिकरणसंपूर्णत्वबोधक इत्यर्थः। यतो मध्ये सूत्रमध्ये प्रयुक्तो यद्यन्ते प्रयुक्तः स्यादानन्दमयो मान्त्रवर्णिकमेव गम्यते चेति क्रियान्तरसमुच्चायकः स्यादित्येवं स्फुटमित्यर्थः। परं च अनुक्तस्याधिकरणसंपूर्णत्वस्य चकारो बोधकः एतादृशस्थलेनुक्तोर्थोध्याहर्तव्यः। इत्येवंबोधकश्चकारप्रयोगः। समुच्चयस्य तु वाचकः समासस्थले समासः समुच्चयस्य वाचकः वर्तिपदानि वा स्वार्थैः साकं समुच्चयस्य वाचकानि समासो नेति वा काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामितिवत्। नन्वन्नादिरसा राशिभूता भवेयुः भस्मराशिवत्। पक्षिणो हंसस्यावरकास्तदा तु पुरुषाकारता न स्यात्। तथाल्पिकावृतजीवावरकास्तदाप्यङ्गुष्ठाधिकपुरुषाकारता न स्यादित्यत आहुः श्रीभागवत इत्यादि। तदन्तरेत्यादि

१. नूतनतया।
४१ अ० सू० १०

भाष्यप्रकाशः ।

ये तु प्रसिद्धमन्नमयस्य पुरुषविधत्वं स्वीकृत्य तस्य पुरुषविधत्वमनु प्राणमयाद्यानन्दमयान्तानां पुरुषविधत्वं मूषानिषिक्तप्रतिमान्यायेनाहुस्तैः स्वोक्तदृष्टान्तप्रकार एव न बुध्यते । मूषानिषिक्तप्रतिमायास्तदन्तराकारानुविधायित्वात् । तस्य च मधूच्छिष्टनिर्मितप्रतिमया समर्पणादत्रापि तेन न्यायेन बाह्याकारानुरोधस्याशक्यवचनत्वात् । तेनैष पूर्ण इत्यत्र तच्छब्देन प्रकृतम्, एतच्छब्देन पूर्वोक्तं च परामृश्य मध्ये, स वा एष इति तदेतच्छब्दाभ्यां च प्रकृतं परामृश्य तस्य पुरुषविधतामित्यत्र पूर्वपरामर्शनम् । ततस्तस्य प्राण एव शिर इत्याद्यवयवकल्पनावाक्ये पुनः प्रकृतपरामर्श इत्येवं व्याख्याने प्रक्रान्तत्यागप्रसङ्गाच्च । तस्मान्नैते कोशाः, किंतु पञ्चापि फलरूपा व्यापका भिन्ना एव । एतल्लोकत्यागोक्तिपूर्वकं तत्तत्प्राप्तिश्रावणात् । तथा श्रुत्यन्तरे 'अन्नात् प्राणा भवन्ति भूतानां प्राणैर्मनो मनसश्च विज्ञानं विज्ञानादानन्दो ब्रह्मयोनिः स वा एष पुरुषः पञ्चधा पञ्चात्मा येन सर्वमिदं प्रोतं पृथिवी चान्तरिक्षं च द्यौश्च दिशश्चावान्तरदिशश्च स वै सर्वमिदं जगत् स स भूतं स भव्यम्' इत्यादिना अनादिपञ्चविधस्योक्तरीत्या पञ्चात्मकस्य पुरुषस्य सर्वव्याप्तिसर्वात्मकत्वबोधनपूर्वकं, 'ज्ञात्वा तमेवं मनसा हृदा च भूयो न मृत्युमुपयाति विद्वान्' इत्यनेन तद्विदो मुक्तिश्रावणाच्च । कोशास्तु 'अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयमानन्दमयमात्मा मे शुद्ध्यन्ताम्' इति श्रुत्यन्तरे शोध्यत्वलिङ्गाः प्रतिशरीरं भिन्ना एव । म इति स्वस्वजीवीयत्वरूपभेदलिङ्गात् । अतस्तद्भ्रमेणात्र तदङ्गीकरणमपि प्रकृतविरुद्धमेवेति । ननु शोध्यत्वलिङ्गिकायां श्रुतौ सिद्धवन्निर्देशादत्र चाकारसमर्पणलिङ्गात् कोशत्वं चतुर्णां सिद्ध्यति । मतान्तरे तु तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदित्यनुप्रवेशस्याग्रे श्रावणादनुप्रवेशस्य च श्रुत्यन्तरे, अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति जीवकरणकत्वबोधनादत्र शारीरपदाच्च पञ्चानां कोशत्वम् । द्वितीयवर्णकरीत्या विचारे त्वग्रे अस्माल्लोकात् प्रेत्येत्यादिना इत उत्क्रमणपूर्वकमन्नमयाद्युपसंक्रमणश्रावणादेतेषामेव प्राप्यतया फलरूपत्वं सिद्ध्यति । तत्र सिद्धान्ते चतुर्णां विभूतित्वं, पञ्चमस्य परपुरुषरूपत्वात् परमफलत्वम् । पूर्वपक्षे तु पञ्चानामपि विभूतिरूपत्वमिति विशेषः ।

तथापि श्रुतिसमर्थनं तु सर्वत्र तुल्यमतः कुत उत्क्रमणं कस्य प्राप्तिरित्येतत् सर्वमतेऽपि विचारणीयमेवेति चेत् । अत्रेदं प्रतिभाति । तथाहि । ब्रह्मविदाप्नोति परमिति

रश्मिः ।

मूषान्तराकारानुविधायित्वादित्यर्थः । मधूच्छिष्टेत्यादि मूषान्तर्गतयेत्यर्थः । तेनैषेत्यादि तेन प्राणमयेनैषोऽन्नमयः पूर्ण इत्यर्थः । मधूच्छिष्टत्वेन मूषा पूर्णा यथा । प्रकृतमिति प्राणमयम् । पूर्वोक्तमिति अन्नमयम् । पूर्वपरेत्यादि अन्नमयेत्यर्थः । प्रकृतपरेति प्राणमयपरामर्शः । प्रक्रान्तेत्यादि अन्नमयः प्रक्रान्तस्तत्त्यागप्रसङ्गादित्यर्थः । हृदेति सर्वव्यापीत्यादिविषयकबोधनस्योक्तत्वात् मनो बुद्धिः हृन्मनः अज्ञिवकृतिः । यद्वा हृदेकेराच् । तद्भ्रमेणेति कोशत्वभ्रमेण । अत्र विभूतिष्वन्नमयादिषु । तदङ्गीकरणं कोशत्वाङ्गीकरणमपि प्रकृते नैतल्लोकत्यागेन विरुद्धम् । मतान्तर इति उक्तमतान्यमते । पूर्वपक्ष इति द्वितीयपूर्वपक्षे शब्दो योगरूढस्तथायं सिद्धान्तस्य पूर्वस्मिन् पक्ष इत्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

प्रतिज्ञानात् तत आनन्तं तद्विवरणे फलत्वस्यैवोपपादनादिदं फलप्रकरणमेवेति निश्चीयते । एवं सत्यनुप्रवेशश्रुतिः प्रकरणेन संदष्टा परस्य फलरूपस्यैव सर्वत्रानुप्रवेशं समर्पयति । न त्वप्रकरणिनो जीवस्य । नच लिङ्गाद् बाधः । तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवदित्यादिना सत्यमित्याचक्षते इत्यन्तेन वाक्येनानुप्रविष्टसर्वात्मकतायाः सर्वस्य सत्यतायाश्च श्रावणादनुप्रवेशस्य नामरूपव्याकरणार्थतया अश्रावणाच्चास्यानुप्रवेशस्य तस्मादनुप्रवेशाद् भिन्नत्वेनास्य जीवलिङ्गत्वाभावात् । अन्यथा वाक्यपीडापत्तेः । अग्रे च, यदेष आकाश आनन्दो न स्यादित्यनेनानन्दस्यैवान्तराकाशवर्तित्वश्रावणेन प्रकरणस्यैव पोषाच्च । अत आकारसमर्पणस्याप्युक्तरीत्या ब्रह्मकोशत्वसाधकतया मैत्रायणीयश्रुतौ, विश्वभृद्वै नामैषा तनूर्भगवतो विष्णोर्यदिदमन्नं प्राणो वा अन्नस्य रसो मनः प्राणस्य विज्ञानं मनस आनन्दं विज्ञानस्येति भगवत्तनुत्वश्रावणेन, अन्नात् प्राणा भवन्ति भूतानामिति पूर्वोक्ततैत्तिरीयश्रुतौ व्यापकत्वादिब्रह्मलिङ्गश्रावणेन चैतेषां जीवकोशरूपत्वे दूरनिरस्ते, एते विभूतिरूपाः प्राप्या एवेति सिद्धम् । जीवकोशास्त्वेतद्व्यष्टिरूपा इति तावत् प्रेत्यपदोक्तोत्क्रमणलिङ्गादत्र बोधिताः कल्प्यन्ते । तेन श्रुत्यन्तरीयः सिद्धवन्निर्देशोऽप्युपपन्न एव । एवमेतेषां विभूतित्वे जीवकोशाद् भेदे च निश्चिते पूर्वोक्ताभ्यासादिभिरानन्दमयस्य ततोऽपि निष्कर्षात् परमफलत्वं सुसिद्धमिति ब्रह्मवज्जीवः पूर्वोक्तविभूतिव्यष्टिरूपेभ्यः स्वकोशेभ्य उत्क्रम्य मान्त्रवर्णिकसूत्रभाष्योक्तरीत्या क्रमेण समष्टिभूतान्नमयाद्यानन्दमयान्तानि विभूतिरूपाणि प्राप्यानन्दमयो भूत्वा, एतमानन्दमयं परं ब्रह्म प्राप्नोति । 'आनन्दमानन्दमयोऽवसाने' इति द्वितीयस्कन्धवाक्यात् । यद्यप्यत्रानन्दमयो मध्ये नोक्तस्तथापि, 'तडितोऽधिवरुणः संबन्धात्' इतिन्यायेन श्रुत्यन्तरसिद्धत्वान्निवेशनीय इति नात्र विवादलेशः । एवमत्र त्याज्येभ्योऽन्नमयादिकोशेभ्य उत्क्रमणं तत उक्तरीत्या विभूतिरूपाणां तेषामानन्दमयस्य परस्य च क्रमेण प्राप्तिरिति वर्णकद्वयोक्तमुपपन्नतरमित्यवधेहि ।

ननु भवत्वेवं ज्ञानमार्गीयाणां प्राप्तिः, परंतु भक्तिमार्गीयाणां प्राप्तिः कथं व्युत्पाद्या । प्राप्तिर्हि पूर्वमसंबद्धस्य पाश्चात्यसंबन्धरूपा । अत्र चाकारसमर्पकत्वेनानन्दमयस्य लौकिकेऽपि-

रश्मिः ।

बाध इति प्रकरणस्य बाधः । अन्यथेति एतद्भाष्यानुरोधेनोपाधित्यागेन च वाक्ये जीवेनात्मनेत्यत्र पीडा मागत्यागलक्षणापत्तेः । अन्तरिति आनन्दोऽस्यास्तीत्यानन्दः आकाश इति व्युत्पत्तेस्तथा । व्यापकत्वादिति विष्णोर्व्यापकस्य तनुरपि तथा । आदिना प्राणादिकर्तृत्वम् । प्राप्या एवेति एवकारः पूर्वोक्तमतान्तरपूर्वपक्षयोगव्यवच्छेदकः । तेनेति व्यष्टिसमष्टिभेदात् कोशत्वं तेन विभूतीनामप्यविरुद्धत्वम् । श्रुत्यन्तरीय इति शोध्यत्वलिङ्गेन जीवीयकोशबोधकश्रुत्यन्तरमन्नमयं प्राणमयं मनोमयं विज्ञानमयमानन्दमयमात्मा मे शुद्ध्यन्तामिति तत्संबन्धी श्रुत्यन्तरीयः । उपपन्न इति कारणसत्त्वादुपपन्नः । अनुपपन्नत्वं त्वीश्वरे जीवतुल्यतापत्त्या कोशाकल्पनात् । अन्यथा कोशा न स्युरित्येवकारः । ततोपीति विभूतिभ्योपि फलत्वेन निष्कर्षादित्यर्थः । प्राप्येति तेन सेवाफलीयमलौकिकसामर्थ्यफलं स्फुटीकृतम् । आनन्दमयो मूलेत्यर्थे प्रमाणमाहुः यद्यपीत्यादि । तडित इत्यादि अयं न्यायः फलाध्यायस्य तृतीयेस्ति पादे । ज्ञानमार्गीयाणामिति ब्रह्मविदिति व्याख्येयश्रुतेरित्यर्थः । व्युत्पा-

निषेधमुखेन चतुःसूत्र्येदमेवाधिकरणं पुनर्विचार्यते सुदृढत्वाय । इदमत्रा-कूतम् । जीव एवानन्दमयो भवतु । फलस्य पुरुषार्थत्वात् । स ब्रह्मविदानन्दमयो भवतीति स्वर्गादिसुखवदलौकिकमेव रूपमानन्दमयं जीवस्य फलभूतमिति[1] प्राप्तेऽभिधीयते ।

भाष्यप्रकाशः ।

शरीरे स्थितेः पूर्वं सिद्धत्वेन विभूतिरूपाणां चाकाशवद् व्यापकतया स्थितेरर्थात् सिद्धत्वेन भक्तशरीरेष्वपि सत्तया पक्षिरूपेण तेषु भक्तशरीरेषु प्रवेशनिर्वचनाशक्तौ फलप्राप्तेर्व्युत्पादयि-तुमशक्यत्वादिति चेत् । अत्रोच्यते । अनुप्रवेशश्रुत्या, आविशदिति श्रुत्या च पुरेषु भग-वत्प्रवेशो निर्विवादः । पक्षिलिङ्गेनान्येषामपि गतिप्रतिबन्धकीभूतव्यापकत्वोल्लङ्घनात् स निर्विवादः । या पुनः सार्वदिकी स्थितिः सा तु तावन्मात्रकार्यार्थत्वादेतत्फलानुभावने प्रयो-जिका न भवत्येव । यथा काष्ठादिषु वह्निस्थितिर्दाहादौ । एवं सति बहिष्ठो भक्त्या यदान्तः प्रविशति, हृद्येव वा मायामपसार्य प्रादुर्भवति तदा अक्षरात्मकानि विभूतिरूपाण्यपि भगवता सह विशन्त्याविर्भवन्ति वा । अक्षरस्य चरणाद्यात्मकत्वेन तेषामपि तत्त्वात् । इयं तु लौकिकशरीरव्यवस्था । यदा त्वेतत्त्यागेनालौकिकशरीरे प्राप्तिस्तदा तु तत्र वर्तमानत्वात् तेषां कार्यकारित्वमेवेति विशेषः । एवं चाधिभौतिकरूपेण व्याप्तानि तिष्ठन्त्याध्यात्मिकेन प्रविशन्त्याधिदैविकेन कार्यं कुर्वन्ति । आधिभौतिकत्वं च लौकिके नियतम् । आधिदैविकत्वं भगवति नियतं पर्यवसन्नम् । अवान्तरेषु सर्वेषु त्वाधिदैविकादित्रयमपि यथासंभवं सव्यपे-क्षमिति, न क्वापि प्राप्तिव्युत्पत्तिप्रतिबन्ध इति जानीहीति दिक् ॥ १४ ॥

प्रकृतमनुसरामः । अग्रिमसूत्रमवतारयितुं तत्र प्रयोजनमाहुः निषेधेत्यादि । ननु को वा संदेहो येन निषेधमुखविचारावश्यकतेत्यत आहुः इदमित्यादि । यद्यप्यानन्दमयस्य फलत्वं, सर्वापेक्षयोत्कर्षश्च प्रतिपादितस्तथापि फलस्य पुरुषार्थत्वेन पुरुषशेषत्वात्, तस्यैष एव शारीर आत्मेत्यानन्दमयेऽपि श्रावणाज्जीव एवानन्दमयो भवतु । नच मन्त्रवर्णविरोधः । स ब्रह्मवित् सर्वान् कामान् अश्नुते, विपश्चिता ब्रह्मणा सह भूत आनन्दमयो भवतीत्यर्थोक्तौ तदभावात् । तेन यथा स्वर्गसुखमस्य फलभूतं तथा अखण्डैकरसं मुक्तावस्थालौकिकरूपमपी-त्यर्थः । सूत्रं पठित्वा व्याचक्षते ।

रश्मिः ।

चेति अत्र विशेषः फलाध्यायद्वितीयचरणे द्रष्टव्यः । फलप्राप्तेरिति विरहानुभवरूपफलप्राप्तेरित्यर्थः । आधिभौतिकादिभेदेन समादधते अत्रोच्यत इत्यादि । गतीति गतिप्रतिबन्धकीभूतं व्यापकत्वं तस्योल्लङ्घनादित्यर्थः । तावन्मात्रेति द्वा सुपर्णेति श्रुत्युक्तमात्रकार्यार्थत्वादित्यर्थः । एतत्फलेत्यादि विरहफलानुभावने । तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् इति फलानुभावनेन । वह्निस्थितिरिति अन्तर्वह्नि-स्थितिरित्यर्थः । दाहादाविति प्रयोजिका न भवतीति पूर्वेणान्वयः । आधीति नन्वाध्यात्मिकत्वं कुतो नोक्तमिति चेन्न प्रवेशे आधिदैविकजन्ये आधिभौतिकाधिदैविकसंबन्धादाध्यात्मिकत्वमुभय-निष्ठमिति ॥ १४ ॥

1. रूपमिति ।

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥ १५ ॥

इतरो जीवो न । आनन्दमयो न भवति । कुतः । अनुपपत्तेः । जीवस्य फल-रूपत्वमात्रेणानन्दमयत्वं नोपपद्यते । तथा सति तस्य स्वातन्त्र्येण जगत्कर्तृत्वेऽ-प्यलौकिकमाहात्म्यवत्त्वेन निरूपणं नोपपद्यते । अतो न जीव आनन्दमयः ॥ १५ ॥

भेदव्यपदेशाच्च ॥ १६ ॥

इतोऽपि न जीव आनन्दमयः । यतो भेदेन व्यपदिश्यते । 'रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' इति । आनन्दोऽस्यास्तीत्यानन्दी । एष ह्येवानन्दयातीति ।

भाष्यप्रकाशः ।

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥ १५ ॥ इत्यादि । तथा सतीति जीवस्यानन्दमयत्वे सति । निरूपणमिति ब्रह्मणो निरूपणम् । तथाच, 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इत्या-दिनोक्तं माहात्म्यं जीवेऽपि गच्छदेतां श्रुतिं विरुन्ध्यादिति माहात्म्यश्रुत्यनुपपत्तेस्तथेत्यर्थः । नचात्रैव जीवस्य निरङ्कुशजगत्कर्तृत्ववारणे कृते फलाध्यायस्थस्य वक्ष्यमाणस्य जगद्व्यापारवर्ज-सूत्रस्य वैयर्थ्यापत्तिरिति शङ्क्यम् । तत्रैतादृशजगद्व्यापारराहित्यस्याविवक्षितत्वेनावैयर्थ्यात् ॥१५॥

भेदव्यपदेशाच्च ॥ १६ ॥ 'रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' इत्यत्रानन्दीति लब्धृलब्धव्यभेदव्यपदेशो न जीवभेदगमकः । 'आत्मलाभान्न परं विद्यते' इत्यत्र स्वरूपैक्येऽपि लब्धृलब्धव्यभेदव्यपदेशदर्शनेन तस्यानियामकत्वादिति परे मन्यन्ते । तन्निवारणायाहुः एष ह्येवेत्यादि । तथाचानया श्रुत्याऽऽनन्दनीयानन्दकत्वेन भेदनिर्देशाज्जीवब्रह्मभेदे सिद्धे

रश्मिः ।

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥ १५ ॥ प्रयोजनमिति सुदृढत्वं भाष्योक्तं प्रयोजनम् । निषेधेत्यादि जीवब्रह्मनिषेधोपायविचारावश्यकतेत्यर्थः । तस्येत्यादि । सिद्धान्ते तु तस्येत्यभेदे षष्ठी भवति । भवत्विति आनन्दमयत्वरूपफलस्योक्तश्रुत्या पुरुषार्थत्वावसायात् । अभीष्टे लोट् । स ब्रह्मेत्यादि भाष्यमवतारयन्ति न चेति । अत्रैवं जीवस्येति अत्र भक्तदेहे एव जीवस्य ॥ १५ ॥

भेदव्यपदेशाच्च ॥ १६ ॥ तस्येति जीवस्यानन्दप्रचुरत्वनियामकत्वादित्यर्थः । पर इति शंकराचार्याः औपाधिकभेदं जीवानन्दमययोर्मन्यन्ते अतो जीवो नानन्दमय इति । जीवब्रह्मभेद इत्यादि ब्रह्मचिक्रीडिषया भेदे सिद्धे 'आसीज्ज्ञानमयो ह्यर्थः' इतिवाक्यात् भिदां 'मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति' इति भगवद्वाक्याच्च । चिक्रीडिषया भेदे सिद्धे इन्द्रियैर्मायापदवाच्याभिः स गृह्यत इत्येकवाक्यता भेदोक्त्यद्वैतयोः । यद्वा ।

'आत्ममायामृते राजन् परस्यानुभवात्मनः ।
न घटेतार्थसंबन्धः स्वप्नद्रष्टुरिवाञ्जसा' ॥

इति वाक्यान्मायासत्त्वकृतो भेदो वर्तते इत्यदोषः । विकल्प एव वा 'एकोऽहं बहु स्याम् प्रजायेय' इतिश्रुत्या साकं भगवद्वाक्यस्य । श्रुत्योर्विरोधे विकल्प इत्येवं मनुस्मरणात् । इदानीं कथं तर्हि 'आत्मान्वेष्टव्यः' 'आत्मलाभान्न परं विद्यते' 'आत्मन्येवात्मना तुष्टः' इति श्रुतिस्मृतयो भवन्ति । यावता न लब्धैव लब्धव्यो भवतीत्युक्तमित्याशङ्क्य तथाप्यात्मनोऽप्रच्युतात्मभावस्यैव सतस्तत्त्वानव-बोधनिमित्तो देहादिष्वनात्मस्वात्मत्वनिश्चयो लौकिको दृष्टः तेन देहादिभूतस्यात्मनोऽप्यात्मानन्विष्टो अन्वेष्टव्योऽलब्धो लब्धव्योऽश्रुतः श्रोतव्योऽमतो मन्तव्यो विज्ञातव्यः इत्यादिभेदव्यपदेश उपपद्यत

आनन्दयतीत्यर्थः । चकारात् सूत्रद्वयेन जीवो नानन्दमय इति निरूपितम् ॥ १६ ॥

तर्हि जडो भवत्वानन्दमयः । न । आन्तरत्वाच्च कार्यरूपो भवति । किं तु कारणरूपः । स स्वमते नास्त्येव । मतान्तरे तु प्रकृतिर्भवेत् । तन्निवारयति ।

कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥ १७ ॥

जडा प्रकृतिर्नास्तीति कारणत्वेन निराकृतैव । अथैतद्वाक्यान्यथानुपपत्त्या सत्त्वपरिणामरूपा कल्प्यते । सा कल्पना नोपपद्यते । कुतः । कामात् । आनन्दमयनिरूपणानन्तरं, 'सोऽकामयत' इति श्रूयते । स कामश्चेतनधर्मः । अतश्चेतन एवानन्दमय इति । चकारात्, 'स तपोऽतप्यत' इत्यादि । अतोऽनुमानपर्यन्तमर्थमबोधयद् वाक्यं न तिष्ठतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

आनन्दीति निर्देशस्यापि भेदोपोद्बलकत्वे बाधकाभावात् । आत्मलाभश्रुतावपि न जीवलाभस्तात्पर्यविषयः, किंतु परमात्मलाभ एव । तत्र भूम्न एवात्मतया सनत्कुमारेण नारदं प्रति छान्दोग्ये व्याख्यातत्वात् । अतो जीवब्रह्मैक्यस्य तद्रीत्या अभ्युपगमैकशरणत्वमिति दृष्टान्तोऽप्यसंगत एवेत्यर्थः । नानन्दमय इति कस्यामप्यवस्थायां तथा ॥ १६ ॥

कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥ १७ ॥ कामाच्चेति सूत्रद्वयमवतारयन्ति तर्हि जड इत्यादि । नेति । एतदेव विभजन्ते आन्तरत्वादित्यादि । मतान्तर इति सांख्यमते । जडेत्यादि 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः' इत्यादौ प्रधानादिशब्दैः श्रुतावुक्तापि यादृशी सांख्यैर्जडा मूलकारणभूताङ्गीक्रियते तादृशी श्रुतौ नास्तीतीक्षतिसूत्रे कारणत्वेन निराकृतैव । अथ तस्य प्रियमेवेत्यवयवकल्पना वाक्यान्यथानुपपत्त्या आत्मपदार्थं गौणमङ्गीकृत्य आनन्दस्य सुखात्मकत्वेन सत्त्वधर्मत्वात् सत्त्वपरिणामरूपा कार्यभूता कल्प्येत, सा तथेत्यर्थः । अनुमानपर्य-

रश्मिः ।

इत्यादि भाष्यं निरस्यन्ति आत्मलाभेत्यादिना । दृष्टान्तासंगतिमाहुः अत इत्यादि । दृष्टान्त इति यथा मायाविनश्चर्मखड्गधरा उत्सूत्रेणाकाशमधिरोहन्तः स एव मायावी परमार्थरूपो भूमिष्ठोऽन्यः । यथा वा घटाकाशादुपाधिपरिच्छिन्नादनुपाधिपरिच्छिन्न आकाशोऽन्यः इतिभाष्योक्तदृष्टान्त इत्यर्थः । तथेति चकाराद्धेतुसमुच्चयार्थाद्नुपपत्तेर्भेदव्यपदेशाच्च नेतर आनन्दमयः इत्यन्वयात्सूत्रद्वयेन जीवो नानन्दमय इत्यर्थः ॥ १६ ॥

कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥ १७ ॥ प्रधानेत्यादिश्रुतिस्तु श्वेताश्वतरेस्ति । अत्र प्रधानादिशब्दैरिति बहुवचनेन ज्ञायते प्रधानपदेभ्यः सुपां सुलुक् इत्यनेन सूत्रेण लुगिति । ईक्षतिसूत्र इति ईक्षत्यधिकरणस्य 'गौणश्चेन्नात्मशब्दात्' इति सूत्र इत्यर्थः । ईक्षत्यधिकरणस्य नामैकदेशग्रहणमीक्षत्यधिकरणस्य सूत्रे । अथवा स्यादेतदित्यारभ्य युक्त इत्यन्तः संदर्भः ईक्षतिसूत्रस्यैव । ततश्चेत्यारभ्य गौणश्चेत्यादिसूत्राभास इतीक्षतिसूत्र एव निराकृता । उपलक्षणमेतत् । व्यासचरणैर्द्वितीयाध्याये रचनाधिकरणे निराकृतैवेति

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥ १८ ॥

इतश्च न जड आनन्दमयः । अस्मिन्नानन्दमये अस्य जीवस्य च 'आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति' इति तेन रूपेण योगं शास्ति । फलत्वेन कथयतीति । न हि जीवस्य जडापत्तिर्युक्ता । 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' इतिवचनाच्चार्थः । तस्मान्नायं जीवो, नापि जडः । पारिशेष्याद् ब्रह्मैवेति सिद्धम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

न्तमित्यादि । वाक्यश्रवणोत्तरम्, आनन्दमयपदोक्तोऽर्थः सत्त्वपरिणाम आनन्दविकारत्वाल्लौकिकसुखवदित्येवं यावदनुमीयते तावत् ततः पूर्वमेव कामवाक्यश्रवणात् तत्प्रतिहन्यतेऽतस्तथेत्यर्थः ॥ १७ ॥

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥ १८ ॥ इतिवदस्याप्यर्थ इति 'आनन्दमानन्दमयोऽवसाने' इति श्रीभागवतीयवाक्यादानन्दमय एव सन्नानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामतीत्यर्थो ज्ञेय इत्यर्थः ।

एवमधिकरणव्याख्यानं समाप्य विकारशब्दसूत्रे विशेषेणाऽदूषणादधुना परमतं दूष-

रश्मिः ।

व्याख्यानस्य । वाक्येति एतद्वाक्यं 'को ह्येवान्यात्कः' इत्यादि तच्छ्रवणोत्तरमित्यर्थः । प्रतिहन्यत इति प्रतिपक्षेण हन्यते नाश्यते । प्रतिपक्षस्तु आनन्दमयपदोक्तार्थः न सत्त्वपरिणामः कामात् यन्नैवं तन्नैवं यथा प्रकृतिः । अतस्तथेत्यर्थ इति अतः कारणादनुमानमनुमिती रचनानुपपत्त्यधिकरणे तथा व्याख्यानात्तत्पर्यन्तमपेक्षेति मध्यमपदलोपी समासः । अपेक्षणमर्थकम् । ईक्षा दर्शनम् । ईक्ष दर्शन इति धातुपाठात् । एतादृशीमीक्षामवबोधं कारयत्तिष्ठतीत्यर्थे शैषिकोण् । शेष इति सूत्रेण प्रत्ययः । नेति सूत्रे वर्तत एव । वाक्यं प्रयोजककर्तृ स्वार्थाध्याहारात् । अत उक्तमतः कामात्तथेत्यर्थ इति । तथाचायं सूत्रार्थः । अनुमानापेक्षा न कामात् कामवाक्यादिति अत्रापेक्षाशब्दाधिक्यमनुमानं न कामादित्येतावता चारितार्थ्यात् । एवं सत्यानन्दमयपक्षे हेतोः साध्यासामानाधिकरण्यादसाधारणत्वम् । दत्तेत्यपेक्षाशब्दे आनन्दमयपक्षे जडत्वापेक्षारूपप्रतियोग्यभावात् तत्प्रतियोगिकाभावरूपसाधनाभावात् न पक्षे हेतोः साध्यासामानाधिकरण्यं पक्षे हेतोः साध्यासामानाधिकरण्यं स्वेनैव ज्ञेयम् । साधयन्ननुमानपर्यन्तमर्थमवबोधयद्वाक्यं तिष्ठेत्तदा हेतोः साध्यसामानाधिकरण्यम् । वाक्यावस्थानं तु तद्घटकपदानां त्रिक्षणावस्थायित्वेन प्रथमक्षणे सकारोत्पत्तिः द्वितीयक्षणे स्थितिस्तृतीयक्षणे नाशः ओकारप्रागभावश्च चतुर्थक्षणे ओकारोत्पत्तिः पञ्चमक्षणे स्थितिः षष्ठक्षणे ओकारनाशः । ककारप्रागभावश्च इत्येवम् । ततः कामवाक्यनष्टत्वेनानवस्थानात्पक्षेऽनुमानपर्यन्तमवबोधनमेवं सोऽकामयदित्यत्र 'ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणः' इति गीतायास्तच्छब्दस्य शुद्धब्रह्मवाचकत्वेपि कामयतेतिपदसमभिव्याहारात् सृष्टिविषयिणीच्छारजउपाधिविशिष्ट इति विशिष्टे लक्षणेति रजोऽनुमानमत्र । साध्यतावच्छेदकसंबन्धो विशेष्यविशेषणभावः हेतुतावच्छेदकसंबन्धः स्वनिष्ठप्रतिपादकतानिरूपितप्रतिपाद्यतारूपः शब्दार्थसंबन्धस्य नित्यत्वेन संबन्धस्य द्विनिष्ठत्वम् । भाष्ये । तिष्ठतीति 'पदद्वयं द्रुमिकन्तं ताभ्यां चलति वाक्पतिः' इति वाक्यात्तिष्ठतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥ १८ ॥ भाष्ये । जीवस्य चेति इदमा प्रत्यक्षी-

ये पुनरधिकरणभङ्गं कुर्वन्ति, तेषामज्ञानमेव । यतस्तैरप्यानन्दमयः कः पदार्थ इति वक्तव्यम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

यन्ति स्वोक्तसमर्थनाय ये पुनरित्यादि । ये शांकरा एकवारं सर्वसंमतप्राचीनरीत्या व्याख्याय, पुनरिदं त्विह वक्तव्यमित्यादिना प्रायपाठविरोधमाकस्मिकत्वमेकस्यैवावयवित्वावयवत्वाभ्यामसामञ्जस्यम्, असन्नेवेत्यादिश्लोकद्वयविरोधमानन्दप्राचुर्येऽपि दुःखसाहचर्यमब्रह्मत्वापत्तिमानन्त्यैकत्वविरोधमानन्दमयपदानभ्यासं च प्रदर्श्यानन्दमयपदस्य ब्रह्मपरत्वानादरणेन व्यासोक्तस्याधिकरणस्य भङ्गं कुर्वन्ति तेषां श्रुत्यर्थाज्ञानमेव । यतस्तैरप्यानन्दमयपदार्थः क इति प्रश्ने तस्योत्तरं वक्तव्यम् । तस्यानुक्तत्वाद् तथेत्यर्थः । न चानन्दमयपदस्य ब्रह्मपरतायां दूषितायां जीवो वा जडो वा पारिशेष्यादानन्दमयः सेत्स्यतीति कथमनुक्तत्वमिति वाच्यम् । दूषणानामसंगतत्वात् । तथाहि । अस्यामुपनिषद्यारम्भे एव 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति ब्राह्मणोक्तोऽर्थः 'सत्यं ज्ञाने'त्यस्यामृचि संक्षेपेणोक्तः । स एव संपूर्णे प्रपाठके विस्ता-

रश्मिः ।

कृतस्यानन्दमयस्य चकारेण जीवस्य चेत्यर्थः । प्रकृते । व्याख्यायेति आनन्दमयः परमात्मेति स्थितमिति व्याख्यायेत्यर्थः । प्रायपाठेत्यादि 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयस्तस्मादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयस्तस्मादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः' इति च विकारार्थे प्रवाहे सत्यानन्दमय एवाकस्मादर्धजरतीयन्यायेन कथमिव मयटः प्राचुर्यार्थत्वं ब्रह्मविषयत्वं वाश्रीयते इति भाष्येण प्रायपाठविरोधमाकस्मिकत्वं च आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वे दूषणम् । एकस्येत्यादि । तथा सति तदेव ब्रह्मानन्दमय आत्मावयवी तदेव च ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठावयव इत्यसामञ्जस्यं स्यादिति भाष्योक्तं तत् । असन्नेवेत्यादीति । अस्मिंश्च श्लोकेऽननुकृष्यानन्दमयं ब्रह्मण एवाभावाभाववेदनयोर्गुणदोषाभिधानात् गम्यते ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्यत्र ब्रह्मण एव स्वप्रधानत्वमिति । न चानन्दमयस्यात्मनो भावाभावशङ्का युक्ता । प्रियमोदादिविशेषस्यानन्दमयस्य सर्वलोकप्रसिद्धत्वात् इत्यनेन भाष्येण श्लोकविरोधमित्यर्थः । द्वयपदमसदेवेति श्लोकस्याप्येतत्समानयोगक्षेमत्वादुपात्तम् । आनन्देत्यादि आनन्दप्रचुर इत्युक्ते दुःखास्तित्वमपि गम्यते इत्यनेन दुःखास्तित्वम्[1] । अब्रह्मत्वेत्यादि । तथा च सति 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' इति भूम्नि ब्रह्मणि प्रतिशरीरं तद्व्यतिरिक्ताभावश्रुतिरुपरुध्यत इत्यनेनाब्रह्मत्वापत्तिं प्रियादिभेदादानन्दमयस्य भिन्नत्वं ब्रह्म तु न प्रतिशरीरं भिद्यते 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यानन्त्यश्रुतेरित्यनेनानन्त्यविरोधम् 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' इति श्रुत्यन्तरादेकत्वविरोधम् । न चानन्दमयाभ्यासः श्रूयते प्रातिपदिकार्थमात्रमेव हि सर्वत्राभ्यस्यते यदेष आकाश आनन्दो न स्यादित्यादिषु । यस्त्वानन्दशब्दस्य मयडन्तस्यैवाभ्यासोऽयं एतमानन्दमयमुपसंक्रामतीति । न तस्य ब्रह्मविषयत्वमस्तीति विकारात्मनामन्नमयादीनामुपसंक्रमितव्यानां प्रवाहे पठितत्वादित्यनेन भाष्येण आनन्दमयपदानभ्यासम् । तथेति अज्ञानमित्यर्थः । इदं त्विह वक्तव्यमित्यादिनाधिकरणं भञ्जन्ति आनन्दमयस्य प्रकृतत्वात् । ब्रह्मत्वं यत्तदभाणुर्येन भाष्येण तद्भङ्क्तुः तथाहीत्यादिना । भाष्यं तु तत्र यत्तद्ब्रह्म मन्त्रवर्णे प्रकृतं 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति तदिह ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्युच्यते तद्विजिज्ञापयिषया एवान्नमयानन्द-

१. दुःखास्तित्वे सति ।

भाष्यप्रकाशः ।

रेण व्याख्यायते । तत्र ज्ञानशेषस्य ब्रह्मण ऋचि स्वरूपलक्षणवाक्यादेवासंदिग्धं प्रतीतेस्तत्र संदेहानुदयेन तदर्थमुपपादनविस्तारस्याप्रयोजनकत्वात् फलवाक्ये विभक्तिवचनयोर्भेदेन संदेहात् तदर्थं एव संपूर्णप्रपाठक उपपादनीयः । अत उपपादनबीजत्वेन ज्ञानशेषस्य ब्रह्मणो मन्त्रवर्णे प्रकृतत्वकथनमेवासंगतम् । तत एव तद्विजिज्ञापयिषया पञ्चानां कोशत्वकथनमपि तथा । ज्ञेयपरयोरैक्याङ्गीकारोऽपि शब्दान्तरप्रयोजनाननुसंधानात् तथा । विकारप्रत्ययासंभवस्य प्रागुपपादितत्वाच्च प्रायपाठविरोधोक्तिराकस्मिकत्वोक्तिश्चापि तथा । प्रियाद्यवयवयोगस्य बाधकत्वकथनमपि तथा । द्वितीयवर्णकसमाप्तिस्थपरोक्षवादव्याख्यातरीतिकमत्स्यादवाधिकरणप्रादुर्भावाज्ञानात् । केवलनिर्विशेषब्रह्मवादस्यैवास्याधिकरण एव निरस्तत्वाच्च । एकस्यावयवावयविभावविरोधकथनमपि, प्राणस्य प्राणमिति श्रुतिस्थस्य, नेह नानास्तीति मन्त्रस्यार्थाज्ञानादेव । आकारदर्शनं विना नानात्वस्फुरणायोगेन तस्य निषेधानर्हतया तेनैवाकारप्राप्तौ सत्यां नानात्वनिषेधस्यावयवावयविभावविरोधाभाव एव पर्यवसानादिति । एवं, 'कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' इति कृत्स्नपदादपि ज्ञातव्यम् । अकृत्स्नत्वापादकभेदबुद्ध्युदयं विना भेदनिवारणफलककृत्स्नपदवैयर्थ्यस्य दुष्परिहरत्वादिति । एवमसन्नेवेति श्लोकस्य ब्रह्म पुच्छेत्युक्तब्रह्मपरत्वोत्प्रेक्षणमपि निर्हेतुकम् । अन्नमयादिश्लोकानामिवास्याप्यवयवपरतायाः प्राञ्जलायास्त्यागे बीजाभावात् । न च प्रियमोदादिरूपस्यानन्दमयस्य सर्वप्रतीतिगोचरत्वात् तद्विषयकभावाभावशङ्काभावादेतस्य श्लोकस्यासंगतिरेव बीजमिति युक्तम् । उक्तप्रियाद्यवयवविशिष्टावयविरूपेणानन्दमयपुरुषज्ञानस्य स्वतः क्वाप्यदर्शनेनोक्तश्रुतित एव ज्ञानसंभवे तत्र

रश्मिः ।

मयान्ताः पञ्चकोशाः कल्प्यन्ते तत्र कुतः प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्ग इति । ज्ञानशेषस्येति ब्रह्मविदिति श्रुत्यंशे ज्ञानविषयस्येत्यर्थः । तदर्थं ज्ञानशेषब्रह्मार्थम् । विभक्तीत्यादि परमिति ब्रह्मणा विपश्चितेति च विभक्तिभेदः । परमिति सर्वान् कामानिति च वचनभेदः । तदर्थ इति ज्ञानशेषब्रह्मार्थे । तत एवेति ज्ञानशेषस्य ब्रह्मणोऽप्रकृतत्वादेवेत्यर्थः । एतेन नन्वानन्दमयावयवत्वेन ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्युच्यते । अन्नमयादीनामिवेदं पुच्छं प्रतिष्ठेत्यादि तत्र कथं ब्रह्मणः स्वप्रधानत्वं शक्यं विज्ञातुम् । प्रकृतत्वादिति ब्रूम इति भाष्यमपि निरस्तम् । तथेति असंगतम् । संनियोगशिष्टन्यायात् विभूतित्वस्यान्नमयादीनामुपपादितत्वाद्वा । ऐक्येति ब्रह्मविदाप्नोति परमित्यत्रेत्यर्थः । शब्दान्तरेत्यादि उत्क्रमणादिशब्दान्तराणामित्यर्थः । एतच्च द्वितीयाध्यायतृतीयपादे स्फुटम् । ब्रह्मशब्दात्परशब्दः शब्दान्तरं वा । इतः परं क्रमेणोक्तानि दूषणान्युद्धरन्ति स्म विकारेत्यादि । बाधकत्वेत्यादि असामञ्जस्यरूपबाधकत्वेत्यर्थः । द्वितीयवर्णक इत्यादि द्वितीयस्मिन् वर्णके आनन्दमयोऽभ्यासादित्येवं पुनः सूत्रप्रश्लेषेण वर्णके समाप्तिस्थो यो वस्तुतस्त्वित्यादिना भणितः परोक्षवादस्तेनेत्यादि । 'ततो ह जातो भुवनस्य गोपा हिरण्मयः शकुनिर्ब्रह्मनाम' इति श्रुतेः । कदाचित्प्रादुर्भावस्थले शकुनिद्वयदानमपि यथा ब्रह्ममन्तरिक्षदेवेनादेहेन शकुनिद्वयं दत्तं मात्रापरिमाणकम् । बीजाभावादिति

१. श्लोके बहुत बड़ी भारी भाषा कहियत है ।

भाष्यप्रकाशः।

विश्वासरहितस्य निन्दाया विश्वस्तस्य प्रशंसायाश्च बोधनेनास्यासंगत्यभावात्। एवं, 'यतो वाचः' इति वाक्यशेषस्य निर्विशेषसमर्पकत्वकथनमपि तथा। नायमात्मेति मन्त्रे स्वकृततनुविवरणश्रावणेनैतदुत्तरार्धे श्रावितस्यानन्दविस्वस्यापि तत एव सिद्ध्या तदननुगृहीतवाङ्मनसयोरगोचरत्वस्यापि तत एव सिद्धेस्तस्य निर्विशेषसमर्पकतायाः कल्पयितुमशक्यत्वात्। किंचोक्तप्रणाड्या वेदनविषयाणामलौकिकानामेव प्रियादीनामत्र पूर्वोक्तरीत्या परामर्शात् तेषां प्रतिशरीरं भेदाभावादेवानन्दमयस्यानेकत्वमपि न शक्यकल्पनम्। अत आनन्दमयेऽनेकत्वप्रसञ्जनाय लौकिकानां प्रियादीनामादरोऽप्यसंगत एव। यत्पुनर्न चानन्दमयपदाभ्यासः श्रूयत इत्यादिना आनन्दमयपदाभ्यासे आनन्दमयपदाभ्यासस्याशक्यकल्पनत्वमुक्तं तदपि तथैव। यतोऽभ्यासोऽभ्यस्यमानं भिन्दन्नाभ्यस्तपदवाच्येन सामान्यरूपेण तं भिनत्ति, किंतु पदान्तरोक्तेन विवक्षितरूपेण। समिधो यजतीत्यादिरूपे तदुदाहरणे पञ्चसु यागत्वे समानेऽपि पदान्तरोक्तसमिदादिरूपेणैव भेददर्शनात्। एवं सति तत्र यथाभ्यस्तो यजतिः समिदादि-

रश्मिः।

नहि देवदत्तावयवे संपूर्णदेवदत्तत्वमुपपादयितुं शक्यम्। **विश्वासेत्यादि** श्रुत्या प्रतिपादनादेतादृशमेव ब्रह्मेति ज्ञाने[1]रहितस्य। शुद्धमनोवशस्येति यावत्। **विश्वस्तस्येति** श्रुत्या प्रतिपादनादेतादृशमेव ब्रह्मेति सत्यं दधतः। **असंगतीत्यादि** तथा च युक्तिनिषेधे पर्यवस्यत्ययं श्लोकः इति भावः। तथा च नेदमपि ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्यत्र ब्रह्मण एव स्वप्रधानत्वमित्यस्य गमकमित्यानन्दमयावयवत्वेनापि ब्रह्मणि विज्ञायमाने न प्रकृतत्वं हीयते। आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वादित्येवेति भावश्च। **नायमात्मेत्यादि** मुण्डकेऽस्त्ययं मन्त्रः। यत्र ब्राह्मणा[2]नां मन्त्र इति समाख्या स मन्त्र इति मन्त्रलक्षणात्। **स्वकृतेति** स्वां तनुं विवृणुते संभजते प्रकाशनार्थम्। रामोत्तरतापनीयात्। तस्य तनुं स्वां स्वकीयां कृत्वेति वा गुरुतन्वामयोगोलके वह्निरिव ब्रह्मावेशात्। **एतदुत्तरार्ध** इति। यत इत्यस्याः श्रुतेरुत्तरार्धे। **तत एवेति** वृततन्वा एवेत्यर्थः। यतस्तन्वा मनआदिभिरानन्दज्ञानं मनसि जायते इति। **तदित्यादि** तनुविवरणकर्तुरात्मनोननुग्रहीतेत्यर्थः। **तत एवेति** अवृततन्वा एवेत्यर्थः। **तस्येति** वाक्यशेषस्येत्यर्थः। **निर्विशेषेत्यादि** आनन्दं ब्रह्मण इत्यत्रानन्दो मायिको विवर्त इति मायावादः 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इति श्रुतौ मायिकत्वमैन्द्रियकत्वं भिदां 'मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति' इति भगवद्वाक्यादिति। सिद्धान्तान्तरे ब्रह्मवादः। उभयव्यपदेशाधिकरणरीत्या विद्वन्मण्डनोक्तरीत्या च सकलविरुद्धधर्माश्रयो ब्रह्मेति राद्धान्तीयो ब्रह्मवादः। **अत** इति साकारस्यैव ब्रह्मणो व्यापकत्वमिति सिद्धान्तात्। **अभ्यस्यमानमिति** यथात्र प्रस्तुतानन्दम्। **सामान्येति** यथात्र प्रस्तुतानन्देऽभ्यस्तत्वं प्रस्तुतत्वं च तयोरभ्यस्तत्वसामान्यं रूपं प्रस्तुतं विशेषरूपं तथा यागत्वं सामान्यरूपं समिद्यागः तनूनपाद्याग इत्यादौ समिदादिविशेषरूपं विशेषणत्वात्तदुक्तमत्र किं तु पदान्तरोक्तेनेत्यादिना। **पदान्तरोक्तेत्यादि** यद्यपि शास्त्रदीपिकादौ अभ्यस्तविधिश्रुत्या कर्मभेद इत्येवोक्तं तथापि केन रूपेणेति विचार्यमाणे सामान्यरूपेण संभवादेतेनैव रूपेणेति भावः। नैयायिकरीत्या शक्तं पदं स्वीकृत्य स्तुत्या प्राचुर्यार्थकानन्दाभ्यासादन्नमयादिभेदसाधकस्तादृशानन्दाभ्यास इत्याशयेनाहुः

१. सत्याधान। २. ब्राह्मणं वेदान्तेषु ब्राह्मणत्वात्।

न तावज्जीवः। तस्य ब्रह्मज्ञानफलत्वेन, ब्रह्मणा विपश्चितेत्यानन्दमयस्योक्तत्वात्।

भाष्यप्रकाशः।

पदाभ्यासकल्पनानपेक्ष एव समिदादिरूपयागभेदसाधकस्तथात्रानन्दपदमप्यानन्दमयपदाभ्यासकल्पनानपेक्षमेवानन्दमयरूपानन्दभेदसाधकमिति स्फूर्त्या तादृशशङ्काया एवानुदयादिति बोध्यम्। अथानन्दवल्लीभाष्ये यदुक्तमानन्द इति विद्याकर्मणोः फलं, तद्विकार आनन्दमय इति। प्रियादिवासनानिर्वृत्तो ह्यात्मानन्दमयो विज्ञानमयाश्रितः स्वप्न उपलभ्यत इति च। तदप्यसंगतमिति। तत्रान्त्यं दूषयन्ति नेत्यादि। अयमर्थः। ब्राह्मणे परशब्देनोदितं फलं तद्व्याख्यारूपायामृचि न केवलेन कामपदेन शक्यवचनम्। तेषां ज्ञेयब्रह्मापेक्षया अपरत्वेन ऋगुपजीव्यब्राह्मणस्थपरशब्दविरोधापातात्। किंतु विपश्चिद्ब्रह्मपदाभ्यां सहितेन। अतः, सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेत्येतावन्तं ग्रन्थं व्याख्यातुं सर्वप्रपाठक इत्युपपादितम्। तथा सत्यन्नमयादीन्निरूप्य सर्वान्तरः प्रियाद्यवयववानानन्दमयो यो व्याख्यायते स जीवस्य ब्रह्मज्ञानफलत्वेनैव व्याख्यायते। तत्रावयवा एव कामपदार्थोऽवयव्येव विपश्चिद्ब्रह्मेति सिद्ध्यति। उत्तरत्रैतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामतीत्यनेन तादृशस्य तस्यैव पर्यवसि-

रश्मिः।

अत्रानन्दपदमित्यादि। **अत्रेति** ब्रह्मवित्प्रपाठके। **आनन्दमयरूपेति** अत्रानन्दशब्दप्राचुर्येण प्रस्तुतानन्दविवक्षा ज्ञेया। **तादृशेति** आनन्दमयपदाभ्यासश्रवणरूपशङ्कायाः। आनन्दमयपदाभ्यासश्रावणकल्पनानपेक्षत्वेनानुदयात्। अत्राभावस्य प्रतियोगिज्ञानसापेक्षत्वाङ्गीकारादेवकारः। न चैवमपि वर्णके दृष्टान्तविरोध इति वाच्यम्। वर्णक आनन्दपदेनोपसंक्रामतेर्विवक्षितत्वात् स्थानसाम्यात्। तथा चैतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति, एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामति, एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रामति, एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रामति, एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामतीति पञ्चकृत्वोभ्यस्त उपसंक्रामतिरन्नमयादिभेदसाधक इति दृष्टान्तसाम्यं बोध्यम्। अभ्यासादित्यत्र सामान्यरूपेणाभ्यासत्वेनाभ्यासकथनात्। एतेन यस्त्वयं मयडन्तस्यैवानन्दशब्दस्याभ्यासः एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामतीति न तस्य ब्रह्मविषयत्वमस्ति विकारात्मनामेवान्नमयादीनामनात्मनामुपसंक्रमितव्यानां प्रवाहे पठितत्वादिति भाष्यमपि प्रत्युक्तम्। विकारे मयटः प्राप्त्यभावात्। किं चैतेनानन्दमयस्य ब्रह्मत्वे निर्णीते ह्यानन्दपदस्य लक्षणयानन्दमयपरत्वज्ञानादभ्याससिद्धिः। तत्सिद्धौ तन्निर्णय इत्यन्योन्याश्रयफलकं यत्, यदि चानन्दशब्दस्य ब्रह्मविषयत्वं निश्चितं भवेत् तत उत्तरेष्वप्यानन्दमात्रप्रयोगेषु आनन्दमयाभ्यासः कल्प्यते न त्वानन्दमयस्य ब्रह्मत्वमस्ति प्रियशिरस्त्वादिभिर्हेतुभिरित्यवोचामेति भाष्यं प्रत्युक्तम् [**आनन्दमयेत्यादि** अत्रानन्दपदं प्राचुर्येण प्रस्तुतानन्दवाचकमेवमेव सामानाधिकरण्यात्] **विद्याकर्मणोरिति** पुण्यकर्मार्थकं कर्मपदं समासघटकं बोध्यम्। आनन्दसाधनत्वात्। **विकारार्थे**-मयडन्तत्वे स्वानुभवं प्रमाणयति स्म **प्रियादी**त्यादि। प्रियादिकर्मजन्यसंस्कारविशेषरूपवासनया निर्वृत्त आनन्दित इत्यर्थः। **आनन्दमय** इति विषयानन्दमयः फलत्वाद्विज्ञानमयाश्रित इत्यर्थः। **इतीति** इतिर्हेतुवाचकः। तत्र तयोः पक्षयोः। **शक्यवचनमित्यत्र** व्याख्यातुमिति शेषः। **सहितेनेति** कामपदेनेति विशेष्यम्। **उपपादितमिति** उपपादनीयं च संदिग्धमिति भाष्य उपपादितम्। **जीवस्येति** भाष्यीयस्य तस्येत्यस्य व्याख्यानम्। तेनैतद्भाष्यपूर्वभाष्यस्य न तावज्जीव इत्यस्य जीवः प्रियादिवासनानिवृत्तो ह्यानन्दमयो विज्ञानमयाश्रित इत्यर्थः। **कामपदार्थ** इति काम्यन्त इति कामाः प्रियादयः। **तादृशस्य तस्येति** अवयवविशिष्टस्यावयविन इत्यर्थः। तर्कमप्याहुः

भाष्यप्रकाशः।

सफलत्वेनोपसंहारात् स यदि जीवत्वेन विवक्षितः स्यात् प्रथमान्तत्वेनात्र निर्दिष्टः स्यात्। सोऽश्नुत इति श्रुतौ फलशेषिणो जीवस्य प्रथमान्तत्वेनैव निर्दिष्टत्वात्। भोक्तृफलयोरैक्यापत्तिश्च स्यात्। किंचान्नमयादीनां व्यवहारे सतामत्र प्रायपाठेनाकस्मात् तद्विहाय स्वप्नोपलभ्यमानग्रहणे तद्विरोधोऽपि। किंच ब्रह्मांशस्याविद्ययात्यन्तभिन्नत्वमानिनो जीवस्य 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्युक्तो ब्रह्मभावः सर्वात्मभावरूपं ज्ञानं तदधिकाररूपा अविद्यानिवृत्तिश्च न ब्रह्मज्ञानफलत्वेन वक्तुं शक्यानि। ब्रह्मभावस्यावरणभङ्गमात्रेण स्वतो भवनस्य भवतिना बोधनात्। प्रकृते तदङ्गीकारे द्वितीयाविभक्तिपीडा लक्षणादोषश्च स्याताम्। ज्ञानस्य तथा-

रश्मिः।

स यदीत्यादिना स आनन्दमयः। अथ जड इत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म किं चान्नेत्यादि। अन्नमयादीनां पुरुषविधानां जडत्वेपि फलत्वम्। अन्वयस्यानन्दमयत्वात्। आत्मसुखरूपस्वर्गः लोकरूपे स्वर्गेन्वित इति जडोपि लोकः फलं तद्वत्। तदिति स्वर्गं आत्मसुखं तर्हि आत्माश्रितः स्वर्गो लोकस्तर्हि जडः स्वर्गोद्भवदेहादिस्तदाश्रित आसमन्तात् सेवितः इत्युभयोः किमाश्रित इति प्रश्ने-आद्ये आनन्दमयस्य ज्ञानफलत्वे जितं ब्रह्मवादिभिः। द्वितीये दूषणमाहुः जडाश्रितत्व इति। एवकारो विद्यायोगं व्यवच्छिनत्ति। व्यवहारे सतामिति स्वप्नवैलक्षण्यार्थमुक्तम्। तद्विहाय इति जडं धर्मफलं विहाय। तद्विरोध इति स्वाप्निकस्यात्र आनन्दमयस्य ग्रहणे उक्तप्रायपाठविरोध इत्यर्थः। अपिना स्वर्गफलविरोधः। ज्ञानस्यापीत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म किं च ब्रह्मांशस्येत्यादि। ब्रह्म वेदेति वेदनरूपज्ञानेनाविद्यानिवृत्त्या ब्रह्मैव भवति आवरणभङ्गात् ब्रह्मभावः अयमितः प्रेत्य। सर्वात्मभावस्तृतीयाध्याये स नात्र ब्रह्मज्ञानफलत्वेनेति वक्ष्यमाणप्रकारानुपपत्तेस्तस्य प्रदानसाध्यत्वात्। अतोऽहं मनुरभवं सूर्यश्चेत्युक्तः। अयं सशरीरस्य। ब्रह्मज्ञानेति ब्रह्मविदाप्नोति इत्यनेनोक्तं ब्रह्मज्ञानं तत्फलत्वेनेत्यर्थः। अतो ज्ञानस्याप्यवान्तरफलं ब्रह्मभावादि। शक्यानीति 'नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्' इतिसूत्रेण शक्यो ब्रह्मभावः शक्या विद्यानिवृत्तिः शक्यं ज्ञानं तानीमानि शक्यानीत्येवमेकशेषः। कथमत्र तल्लक्षण एव विशेष इति चेन्न अविद्यानिवृत्तिसाध्यः सर्वात्मभावो विद्या विद्याविरुद्धसम्यङ्निवृत्तिश्च ज्ञानात्मिकेति त्रयाणां ज्ञानरूपत्वेन लिङ्गलक्षण एव विशेषादिति। निवृत्तिरभावोधिकरणात्मेति ज्ञानरूपत्वं सिद्धान्तेप्यभावो ज्ञानात्मेति सर्वं सुस्थम्। भवतिनेति 'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे' इतिसूत्रेण तिप् ततः सुबुत्पत्त्या टा तेन तृतीयान्तमिदं पदं बोध्यम्। प्रकृत इति एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामतीत्यर्थः। द्वितीयाविभक्तीत्यादि। कर्मणि द्वितीया इतीति वक्तव्यम्। तच्च कर्म उत्पाद्यं विकार्यं संस्कार्यमाप्यं चेति चतुर्विधम्। तत्र नित्यत्वान्नोत्पाद्यं कर्म आनन्दमयो घटवत्। अपरिणामत्वान्न विकार्यं दधिवत्। नित्यैकरसत्वान्न संस्कार्यं व्रीहिवत्। स्वात्ममात्रत्वान्नाप्यं ग्रामवदिति विभक्तिपीडा विज्ञानमय आपादरूपविभक्तेः शक्तिरूपव्यापारेन्यथाकृते पीडा भवत्येव न च विकारे मयडिति कर्मत्वोपपत्तिरिति वाच्यम्। विकारशब्दसूत्रविरोधात्। ब्रह्मवित्फलत्वाच्च न विकारे मयडिति। आनन्दमय इत्यत्र विज्ञानपदस्याभेदान्वयानुपपत्त्या स्वाश्रिते लक्षणादोषश्चेत्यर्थः। तथात्वेति ब्रह्मज्ञानफलत्वाङ्गीकार इत्यर्थः। अयमर्थः। यथा ब्रह्मणा विपश्चितेति पदाभ्यां यथानन्दमयो गृहीतस्तथा सूर्यो विपश्चिन्मनसा पुनातु इति श्रुत्या विपश्चित्सूर्योपि इति सदानन्दग्रहपवश्चिद्भक्तिरपि तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्येत्यत्र यः पूर्वस्यात्मोक्तः सच्चिद्विपश्चि-

अथ जडः स्वर्गवत् तदा किमाश्रित इति वक्तव्यम्। जडाश्रितत्वे कर्मफलमेव स्यात्। ज्ञानस्याप्यवान्तरफलमिति चेन्न तर्हि किमानन्दात् तस्यातिरिक्तं फलं भविष्यति। जडचिद्रूपतायाः पूर्वमेव विद्यमानत्वात्।

भाष्यप्रकाशः।

त्वाङ्गीकारे तु तस्य, स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः स य एवंवित् इति साधनशेषभूतपुरुषविशेषणत्वेन तत्कोटिनिविष्टत्वात्। साधनरूपस्य फलरूपस्य च ज्ञानस्यावैजात्यात् साधनफलभावव्याहतिश्च। तेन, एतꣳ ह वा व न तपतीत्यादिकं ब्रह्मविन्माहात्म्यबोधनद्वारा विद्यादिमाहात्म्यायैव सिद्ध्यति। अतः श्रुतिव्याख्यानस्यासंगतत्वादानन्दमयो जीव इत्यसंगतम्। एवं द्वितीयं दूषयित्वा आद्यं दूषयन्ति अथ जड इत्यादि। जीवाश्रितत्वे भोक्तृशरीरान्तःपातात् तद्व्यतिरिक्तं जडं वा ब्रह्म वा आश्रित इत्यनयोर्मध्ये

रश्मिः।

ज्ज्ञानरूपः किं न स्यादत उक्तं ज्ञानस्य तथात्वाङ्गीकारे त्विति पूर्वं श्लोकचतुष्टयान्तः प्रपाठकः समर्थितः। अग्रिमपदमीमांसाभिप्रायश्चोक्तः अग्रिमार्थमस्मिन् पक्षे आहुः तस्य स य इति तस्येत्यस्य साधनरूपस्येत्यनेनान्वयः। श्रुत्यर्थस्तु आनन्दमीमांसोक्तः आनन्दस्तच्छन्दार्थः अयमिति परिदृश्यमानः। असाविति विप्रकृष्टः स एकः सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्चेति श्रुतेः। कथनप्रयोजनं तु सूर्यस्य देवपत्नीनामसु निरुक्ते पाठात् पुरुषस्य पत्नीत्वद्योतनाय तदुक्तं टिपण्यां 'स्त्रीप्रायमितरत्सर्वम्' इति टिप्पन्याम्। कश्चिदेव हि भक्तो हि इतिवाक्यादेकवचनम्। साधनेति अस्माल्लोकात्प्रेत्य एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामतीत्याद्युक्तफलसाधनं स य एवंविदित्युक्तं ज्ञानं तस्य शेषमतस्तदर्थः पुरुषः। तस्य विशेषणत्वेन। विशेषणत्वं तु एवंविदित्यस्य पूर्वोक्तप्रकारेण वित्पुरुष इति। फलरूपस्येति विपश्चित्सूर्यरूपस्य। साधनफलेति धर्मादिः। ब्रह्मविदिति साधनं ब्रह्मणा विपश्चितेति फलम्। तेनेति अग्रिमग्रन्थस्यानुक्तस्याभिप्रायाद्यतो वाच इत्यस्यानुक्त्वा तदग्रिमस्याभिप्रायमाहुः एतमिति। श्रुत्यन्तर्गतं ब्रह्मविदमित्यर्थः। अग्रे स एवंविद्वानिति श्रुतयस्तिस्रः। एवंविद्वान् पुण्यपापे अतापकत्वेन विद्वान्, आत्मानं स्पृणुते प्रीणातीत्यर्थः। समत्वेन द्विकर्मकत्वं छान्दसम्। आत्मानुग इति पाठे कर्ता, एते इति कर्म, नगो गिरिराजः। पुण्यपापे प्रीणातीति। तद्यथाऽऽरणे 'नात्र भुवनं न पुरुषा न पशवोः नादित्यः संवत्सर एव प्रत्यक्षेण प्रियतमं विद्यात्। एतद्वै संवत्सरस्य प्रियतमꣳरूपं योस्य महानर्थ उत्पत्स्यमानो भवति इदं पुण्यं कुरुष्व' इति श्रूयते। तत्र निरोधलक्षणग्रन्थोक्तदिशा पुण्यकरणम्। पुण शुभे, पुणे साधु पुण्यं 'तत्र साधुः' इति यत्। पुण्यकरणं 'देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे' इतिश्रुतेः संहिताम्नायाः। 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' इतिश्रुतिः। श्रेष्ठतमं मर्यादाभक्तिरूपं कर्म, तन्निरोधलक्षणग्रन्थ इति। ननु पापस्योपयोगाभावादेते इति द्विवचनमन्यथा बाहुलकादेर्भयमिति चेत्तत्राह उभे इत्यादि। अत्राप्यात्मानमात्मानग इतिपाठद्वयम्। य एवमिति एवं पूर्वोक्तं माहात्म्यं वेदस्यैक्यमाहात्म्ययोः प्रतिपादकत्वादित्यर्थोऽत्र। श्रुतीत्यादि आनन्दवल्लीभाष्यस्येत्यर्थः। आनन्दमयस्य जीवत्वं व्युदस्तम्। जीवाद्याश्रितत्वं तु स्यात्तत्र भाष्यविवरणाय पीठिकामाहुः जीवाश्रितत्व इत्यादि। भोक्तृशरीरं जीवशरीरम्। तदेतिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म तद्व्यतिरिक्तमिति। कर्तृत्वात्फलत्वासंभवेन तद्व्यतिरिक्तं स्वर्गयोग्यं जडं शरीरमित्यादि बोध्यम्। ब्रह्मेति ब्रह्म गणितानन्द आत्मा वाश्रितः। आत्मत्वस्वरूपानन्दविषयः। तथा च स्वर्गवदितिभाष्ये स्वर्गः आत्मसुखं लोको

'अस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इतिश्रुतिविरोधश्च । पुच्छत्वेन ब्रह्मवचनात् प्रद्वेष इति चेत्, तर्हि 'स एको ब्रह्मण आनन्दः' इत्यत्रापि षष्ठ्या भेदनिर्देशाद् ब्रह्मणः परमपुरुषार्थत्वं नाङ्गीकुर्यात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

एकं किंचिद् वक्तव्यम् । तत्राद्ये ज्ञानफलत्वाभावादुक्तश्रुतिविरोध एव दूषणम् । यदि तद्विरोधाय ज्ञानावान्तरफलत्वमङ्गीक्रियते, तदा मुख्यं फलमानन्दादतिरिक्तं किं भविष्यतीति वक्तव्यम् । ब्रह्मभावादीनां फलत्वाङ्गीकारे दूषणानामुक्तत्वात् संसारदशायां जडरूपताया ब्रह्मविश्वदशायां चिद्रूपतायाश्च सत्त्वात् । अत आनन्दमयस्य विकारत्वाङ्गीकारे फलबोधकश्रुतिविरोधः सर्वथा दुर्वार इत्यर्थः । दूषणान्तरमाहुः अस्येत्यादि । स एको ब्रह्मण आनन्द इत्यस्य व्याख्याने ब्रह्मानन्दस्य परमत्वायैतस्यैवानन्दस्येति श्रुतिस्तैरुपन्यस्ता । आनन्दमयस्य विकारत्वे ब्रह्मानन्दैकदेशत्वाभावात् स्फुट एव तद्विरोध इत्यानन्दमयस्य विकारत्वाङ्गीकारः सर्वथा श्रुतिविरुद्ध इत्यधिकरणभङ्गो न युक्त इत्यर्थः । अधिकरणभङ्गस्याशयान्तरमुद्भावयन्ति पुच्छत्वेनेत्यादि । जिज्ञास्यत्वेन मुख्यतया शास्त्रारम्भे बोधितस्य ब्रह्मणोऽनयाधिकरणरचनया न्यूनता समायातीत्यतः प्रद्वेषादधिकरणभङ्ग इत्यर्थः । तद् दूषयन्ति तर्हीत्यादि । स्वप्रधानस्याप्रधानत्वापत्त्या यदि प्रद्वेषस्तदा ब्रह्मण आनन्द इत्यत्राभिन्नस्य षष्ठ्या भेदनिर्देशाद्भयाभावरूपस्य फलस्यानन्दकर्मकज्ञानेनैवोक्तत्वात् तस्य परमपुरुषार्थत्वमपि नाङ्गीकुर्यात् । पुच्छत्ववचनवद्

रश्मिः ।

वा ग्राह्य इतिभावः । भाष्यं विवृण्वन्ति स **तत्राद्य** इति । तत्रोभयोः पक्षयोस्तद्व्यतिरिक्तं जडं स्वर्गलोकयोग्यं शरीरं तत्सेवित आनन्दमयः स्वर्गसुखरूपः इतिपक्षे इत्यर्थः । **उक्तश्रुतिविरोधः** 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इतिश्रुतिविरोधः । तर्हि आत्मसुखं स्वर्गः आत्माश्रितो जडस्तर्हि तस्य ब्रह्मज्ञानफलत्वे जितं ब्रह्मवादिभिरित्यर्थः । **ज्ञानस्येति**भाष्यं विवृण्वन्ति स **यदीत्यादि** । **तर्हीत्यादि**भाष्यं विवृण्वन्ति स **तदेत्यादिना** । भाष्यार्थस्तु जडाश्रितत्व इति यथाधिभौतिकसर्गोऽन्तरिक्षजडाश्रित एवमानन्दमय आत्मसुखं जडाश्रितं प्रजातिरमृतमानन्द इत्युपस्थ इतिश्रुतेस्तत्त्वे कर्मफलं स्पष्टम् यन्न दुःखेन संभिन्नमिति वाक्येन स्वर्गान्तर्गतत्वात् । एवकारेण ज्ञानफलयोगव्यवच्छेदः क्रियते । अवान्तरेति मुख्यमानन्दमयः फलम् । **भाष्ये । तस्येति** ब्रह्मज्ञानस्य । **प्रकृते** । जडचिद्रूपताया इत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति **संसारदशेत्यादि** । फल**बोध**केति । नहि ब्रह्मज्ञानफलमानन्दविकारः संभवतीति विरोध इत्यर्थः । **सर्वथेति** विकारशब्दसूत्रविचारे ब्रह्मकर्मविचारे मोक्षस्य निर्विकारत्वविचारे च हिरण्यगर्भः कर्मणा मुक्तः इति । **दूषणान्तर**मित्यादि पूर्वं विद्यमानो जडो नानन्दमय इति जड आनन्दमयफलमित्याशङ्किनं प्रति ह्यानन्दविकारत्वापत्तिः पूर्वं विद्यमानस्य स्तुतस्येति दूषणान्तरमाहुरित्यर्थः । **परमत्वायेति** अस्यैवानन्दस्येत्यत्र सावधारणत्वदर्शनादितिभावः । अत्र 'अक्षरं ब्रह्म परमं वेदानां स्थानमुत्तमम्' इतिवाक्याद्ब्रह्मवदभिमतानन्दस्य विकृतत्वापत्तिरुक्ता । **ब्रह्मानन्देत्यादि** अस्य निर्विकारत्वादितिभावः । **शास्त्रारम्भ** इति जिज्ञासाधिकरण इत्यर्थः । **अभिन्नस्येति** । ब्रह्माभिन्नस्यानन्दस्येत्यर्थः । **भयाभावेत्यादि** 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' इत्युत्तरश्रुत्येत्यर्थः । **आनन्देत्यादि** ब्रह्मसंबन्ध्यानन्द-

उपक्रमादिसर्वविरोधश्च पूर्वमेव प्रतिपादितः । यदप्यधिकरणमन्यथा रचितं ब्रह्म पुच्छमिति । तत्र न पुच्छस्य ब्रह्मत्वं प्रतिपाद्यते, येनान्यथा समाधानं भवेत् । किं तु ब्रह्मणः पुच्छत्वमिति पूर्वन्यायेनेदं पुच्छं प्रतिष्ठेतिवत् । तत्र श्रुतिबाधो ब्रह्मणाप्यशक्यः ।

भाष्यप्रकाशः ।

भेदवचनस्यापि प्रद्वेषबीजस्य सत्त्वात् । अथ यदि राहोः शिर इतिवद् ब्रह्मण इत्यभेदषष्ठी तर्हि तस्य प्रियमेवेत्यादावप्यभेदषष्ठीमादृत्य पुच्छत्वं भाक्तमङ्गीकार्यं न त्वधिकरणं भङ्क्त्व्यमित्यर्थः । भङ्गे पूर्वोक्तानि दूषणानि स्मारयन्ति उपक्रमेत्यादि । ननु न वयमधिकरणं भङ्क्मः किंतु प्रकारान्तरेण तत् समर्थयाम इत्याकाङ्क्षायां तद् दूषयितुमनुवदन्ति यदपीत्यादि । ब्रह्म पुच्छमिति । ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्यत्र किमानन्दमयस्यावयवत्वेन ब्रह्म विवक्ष्यते, उत स्वप्रधानत्वेनेति संदेहे पुच्छशब्दादवयवत्वेनेति प्राप्तम् । तत्रोच्यते 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' आनन्दमयात्मेत्यत्र ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेति स्वप्रधानमेव ब्रह्मोपदिश्यते । असन्नेव स भवतीति निगमनश्लोके केवलस्य ब्रह्मण एवाभ्यस्यमानत्वादित्येवं रचितमित्यर्थः । तद् दूषयन्ति नत्र नेत्यादि । ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेति वाक्ये पुच्छस्य यदि ब्रह्मत्वं प्रतिपाद्येत तदा शङ्का स्यात् । पूर्वं वेदनविषयतया लक्षितं स्वप्रधानब्रह्मरूपत्वं पुच्छस्य कथमिति । तदा समाधानमपि संभवेदभ्यासात् स्वप्रधानत्वमिति । दृश्यते तु विपरीतम् । तत्र ब्रह्मपदाभ्यासेन कथं समाधानं भवेत् । अभ्यासो हीतरशब्दश्रुतमर्थं स्थापयन्नभ्यस्यमानं परिच्छिनत्ति, न तु तदर्थं बाधते । समिधो यजतीत्यादौ तदुदाहरणे तथादर्शनात् । एवमत्रापि ब्रह्मपदाभ्यासस्तत्समभिव्याहृतपदश्रुतं पुच्छमितरेभ्यः परिच्छेत्स्यति, न तु बाधिष्यते । अतो ब्रह्मणोऽवयवश्रुतिबाधोऽनया रीत्या ब्रह्मणा सर्ववेदपाठिनापि कर्तुमशक्यः, किं पुनरितरेणेति व्यर्थमिदमन्यथारचनमित्यर्थः । दूषणान्तरमाहु

रश्मिः ।

कर्मकज्ञानेनेत्यर्थः । एवकारेण संबन्धिब्रह्मणो योगव्यवच्छेदः । **तस्येति** ब्रह्मणः । **भाक्तमिति** प्रियमोदप्रमोदानन्दानामगणितानन्दानामभेदे षष्ठी उपपन्ना गणितानन्दे ब्रह्मणि तु पुच्छत्वं भाक्तत्वमित्यर्थः । **आनन्दमय इत्यादि** 'आनन्दमय आत्मा मे शुद्ध्यन्ताम् ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयास[१] स्वाहा' इत्यत्र विरजाहोमेऽस्ति । **किंत्विति**भाष्यं विवृण्वन्ति स **दृश्यते त्विति** । **कथं समाधानमित्यादि** यत्र ब्रह्मपदाभ्यासस्तत्र परमात्मत्वं न तु यत्र स तत्र पुच्छत्वमिति भ्यासिकमिति तथा । तदुपपादयन्ति **अभ्यासो हीत्यादिना** अग्रे स्पष्टम् । **तथा दर्शनादिति** यजतेरभ्यासो हि समिदादिशब्दश्रुतमर्थं समिदादिरूपं परिच्छेदकत्वेन स्थापयन्नभ्यस्यमानं यजत्यर्थरूपं यागं समिदादिरूपेण परिच्छिनत्ति न तु समिदादिरूपमितरपदार्थं बाधत इति दर्शनादित्यर्थः । **परिच्छेत्स्यतीति** ब्रह्मपुच्छत्वेन रूपेण परिच्छेत्स्यति । **तत्रे**तिभाष्यं विवृण्वन्ति स **अतो** ब्रह्मण इति । इतःपूर्वभाष्यार्थस्तु पूर्वन्यायेनेत्यस्य व्याख्यानं इदं पुच्छं प्रतिष्ठेतिवत् इतिपूर्वन्यायोऽन्नमयन्यायः तेन । तेन तृतीयान्ताद्वतिः । इदं पुच्छं प्रतिष्ठा इत्यनेनेव इदं पुच्छं प्रतिष्ठा इतिवदिति न तु **भेदार्थं** बाधिष्यत इत्यर्थः । भेदार्थमिति शेषः । **सर्ववेदेत्यादि** ब्रह्मणेत्युक्तेस्तात्पर्यमिदम् ।

१. पुच्छत्वम् । २. पुच्छत्वम् ।

मौर्ख्यं चैतत्। आनन्दमयस्यैव ब्रह्मत्वे न कोपि दोषः स्यात्। आनन्दमयस्याब्रह्मत्वं परिकल्प्य तत्पुच्छत्वेन ब्रह्म वेदबोधितमिति ज्ञात्वा तत्समाधानार्थं यतमानो महामूढ इति विषयफलयोः किं मुख्यमित्यप्यनुसंधेयम्। पुच्छत्वोक्तिस्तु पूर्वभावित्वाय। अत एव ज्ञानविषयत्वं प्रतिष्ठा च। आनन्दमयो ब्रह्मण्येव प्रतिष्ठित इति। अत्रावयवावयविभावो भाक्त इति तु युक्तम्।

भाष्यप्रकाशः।

मौर्ख्यमित्यादि। एतत् अन्यथारचनम्। चकारादधिकरणभङ्ग उभयमपि मौर्ख्यम्। तत्र हेतुरानन्दमयस्येत्यादि। त्वदुद्भावितानां दोषाणां प्रागेव परिहृतत्वादन्येषां चाभावात् तथेत्यर्थः। ननु प्रकारान्तरेण योजनं कौशलाय भवतीति कथं मौर्ख्यमित्यत आहुः आनन्दमयस्याब्रह्मत्वमित्यादि। तथाच भवेत् कौशलाय यद्यानन्दमयस्याब्रह्मत्वं न कल्पयेत्, पुच्छश्रुतिं च न बाधेत्। तत्तु करोतीत्यतस्तथेत्यर्थः। ननु शास्त्रे प्रकृतं ब्रह्मैव मुख्यमतस्तस्य तथात्वं साधयितुमयं यत्नः कथं मौढ्यायेत्यत आहुः विषयेत्यादि। प्रकृतत्वस्योभयत्र तौल्यान्न तेन रूपेण मुख्यत्वं निर्णेयं किंतु रूपान्तरेण। तथा सति तु त्वदभिमतस्य न मुख्यत्वं किंतु फलस्येति विषयमुख्यत्वार्थमपार्थो यत्न इत्यर्थः। ननु भवत्वेवं तथापि विषयत्वेनावश्यकस्य पुच्छत्वोक्तिकृतोऽपकर्षः कथं सोढव्य इत्यत आहुः पुच्छेत्यादि। सा तु पूर्वं तत्प्राप्तिबोधनाय। न हि द्वारं गृहं वा अप्राप्य तत्र स्थितं पुरुषं कश्चित् प्राप्नोति। तेन तथेत्यर्थः। अत्र गमकमाहुः अत इत्यादि। आनन्दमयस्य तत्र स्थितौ गमकमाहुः प्रतिष्ठेत्यादि। नन्वेवं सति द्वैतमापद्यते, तच्च नेह नानाऽस्तीत्यादिभिर्निषिद्धमतो नोक्तं साधीय इत्यत आहुः अत्रेत्यादि। भाक्तत्वस्य प्रामाणिकत्वान्न द्वैतापत्तिदोष इत्यर्थः। ननु भाक्तत्वे भवता हंसाकारः कथं समर्थनीय इति

रश्मिः।

मौर्ख्यमिति आनन्दमयस्यैव ब्रह्मत्वे कल्पनालाघवं तदकरणात् पाण्डित्यविरुद्धं मौर्ख्यम्। पण्डा-लाघवबुद्धिः सा न जातेति। तत्तु करोतीति पुच्छवत्पुच्छं प्रतिष्ठापरायणमेकनीडं लौकिकस्यानन्दजातस्य ब्रह्मानन्द इत्येतदनेन विवक्ष्यते नावयवत्वम्। 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इति श्रुत्यन्तरादिति भाष्येण पुच्छश्रुतिबाधकरणं बोध्यम्। अतस्तथेत्यर्थः अतः कारणान्महामूढ इत्यर्थः। गुरुव्यासोक्तानन्दमयस्य ब्रह्मत्वकल्पनं मोहादिति मूढः तमःकार्ययुक्तः शंकरत्वात् तत्पुच्छत्वेन ब्रह्मवेदबोधितमिति ज्ञात्वा तत्समाधानार्थं यत्नो महामोहादिति महामूढो महेश्वर इत्यर्थः। ब्रह्मविदित्यत्र ब्रह्मज्ञानविषयत्वेन प्रकृतं सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता इत्यनेन सावयवब्रह्मरूपानन्दमयं फलत्वेन प्रकृतम्। एवं च प्रकृततावच्छेदकफलत्वावच्छिन्नं आनन्दमयमेव मुख्यं न तु प्रकृततावच्छेदकविषयत्वावच्छिन्नं ब्रह्मेत्युपक्रमोपि फलरूपस्यानन्दमयस्यैवेत्याहुः प्रकृतत्वस्येत्यादिना 'योपध' इत्यस्य लिङ्गानुशासनसूत्रस्यैतदतिरिक्तो विषयः। नन्वेवमिति पुच्छरूपाक्षराभिन्नत्वे सति तत्प्रतिष्ठितत्वे सति। भाक्तत्वस्येत्यादि 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स

१. मौर्ख्यं तिरिक्तः।

प्राणमयादीनामपि तथात्वात्। अन्तःस्थितस्य बाह्यानुरोधेन तथात्वमिति सर्वं सुस्थम्॥ १८॥

इति प्रथमाध्याये प्रथमपादे पञ्चममानन्दमयाधिकरणम्॥ ५॥

भाष्यप्रकाशः।

शङ्कायामाहुः अन्तरित्यादि। बाह्यो जीवस्तदनुरोधेन तथाकार इति न कोऽपि शङ्कावकाशः। तत्प्रकारस्य पूर्वमेवोपपादितत्वात् सर्वं प्राचां वचनं समीचीनमेवेत्यर्थः। एवं च यच्छङ्कामतीनिबन्धे पक्षद्वयं व्याख्यायोक्तम्।

'प्रायपाठपरित्यागो मुख्यत्रितयलङ्घनम्।
पूर्वस्मिन्नुत्तरे पक्षे प्रायपाठस्य बाधनम्' इति।

अर्थस्तु, आनन्दमयपदस्य ब्रह्मार्थकत्वपक्षे मयडर्थस्य विकारस्य त्यागेन प्राचुर्याङ्गीकारेण प्रायपाठपरित्यागः। आनन्दमयपदस्य ब्रह्मण्यप्रसिद्धस्य लक्षणया योगेन वा ब्रह्मणि व्याख्याने मुख्यार्थोल्लङ्घनम्। आनन्दपदाभ्यासेन च ज्योतिरधिकरणपूर्वपक्षे ज्योतिःपदेन ज्योतिष्टोमवदानन्दमयो लक्ष्यत इत्यानन्दपदस्यापि मुख्यार्थोल्लङ्घनम्। पुच्छपदं च बालधौ शक्तमानन्दमयावयवे गौणमिति तत्समानाधिकरणब्रह्मपदमपि स्वार्थत्यागेन तत्परमतस्तस्यापि मुख्यार्थोल्लङ्घनमिति चत्वारो दोषाः। विकारार्थकत्वपक्षे तु ब्रह्मपदस्य न स्वार्थत्यागो, नाप्यानन्दमयपदस्य, न चानन्दपदस्य। पुच्छपदमुख्यार्थबाधस्त्ववयवपरतायामधिकरणपरतायां च तुल्यः। अवयवप्रायपाठबाधश्च विकारप्रायपाठबाधेन तुल्य इति विकारार्थग्रहणपक्ष एव साधीयानिति। तदपि व्याख्येयपूजनमात्रमेव, न तु तात्त्विकम्। विकारार्थस्य प्राणमये बाधितस्य घटाकाशदृष्टान्तेनोज्जीवयितुमशक्यत्वात्। आप्राकृत-

रश्मिः।

शृणोत्यकर्णः' इत्यादिश्रुतिषु पर्युदासार्थकनञ्श्रावणादिति भावः। तदनुरोधेन तथेति जीवे प्रवेशानुरोधेन तथा हंसाकार इत्यर्थः। नन्वानन्दमयस्यैव साकारत्वमिति सिद्धान्तात् कथं विज्ञानमयानुरोधेन हंसाकार इत्याकाङ्क्षायां समाधानमाहुः तत्प्रकारस्येत्यादि। पूर्वमेव मान्त्रवर्णिकसूत्र एव जीवोत्र मुख्य इत्यादिना वर्णयतीत्यन्तेन। तथा च स सिद्धान्तः पौरुषाकारपरो न तु हंसाकारमात्रपर इति भावः। एवं चेति प्राचां सर्ववचनस्य समीचीनत्वे प्रकारे चेत्यर्थः। पक्षद्वयमित्यादि। प्राचुर्यविकाररूपपक्षद्वयं व्याख्याय वाचस्पतिकेनोक्तं पूर्वस्मिन्नित्यादि। पूर्वस्मिन् प्राचुर्ये उत्तरे विकारे अप्रायपाठस्येत्यादिरित्यर्थः। मुख्यत्रितयलङ्घनं व्याचष्टे आनन्दमयपदस्येत्यादिना। अप्रसिद्धस्येति। ननु क्व प्रसिद्धिरिति चेत्कोशे इति गृहाण। लक्षणयेति ब्रह्मकोशयोर्जन्यजनकभावो लक्षणा तया। लक्ष्यत इति विकारविकार्यभावसंबन्धेन लक्ष्यते। विकारविकार्यभावसंबन्धो लक्षणा। तत्समेति तदेकार्थकेत्यर्थः। भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वे सत्येकार्थबोधकेत्यर्थः। भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तैकार्थबोधकत्वसंबन्धो लक्षणात्र। दोषा इति पूर्वस्मिन् पक्ष इत्यर्थः। उत्तरे पक्षे इत्यादि। व्याकृतेत्यत्राप्रायपाठस्य बाधनमित्युपलक्षणमित्याशयेन विकारेत्यादि। अवयवेत्यादि विकारपक्षेवयवपरतायां प्राचुर्यपक्षे पुच्छस्य ब्रह्मत्वमिति तन्मते पुच्छस्य ब्रह्मत्वाधिकरणपरतायां तुल्य इत्यर्थः। प्राचुर्यपक्षे विकारपक्षे अवयवप्रायपाठबाधश्च आनन्दविकारेति ब्रह्मपुच्छावयवेनौचित्यादिति। व्याख्येयपूजनमात्रमिति भाष्यस्य यथा कथंचन समर्थनमेव पूजनं तदेव पूजनमात्रम्। विकारार्थस्येत्यादि। उपपादितं चैतद्विकारशब्दसूत्रे। आप्राकृतमित्यादि

भाष्यप्रकाशः ।

माच पण्डितं कस्यापि घटाकाशे घटविकारत्वप्रत्ययस्याभावात् । घटभृते दुग्धादावपि तथाप्रत्ययाभावेन दृष्टान्ताभावादनुमातुमप्यशक्यत्वात् । लोके शास्त्रे तथाप्रयोगस्य क्वाप्यनुपलम्भादिति । एवं बाधिते विकारपाठे तस्य आयताया अपि वन्ध्यासुतसौन्दर्यदेशीयत्वात् । किंच । शब्दमात्रमोङ्कारस्य विकृतिः । ॐकारस्तु ब्रह्मवाचक एवेति तद्विकृतयः सर्वेऽपि शब्दा उत्सर्गतो ब्रह्मवाचका एव । 'ॐमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्' इति,

'सर्वनाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद्वाचकः परमात्मनः, ।
स सर्वमन्त्रोपनिषद्वेदबीजं सनातनम्' ॥

इति, 'तस्य वाचकः प्रणवः' इति श्रुतिपुराणपातञ्जलस्मृतिभिस्तथानिश्चयात् । अतः शक्तिसंकोचेनैव व्यवहारसिद्ध्यर्थं तत्तद्वदन्तीति तन्निवर्तनायैवाचार्यः श्रौतान् हेतून् ब्रूत इति प्रागेव निर्णीतमिति नानन्दमयानन्दब्रह्मपदानामपि मुख्यार्थोल्लङ्घनम् । अतः पूर्वस्मिन् दोषाभावाद् द्वितीयस्मिन्नेव व्याकरणविरोधादिरूपदोषबाहुल्यादुत्तर एवासाधुरिति । यदपि वेदसूत्रयोर्विरोधे, गुणे त्वन्यायकल्पनेति सूत्राण्यन्यथा नेतव्यानीत्युक्तम् । तदप्यसंगतम् । तथाहि । इदं हि, 'विप्रतिपत्तौ विकल्पः स्यात् समत्वाद् गुणे त्वन्यायकल्पनैकदेशत्वात्' इति नात्रमिकतृतीयपादस्थसूत्रस्यैकदेशभूतम् । सूत्रस्य त्वेवं विषयः । ज्योतिष्टोमेऽग्नीषोमीयपशावेकवचनान्तबहुवचनान्तौ पाशोन्मोकमन्त्रौ भिन्नयोः शाखयोराम्नातौ । अदितिः पाशं प्रमुमोक्त्वेतमिति तैत्तिरीये ।

रश्मिः ।

'आङ् मर्यादाभिविध्योः' इति सूत्रेण समासे आप्राकृतं चापण्डितमित्येव चकारो मध्ये रभसात् अङ्दिाकारो वा । **अनुमातुमिति** प्राणाद्यवच्छिन्नाकाशः प्राणादिविकारः विकारत्वात् यो यदवच्छिन्नः स तस्य विकारः घटाकाशवत् प्राणादिविकार आकाशः प्राणाद्यवच्छिन्नः विकारत्वात् यो यस्य विकारः स तदवच्छिन्नः घटाकाशवदिति । घटभृतदुग्धादिवद्वेत्येवमनुमातुमित्यर्थः । **अशक्यत्वादिति** स्वरूपासिद्ध्यवतारणात्तथा । **वन्ध्येत्यादि** । इदं पदं सदृशे लाक्षणिकम् । तथा चेषद्वन्ध्यासुतसौन्दर्यसदृशत्वादित्यर्थः । ईषदर्थे देशीयर्प्रत्ययः । पूर्वस्मिन्पक्षे मुख्यत्रितयोल्लङ्घनं नास्तीत्याहुः **किं चेत्यादिना** । एवकारः कुत इत्यत आहुः **ॐमित्येतदिति** । तथा च श्रुतेरेवकार इति भावः । **अत इति** उपव्याख्यानमित्यत्रोपशब्दात् । **शक्तीत्यादि** शक्तिस्तु ब्रह्मणि उक्तवाक्यात् । घट इत्युक्तेपि वेदान्ते भासचेष्टयोरपि कर्तृत्वसंबन्धेन ब्रह्मण्यन्वयात् । परमात्मन इत्युक्त्या स्वोपपदार्थेषु तु उक्तसंबन्धेनान्वयाभावाच्छक्तिसंकोचलक्षणया योगकाविरोधकरूढ्येत्यर्थः । घटपटादौ योगासंभवादेवकारः । ननु व्यवहारे ब्रह्मवद्घटादिष्वपि व्यवह्रियतामित्यत आहुः **व्यवहारेति** । अस्ति ब्रह्मत्वेन घटादिविषयके महात्मनां नास्त्याधुनिकानां तेषां व्यवहारसिद्ध्यर्थमित्यर्थः । यथादृष्टं व्यवहारः ज्ञानवताम् । **तत्तदिति** तदित्यव्ययं घटादिपदानीत्यर्थः । तद्घटादिकर्मीभूतम् । **आचार्य इति** महात्मा व्यासः ब्रह्मत्वेन घटादिज्ञानवत्त्वाद् ब्रूत इति । **श्रौतानित्यादि** । श्रुतिनिष्ठान् हेतून् तद्धर्मोपदेशादीनित्यर्थः । **प्रागेवेति** ईक्षतिसूत्र एव । **यदपीत्यादि** । **उक्तं** वाचस्पतिकेनोक्तम् । **गुणत्वादिति** विभक्तिप्रातिपदिकयोः प्रातिपदिकानां प्राधान्यं संख्याया गुणत्वं विभक्तिप्रातिपदिकयोः

१. पक्षे हेत्वभावः स्वरूपासिद्धिः ।

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥ १९ ॥ (१।१।६)

'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णस्तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः । उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेदेत्यधिदैवतमथाध्यात्ममथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इत्यादि । तत्र

भाष्यप्रकाशः ।

अदितिः पाशान् प्रमुमोक्त्वेतानिति शाखान्तरे । तत्र संदेहः । बहुवचनान्तो मन्त्रः प्रकृतौ निविशते न वेति । तत्र प्रकरणवशेन प्राप्तावपि विकल्पापादकत्वाद् बहुवचनस्यैकस्मिन् पशुपाशे असमर्थत्वाच्च न निवेशो युक्त इति बहुपाशकपशुगणयुक्तासु विकृतीषूत्कर्षव्य इति पूर्वः पक्षः । सिद्धान्तस्तु पाशरूपप्रातिपदिकार्थान्वितं विभक्त्यभिहितं कर्मकारकं प्रकृतावप्यस्तीति पाशकर्मकोन्मोचनाभिधानेन संभवन्मन्त्रो नोत्कर्षं सहते । संख्यामात्रं त्वसंभवदपि गुणत्वान्न प्रातिपदिककारकयोः प्रधानभूतयोरुत्कर्षणसमर्थम् । इह संख्याप्यविवक्षिता । पाशकर्मणोरभिधानमात्रेण व्यवहारस्य सिद्धेः । किं चैकस्मिन्नप्यवयवबहुत्वाभिप्रायेण छान्दसो बहुवचनप्रयोगोऽवकल्पते । अतो गुणेऽन्यायकल्पनाया अदुष्टत्वात् प्रकरणानुरुद्धो विकल्प एव युक्त इति । एवं चात्र सूत्राणां वेदार्थनिश्चायनाय प्रवृत्तत्वेन संख्यावदेकदेशत्वाभावात् तदन्यथानयने मीमांसाद्वयस्य वेदस्य च विप्लवापत्तेरिति । वस्तुतस्तु ।

'युक्तिभिरतिशिथिलाभिः समादधानो दृढान् दोषान् ।
वाचस्पतिरपि भाष्ये व्याख्यान्व्याजेन दूषणं ब्रूते' ॥

इति बोध्यम् ॥ १८ ॥

इति पञ्चममानन्दमयाधिकरणम् ॥ ५ ॥

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥ १९ ॥ अथ य एष इत्यादि । इदं छान्दोग्ये प्रथमप्रपाठके श्रूयते । विषयवाक्यमुपन्यस्य संशयाकारमाहुः **किमित्यादि** । तथाचात्र त्रिकोटिकः

रश्मिः ।

प्रातिपदिकं मुख्यम् । धर्मिवाचकत्वात् । विभक्तिस्तु गुणभूता कर्मकरणादिसंबन्धरूपधर्मवाचकत्वात् । संख्यायास्तु विभक्त्यपेक्षयापि गुणत्वं विभक्तिवाच्यकर्मकारकगतसंख्याभिधायित्वादिति बोध्यम् । यद्वा, प्रातिपदिकार्थान्वितविभक्त्यभिहितकर्मकारकातिरिक्तमसंभवद्वस्तुत्वं गुणत्वं तस्माद्गुणत्वात् । संख्याविवक्षितापीत्याहुः **किं चैकस्मिन्नित्यादि** । **गुण इत्यादि** संख्यायां पाशावयवगतबहुत्वसंख्यालक्षकत्वकल्पनाया इत्यर्थः । एवं संख्यामुक्त्वा तस्य दृष्टान्तस्य वैषम्यमाहुः **एवं चेत्यादिना** । **व्याख्याव्याजेनेति** यथावयवप्रायपाठबाधश्च विकारप्रायपाठबाधेन तुल्यः इति । स्वपक्षे दोषमनुद्धार्य परपक्षे दोषदानरूपवितण्डासत्त्वात् ॥ १८ ॥

इति पञ्चमाधिकरणम् ॥ ५ ॥

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥ १९ ॥ **श्रूयत इति** । श्रुत्यर्थस्तु हिरण्मयो ज्योतिर्मयः । पुरुषः पुरि शयनात् । दृश्यते समाहितचेतोभिः । आप्रणखादानखाग्रम् । तेन सर्वोपि सुवर्णप्रचुरः । अक्ष्णोर्विशेषमाह कपेरासनमिव तेजस्वि पुण्डरीकमेवंभूते तस्याक्षिणी तस्योदितिरिति नाम ।

संशयः । किमधिष्ठातृदेवताशरीरमाहोस्वित् परब्रह्मेति, ब्रह्मणो वा शरीरमिति । तदर्थमिदं विचार्यते । हिरण्मयशब्दः सुवर्णविकारवाची, आहोस्वित् प्रकाशसाम्येनानन्दवाचीति । ब्रह्मविदाप्नोति परमित्युपक्रम्य आनन्दमयस्य फलत्व-

भाष्यप्रकाशः ।

संशय इत्यर्थः । **तदर्थमिदं विचार्यत** इति तादृशसंशयोत्पत्त्यर्थं तस्य बीजं विचार्यत इत्यर्थः । तदाहुः **हिरण्मयेत्यादि** । ननु जन्माद्यधिकरणसमन्वयाधिकरणाभ्यां लक्षणकथनादिना सप्रकारां कारणतां विचार्येक्षत्यानन्दमयाधिकरणाभ्यामसंभवादिदोषनिरासेन सा

रश्मिः ।

एतज्ज्ञानफलमाह **उदेतीति** । एतदग्रे तस्यर्क् साम च गेष्णौ तस्मादुद्गीथस्तस्मात्त्वेवोद्गातैतस्य हि गाता स एष ये चामुष्मात्परात्पराञ्चो लोकास्तेषां चैव देवकामानां चेति पठितं तदग्रे **इत्यधिदैवतमिति** । तदग्रेऽथाध्यात्ममिति । तदग्रे वागेवर्क् प्राण इत्यादि । तदग्रे अथ यदेतदक्ष्णः शुक्लं भा इत्यादि । तदग्रे य एषोन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यत इति एतासामर्थोऽग्रे वक्तव्यः । **किमित्यादीति** । अत्र भाष्ये । **अधिष्ठात्रित्यादि** । हिरण्मयवपुरिति वक्ष्यमाणवाक्यादित्यर्थः । इदमेव वाक्यं ब्रह्मण इत्यादावपि ज्ञेयम् । **विचार्यत** इति यथा दृश्यमानशास्त्रान्नातिवर्तेत द्विकोटिकश्च भवेदित्यर्थः । **हिरण्मयेत्यादीनि** । अत्र भाष्ये । **आनन्दवाचीति** ‘आनन्दरूपममृतं यद्विभाति’ इति श्रुतेः प्रकाशस्यानन्देन्यत्र च साम्येनानन्दवाचीत्यर्थः । गौणी लोके हिरण्मयस्यानन्दजनकत्वात् जन्यजनकभावसंबन्धो लक्षणा । ज्ञानं जातिस्तस्यात्र भातीत्यनेनामृतनिष्ठभावानुकूलव्यापारकथनेन कथनात् । व्यापारस्यानात्मत्वात् । जातौ शक्तिराकृत्यधिकरणानुरोधात् । विशिष्टे शक्तिरिति द्वितीयसुबोधिन्याम् । व्यक्तौ शक्तिरिति प्रस्थानरत्नाकरे उभयशास्त्रफलितमुक्तम् । ‘सत्यं ज्ञानमनन्तमानन्दं ब्रह्म’ इति भाष्यश्रुतेः आनन्दविशिष्टे ज्ञाने ब्रह्मपदशक्तिर्वा । अन्यस्माद्वाङ्निवृत्तिश्रुतेः । तत एव तद्धर्मशक्तेरपि । न च ज्ञानत्वविशिष्टे ज्ञानस्यानन्दत्वविशिष्टे आनन्दस्य शक्तिः जातौ विशिष्टे व्यक्तौ वा । सत्ताया विद्यमानत्वेप्यात्मानतिरेकात् । ज्ञानानन्दवद्वर्तमानत्वेपि सत्तामात्रमित्यत्र देवकीस्तुतौ धर्मताप्रतिषेधात् । नन्वेवं सति ज्ञानवत्त्वेनात्मानं व्यभाङ्क्षीस्त्वं तथा सति वेदस्यात्मपदादेर्ज्ञानादिमति लक्षणाज्जाजुगुपदिति चेन्न । सत्यं ज्ञानमनन्तमानन्दं ब्रह्मेत्यत्र ज्ञानवत्त्वेनात्मानं व्यभाङ्क्षुः । पूर्वं इति । वेदमीमांसायां सास्ति न तु वेदान्तमीमांसायां, आनन्दत्वानन्दतत्संबन्धानामेकत्वात् । एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मेति श्रुतेः । अतो लघुभूषणे ।

‘सत्यासत्यौ तु यौ भागौ प्रतिभावं व्यवस्थितौ ।
सत्यं यत्तत्र सा जातिरसत्या व्यक्तयो मताः’ ॥ ७२ ॥

प्रकृतेऽसत्यांशाभावाज्जातिरात्मा वाक्यपदीयात् आत्मा ब्रह्म कोशात् ब्रह्मज्ञानमिति स्पष्टम् । अत आनन्दे ज्ञानं जातिस्तद्वदन्यत्रापि । दूरत्वादुपाध्यधीनश्चाक्षुषः संशयोऽयं तु शाब्दो विरुद्धशब्दोपजन्यः । विरोधश्च सहानवस्थानलक्षणो हिरण्मये आनन्दत्वाभाव आनन्दे हिरण्मयत्वाभावो ह्यविदुषाम् । यद्यज्जनकं तत्तद्गुणकं यद्यद्गुणकं तत्तदात्मकमिति व्याप्तिभ्यां हिरण्मयस्यानन्दजनकत्वादानन्दत्वमिति चेद्विभाव्येत तदा तु हिरण्मयस्वरूपदृढोपाधिर्बलीयान् । सहावस्थानलक्षणविरोधं प्रापयिष्यति । तथा च शरीरत्वेनैकविधो दृष्टः परब्रह्मत्वेन चापर उद्भावितोऽतितेजस्विपदार्थदर्शनात् । न च संदेहो नोपपद्यते श्रुत्या ‘ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती’ इत्यग्निपुराणबाधादिति वाच्यम् । पुराणस्यापि पञ्चमवेदत्वादुपबृंहणत्वाच्चेति । **लक्षणेत्यादि** आदिना प्रकारः स च निमित्तत्वादिः । **असंभवेत्यादि** । अव्याप्त्यति-

१. आनन्दम् ।

मुक्त्वा द्वितीयोपाख्याने, स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः स य एवंविदिति साधकस्यानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्येति फलं श्रुतम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

परीक्षिता । तथा सति लक्षणप्रमाणाभ्यां ब्रह्मज्ञानस्य सौकर्यात् तावतैव च ततः फलसिद्धेः किमनेनाधिकरणेनेत्याकाङ्क्षायां पूर्वाधिकरणेनास्य संगतिं वक्तुमाहुः **ब्रह्मविदित्यारभ्य, विचाराकरम्भ** इत्यन्तम् । **द्वितीयोपाख्यान** इति यद्यपि प्रथमप्रपाठक एतादृशं वाक्यमस्ति । तथापि तत्र, स एको ब्रह्मण आनन्द इति गणितानन्दं प्रस्तुत्य तत्पठितं, न तु वाङ्मनसागोचरं प्रस्तुत्येति पूर्णब्रह्मविदस्तदनुपयुक्तमिति शङ्का स्यादतस्तदभावायैतदुक्तम् । अत्र हि सर्वान्ते एतदुक्त्वाग्रे, हावु हावु इत्यहोअर्थकेन शब्देन वीप्सया आश्चर्यमुक्त्वा, अहमन्नमित्यादिना सर्वात्मभावं ब्रह्मभावं चाह । तेनैतज्ज्ञानमक्षरसायुज्ये परब्रह्मसायुज्ये च फलोपधानायावश्यकमित्येतस्य कथनम् । ननु भवत्वेवं, तथाप्यस्य विचारे किं बीजमिति वाच्यम् ।

रश्मिः ।

व्याप्त्यसंभवरहितोऽसाधारणधर्मो हि लक्षणमिति तथा । अशब्दत्वे लक्षणशब्दस्याप्रवृत्तेरसंभवः । आनन्दे ब्रह्मत्ववासनावतां जगज्जन्मादिकर्तृत्वस्याव्याप्तिर्लक्ष्यत्वात् । येषां त्वक्षरधियां तादृशवासनाभावस्तेषामतिव्याप्तिरानन्दे लक्षणस्येति ज्ञेयम् । **परीक्षितेति** यथा पूर्वतन्त्रे ‘तस्य निमित्तपरीष्टिः’ इतिसूत्रयता श्रीजैमिनिना परीक्षिता, तथोत्तरतन्त्रेपीति भावः । **फलसिद्धेरिति** ब्रह्मात्मविषयकशाब्दज्ञानरूपं फलमत्र । **एतादृशमिति** स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः स य एवंविदिति । [**सर्वात्मभावमित्यादि** पृथिवी वान्नमित्यत्रात्मभावः सर्वात्मभावः व्याहृतिर्ब्रह्मभावात् पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठित इत्यग्रेतनश्रुतेरन्तरिक्षमपि ज्ञेयम् । सर्वेषामात्मत्वं सर्वात्मभावः । अस्मत्पदार्थस्यात्मत्वमन्नस्य देहत्वमादिशब्देनाहमन्नाद इत्यादिनाकाशरूपान्नादरूपस्य ब्रह्मणो भावो ब्रह्मत्वं ब्रह्मभावः । आकाशोन्नाद इति श्रुतावाकाशशरीरं ब्रह्मेति श्रुतेर्ब्रह्मशरीरमाकाशः अहं श्लोककृदित्यादिना संघातकृत् ब्रह्मवदाकाशद्वारा । श्लोकृ संघाते ।] **एतदिति** आनन्दवल्ल्यां हि यतो वाचो निवर्तन्त इतिश्रुतिवाक्यानन्तरं ‘एतं ह वाव न तपति किमहं साधु नाकरवम्, किमहं पापमकरवमिति’ इति निरूप्य स एवं विद्वानित्यनेन वाङ्मनसागोचरं प्रस्तुत्यात्मप्रीणनमुक्तम् । एतमित्यस्यैवंविदमिति भाष्यम् । ज्ञानं च शाब्दमत्र सर्वेषु । अग्रे भृगुप्रपाठकेपि पूर्णब्रह्मवित्त्वं न हीयत इति एतत् द्वितीयप्रपाठकस्थं ‘स यश्चायं पुरुषे’ इति वाक्यमुक्तमिति भावः । यद्वा वारुण्यां विद्यायामानन्दमात्रपर्यवसितिदर्शनेनानन्दः पूर्णं ब्रह्म तत्प्रस्तावनाग्रे इत्येतदुक्तम् । ननु तर्हि अक्षरब्रह्मविदः एतदनुपयुक्तमत आहुः **अत्र हीत्यादि** । **अहमन्नमित्यादिनेति** ‘अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहमन्नादोहमन्नादोहमन्नादः । अहं श्लोककृदहं श्लोककृदहं श्लोककृत् । अहमस्मि प्रथमजा ऋतास्य पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य नाभायि यो मा ददाति स इदेव मावा अहमन्नमन्नमदन्तमाद्मि । अहं विश्वं भुवनमभ्यभवां सुवर्णज्योतिः य एवं वेद इत्युपनिषत्’ इत्यनेनेत्यर्थः । अत्राक्षान्तिकतया सर्वात्मभावं सर्वस्मिन्नात्मभावः सर्वात्मभावः । अत्राक्षान्तिकया ब्रह्मभावं ब्रह्मणोऽन्नादस्य भावोऽन्नादत्वं, अत्र हि अन्नपदेन भोग्यमन्नादपदेन भोक्ता अग्रे कार्यकारणसंघातकर्तुरभेदं गदति ‘श्लोकृ संघाते’ इतिधातुपाठात् संघातकृत्त्वं तज्ज्ञापकम् । **तेनेत्यादि** । **ज्ञानं शाब्दम्** ।

तत्र सवितरि विद्यमानस्याब्रह्मत्वे फलं नोपपद्यत इति विचारारम्भः। तत्र हिरण्मयशब्दो विकारवाची। केशनखादयश्चोच्यन्ते शरीरधर्माः। 'मृता वा एषा त्वगमेध्या यत् केशश्मश्रू' इति शरीरमन्तरा नोपपद्यते। परिच्छेदश्चाधिदैविकादिवचनं च बाधकम्।

भाष्यप्रकाशः।

तस्यैव भयं विदुषोऽमन्वानस्येत्यनेन मननाभावे भयस्योक्ततया तदापत्तेरेव बीजत्वादित्याशयेनाहुः तत्र सवितरीत्यादि। तथाचास्य हेतुतागर्भः प्रसङ्गोऽत्र संगतिरित्यर्थः। किं चायं जन्मादिसूत्रस्थविचारः सर्वस्याग्रिमविचारस्य मूलम्। तत्राग्रे, फलमत उपपत्तेरित्यनेन सर्वफलदाता भगवानेवेति वक्तव्यम्। ततोऽग्रे चतुर्थेऽध्याये निषेधमुखेन प्रतीकोपासना, विधिमुखेनाङ्गोपासनाश्चादित्यादिमतिसूत्रे वक्तव्यास्तत्र मतान्तरोक्तरीत्या प्रतीकोपासनानामब्रह्मपरत्वेऽपि तद्वाक्योक्तफलसिद्धिस्तदन्तःस्थाद् ब्रह्मण एवेति ज्ञापनायाङ्गोपासनानां ब्रह्मपरत्वे तदुक्तमवान्तरफलं तत्क्रतुत्वरूपं मुख्यं फलं च भगवत एवेति ज्ञापनाय चाप्येतद् बोध्यम्। तेनान्तःपदघटितेषु वाक्यान्तरेषु सत्स्वप्येतस्यैव विषयवाक्यत्वेनोदाहरणेऽप्येतदेव बीजमिति बोध्यम्। पूर्वपक्षमाहुः तत्रेत्यादि। विकारवाचीति मयन्तत्वाद् विकारार्थकप्रत्ययवान्। नोपपद्यते इति मृतत्वक्संबन्धो नोपपद्यते। परिच्छेदश्चेत्यादि अन्तराऽऽदित्य इत्यनेनोक्तस्तदन्तर्वर्तित्वकृतः परिच्छेदः। इत्यधिदैवतमित्यनेनोक्तमाधिदैविकवचनम्। 'आध्या-

रश्मिः।

अक्षरेति वैद्योऽविधानाशो नाक्षरसायुज्यं पृथिव्यास्तद्विकाराणामभावेहमन्नमित्यादौ ह्यन्नाभानापत्तेः किं तु अक्षरकार्याविष्टाक्षरसायुज्यमतस्तेन सर्वात्मभावब्रह्मभावयोः सातत्येन फलोपधानापेक्षणेन स यश्चायं पुरुष इतिश्रुत्युक्तादित्यैक्यशाब्दज्ञानं फलोपधानायावश्यकमेवं परब्रह्मसायुज्यं न संयोगजन्यं कारणे व्यङ्गत्वात् किं तु संयोगविप्रयोगसंचारिभावजन्यं वैराग्यरूपसंचारिणो मुख्यत्वमतो ब्रह्मभावः साधनं ब्रह्मविदिति श्रुतेः। उक्तश्रुत्युक्तं शाब्दं ज्ञानं फलोपधानायावश्यकं सहकारिकारणम्। एतस्येति श्रुत्युक्तशाब्दज्ञानस्य फले सायुज्ये सहकारिकारणोपधानाय सहकारिकारणभावाय। तदापत्तेरिति एवकारोऽप्यर्थे। फलोपधानायावश्यकत्वरूपबीजसमुच्चयाय। तथा चेत्यादि। भाष्ये। स यश्चायमिति श्रुतौ। सवितरीत्यादि फलमेतमानन्दमयमुपसंक्रम्येति श्रुत्युक्तमानन्दमानन्दमयोवसान इति श्रीभागवतोक्तं च श्रुतावेक इत्यानन्दमयैक्यम्। विचारेति अस्पष्टत्वेन विचारारम्भ इत्यर्थः। प्रकृते। अस्य हेतुतेति अस्याधिकरणस्यात्राधिकरणे। हिरण्मय आनन्दमय इत्यत्रानन्दमयत्वविशिष्टहिरण्मयज्ञानरूपविशिष्टज्ञाने विशेषणज्ञानस्य कारणत्वाद्धेतुता। एकसंबन्धिज्ञानमपरसंबन्धिस्मारकमिति नियमादधीतवेदान्तानां आनन्दमयरूपसंबन्धिज्ञानं संबन्धिन एकार्थप्रतिपादकत्वरूपसंबन्धेन हिरण्मयप्रतिपादकस्य वाक्यस्य स्मारकमिति स्मृतस्य हिरण्मयप्रतिपादनस्योपेक्षानर्हत्वमिति प्रसङ्गसंगतिः। वाक्यान्तरेष्विति। एतान्यन्यत्रैवान्यमतानुवादे लिखितानि। एतदेवेति उक्तमननमपि। एवकारोऽप्यर्थ इति फलोपधानावश्यकत्वमपि बीजम्। छान्दसं हिरण्शब्दं मत्वाहुः मयजित्यादि तथा च हिरण्यविकारवाचीति भाष्यार्थः। इत्यधीत्यादि। श्रुतिस्तु प्रथमविषयवाक्येऽन-

अतः सर्वथा तच्छरीरमिति मन्तव्यम्। चाक्षुषत्वाच। इन्द्रियवत्त्वं च श्रूयते। यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्येति। कपेरास आसनम्। आरक्तं तस्यासनं भवतीति। असभ्यतुल्यता च। अतो देहेन्द्रिययोर्विद्यमानत्वाज्जीवः

भाष्यप्रकाशः।

त्मिकस्तु यः प्रोक्तः सोऽसावेवाधिदैविकः' इति स्मृतौ तस्याध्यात्मिकाभेदकथनादाध्यात्मिकस्य च जीवत्वात् तद्वचनमपि ब्रह्मत्वबाधकमित्यर्थः। आदिपदं, य एषोऽन्तरक्षिणीति, अथाध्यात्ममित्यादिनोक्तानामक्षिपुरुषधर्माणां संग्रहाय। अक्षिपुरुषविचारोऽपि, स यश्चायं पुरुष इति श्रुत्यर्थनिर्णयायेति बोध्यम्। मन्तव्यमिति उक्तहेतुभिर्निश्चेयम्। एवं देहत्वसाधनेन देहित्वं साधयित्वेन्द्रियवत्त्वं साधयति इन्द्रियेत्यादि। कप्यासमिति उपवेश-

रश्मिः।

न्तरं तस्यर्क् च साम च गेष्णौ तस्मादुद्गीथस्तस्मात्त्वेवोद्गीतैतस्य हि गाता स एष ये चामुष्मात् पराञ्चो लोकाः तेषां चेष्टे देवकामानां चेत्यग्रे इत्यधिदैवतमिति पूर्वमुक्तम्। श्रुत्यर्थस्तु तस्योदितिनाम्नो गेष्णौ पृथ्व्याद्युक्तलक्षणे पर्वणी तस्मात्परमात्मोद्गीथः। यत एतस्योदिन्नाम्नो गाता तस्मादेवोद्गायति इत्युद्गातेत्युद्गातृनामप्रसिद्धिः स एष उन्नामामुष्मादादित्यात्। किं च लोकाधिष्ठातारो देवास्तेषां कामानां फलानां चेष्टे ईशिता। इत्यधिदैवतमुद्गीथस्वरूपं देवस्येत्यर्थः। य एष इत्यादि। श्रुत्यर्थस्तु अथ भिन्नप्रक्रमे। अस्यां परिदृश्यमानायां। श्रुतिस्तु अथाध्यात्मं वागेवर्क् प्राणः साम तदेतदस्यामृच्यध्यूढं[१]साम तस्मादृच्यध्यूढ[१]साम गीयते इति। अत्रे वागेव सा प्राणोऽमस्तत्सामेति श्रुत्या सामनिर्वचनम्। इतराणि निर्वचनानि प्रोच्यन्ते चक्षुरेवर्गात्मा साम तदेतदस्यामृच्यध्यूढ[१]साम तस्मादृच्यध्यूढ[१]साम गीयते। चक्षुरेव सा आत्मामस्तत्साम श्रोत्रमेवर्ङ्मनः साम तदेतदस्यामृच्यध्यूढ[१]साम तस्मादृच्यध्यूढ[१]साम गीयते श्रोत्रमेव सा, मनोमः, तत्सामाथ यदेतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम तदेतदस्यामृच्यध्यूढ[१]-साम तस्मादृच्यध्यूढ[१] साम गीयते अथ यदेवैतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैव साथ यं नीलं परः कृष्णं तदमः तत्सामेति अग्रेऽथ य एषोन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैवर्क् तत्साम तदुक्थं तद्यजुः तद्ब्रह्म तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्यरूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नामेति अस्या अर्थः। दृश्यते योगिभिरपि सार्वात्म्यमुद्दिष्टैरतिदिष्टैर्धर्मैः पूर्णात्मत्वं चक्षुष्टपुरुषस्य। अतीति 'अन्यत्रैव प्रतीतायाः' इति कारिकोक्तातिदेशः। अतिदेशवाक्यगतं कार्यं स यश्चायमितिश्रुतावन्वयम्। नाम्नेति नामनिर्वचनस्य तस्योदिति नाम 'स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः' इतिश्रुतौ। सैव पुरुष ऋक् उक्तव्यादन्यच्छब्दजातं लिङ्गव्यत्ययस्तु विधेयलिङ्गापेक्षया बोध्यः। तस्यैतस्य चक्षुष्टपुरुषस्य तदेवं रूपं परममुष्यादित्यरूपस्य हिरण्मय इति यौ ऋक्सामरूपौ अमुष्यादित्यपुरुषस्य गेष्णौ पर्वणी तावस्यापि गेष्णौ यदमुष्यादित्यरूपस्य पुरुषस्य नामोदिति उद्गीथ इति च तदेवास्य नामेति। अक्षिपुरुषेति मिथुनत्वशुक्लत्वादीनामित्यर्थः। नन्वेकयैव निर्वाहे द्वितीयस्याः किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां तदाहुः अक्षीत्यादि। तथा च स यश्चायं पुरुष इत्यत्र यच्छब्दार्थपुरःसरं श्रुत्यर्थनिर्णयायेत्यर्थः। तदग्रे स्पष्टीकरिष्यतेऽस्माभिः। फलं स्वस्याधिकारीत्यस्य व्याख्याने देहित्वमिति आदित्यान्तःस्थदेहित्वम्। भाष्ये। अत इत्यादि उक्तवाक्येभ्यः। कश्चिदिति विज्ञानमय इति सर्वोपनिषदि सूर्यविशेषणात्। अधिकारीति आनन्दमय इत्यर्थः।

१. मिथुनम्। २. यन्नीलमिति छेदः। ३. सुरमः। ४. तत्-अः-मः।

कश्चिदधिकारी सूर्यमण्डलस्थ इति गम्यते । फलं तत्सायुज्यद्वारेति । अथोच्येत, एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित इति । अपहतपाप्मत्वादिधर्मश्रवणात् । पूर्वदोषस्यापि विद्यमानत्वात् ब्रह्मण एव केनचिन्निमित्तेन शरीरपरिग्रह इति । तस्य च शरीरस्य कर्मजन्यत्वाभावादपहतपाप्मत्वादि संगच्छते । सुवर्णशरीरत्वमप्यलौकिकत्वात् ब्रह्मण एव संगच्छते । शरीरवदिन्द्रियस्यापि परिग्रहः । वर्णमात्रपरिग्रहात्तासभ्यता । स्थावरापेक्षया जङ्गमस्योत्कृष्टत्वात् स्थावरावयवोपमानवज्जङ्गमावयवोपमानं स्थावरस्यापीति सर्वब्रह्मभावाय श्रुत्युक्तत्वाच्च । तस्मात्

भाष्यप्रकाशः ।

नार्थकस्यासतेः करणे घञ् । कपेर्मर्कटस्यासनमधोभाग इव कप्यासम् । उपमावाचकपदलोपाल्लुप्तोपमा । तेन रूपकातिशयोक्तिः । ननु यदि स जीवः स्यात् तदा तैत्तिरीये परिकरान्तानामुपासनानामनन्तरं, स यश्चायमिति वाक्यं नोच्येत । तथा बृहदारण्यके, आदित्यो वा एष एतन्मण्डलं तपतीत्यनुवाके त्रयीविद्यात्मकत्वमुक्त्वा, आदित्यो वै तेज ओजो बलमिति तदग्रिमानुवाके ब्रह्मणः सायुज्यꣳ सलोकतामाप्नोतीति फलं नोच्येतेति शङ्कायामाह फलमित्यादि आनन्दमयोपसंक्रमणरूपं फलं स्वस्याधिकारिसायुज्यद्वारा भवतीत्येतदर्थं तदनन्तरमुच्यते । 'आदित्यो वै तेज' इत्यत्रापि ब्रह्मणः सायुज्यमित्याद्युक्त्वा, 'एतासामेव देवतानाꣳ सायुज्यꣳ सार्ष्टिताꣳ समानलोकतामाप्नोति य एवं वेद' इत्युच्यते । एवमधिष्ठातृदेवताशरीरकोटिः साधिता । ब्रह्मशरीरकोटिं साधयति अथोच्येतेत्यादि । अनया श्रुत्या असाधारणब्रह्मधर्मश्रावणादयं ब्रह्मैवेत्युच्येतेत्यर्थः । तद् दूषयति अपहतेत्यादि । स्थावरस्येति पुण्डरीकस्य । एवमुपमाप्रयोजनं तु ब्रह्मप्रवेशेन सर्वस्य ब्रह्मभावबोधनम् । ब्रह्मदाशा इतिवत् ।

रश्मिः ।

आनन्दमयो विज्ञानमयो 'विज्ञान आदित्यः' इति श्रुतेरानन्दमयफलाधिकारीत्यर्थः । प्रकृते । अनन्तरमिति उपासनायाश्चित्तशुद्धिः । नोच्येतेति । स्वस्याधिकारीति । अत्रायं, स यश्चायं पुरुष इतिश्रुत्यर्थनिर्णयः । यश्चायं पुरुषः अन्तरक्षिणि पुरुषः कुतोयं निर्णयः प्रसिद्धपुरुषार्थत्यागेन । एवं तु स्यात्, अत्रैकपदेनाभेद उच्यते, स नाविद्यावच्छिन्नमायावच्छिन्नयोः संभवतीति प्रसिद्धं परित्यज्याक्षिस्थितो मायावच्छिन्नपुरुषो गृह्यते । तस्य ब्रह्मत्वमग्रेऽधिकरणे वक्ष्यते इति एवमभेद उपपन्नः । सार्ष्टितामिति समाना ऋष्टिः ऋद्धिः । जीवस्योपासाफलत्वायोगात् । इति फलमिति । आदित्यो वै तेज ओजो बलमिति ज्ञानस्य फलम् । ब्रह्मण इति षष्ठ्या विभाजितं जीवात् ब्रह्मेति । सैषा त्रय्येव विद्या तपति य एषोन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुष इत्युक्तहिरण्मयः । अयं ब्रह्मैवेति पदत्रयमध्याहृत्य भाष्यं योजयन्ति अनयेत्यादिना । उच्येत इति विधावधीष्टे वा लोट् । अपहतेत्यादीति । भाष्ये । पूर्वदोषस्येति विकारमयडन्तपदप्रतिपाद्यत्वस्य । प्रकृते । सर्वब्रह्मेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म एवमुपमेति । ब्रह्मप्रेत्यादि तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदितिश्रुत्युक्तेन । सर्वस्येत्यादि जङ्गमस्थावररूपस्य, ब्रह्मभावो ब्रह्मत्वं समत्वं 'निर्गुणं हि समं ब्रह्म' इतिश्रुतेस्तस्य बोधनम् । ब्रह्मदाशेति 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति श्रुत्या सर्वस्य ब्रह्मत्वेपि सेव्यं ब्रह्मपदवत् सेवकेन्तःकरणारूढं न भवतीति ब्रह्मत्वविधानं तद्वदसभ्येप्युपमानत्वं न भविष्यति तत्परिहारायैवमसभ्योपमेत्यर्थः । इतिवदिति यत्तु वृत्तावसु क्षेपण इत्यस्यास इतिरूप-

ब्रह्मण एवेदं शरीरमित्येवं प्राप्ते, उच्यते ।

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥

अन्तर्दृश्यमानः परमात्मैव । कुतः । तद्धर्मोपदेशात् । तस्य ब्रह्मणो धर्मा उदित्यादिधर्मा उपदिश्यन्ते । 'स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः' इति । अयमाशयः । ब्रह्म कारणं, जगत्कार्यमिति स्थितम् । तत्र कार्यधर्मा यथा कारणे न गच्छन्ति । तथा कारणासाधारणधर्मा अपि कार्ये । तत्रापहतपाप्मत्वादयः कारणधर्मास्ते यत्र भवन्ति तद् ब्रह्मेत्येवावगन्तव्यम् । बलिष्ठत्वात् कारणधर्मस्य । नामतुल्यतामात्रमुभयेषामपि धर्माणाम् । ते श्रुत्येकसमधिगम्या ब्रह्मणि । लोके प्रमाणा-

भाष्यप्रकाशः ।

स्फुटमन्यत् ।

सूत्रं पठित्वा समादधते अन्तरित्यादि । ननु बाधकानां बहूनामुक्तत्वाद्धर्मोपदेशमात्रेण कथं ब्रह्मत्वनिश्चय इत्यतस्तद् व्युत्पादयन्ति अयमाशय इत्यादि । स्थितमिति पूर्वाधिकरणैर्निर्णीतम् । कार्यधर्मा इति कार्यासाधारधर्माः । दृष्टं चैतत् । न हि घटीया जलाहरणयोग्यत्वादयो मृत्पिण्डकपालादौ गच्छन्ति । न वा मृत्पिण्डादिसंस्थानविशेषा घटादौ । अथ यदि गच्छेयुस्तदा कार्यकारणयोर्वैलक्षण्यं न भवेत् । कार्यकारणव्यवहारश्च भज्येत । अतो ये असाधारणा धर्मास्तेऽन्यत्र न गच्छन्तीति नियतम् । तत्र प्रकृतवाक्ये, 'तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः' इत्यनेनोक्तमपहतपाप्मत्वम् । तथा आदिपदेनाक्षिपुरुषवाक्ये 'सर्क् तत्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद् ब्रह्म तस्यैतस्यैतदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम' इत्यनेनोक्तमृक्सामादिसार्वात्म्यं यन्नाम तन्नामेत्यतिदिष्टं नामनिर्वचनहेतुभूतमपहतपाप्मत्वं च, 'य आत्मा अपहतपाप्मा' इतिश्रुत्यन्तरे ब्रह्मासाधारणधर्मत्वेन सिद्धम् । तथा, इदं सर्वं यदयमात्मेति श्रुत्यन्तरसिद्धं सार्वात्म्यं च कारणभूतब्रह्मासाधारणधर्मरूपं नान्यगामि तदत्रोपदिश्यते । एवमन्येऽपि श्रुत्यन्तरोक्ता असाधारणा ब्रह्मधर्मा यत्र भवन्ति तद् ब्रह्मेत्येवावगन्तव्यम् । तेन सूत्रे अन्तःपदं स्थानान्तरस्याप्युपलक्षकं, न तु तावन्मात्रपर्यवसन्नमिति बोधितम् । नच केशनखादीनां कार्यधर्माणामपि बोधनात् कथं विनिगमनेति शङ्क्यम् । उपजीव्यत्वेन नित्यत्वेन च कारणधर्मस्य बलिष्ठत्वात् । न चापहतपाप्मत्वं स्वाध्याये मुख्यप्राणे चोच्यते, सार्वात्म्यं च चतुर्मुखादावतः कथमसाधारणत्वमिति शङ्क्यम् । यतो नामतुल्यतामात्रमुभयेषां धर्माणाम् । स्वाध्यायादौ ह्यपहतपाप्मत्वं पापराहि-

रश्मिः ।

त्यस्य प्रासोस्मिन्नित्यधिकरणार्थकघञा सिद्ध्यतीत्युक्तं तद्भाष्यासंमतम् । स्फुटमिति । अत्र भाष्ये वर्णमात्रेत्यादिमात्रपदेन कपेरासनरूपस्य द्रव्यस्य व्यवच्छेदः । प्रकृते । उक्तत्वादिति पूर्वपक्षे तथा । सर्क् तत्सामेति व्याख्यातैषा । अव्याख्यातमाहुः सार्वात्म्यमित्यारभ्य य इत्यन्तम् । ऋक् सामेति हेतुमत्तम् । इदं सर्वमिति इदं परिदृश्यमानं सर्वं यत् तदयमात्मेत्यर्थः । सार्वात्म्यमिति अयमात्मेत्यतिदिष्टं जगन्निष्ठमिदम् । अन्य इति अस्विभात्यादयः । तेनेति । अथवा 'य एषोन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इत्यादावक्षिपुरुषेपि तद्धर्मोपदेशेन । तावन्मात्र इति । आदित्यमण्डलान्तस्थमात्रेत्यर्थः । बलिष्ठत्वादित्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति न च केशेत्यादि । नामतुल्यतामात्रमित्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति न चापेत्यादिना । कथमित्यत उपपादयन्ति स्वाध्यायेत्यादि ।

न्तरमपि प्रवर्तते । अतः सर्वरसादयो ब्रह्मनिष्ठा एव धर्माः । स्थूलत्वादयस्तु ये ब्रह्मणि निषिध्यन्ते, अस्थूलादिवाक्येषु ते कार्यधर्माः । अणोरणीयानित्यादिषु कारणधर्मा एव । अत एकोऽप्यसाधारणो धर्मो विद्यमानः शिष्टान् संदिग्धानपि ब्रह्मधर्मानेव गमयति । इममेव श्रुत्यभिप्रायमङ्गीकृत्य सर्वत्र ब्रह्मवाक्यनिर्णयमाह

भाष्यप्रकाशः ।

त्यरूपं, स्वाध्यायो देवपवित्रमिति य एवंविदि पापं कामयत इति तत्र तत्र लिङ्गात् । अत्र तु सर्वकर्माञ्जनराहित्यरूपम् । 'अनन्वितं ते भगवन् विचेष्टितं यदात्मना चरसि च कर्म नाज्यसे' इति श्रीभागवतवाक्यात् । एवं चतुर्मुखादिसार्वात्म्यमपि साङ्कसम् । 'अविज्ञाय परं मत्तः एतावत्त्वं यतो हि मे' इति द्वितीयस्कन्धे नारदं प्रति ब्रह्मवाक्यात् । अत उदित्यादीनामेवं कारणभूतब्रह्मासाधारणधर्मत्वे सिद्धे तत्सहपठितानां दृश्यत्वहिरण्यश्मश्रुत्वादीनामपि ब्रह्मधर्मत्वमेव बोध्यम् । यतस्ते श्रुत्येकसमधिगम्या ब्रह्मणि । लोके तु तेषां गमकं प्रमाणान्तरमपि वर्तते । अत एतद्वत् 'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः' इत्यादिश्रुत्यन्तरोक्ताः सर्वरसादयोऽपि ब्रह्मनिष्ठा एव धर्मा बोध्याः । श्रुत्येकसमधिगम्यत्वस्य तेष्वपि तौल्यात् । नचैवं मति स्थूलत्वादिप्राप्तिः शङ्क्या । तेषां श्रुत्या निषिध्यमानत्वेन कार्यधर्मत्वात् । नच ब्रह्मणि विरुद्धधर्माश्रयत्वस्याग्रे व्युत्पादनीयत्वात्, 'आसीनो दूरं व्रजति', 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' इत्यादिषु सहावस्थानविरुद्धक्रियाधर्मयोरिव भावाभावविरुद्धस्थूलत्वतदभावयोरपि शक्यवचनत्वादेतेषां कारणधर्मत्वमेवास्त्विति शङ्क्यम् । इतः पूर्वं गार्ग्या उपादानकारणबोधार्थं कार्याणां प्रकृततया याज्ञवल्क्येन कार्यविलक्षणकारणबोधनार्थं कार्यधर्माणामेव निषेधात् । अन्यथा प्रकृतिविरोधापत्तेः । न चैवमनण्वित्यनेन निषिद्धस्याणुत्वस्य, स य एषोऽणिमेत्यादिषु श्रूयमाणस्य का गतिरिति शङ्क्यम् । तत्राणोरणीयानित्यादिषु तु, सप्त प्राणाः प्रभवन्तीत्यादिभिः कार्यस्याग्रे वक्ष्यमाणतया ततः पूर्वं श्रूयमाणानां कारणधर्मत्वेन तद्भिन्नत्वात् । 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्', महतो महीयानित्यादि तद्विरुद्धधर्मसामानाधिकरण्यश्रावणेन तथानिश्चयात् । एवमन्यत्रापि बोध्यम् । **अत एकोऽप्यसाधारणधर्मो विद्यमानः शिष्टान् संदिग्धानपि धर्मान् ब्रह्मधर्मत्वेनैव गमयति** । अन्यथाऽन्यगामित्वेन तस्यासाधारण्यभङ्ग-

रश्मिः ।

पवित्रमिति । पावित्र्यं पापाभाव इति भावः । श्रुती तु एकतरा सह वै पन्नायामारणे 'अपहतपाप्मा स्वाध्यायो देवपवित्रम्' इति । द्वितीया छान्दोग्ये मुख्यप्राणकृतपापविध्वंसनानन्तरं 'य एवंविदि पापं कामयते यश्चैनमभिदासति स एषोऽश्माखणो नैवैतेन सुरभिर्न दुर्गन्धि विजानात्यपहतपाप्मा ह्येष इति' । पापं कर्तुं इ कामयते । अभिदासति हिनस्ति, स प्राणवित्, अश्मा आखणः तद्वदप्रधर्षणीय इत्यर्थः । एतेन मुख्यप्राणेन न विजानाति स्थानदोषाद् घ्राणदेवता पाप्मना विद्धा मुख्यस्थानबलीयस्त्वात् मुख्यप्राणदेवता न विद्धेत्यपहतपाप्मत्वम् । **लिङ्गादिति** पाप्मभावलिङ्गात् । **ते श्रुत्येकसमधिगम्या** इत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **अत उदित्यादि** । **प्रमाणान्तरमिति** प्रत्यक्षमित्यर्थः । **स्थूलत्वे**त्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **न चैवमित्यादिना** । **अग्रे** इति उभयव्यपदेशाधिकरणादौ । **उपादाने**त्यादि 'सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदर्वाक् पृथिव्याः यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं यच्च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते । कस्मिन्नेव तदोतं च प्रोतं च' इति गार्गिब्राह्मणे प्रश्नश्रुत्येत्यर्थः । याज्ञवल्क्यो यज्ञवक्ता वल्क परिभाषणे इति धातुपाठात् । **अणोरणीयानित्यादिभाष्यं विवृण्वन् न चैव**-

सूत्रकारः । तथाच श्रुतिव्यतिरिक्तस्थले तथैवावगन्तव्यम् । अनन्तमित्यनन्तमूर्तिता च ब्रह्मणः प्रतिज्ञाता । अन्यथा गुहायां निहितमिति विरुध्येत । तस्मात् साकारं तादृशमेव ब्रह्म ।

भाष्यप्रकाशः ।

प्रसङ्गात् । तथाच यत्र निषिध्यन्ते तत्र तदनुरोधात् ते लौकिकाः कार्यधर्मा एव । यत्र च न निषेधस्तत्रालौकिका ब्रह्मात्मकास्ते धर्माः, नेह नानास्तीतिश्रुत्यनुसारेणावगन्तव्याः । इममेव श्रुत्यभिप्रायमङ्गीकृत्य सर्वेष्वधिकरणसूत्रेषु ब्रह्मवाक्यनिर्णयमाह सूत्रकारः । अन्यथा, आदित्यान्तरक्ष्यन्तइत्येवमधिकरणं विशिंष्यात् । तथाचेदं सिद्धम् । यत्र निश्चिते कार्यत्वे तस्य कारणाभेदेन स्तुतिः क्रियते, यथेन्द्रप्रतर्दनसंवादादौ तत्र नेयं रीतिः । तद्व्यतिरिक्तस्थले त्वेवमेवावगन्तव्यमिति । न चैवं परिच्छिन्नेषु नानास्थानेषु नानापरिमाणेन स्थितौ ब्रह्मणोऽनेकत्वापत्त्या, एकमेवाद्वितीयमित्यादिश्रुतिविरोध इति शङ्क्यम् । यतः सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति लक्षणवाक्य एवानन्तमित्यनेन ब्रह्मण आनन्त्यकथनेऽनन्तमूर्तिता च प्रतिज्ञाता । नचात्र मानाभावः । निहितं गुहायामिति हृदयाकाशनिधानकथनस्यैव मानत्वात् । अन्यथा **गुहायां निहितमिति** विरुध्येत । अनन्तमूर्तित्वाभावे व्यापकतया सर्वस्य तदन्तःस्थत्वात् । इदं च श्रुत्यन्तरेऽप्युक्तम् । 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्तात्' इति । तस्माद् ब्रह्मण एकत्वेन व्यापकत्वेऽप्यनन्तमूर्तित्वात् । साकारं वेदैकवेद्यत्वात् । यादृशं

रश्मिः ।

मित्यादि । तथा च यत्रेति अस्थूलादिश्रुतिषु न निषेध इति । **तदनुरोधादिति** नित्यस्य निषेधायोगेन निषेधानुरोधादित्यर्थः । न निषेध इति यथात्र । नेह नानेति श्रुतिर्बृहदारण्यके । **इममेवे**त्यादिभाष्यं व्याकार्षुः **इममि**त्यादिना । एकोप्यसाधारणो धर्मो मयि विद्यमान संदिग्धानपि ब्रह्मधर्मानेव गमयत्विति संकेतान्तस्याभितो गमनं प्रायोभूम्यन्तगमनमित्यर्थादित्यर्थः । **अधिकरणे**त्यादि सूत्रपदं यत्र सूत्रमवतारणमाभासते तत्संग्रहाय । यथा शब्दाधिकरणे सूत्रप्रयोजनं बोधयितुं संशयादिकमाहुरिति । अन्यथेत्यादि अधोक्षजत्वेन यत्र च न निषेध इत्याद्यङ्गीकारे इत्यर्थः । **विशिंष्यादि**ति न तु तद्धर्माधिकरणमिति तद्धर्मेण विशिंष्यादिति भावः । अन्तस्त्वस्य सर्वप्रसिद्धस्याधोक्षजत्वेपि नटवत्यागायोगात् तथा । **तथाचेत्यादिभाष्यं** विवृण्वन् **तथाचेत्यादि** । इन्द्रेत्यादि इयमाख्यायिकानुगमगाधिकरणे[1] व्याचरीकरिष्यते मामेव जानीहीतीन्द्रेण लोकपालादिकं मामेव जानीहीति स्वात्मा स्तुतः । आदिपदेन पुरुषविधब्राह्मणे 'तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेहं मनुरभवमहं सूर्यश्चेति तदिदं मप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति' इति । अत्र स इदमित्यादिस्तुतिः । अविद्यमानस्य सर्वभवनरूपस्योत्कर्षाधायकगुणस्य जीवीयस्य वर्णनाच्छ्रुत्या । **नेयं रीतिरि**ति इन्द्रिया अपि धर्मा अधोक्षजत्वेनादृष्टा ब्रह्मधर्मा इति गमयतीति रीतिर्नोऽस्थूलत्वादिनिषेधादित्यर्थः । **तद्व्यतीति** श्रुतावपि **तावन्निषेधव्यतिरिक्तस्थले इत्यर्थः** । यथात्रादित्यादिपुरुषयोः । भाष्यादाहुः एवेत्येवकारम् । तद्व्यतिरिक्तस्थलानि तु **उदाहृतान्युदा**हरिष्यन्ति च । **अनन्तमित्यादिभाष्यं** विवृण्वन्त आहुः **न चैवमित्यादि । मानाभाव इति ।**

1. आनन्दयेत्यधिकरणे ।

ब्रह्मणः शरीरमिति तु सर्वथा असंगतम् । सर्वकर्तुर्ब्रह्मणः का वा अनुपपत्तिः स्याद् येन स्वस्यापि शरीरं कल्पयेत् । किं तु लीलया व्यामोहनार्थमन्यथा भासयेन्नटवत् ।

भाष्यप्रकाशः ।

यत्र स्थाने यद्वाक्य उच्यते तादृशं तत्र ब्रह्मेति मन्तव्यमिति सिद्धमित्यर्थः । एवमधिष्ठातृदेवतापक्षं निराकृत्यात्र ब्रह्मैवोच्यत इति स्थापितम् । अतः परं साधकानुग्रहार्थं ब्रह्मण एव शरीरमिति पक्षं निराचक्षते ब्रह्मणः शरीरमित्यादि । असंगतत्वे हेतुमाहुः सर्वकर्तुरित्यादि । अयमर्थः । यदत्र शरीरमङ्गीकृतं तत् किं नित्यमुतानित्यम् । नाद्यः । अद्वितीयश्रुतिव्याकोपात् । सच्चिदानन्दादतिरिक्तवस्त्वभावस्य प्रागेवोपपादितत्वेन ब्रह्मात्मकताया एवापाते शरीरत्वस्याशक्यवचनत्वाच्च । अन्यथा पुरुषविधब्राह्मणोदितायाः, सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यदित्यनुवीक्षाया विरोधापत्तेश्च । द्वितीयपक्षेऽपि तच्छुद्धसत्त्वात्मकं वा प्राकृतं वा मायिकं वाङ्गीकार्यम् । तत्र कर्त्रपेक्षायां ब्रह्मण एव कर्तृत्वं च वाच्यम् । तत्रान्यानपेक्षतया सर्वकर्तुर्ब्रह्मणः का वा अनुपपत्तिः स्याद् येन स्वस्यापि शरीरं कल्पयेत् । अतो मूलरूपे नास्त्येव शरीरम् । किंतु स्वरूपमेव तदाकारम् । 'प्राणन्नेव प्राणो भवति वदन् वाक्' इतिवच्छरीरकार्यं कुर्वन् लीलया व्यामोहनार्थं शरीरवद्भासयेन्नटवत् ।

रश्मिः ।

भाष्येऽनन्तमित्यनन्तानन्द इत्यानन्दविशेषणादिति भावः । यत्र स्थान इति परिमाणनिरूपणस्थले वैश्वानराधिकरणे । यद्वाक्ये 'प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते' इतिवाक्ये । तादृशामिति । न च सुषुप्तौ ब्रह्मज्ञानेऽभावतया विषयत्वात् नेदमिति वाच्यम् । अभावापेक्षयाऽसतोतिरेकात् । न चेदानींतनानां ब्रह्मविदामप्रतीतिविषयत्वात् नेदमिति वाच्यम् । नित्यलीलाधिकृतकानां कृतपुण्यपुञ्जानां प्रतीतिविषयत्वात् । एतेन शंकरभाष्यीयं यदुक्तं हिरण्यश्मश्रुत्वादिरूपश्रवणं परमेश्वरे नोपपद्यते इत्यत्र ब्रूमः । स्यात्परमेश्वरस्यापीच्छावशात् मायामयरूपं साधकानुग्रहार्थं 'माया ह्येषा' इति स्मरणात् । इति तत्र विशेषोऽदर्शि । तत् 'ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म' इति पक्षे

'आत्ममायामृते राजन् परस्यानुभवात्मनः ।
न घटेतार्थसंबन्धः स्वप्नद्रष्टुरिवाञ्जसा' ॥

इति नवमाध्यायसिद्धान्तात् द्वितीयस्कन्धे । स्वरूपं तु सत्यं ज्ञानमनन्तानन्दमिति भेदः । प्रागेवेति ईक्षत्यधिकरणाभासे । तथा च भाष्यम् 'सच्चिदानन्दरूपेणाकाशवायुतेजोवाचकवाक्यानि षड्विधान्यपि निर्णीयन्ते' इत्यादि । शुद्धेत्यादि 'विशुद्धसत्त्वं तव धाम शान्तम्' इति श्रीभागवते 'सैषा विद्या जगत्सर्वम्' इति नृसिंहतापिनीये 'मायाभिः पुरुरूप ईयते' इति च शंकराचार्यमते । सिद्धान्ते प्रकृतेर्मायावज्ज्ञानमात्रदेहसाधकत्वात् मायाप्रकृत्योर्भेदः । ब्रह्मणः शरीरमितिभाष्यं व्याचक्रुः द्वितीयेति । तदसंगतमिति भाष्यविवरणम् । तत्रेति शरीरे । तथा चानवस्थादोषादिति तु सर्वथाऽसंगतमित्यर्थः । सर्वकर्तुरिति भाष्यविवरणम् । तत्रेत्यादि शरीरे, कर्तव्ये शरीरानपेक्षतया । सर्वकर्तुरिति एवं च सर्वकरणेपि तदनपेक्षमेवाविशेषादिति भावः । किं त्विति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म अत इति । स्वरूपमिति स्वरूपमगमत् 'किल यस्य गोपवध्वः' इति वाक्यात् प्राकृतं स्वरूपम् । प्राणन्नित्यादिश्रुतिर्बृहदारण्यके 'समान एवं चाभेदात्' इत्यत्र तार्तीये कृष्णावतारामेदस्य वेदस्तुतौ च प्रतिपादना-

तस्माद् वेदातिरिक्तेऽप्युपपत्तिपूर्वकं यत्र ब्रह्मधर्मस्तद् ब्रह्मेति मन्तव्यम् । ब्रह्म तु वेदैकसमधिगम्यं यादृशं वेदे प्रतिपाद्यते तादृशमेवेत्यसकृदवोचाम । प्रकृतेऽपि हिरण्मय इत्यत्र यकारलोपश्छान्दसः । अतो न भ्रमः । हिरण्यशब्द

भाष्यप्रकाशः ।

'यथा मत्स्यादिरूपाणि धत्ते जह्याद्यथा नटः ।
भूभारः क्षपितो येन जहौ तच्च कलेवरम्' ॥

इति प्रथमस्कन्धवाक्यात् । अतो यादृशं प्रतीयते तादृशं तद् ब्रह्मैव । येषां पुनर्न मोक्षाधिकारस्तेषां तच्छरीरवद्भासत इति निश्चयः । एतमेव निर्णयमन्यत्रातिदिशन्ति तस्मादित्यादि । ननु किमित्येवं निर्बन्धेन सर्वाकारं निरूप्यते । निर्विशेषमेवोपासकानुग्रहाय मायया शरीरं कल्पयतीत्येव कुतो न कल्प्यते इत्याकाङ्क्षायामाहुः ब्रह्म त्वित्यादि । ननु भवत्वेवं, तथापि प्रकृते हिरण्मय इत्यत्र विकारवाचिनो मयटः प्रयोगः । हिरण्मयशब्दस्य, दाण्डिनायनसूत्रे निपातनाद्विकारत्वसिद्धौ कथं ब्रह्मत्वनिर्णय इत्यत आहुः प्रकृतेऽपीत्यादि । तथाच व्यच्त्वेन विकारप्रत्ययाभावाच्चायं निपातः किंत्वत्र छान्दस एव यकारलोप इत्यर्थः । ननु पूर्वं स्वरूपलक्षणविचारे ब्रह्मणः सत्यज्ञानानन्दरूपत्वमेव सिद्धं न हिरण्यरूपत्वमिति हिरण्मयस्याविकारत्वेऽपि ब्रह्मत्वं वक्तुमशक्यमतः शरीरत्वमेवाङ्गीकार्यमित्यत आहुः हिरण्यशब्द इत्यादि । यद् यज्जनकं तत् तद्गुणकं, यद् यद्गुणकं तत् तदात्मकमिति व्याप्त्योः पूर्वं साधितत्वादत्रानन्दसाधकत्वेनानन्दात्मकत्वे विकारभूतस्य लौकिकस्यापि हिरण्यस्य सिद्धे कारणभूतस्याविकारस्यानन्दात्मकत्वे बाधकाभावाद्धिरण्यशब्द आनन्दवाची । अतः केशश्मश्रुनखाग्राक्षीणि, तत्सहभूता अनुक्ता अन्येऽपि पुरुषावयवाः कप्यासशब्देन वर्णान्तरस्यापि सूचितत्वात् तत्तद्वर्णविशिष्टा अपि सर्वे आनन्दमया एवेति पुरुषाकारं ब्रह्मस्वरूपमेवेति मननीयम् । अन्यथा, तत्त्वेन भयं विदुषोऽमन्वानस्येत्युक्तस्य भयस्यापत्तेरित्यर्थः । ननु सूर्यान्तर्वर्ति न ब्रह्मशरीरमित्यसंगतम् । उपबृंहणविरोधात् । अग्निपुराणे, ध्येयः सदेति श्लोके, हिरण्मयवपुरिति शरीरवा-

रश्मिः ।

तद्वाक्यमाहुः यथेत्यादि । निश्चय इति भाष्यविद्वन्मण्डनप्रहस्तादौ निपुणतरं प्रतिपादनादिति भावः । ब्रह्म त्वित्यादीति । न च रामतापिनीये 'उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना' इति कथमिति वाच्यम् । पूर्वार्धे 'चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः' इत्यत्र चिन्मयपदेनौडुलोमिमते तदिति न बादरायणमते इति 'चिति तन्मात्रेण तदात्मत्वादित्यौडुलोमिः' इतिसूत्रात् । यादृशं वेदे प्रतिपाद्यते तादृशमेव श्रुतौ ब्रह्मणो रूपं कल्पनाशब्देनोक्तमिति वा । दाण्डिनायनेति 'दाण्डिनायनहास्तिनायनाथर्वणिकजैह्माशिनेयवाशिनायनिभ्रौणहत्यधैवत्यसारवैक्ष्वाकमैत्रेयहिरण्मयानि' इतिसूत्रे । नायमिति दाण्डिनायनसूत्रस्य लौकिकप्रक्रियाविषयत्वात् । अत एवैवकारो वक्ष्यते । यकारलोप इति तथा च भाष्ये इयकार इत्यादिपदच्छेदः । इत्यदार्थः सुबोधिन्यां 'स त्वं न चेत्' इत्यत्र । न च इत् इति पदच्छेदपक्षेपि यथर्श इदिति । अत्र तु हीत्यर्थको य इ तद्विदुरित्यत्र तथादर्शनात् । पूर्वमिति समन्वयाधिकरणे । हेतुभाष्यविवरणपूर्वकं विवृण्वन्ति यद्यज्जनकमित्यादि । पूर्वमिति समन्वयाधिकरणे । अतः केशेत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म अतः केशेति । कमनीयमिति स्वर्णघर्मानुवाकपद्यादाहुः वर्णान्तरस्येति । ब्रह्म स्वरूपमेवेति पुरुषविधब्राह्मणादेवकारो विधान्तरयोगः

आनन्दवाची। लोकेऽपि तस्यानन्दसाधकत्वात्। अतः केशादयोऽपि सर्वे आनन्दमया एव। तादृशमेव ब्रह्मस्वरूपमिति मन्तव्यम्। अत एव,।

'ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः।
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः' ॥

इत्यत्रापि वपुः स्वरूपम्।

'माया ह्येषा मया सृष्टा' इत्यादि भगवद्वाक्यं, भगवन्मायया भगवन्तमन्यथा पश्यन्तीत्याह। न तु भगवानेव मायिक इति। शरीरे सति जीवत्वमेवेति निश्चयः। अतो ब्रह्मधर्मोपदेशात् सूर्यमण्डलस्थः परमात्मैव ॥ १९ ॥

भाष्यप्रकाशः।

चकपदस्योक्तत्वादित्याशङ्कायामाहुः अत एवेत्यादि। तथाचात्रापि वं सुखं पुष्णातीति योगेन ब्रह्मैवोच्यते। अत एव स्मृत्यन्तरे।

'आदित्यमण्डलासीनं रुक्माभं पुरुषं परम्।
ध्यात्वा जपेत्तदित्येतन्निष्कामो मुच्यते द्विजः ॥
आदित्यमण्डलान्तःस्थं परं ब्रह्माधिदैवतम्।
छन्दोनिभृत्स्याद्गायत्री मया दृष्टा सनातनी' ॥

इति गायत्र्या ध्येये सूर्यमण्डलान्तःस्थे वपुःपदं नोच्यत इति न तेन शरीराङ्गीकारः कर्तुं शक्य इत्यर्थः। नन्वत्र केवलस्वरूपाङ्गीकारेऽन्यत्रापि स्वरूपमेव न्यायबलेन साधितुं शक्यम्। तथा सति।

'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं न मां पश्यन्ति सूरयः' ॥

इति विश्वरूपाकृतेर्नारायणस्य यद्भारते वाक्यं तस्य विरोधो दुर्वार इत्यत आहुः मायेत्यादि। तथाचास्मिन् वाक्येऽपि, यन्मां सर्वभूतगुणैर्युक्तं पश्यसि एषा माया मया सृष्टेति पदसंबन्धान्न विरोध इत्यर्थः। ननु किमित्येवं निर्बन्धे शरीरवत्ता निराक्रियते। कर्माजन्यस्यैच्छिकशरीरस्याङ्गीकारेऽपि ब्रह्मत्वाक्षतेरित्याशङ्कायामाहुः शरीर इत्यादि। मास्तु कर्मजन्यत्वं शरीरस्य,

रश्मिः।

व्यवच्छेदकः। मन्तव्यमित्यस्यार्थः मननीयमिति। अत एवेत्यादीति सति संभवे तन्त्रत्वाभावादेव। अन्यथाश्रुतिविरुद्धपुराणं तन्त्रं स्यात्। श्रुतिविरुद्धोंशः तन्त्रं पुराणे उपष्टम्भन्ति स्म अत इत्यादि। छन्द इत्यादि। छन्दोभिर्ध्यायतीत्यर्थः। निभृत्स्यती ध्यायती चासौ गायत्री च एतेन पुराणमुपबृंहणमतिक्रम्यार्थान्तरोपन्यासो न सांप्रतमिति निरस्तम्। माया ह्येषेति इदं वाक्यं शंकरभाष्य उपन्यस्तम्। पदसंबन्धादिति माया त्रिगुणा तन्मते ततो वाच्छेतुं माया ह्येषेत्यत्र मायेन्द्रियाणि ततश्च 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इत्यत्र मायायाः करणतयोल्लेखाद्यन्मां पश्यतीत्यत्र मायिकं मां पश्यतीत्यर्थाभावात् किं तु इन्द्रियविशिष्टं मां पश्यति इत्यर्थात्। 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्' इत्यत्र विशिष्टकरणदानस्य मायिकं मां पश्यतीत्यर्थे विरोधात् मिदां 'मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति' इति मिदाया एव मायामात्रत्वात्। 'भगवानपि ता रात्रीः' इत्यत्र 'योगमायामुपाश्रितः' इत्यत्र योगमायाश्रयणादिन्द्रियरूपमायायाः करणत्वम्। विषयविभयात इन्द्र इन्द्रियरूप-

भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥ २० ॥

इतोऽपि सूर्यमण्डलस्थः परमात्मा। भेदव्यपदेशात्। 'य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' इति श्रुत्यन्तरे आधिदैविकं सूर्यमण्डलाभिमानिभ्यां भेदेन निर्दिष्टम्। यद्यपि तत्राकारो न श्रूयते, तथापि हिरण्मयवाक्येनैकवाक्यत्वात् सर्वत्र साकारमेव ब्रह्मेति मन्तव्यम्।

भाष्यप्रकाशः।

तथापि शुद्धसत्त्वात्मकत्वं त्रिगुणात्मकत्वं वा तु सर्वथाङ्गीकार्यम्। तेन सह संबन्धश्चाभिमान एव वाच्यः। तथा सत्त्वाभिमन्ता जीव इति तापनीये श्रावितस्य जीवलक्षणस्य तत्र सत्त्वाज्जीवत्वमेव। यदि च नियन्तृत्वं तदाऽन्यस्याभिमानिनस्तत्र सत्त्वाद् ब्रह्मशरीरत्वाभावः। यदि च संबन्धान्तरं, तदापि।

'स एव वासुदेवोऽयं पुरुषः प्रोच्यते बुधैः।
प्रकृतिस्पर्शराहित्यात् स्वातन्त्र्याद् वैभवादपि' ॥

इति नारसिंहवाक्यविरोध इति शरीराङ्गीकारे जीवत्वापत्तिरनिवार्येति तदभावाय निर्बन्ध इत्यर्थः ॥ १९ ॥

भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥ २० ॥ ननु पूर्वसूत्रोक्तेनैव हेतुना सिद्धे ब्रह्मत्वे किमिति

रश्मिः।

मायाभिः पुरुरूपः चाक्षुषः शाब्दोनुमित उपमित इत्येव मीयते प्राप्यते इति पदसंबन्धः। भगवतो मायेति संबन्धविशेषनिवेशश्चायं पदसंबन्धस्तस्मादित्यर्थः। एतेन शंकरभाष्याद्विशेषे दर्शिते स्मरणं सभाजितम्। त्रिगुणेत्यादि त्रिगुणमुपक्रम्य 'अभ्यपद्यत लीलया' इतिवाक्यात्। अत्र सूत्रे उत्तरसूत्रादन्य इति साध्यानुकर्षादधिकारसूत्राद्ब्रह्म इत्यनुवर्तनाद्वा न पक्षहेतुनिर्देशो दोषायेति ज्ञेयम्। अत एव रामानुजभाष्यं 'अन्तरादित्ये अन्तरक्षिणि च यः पुरुषः प्रतीयते स जीवादन्यः परमात्मैव कुतः तद्धर्मोपदेशादिति'। अस्मन्मतेपि परमात्मान्यपदार्थ इति विशेषो न। नियन्तृत्वमिति जीवशरीरयोः संबन्धः अथान्तर्यामिब्राह्मणे। ब्रह्मेति किं तु नियन्तुर्ब्रह्मणोन्यस्याभिमानिनः शरीरत्वं स्यादिति भावः। तस्मिन् सत्यन्तर्यामिब्राह्मणविरोधः। एवं चाभिमाननियन्तृत्वान्यतरसंबन्धे विवक्षिते त्वाहुः यदि चेति। संबन्धान्तरत्वमभिमाननियन्तृत्वान्यतरत्वं तदापि संयोगसंबन्धासंग्रहाद्वाक्यविरोध इत्याहुः तदापीति। वसुदेवे संक्रान्तः संयोगसंबन्धेन वर्तमानो वासुदेवः अयं पुरुषो जीवः। तथा च पुरो जीवस्य च संयोगसंबन्धः। विद्याविद्यावच्छिन्नजीवस्य वासुदेवाभेदसंभवमालोच्याह प्रकृतीति। अभिमानो मिथ्येति प्रकृतिः। स्पर्शोभिमानाख्यस्तस्य राहित्यात्। नियन्तुरंशत्वात् स्वातन्त्र्यं तस्मात्। वैभवं वैभव्यं तत्त्वमसीतिवद्वासुदेवोयं पुरुष इति तस्मादपि ॥ १९ ॥

भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥ २० ॥ भाष्ये। आधिदैविकमिति आदित्ये तिष्ठन् इत्याद्युक्तादित्ये स्थित्यादिमन्तं निर्दिष्टं जानीयादिति शेषः। सूर्येत्यादि सूर्यमण्डलं जडम्। तदभिमानी चेतनः वेदेत्यनेन ज्ञानानुकूलव्यापारवत्त्वबोधनपुरस्कारेण नेति नञा निषेधात्। ज्ञानवत्त्वस्याधारे जडे बाधात्ताभ्यामित्यर्थः। प्रकृते। समानेति समानप्रकरणं ब्रह्मप्रकरणेनोद्गीथप्रकरणं समानं तदुक्तधर्मान्तरं परमात्मत्वं तस्य। परमात्मत्वमत्रोद्गीथत्वं तद्विद्योक्तधर्मवत्त्वम् भाष्ये। एक-

अन्तर्यामिब्राह्मणे चत्वारोऽर्था उच्यन्ते। सर्वत्र तिष्ठँस्तद्धर्मैर्न संबध्यते। सर्वमुक्तिपरिहाराय स्वधर्मैस्तत्र बध्यते। स्वलीलासिद्ध्यर्थं तच्छरीरमिति। तस्य नियमनं तदर्थमिति। चकाराद्धर्मा उच्यन्ते।

भाष्यप्रकाशः।

हेत्वन्तरोपन्यास इत्याकाङ्क्षायामाहुः यद्यपीत्यादि। तथाच समानप्रकरणोक्तधर्मान्तरस्यापि प्राप्त्यर्थं हेत्वन्तरमित्यर्थः। नन्वत्र भेदव्यपदेशमात्रेण कथं परमात्मलाभ इत्यत आहुः अन्तर्यामीत्यादि। तदिति सामान्ये नपुंसकम्। अभिमानीत्यर्थः। अत्र हि जडाज्जीवाच्च भिन्नत्वेनान्तर्यामी प्रतिपाद्यते। तत्र, य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तर इति जडं मण्डलमाधारत्वेन निर्दिश्य ततोऽन्तरत्वकथनात् ततो भेदो बोधितः। तेन तद्धर्मैर्न संबध्यत इति बोधितम्। तत आदित्यादन्तरत्वं तदभिमानिनो जीवस्याप्यस्तीति ततोऽपि भेदबोधनाय, यमादित्यो न वेदेति तदभिमान्यज्ञेयत्वकथनेनाभिमानिधर्मैर्न संबध्यत इत्याह। तथा यद्यभिमानी तं जानीयान्मुक्तः स्यात्। अतस्तदभावाय स्वासाधारणैर्ज्ञानापहतपाप्मत्वादिभिर्धर्मैः कर्तृभिस्तद् आधारभूतम् अभिमानि वस्तु न बध्यते, न व्याप्यते। 'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्'। 'सैषा त्रय्येव विद्या तपति' इति स्मृतिश्रुत्युक्तधर्मैर्मण्डल एव

रश्मिः।

वाक्यत्वादिति स्वार्थबोधे समासयोर्हिरण्मयपदघटितान्तर्यामिपदघटितवाक्ययोर्द्वन्द्वप्रयोगात्परस्परसाकाङ्क्षयोरेकवाक्यतया द्वन्द्वप्रयोगिमीमांसको ज्ञानाङ्गमित्येवमेकवाक्यत्वात्। द्वन्द्वं ब्रह्मात्मरूपम्। 'स्वरूपं द्विविधं चैव सगुणं निर्गुणं तथा' इतिश्रुतेः। ननु साकारं ब्रह्मेति वक्तव्ये सर्वत्रेत्येवमिति च कुतः। इति चेच्छृणु सर्वत्रेत्यवश्यं वक्तव्यम्। एकत्र सिद्धः शास्त्रार्थोऽपरत्रापि तथेति न्यायात् अन्यथैकत्रान्यथापरत्रान्यथेति शास्त्रार्थो भिद्येत। एवेत्यपि वक्तव्यमुक्तश्रुतेः। पुरुषविधब्राह्मणाच्च। 'अहं सर्वस्य प्रभवः' 'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तः' इति गीता। 'समान एवं चाभेदात्' इति वैयाससूत्रम्। 'अपश्यत् पुरुषं पूर्णम्' इति समाधिभाषा तदेकवाक्यतया। द्वितीयस्कन्धे नवमाध्याये ज्ञानस्य कथनात् ब्रह्मणे चतुर्भुजरूपप्रदर्शनाच्च। तच्च निर्गुणपूर्वकमिति सुष्ठूक्तं सर्वत्रेति एवेति च ध्येयम्। प्रकृते। भेदरूपेति हेतुना। परमात्मलाभः भावप्रधानपरमात्मशब्दः तेनान्यद् ब्रह्मसूत्रान्तरादनुवृत्तं परमात्मेत्युच्यतेन्यपक्षग्रन्थत्वात् तस्य लाभ इत्यर्थः। तेनात्र वक्ष्यमाणसाध्यपक्षयोर्न विरोधोऽत्र। अभिमानिधर्मैरिति तद्धर्मैरधोक्षजत्वादिभिः। सर्वमुक्तीत्यादिभाष्यं विवरिष्यन्त आहुः तथा यदीत्यादि। मुक्त इति। ज्ञानत्वेन मुक्तित्वेन कार्यकारणभावादिति भावः। बध्यत इति बध बन्धने इति धातोः कर्मणि प्रत्यये रूपम्। बन्धनं चाप्रीत्यनुकूलो व्यापारः सा च प्रकृते व्यापनरूपस्वरूपलक्षिका। धातूनामनेकार्थत्वमित्याशयेनाहुः व्याप्यत इति। यच्चेत्यादि उत्तरार्धं तु 'यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्' इति। सैषेति तैत्तिरीये 'आदित्यो वा एष एतन्मण्डलं तपति तत्र ताः ऋचस्तदृचां मण्डलं स ऋचां लोको अथ य एष एतस्मिन् मण्डलेऽर्चिर्दीप्यते तानि सामानि स साम्नां लोको अथ य एष एतस्मिन् मण्डलेऽर्चिषि पुरुषस्तानि यजूंषि स यजुषां मण्डलं स यजुषां लोकः। सैषा त्रय्येव विद्या तपति य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः' इति श्रूयते। स्मृतिश्रुतीत्यादि धर्मादिष्वनियमात् साधुः प्रयोगः। अन्यथा 'अभ्यर्हितं

भाष्यप्रकाशः।

व्याप्यते, नाभिमानीति स न मुच्यते। यद्वा दिवादिर्भ्वादिवदाकृतिगणः। तेन क्षीयते मृग्यतीत्यादिवद् बध्यत इत्यपि कर्तरि प्रयोगः। तथा सति स्वधर्मैस्तमभिमानिनं न व्याप्नोतीत्यर्थः। तात्पर्यं तूभयथापि समानम्। तेन ततोऽपि भेदः। एवमुभयाद्भेदे सिद्धेऽपि तत्र स्थितेः किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां, यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयतीत्याह। तत्र जगद्भासनं दिग्विभागो धर्मप्रवृत्तिरित्यादिरूपा स्वस्यैव लीला तत्सिद्ध्यर्थं तन्मण्डलं शरीरं, न स्वधिष्ठानार्थम्। तेन जीवतुल्यता वारिता। एवं, 'गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा' इत्यादिष्वपि भगवल्लीलात्वं बोध्यम्। तेन पृथिव्यादिकार्यस्यापि लीलात्वं तेषां लीलाशरीरत्वं च ज्ञातं भवति। शरीरस्य तादृशत्वे गमकमाह य आदित्यमन्तरो यमयतीति। अत्रादित्यपदं मण्डलाभिमानिनोः संग्राहकम्। तथाच तस्यादित्यादेर्नियमनं तदर्थं तादृश-

रश्मिः।

पूर्वम्' इति सूत्रप्रवृत्तिर्न स्यादेव। तदुक्ता धर्मा जगद्भासनादयः। आकृतिगण इति आकृत्या गण्यते इति व्युत्पत्तिः। क्षीयत इत्यादि। यद्यपि क्षि क्षये भ्वादिः। क्षि निवासगत्योस्तुदादिः। क्षि हिंसायां क्र्यादिस्तथाप्याकृतिगणः संभवति। मृग्यतीति मार्ग अन्वेषणे चुरादिः, मृग गतौ भ्वादिः, परस्मैपदी उभयस्य मृग्यतीति रूपं मृग्यमिति तथा। दिग्विभाग इति सूर्योदयानन्तरं प्राच्यादिव्यवहारात्। लीलेति स्थानलक्षणलीला। एवं गामिति आदिपदार्थोऽग्रे वक्ष्यते। भगवदित्यादि पृथ्वीधारणमपि स्थानम्। सृष्टायाः पृथ्व्याः मर्यादया पालनरूपत्वात्। ओषधीनां सोमरसमर्यादया पालनम्। जाठराग्नेश्चतुर्विधान्नपाचनस्य मर्यादारूपत्वेन स्थानत्वम्। अग्निर्ज्ञानं क्रियात्मा। सर्वस्य स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च मर्यादया पालनम्। अत्र ब्रह्माग्निविचारः 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' इति दशविधलीलासंपृक्त इति 'लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः' इत्यपि बोध्यम्। इति 'गतिस्मित' इति श्लोकोक्तभगवत्परिग्रह उक्तः। तथा च सुबोधिनी 'एकैकस्मिन् पदार्थे दशविधलीलाविशिष्टो भगवान् तिष्ठतीति। आदिपदार्थवाक्यानि तु यदादित्यगतमिति वाक्यानन्तरम्।

'गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥
सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टोः मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च'। इति

लीलात्वमिति विसर्गलीलात्वम्। 'विसर्गः पौरुषः स्मृतः' इति तल्लक्षणात्। 'द्यावाभूमी जनयन् देव एकः' इति श्रुतिः सर्गे। शरीरत्वमिति यौगिकं शरीरपदं वेदान्ते योगमात्रादरात्तु रूढमित्यन्तर्यामिणः शरीरं योगरूढं वा। संग्राहकमिति अभिधयैव संग्राहकं विशिष्टे शक्तेः। अन्तर्यामी तु साकारव्यापकेन्तर्भवति तद्रूपस्थितसाकारव्यापकेषु त्रिषु रूपेषु व्यक्तौ शक्तिरिति पक्षे चिन्त्यम्। नन्वस्त्वेवं तथाप्यभिमानिस्मरणस्य किं प्रयोजनमत आहुः तथेति। तथा चाभिमानिस्मारणस्य प्रसिद्धशरीरत्वज्ञानं प्रयोजनमन्तर्यामिणो लीलाज्ञानं प्रयोजनं द्वा सुपर्णेतिश्रुतेरित्यर्थः।

तस्मात् सर्वविलक्षणत्वादन्य एव, नाभिमानी । उपचारव्यावृत्त्यर्थमन्यपदेनोपसंहारः ।

भाष्यप्रकाशः ।

लीलार्थम् । तं यदि, भीषास्मादित्याद्युक्तरीत्या न नियमयेत्तदा सा सा लीला न सिद्ध्येदिति । अत्र पुनरप्यन्तर इति पदम्, अन्तरं करोतीत्यन्तरयति, अन्तरयतीत्यन्तर इति सर्वान्तःस्थापकत्वबोधनार्थम् । एवमेते चत्वारोऽर्था उच्यन्ते । सूत्रे तु चकारात् पूर्वसूत्रोक्ता धर्माः समुच्चीयन्ते । तेन हेतुभेदेऽपि साध्यैक्यान्नाधिकरणभेदः । एवं श्रुतिं सूत्रं च व्याख्याय सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि । तथाच भेदव्यपदेशात् सर्वविलक्षणत्वेन व्यपदेशादादित्यान्तर्वर्ती परमात्मा अन्य एव, नाभिमानीत्यर्थः । नन्वत्रान्य इत्यस्य साध्यत्वेन निर्देशादिदमधिकरणान्तरमेवास्त्विति चेत्तत्राहुः उपचारेत्यादि । तथाच, नेतरोऽनुपपत्तेरित्यादिना पूर्वाधिकरणं निषेधमुखेन विचारितं यथोपचारनिवृत्त्यर्थं तथेदमन्यपदेनोपसंहृतमिति तत्रेवात्रापि नाधिकरणभेद इत्यर्थः । ननु, उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेदेत्यनेनोपासनाकथनात् तस्याश्च वाचो धेनुत्ववदारोपिताकारेणापि सिद्धेः किमर्थमयमाग्रह इत्यत

रश्मिः ।

तस्येत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म तस्येत्यादिना । भीषेत्यादि ।

'भीषास्माद् वातः पवते भीषोदेति सूर्यः ।
भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः' ॥

इति तैत्तिरीये । **उक्तरीत्येति** उक्तरीत्या नामस्थानलीलार्थं न नियमयेदित्यर्थः । **सा सेति** प्रजायेयेति न्यायेनोच्चनीचभावेन सा सा लीला न सिद्ध्येत् सर्वस्य भगवत्त्वेन समत्वात् 'स्थितिर्वैकुण्ठविजयः' इति स्थानलक्षणोक्तविजये तु सा सा लीला स्यादेव । **अनेति** य आदित्यमन्तर इत्यत्र पुनरनन्तरपदस्यार्थः । **सर्वान्तरिति** सर्वान्तरं करोतीत्यर्थेनानुवादकत्वमिति भावः । **चकारादि**त्यादि भाष्यार्थमाहुः **सूत्रे त्वित्यादि** । **तेनेत्यादि** चकारकृतपूर्वोक्तहेतुसमुच्चयेन । अन्यत्वरूपसाध्यैक्यात् । साध्यभेदस्त्वधिकरणं भिन्द्यात् । यथोत्तरत्र । **तस्मादित्यादीति** । पूर्वं साध्यं परमात्मत्वं न त्वादित्यान्तःस्थत्वं तस्य संदिग्धसाध्यत्वेन पक्षत्वात् । अत्र तु परमात्मनः पक्षत्वं संदिग्धसाध्यवत्त्वात् । अन्यत्वं साध्यं भेदव्यपदेशो हेतुः । अत्र साध्यतावच्छेदकहेतुतावच्छेदकयोरैक्यात्साध्यसाधनत्वव्याहतिर्दोषः । अन्यथा प्रसिद्धानुमाने वह्नेर्हेतोरपि वह्निसिद्धिः स्यात् । अतो हेतुपरिष्कारपूर्वकं सिद्धं सूत्रार्थमाहुः **तस्मात् सर्वविलक्षणत्वादिति** । तथा च सर्वविलक्षणत्वत्वं हेतुतावच्छेदकमिति तयोर्भेदान्नोक्तदोष इति भावः । परमात्मनि तल्लक्षणेन सर्वविलक्षणत्वं सिद्धं, पृथिवीतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वात् इत्यत्र यथा, सर्वविलक्षणत्वेन हेतुनान्यत्वसिद्धिः । यथा लक्षेणन सर्वविलक्षणत्वसिद्धिस्तथा भेदव्यपदेशोपीति समानव्याप्तिज्ञानविषयत्वेन हेत्वोरैक्यं सारम् । **उपेत्यादि** 'आनन्दमानन्दमयोवसाने' इति द्वितीयस्कन्धात् जीवस्याप्यानन्दमयत्वेनानन्दमयस्य तद्वाचकत्वे उपचरितत्वं स्यात्तन्निवृत्तये इत्यर्थः । **उपसंहृतमिति** तथा चादित्यान्तःस्थाभिमानिव्यावर्तकत्वेनोपचारनिवृत्त्यर्थमेवमुपसंहृतमित्यर्थः । **अनेनेति** इतिश्रुत्यन्तर्गतवेदेतिपदेन । **उपासनेति** वेदेत्यनेनोक्तोपासनेत्यर्थः । **वाच**

ब्रह्मत्वे सिद्धे ज्ञानं वा, उपासना वेति, नास्मत्सिद्धान्ते कश्चन विशेषः । कारणे कार्यधर्मारोपस्त्वयुक्त एव । कार्ये पुनः कारणधर्माधिकरणत्वेनोपासना अभेदात् फलायेति सर्वत्र व्यवस्थितिः ॥ २० ॥

इति प्रथमाध्याये प्रथमपादे षष्ठमन्तस्तद्धर्माधिकरणम् ॥ ६ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

आहुः ब्रह्मत्व इत्यादि । तथाच भवतूपासना, तथापि पूर्वसूत्रोक्तधर्मैस्तस्य ब्रह्मत्वे सिद्धे तदाकारस्याकल्पितत्वमप्यनुपपत्त्यभावात् सिद्धमेवेति वेदनस्य ज्ञानत्वमुपासनात्वं वास्तु, मनोव्यापारत्वस्योभयत्र तौल्यादतस्तत्र नास्मत्सिद्धान्ते कश्चिदाग्रह इत्यर्थः । नन्वतस्मिंस्तद्धर्मानारोप्य तत्त्वेन चिन्तनमुपासना, तस्य तत्त्वेन निश्चयो ज्ञानमिति स्वरूपभेदात् कुतो न विशेष इत्यत आहुः कारण इत्यादि । अस्त्वयं विशेषस्तथापि हीने उत्कृष्टधर्मारोपस्य लोके कार्यसाधकत्वस्य विपरीते वैपरीत्यस्य च दर्शनात् कारणे यः कार्यधर्मारोपः स तु हीनत्वापादकत्वेन कार्यासाधकत्वादयुक्त एव । वेदे हि सर्वत्रान्नं ब्रह्मेत्यादौ कार्ये कारणधर्माणामुत्पत्तिस्थितिप्रलयकर्तृत्वादीनामारोपेणोपासनात् फलप्राप्तिः श्रूयते । तत्र हेतुः कार्यस्य कारणाभेद एव । सर्वत्र तथा दर्शनात् । कारणस्य कार्याभेदस्तु प्रत्यक्षाच्छास्त्राच्च विरुद्धः । यत्र पुनः सर्वथा भेदो यथा वाग्धेन्वोस्तत्रापि शब्दापेक्षयार्थस्योत्कृष्टत्वम् । शब्दशेषित्वादर्थस्य । अतो ज्ञानोपासनयोर्विशेषसत्त्वेऽपि यथैकदेशिभिः स्वीक्रियते तथा नास्तीति फलजनकत्वांशे विशेषाभावकथनं तच्चोपपन्नमेवेत्यर्थः ।

माध्वास्तु, पूर्वाधिकरणविषयवाक्येषु, अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्त इत्युक्तम् । तथाहृश्यत्वम्, अन्तःप्रविष्टं कर्तारमेतमन्तश्चन्द्रमसि मनसा चरन्तं सहैव सन्तं न विजानन्ति देवा इत्यत्रान्तःस्थस्य कस्यचिदुच्यते । तदग्रे च, इन्द्रो राजा जगतो य ईशे इति । सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रं त्वष्टार[१] रूपाणि विकुर्वन्तमित्यादिभिरन्ये प्रतीयन्ते । अतः को वाऽनन्दमय इति संदेहे, इन्द्रो राजेत्यादितत्तद्देवतावाचकश्रुत्या, सप्त युञ्जन्तीत्यादित्यलिङ्गाच्च

रश्मिः ।

इति 'वाचो धेनुमुपासीत' इति श्रुतिः । **उपासनेति** यथा वाचो धेनुमित्यत्र । **तस्येति** । **तत्त्व**मस्तत्त्वेन । **कार्ये पुनरित्यादि**भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **वेदे हीत्यादिना** । सर्वत्र जगति घटपटादौ । इदं सर्वत्रेत्यादिभाष्यविवरणम् । **प्रत्यक्षादिति** सुवर्णं न कटकादि ब्रह्माहमस्मि न त्वहं ब्रह्मेत्यादिप्रतीतेरित्यर्थः । अत्राभवाहं नास्मि अहं ब्रह्मास्मीति योजना । अत्राभेद उपपादनीये कारणतावच्छेदकं नोद्देश्यतावच्छेदकं कार्यतावच्छेदकं नो विधेयतावच्छेदकं कारणतावच्छेदकं विधेयतावच्छेदकं कार्यतावच्छेदकमुद्देश्यतावच्छेदकं तु भवति । कुतः मायावच्छिन्नमविद्यावच्छिन्नमस्मत्पदार्थः इत्यभेदो भवति विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यते इति यत्र पुनः साधनेन भेदे विगलिते ब्रह्म शुद्धं न तत्रास्मत्पदार्थाभेदः तस्यैवाभावादिति हेतोः । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' 'कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्शनं पटतन्तुवत्' इति सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशादित्यधिकरणे शास्त्रमुक्तमेव । भाष्यसूचितार्थमाहुः **यत्र पुनरिति** । **तथा नेति** एकादशसुबोधिन्यामुप समीपे स्थित्वा यथायोग्यकरणमुपासनमुक्तं तदत्रापीति भावः । अत्र शांकरमते भास्करमते रामानुजमते चाधिकविशेषाभावान्माध्वमतमादायाहुः **आदित्येत्यादि** सप्तमुखाश्वरथत्वात् तस्य विपश्चितमिति सूर्यनामेति शब्दसामर्थ्यान्माध्वा इति ।

१. ब्रह्मदंनलीलार्थो ।

भाष्यप्रकाशः ।

कश्चिद्देवताजीवविशेष एव तत्र युक्तः । श्रुतेः सर्वापेक्षया प्रबलत्वाज्जगतो य ईश इत्यादियोगस्यापि तदुपोद्बलकस्य तत्र दर्शनाच्चेति प्राप्त इदं सूत्रद्वयं प्रवृत्ते । 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' 'भेदव्यपदेशाच्चान्यः' इति । अन्तः श्रूयमाणो विष्णुरेव । कुतः । 'अन्तःसमुद्रे मनसा चरन्तं ब्रह्मान्वविन्दद्दशहोतारमर्णे । समुद्रे अन्तः कवयो विचक्षते । मरीचीनां पदमिच्छन्ति वेधसः । यस्याण्डकोशꣳशुष्ममाहुः प्राणमुल्बम्' इत्यादि तद्धर्मोपदेशात् । श्रुत्यर्थस्तु समुद्रे अन्तरर्णे अन्तर्जले मनसा चरन्तं यथेष्टं विहरन्तं दशहोतारं, हु दानादनयोः, दशेन्द्रियविषयदातारं ब्रह्मा अन्वविन्दद् व्यजानादिति तथा । मरीचीनां जीवानां पदमाश्रयभूतं वेधसः भूतभाविनो ब्रह्माण इच्छन्तीति । अण्डकोशं ब्रह्माण्डं यस्य शुष्मं वीर्यमाहुरिति । अत्र समुद्रशायित्वब्रह्माण्डवीर्यत्वादीनामन्तःप्रविष्टनिष्ठतयोपदिष्टानां लिङ्गानां विष्ण्वेकनिष्ठत्वादन्तःप्रविष्टः कर्ता विष्णुरेवेति । प्रलयार्णवशायित्वब्रह्माण्डवीर्यत्वयोः कथं विष्णुलिङ्गत्वमित्याकाङ्क्षायाम्, आपो नारा इति व्यासस्मृतिवाक्यं, चतुर्वेदशिखाश्रुतिश्चोपन्यस्ता । ननु तस्येन्द्राद्यभिन्नत्वं तर्ह्यस्त्विति शङ्कायां द्वितीयसूत्रे, 'इन्द्रस्यात्मा निहितः पञ्चहोता । वायोरात्मानं कवयो निचिक्युः । अन्तरादित्ये मनसा चरन्तम् । देवानाꣳ हृदयं ब्रह्मान्वविन्दत्' इत्यादिष्वेकस्यैव सर्वदेवान्तर्वर्तित्वकथनेन यथेष्टचारितयान्तर्यामित्वबोधनेनेन्द्रादिभ्यस्तस्य भेदव्यपदेशात् सोऽन्य एव तेभ्य इति वदन्ति ।

शैवास्तु छान्दोग्यश्रुतिमेव विषयवाक्यत्वेनोपन्यस्य साधकानुग्रहार्थं तत्र हिरण्मयं किमपि रूपं समास्थाय सवितृमण्डलेऽधिवसति । तच्च त्रिलोचननीलकण्ठादिविशिष्टम् । न चाक्षिणी इति द्विवचनविरोधः । तस्य पुण्डरीकोपमाबोधनार्थत्वात् । तृतीयस्य नेत्रस्य मुकुलितत्वेन तत्र पुण्डरीकोपमाया अभावात् नचैतावता तृतीयाभावः शङ्क्यः । यथाहि कंचित् त्रिपुत्रं ब्राह्मणमुद्दिश्योच्यते, द्वावस्य पुत्रावग्निकल्पौ । न तावता तृतीयाभाव, आयाति । किन्तूपमाभाव एव । तथात्रापि शक्यवचनत्वाद् । ध्येयः सदेति वाक्यं तु लौकिकानां भाक्तमेव । नापि पुण्डरीकाक्षत्वलिङ्गेन विष्णुः शङ्क्यः । कमलनेत्रत्वस्य लौकिकसाधारणत्वेन लिङ्गत्वाभावात् । नचास्मिन् हिरण्मयपुरुषवाक्ये शिवासाधारणलिङ्गादर्शनात् कथं शिवाकारत्वनिश्चय इति शङ्क्यम् । अस्य वाक्यस्य संदिग्धत्वेनासंदिग्धेन वाक्यान्तरेणैतदर्थस्य निर्णेयत्वात् । तैत्तिरीयाणां महोपनिषदि, आदित्यो वा एष एतन्मण्डलं तपतीत्यनुवाके, य एषोन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुष इत्यादित्यान्तर्यामिणमभिधाय तदग्रिमानुवाके, आदित्यो वै तेज इत्यादिनाऽऽदित्यरूपस्य विभूतिमभिधाय एष पुरुष एष भूतानामधिपतिरिति भूतपतित्वेन तं निर्दिश्य तदग्रिमानुवाकेषु, सर्वो वै रुद्र इत्यादिषु, हिरण्यबाहवे अम्बिकापतय उमापतय इत्युपसंहारेण तत्र शिवाकारनिर्णयात् । अन्तर्यामिब्राह्मणे, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत इति कथनाच्च । जाबालोपनिषदि, एतानि ह वा अमृतस्य नामधेयानीति शतरुद्रियप्रशंसावाक्येन अमृतपदस्य शिवपरतानिर्णयादत आदित्यान्तर्वर्ती त्रिलोचननीलकण्ठादिशरीरवानित्याहुः । तन्मन्दम् । शरीरपक्षस्य प्रागेव दूषितत्वात् । आकारेऽप्यक्षिद्वित्वस्य पुण्डरीकोपमाबोधनार्थत्वं तदा स्याद्यदि नीलग्रीवादिकं त्रिलोचनत्वसाधकमस्मिन् वाक्ये एतन्निर्णायकवाक्यान्तरे वा स्यात् । भूतानामधिपतिरित्यस्य तु न निर्णायकत्वम् । भूतपदस्य, क्षरः सर्वाणि भूतानि, पादोऽस्य विश्वा भूतानीतिवत् प्राणिमात्रवाचकत्वेन प्रेतवाचकत्वाभावाच्च नीलग्रीवादिरूपव्यञ्जकत्वम् । तस्य प्रेतमात्रवाचकत्वे च परिच्छिन्नैश्वर्यबोधकत्वेन परमैश्वर्यविघटकतया तस्यालिङ्गत्वमेवेत्युभयथापि तदगमकत्वात् । सर्वो वै रुद्र इत्यादीनां तु नैतद्वाक्यशेषत्वम् । आदित्यो वै तेज इत्यनुवाकान्ते, इत्युपनिषदित्यनेन विद्यासमाप्तिबोधनात् । एवममृतपदस्यापि न निर्णायकत्वम् । शतरुद्रियस्याऽमृतनामत्वेऽप्यमृतपदस्य शिवनामत्वाभावात् । इदं यथा तथा प्रहस्ताख्ये वादे निपुणतरमुपपादितमिति नेह प्रपञ्च्यते । यत्पुनर्ध्येयः सदेत्यस्य लौकिकवाक्यत्वमुक्तं, तत्त्वग्निपुराणा-

रश्मिः ।

दित्यर्थः । श्रुतेरित्यादि निरपेक्षस्वरूपायाः श्रुतेः सर्वेषां लिङ्गादीनामपेक्षयेत्यर्थः । चतुर्वेदेत्यादि अहं न तेजोरश्मीन् नारायणं पुरुषं जातमग्रतः पुरुषात् प्रकृतिर्जगदण्डमिति श्रुतिः । अहं तेज-आदिकं न किं तु पुरुषान्महत्तत्त्वाद्विष्णोर्द्वितीयरूपाद्विष्णोः प्रकृतिः प्रकृतिभ्रमः सुरछान्दसः जगत् जीवानूधमरीति नारायणत्वमुभयथा विष्णुलिङ्गम् । अण्डमिति ब्रह्माण्डवीर्यत्वं लिङ्गम् । पञ्चहोतेति पञ्चज्ञानेन्द्रियादिदाता पञ्चहोता पञ्चहोता वायुरिति चितिश्रुतेः । उपमाभाव इति अग्निकल्पपदोक्तोपमाभावः । तृतीयोग्निकल्पो नेति । भाक्तमिति स्वाधिष्ठाने लाक्षणिकम् । आश्रयतासंबन्धो लक्षणा । लिङ्गत्वेति असाधारणधर्मत्वाभावेन लौकिकेतिव्याप्तेस्तथा । अमृतपदशक्तिं शिवे साधयति भगवान् शैवः । जाबालेत्यादि । तत्र माध्वाचार्यमते विष्णुगुणावतारपरत्वं यच्छ्रुतीनामुक्तं तन्नारायणशिवो विष्णुरितिवाक्यान्नारायणादीनां ब्रह्मनामत्वात् तत्परमेवेत्येतावान् विशेष इति तन्मतमपहाय शैवं निराकुर्वन्ति स्म तन्मन्दमित्यादिना । निर्णायकत्वं कोशादिभ्यां तदा स्याद्यदान्येषां पदानां शिववाचकत्वं स्यादस्य च प्रायपाठेन यथाकथंचिदप्यन्यपरत्वं तस्यां न[1] त्वेवमित्याहुः भूतपदस्येत्यादि । अलिङ्गत्वमिति तव मते लिङ्गत्वमिति बोध्यम् । उभयथापीति उभे प्राणिमात्रवाचकत्वप्रेतमात्रवाचकत्वे अवयवौ यस्य प्राणिमात्रवाचकत्वप्रेतमात्रवाचकत्वसमुदायस्य स उभयस्तस्मिन् प्रकार इत्यर्थः । एतदुपपादितं प्रहस्ते द्वितीयवादे शिवेशानादिपदानां शिवे रूढिखण्डनप्रस्तावे । वस्तुतः सर्वेषां शब्दानां सर्वार्थत्वस्य महाभाष्याद्यभिमतत्वेन ब्रह्मवाचकत्वस्यैवाभिप्रेतत्वात् । प्रतिनियततावन्मात्रकार्यकरणेन ब्रह्मानुकारितया व्यवहारार्थमेव च शक्तिसंकोचे कोशेषु शिववाचकत्वदर्शनेपि ब्रह्मवाचकत्वस्यापि पर्यवसेयत्वादित्यादिना ग्रन्थेन । एतद्वाक्येति 'य एषोन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः' इति महोपनिषद्वाक्यशेषत्वम् । विद्यासमाप्तीति तदुत्तरविद्यास्थानां सर्वो वै रुद्र इत्यादीनामुत्तरविद्याशेषत्वमिति भावः । समाप्तपुनरात्तत्वदोषात् । न चानेकार्थसंकटे वाक्यशेषप्रवृत्तौ प्रतिबन्धे समाप्तेरप्रयोजकत्वमिति वाच्यम् । स्यादेवं यद्यनेकार्थत्वं स्यात् । तदेव तु न प्रायपाठात् । एवं च समाप्तेरस्यानन्तरप्रायपाठविघटकत्वाभावेन रुद्रादिपदानां समाप्तिवैयर्थ्यपरिजिहीर्षयानेकार्थसंकटाभावे किंचिज्ज्ञापकत्वेन समाप्तेरप्रयोजकत्वाभावात् । इदमिति शरीरपक्षस्येत्यारभ्य निरुक्तम् । उपपादितमिति शरीर इत्यारभ्य हेत्वर्थकविभक्त्यन्तं प्रहस्ते प्रथमवादे उपपादितम् । आकारप्रतीतिर्ब्रह्मण एव सर्वाकारत्वादेवोपपन्नेत्यादिग्रन्थेन । आकार इत्यारभ्य स्यादित्यन्तमन्तर्यामिविचारे पुण्डरीकाक्षत्वाक्षिद्वित्वाभ्यामादित्योभूयदा हरिरिति वैष्णवाः । ध्येयः सदा सवितृमण्डलेत्याद्यग्निपुराणश्रीमद्भागवतवाक्ययोर्मकरकुण्डलत्वादिलिङ्गकथनाच्चेत्यादिना संदर्भेणोपपादितम् । लौकिकेत्यादि

[1] शिवतात्पर्यकपदप्रायपाठात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

दर्शनादेवेति । गायत्र्यां तु भर्ग इति पदं सान्तम् । द्वितीयपादे चास्यान्वयो मैत्रायणीयो-

रश्मिः ।

लौकिकानां वाक्यत्वं यदि च लौकिकानामित्यस्य स्मार्तानामित्युच्यतेर्थः एतर्ह्यपि वाक्यसामानाधिकरण्यं सुष्ठु लौकिकं वाक्यं तत्त्वमिति न तु वाक्यसंबन्धिकत्वम् । ननु स्फुटतरमेतदुपोद्वलकं यद्गायत्र्यां सवितुर्वरेण्यं भर्ग इति तत्राहुः गायत्र्यां तु इत्यादि । त्रिपदा गायत्री । त्रिपदेति संध्याश्रुतेः । द्वितीय इत्यादि तिस्रो व्याहृतयः अस्य प्रथमपादस्थस्य वरेण्यपदस्य द्वितीयपादे अच्युतप्रवाचकभर्गःपदेनान्वये मैत्रायणीये उपनिषदि ।

'रविमध्ये स्थितः सोमः सोममध्ये हुताशनः ।
तेजोमध्ये स्थितं सत्त्वं सत्त्वमध्ये स्थितोच्युतः' ॥

इति श्रुतौ सिद्धः । अयमर्थः । सवितुर्देवस्य वरेण्यं तद्भर्गो धीमहि यः सविता नो धियः प्रचोदयात् । शश्वत्सूयमानात्सूर्यः सवनात्सवितेति श्रुतेः । सविता ब्रह्मेति यत्तदोः सामानाधिकरण्यम् । तस्य सवितुर्देवस्य वरेण्यं भर्गो धीमहीति तत्पदं लुप्तषष्ठीकम् । तत्सवितुरिति समस्तं पदं छान्दसत्वाच्छ्रौतान्वयः । इमं च भर्गःशब्दस्य सान्तत्वेऽचकथम् । केचित्तु सवितुर्देवस्य वरेण्यं तं भर्गं चिन्तयामि यः पूर्वोक्तोऽस्माकं बुद्ध्युपलक्षितानि सर्वेन्द्रियाणि प्रेरयतीति योऽस्माकं भर्गो धियः प्रेरयति सवितुर्देवस्य तद्वरेण्यं धीमहीति चान्वयमाहुः तन्न । अदन्तत्वपक्षे तदित्यत्र लिङ्गव्यत्ययः सुप्लोपकल्पनाऽव्ययत्वकल्पना वा भर्गपदे व्यवहितान्वयो वा विभक्तिव्यत्ययो वा । न च तदित्यस्याव्ययत्वस्य व्यवहितान्वयस्य च सार्वत्रिकत्वेनादोषादन्वयोऽदुष्ट एवेति शङ्क्यं अव्ययत्वकल्पनाया अन्वयासंभवफलकत्वाद्व्यवहितान्वयस्य पूर्वतन्त्रे तृतीयस्याष्टमे पादे मासं तु सवनीयानां नोदनाविशेषात् इति मांसाधिकरणे शाक्यानामयनं नाम षट्त्रिंशदाब्दिकं सत्रम् । तत्र संस्थितेहनि गृहपतिर्मृगयां याति स प्रतिपद्यते स यान् मृगान् हन्ति तेषां सरसाः सवनीयाः पुरोडाशा भवन्तीति श्रूयते तत्रेदं तरसं सर्वेषां पुरोडाशानामुत सवनीयानामिति विचिकित्सा । उद्देश्यः पुरोडाशः सवनीयेत्र विशेष्टुं न शक्यते इति सर्वपुरोडाशार्थं तरसं नवनीतवत् । सवनीयपदं तु सर्वपुरोडाशेषु लाक्षणिकमिति पूर्वपक्षे प्राप्ते तरसं संनिहितं सवनीयपदमतिहाय पुरोडाशेनान्वेति व्यवहितान्वयदोषप्रसङ्गात् । अतः सवनीयपुरोडाशेष्वेव तरसत्वमिति सिद्धान्तयता दोषत्वकथनादिति । स्यादेतत् । भर्गमिमं तं चिन्तयामि इति मैत्रश्रुतेः तद्भर्गाख्यं किमपीति स्मृतेश्च भर्गःशब्दस्यादन्तत्वज्ञापनेन भ्रस्ज पाके इत्यस्माण्णिचि 'भ्रस्जो रोपधयोः' इति रमागमे तदीयाकारमकारयोरित्त्वाल्लोपे भ्रजत्यतो 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' इत्यनेनाकर्तर्यजि प्राप्ते 'बहुलं छन्दसि' इत्यनेन कर्तरि घञि 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' इत्यनेनाद्युदात्तत्वे च भर्ग इति व्युत्पत्तिमचकथत् । अत एव तलवकाराणां कः सविता का सावित्री इत्युपक्रम्य द्वितीयः पादो भर्गमयः इति ब्राह्मणं संगच्छते इति । अत्र वदन्ति स्म भर्गाख्य इत्यस्य 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' इत्यनेन पररूपे भर्गमय इत्यस्य 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' इति सलोपे च कृते सिद्धिरिति तरसन्यायेन संनिहितान्वयबोधनादसुनन्तमेतदिति । अत एव विष्णुसंज्ञमिति श्रुतिः । काचित् वरेण्यं सवितुर्भर्गो विष्ण्वभिधं जगौ ।

याज्ञवल्क्योपि पुरुषं व्योम्नि तद्विष्णुसंज्ञितं ।
भ इति भासते लोकान् र इति रक्षते प्रजाः ॥
ग इत्यागच्छते तेजस्तं भरगाद्भर्ग उच्यते ।
इत्याह गायत्र्यर्थस्य व्याकृतौ योगशास्त्रके ॥

भाष्यप्रकाशः ।

पनिषदि सिद्धः । तथा,

'रविमध्ये स्थितः सोमः सोममध्ये हुताशनः ।
वह्निमध्ये स्थितं सत्यं सत्यस्यान्तः स्थितोऽच्युतः' ॥

इति तत्रैव मन्त्रः । योगियाज्ञवल्क्येऽप्येतादृशमेव वाक्यम् । ताभ्यामपि सर्वान्तरच्युत एवोक्तो ध्येयत्वेन च भगवानेवादृत इत्यतोऽपि शैवमतमसंगतमेवेति दिक् ।

विज्ञानेन्द्रभिक्षुस्तु काण्वषष्ठाध्यायस्थं, 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु । य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते । सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति । स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयान्' इति वाक्यं विषयत्वेनोपन्यस्य, तत्र किं जीवविशेष उच्यते, उत परमेश्वर इति संदेहे विज्ञानमयशब्दस्य योगरूढिभ्यामात्मसामान्यवाचित्वाज्जाग्रदाद्यवस्थाभिर्जीवस्यैव प्रक्रान्तत्वाज्जीव एवेति प्राप्ते । अन्तः परब्रह्मैव भवितुमर्हति । कुतः । तद्धर्मोपदेशात् । सर्ववशित्वशुभाशुभकर्मफलाभागित्वसर्वाधिपतित्वादीनां परमेश्वरधर्माणामुपदेशात् । न चैते धर्माः सिद्धेः पूर्वं जीवेषु संभवन्ति । सत्कर्मणैव पदप्राप्तेश्चेत्यादियुक्तिभिर्हेतुं साधयित्वा, न केवलं धर्मव्यपदेशादेवान्तःस्थो विज्ञानमयो जीवादन्यः परमेश्वरः । किं तु, भेदव्यपदेशाच्चान्यः । भेदव्यपदेशश्च यथात्रैव वाक्यशेषे । येषां नोऽयमात्मा, आत्मन्येवात्मानं पश्यतीति । आधाराधेयभावस्य भेदतन्त्रत्वादित्याद्युक्त्वाह । 'आधुनिकास्तु, य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मय इति छान्दोग्यवाक्यं विषयतया वर्णयन्ति । तन्न । पाप्मभ्य उदित इत्यनेनोक्तस्य पाप्मभ्य उदयस्य पापनाशरूपतया ब्रह्मधर्मत्वाभावात् । धर्मान्तरस्य चात्रानुक्तत्वात् । प्रत्युत तेनैव लिङ्गेन चन्द्रनक्षत्रादिदेवताप्रकरणपठिततया च देवताविशेषावधारणाच्च । न चादित्यस्यान्तरिति भेदनिर्देशानुपपत्तिरिति वाच्यम् । आदित्यस्यान्तरपि आदित्यभिन्नस्य हिरण्यगर्भादेः स्मरणात् ।

'ब्रह्मादीनां परं धाम त्रयाणामपि संस्मृतम् ।
वेदमूर्तिधरः पूषा पूजनीयः प्रयत्नतः' ॥

रश्मिः ।

इति च संगच्छते । यत्तु अथ भर्ग इति यो ह वा अस्मिन्नादित्येभिहितस्तारकोक्षिणीवैष भर्गाख्यो भाभिर्गतिरस्य हीति भर्गो भर्जयतीति वैष भर्ग इति रुद्रो ब्रह्मवादिनो 'अथ भ इति भासयतीमांल्लोकान् र इति रञ्जयन्तीमानि भूतानि ग इति गच्छन्त्यस्मिन्ना गच्छन्तीमाः प्रजास्तस्मात् भरगत्वाद्भर्गः । 'शश्वत्सूयमानात्सूर्यः । सवनात् सविता' इत्यादिश्रुत्या रुद्रपदादकारान्तस्य भर्गशब्दस्यैव तद्वाचकत्वात् तत्त्वमेव युक्तमिति तन्मन्दम् । रुद्रपदस्य प्राणवाचकत्वात् । कतमो रुद्र इति 'दशेमे पुरुषे प्राणाः आत्मैकादश' इतिश्रुतेः प्राणस्य च ब्रह्मवाचकत्वमतिदेशाधिकरणे लेखयिष्यामः । विशेषस्तु प्रहस्ते लक्षित एवेत्युपरमामः । भिक्षुमतनिरूपणे ब्रह्मधर्मेत्यादि पापं विना तन्नाशस्याशक्यवचनत्वेन तथात्वादित्यर्थः । पूषेति सूर्यः तथासति पूष्णि त्रयाणामुपासनाः सन्तु तत्राहुः

1. लक्षि प्रकाशने ।

भाष्यप्रकाशः ।

इति मात्स्यादिषु हिरण्मयशब्दाद्धिरण्यगर्भ एवात्रोपास्यत्वेन गम्यते । किंच, ध्येयः सदेतिरूपयोः श्रुतिस्मृत्योर्नारायणाख्यहिरण्मयस्य सूर्यमण्डल उपासनासिद्धेस्तदेकवाक्यतया हिरण्यश्मश्रुत्वादिश्रुतेरपि नारायणपरत्वमेव, न परमेश्वरपरत्वम् । अपिच । यस्मिन् वाक्ये रूपसंस्थानादिकं श्रूयते, तत्र तत्तद्देवतापरिग्रह एवौत्सर्गिकः । असाधारण्यात् । ब्रह्मणश्च स्वतो नीरूपताया, 'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्' इत्यत्र वक्ष्यमाणत्वात् । क्वचित्तु प्रकरणादिबलाद्देवादीन् विहाय देवादिरूपैरेवारूप ईश्वर उपास्य इष्यते । न चेह तथा बलवत् प्रकरणादिकमस्ति । अन्यथा देवतोपासनमात्रोच्छेदापत्तेः । सर्वत्रैव ब्रह्मोपासनसंभवात् । लीलाविग्रहोऽपि विष्ण्वादिदेवतानामेव स्वस्वाधिकारसंपादनार्थः । न त्वीश्वरस्य । 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः, अक्षरात् परतः परः', 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' इत्यादिश्रुतीनां संकोचे प्रमाणाभावात् । तदुक्तं विष्णुपुराणे ।

'स देवोऽन्यशरीराणि समाविश्य जगत्स्थितिम् ।
करोति सर्वभूतानां नाशं चान्ते जगत्पतिः' ॥ इति ।

तत्र विषयवाक्यव्याख्यानादिकं तु न दुष्टम् । तथाप्येतस्य विषयवाक्यत्वेऽधिकरणस्य पूर्वाधिकरणेन सह न स्फुटा संगतिरिति बोध्यम् । यत्पुनश्छान्दोग्यवाक्यस्यासालिङ्गत्वादिकमुक्तं, तत्त्वबुद्ध्यैव । अत्र पाप्मभ्य उदयस्य सर्वकर्माञ्जनराहित्यरूपस्य विवक्षितत्वादिति प्रागेवोक्तम् । नच पाप्मशब्दस्य पापे शक्तत्वात् तत उदयस्य पापनाशरूपत्वमेव युक्तं, न यावत्कर्माञ्जनराहित्यरूपत्वमिति वाच्यम् ।

'स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः ।
कर्मणां जात्यशुद्धानामनेन नियमः कृतः' ॥

रश्मिः ।

हिरण्मयेत्यादि । **क्वचिदिति** रामतापिनीयादौ ।

'रमन्ते योगिनोनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि ।
इति रामपदेनासौ परब्रह्माभिधीयते' ॥
'चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः ।
उपासकानां कार्यार्थे ब्रह्मणो रूपकल्पना' ॥ इति ।

बलवदित्यादि छान्दोग्ये ॐ इत्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत इत्युद्गीथप्रकरणं तन्न रूपोपासने बलवत् । मायादिप्रकाराणां संभवात् । हिरण्मयपदकृतं बलवत्त्वं वारयन्ति स्म **अन्यथेत्यादिना** । **नन्विति** यथा श्रीभागवते 'सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणा' इत्यादि तथा न । **नाशं चेति** चकारेणोत्पत्तिर्ग्राह्या । एतद् दूषयन्ति स्म **तत्र विषयेत्यादिना** । **यावदित्यादि** कर्मत्वावच्छिन्नविहितनिषिद्धकर्मजन्यपुण्यपापाञ्जनराहित्यरूपमित्यर्थः । अशुद्धिशाबल्यस्योभयत्र तौल्यादुभयोः पाप्मत्वमेवेत्याहुः **स्वे स्व इत्यादि** । स एव गुणो नेतरः तदुपपादयति स्म भगवान् **कर्मणामिति** । यस्माद्विधिप्रतिषेधाभ्यां अनेन गुणदोषविधानेन कर्मणां नियमः संकोचः कृतः । कुत इत्यत आह जात्योत्पत्त्यैवाशुद्धानां तत्त्वप्राप्तानां संगानां त्याजनेच्छया । अयं भावः । पुरुषस्याशुद्धिर्नाम न प्रवृत्तेरन्यास्ति स्वाभाविकप्रवृत्त्यैव तस्य मलिनत्वात् । नापि सहसा सर्वतो निवृत्तिः संभवति अत इदं कर्तव्यमिदं नेत्येवं स्वाभाविकप्रवृत्तिसंकोचद्वारेण निवृत्तिरेव क्रियते 'उत्पत्त्यैव हि कामेषु प्राणेषु

भाष्यप्रकाशः ।

इति विधिप्रतिषेधयोर्व्यवहारनियमार्थत्वबोधके वाक्ये कर्ममात्रस्य जात्यशुद्धत्वबोधनेन तदञ्जने पुण्यरूपेऽप्यशुद्धिशाबल्यस्य दुरपोहत्वेन सर्वस्यैव पाप्मरूपत्वात् । अन्यथा पुण्यफलस्यापि मुमुक्षूपादेयतापत्तेः । अतो धर्मान्तरानुक्तावपि न वाक्यस्य जीवपरत्वं शक्यशङ्कम् । आदित्यान्तस्तु न हिरण्यगर्भादिः । मात्स्ये परं धामोद्दिश्य तस्य पूषत्वकथनेन तत्र परब्रह्मण एवाभिप्रेतत्वनिश्चयात् । ध्येयः सदेति वाक्येऽपि परमेश्वर एवोच्यते ।

'नारायणः शिवो विष्णुः शंकरः परमेश्वरः ।
एतैस्तु नामभिर्ब्रह्म परं प्रोक्तं सनातनम्' ॥

इति वाराहपुराणवाक्येन तस्य ब्रह्मनामत्वात् । नीरूपेश्वरवादस्येक्षत्यधिकरणव्याख्यान एव निरस्तत्वात् । नचैवं, 'यो देवानां नामधा एक एव', 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' इत्यादिश्रुत्या, 'हव्यकव्यभुगेकस्त्वं पितृदेवस्वरूपधृक्' इत्यादिस्मृत्या च सर्वत्र ब्रह्मोपासनायाः शक्यवचनत्वेन देवतामात्रोपासनोच्छेद इति शङ्क्यम् । ज्ञानपूर्वकोपासकान् प्रति तस्येष्टत्वात् । अज्ञान् प्रति तु तदभावात् । 'येऽप्यन्यदेवताभक्ता' इत्यादिभगवद्गीतावाक्यसंदर्भेण तथा निश्चयात् । स्वरूपे विग्रहस्तु नास्त्येव । आकारस्तु स्वरूपात्मक एवेत्यसकृदुक्तमुपपादितं च । तेन 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' इत्यादिश्रुतीनां न विरोधः । अरूपवदेवेति सूत्रे तु रूपवद्भिन्नमेवोच्यते, न तु रूपरहितम् । नञः पर्युदासार्थत्वात् । अन्यथा स्वरूपमित्येतावतापि रूपाभावबोधनसिद्धेर्मतुब्वैयर्थ्यस्य दुर्वारत्वात् । अतो, 'न तस्य कार्यं करणं च' इत्यत्र संकोच एतदेव सूत्रं प्रमाणमित्यसंकोच एव प्रमाणाभावः । श्रुतयस्तूक्ता वक्ष्यन्ते च । उक्तं विष्णुपुराणवाक्यं

रश्मिः ।

स्वजनेषु च' इत्यादिना एकविंशे वेदस्य प्रवृत्तिपरत्वनिषेधात् इति श्रीधर्यनुसारेण 'गुणदोषविधानेन सङ्गानां त्याजनेच्छया' इत्यर्धेन सह श्लोकान्वयः । **मुमुक्ष्विति** आदिशब्देन पुण्यफलार्थं प्रवृत्तिः । धर्मान्तरस्येत्युक्तं दूषयन्ति **अतो धर्म** इति । धाम्नः परमिति विशेषणान्तरलब्धमर्थमाहुः **परं धामेत्यादि** । **तत्रेति** परधामपूषणि । एवकारो हिरण्यगर्भादिव्यवच्छेदकः । पूषत्वस्य ब्रह्मलिङ्गत्वात् । **देवतामात्रेति** देवतैव देवतामात्रं तस्योपासनाया उच्छेद इत्यर्थः । **तस्येति** उच्छेदस्य । **अज्ञानिति** पूर्ववाक्याज्ञानित्यर्थः । **तथेत्यादि** 'तेपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्' इति तत्र कथनादिति भावः । **पर्युदासेति** 'पर्युदासः सदृग्ग्राही' इति रूपवद्भिन्नत्वे सति रूपवत्सदृशेत्यर्थः । **अन्यथेति** नञः प्रसज्यप्रतिषेधकत्वप्रकारकत्वे तु । रूपवदभावापेक्षया रूपात्यन्ताभावस्य लघुत्वात् । **अत** इति पर्युदासाश्रयणादेव संकोचे लौकिककार्यादौ । **एतदिति** पर्युदासार्थकनञ्घटितमरूपवत्सूत्रस्यासंकोचः पर्युदासं विना यथाश्रुतव्याख्यानं संकोचे । तथा च कार्यत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावः करणत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावश्च विद्यते इति न श्रुत्यर्थः । किं तु लौकिककार्यत्वेत्यादिस्तथा लौकिककरणत्वेत्यादिरर्थः । सूत्रानुसारेण निरुच्य श्रुत्याकाङ्क्षामौनैवत् । **श्रुतय इत्यादि** 'सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्' इत्याद्याः ।

१. सकृपाभक्तः । २. जनपरिहाणे पुरादिः ।

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥ २१ ॥

अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच । सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते । आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति । आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणमिति । तत्र संशयः । भूताकाशो ब्रह्म वेति । ननु कथमत्र संदेहः । आकाशव्योमशब्दा ब्रह्मण्येव प्रयुज्यन्ते ब्रह्मप्रकरणे । कार्यनिरूपणे तु महाभूतवचनः । यथा, आकाश आनन्दो न स्यात्, परमे व्योमन् प्रतिष्ठिते-

भाष्यप्रकाशः ।

त्यवान्तरस्थितिनाशविषयकं, न तु महाकार्यविषयकम् । शरीराणीति बहुवचनेन तथानिश्चयात् । अत इदं भिक्षावैयग्र्यदशायामेवावादीति दिक् । अतो यत्रासाधारणधर्मोपदेशोऽभिमान्यादिभेदव्यपदेशो वा तत्र रूपोक्तावनुक्तौ वा परं ब्रह्मैवाभिधीयत इति निश्चयः ॥ २० ॥

इति षष्ठमन्तस्तद्धर्माधिकरणम् ॥ ६ ॥

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥ २१ ॥ छान्दोग्यप्रथमप्रपाठकस्थं विषयवाक्यमुपन्यस्याधिकरणप्रयोजनं विचारयन्ति नन्वित्यादि, विचार इत्यन्तम् । तत्र कथंपदे गृहीतं प्रकारं विभजन्ते आकाशेत्यादि । यद्यपि लोकप्रसिद्धेः प्रयोगप्राचुर्याच्च संदेहः संभवति, तथाप्यस्य वाक्यस्य प्रकरणावरुद्धत्वेन प्रकरणे चाकाशपदेन कारणमुक्त्वा कार्यनिरूपणस्योपक्रान्ततया

रश्मिः ।

'कांस्यघण्टानिनादस्तु यथा लीयति शान्तये ।
ॐकारस्तु तथा योज्यः शान्तये सर्वमिच्छता ॥
यस्मिन् संलीयते शब्दः तत्परं ब्रह्म गीयते ।

इति ब्रह्मविद्योपनिषदि लयस्य महेश्वरात्प्रवचने स्वाप्ययादिति सूत्रे च ब्रह्मणो न सर्वव्यवहारातीतत्वम् । कुतः स्वस्मिन्नप्ययालयात् । स्वस्वरूपं तु द्वादशे 'एष नैमित्तिकः' इत्यत्र विश्वसृक्पदेन ज्ञानं तल्लक्षणं सर्वोपनिषदि अवस्थात्रयभावाभावसाक्षि स्वयं भावरहितं नैरन्तर्यं चैतन्यमित्युच्यत इति । 'अनन्तासनपदेन पूर्वव्यापकं चैतन्यं तत्रैवानन्तं नाम मृद्विकारेषु मृदि सुवर्णतन्तुकार्येषु अव्यक्तादिसृष्टिप्रपञ्चेषु पूर्वं व्यापकं चैतन्यमनन्तमित्युच्यते इति आत्मभूदेवानन्दोनाम सुखचैतन्यस्वरूपमपरिमितानन्दसमुद्रः अविशिष्टसुखस्वरूपश्च आनन्द इत्युच्यते' इति । निश्चयादिति महाप्रलयेऽशरीरिणः कर्तृत्वस्य । भिक्षेत्यादि विज्ञानभिक्षुस्त्वादिन्द्रभिक्षुत्वं विज्ञानक्षरणादिदं भिक्षावैयग्र्यदशेत्याशयः । असाधारणेति पूर्वसूत्रोक्ता अपहतपाप्मत्वादयः । अभीत्यादि अयं द्वितीयसूत्रे य आदित्ये तिष्ठन् इत्यत्र ॥ २० ॥

इति षष्ठमधिकरणम् ॥ ६ ॥

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥ २१ ॥ गृहीतमित्यादि 'किमत्र' इत्यनेन प्रकारे थमुप्रत्ययात् प्रत्ययांशेन गृहीतं प्रकारमित्यर्थः । विभजन्त इति प्रकारद्वयं विभजन्ते । तथा च प्रकरणभेदात् न द्वितीयकोटिरतः संशये द्वितीयकोटिः किंप्रकारेति प्रश्नः । कोशप्रसिद्धिं श्रीभागवतादौ भूताकाशे प्रयोगप्राचुर्यं च समाकलय्य लौकिकस्फूर्तिं पुरस्कृत्याभ्यस्तवेदान्तानां पूर्वपक्षविगानं समादधानाः किंचिदाहुः यद्यपीत्यादिना । प्रकरण इत्यादि उभयोरुपकार्योपकारकयोः कार्यकारणयोरा-

त्यादि । आत्मन आकाशः संभूत इति कार्यनिरूपणम् । अतः प्रकरणादेव संदिग्धनिर्णये किमिति सूत्रारम्भः । जन्मादिलक्षणसूत्रेण चायमर्थो निर्णीतः । अन्यथा ब्रह्मशब्देऽपि संदेहः स्यात् । महाभूतवेदादिवाचकत्वात् । तस्मात् प्रकरणादेव परिज्ञानं भविष्यतीति चेत् । उच्यते । असंदिग्धे प्रकरणे तथैव निर्णयः । इह पुनः प्रकरणमपि संदिग्धम् । अतो विचारः ।

अवान्तरविद्यायां पर्यवसितप्रकरणबद्धस्यापि प्रकरणस्य भूताकाश एव पर्यवसानमिति लोकभाष्यन्यायेनाकाशो भौतिक एवेति पूर्वपक्षस्तत्राह ।

भाष्यप्रकाशः ।

प्रकरणादेवाकाशशब्दार्थस्य निर्णयसिद्धेराकाशः प्रकरणादिति सूत्रयितव्यम् । अथ प्रकरणापेक्षया लिङ्गस्य बलिष्ठत्वात् तेन निर्णिनीषा तदा तु जन्मादिसूत्रे लिङ्गस्य निर्धारितत्वात् तेनैवैतद्वाक्यनिर्णयसिद्धेः सूत्रमेव न प्रणेतव्यम् । अथ जन्मादिसूत्रे लक्षणस्यापरीक्षितत्वान्न लिङ्गता, तदा त्विदानीं तस्याः सिद्धत्वादाकाशो ब्रह्मलिङ्गादित्येवं प्रणेतव्यम् । न तु तल्लिङ्गादिति पूर्वपक्षाशयः । प्रतिवचनाशयस्तु स्फुट एव । प्रकरणस्य संदिग्धत्वं तु उपक्रमे उद्गीथोपासनस्योक्तत्वादत्र परोवरीयोरूपस्योत्कृष्टस्य फलस्य कथनाच्च ज्ञेयम् । तेन विचारस्यावश्यकत्वमिति । अधिकरणसंगतिस्तु प्रसङ्गरूपा । पूर्वाधिकरणयोः प्रत्ययकृते संदेहे वारितेऽत्र प्रकृतिकृतसंदेहस्य वारणीयत्वादिति । प्रयोजनमुक्त्वा पूर्वपक्षमाहुः अवान्तरेत्यादि । तथा च यथा जानश्रुत्युपाख्यानं संवर्गविद्यायां पर्यवसितं तथास्यापि प्रकरणस्य भूताकाश एव पर्य-

रश्मिः ।

कार्यस्वरूपे ब्रह्मप्रकरणेऽत्र तृतीयब्रह्मप्रकरणे चकारेण विषयवाक्ये । अत्र लोकस्य भूतस्य गतिः कारणम् । निर्णयेत्यादि । आकाशपदस्य ब्रह्मवाचकत्वनिश्चयो ज्ञानं तस्य सिद्धेरित्यर्थः । भाष्ये । कार्यनिरूपणं किमित्याकाङ्क्षायामाहुः आत्मन इति । प्रकृते । जन्मादिलक्षणेत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म अथेत्यादि । लिङ्गस्येति जगज्जन्मादिकर्तृत्वरूपस्य श्रुतिसामर्थ्यस्य । ब्रह्मलिङ्गादिति । नन्वसिद्धस्य लिङ्गस्य कुत उपन्यासः व्यासोक्तत्वात् सेत्स्यतीति । न तु तदिति तस्माल्लिङ्गात्तल्लिङ्गादित्यर्थेऽसिद्धत्वात् । प्रतीत्यादि उच्यत इत्यादिनोक्तस्य प्रतिवचनस्येत्यर्थः । प्रतिवचने किंचिद्विवृण्वन्ति स्म प्रकरणस्येति । उक्तत्वादिति 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' इतिश्रुत्येत्यर्थः । परोवरीय इति आकाशः परायणमित्यस्याग्रे पठ्यते 'स एष परोवरीयानुद्गीथः' इति । एवं च महाप्रकरणवदवान्तरप्रकरणमपि ब्रह्मपरमाकाशपरं वेति संदिग्धं वरीयसः का साम्नो गतिरिति स्वर इति होवाचेत्यादिश्रुत्युक्तस्वरप्राणान्नादेः सकाशादतिशयेन वरः वरीयान् इति व्युत्पत्तिः । परोवरीयान् परमात्मेति तदर्थः । विरुद्धा द्वितीया कोटिः पूर्वपक्षभाष्यात् । अतो विचार इत्यत्र भाष्येऽत इत्यत्र सार्वविभक्तिकस्तसिलित्याशयेन तस्य भाष्यस्य विवरणम् । तेन विचारस्येति । स्मृतस्योपेक्षानर्हस्वरूपं प्रसङ्गं स्मारयन्ति स्म पूर्वेत्यादि । प्रत्ययेत्यादि यद्यपि मयट्प्रत्ययमात्रकृतसंदेहो वारितस्तथापि ह्यधिकरणानां न्यायरूपत्वेनैवमुक्तम् । किं च पूर्वाधिकरणे यद्यपि हिरण्यशब्द आनन्दवाचीति भाष्येण प्रकृतिकृतसंदेहोपि वारितस्तथापि प्रकृतिमात्रकृतसंदेहो न वारितः इति प्रत्ययकृत इत्युक्तम् । अत्र तु विविक्तप्रकृतिकृतसंदेहो वारितः । इतिह्यधिकरणारम्भप्रयोजनसमाप्तौ । जान इत्यादि छान्दोग्ये षष्ठे प्रपाठके इदमस्ति । जनश्रुतस्यापत्यं जानश्रुति-

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥ आकाशः परमात्मैव । कुतः । तल्लिङ्गात् । श्रुतिलिङ्गादयो नियामकत्वेन पूर्वतन्त्रवदिहापि गृह्यन्ते । लिङ्गं श्रुतिसामर्थ्यम्; एकवाक्यता च सर्वासां ब्रह्मश्रुतीनाम् । तत्र ब्रह्मैव जगत्कारणमिति निःसंदिग्धेषु

भाष्यप्रकाशः ।

वचनम् । लोकेऽवगतसामर्थ्यः शब्दो वेदेऽपि बोधक इति लोकभाष्यन्यायेनात्र भूताकाशग्रहणस्यैव युक्तत्वात् । लिङ्गापेक्षया श्रुतेः प्राबल्यस्य पूर्वतन्त्रे सिद्धत्वात् । 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' इति जैमिनिसूत्रात् । ब्रह्मग्रहणे तु लक्षणापत्तेः । बाधकं विना तदादरस्यानुचितत्वात् । नचाकाशते, आकाशयतीति वा योगेन प्रकाशकं ब्रह्मोच्यतेऽतो न दोष इति वाच्यम् । रूढ्यपेक्षया योगस्यापि दुर्बलत्वात् । नच लिङ्गबोधकवाक्यासंगतिः । सर्वाणि ह वा इमानि भूतानीति सर्वपदस्य भूतपदस्य च वाय्वादिषु संकोचात् सुखेन संगतेः । किंचेह, इमानीति कथनादवान्तरभूतसंबन्ध्यवकाशरूप एव स ग्राह्यः । फलं तु तादृशोपासनाबलादेव भविष्यतीति पूर्वः पक्ष इत्यर्थः । सूत्रं पठित्वा समादधाना व्याचक्षते आकाश इत्यादि । **नियामकत्वेनेति** अर्थविशेषनिर्णायकत्वेन । **श्रुतिसामर्थ्यमिति** अन्यानपेक्षस्य शब्दस्य स्वरसेनार्थबोधकत्वम् । **एकवाक्यतेति** ।

रश्मिः ।

स्तदुपाख्यानं 'वायुर्वाव संवर्गः' इत्याद्युक्तायां संवर्गविद्यायाम् । संवर्गपदस्य योगस्तु संवृक्के स्थितिकाले सर्वमात्मनि स्थापयतीति संवर्ग इति यदा वाऽग्निरुद्वायति वायुमेवाप्येति इति श्रुतेः उद्वायतीत्यस्य शाम्यतीत्यर्थः । लोके येष्वर्थेषु प्रसिद्धानि पदानि सति संभवे तदर्थान्येव सूत्रेष्वित्यवगन्तव्यम् । नाध्याहारादिभिरेषां कल्पयितव्योऽर्थः परिभाषितव्यो वेति जिज्ञासाधिकरणस्थं शाबरभाष्यं तदेव लोकभाष्यपदेनोच्यते तेन न्यायेनेत्याहुः **लोक इत्यादि** । **लक्षणेति** । आकाशपदस्येत्यर्थः । शरीरशरीरिणोरध्यासकः संबन्धो लक्षणा । बीजस्य तात्पर्यानुपपत्त्यन्वयानुपपत्त्यन्यतरस्याभावाल्लक्षणापि न संभवतीत्याहुः **बाधकमित्यादिना** । **वाय्वादिष्विति** 'आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापः' इति श्रुत्युक्ताकाशकार्येषु । **इति कथन** इति इदमो रूपस्य प्रत्यक्षगत्वेनावान्तरभूताकाशस्यैव प्रत्यक्षत्वात्तथेत्यर्थः । **तादृशेति** तादृशाकाशोपासनाबलात् । **अर्थेत्यादि** एतेन तल्लिङ्गादित्यस्य श्रुतेर्लिङ्गादित्यर्थोऽबोधि । इदानीं तस्य तात्पर्यनिर्णयस्य लिङ्गं तल्लिङ्गं तस्मादित्यर्थं हृदिकृत्याहुः **विभाग इत्यादि** । अयमाशयोऽत्र बोध्यः । ब्रह्मवाक्यानामेकवाक्यतोक्ता सा च दुर्लभा बहुत्वविशिष्टेषु ब्रह्मवाक्येषु एकत्वावच्छिन्नाया वाक्यताया अशक्यवचनत्वात्, एकत्वस्य बहुत्वविरुद्धत्वात् । तस्मादत्रैकवाक्यता पूर्वतन्त्रकृता गृह्यते लाघवात् सेयमेकवाक्यता भावार्थपादभाष्येऽतन्वन् श्रीमदाचार्याः । एकस्मिन् वाक्ये न तु बहुषु वाक्येषु तामेव गृह्णीमः । अस्य लोकस्येत्यस्याकाशपरत्वमपास्य ब्रह्मवाक्यत्वमत्र सूत्रे व्यासपादैर्निरणायि । एवं चास्य यतो वा इमानि इत्यस्य चाधिकरणसंगत्या विभागेपि साकाङ्क्षत्वेन ब्रह्मणो जगज्जन्मादिकर्तृत्वरूपेऽर्थैकत्वादेकं वाक्यमपरनये वेदलोकशब्दयोरेकत्ववत् । अर्थैकत्वमाकाशपदस्य भौतिकाकाशपरत्वापवदनेन भवति तदपोहितमाकाश इत्यनेनाधिकरणांशेन नत्र रूढ्या योगस्यापहरणात् कथमाकाशपदवाच्यत्वं ब्रह्मणः इत्यत उत्तरमपाठीत् तल्लिङ्गादिति तस्य तात्पर्यस्य योनिर्निर्णयः तस्य लिङ्गादिति । अयमर्थः । आकाशपदस्यास्तु रूढिः परं त्विह नास्ति । तात्पर्यवृत्तिनिर्णायकानां पदानामासीत्सत्तानन्दानामिह सत्त्वात् इति । नहि

सिद्धम् । सर्वशब्दवाच्यत्वं ब्रह्मण्येव । तत्र वाक्यार्थापेक्षया पदार्थस्य दुर्बलत्वाद्

भाष्यप्रकाशः ।

विभागे साकाङ्क्षत्वे सत्येकार्थप्रतिपादकता । सा च समन्वयरूपा । उपपत्त्यात्मकं तात्पर्यनिर्णयलिङ्गम् । तेन तल्लिङ्गादित्यस्य श्रुतिसामर्थ्यात्तात्पर्यनिर्णयलिङ्गाच्चेत्यर्थः सिध्यति । मुख्यत्वादिति मुख्यार्थत्वात् । तथाच, 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादिषु निखिलजडजीवकारणत्वं ब्रह्मणि सिद्धम् । अत्रापि तदेव सर्वपदेन निखिलान्युद्दिश्य, भूतपदेन च देहविशिष्टजीवतया महाभूततया च तानि जीवजडरूपेण निष्कृष्य तत्कारणत्वमाकाशे बोध्यते । तथा, एभ्य इत्यनेन पूर्वोक्तान्येव भूतानि परामृश्य ततो ज्यायस्त्वं च बोध्यते । तथा परमस्थानत्वरूपं परायणत्वं च । तद्यदि भूताकाशो गृह्येत, तदा सर्वपदार्थसंकोचेन सर्वपदसामर्थ्यस्यार्थबाधाद् भूतादीनां पदानामपि तद् बाध्येत । तच्चासंगतम् । एकपदानुरोधेनानेकपदार्थसंकोचात्मकस्य सामर्थ्यबाधस्यानुचितत्वादिति । किंच । 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इति 'तं त्वौपनिषदम्' इति च श्रुत्या सर्वस्य वेदस्य ब्रह्मण्येव तात्पर्यमिति सिद्धम् । तद्यदि निरङ्कुशसर्वकारणत्वमस्मिन् वाक्ये भूताकाशस्योच्येत, तदार्थभेदाद् विभागे साकाङ्क्षत्वाभावाच्च सर्वासां श्रुतीनामेकवाक्यता व्याहन्येत । यद्यपि सर्वे वेदा इत्यत्रासंकुचितवृत्तिना सर्वशब्देन ब्रह्मणि सर्वशब्दवाच्यत्वं तत्तत्पदार्थरूपतया सिद्धं, तथापि तत्र वेदे वाक्यार्थापेक्षया तदेकदेशभूतस्य पदार्थस्य दुर्बलत्वाद् वाक्यार्थ एवादरणीयः । वाक्यार्थस्तु सर्वगतित्वादिः । गतिराश्रयः । प्रश्ने, शालावत्येनैतल्लोकगतेः पृष्टत्वेऽपि जैबलिना तदुपपादनार्थं सर्वभूतोत्पत्तिप्रलयाधारत्वं

रश्मिः ।

जगज्जन्मादिकर्तृवाचकपदानि प्रयुञ्जतो भगवतो व्यासस्य भौतिकाकाशे तात्पर्यास्तित्वं वक्तुं शक्यम् । नवार्थासंगतौ रूढिमाद्रियामो वयं लिङ्गाभावात् । अत उक्तमेकार्थस्य ब्रह्मरूपस्य प्रतिपादकता । **सा च समन्वयरूपेति** । ननु तर्हि तात्पर्यलिङ्गादित्येव सिद्धे निर्णयपदमधिकं निग्रहस्थानमिति चेन्न तात्पर्यलिङ्गेन चेत्येव तल्लिङ्गादित्यनेन तदपल्युलत् । तथाप्यत्र यदुद्दानं तत्फलं तु ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म सर्वं तस्योपव्याख्यानं इति निर्णयस्तत्संग्रहणार्थम् । अन्यथाकाशशरीरं ब्रह्मेति श्रुतिरूपाप्रतिहताज्ञेन वेदेन ब्रह्मशरीरे समन्वयः स्यात् एतदग्र उपपादयिष्यामो वयम् । निष्कृष्टमर्थमाहुः **रूपेत्यादि** । अत्रेदं विशेषणमुत्पत्त्यात्मकस्यास्य लोकस्य का गतिरित्यादिश्रुतिस्थत्वेन सूत्रे व्यावृत्त्यर्थं किं त्वेकवाक्यतया श्रौतं यदेष आकाश आनन्दो न स्यादित्युक्ता उपपत्तिरेव लिङ्गं प्रथमज्ञप्तेः पूर्वतन्त्रे उत्पत्तिपदार्थत्वात् । **तात्पर्येत्यादि** । आकाशशब्देनात्र ब्रह्मबोधो भवतु इत्याकारिकेच्छा वक्तुस्तात्पर्यम् । **सिध्यतीति** । न च ब्रह्मलिङ्गादित्यर्थः साधुः तस्याधिकारसूत्रलभ्यत्वेपि साध्यत्वात् । अर्थस्य ब्रह्मणो मुख्यत्वेन रूपेणोपस्थितिरित्याहुः **मुख्यार्थेत्यादि** । पूर्वभाष्यार्थस्तु **सिद्धमिति** शास्त्रयोनित्वादिति सूत्रांशेन सिद्धम् । **सर्वशब्देति** कार्यकारणैक्यमर्पणात् । ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म सर्वं तस्योपव्याख्यानमिति श्रुतेरेवकारः । एवं पदवाच्यत्वमुक्त्वा वाक्यवाच्यत्वमपि ब्रह्मणीत्याहुः **तत्र वाक्यार्थेति** । **दुर्बलत्वादिति** यथा घटः भवत्येतयोरेकतरानुक्तौ सत्यां न शक्यार्थो दुर्बलो भवति परस्परं सापेक्षत्वात् सापेक्षमसमर्थं भवति इत्युक्तेः एकतिङ् वाक्यमिति सापेक्षत्वाभावो वाक्यार्थः प्रबलः । सापेक्षत्वाभावात् अन्यत्सर्वमग्रे स्फुटम् । तत्र ब्रह्मैवेत्यारभ्य यावत्समाप्ति सर्वोपि ग्रन्थस्तावदुपपत्तिरूप-

१. पल्युल लवनपवनयोरुरादिः ।

रश्मिः ।

तात्पर्यलिङ्गरूपद्वितीयार्थोपपादनायेत्याहुः तथा चेत्यादिना । अत्रेति ब्रह्मवाक्ये । सर्वपदेति सर्वाणीति विषयवाक्यस्थसर्वपदार्थस्य संकोचेन आकाशमात्रकार्येषु संकोचस्तेन । अर्थबाधादिति । केवलोत्पन्नकार्यरूपत्वस्य ब्रह्मत्वात् बाधेन तयेत्यर्थः । भूतादीनां वाय्वादीनां पदानां वाय्वादिवाचकानां सर्वपदसामर्थ्यं तत्तद्वाचकत्वेन बाध्येत ततश्च सर्वाणि ह वा इमानि भूतानीत्यत्र भूतानीत्यस्य सर्वाणीति विशेषणासंगतिरिति भावः । एकपदेत्यादि आकाशपदेत्यर्थः । सर्वशब्देत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति स्म किं चेत्यादिना । योगजधर्मेण प्रत्यासत्त्यात्मकेन अयं महान् पुरुष इत्यत्र ब्रह्मणः सर्वशब्द आम्नातृणशब्दस्तच्छब्दपर्यायो महापुरुषशब्दः तद्वाच्यत्वम् । यद्वा सर्वाणीतिशब्दस्तद्वाच्यत्वम् । अकारो वै सर्वा वागिति श्रुतेरशब्दवाच्यत्वं ब्रह्मणः एवं च सर्ववाचकः शब्दः सर्वशब्दोकारशब्दश्च तद्वाच्यत्वम् । अत्र कठवल्लीबृहदारण्यकश्रुती प्रमाणयन्ति सर्वे वेदा इत्यादि । पदमक्षरमामनन्ति अभ्यसन्ति व्यष्टिसमष्टिभेदेन समष्टेरुक्तत्वाद्व्यष्टेर्वक्ष्यमाणत्वात् उपरमामः । ब्रह्मपदं वेदार्थे वेदात्परात्परे च वर्तते तत्र वेदार्थे 'मां विधत्तेभिधत्ते मां' इति भगवद्वाक्याद्वेदार्थे ब्रह्मण्यभिधा वेदात्परात्परे तात्पर्यं वक्तुरिच्छात्मकम् । यद्यपि अस्मत्पदेन मामित्यत्र परात्परमुच्यते तथाप्यदृश्यत्वाधिकरणेऽक्षराभिन्नमक्षरे स्थितमित्युक्त्योपपन्नम् ।

'नारायणादिरूपाणि ज्ञातान्यस्माभिरच्युत ।
सगुणं ब्रह्म सैवेदं वस्तुबुद्धिर्न तेषु नः ॥
ब्रह्मेति पठ्यतेस्माभिर्यद्रूपं निर्गुणं परम् ।
वाङ्मनोगोचरातीतं ततो न ज्ञायते तु तत्' ॥ इति

ज्ञानं तु ह्यभिधया प्रतिपादनानन्तरमतो ज्ञानानीत्यत्राभिधावृत्तिः श्रीनारायणादौ लभ्यते । न ज्ञायते इत्यत्र वाङ्मनोगोचरातीते त्वपोद्यतेतस्तत्र तात्पर्यम् । यदा पदं पदनीयमिति कठवल्ल्यनुसार्यर्थः तदा तु तात्पर्यवृत्त्या प्रतिपादयन्ति । न चानेकार्थसंकटे तात्पर्यज्ञानं कारणं न तु वृत्त्यन्तरम् । वृत्तिस्तु शक्तिलक्षणान्यतरसंबन्ध इति शङ्क्यम् । शास्त्रान्तरत्वात् । व्यञ्जनाया आलंकारिकसंमतत्वाच्च । प्रस्थानरत्नाकरे तु व्यञ्जना तात्पर्येणैव गतार्थेत्युपपादितम् ।

'गच्छ गच्छसि चेत् कान्त पन्थानः सन्तु ते शिवाः ।
ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान्' ॥

इत्यत्र मा त्वं गम इत्यभावे न व्यञ्जनापि तु तात्पर्यवृत्त्यैव निर्वाहः । लक्षणावृत्त्येति नैयायिकाः । तत्र पुष्पवच्छब्दव्यतिरिक्तस्थले युगपद्वृत्तिद्वयविरोधः । तत्र वाक्यार्थेत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म यद्यपीत्यादिना । तत्तत्पदानि घटपद्यादिपदानि तदर्थतया व्यष्टेति यावत् । तदुक्तम् 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते' इति । एवं चास्मिन् पक्षे आकाशपदं न शक्त्यात्मपरमपि तु गौण्येति । तथापि तत्रेति व्याख्येयम् । वेद इति व्याख्या एतद्ब्रह्मच्छेदकं पदं लोकाद्वैदिकपदपदार्थानां भिन्नत्वाद्वैदिकेषु वाक्येषु लौकिकपदार्थस्य शेषत्वख्यापनाय भाष्योक्तत्वाच्च । सर्वंगतिस्त्वादिरित्यत्रादिपदेन उपसंहारं घटयांबभूवुरुपक्रमोपसंहारयोरर्थनिर्णायकत्वात् । अस्य लोकस्य का गतिरित्यत्र गतिराश्रयः कारणमिति यावत् । मध्ये सर्वभूतोत्पत्तिः सर्वभूतास्तगमनं ज्यायस्त्वे विषयवाक्यनिरुक्तानि ज्ञेयानि वाक्यार्थसमुदायस्य महावाक्यार्थत्वात् । यथादिपदेन

१. (पिपीलिका) शाकल्यब्राह्मणे । २. सर्वमित्यतः प्रत्ययस्यडा । ३. विचिन्त्येत्यर्थः ।

वाक्यार्थः सर्वंगतित्वादिः । तद् वाक्यार्थान्यथाऽनुपपत्त्या आकाशपदार्थो ब्रह्मेति सर्वशब्दवाच्यत्वाच्च न लक्षणा । मुख्यत्वाच्च । यावन्मुख्यपरत्वं संभवति तावन्न कस्यापि वेदान्तस्यापरब्रह्मपरत्वमिति मर्यादा । तस्मात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यादितिवदत्राप्याकाशो ब्रह्मैवेति सिद्धम् ॥ २१ ॥

इति प्रथमाध्याये प्रथमपादे सप्तमं तल्लिङ्गाधिकरणम् ॥ ७ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

वदता परायणपदेन सर्वंगतित्वं प्रतिपाद्यत इति । तथा आदिपदेन सर्वज्यायस्त्वं परोवरीयस्त्वमनन्तत्वं च । तत् तस्मात् कारणात् वाक्यार्थान्यथानुपपत्तिरूपयोपपत्त्यापि, आकाशपदस्य ब्रह्मण्येव तात्पर्यमित्यर्थः । सर्वशब्दवाच्यत्वादित्यादिग्रन्थस्तु सूचनार्थः । एवमत्र श्रुतिसामर्थ्यरूपेण लिङ्गेन उपपत्तिरूपेण तात्पर्यलिङ्गेन चेति द्विधा व्याख्यातम् ।

रश्मिः ।

भाष्ये आकाशः परायणमित्यग्रहीषुराचार्यास्तथादिपदेन विषयवाक्याग्रेतनानां स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोनन्त इति श्रुत्युक्ताः प्रतिपाद्यन्ते इति । एकतिङ् वाक्यं तेन परायणमित्यस्य क्रियापदमन्तरा विभक्त्यनुत्पत्तेर्वाक्यत्वमेवमग्रेपि । तद्वाक्यार्थेत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म तत्तस्मादित्यादि । वाक्यार्थेति वाक्यार्थस्य सर्वगतित्वादेः अन्यथाभांतिमाकाशपरत्वेनुपपत्तिस्तद्रूपयेत्यर्थः तात्पर्यमिति आकाशपदस्य तात्पर्यवृत्तिर्न तु गौणीत्यर्थः । उत्तानार्थ इति मुख्यार्थस्यातद्बाधाभावाच्च लक्षणेति प्रयोजनमेकमपरमाहुः यावदिति । इतिवदिति य एष आकाशः परमात्मा न स्यात् जगज्जन्मादिकर्ता कः स्यात् अतः परिशेषात् आकाशपदवाच्यं ब्रह्मैवेति सिद्धमित्यर्थः । अतोस्माभिः प्रासङ्गिकविवरणमात्रं कृतं न तूपपादनादीति भावः । उपपत्तीत्यादि । ननु तात्पर्येण श्रुतिसामर्थ्यलिङ्गमित्येवास्तु किंचाकाशपदार्थो ब्रह्मेति तैदिति भाष्ये आकाशपदवाच्यं तत् लिङ्गादित्येव सूत्रान्वयघ्वननं विना तल्लिङ्गादित्यत्र समासं ब्रह्मपदानुवर्तनात् । तत्कथं द्विधा तल्लिङ्गादिति लिङ्गव्याख्यानं घटते । एतदपेक्षया कुतः तल्लिङ्गादिति भाष्यस्यैव विस्पष्टत्वात् । सामर्थ्यपदेनैव चारितार्थ्याच्चत्पदवैयर्थ्यापत्तेः । श्रुतिपदवैयर्थ्याद् द्वितीयो हेतुरावश्यकः श्रुतिपदात्तात्पर्योपलब्धेः इति कुतो द्विधा व्याख्याने दोषः । एवं चाकाशपदवाच्यं तल्लिङ्गादित्येव सूत्रान्वयः । व्यञ्जनार्थापेक्षया शक्यार्थस्य बलीयस्त्वादिति । द्वितीयं लिङ्गम् । तथा च पूर्वपक्षाशयवर्णने तल्लिङ्गादिहेतुः आकाशः प्रकरणादिति प्राप्ते आकाशस्य लिङ्गात् प्रकरणापेक्षया लिङ्गस्य बलिष्ठत्वादुक्तं एवमपि जन्मादिसूत्रेण सिद्धसाधनत्वम् पुनरुक्तिः जन्मादिसूत्रीयलिङ्गस्यापरीक्षितत्वात् काञ्चनमयधूमहेतुवदलिङ्गता अलिङ्गतायां तस्माल्लिङ्गादिति कर्मधारयसमासघटिततल्लिङ्गादित्यस्याप्यलिङ्गता । तन्निवृत्त्यर्थं तस्य लिङ्गं तल्लिङ्गमिति षष्ठीतत्पुरुषे तच्छब्दवैयर्थ्यं तदा ब्रह्मेति जिज्ञासासूत्रादनुवर्त्य ब्रह्मलिङ्गादिति हेतुः । आकाशः तत् जगत्कर्ता ब्रह्मलिङ्गादिति हेतुः सिद्धः । तत्र ब्रह्म वेद इतिश्रुतिसामर्थ्यरूपेण लिङ्गेन लिङ्गं श्रुतिसामर्थ्यमभिधालक्षणं तेनाकाशते आकाशयतीति वाकाशः इत्याकाशे योगरूढ्यभिधारूपेण लिङ्गेनाकाशस्य जगत्कर्तृत्वेनानुमितिविषयत्वं यदा तु यदेष आकाश आनन्दो न स्यादित्युपपत्तिरूपेण तात्पर्यलिङ्गेनानन्दत्वेनानुमितिविषयत्वम् । जगत्कर्ता आकाशत्ववानित्यनुमितिः । इदमनुमानं ब्रह्मविदि साधारणं ब्रह्मविदि ब्रह्मलिङ्गरूपहेतुसत्त्वेपि जगत्कर्तृत्वरूपसाध्याभावेन साध्याभावरूपवद्वृत्तित्वाद्धेतोः । श्रुतिसामर्थ्य-

१. इदं व्याख्येयम् । २. इयं व्याख्या ।

भाष्यप्रकाशः ।

अन्ये तु, तल्लिङ्गादित्यस्य, ब्रह्मासाधारणधर्मादित्यर्थं वदन्ति । केचिच्चैवं सूचयन्ति । तन्मतेऽधिकरणवैयर्थ्यम् । तद्धर्मोपदेशाधिकरणेनैव गतार्थत्वादिति ।

विज्ञानभिक्षुस्तु, काण्वचतुर्थाध्याये सुषुप्तं जीवमुपक्रम्य पठ्यते, 'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते' इत्यादि । तत्र किं भूताकाशस्तद्देवता वा ब्रह्म वोच्यत इति संशयः । तद्बीजं तु उपक्रमोपसंहारयोर्ब्रह्मवाचकब्रह्मात्मादिपदवन्मुख्यवाक्ये भूताकाशादिवाचकस्याकाशपदस्य श्रवणम् । अन्यतरस्य गौणत्वे नियामकाभावस्त्रयाणामपि स्वापाधारत्वादविशेषश्च । निर्णयस्तु, आकाशो ब्रह्मैवेति । हेतुस्तु तल्लिङ्गात् । लिङ्गानि तु, स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेत्' इति 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति' तस्योपनिषत् सत्यस्य सत्यमित्यादीनि । सर्वश्रुतिषु ब्रह्मणि तथा दृष्टान्तदर्शनात् । अचेतनस्य भूताकाशस्याग्निविस्फुलिङ्गदृष्टान्तानर्हत्वात् । तद्देवतायाश्च सर्वदेवान्तर्गतत्वेनाकारणत्वात् । य एवायमाकाशे पुरुष इति पूर्ववाक्येनाकाशदेवताया ब्रह्मत्वप्रतिषेधाच्च । सत्यस्य सत्यमिति च नामपूर्ववाक्येन ब्रह्मण्येव व्याख्यातम् । तत्र सत्यशब्देन पञ्चभूतानि व्याख्याय तदपेक्षयापि निषेधशेषं ब्रह्म सत्यमिति श्रुत्यैव स्पष्टमुक्तत्वात् । स्कान्देऽपि,

स वै न देवासुरमर्त्यतिर्यङ्
न स्त्री न षण्ढो न पुमान् न जन्तुः ।
नायं गुणः कर्म न सन्न चासन्
निषेधशेषो जयतादशेषः ॥

'चैतन्यापेक्षया प्रोक्तं व्योमादि सकलं जगत् ।
असत्यरूपं सत्यं तु कुम्भकुण्डाद्यपेक्षया' ॥

इत्युक्तत्वाच्च । अतः शब्दसाम्येऽपि ब्रह्मलिङ्गाद् ब्रह्मैवाकाशशब्दार्थः । आकाशशब्दश्च ब्रह्मणि रूपकविधया विभुत्वनिर्लेपत्वादिगुणलाभाय, मुखे चन्द्रवच्छ्रुत्या प्रयुक्तः । अत एव, 'परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता' इत्यादिषु श्रुतिष्वाकाशरूपेण ब्रह्म निर्दिश्यते । नानार्थतायाः, गङ्गायां घोष इतिवल्लक्षणायाश्चायुक्तत्वादिति । एवं प्राणज्योतिरादयः शब्दा अपि जीवनत्वप्रकाशनत्वादिप्रतिपादनाय रूपकत्वेनैव व्याख्येयाः । वस्तुतस्त्वाकाशप्राणज्योतिरादयः शब्दा आकाशादिभावापन्नब्रह्मपरा एवैतेषु ब्रह्मवाक्येषु भवन्ति । केवलब्रह्मपरत्वे सत्याकाशादिलिङ्गानुपपत्तेः । यत्तु छान्दोग्यवाक्यमाधुनिका इहोदाहरन्ति, 'अस्य लोकस्य का गतिः' इत्यादि । तन्न । प्रकरणादिशून्यात् केवललिङ्गाच्छ्रुतेर्बलवत्त्वस्य पूर्वमीमांसासूत्रादेवावधारणात् । तत्र च श्रुतिप्रकरणयोरभावात् । किंच । प्रश्ने, अस्य लोकस्येत्यनेन भूर्लोकजना एवोक्ता इति प्रत्युत्तरे भूतानीत्युक्तत्वात् सर्वाणि भूतानीति ब्रह्मलिङ्गं न भवति । आकाशसाधारण्यात् । आकाशाद् वृष्टिद्वारेषां भूर्लोकस्थानां सृष्टिस्थितिसंहारादित्याह । तदसंगततमम् । सूत्रविरोधात् । सूत्रे केवलस्य लिङ्गस्यैव हेतुत्वेनोक्तत्वात् । त्वद्रीत्या

रश्मिः ।

मुपपत्तिरूपं लिङ्गद्वयं साध्याभाववद्वृत्तिगृहीतमतो व्याख्यातमित्यर्थः । अन्य इति भास्कराचार्याः । वदन्तीति तथा च तद्भाष्यम् । तल्लिङ्गमव्यभिचारी धर्म इति । केचिदिति शंकराचार्यादयः । तथा च तद्भाष्यं परस्य हि ब्रह्मण इदं लिङ्गम् । 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' इतिरामानुजभाष्यम् । निखिलजगदेककारणत्वं सर्वस्माज्ज्यायस्त्वं परायणमित्यादीनि परमात्मलिङ्गान्युपलभ्यन्ते इतिमाध्वभाष्यम् । स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोनन्त इत्यादि तल्लिङ्गादिति । एवमसाधारणधर्मे स्वतात्पर्यवृत्तिं कुर्वन्तीत्यर्थः । शैवभाष्येप्येवं ज्ञातव्यम् । इतीति बोध्यमिति शेषः । तदेषामिति । स जीवः प्राणानामिन्द्रियाणां स्वविज्ञानेन चैतन्येन विज्ञानं प्रकाशनसामर्थ्यमादाय गृहीत्वा उत्तानार्थेयमग्रे । स्वापेत्यादि इदं तद्भाष्यप्रामाण्यात् सुष्ठु श्रुत्यन्तराच्च मनसोप्याधारत्वं सुष्ठु 'कामः संकल्पः' इत्यादिश्रुतेः । यथोर्णनाभिरिति श्रुतिर्बृहदारण्यके तस्य ब्रह्मणः उपनिषदिति नाम । अकारणेति द्रक्ष्याम्यहमिति चक्षुर्दध्रे इत्येवं नियतकार्यकारणत्वेनान्यत्राकारणत्वादित्यर्थकः व्यापकत्वेन वा तथात्वात् । पूर्वेत्यादि 'य एवायमाकाशे पुरुष एतमहं वा ब्रह्मोपासे' इतिगार्ग्यवाक्यं ब्रह्मत्वप्रतिषेधकं तु सहोवाचाजातशत्रुर्मामेतस्मिन् संवदिष्ठा इत्यजातशत्रोर्भाषणस्य वाक्यं तेनेत्यर्थः । श्रुत्यन्तरेणाप्याकाशदेवतातिरिक्तत्वमाह भगवान् भिक्षुः सत्यस्येत्यादिना । निषेधशेषमिति ।

इति गजेन्द्रस्तुतौ तु स्पष्टम् । उक्तत्वाच्चेति । तथा च कुम्भकुण्डादि सत्यस्य सत्यमिति श्रुत्यर्थः फलितः । श्रुतावाकाशपदोक्तेस्तात्पर्यमाहाचार्यो विज्ञानः आकाशशब्देत्यादि । रूपकेति अनुभयोक्तिरूपताद्रूप्यरूपकं यथा 'अस्या मुखेन्दुना लब्धे नेत्रानन्दे किमिन्दुना' इत्यत्रानुभयोक्तिताद्रूप्यन्यूनताद्रूप्याधिकताद्रूप्यभेदेन ताद्रूप्यरूपकस्य त्रैविध्यम् ।

'विषय्यभेदताद्रूप्यरञ्जनं विषयस्य यत् ।
रूपकं तत्त्रिधाधिक्यन्यूनत्वानुभयोक्तिभिः' ॥

इति तल्लक्षणात् । विषयिणः उपमानस्य पद्मादेरभेदेन ताद्रूप्येण च विषयस्योपमेयस्य रञ्जनं रूपकमित्यर्थः । यद्वा । अभेदरूपकं वा तत् । 'अयं हि धूर्जटिः साक्षाद्येन दग्धाः पुरः क्षणात्' इत्यत्र यथा । विभुत्वेत्यादि तथा च गौणीवृत्तिरिति भावः । प्रतिष्ठितेति 'सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योम्नि प्रतिष्ठिता' इत्यर्थः । ननु वृत्तेर्द्वैविध्याल्लक्षणयैव निर्वाहे किं गौण्येति चेत् तर्कपादीयगौण्युपपादकयुक्तिहृदय आह लक्षणाया इत्यादि । एवं प्राणेति 'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादिबृहदारण्यकादग्रेतनाधिकरणेषु प्राणादयो व्याख्येया इत्यर्थः । एवं विभागाद्वैतपरत्वयाऽविभागाद्वैताय पक्षान्तरमाह भगवान् वस्तुतस्त्वित्यादि । आकाशादीत्यादिपदेन प्राणज्योतिरादयः तेनायं भगवानाचार्यः तावच्छ्रुत्युच्चरणमाकाशभावापन्नब्रह्मकर्तृकं तादृशब्रह्मणः सकाशाद्वेति मन्यते । तेन तल्लिङ्गादित्यस्याकाशभावापन्नब्रह्मलिङ्गादित्यर्थः पर्यवसितः । प्रकरणेत्यादि 'उभयाकाङ्क्षा प्रकरणम्' 'निरपेक्षो रवः श्रुतिः' इति पूर्वमीमांसासूत्रं पूर्वं निरुक्तम् । तत्रेत्यस्य छान्दोग्यीयवाक्ये इत्यर्थः । वृष्टिद्वारेति अयमाचार्यो मन्यते । ननु सत्यं व्याससूत्रेण जैमिनिसूत्रदौर्बल्यं तथापि श्रुतिलिङ्गादय इत्यादिभाष्यप्रामाण्यात् त इह तथैवोपादेया इतिलिङ्गा-

४७ म० सू० २०

भाष्यप्रकाशः ।

तु, श्रुतिलिङ्गप्रकरणैरिति पाठपाताच्छ्रुतिविरोधाच्च । श्रुतौ सामाद्यदोलोकान्तगतिज्ञानवतः शालावत्यस्यैतल्लोकगतिप्रश्नेन सामाद्येतल्लोकान्तस्य परमाश्रये परमोपजीव्ये वा प्रश्नपर्यवसानात्, तादृशत्वस्य चाकाशेऽसंभवात् । अतश्छान्दोग्यवाक्यस्याविषयत्वकथनमसंगतम् । अन्येषामाधुनिकत्वकथनमपि तथा । स्वस्य सर्वार्वाचीनत्वात् । प्राचीनवृत्त्यादीनामनाश्रयणाच्च । आकाशशब्दस्य भूताकाशतद्देवताब्रह्मसु साधारण्यकथनमपि तथा । ब्रह्मणि रूपकविधया प्रयोगाङ्गीकारेण गौण्या वा निरूढलक्षणाया वाऽऽदराद् ब्रह्मवाचकत्वस्याभावेन

रश्मिः ।

पेक्षया सिद्धान्तेपि ह्याकाशश्रुतिर्बलवत्तरेति चेत्तत्राहुः **श्रुतीत्यादि** । **सामादीति**-का साम्नो गतिरिति स्वर इति होवाचेत्यारभ्य अमुष्य लोकस्य का गतिरित्ययं लोक इति होवाचेत्यन्तया श्रुत्येत्यर्थः । **असंभवादिति** आश्रयमात्रे उपजीव्यमात्रे तथा संभवः । आकाशे तु 'आकाशाद्वायुः' इति श्रुतेः वायूपजीव्यत्वं तथाचाकाशादिभावापन्नब्रह्मणः परमाश्रयत्वपरमोपजीव्यत्वाभ्यामस्पर्शोऽत्र अविषयत्वमसंभवीति भावः । ब्रह्माधिकारात् । एवं चैतत्सिद्धं भाष्यविरोधस्तदा स्याद्यदीदं लिङ्गतात्पर्यवृत्तिवेलामतिक्रामच्छ्रुतिमतिक्रामेन्नत्वेवमतो लिङ्गं बलीयः श्रुत्यपेक्षयात्रेति श्रुतिलिङ्गेति सूत्रं तु तात्पर्यवृत्त्यवेलायां प्रतिबन्धकाभावात् परैरभिधादिवृत्त्या प्रवर्तितमिति ज्ञेयम् । तथा च लिङ्गस्य बलीयस्त्वे सूत्रं प्रतिबन्धकं तात्पर्ये तु सूत्रप्रतिबन्धकमुत्तेजकं व्याससूत्रम् । संबन्धात् । अतोऽसंगततममित्यत्र तमबपि योज्यः । **अत** इति व्याससूत्रविरोधादिदूषणेभ्य इत्यर्थः । ननु प्राचीनवृत्तिकल्पगीतास्कन्धाद्यनुसरतामस्माकं सर्वेभ्यः पूर्वत्वं व्याख्यानप्रयुक्तमपि चाधुनिकत्वं लोकरञ्जकत्वं लाक्षणिकमत्रेति नायं हेतुरिति शङ्कायामाहुः **प्राचीनेत्यादि** । किं च लोकरञ्जकत्वं तदा स्यात् यदि तदुत्तरमस्मद्भाष्ये विषयत्वं तस्य वाक्यस्य नादृतं भवेदिति । न चास्याप्रसिद्धत्वात्तदज्ञानादादृतत्वमिति शङ्क्यम् 'अनागतमतीतं च' इत्यादिवाक्यात् । **गौण्येत्यादि** द्वितीयाध्याये गौण्यसंभवादिति सूत्रे आचार्येण भगवता गौणीत्वेन गौण्या पदार्थ उक्तः तत्काव्यप्रकाशे लक्षणात्वेन वर्णितस्य भेदास्त्रयोदशोपवर्णिताः । उपादानलक्षणा कुन्ताः प्रविशन्तीत्यत्र । लक्षणलक्षणा गङ्गायां घोष इत्यादौ । शुद्धा सारोपालक्षणा आयुर्घृतमित्यादौ । गौणी सारोपालक्षणा गौर्वाहीक इत्यादौ । शुद्धसाध्यवसानीलक्षणा आयुरेवेदम् । गौणी साध्यवसानालक्षणा गौरयमित्यादौ । एवं षड्विधा प्रयोजनवती । आसां व्यङ्ग्योत्थापनफलकतया नियमेन तासां सव्यङ्ग्यत्वमेव । तच्च व्यङ्ग्यं द्विविधम् । गूढमगूढं चेति । काव्यार्थभावनापरिपक्वबुद्धिविभवमात्रवेद्यं गूढम् । अनत्यन्तसहृदयैरपि झटिति ग्राह्यमगूढम् । यथा 'मुखं विकसितस्मितम्' इति 'श्रीपरिचयात्' इति चोदाहरणे । एवं द्वादशधा प्रयोजनवतीलक्षणा । निरूढलक्षणा कर्मणि कुशला इत्यादौ । सैकविधैव । एवं च गौर्वाहीक इतिवत् आकाशो ब्रह्मेति गौण्या सारोपयेत्यर्थः । ननु सारोपत्वं केन प्रकारेणेति चेद्ग्रन्थगौरवभीतिकानुज्ञया तत एव विदांकुर्वन्तु विद्वांसः । तथा च गोसदृशो वाहीकः गोनिष्ठाज्ञत्वादिगुणविशिष्ट इतिवदाकाशसदृशं ब्रह्माकाशनिष्ठस्यापाधारत्वादिगुणविशिष्टमिति तन्मतेऽर्थः । अत्र सादृश्यातिरिक्तकार्यकारणभावादिसंबन्धानामविवक्षातो नो शुद्धा सारोपा संबन्धान्तरेण सारोपा शुद्धा भवतीति । तथा च भास्कराचार्यभाष्यम् । सर्वमभिव्याप्य प्रकाशते इत्याकाशः तत्सादृश्याद्वेति द्वितीयवेत्यस्य प्रयोजनं पूर्वतन्त्रे क्वचित्प्रसिद्धम् । यथा 'सेवायां वा कथायां वा' इत्यत्र श्रीमदाचार्योक्तौ । पूर्वोक्तेर्थे तज्जन्मादिसूत्रभाष्यविरोधमाकलय्याहुः । किं च । यथा गौरित्यादावज्ञत्वाद्यतिशय एव प्रयोजनमेवं प्रकृते स्वापाधारत्वातिशय एव प्रयोजनं वाच्यं तस्याभावादाहुः **निरूढेत्यादि** । **कर्मणि**

अत एव प्राणः ॥ २२ ॥ (१।१।८)

प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्तेत्युपक्रम्य श्रूयते । कतमा सा देवतेति प्राण इति होवाच । सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते । सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्तेति । तत्र संशयः । आसन्यः प्राणो ब्रह्म वेति । पूर्वपक्षसिद्धान्तौ पूर्ववदेवेत्यतिदिशति ।

भाष्यप्रकाशः ।

साधारण्यस्याभावादिति ॥ २१ ॥

इति सप्तमं तल्लिङ्गाधिकरणम् ॥ ७ ॥

अत एव प्राणः ॥ २२ ॥ अत्रापि छान्दोग्यप्रथमप्रपाठकस्थं वाक्यं विषयवाक्यत्वेनोदाहरन्ति **प्रस्तोतरित्यादि** । अत्रापि देवतापदेनोपक्रमादन्नादित्यसहपाठाच्च प्रकरणं न ब्रह्मणः । प्राणस्य प्राणमित्यादिर्ब्रह्मप्रकरणस्था श्रुतिः पुराणप्रसिद्धिश्च संदेहबीजम् । श्रुतौ तु प्रस्तावः सामोपासनाविशेषः । अन्वायत्ता अनुगता प्रस्तावाख्योपासनाविषया । प्राणश्च वायुवत् प्रतीयमानोऽपि न वायुविकारः । 'बुद्धिः प्राणस्तु तैजसः' इति पुराणेषु भिन्नकारणकत्वेन सिद्धत्वात् । श्रुतौ च प्राणाद्वायुरजायतेति वायुजनकत्वेन, 'यो वायुः स प्राणः' इति श्रुतौ वायुत्वेन च कथनात् । यद्यपि लोके वायुविकारत्वेनोक्तस्तथापि तदपेक्षया वेदहृदयरूपस्यैतदुपबृंहणस्य बलिष्ठत्वात् । अतः स आसन्यो ब्रह्म वेति संशयः । पूर्वपक्षस्तु पुराणप्रसिद्धेरासन्यो ग्राह्य इति । सिद्धान्तस्तु असंकुचितवृत्तेः सर्वशब्दस्य सामर्थ्यादेवात्र प्राणशब्देन ब्रह्म ग्राह्यम् ।

रश्मिः ।

कुशल इत्यादौ यथा कुशान् लात्यादत्ते इति विग्रहे 'आतोनुपसर्गे कः' इति कप्रत्यये च निष्पन्नः कुशलशब्दः । तस्य कुशग्राहिरूपमुख्यार्थस्य क्रियासामान्यवाचके कर्मणीति पदे सति सबाधत्वात् मुख्येन शक्यार्थेन विवेचकत्वसाधर्म्यरूपस्य संबन्धेन निरूपणरूपोऽमुख्योर्थो लक्ष्यते इति कुशग्राहिणि पुरुषेऽसतां कुशानां परित्यागः सतां च ग्रहणं विवेचकत्वम् । एवं निपुणेपि सतोर्थस्य ग्रहणमसतः परित्याग इति विवेचनीयम् । तद्वत्प्रकृतेप्याकाशते दीप्यते सूर्योदयोत्रेत्याकाशः 'हलश्च' इति घञ् तस्य दीपनरूपमुख्यार्थस्य य एषोन्तर्हृदय इति पदेषु सत्सु सबाधत्वान्मुख्येन दीपनशक्यार्थेनाधारत्वसाधर्म्यरूपस्वसंबन्धेनाकाशभावापन्नब्रह्मरूपोऽमुख्योर्थो लक्ष्यते इति निरूढलक्षणा तयेत्यर्थः । **साधारणेत्यादि** ब्रह्मणि लक्षणा आकाशे रूढिरिति तथा । इतिः समाप्तौ । यदपि तत्तद्भावापन्नस्य ब्रह्मणः तत्तच्छब्दवाच्यत्वमित्युक्तं तदपि न । ओंकारस्य ब्रह्मवाचकत्वात् सर्वेषां शब्दानां चोंकारविकृतित्वादिति ॥ २१ ॥

इति सप्तमाधिकरणम् ॥ ७ ॥

अत एव प्राणः ॥ २२ ॥ पुराणेत्यादि बुद्धिः प्राण इत्यादिवक्ष्यमाणा । अस्या अपि पर्यायमाहुः **प्रस्तावेत्यादि** । **तैजस** इति राजसाहंकारकार्यमित्यर्थः । **श्रुतौ चेति** 'प्राणाद्वायुरजायत' इति श्रुतौ चेत्यन्वयः । तेनाग्रे पुनः श्रुतावित्युक्तेपि न पुनरुक्तिः 'पुराणं हृदयं स्मृतम्' इति वेदहृदयत्वम् । **संशय इति** त्रिकोटिक इत्यर्थः । **श्रुतौ त्विति** अत्र प्रस्तोतरि संबोधनम् । **अभ्युज्जिहते** उत्पद्यन्त इत्यर्थः । भास्कराचार्यभाष्येऽप्ययमर्थः । ननूक्तं प्रकरणं न ब्रह्मण इत्यत

नन्वधिकरणानां न्यायरूपत्वात् सर्वत्र गमिष्यति, किमित्यतिदिश्यत इति। उच्यते। प्राणस्य मुख्यस्यापि सर्वभूतसंवेशनं स्वापादौ श्रुतावेवोपपाद्यते यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि वागप्येतीत्यादिना। तत्र यथा प्राणविद्याया न ब्रह्मपरत्वमेवमेवास्यापि न ब्रह्मपरत्वमिति, न न्यायेन प्राप्नोति। अतोऽति-

भाष्यप्रकाशः।

प्रकरणापेक्षया लिङ्गस्य बलिष्ठत्वात्। पुराणस्य चान्यत्र सावकाशत्वेनात्रानुपबृंहणतायामपि विपरीतबलाबलभावस्याशक्यकल्पनत्वादिति। अत्राधिकरणवैयर्थ्यमाशङ्कते नन्वित्यादि। समादधते उच्यत इत्यादि। उपपाद्यत इति धर्मत्वेनोपपाद्यते। तत्रेत्यादि तत्र प्राणविद्यावाक्ये पुरुषस्वापप्रयुक्तं भूतसंवेशनं, तत्प्रबोधप्रयुक्तं च भूताधिजननमुच्यते, न तु स्वतन्त्रमतो यथा न प्राणविद्याया ब्रह्मपरत्वमेवमस्यापि वाक्यस्य न ब्रह्मपरत्वं स्याद्यदि श्रुतिसामर्थ्यरूपे हेतौ स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्यविवेको न क्रियेत। इतिर्हेतौ। प्राणविद्यासाधारण्यस्य बाधकस्य सत्त्वात् तेन न्यायेनास्य ब्रह्मपरत्वं न प्राप्नोति। अतोऽप्राप्तत्वादतिदिशति। एवकारेण बाधकयोगं व्यवच्छिन्दन्नत्र तं हेतुं प्रापयतीत्यर्थः। एतस्यातिदेशस्य फलमाहुः

रश्मिः।

आहुः प्रकरणेत्यादि। लिङ्गं सर्वशब्दसामर्थ्यम्। अन्यत्रेति प्राणविद्याविशेषे। विपरीतेत्यादि 'आनर्थक्ये प्रमाणानां विपरीतं बलाबलम्' इत्यप्यत्र न प्रवर्तते इत्यर्थः। तथा च छन्दोवत्सूत्राणि भवन्तीति सूत्रोक्तमेव ज्यायः। पुराणापेक्षयेति अतिदेशोऽग्रे सिद्धान्तनिरूपणे निरूप्यः। भाष्ये। गमिष्यतीति न्यायो गमिष्यति। प्रकृते। धर्मत्वेनेति प्राणधर्मत्वेन।

'अन्यत्रैव प्रतीतायाः कृत्स्नाया धर्मसन्ततेः।
अन्यत्र कार्यतः प्राप्तिरतिदेशोऽभिधीयते' ॥

इति पूर्वतन्त्रसिद्धमतिदेशपदार्थमाहुः एवकारेणेत्यादि। सूत्र एवकारेण बाधकयोगमत्यन्तायोगमत्रपक्षे प्राणशब्दवाच्ये ब्रह्मत्वे साध्ये तं हेतुं तल्लिङ्गादिति हेतुं प्रापयतीत्यर्थः। भगवान् सूत्रकारः। तथा चेयं सूत्रयोजना। प्राणशब्दवाच्यं ब्रह्म तल्लिङ्गाद्भवत्येवेति। ब्रह्म तल्लिङ्गहेतुकप्राणशब्दवाच्यत्वात्यन्तायोगव्यवच्छेदवदिति बोधः। न चैवं भवतेरध्याहारादोषः इत्ययोगव्यवच्छेदकोऽन्ययोगव्यवच्छेदको भवत्येवकार इति शङ्क्यम्। तथा सति ब्रह्म प्राणशब्दवाच्यत्वायोगव्यवच्छेदवत् ब्रह्मान्यः प्राणशब्दवाच्यत्वयोगव्यवच्छेदवान् इति ब्रह्मापेतप्राणपदवाच्यत्वं स्यात्तदसंगतम्। आनन्दमयादिपदवाच्यत्वं निरुच्य ज्योतिरादिपदवाच्यत्वस्य निरुच्यमानत्वात्। तद्वदत्रेति। यद्वा अत इत्यस्य तल्लिङ्गं हेतुरर्थः एवकारस्यायोगव्यवच्छेदोऽर्थः। तथा च तल्लिङ्गहेत्वयोगव्यवच्छेदवत् प्राणपदवाच्यं ब्रह्मेति सूत्रार्थः। बाधकशून्यात्पूर्वोक्ताल्लिङ्गात् इति तु फलितोऽर्थः। भाष्ये। न्याय आपादित इति यद्ययं न्यायो न स्यात् तदा प्राणविद्यासाधारण्यं स्यात् तस्माद्विषयवाक्यमतिरिक्तन्यायवदित्येवमापादित इत्यर्थः। विषयवाक्यं अतिरिक्तन्यायवत् प्राणविद्याऽसाधारण्यात् यदेवं तदेवं ब्रह्मविदाप्नोतीत्यादिविद्यावत् यन्नैवं तन्नैवं भार्गवीवारुणीविद्यान्तर्गतान्नादिविद्यावदित्यनुमाने।

दिशति। अनेन चायमतिरिक्तो न्याय आपादितः। यत्रैव प्रकरणे ब्रह्मपरत्वे कल्प्यमाने न किंचिद् बाधकं तत्रैव ब्रह्मपरत्वं कल्पनीयमिति, न त्वन्यस्मिन् संभवे तत्परत्वमिति। अत एव तल्लिङ्गात् प्राणशब्दवाच्यं ब्रह्मेति ॥ २२ ॥

इति प्रथमाध्याये प्रथमपादेऽष्टममतिदेशाधिकरणम् ॥ ८ ॥

भाष्यप्रकाशः।

अनेनेत्यादि। न त्वन्यस्मिन् संभव इति संभवान्तरे सति तु नेत्यर्थः। सिद्धमाहुः अत एवेत्यादि। बाधकशून्यात् पूर्वोक्ताल्लिङ्गात्तथेत्यर्थः। नच, 'प्राणं तर्हि वागप्येति प्राणश्चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनो यदा प्रबुध्यते प्राणादेवाधि पुनर्जायन्ते' इत्यत्रेन्द्रियसंवेशनमुच्यते, न भूतसंवेशनमिति विषयभेदात् कथमस्य साधारणत्वशङ्केति वाच्यम्। 'दीपश्चक्षुस्तथा रूपं ज्योतिषो न पृथग्भवेत्' इत्यादिषु पुराणवाक्येष्विन्द्रियाणां भूतापृथग्भावस्योक्तत्वेन भूतविशेषत्वस्य सिद्धत्वेमानीत्यस्य श्रुत्यन्तरे वागादिरूपत्वेनोक्तानीत्यर्थस्य शक्यवचनत्वेन शङ्कोदयस्य संभवात्। अतः सर्वथेदं समाधेयमिति। एतेन माहात्म्यज्ञानोपयोगिनीनां देवान्तरोपासनानामनुच्छेदायेदमधिकरणम्। अन्यथा तु लोके पित्रपेक्षया क्वचित् पुत्रमाहात्म्यदर्शनात्, केचिद् ब्रह्मकार्यत्वेऽपि ब्रह्मापेक्षयाऽधिका भविष्यन्तीति शङ्का स्यादिति तेनोपोद्घातः संगतिरिति बोधितम्। एवं चात्रातिदेशाङ्गीकारे, 'आपो वा इद९ सर्वम्' इत्यादिवाक्येष्वपि सर्वात्मकत्वादिब्रह्मलिङ्गदर्शनादब्वादिशब्दानामपि ब्रह्मप्रकरणे ब्रह्मवाचकत्वमित्यपि साधितं ज्ञेयम्। अधिकरणानां न्यायरूपत्वादिति।

रश्मिः।

प्रकृते। बाधकेति बाधकं प्राणविद्यासाधारण्यं तच्छून्यादित्यर्थः। तथेति प्राणशब्दवाच्यं ब्रह्मेत्यर्थः। अनुमानावर्णनाद्विपरीतसूत्रपाठकमः। यद्वा जिज्ञासासूत्राद् ब्रह्मेत्यनुवृत्तेर्न सूत्रे ब्रह्मपदमुक्तम्। विषयेति इन्द्रियपञ्चमहाभूतरूपविषयभेदात्। साधारणेत्यादि ब्रह्मपरत्वबाधकसाधारणत्वशङ्केत्यर्थः। पुराणेत्यादि एकादशस्कन्धादिषु इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां भूतेभ्यो दीपादिभ्योऽपृथग्भावस्येत्यर्थः। श्रुत्यन्तरे 'अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' इत्यत्र 'प्राणादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' इत्यत्र वा शक्यवचनत्वेन भूतानां चेन्द्रियसारत्वात्। इति भास्कराचार्यभाष्याशयेत्यर्थः। अत इत्यादि शङ्कोदयसंभवात्। इदं शङ्काविषयभूतम्। एतेनेति ब्रह्मविद्यातिरिक्तप्राणविद्याच्छेदेनेत्यर्थः। क्वचिदिति वेनात्पृथुनाममाहात्म्यं वसुदेवाच्च श्रीकृष्णस्य। स्यादितीति तथा चैवं विधनिरङ्कुशजगत्कारणत्ववादिनीनां ब्रह्ममात्रपरत्वादेव न शङ्केति भावः। भिक्षुमते त्वियं शङ्का स्यादेव। पश्चाङ्गेऽधिकरणे न्यूनं पूरयन्ति स्म तेनेत्यादिना। अत्र सावधानपुरुषप्रयुज्यमानवाक्यं ब्रह्मजिज्ञासाधिकारवाक्यं तत्प्रयोजकत्वेन ब्रह्मजिज्ञासोपपादकत्वेन स्मृतस्य साकारब्रह्मणो रूपजातस्योपेक्षानर्हत्वं भवतीत्युपोद्घातः। ननु विशेषलक्षणं गौणं कुतः आदृतोऽत्रेति चेन्न। संगतिव्यवहारस्तु तत्र तत्र स्पष्टत्वाय हेतुतादिभिः प्रयोजकधर्मैरेव वक्तव्य इति तत्रैवेक्षत्यधिकरणे निरुक्तत्वात्। एवं चात्रातिदेशाङ्गीकारेण 'आपो वा इदं सर्वम्' इत्यादिवाक्येष्वपि सर्वात्मकत्वादिब्रह्मलिङ्गदर्शनादब्वादिशब्दानामपि ब्रह्मवाचकत्वमित्यपि साधितं ज्ञेयम्। अधिकरणानां न्यायरूपत्वादिति

१. ज्योतिरादिभ्यः।

भाष्यप्रकाशः ।

अत्र सर्वेऽपि ब्रह्मासाधारणधर्ममेव हेतूकृत्याधिकरणं योजयन्तीति तद्दूषणमपि पूर्ववदेव बोध्यम् ।

माध्वास्तु, 'तद्वै त्वं प्राणो अभवः महान् भोगः प्रजापतेः । भुजः करिष्यमाणः यद्देवान् प्राणयो न वा' इति तैत्तिरीयोपनिषच्छ्रुतिं विषयवाक्यत्वेनोपन्यस्याधिकरणं रचयन्ति तत्र लोकप्रसिद्धिः, ईशानः प्राणदः प्राण इति विद्वद्रूढिः संदेहबीजम् । श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावित्यादि तल्लिङ्गं हेतुत्वेनाहुः । अतिदेशप्रयोजनं तु किमपि नाहुः । अत्रापि पूर्ववदेव दूषणम् । किंचात्र हेतुः पुरुषसूक्तस्थो, विषयवाक्यं भर्तृसूक्तस्थमतो हेतुसाध्यवैयधिकरण्यपरिहारप्रयासश्चाधिक इत्यवधेयम् ।

विज्ञानभिक्षुस्तु कौषीतकिब्राह्मणादिस्थां ब्रह्मप्रकरणीयां श्रुतिं विषयत्वेन वक्तीति तद्दूषणमपि पूर्ववदेव ॥ २२ ॥

इत्यष्टममतिदेशाधिकरणम् ॥ ८ ॥

रश्मिः ।

क्वचित्पुस्तके ह्येवं चेत्यारभ्य इतीत्यन्तः रश्माबुक्तः मूले प्रकाश एव पठ्यते । सर्वे इति शंकररामानुजशैवभास्कराचार्याः । तद् दूषणमिति अधिकरणवैयर्थ्यरूपम् । महान् भोगः परमानन्दः श्रुतौ । 'तद्वै त्वं यो यदा भारं तन्द्रयते स भर्तुं परास्य भारं पुनरस्तमेति' । श्रुत्यर्थस्तु यदा भारं भर्तुं तन्द्रां कुरुते तदा संकर्षणव्यूहेन भारं परा अस्य असु क्षेपणे क्षिप्त्वेति तथा च यस्त्वमस्तमेता तद्वै त्वं प्राणोऽभवः । किं च प्रजापतेर्महान् भोगः । अपरं च भुजः भोगात् करिष्यमाणः यद्यस्माद् देवान् प्राणय उ न प्राणय वा किं तु सर्वानित्यर्थः । विद्वद्रूढिरिति क्वचित्प्रसिद्धा विष्णौ । दूषणमधिकरणवैयर्थ्यरूपम् । महाभोगरूपस्य परमानन्दस्यापि कृष्णलिङ्गत्वादिति । श्रुतिमिति । भाष्ये । श्रुतिं दृष्ट्वा दूषणं पूर्ववदुन्नेयम् । भाष्ये । अत एवेत्यादि अत्रापि प्राणत्वेन ब्रह्मोपस्थितिरशक्योपपादना । नहि पटत्वेन तन्तूपस्थापनं शक्नोति कर्तुं कश्चित् प्राणपदवाच्यत्वेन तूपस्थापयितुं शक्नोति यः कश्चिद् ब्रह्म । यथा सशङ्खचक्रो हरिरित्यत्र हरित्वेन विष्णुमुपस्थापयितुं शक्नोति न तु हरिर्वर्षायां इत्यत्रापि किं तु वर्षापदसमभिव्याहारान्मण्डूकवाचकं हरिपदमित्यवधारितेऽत्र हरिपदवाच्यो मण्डूक इत्येवं हरिपदवाच्यत्वेन मण्डूकोपस्थितिर्न तु हरित्वेन स्ववाचकपदोपस्थितस्यैव विशिष्टबोधे विशेषणमर्यादया भानस्य घटः पृथ्वीत्यादिस्थले दर्शनात् ॥ २२ ॥

इत्यष्टममधिकरणम् ॥ ८ ॥

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥ २३ ॥

इदमामनन्ति । अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेषु इदं तावद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योतिरिति ।

तत्र ज्योतिःशब्देन प्राकृतं ज्योतिराहोस्विद् ब्रह्मैवेति संशयः ।

भाष्यप्रकाशः ।

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥ २३ ॥ आमनन्तीति छान्दोग्ये पञ्चमप्रपाठके वदन्ति । श्रुतौ तु, विश्वतः पृष्ठेष्विति सर्वेषामुपरि अयं च विश्वशब्दो न संकोचसह इति ज्ञापनाय तदर्थकं शब्दान्तरं सर्वतः पृष्ठेष्विति । शेषं स्फुटम् । संशयमाहुः तत्र ज्योतिरित्यादि । अत्र लोकप्रसिद्ध्या, 'अनादिमत् परं ब्रह्म' इति प्रकृत्य पठितेन, 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः' इति गीतावाक्येन च कोटिद्वयोपस्थितिः संशयबीजम् । पूर्वपक्षमाहुः अत्रेत्यादि । अयमर्थः । लोके तमोविरोधी पदार्थ आदित्यादिर्ज्योतिःपदेनाभिधीयते । अत्र च दीप्यत इत्युक्तं, प्रकाशकत्वमपि तस्यैव लिङ्गम् । तथाग्रे, तस्यैषा दृष्टिर्यत्रैतदस्मिन् शरीरे संस्पर्शेनोष्णिमानं विजानाति, तस्यैषा श्रुतिर्यत्रैतत्कर्णावपिगृह्य निनदमिव नदथुरिवाग्नेर्ज्वलत उपशृणोतीति जाठरस्याग्नेर्लिङ्गम् । नच सूर्यादिप्रकाशस्य दिवोऽर्वागपि दर्शनाज्जाठरप्रकाशस्य च क्वाप्यदर्शनादुभयोर्बाधे गीतावाक्यादिभिर्ब्रह्मैव ज्योतिःपदवाच्यतयादरणीयमिति वाच्यम् । ब्रह्मासाधारणधर्मस्य तत्प्रकरणस्य चात्रानुपलम्भात् । अतस्तेजोधर्मस्यात्र दर्शनाद्, बर्हिराज्याधि-

रश्मिः ।

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥ २३ ॥ वदन्तीति यद्यपि म्ना अभ्यासे तथाप्युपसर्गबलेनायमर्थः । 'उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यः प्रतीयते' इतिवाक्यात् । मनिन च ज्ञाने दिवादिः । मणिनण् स्तम्भे चुरादिः । मनू निबोधने तनादिरेषामात्मनेपदित्वात् 'ये धातुशब्दा यत्रार्थे' इति पत्रावलम्बनवाक्यस्य वेदराशिपरत्वात् । ननु वेदपदेनैव चरितार्थत्वे राशिग्रहणं ज्ञापयति भाष्यादीनामपि तथैव भाष्योर्थः इति चेन्न । षडङ्गपरत्वेनैव चरितार्थत्वादिति । **स्फुटमिति । अत** इत्यस्य स्वर्गाल्लोकादित्यर्थः । **अनुत्तमेष्वि**त्यत्र न विद्यते उत्तमं येभ्य इति बहुव्रीहिः । न च तत्पुरुषः शङ्क्यः । तमपाकर्तुमेवाग्रे उत्तमेष्विति बहुव्रीहिफलितार्थकथनात् । इदं पूर्ववदनुत्तमेषूत्तमेष्वित्येतयोर्व्याख्याने । लोकेष्वित्यस्य जनलोकादिष्वित्यर्थः । अत्रासाधारणब्रह्मधर्माभावात्पूर्वपक्ष इति भाष्ये हेत्वपेक्षितं पूरयन्तः पूर्वपक्षस्वरूपमाहुः **अयमर्थ इत्यादिना** । **तस्यैषे**ति तस्य ज्योतिषो दृष्टिर्दर्शनमेषा का यत्र यस्मिन्काले श्रुतिः श्रवणं श्रवणोपायः को यत्र यस्मिन् काले कर्णावपिगृह्याङ्गुलीभ्यां पिधाय निनदमिव रथघोषमिव नदथुरिवर्षभकूजितमिवाग्नेरिव ज्वलत उप स्वान्तर्गतमेव शब्दमेतच्छ्रवणं यथा स्यात्तथा शृणोतीति श्रुत्यर्थः । **दिवोर्वागपी**ति तादृशश्रुत्युक्तज्योतिषस्तु 'यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते' इति दिवः परं दीपनमुच्यते इति भावः । **गीतेत्यादि** आदिपदेन ज्योतिर्ब्राह्मणं 'ज्योतिर्दर्शनात्' इति सूत्रं च संगृह्यते । एवमपेक्षितं पूरयित्वाऽसाधारणब्रह्मपदं ब्रह्मप्रकरणस्याप्युपलक्षकमिति सूचयन्तो हेतुभाष्यार्थमाहुः **ब्रह्मेत्यादि** । **बर्हिराज्येत्यादि** । अयं न्यायः पूर्वतन्त्रे प्रथमस्य चतुर्थपादेऽस्ति तत्र 'बर्हिर्लुनाति' 'आज्यं विलापयति' 'पुरोडाशं पर्यग्नि-

अत्रासाधारणब्रह्मधर्माभावात् पूर्वपक्षः । सिद्धान्ते तु चरणस्य ब्रह्मधर्मत्वमिति 'एतावानस्य महिमा, अतो ज्यायांश्च पूरुषः, पादोऽस्य सर्वा भूतानि

भाष्यप्रकाशः ।

करणन्यायेनात्र शास्त्रप्रसिद्ध्यपेक्षया लोकप्रसिद्धेरेवात्र फलवत्त्वाच्च त्रिवृत्कृतं वा प्राकृतमेव तेज इह ग्राह्यम् । अघटमानो धर्मो द्युमर्यादत्वादिर्यः स तूपासनार्थः । किंच । यदि ब्रह्मैवात्रोपास्यत्वेनाभिसंहितं स्यात्तदाऽस्या उपासनायाश्चक्षुष्यः श्रुतो भवतीत्यल्पं फलं नोच्येत । अतः फलमपि वाक्यस्य तेजस्तात्पर्यकत्वगमकमतः प्राकृतं तेज एवात्रादरणीयमिति पूर्वपक्षः । सिद्धान्ते युक्तिमाहुः **सिद्धान्ते त्वित्यादि** । नन्विह कुत्र चरण उक्तो यस्य ब्रह्मधर्मत्वमुच्यत इत्यत आहुः **एतावानित्यादि** । तथाच यद्यप्यत्र नोक्तस्तथापि-वाक्यान्तर उक्तस्तस्य चैतस्य चैकवाक्यत्वमतश्चरणलाभ इत्यर्थः । कथमेकवाक्यतेत्याकाङ्क्षायां तामुपपादयन्ति

रश्मिः ।

करोति' इत्यत्र द्रव्यनामानो बर्हिराज्यपुरोडाशशब्दाः श्रुताः ते शास्त्रज्ञैः संस्कृतेषु प्रयुज्यन्ते । असंस्कृतेऽपि जातिमात्रे कैश्चिदशास्त्रज्ञैस्तत्र तेषां किं संस्कारनिमित्ततोत जातिवाचकतेति संशयः पील्वादिवदश्ववालवच्च शास्त्रस्य याज्ञिकप्रसिद्धिः सार्वत्रिकी । अशास्त्रस्य म्लेच्छकतिपयसिद्धेर्बलीयसीति संस्कारनिमित्ततेति पूर्वः पक्षः । तेषां जातिवाचितेति सिद्धान्तः । नहि शास्त्रस्थाः सर्वलोकस्थाश्च जातिमपहाय प्रयुञ्जते । संस्कारं विहाय जातिमात्रे तु केचन प्रयुञ्जते । यथा बर्हिषा यूपावटमवस्तृणातीत्यत्र संस्कारमन्तराप्यास्तरणमिति तेन जातिमेते न व्यभिचरन्ति । व्यभिचरन्ति तु संस्कारमतोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यामिति । अत्र दृष्टान्तप्रपञ्चः कस्यचित् । पीलुशब्दं म्लेच्छा हस्तिनि ह्यार्या वृक्षविशेषे प्रयुञ्जते । आदिशब्देन यवशब्दस्तं च दीर्घशूकेष्वार्याः प्रियङ्ग्वादिषु म्लेच्छाः । आश्ववालः प्रस्तर इत्यश्ववालाः वाक्यविशेषात्तु तृणविशेषः । आदिपदेन त्रिवृद्बहिष्पवमानमित्यत्र त्रिवृच्छब्दस्य त्रैगुण्यं लोकसिद्धोऽर्थः । वाक्यशेषात्तृचयात्मकेषु त्रिषु सूक्तेष्ववस्थितानां बहिष्पवमानात्मकस्तोत्रनिष्पादनक्षमाणां 'उपास्मै गायता नरः' इत्यादीनामृचां नवकमर्थस्तद्वदिति । ननु न न्यायोक्तिर्नूनं साधीयसी जैमिनीयन्यायमालाविस्तरेऽयं न्यायोऽन्यत्रापीत्युक्तेस्तस्यैवान्यत्र संचार इत्यस्यान्यत्रासंचारादितिचेन्न तस्यास्समनन्वात् । **फलेत्यादि** फलपदं प्रयोजनवचनं तेनोपासनारूपप्रयोजनवत्त्वादित्यर्थः । **त्रिवृदित्यादि** तासां तेजोबन्नानां देवतानामेकैकान् द्विधा विभज्य पुनश्चैकैकं भागं द्विधा कृत्वा तत्स्वभागादितरभागयोर्निक्षिप्य तन्निगुणरज्जुवत्त्रिवृतं करवाणीति त्रिवृत्करणश्रुत्यनुसार्यर्थः परत्र । सिद्धान्ते तु रोहितशुक्लकृष्णरूपैस्त्रिधा भवनं पुरुषं प्राप्य त्रेधाभवनं च त्रिवृत्करणश्रुत्यर्थः । त्रिवृत्करणश्रुतिस्तु 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' इति वाय्वाकाशयो रूपाभावात्पुरुषं प्राप्य त्रेधाभावाभावालोचनाच्च तेजोबन्नानि तावदिच्छापुरस्सरं परस्मादात्मनो जातानीति चोत्पत्तिमद्व्यवहर्तृप्राणिनिकायव्यवहारनिर्वाहकतदीयधर्माधर्मात्मककर्मापेक्षया तानि त्रिवृत्कृतानि न तु पञ्चीकृतानि । अत्रिवृत्कृतानि तु त्रिवृत्करणात्पूर्वाणि छान्दोग्ये श्वेतकेतूपाख्याने 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्युपक्रम्य 'तत्तेजोऽसृजत' 'तदपोऽसृजत' 'ता अन्नमसृजन्त' इति श्रुतिप्रोक्तानि । ननु यदतः परो ज्योतिर्दीप्यते इत्यवधिवाचकपञ्चम्या श्रुतस्य द्युमर्यादत्वस्य का गतिस्तत्राह **अघटेत्यादि** । एवं भाष्यं व्याख्याय शांकरभाष्यीयामपि युक्तिमाहुः **किं चेत्यादिना** । **चक्षुष्य इत्यादि** । चक्षुषे हित इत्यर्थः । तस्मै हितमित्यधिकारे शरीरावयवाद्यत् इति यत् । न तु चक्षुषा दर्शनीयः । सूत्राभावात् । **श्रुतः** विख्यातः । **ब्रह्मधर्मत्वमिति** हृदयब्राह्मणाद्धृदयं ब्रह्म तस्य विधा धर्मः ज्योतीरूपस्तत्त्वम् ।

त्रिपादस्याऽमृतं दिवि' इति पूर्ववाक्यम् 'गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किंच' इति गायत्र्याख्यब्रह्मविद्यां वक्तुं तस्याः पादचतुष्टयं प्रतिपाद्य ब्रह्मणश्चतुष्पात्त्वमुक्तम् । पुरुषसूक्तेऽप्याश्रमचतुष्टयस्था जीवाः पादत्वेनोक्ताः । तथा प्रणवब्रह्मविद्यायामप्यकारोकारमकारनादवाच्याश्चत्वारः पादा विश्वतैजसप्राज्ञतुरीया उक्ताः । तद्विष्णोः परमं पदमिति च । ब्रह्म पुच्छमिति च । सत्यकामब्राह्मणे तु स्पष्टा एव

भाष्यप्रकाशः ।

गायत्रीत्यादि, सिद्धमित्यन्तम् । उक्तरीत्या तां ब्रह्मप्रतिपादकविद्यां वक्तुं यस्मात् तस्या भूतादिपादचतुष्टयं प्रतिपाद्य तदेतदृचाऽभ्यनूक्तमिति तत्पदेन तदेव चतुष्पात्त्वं परामृश्य ब्रह्मणश्चतुष्पात्त्वमृचोक्तम् । यदि हि सा ब्रह्मविद्यात्वेन न विवक्षिता स्यादेवं कथनं निष्प्रयोजनकं स्यात् । अत एवं गायत्र्या ब्रह्मविद्यात्वेन प्रकरणस्य ब्राह्मत्वे सिद्धे, एकप्रकरणगतत्वेनैकवाक्यतेत्यर्थः । नन्वग्रिमसूत्रैकदेशे प्रकरणस्य ब्राह्मताया आक्षेप्स्यमाणत्वेन संदिग्धत्वाच्च तावन्मात्रेणात्र ब्रह्मणश्चतुष्पात्त्वसिद्धिरिति हेतोः साध्यसमत्वमत आहुः **पुरुषसूक्त इत्यादि** । तत्र पुरुषं प्रकृत्य पठिते एतावानितिमन्त्रे श्राविताना पादानां द्वितीयस्कन्धीये पुरुषसूक्तविवरणाध्याये,

'पादास्त्रयो बहिश्चासन्नप्रजानां य आश्रमाः ।
अन्तस्त्रिलोक्यास्त्वपरो गृहमेधोऽबृहद्व्रतः' ॥

इत्येनेन विवरणादाश्रमवद्देहविशिष्टा जीवाः पादत्वेन सिद्धा इति तत्प्रत्यभिज्ञानादत्र ब्रह्मपादसिद्धिः । किंच । यद्येकत्रैव क्वचिद् ब्रह्मणः पादनिरूपणं स्यात् तदा कथंचित् संदि-

रश्मिः ।

भूतादीति भूतपृथिवीशरीरहृदयरूपं पादचतुष्टयमित्यर्थः । गायत्री वा इदं सर्वं भूतमिति या वै सा गायत्रीयं वा व सा येयं पृथ्वीति या वै सा पृथ्वीयं वा व सा यदिदमस्मिन् पुरुषे शरीरमिति । यद्वैतत्पुरुषे शरीरमिदं वा व तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे हृदयमिति श्रुतिभिः । **ऋचोक्तमिति** 'तावानस्य महिमा ततो ज्यायाꣳश्च पूरुषः । पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' इति ऋचोक्तमित्यर्थः । एवमिति पूर्वपरामृष्टार्थकथनाय इयं वक्ष्यमाणा ऋक् इत्यभेदकथनमित्यर्थः । **एकवाक्यतेति** एकार्थप्रतिपादकता । **अग्रिमेत्यादि** 'छन्दोभिधानान्नेति चेत्' इत्येकदेश इत्यर्थः । **हेतोरित्यादि** ब्रह्म चतुष्पाद् ब्रह्मप्रकरणादित्यत्र हेतोः साध्यतुल्यत्वं न सिद्धत्वमतो यत्र प्रकरणे ब्राह्मत्वमसंदिग्धं तत्स्थलमाहुरित्यर्थः । **प्रकृत्येति** 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' इत्यनेन । **एतेनेति** श्लोकार्थस्तूपदेशभेदान्नेति चेदिति सूत्रे स्वयमेव वक्तव्यः । **आश्रमेति** आश्रमवन्तो देहविशिष्टा जीवा इत्यर्थः । **तत्प्रतीति** तावानित्यृचि सर्वनाम्नामुत्सर्गतः प्रधानपरामर्शित्वेन यावत्सर्वनामशब्दैः पुरुषसूक्तोक्तार्थस्य प्रत्यभिज्ञानात्त इमे पादाः इत्येवं तत ईक्षाप्रकारकज्ञानविषयत्वाद्ब्रह्मपादसिद्धिः । न तु गायत्रीपादसिद्धिः । तस्याः शब्दात्मकत्वेनार्थपादत्वासंभवात् । एवं तावानित्यस्याः सिद्धे ब्रह्मपादनिरूपकत्वे 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते' इत्यत्रापि पूर्ववाक्ये द्युसंबन्धित्वेन प्रसिद्धं ब्रह्मैव प्रत्यभिज्ञायते प्रत्यभिज्ञाविषयीक्रियते इति चतुर्थपादसिद्धिरित्यर्थः । ग्रन्थोरथाधिक्यरूपं निग्रहस्थानं निराकुर्वन्ति स्म **किं चेत्यादिना** । **कथंचिदिति** ब्रह्मणो निरंशत्वात् कथमंशरूपाः पादाः इति प्रकारेणेत्यर्थः ।

ब्रह्मणश्चत्वारः पादा निरूपिताः। अतः सच्चिदानन्दरूपस्य प्रत्येकसमुदायाभ्यां चतूरूपत्वम्। तत्र केवलानां कार्यत्वमेव। चतुर्थपादस्य तु ब्रह्मत्वम्।

भाष्यप्रकाशः।

हेतापि। अस्ति तु तद् बहुषु स्थलेष्विति बोधयितुमाहुः तथेत्यादि। तथाच माण्डूक्यादौ काठके तैत्तिरीये छान्दोग्यस्थसत्यकामब्राह्मणे च नानाप्रकारेण पादश्रावणाच्च ब्रह्मणश्चतुष्पात्त्वे संदेह इति न हेतोः साध्यसमत्वमित्यर्थः। ननु भवतु ब्रह्मणश्चतुष्पात्त्वं, तथापि ते चत्वारो न पशोरिवावयवाः किंत्वंशा एव वाच्याः। तच्च न युज्यते, ब्रह्मणोऽनंशत्वादित्यत आहुः अत इत्यादि। यतो जन्माद्यधिकरणेषु ब्रह्मणस्त्रिरूपता, कार्यकारणभावो, विरुद्धधर्माधारत्वं

रश्मिः।

बहुषु स्थलेष्विति। एतेन विरुद्धधर्माश्रयत्वं फलिष्यति ब्रह्मणः। **माण्डूक्यादावित्यादि** आदिपदेन ब्रह्मोपनिषच्च। तत्र मण्डूके 'ओमित्येतदक्षरं सोयमात्मा चतुष्पात्' इति चोपक्रम्य।

'बहिःप्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्तःप्रज्ञस्तु तैजसः।
घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्थितः'॥

इति पादत्रयं संगृह्य तुरीयं परममृतमजं ब्रह्म यत्तन्नतोस्मीति तुरीय उक्तः। अथर्वशिखायां चतुष्पादे 'तदक्षरं परं ब्रह्म पूर्वास्य मात्रा पृथिव्यकारः द्वितीयान्तरिक्षमुकारः तृतीया द्यौर्मकारः चतुर्थ्यर्धमात्रा सा लुप्तमकार इत्यकारोकारमकारनादवाच्याश्चत्वारः पादा उक्ताः। नादसंज्ञो लुप्तमकार इति नारायणकृतटीकोक्तोर्थः। एतेन चतुर्थ्यर्धमात्रा सा सोमलोक इति शैवाचार्यकल्पितोऽपपाठः परास्तः। अप्रसिद्धेः काव्यप्रकाशदूषणोल्लासोक्तदोषात्। काठके चतुर्थवल्ल्याम्।

'स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति'॥

इत्यत्र यथाकथंचित्साधनीयाः उभौ स्वप्नान्तजागरितान्तौ येनेति च्छेदः। अत्र स्वप्नान्तमित्यस्य स्वप्नमध्ये स्वप्नज्ञेयमित्यर्थात् स्वप्नसाक्षी तैजसो लभ्यते। एतद्भेदरूपसुषुप्तिसाक्षी प्राज्ञश्च लभ्यते जागरितमध्ये जागरितज्ञेयमिति विश्व उपलभ्यते। आत्मानमिति तुरीयक उपलभ्यते 'इन्द्रियैरर्थोपलब्धिर्जागरितम्'। 'करणेषूपसंहृतेषु जागरितसंस्कारजः प्रत्ययः सविषयः स्वप्नः'। 'सर्वप्रकारकज्ञानोपसंहारो बुद्धेः कारणात्मनावस्थानं सुषुप्तिः'। 'ब्रह्मप्रकरणानूद्यो निरङ्कुशजगज्जन्मादिकर्तृत्वावच्छिन्नो वा तुरीयः' इति तैत्तिरीये शिक्षायां 'यश्छन्दसामृषभः' इति चतुष्पाद्भिः तात्पर्यवृत्त्या तु कामवर्षक इत्यन्यदेतत्। **भाष्ये। तद्विष्णोरिति** संहिताप्रथमाष्टके तृतीयप्रश्ने 'गमध्यै गावो यत्र भूरिशृङ्गा अयासः। अत्रा ह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमवभाति भूरेः' इति। 'विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे इन्द्रस्य युज्यः सखा' 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम्' इति। श्रुत्यर्थस्तु नित्यलीलावादे स्फुटः। **प्रकृते। सत्येत्यादि।** षष्ठप्रपाठक इदम्। तत्र नानाप्रकारेण 'ब्रह्मणश्च ते पादं ब्रवाणीत्युपक्रम्य प्राची दिक्कला प्रतीची दिक्कला दक्षिणा दिक्कलोदीची दिक्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः' इति। एवमेवाग्रे अग्निः कला सूर्यः कला चन्द्रः कला विद्युत्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मण इति एवमग्रे प्राणः कला चक्षुः कला श्रोत्रं कला मनः कला इत्येवं नानाप्रकारेणेत्यर्थः। नेत्यादि तथा च चतुष्पाद् ब्रह्म प्रकरणात् ज्योतिर्ब्रह्म चरणाभिधानादिति ब्रह्मसिद्धमिति हृदयम्। **अनंशेत्यादि** निष्कलमिति श्रुतेस्तथा। **त्रिरूपतेत्यादि** इदं

तत्रापि षड्विधत्वप्रतिज्ञानाद् भूतपृथिवीशरीराणां परिचायकत्वेन षड्विधत्वमनिरूप्य हृदयस्य षड्विधत्वं निरूपयँस्तस्य ह वा एतस्येत्यादिना पञ्च देवपुरुषान्निरूप्य तेषां द्वारपालत्वज्ञानानन्तरम्, 'अथ यदतः परो ज्योतिर्दीप्यते'

भाष्यप्रकाशः।

च साधितमत एवं चतूरूपत्वादेवमंशाः सुखेन युज्यन्त इत्यर्थः। ननु भवतु ब्रह्मणश्चतुष्पात्त्वं तथाप्यत्र प्रकरणे सत्यकामब्राह्मणवत् कार्यरूपा एव भूतादयः पादा निरूप्यन्ते। तेषां च न ज्योतिर्वाक्याकाङ्क्षा। गायत्रीं प्रकृत्योक्तत्वात्। नापि ज्योतिर्वाक्यस्य तदाकाङ्क्षा। अथेति प्रकृतच्छेदात्। उभयत्राप्याकाङ्क्षोत्थापकपदाभावाच्च। यदि च तेषामूर्ध्वा विवरणाद्यच्च च पुरुषपदाद्गायत्राणामपि तेषां ब्राह्मत्वं विभाव्यते, तदापि ऋचि ज्योतिर्वाक्ये च परस्पराकाङ्क्षोत्थापकपदाभावाच्च तयोरेकवाक्यता। तदभावे च प्रकरणैक्येन साधितमप्येकवाक्यत्वमप्रयोजकमित्याकाङ्क्षायां तयोः परस्पराकाङ्क्षां साधयितुमाहुः तत्रापीत्यादि। यत्र गायत्र्याश्चतुष्पदात्वमुक्तं तत्रापि तस्याः षड्विधत्वप्रतिज्ञानादस्ति षण्णां विधानामाकाङ्क्षा। तत्र भूतपृथिवीशरीराणां पादत्वेन प्रतीयमानानामपि पार्ष्णिप्रपदाङ्गुल्यादिवत् पादपरिचायकत्वमेव

रश्मिः।

भिन्नं पदम्। अयमाशयः। जन्माद्यधिकरणे प्रपञ्चत्वेन ब्रह्मत्वेन कार्यकारणभावः सिद्धः। समन्वयाधिकरणेऽभिन्ननिमित्तोपादानत्वेन परीक्षितः। तेन विरुद्धधर्माधारता बोधिता। ईक्षत्यधिकरणे चिद्रूपेऽव्याप्तिः परिहृता प्रकृतिपरमाण्वादौ चातिव्याप्तिश्च। तेन चिदंशो ब्रह्मणि बोधितः सदंशस्य च कारणता बोधिता सदेव सोम्येत्युपक्रमात्। आनन्दमयाधिकरणे आनन्दे लक्षणयोजनेन तत्राव्याप्तिः परिहृता तेनानन्दांशो ब्रह्मणि बोधितः तेन त्रिरूपता बोधिता। एवं त्रिरूपताकार्यकारणभावः समवायित्वनिर्णायकधर्मकथनेन तृतीयेधिकरणे विरुद्धधर्माधारत्वं च साधितमिति। अतो विरुद्धधर्माधारत्वात् प्रकरणैक्यप्रयुक्त एकवाक्यत्वेऽप्रयोजकत्वं शङ्कते **नन्वित्यादि**। तेषामिति कार्याणाम्। न ब्रह्मप्रतिपादकज्योतिर्वाक्षणाकाङ्क्षा ब्रह्मणो कार्यत्वादित्यर्थः। हेत्वन्तरमाह **गायत्रीमित्यादि**। तथा च कस्यैते पादा इति संबन्धित्वेनापि न ब्रह्माकाङ्क्षेति भावः। **अथेति** भिन्नप्रक्रमवाचकेनाथेत्येवं पदेनेत्यर्थः। नन्वस्त्वनाकाङ्क्षा तथापि।

'स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वाद्यपेक्षया।
वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते'॥

इत्यङ्गाङ्गित्वापेक्षयैकवाक्यतास्तु इत्यपेक्षायामाहुः **उभयत्रेत्यादि**। नन्वस्ति तावदाकाङ्क्षोत्थापकपदसत्त्वं तदेतदृचाभ्यनूक्तमिति श्रुत्या तदेतत्पदाभ्यामुक्तस्य पूर्वं निरूपितस्वर्गाकाङ्क्षोच्यते। ऋचि च पुरुषपदं पादसापेक्षमिति चेत्तर्हि अस्तु तत्रैकवाक्यत्वं विवक्षितस्थले तु नास्त्यैक्यमित्याहुः यदि चेत्यादिना। **ऋचेत्यादि**। सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्रीति पूर्वमुक्तं तत्कथं षड्विधत्वमित्याकाङ्क्षायां वाच्यवाचकयोरभेदमाश्रित्याकाङ्क्षा पूरणीयेत्याशयेन तेषां पादानामृचा तावानित्यादिकया विवरणादित्यर्थः। तर्हस्तु तत्रैकवाक्यता विवक्षितस्थले तु नास्त्येवेत्यत्राहुस्तत्रापीति। **तदभाव** इति परस्पराकाङ्क्षोत्थापकपदाभाव इत्यर्थः। पादपरीति वक्ष्यमाणप्रकारेण गायत्र्याः सर्वभूतात्मकत्वपरिचायनाय भूतानां पृथिवीत्वेन संकोचः पृथिव्याः शरीरत्वेन शरीरस्य हृदयत्वेनैवं हृदयात्मक-

भाष्यप्रकाशः ।

न तु पादत्वं, न वा तद्विधापूरकत्वमित्याशयेन तेषां षड्विधत्वमनिरूप्य हृदयस्यास्ति तथात्वमित्याशयेन हृदयस्य षड्विधत्वं निरूपयन् वक्ता तस्य ह वेत्याद्युक्तरीत्या पञ्चविधाज्ञानानन्तरमथेति प्रकृतविच्छेदेन पूर्वोक्तविधाभ्यो ज्योतिषो वैलक्षण्यं बोधयंश्चतुर्थपादस्य षड्विधत्वप्रतिपादनाह्यब्लोपे पञ्चमीप्रतिपादनं कृत्वा, अतस्तृतीयातस्तसिः, अनेन प्रकारेण चतुर्थपादेत्युक्तरीत्या तदेव ज्योतिरन्तःपुरुष उपसंहरति । तस्मात् पूर्वं मन्त्रेति पादस्येति कथनात् पादत्रयमुपरि यतोऽतोऽत्र, तस्य ह वेत्यारभ्यान्तं विधानिरूपके वाक्ये चतुर्थः पादो निरूप्यत इति सिद्धम् । तथाच षड्विधत्वप्रतिज्ञाया विधानिरूपणसाकाङ्क्षत्वाद्विधोपपादनस्य चाकस्मिकत्वाभावाय प्रतिज्ञासाकाङ्क्षत्वादुभयोरेकवाक्यत्वम् । अतः परं ऋगवशिष्यते । सापि चतुष्पदात्वषड्विधत्वप्रतिज्ञयोरनन्तरं तद्विवरणतयोक्तेति तच्छेषस्तस्मादुपपादनवाक्यात् पूर्वं च पठिता । तस्यां च त्रिपादस्यामृतमिति रीत्या पादत्रयं कण्ठत उपरितनलोकेष्वित्युक्तत्वादस्ति चतुर्थपादाकाङ्क्षा । चतुर्थश्च पादः सर्वभूतात्मको हृदयाधिष्ठानक इति तदधिष्ठानस्य हृदयस्य ज्योतिर्वाक्यपर्यन्तेन विवरणादाकाङ्क्षा पूर्यते । विव्रियमाणपादविधानां च स्वाधारभूतपादस्वरूपविवरणाकाङ्क्षा । सा च पादोऽस्य सर्वा भूतानीति भूतविवरणेन ऋचा पूर्यते । तथा

रश्मिः ।

पादपरिचायकत्वम् । **निरूपयन्निति** वेदान्तकृदिति भावः । **ल्यब्लोप** इति । अनुनासिकात्परोनुस्वारः इत्यत्र यथा तथेत्यर्थः । **कृत्वेति** अत्र प्रतिपादनं विधायेति पाठः । अस्मिन् पाठे यद्यपि क्त्वः प्रयोगेर्थैक्यं तथापि ल्यब्लोपो नाम ल्यबन्तशब्दाज्ञाने प्रत्यासत्त्या ल्यबन्तधात्वर्थकर्मण्यधिकरणे च पञ्चमीति शब्देन्दुशेखरे व्याख्यानात् । **अत** इति व्याख्येयमिदम् । **अन्तःपुरुष** इति अस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योतिरिति श्रुतेः । **तस्मादित्यादि**भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **तस्मादित्यादि** । विषयवाक्यात्पूर्वमन्त्रे । **पादत्रय**मिति अनुकरणशब्दोयं त्रिपादिति श्रौतस्य तेन सुपां सुलुक् इत्यनेन त्रिपादित्यत्र ङसो लुग्व्याख्यातः । त्रिभिः पद्यत इति च तथा च त्रिपादोस्येत्यन्वयः । अभेदषष्ठ्या त्रिपादभिन्नममृतं क्षेममभयमित्युक्तं पादत्रयमित्यर्थः । गूढार्थोग्रे वाच्यः । **अत** इति चतुर्थपादाकाङ्क्षायाः सत्त्वादित्यर्थः । **आन्त**मिति अन्तमन्तःपुरुषे ज्योतिरिति वाक्यं तदभिव्याप्येत्यर्थः । हृदयषष्ठविधायां ज्योतिषि चतुर्थः पादः इति भाष्यीयचतुर्थत्वं समर्थयितुं किंचिदाहुः **तथा चे**त्यादि । **प्रतिज्ञेति** षड्विधात्वप्रतिज्ञेत्यर्थः । **भाष्ये । उपरितनेति** ।

'पादेषु सर्वभूतानि पुंसः स्थितिपदो विदुः ।
अमृतं क्षेममभयं त्रिमूर्ध्नोऽधायि मूर्धसु' ॥

इत्यनेनैकवाक्यतायै बहुवचनम् । पादत्रयमुपरितनलोकेषु, चतुर्थः सर्वत्रेति । **प्रकृते । तच्छेष** इति व्याख्यानस्य व्याख्येयार्थत्वेन पारार्थ्यादिति भावः । पारार्थ्यं शेषलक्षणम् । उपेत्यादि तस्य ह वा एतस्य हृदयस्येत्यादिषड्विधोपपादनवाक्यं तस्मादित्यर्थः । **त्रिपादस्यामितीति** भाष्ये त्रिपाद्, अस्य, अम्, ऋतमिति पदच्छेदं मत्वोक्तम् । अत्र पक्षे संबन्धोऽभेदो बोध्यः । **आकाङ्क्षेति** चतुर्थपादाकाङ्क्षा पूर्यत इत्यर्थः । **सर्वभूतात्मक** इति सर्वाणि भूतानीति पादस्य भूतरूपस्य विवरणात् स च पृथ्वीरूपः पृथ्वी च शरीररूपा शरीरं च हृदयरूपमिति संकोच इति हृदयविधारूपचतुर्थपादो ज्योतीरूपः सर्वभूतात्मकः । हृदयं व्यवच्छेत्तुं विशिंषन्ति स्म **बीत्यादि** । **स्वाधारभूतेति** एतादृशः पादो हृदयात्मा । **भूतेत्यादि** करणे तृतीया । **ऋचेति** कर्तरि तृतीया ।

भाष्यप्रकाशः ।

ऋचि, दिवीति पदादत्र च परो दिव इति कथनादृचि पुरुषपदेनोक्तः पादत्रयाधारो ज्योतिर्वाक्ये प्रत्यभिज्ञायते । अतश्चतुर्थः पादोऽस्मिन् वाक्ये निरूप्यत इत्यृचा सहास्यैकवाक्यत्वं सिद्धमित्यर्थः ।

अत्रेदं बोध्यम् । अत्र गायत्रीमुपक्रम्य तस्याः सर्वभूतात्मकत्वं प्रतिज्ञाय तत्स्वरूपजिज्ञासायां, वाग्वै गायत्रीति तत्स्वरूपमुक्त्वा वाचः कथं गायत्रीत्वमित्यपेक्षायां सर्वभूतगातृत्वात्तत्त्रातृत्वाच्च गायत्रीत्वमुक्तम् । तर्हि तस्याः कथं सर्वभूतात्मकत्वमित्यपेक्षायां या वै गायत्रीयं वा व सेत्यादिना तस्याः पृथिवीत्वं प्रतिपाद्य तेन रूपेण सर्वभूतधारकत्वात् सर्वभूतत्वे समर्थिते, किं तत् सर्वं भूतं का च तद्धारिका पृथिवीत्यपेक्षायां तां शरीरत्वेन संकोच्य शरीरं हृदयत्वेन संकोचयति । तत्र प्राणांश्च प्रतिष्ठापयति । तेन प्राणरूपाणि भूतानि शरीरैकदेशहृदयात्मकपृथिवीरूपेण वाग्रूपा गायत्री धारयतीति प्रतिपाद्य तस्याः स्वरूपमाह । सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्रीति । तत्र वाग्रूपायाः कथं पृथिव्यादिरूपत्वं भूतधारकत्वं च । तथा पदशब्दोऽपि किं स्थानवाची, उत चत्वारि वाक्परिमिता पदानीति श्रुत्युक्तपरा पश्यन्तीमध्यमावैखरीति वागवस्थाचतुष्टयवाची वा पादवाची वेति संदेहवारणाय तदेतदृचाभ्य-

रश्मिः ।

पादत्रयेत्यादि पुरुषस्यावयवित्वेनावयवभूतपादत्रयाधारत्वमिति ज्ञेयम् । ज्योतिःपदेन प्रत्यभिज्ञायते षष्ठविधात्वेनान्तिमत्वात्तुरीयपादेप्यत्र पर्यवसित्या प्रधानं हृदयं तदिदं ज्योतिरिति तथा । ननु 'यदतः परः' इतिविशेषणेन प्रथमपादभूतभूतादिनिविष्टपुरुषव्यतिरेकात् तत्कथं पुरुषो ज्योतिरिति प्रत्यभिज्ञा तदिदं जलं सेयं दीपमालिका यथा । किं च । परस्य पुरुषरूपज्योतिषः प्राज्ञतैजसतुरीयरूपत्वेपि शरीरपृथिवीहृदयरूपत्वं च कथमित्यतो गायत्री वा इदं सर्वमित्यारभ्य य एवं वेद इत्यन्तस्य योर्थः सिद्धस्तं सिद्धान्ते आहुः **अत्रेदमित्यादिना** । **अत्रेत्यादि** 'गायत्री वा इदꣳसर्वं भूतं यदिदं किं च' इति छान्तपदद्वयमग्रे संबध्यते । **सर्वभूतेत्यादि** सर्वं भूतं गायति च त्रायते च या सा गायत्रीति श्रुतेरित्यर्थः । **तर्हीति** वाग्रूपत्ववेलायाम् । इत्यादिनात्रादिना 'येयं पृथिव्यस्याꣳहीदꣳसर्वं भूतं प्रतिष्ठितमेतामेव नातिशीयते' इति नातिशीयते नातिवर्तते यद्वा शिञ् तनुकरणे शिनोति शिनुते इत्यर्थे वा शीयते इति छान्दसः । **तामित्यादि** 'यद्वै तत्पुरुषे शरीरमिदं वा व तद्यदिदमस्मिन् तत्पुरुषे हृदयम्' इति संकोचयतीत्यर्थः । तस्मिन् हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता इति श्रुतेराहुः **तत्रेत्यादि** । एतेनातिदेशाधिकरणसंगतिरपि सूचिता, प्रसङ्गरूपा । प्राणनिरूपणेन तदाधारहृदयं तन्निष्ठपुरुषो ज्योतिस्ताभ्यामाधाराधेयभावसंबन्धः सामानाधिकरण्यसंबन्धश्चेति संबन्धित्वात् । एकसंबन्धिज्ञानमपरसंबन्धिस्मारकमिति स्मृतस्योपेक्षानर्हत्वं प्रसङ्गसंगतिः । **चत्वारीत्यादि** 'चत्वारि वाक्परिमितानि पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः गुहायां त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति' इतिश्रुतिः । एतदर्थस्तु वाचः परिमितानि वाक्परिमितानीति षष्ठीतत्पुरुषः । वागित्यत्र ङसः स्वादेशो वा । परिमितानीत्यस्य शास्त्रनिर्णीतानीत्यर्थः । पदान्यवस्थाविशेषरूपाणि । ताश्चावस्थाः परापश्यन्तीमध्यमावैखरीरूपाः । मनीषिणोध्यात्मकुशलाः । तेषां मध्ये त्रीणि गुहायां शरीरे आधारनाभिहृदयेषु निहितानि । नेङ्गयन्ति न जानन्ति । तुरीयं वैखर्याख्यं मनुष्या वदन्ति मनुष्याणां वदने वर्तमानोर्थबोधकः

इति चतुर्थपादस्य षष्ठविधत्वप्रतिपादनात् । अतश्चतुर्थपादे पञ्चपुरुषास्ततः परो दिवोज्योतिः षष्ठस्तस्यैव सर्वत्र दीप्यमानत्वं निरूप्य तदेवान्तःपुरुषे उपसंहरति । तस्मात् पूर्वं 'त्रिपादस्याऽमृतं दिवि' इत्युक्त्वावस्य त्रिपात्संबन्धि अमृतमुपरितनलोकेष्विति । अतोऽत्र चतुर्थः पादो निरूप्यत इति सिद्धम् ।

अतः पादानां ब्रह्मधर्मत्वाज्ज्योतिषो ब्रह्मत्वमिति ।

भाष्यप्रकाशः ।

नूक्तमिति प्रतिज्ञाय ऋचा विवृतम् । यावान् सर्वभूतात्मकत्वादिरूपोऽर्थः पूर्वमुक्तस्तावान् अस्य गायत्रीनाम्नः पुरुषस्य महिमा माहात्म्यं विभूतिः । तत उक्तरूपान्महिम्नः पुरुषो ज्यायान् अधिकः । पूर्वोक्तं कथमस्य महिमेत्यत आह पादस्येत्यादि । तथा चोक्तरूपस्य सर्वस्यैतत्पादरूपस्वान्महिमत्वम् । तत एव च पुरुषस्य ज्यायस्त्वम् । एतेन पदशब्दार्थोऽपि निर्णीतः । पादा एव पदशब्दवाच्या इति । एवं चार्थरूपपादबोधनेन गायत्र्या वाग्रूपत्वं निवारितम् । तेन पुरुषस्य गायत्रीवाच्यत्वाद् गायत्रीत्वम् । तेन वाग्रूपाया गायत्र्यास्तद्विधात्वमित्यपि साधितम् । ततः पुरुषः को वेत्यपेक्षायां तं पूर्वोक्तपार्थिवशरीरवतः पुरुषाद् व्यावर्तयितुं यद्वैतद् ब्रह्मेत्यारभ्य, योऽयमन्तर्हृदय आकाश इत्यन्तेन तत्स्वरूपमाह । तेन मन्त्रे पुरुषत्वेन यदुक्तं तद् ब्रह्म आकाशो, न तु शरीरी पुरुष इत्युक्तम् । तत आधेयस्य कथं महिमाधारत्वमित्यतस्तथात्वं साधयितुं तस्य व्यापकत्वं तदुपासनं तत्फलं चाह । तदेतत्पूर्ण-

रश्मिः ।

शब्दो भवतीत्यर्थः । ऋचेति तावानित्यादिकया । निवारितमिति अन्यथा परापश्यन्तीमध्यमावैखर्याख्यपादचतुष्टयं वदेदिति भावः । किंरूपत्वं तस्या इत्यपेक्षायां पुरुषो ज्योतिरिति प्रत्यभिज्ञानुसारेण वाच्यवाचकयोरभेदोक्त्याराद्ब्रह्मरूपत्वमित्याहुः तेनेत्यादिना ग्रन्थेन । यद्वेत्यादि ऋक् समनन्तरमेव यद्वैतद्ब्रह्मेतीदं वा व तद्योयं बहिर्धा पुरुषादाकाशो यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशोयं वा व स योयं अन्तःपुरुष आकाशो यो वै सोन्तःपुरुष आकाशो यं वा व स योयमन्तर्हृदय आकाश इत्यन्तेन वाक्येन । बहिर्धेत्यस्य बहिरित्यर्थः । आकाशस्याधिभौतिकादिभेदेन त्रिधा निरूपणं ज्ञेयम् । तेनाकाशस्तल्लिङ्गादित्यधिकरणेनावसररूपा संगतिरुक्ता । तदेतदित्यादि तदेतत्पूर्णमप्रवृत्तिपूर्णामप्रवर्तिनीं श्रियं लभते य एवं वेद इत्यनेनेत्यर्थः । अप्रवर्तीत्यस्य न कुतश्चित्प्रवर्तितुमुत्पत्तिं प्राप्तुं शीलमस्येत्यर्थः । अप्रवर्तिनीमित्यस्याविनाशिनीं कल्पस्थायिनीमित्यर्थः । इत्यादिनेत्यत्र आदिना पञ्च देवसुषयः स योस्य प्राङ् सुषिः स प्राणस्तच्चक्षुः स आदित्यस्तदेतत्तेजोन्नाद्यमित्युपासीत तेजस्व्यन्नादो भवति य एवं वेदाथ योस्य दक्षिणः सुषिः स व्यानस्तच्छ्रोत्रं स चन्द्रमास्तदेतच्छ्रीश्च यशश्चेत्युपासीत श्रीमान् यशस्वी भवति य एवं वेदाथ योस्य प्रत्यङ् सुषिः सोऽपानः सा वाक् सोग्निस्तदेतद्ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यमित्युपासीत ब्रह्मवर्चस्व्यन्नादो भवति य एवं वेद । अथ योस्योदङ् सुषिः स समानस्तन्मनः स पर्जन्यस्तदेतत्कीर्तिश्च व्युष्टिश्चेत्युपासीत कीर्तिमान् व्युष्टिमान् भवति य एवं वेदाथ योस्योर्ध्वसुषिः स उदानः स वायुः स आकाशस्तदेतदोजश्च महश्चेत्युपासीतौजस्वी महस्वान् भवति य एवं वेद ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपाः स य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान् स्वर्गस्य द्वारपान् वेदास्य कुले वीरो जायते प्रतिपद्यते स्वर्गं लोकं य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान् स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान् वेदेति श्रुत्या निवेशयतीत्यर्थः । अत्र प्राक् सुषिश्च ।

भाष्यप्रकाशः ।

मित्यादिना । ततः कास्तद्विधा इत्यपेक्षायां तस्य ह वा एतस्य हृदयस्येत्यादिना पञ्चप्राणानिन्द्रियाणि तद्देवांश्च द्वारपालकोटौ निवेशयति । षष्ठेन ज्योतिषा च षट्संख्यां पूरयति । तेनैते षडपि विधाः । एतद्व्यतिरिक्तः प्राणविधायां, प्राणो हि पिता प्राणो मातेति प्रसिद्धो जीवात्मकः प्राणः पाद इति सिध्यति । सोऽपि न विविक्तः किंतु शरीरविशिष्ट इति तद्विशिष्टानां जीवानां पादत्वं, तस्य च मुख्यं स्थानं हृदयं, विधाश्च तत्रैव भूयस्य इति हृदयमपि पाद एव निविशते । ज्योतिश्चात्र हार्दमेव यदाकाशशब्देनोक्तं, हृद्यन्तर्ज्योतिरिति श्रुत्यन्तराच्च । अतः पूर्वोक्तरीत्या एकवाक्यत्वं निष्प्रत्यूहमित्यर्थः ।

यत्तु केचित् पुरःस्फूर्तिकमालम्ब्य गायत्र्या भूतपृथिवीशरीरहृदयभेदेन चतुष्पात्त्वं, तस्या वाग्रूपत्वकथनाद् हृदये प्राणानां चोक्तत्वात् तदुभयसहितानि तानि भूतानि संख्यायां निवेश्य तैः षड्भिर्गायत्र्याः षड्विधत्वं व्याख्याय, इदं यावदुक्तं तावानस्य महिमा विकारस्ततो ज्यायान् पुरुषो महान् विकारोऽस्य पुरुषस्य सर्वाणि भूतानि पूर्वं गायत्र्यात्मनोक्तान्येकः पादोऽस्य गायत्रीब्रह्मणस्त्रिपाद् अमृतं दिवि द्योतनवति स्वात्मन्यवस्थितमित्येवं मन्त्रं व्याख्याय तस्य गायत्र्यवच्छिन्नस्य ब्रह्मणो हृदयाकाश उपास्यत्वं च व्याख्याय तत उपास्त्यङ्गभूतं पञ्चद्वारपालोपसानं च व्याख्याय गायत्र्युपाधिकस्य हृद्युपास्यत्वेनोक्तस्यैव कौक्षेयज्योतिःप्रतीकत्वेनोपासनम् 'अथ यदतः परो दिवः' इत्यादिना विधीयते । अत्र चाथशब्दो विद्यान्तरोपक्रमार्थ इत्याहुः ।

रश्मिः ।

सुषिश्छिद्रम् । अस्येति हृदयस्य । कीर्तिः परोक्षख्यातिः । व्युष्टिरपरोक्षख्यातिः । एते इति पञ्च द्वारपाला ज्योतिश्चेत्येत इत्यर्थः । तेन प्राणरूपाणि भूतानि इत्यादिस्वोक्तसंदिग्धत्वात् प्रपञ्चयन्ति एतद्व्यतीत्यादिना । प्रसिद्ध इति पितृत्वमातृत्वे जीवानां प्रसिद्धे ईश्वरस्य तु पितामस्य जगतो मातेति न प्रसिद्धे । किंत्वित्यादि । पितृत्वमातृत्वयोः शरीरिधर्मत्वादिति भावः । धातृपितामह समभिव्याहारात् । भूयस्य इति षड्धर्मा इतिसंख्यातात्पर्यात् । हृदयमिति 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्' इतिसूत्रादौ । निविशत इति तथा चाश्रमवद्देहविशिष्टा जीवाः पाद इति तथेति भावः । ज्योतिरित्यादि 'योयमन्तर्हृदय आकाशः' इत्यत्राकाशशब्देनोक्तं यद्धार्दमाकाशं ज्योतिर्ब्रह्मैवेति योजना । ज्योतिश्च चकारेण पंचसुषयो जीवाः हृदयं हृदि अयमिति च्छान्दोग्यव्युत्पत्तेस्ततो ज्योतिः षष्ठीविधा । अत्र योयमितिश्रुतौ जीववद्धार्दं 'द्वौ सुपर्णौ भवतः' इति श्रुतेः परं तु ज्योतिर्न सुषिः हृदये आकाश इति हृदि अयं जीवस्तत्समीपे आकाश इति आत्मासन्काशः । वर्णलोपः । काशृ दीप्तौ आसमन्तात् काशत इति वा । सुषयस्तु न काशन्ते । आकाशशब्दस्य ज्योतिःसामानाधिकरण्ये श्रुतिं प्रमाणयन्ति स्म हृद्यन्तरिति । अत इत्यादि उपपादनात् । भाष्योक्त 'तावानस्य महिमा' इत्यादिरीत्या ऋग्विषयवाक्ययोरेकवाक्यत्वं निष्प्रत्यूहमिति । 'निःप्रत्यूहो महान् भोगः' इत्याचार्यप्रयोगात् । इत्यर्थ इति इदमेव वाक्यस्वं निःप्रत्यूहं निरुपसर्गं इति निष्कृष्टोर्थो बोध्यः । इति लिङ्गव्यत्ययेनान्वयः । अर्थपदाभावे तु सुष्ठ्वन्वय इति ज्ञेयम् । स्वोक्तं व्याख्यानं दृढीकर्तुं शांकरव्याख्यानमुपक्षिपन्ति यत्त्वित्यादि 'अङ्गं प्रती कोऽवयवः' इति कोशात् प्रतीकोवयवः ।

भाष्यप्रकाशः ।

तन्मन्दम् । पुराणोपबृंहितश्रुत्युपष्टम्भेन व्याख्यातप्रकारेण पादानां विधानां च विवेकसिद्धावेवं सांकर्येण पादविधयोर्व्याख्यानस्यासंगतत्वात् । उक्तपुराणश्रुत्योरेवंविरोधेनैव मन्त्रव्याख्यानस्याप्यसंगतत्वात् । अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिरित्यादावप्यथशब्दस्य सत्त्वेऽपि तत्र न विद्याभेदकत्वम्, 'अथ यदतः परः' इत्यत्र विद्याभेदकत्वमित्यत्र बीजानुपलम्भाद् अङ्गोपास्तिभेदप्रायपाठविरोधाच्चेति । एवमेकवाक्यतामुपपाद्य सिद्धमाहुः अत इत्यादि । अत एव ।

रश्मिः ।

दूषयन्ति स्म तन्मन्दमित्यादिना पुराणेन 'पादेषु सर्वा भूतानि पुंसः' इति श्लोकद्वयात्मकेनोपबृंहिता या श्रुतिः ।

'तावानस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' ॥

त्रिपादूर्ध्वउदैत्पुरुषः पादोस्येहाभवत्पुनः' इतिपुरुषसूक्तस्था तदुपष्टम्भेन प्रकृतश्रुतिव्याख्यानप्रकारेणेत्यर्थः । प्रकारपदं ज्ञापयति ह्यपरस्यापि मायावादप्रकारस्य पुराणान्तरः उपष्टम्भोस्तीति कृष्णवाक्यानुसारित्वं सिद्धान्ते उत्कर्षः । अयमर्थः । पुराणेन वेद उपष्टम्भव्यो न युक्त्या । केवलयुक्तीनां तर्काप्रतिष्ठानसूत्रे प्रत्याख्यानात् तदपेक्षया पुराणस्य महत्त्वात् । तत्र च पादेषु च भूर्भुवः सुवो महर्लोकस्था व्यष्टिजीवाः प्रथमः पादः । जनलोकस्था ब्रह्मचारिणो व्यष्टिजीवा द्वितीयः पादः । तपोलोकस्था वानप्रस्थाः व्यष्टिजीवास्तृतीयः पादः सत्यलोकस्थाः संन्यासिनो व्यष्टिजीवाश्चतुर्थः पादः । एतदनुरोधेन पुरुषसूक्ते पाद इत्यत्र सुपां सुः पादा इत्यर्थः । तथा च पुराणे साधिष्ठानानां जीवानां पादत्वं पुरुषसूक्तेपि विश्वा भूतानीति साधिष्ठानानामेव तेषां तत्त्वमित्यत्रापि भूतपृथिवीशरीरपरिचायितहृदयस्थानं तस्य ह वेत्यादिनोक्तानां जीवानां पादत्वं तेषामेव च पञ्चपुरुषाणां ज्योतिषश्च षड्विधात्वमिति सिद्ध्यति । इति पादानां विधानां च विवेकसिद्धावित्यर्थः । पादयोरिति वाक्यप्राणौ निवेश्य पादयोश्चतुष्पदाषड्विधयोर्व्याख्यानस्येत्यर्थः । तथा च सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्रीति वाक्यं न पादानुवादकं तत् षड्विधात्वानुवादकं च किं तु प्रतिज्ञावाक्यम् । पादतद्विधानां प्रतिपादकं तु तस्य ह वा इति वाक्यमिति हृदयम् । एवं तदुक्तपादान् दूषयित्वा तावानिति मन्त्रव्याख्यानं दूषयन्ति स्म उक्तपुराणेत्यादिना । न च पुरुषपदं पुरुषावतारवाचकं तथा वाक्येपि पुंसः इति पदं पुरुषावतारपरमिति शङ्क्यम् । 'तस्माद् विराडजायत विराजो अधिपुरुषः' इति तस्य तत्कार्यश्रावणात् । अतः 'पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः' इतिश्रुतेरत्र परमकाष्ठापन्नवस्तु पुरुषपदाभिधेयम् । न तु विकृतः पुरुषः । एवं पुराणवाक्ययोरपि पुरुषसूक्तविवरणात् स एवार्थः । किं च पुराणे व्यष्टिजीवाः पादेषु व्याख्याताः । अत्र तु सर्वाणि भूतानि तेजोबन्नादीनि सस्थावराणि जङ्गमानि गायत्र्यात्मनोक्तान्येकः पादोतो विरोधेनेत्यर्थः । गायत्र्युपाधिकस्येत्यादिनोक्तं दूषयन्ति स्म अथ य इत्यादि । नन्वङ्गोपासनातः कौक्षेयज्योतिरुपासनस्य भेदसाधनाय तथाव्याख्यायत इति चेत्तत्राहुः अङ्गोपास्तीत्यादि । अङ्गोपास्तिभेदे प्रायपाठविरोधोङ्गोपास्तिभेदप्रायपाठविरोधः सुप् सुपेतिसमासः । तथा सतीति सामानाधिकरण्ये सप्तमी । असमस्तपाठोत्र भाति । द्वारपालोपासनेङ्गोपास्तित्वं त्वविरुद्धम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

ऋग्वाक्ययोरपि परस्पराकाङ्क्षासत्त्वेन पादानां ब्रह्मधर्मत्वाज्ज्योतिषो ब्रह्मत्वं सिद्धमित्यर्थः । अत्रैतद्बोध्यम् । मन्त्रे, 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि' इत्यत्र, 'क्षरः सर्वाणि भूतानि' इति गीतोक्तः क्षरः पुरुषो जीवसमष्ट्यात्मको यद्यपि वक्तुं शक्यते । किंच 'हृद्यन्तर्ज्योतिःपुरुषः' इति श्रुत्या जीवस्य हृदयं स्थानं, तद्विराड्जीवस्य स्वर्लोकः 'हृदा स्वर्लोकः' इति द्वितीयस्कन्धात् । अत्र च स्वर्लोकस्य द्वारपान् वेदेति तत्प्रत्यभिज्ञानात् । तथापि मन्त्रे, त्रिपादस्याऽमृतं दिवीति विशेषकथनात् पुरुषसूक्तविवरणाध्याये च तेषामाश्रमत्रयस्थत्वेन व्यष्टितया निगमनात्, पादोऽस्येत्यत्रापि व्यष्टिजीवा एव ग्राह्याः । अन्यथा त्रिपादित्यादेर्विरोधापत्तेः । एवं सिद्धेऽत्रस्थानां सर्वभूतानामुपरितनानां च व्यष्टिजीवत्वे तेषां सर्वेषां हृद्यन्तरिति श्रुत्या हृदयमेव स्थानमिति तस्यैकत्र षड्विधत्वेऽन्यत्रापि तथात्वमिति ब्रह्मपादानां गायत्रीपादतुल्यत्वं तद्विधानां च गायत्रीविधातुल्यत्वं भवति । एवं सति यथा प्रणवविद्यायां ब्रह्मणः पादसंख्यापूरकत्वं तथास्यां गायत्रीविद्यायां विधासंख्यापूरकत्वम् । एवमत्र चरणानां ब्रह्मधर्मत्वात् प्रकरणस्य ब्राह्मत्वे सिद्धे शब्दमात्रस्य ब्रह्मण्येव मुख्यवृत्तत्वात् । 'तमेव भान्तम्', 'यदादित्यगतं तेजः' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिर्दीपनात्मकस्य तेजोलिङ्गस्यापि ब्रह्मण्येव समन्वयात् 'अहं वैश्वानरो भूत्वा' इतिगीतावाक्येन जाठरधर्मस्योष्णिमादेरपि तत्र समन्वयात् । द्युमर्यादत्वस्यापि ब्राह्मणश्रमणन्यायेनाधिक्यबोधनार्थत्वात् । चक्षुष्यः श्रुतो भवतीति फलस्यापि भगवदीयत्वेन दृश्यो विख्यातश्च

रश्मिः ।

इति न दूषितम् । ऋग्वाक्ययोरिति तावानित्यस्य विषयवाक्यस्य च । न हि खल्ववयववाचकपदस्यावयविवाचकत्वं प्रसिद्धम् । अतश्चरण इत्युक्ते पुरुषस्याग्रहणात्कथमत्र ब्रह्मज्योतिरित्याशङ्क्य प्रकरणस्य ब्राह्मत्वं साधयन्तोऽपनयन्ति स्म अत्रैतदित्यादिना । वक्तुमिति पादत्वेन वक्तुम् । श्रुत्यापि जीवसमष्ट्यात्मकत्वं पादस्य संभवतीत्याहुः किं चेत्यादिना । तत् स्थानमित्यर्थः । हृदेत्यादि ।

'भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोस्य नाभितः ।
हृदा स्वर्लोक उरसा महर्लोको महात्मनः' ॥

इत्युक्तकल्पितपदेनान्वयः । ननु प्रकृतश्रुतौ स्वर्लोकः कुत्र प्रत्यभिज्ञातः इत्यत आहुः अत्र चेत्यादि । तथा च श्रुतावपि पुरुषो जीवसमष्ट्यात्मको वक्तुं शक्यत इति भावः । अन्यथेति ग्रहणे जीवसमष्ट्यात्मकपुरुषप्रकारे सति । एवमिति त्रिपादित्यादेरविरोधचिन्तनप्रकारेण । ननु सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्रीति गायत्र्याः पादानां षड्विधत्वं न तु ब्रह्मणः पादानां तथात्वमित्याशङ्कायां तत्र तस्यातिदेश इत्याहुः तस्यैकत्रेत्यादिना । अन्यत्रेति प्रणवादिविद्यायामपि पादस्य षड्विधत्वमित्यर्थः । पादसंख्येत्यादि । 'तुरीयं परममृतमजं ब्रह्म' इति श्रुतेः । विधेत्यादि ज्योतीरूपस्य ब्रह्मण इत्यर्थः । एतावता प्रकरणस्य ब्राह्मत्वं साधितमतः परं ज्योतिषो ब्रह्मवाचकत्वं साधयितुं पूर्वपक्षोदितदोषान् दूरीकुर्वन्तो हेतूनाहुः शब्दमात्रस्येत्यादिना । अन्तिमपादत्वात्तु अभिधावृत्तिर्ज्योतिःपदस्य ब्रह्मणीति सिद्धम् । ब्राह्मणश्रमणेत्यादि ब्राह्मणभ्यः श्रमणः श्रमशीलभेदत्युत्कृष्टः इति न्यायेन । एवं ब्रह्मणोपि व्यापकरूपस्य तेजसो द्युमर्यादीपनाश्रयत्वादिरुद्धधर्माश्रयत्वादत्युत्कृष्टमित्यर्थः । भगवदीयत्वेनेति उपक्रमे 'ॐमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' इति ह्युपसंहारे च 'आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्य' इति निरोधलक्षणग्रन्थोक्तरीतिदर्शनादुपक्रमोप-

ब्रह्मधर्मनिर्णयार्थमिदमधिकरणं चरणानामौपचारिकत्वव्यावृत्त्यर्थम् । एतन्निर्णयेन प्रणवादिविद्या निर्णीता वेदितव्याः ॥ २३ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

भवतीत्याकारकत्वात् । 'अपवर्गमात्यन्तिकं परमपुरुषार्थमपि स्वयमासादितं नो एवाद्रियन्ते भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः' इति पञ्चमस्कन्धोक्तरीत्या तस्य महाफलत्वात् । 'वसन्ते ज्योतिषा यजेत', वाचैव ज्योतिषेत्यादिश्रावणेन ज्योतिःपदस्य तेजोमात्रवाचकत्वाभावाच्च ज्योतिषो ब्रह्मत्वमिति हृदयम् । एवं सिद्धान्तमुक्त्वा, तद्धर्मोपदेशाधिकरणेनास्य गतार्थताशङ्कां परिहरन्ति ब्रह्मेत्यादि । तथाच तत्र हेतोः सिद्धत्वेनात्र तु साध्यत्वेन फलभेदान्न गतार्थतेत्यर्थः । ननु ब्रह्मप्रतिपत्तिरूपस्य फलस्याऽन्यथापि सिद्धेः का हेतुसाधनावश्यकतेत्यत आहुः एतदित्यादि । पादनिर्णयेन पादवत्योऽन्या अपि विद्या निर्णीताः स्युरित्येतदर्थं तदावश्यकतेत्यर्थः ॥ २३ ॥

रश्मिः ।

संहाराभ्यामर्थनिर्णयादुक्तमेतत् । तस्य महेत्यादि संपद्याविर्भावाधिकरणन्यायेन प्राप्तं शरीरं यस्य तस्य दर्शनीयत्वं व्याख्यातत्वं च भगवदीयत्वेनेति महाफलत्वमित्यर्थः । इत्यादीति छत्रादिपदेन मनोज्योतिर्जुषतामित्यस्य संग्रहः । हेतोरिति धर्मरूपस्य । साध्यत्वेनेति हेतुत्वेनोक्तश्चरणाभिधां गायत्रं ब्राह्मं वेति संदेहात्साध्यत्वेनेत्यर्थः । ननु ब्रह्मेति औपचारिकत्वव्यावृत्त्या चरणानां ब्रह्मप्रतिपत्तिरूपस्य फलस्य । अन्यथेति तुरीयचरणचरमत्वादिति हेतुप्रकारेणापि सिद्धेः । हेतुसाधनेति हेतौ ब्राह्मत्वसाधनावश्यकतेत्यर्थः । नन्वन्तस्तद्धर्माधिकरणेनैकान्तरितश्रुतिविचारोपि कृतः ।

'स्मृतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानश्चतुष्टयम् ।
एतैरादित्यमण्डलं सर्वैरेव विधास्यते' ॥

इत्यारणात् । अत्र तु चरणानां ब्रह्मधर्मत्वोक्त्या प्रकाशाश्रयवद्वेति सूत्रोक्तब्रह्मब्रह्मधर्माभेदाय प्रतिबन्धकं चरणौपचारिकत्वं तद्व्यावृत्त्यर्थं विचारः कृतः इति फलभेदः कुतो नादृत इति चेन्न । अस्यार्थस्यैव ननु ब्रह्म इत्यादिभाष्यविभागेनोक्तत्वात् । विद्या इति । ताश्च 'सर्वासामविरोधः सामान्यतदभावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम्' इति तार्तीये सूत्रे शंकरभाष्ये प्रसिद्धा भाष्यविभागे प्रपञ्चिताश्च । इत्यर्थ इति तथा चैव सूत्रार्थः । ब्रह्म ज्योतिःशब्दवाच्यं चरणाभिधानात् । चरणप्रत्यभिज्ञानादिति । चरणप्रत्यभिज्ञानं त्वेवम् । अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यत इत्यत्र सर्वनामत्वेन प्रसिद्धार्थवाचकेन यच्छब्देन तावानिति पूर्ववाक्ये द्युसंबन्धित्वेन प्रसिद्धं ब्रह्मात्रापि द्युसंबन्धात्प्रत्यभिज्ञायत इति । अत्रेदं विज्ञेयम् । ज्योतिषो ब्रह्मत्वमित्यनेन ब्रह्मधर्मनिर्णयार्थमिदमधिकरणमिति भाष्यं विरुध्यते । ज्योतिःपदस्याभिधावृत्तौ ब्रह्मणि सत्त्वात्, ज्योतिःपदस्य चरणे वृत्त्यभावात् । तत्कथं ब्रह्मधर्मनिर्णय इति । उच्यते । चरमस्य धर्मिवाचकत्वेपि धर्मवाचकत्वस्य तुरीयं परममृतमजं ब्रह्मेत्यादौ दृष्टत्वात् चरमचरणवाचकत्वमपि ज्योतिःपदस्येति । न च युगपद्वृत्तिद्वयविरोध इति वाच्यं, अमुष्य वस्तुन एव तथात्वादिति ॥ २३ ॥

छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात् तथा हि दर्शनम् ॥ २४ ॥

ननु नात्र ब्रह्म चतुष्पान्निरूपितं किंतु गायत्रीछन्दः । 'गायत्री वा इदं सर्वं यदिदं किंच' इत्युपक्रम्य तामेव भूतपृथिवीशरीरहृदयभेदैर्व्याख्याय, 'सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री । तदेतदृचाभ्युक्तं, एतावानस्य महिमा' इति । तस्यामेव व्याख्यानरूपायां गायत्र्यामुदाहृतो मन्त्रः कथमकस्माद् ब्रह्म चतुष्पादभिदध्यात् । यद्वै तद् ब्रह्मेति ब्रह्मपदमपि छन्दसः प्रकृतत्वात् तत्परमेवावगन्तव्यम् । शब्दस्यापि ब्रह्मवाचकत्वसिद्धेर्ब्रह्मोपनिषदितिवच्छन्दोब्रह्मेति च । तस्माच्छन्दस एव पादाभिधानान्न ब्रह्मधर्माः पादा इति चेन्नैष दोषः । तथा चेतोऽर्पणनिगदात् । तथा तेन द्वारेण चेतसोऽर्पणं निगद्यते । 'गायत्री वा इदं सर्वं यदिदं किंच' इति । न हि वर्णसमाम्नायरूपस्य सर्वत्वमनुपचारेण संभवति । यथा सूचीद्वारा सूत्रप्रवेशस्तथा गायत्रीद्वारा बुद्धिस्तत्प्रतिपाद्ये ब्रह्मणि प्रविशेदिति । कुत एतदेवं प्रतिपाद्यत इति, तत्राह । तथा हि दर्शनम् । तथा तेनैव प्रकारेण दर्शनं ज्ञानं भवति । स्थूला बुद्धिर्नाहत्यैव ब्रह्मणि प्रविशेदिति । एतेन

भाष्यप्रकाशः ।

छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात्तथा हि दर्शनम् ॥ २४ ॥ आक्षेपांशं व्याकुर्वन्ति नन्वित्यादि । अकस्मादिति तात्पर्यलिङ्गोपष्टम्भं विना । तथाचोपक्रमस्य तात्पर्यलिङ्गत्वादसंजातविरोधत्वेन प्रबलत्वाच्च तदनुरोधेनैव मन्त्रव्याख्यानमुचितमिति मन्त्रेण ब्रह्मपादासिद्धेर्हेतुः स्वरूपासिद्ध इत्यर्थः । परिहारांशं व्याकुर्वन्ति तथा तेनेत्यादि । अत्र हि तथा चेतोऽर्पणनिगदे सर्वरूपत्वोक्तिलिङ्गम् । वाग्रूपायां गायत्र्यां तस्यासंभावितत्वात् । तदेव च विरुध्यमानमुपक्रमस्य प्राबल्यमपहन्ति । निवृत्ते च तस्मिन् प्रकरणस्य ब्राह्मत्वं मन्त्रवर्णादेव निश्चीयते अतस्तथेति । अग्रिमं व्याकुर्वन्ति कुत इत्यादि । वेदेनेति शेषः । एवं निरूपणप्रयोजनमाहुः एतेनेत्यादि । तथाच सर्वासां मन्त्रोपासनानां निर्णयार्थ-

रश्मिः ।

छन्दोभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात् तथाहि दर्शनम् ॥ २४ ॥ भाष्ये । अभ्युक्तमिति क्वचिदप्यनूक्तमित्यपि पाठः । प्रकृते । तात्पर्येत्यादि तात्पर्यस्य लिङ्गं तस्योपष्टम्भस्तं विना । तात्पर्येत्यादि तात्पर्यस्य तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वस्य लिङ्गं ज्ञापकं तत्त्वादित्यर्थः । किं च । असंजातेति न संजातो गायत्रीप्रतिपादनविरोधो यस्य तत्त्वेन । स्वरूपासिद्ध इति पक्षेऽभावात्तथा । तस्येति सर्वरूपत्वस्य । तदेवेत्यादि सर्वरूपत्वमेवेत्यर्थः । तस्मिन्निति उपक्रमप्राबल्ये । मन्त्रवर्णादिति तावानिति मन्त्रवर्णादेव निश्चीयत इत्यर्थः । भाष्ये । प्रतिपाद्ये ब्रह्मणीति न च भर्गःपदाच्छिवः, तमउपाधिकं ब्रह्म तत्प्रतिपाद्यं न शुद्धमिति वाच्यम् । सर्वेषां पदानां शुद्धब्रह्मणि शक्तेः । अन्यत्स्पष्टम् । प्रकृते । मन्त्रेत्यादि

सर्वा मन्त्रोपासना व्याख्याताः । हि युक्तश्चायमर्थो लोके स्वतो यत्र प्रविशति तदुपायेन विशतीति । न त्वदृष्टद्वारा । दृष्टे संभवत्यदृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वात् । तस्मात् पादा ब्रह्मधर्माः ॥ २४ ॥

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥ २५ ॥

किंच । भूतादयोऽत्र पादा व्यपदिश्यन्ते । भूतपृथिवीशरीरहृदयानि चत्वारि । न ह्येतानि गायत्र्याः पादा भवितुमर्हन्ति । ब्रह्मपरिग्रहे तूपपद्यन्ते । यावन्मुख्यमुपपद्यते तावन्न गौणं कल्पनीयम् । अयमर्थः । पूर्वहेतौ छन्दसोऽपि पादा व्यपदेशाद् भवन्ति । तथापि ब्रह्मण एव युक्ता इति । पुरुषसूक्ते एतावानस्येत्यस्य ब्रह्मपरत्वात् । अस्मिन् वाक्ये तु गायत्र्याः पादा एव नोपदिष्टाः किंतु ते ब्रह्मण एव पादा इति ।

भाष्यप्रकाशः ।

मेतदित्यर्थः ॥ २४ ॥

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥ २५ ॥ युक्त्यन्तरं वदतीत्याहुः किंचेत्यादि । अयमर्थः । त्वया हि गायत्र्याः प्रकरणित्वमुपगम्य सन्निहितत्वाद् भूतादय एव पादत्वेन वाच्याः । ते च स्वरसेनासंभवन्तो गौण्या योज्याः । गौणीत्वेकत्र वास्तवत्वेऽन्यत्र भवत्यतस्तथेति स एव मुख्यो विवक्षित इति श्रुतौ वक्ष्यमाणपरामर्शं बोधयितुं सैषेत्येतत्पदमुक्तम् । अन्यथा तु पूर्ववदियं वा व सेत्येवं वदेदित्यर्थः । नन्वयमर्थस्तु पूर्वसूत्रेणैव सिद्ध इत्यस्य सूत्रस्य किं प्रयोजनमत आहुः अयमर्थ इत्यादि । पूर्वहेतौ चेतोऽर्पणनिगदरूपे छन्दसोऽपि पादा गौण्या कथनाद् भवन्ति । तथापि ब्रह्मणः पादा युक्ता इति ज्ञायते । नच तर्हि भूतादय एव मुख्यतया ब्रह्मणः पादा भवन्त्विति शङ्क्यम् । पुरुषसूक्ते, एतावानस्येत्यस्य ब्रह्मपरत्वात् । तदर्थस्य चात्र विवरणार्चि प्रत्यभिज्ञानात् । नच तत्रापि सर्वभूतपदेनैतान्येवोच्यन्त

रश्मिः ।

'प्रयोगकरणभूतः शब्दो मन्त्रः' तदुक्तोपासनानाम् ॥ २४ ॥

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥ ॥ २५ ॥ पूर्वसूत्रे भूतपृथ्वीशरीराणां परिचायकत्वेनेति भाष्येण तेषां पादत्वं नोक्तम् । अत्र तु भूतादीनां पादत्वमुक्तं तत्कथमित्यपेक्षायां तत्प्रकारमाहुः अयमित्यादि । वास्तवत्व इति यथा गौर्वाहीक इत्यादिस्थले जाड्यादेर्गवि वास्तवत्वे । अतस्तथेति यतो ब्रह्मपरिग्रहाभावे गौण्यापि पादा न योजयितुं शक्याः । अतो ब्रह्मपरिग्रह इतीति । स एवेति भूतादिपादव्यपदेशो मुख्य एवेति 'सैषा चतुष्पदा षड्विधा' इत्यत्र श्रुतौ वक्ष्यमाणानां 'तस्य ह वा एतस्य' इत्यादिना पादानां विधानां च समीपतरवाचिनैतत्पदेन परामर्शं बोधयितुं सैषेत्येतत्पदमुक्तमित्यर्थः । यद्वा । श्रुतौ सैषा चतुष्पदेत्यत्र गायत्रीपदेन लक्षणया वक्ष्यमाणस्य तदेतद्ब्रह्मेति ब्रह्मणः परामर्शं बोधयितुं सैषेत्यत्र समीपतरवाच्ये तत्पदमुक्तमित्यर्थः । अत्र युक्तिमाहुः अन्यथेति । ब्रह्मपरामर्शाभावे प्रकारे सति तु समीपतरवर्तिवाचकस्यैतत्पदस्य निष्प्रयोजनत्वे सति पूर्ववद्या वै सा पृथिवीयं वा व सा इति श्रुताविव प्रत्यक्षवाचकस्येदम एव प्रयोगः कृतः स्यादित्यर्थः । सर्वभूतेत्यादि सर्वा(विश्वा)भूतानीत्यस्यार्थकथनमिदम् । तस्य च सर्वभूतवाचकत्वेन विश्वभूतपदेनेत्यर्थः । विश्वभूतपदेनेति वार्थः । एतानीति भूतपृथिवीशरीरहृदयानीत्यर्थः ।

तद्वाचकत्वेन गायत्र्यामुपचारेणोपसंहारः । अक्षरादयो न शब्दस्य पादा भवन्ति, किंत्वर्थस्यैवेति । तस्माद्ब्रह्मवाक्यत्वे भूतादीनां पादत्वमुपपद्यते नान्यथेति । तस्मात् पादानां ब्रह्मधर्मत्वम् ॥ २५ ॥

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॥ २६ ॥

'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' सर्वाणि भूतान्येकः पादः । पादत्रयममृतं दिवीत्येकोऽर्थः ।

'पादेषु सर्वभूतानि पुंसः स्थितिपदो विदुः ।
अमृतं क्षेममभयं त्रिमूर्ध्नोऽधायि मूर्द्धसु' ॥ इत्यपरः ।

भाष्यप्रकाशः ।

इति शङ्क्यम् । पुरुषसूक्तविवरणाध्याये चैतद्व्याख्यान आश्रमचतुष्टयस्थानां भौतिकशरीरविशिष्टजीवानामेव व्याख्यातत्वाच्छरीरवैशिष्ट्ये च भूतपृथिव्यादेरपि परिचायकत्वेनैव संग्रहान्मुख्यतया ग्रहणे तद्विरोधापत्तेस्तन्मुख्यतया वक्तुमशक्यत्वात् । नच गायत्री वेति वाक्यविरोधः । अस्मिन् वाक्य इत्याद्युक्तरीत्या तेषां गायत्र्यामुपचारेणोपसंहार इति तद्विरोधाभावादित्यर्थः । तद्वाचकत्वेनेति ब्रह्मवाचकत्वेन । उपसंहार इति सैषा चतुष्पदेत्यादिनोक्तः सः । तथाच पादानां ब्रह्मधर्मत्वाभावे गायत्र्यां तद्व्यपदेशस्यापि वक्तुमशक्यत्वात् त्वया स्वपक्षोपपादनायाप्यसदुक्तमवश्यमङ्गीकरणीयमिति, गले पादुकान्यायेन तदङ्गीकारणं प्रयोजनमित्यर्थः । एतेन सूत्रस्थमेवंपदं व्याख्यातम् । स्फुटमन्यत् ॥ २५ ॥

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॥ २६ ॥ सूत्रं व्याख्यातुं तदर्थं

रश्मिः ।

तन्मुख्येत्यादि तेषां भूतपृथिवीशरीरहृदयानां मुख्यपादताया इत्यर्थः । न इति चतुष्पाद् ब्रह्मत्वेन दृष्टा गायत्र्येतदुपासनोक्तफलाय भवतीत्येतदर्थं पादानां विधानं चोपसंहार इत्यर्थः । वृत्त्यनुसारेणेदं प्रतिज्ञावाक्यमुक्तम् । गले पादुकान्यायेनेति अयं कश्चित्प्रसिद्धः कैकेय्या रामराज्यार्थं यतन्त्या रामपादुकां गले स्वे कृते इति न्यायो वा । भरतेन रामपादुके सेविते इति तयापि तथा । एवमनिच्छतोपि ग्राहिते पादुके यथा तथेदमपि वृत्तमित्यर्थः । ब्रह्मण एव पादा युक्ता इति सूत्रस्यैवंपदस्यार्थं इत्याहुः एतेनेत्यादिना । वृत्तौ त्वेवमित्यस्य तव मतोपपत्तिरित्यर्थ उक्तः । अन्यदिति तस्मादित्यादिना सिद्धकथनं स्फुटार्थमित्यर्थः ॥ २५ ॥

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॥ २६ ॥ अत्रैवं भाति । बहुधा हि पादनिरूपणं भवति तत्र 'पादेषु सर्वभूतानि' इत्यत्र भूतादयः पादाः 'पादास्त्रयो बहिश्च' इत्यत्राश्रमस्था जीवाः पादाः । पादोस्येत्यत्र सर्वभूतान्येकः पादोऽमृतादयस्त्रयस्त्रयः पादा इति सिध्यति । किं चाकारउकारमकारार्धमात्राकाराः पादाः ब्रह्मविष्णुकपर्दितुरीयपादाः भूतपृथिवीशरीरहृदयानि पदानि । प्राची दिक्कला प्रतीची दिक्कला दक्षिणा दिक्कलोदीची दिक्कलाः पादाः । पृथ्वी कलाऽन्तरिक्षं कला द्यौः कला समुद्रः कलाः पादाः । अग्निः कला सूर्यः कला चन्द्रः कला विद्युत्कलाः पादाः । प्राणः कला चक्षुः कला श्रोत्रं कला मनः कलाः पादाः । एकशब्दश्च संख्यावाची । मुख्यत्वं च पुरःस्फूर्तिकत्वे

पुरुषसूक्तानुरोधे द्वितीय एवार्थः । प्रथमे तावत् । ननु दिवीति मन्त्रे सप्तम्या आधारत्वं प्रतिपाद्यते । अतः परमित्यत्र पञ्चम्या अनाधारत्वमत उपदेशभेदात् पूर्वोक्तपरामर्शाभावान्न ज्योतिषो ब्रह्मत्वमिति चेन्नैष दोषः । उभयस्मिन्नप्यविरोधात् । मन्त्रे दिव्येवोक्तम् । अस्मिन् वाक्ये सर्वत्रोच्यते । सर्वत्र

भाष्यप्रकाशः ।

प्रथमतो मन्त्रं व्याकुर्वन्ति पादोऽस्येत्यादि । एकोऽर्थ इति पुरःस्फूर्तिकः सर्वादृतस्तृतीयोऽर्थः । अस्मिन् पक्षे श्रौतं दिवीति पदं द्योतनात्मस्वरूपपरम् । अतः पादसंख्यापूर्तिस्त्वमृतात्मकेन स्वरूपेणैव । न तु जीवैर्न वा लोकैरिति । द्वितीयस्कन्धानुसारेणेतरमाहुः पादेष्वित्यादि । श्लोकार्थस्तु तिष्ठन्ति येष्विति स्था भूरादिलोकाः स्थितिपदवाच्यास्ते पादा यस्येति स्थितिपात् । तस्य स्थितिपदो भगवतो भूरादिषु पादेषु सर्वाणि भूतानि विदुः । त्रिमूर्ध्नो भूरादित्रयोपरिवर्तमानस्य महर्लोकस्य मूर्धसूपरितनेषु जनस्तपःसत्येषु, 'अमृतं क्षेममभयम्' इति सुखत्रयमधायि । अतो भूरादिचतुष्के अनित्यं सुखमित्यर्थादायाति । अस्मिन् पक्षे श्रौते पादशब्दे, सुपां सुलुगिति सुपः स्वादेशः । अस्येत्यस्य स्थितिपदः पुंस इत्यर्थः । दिवीति अनित्यं सुखमित्यर्थादायाति । अस्मिन् पक्षे श्रौते पादशब्दे, सुपां सुलुगिति सुपः स्वादेशः । अस्येत्यस्य स्थितिपदः पुंस इत्यर्थः । दिवीति जनआदित्रयोपलक्षकम् । अमृतपदममृतत्वस्यानुव्यवसीयमानत्वात् सुखत्रयोपलक्षकम् । एवं सति द्वितीयस्योपपादनसापेक्षत्वात् प्राञ्जलः पूर्वं

रश्मिः ।

सति सर्वादृतत्वं तदेतदभिसंधायाहुः **पुरःस्फूर्तिक इत्यादि** । अस्यार्थस्य तृतीयत्वमुपपादयन्ति स्म **अस्मिन्नित्यादिना** । **इतीति** तथा चास्यार्थस्योपबृंहितत्वेन श्रौतमात्रत्वात्तृतीयत्वमित्यर्थः । यदि चास्याप्यर्थस्य 'पादास्त्रयः' इत्यनेनोपबृंहितत्वं तदा द्विधा पादनिरूपणम् । एतच्चैवकारोप्यर्थः इत्यादिनाग्रे सूचयिष्यन्ति । तथा चोभयस्मिन्निति सौत्रं पदं सिद्धम् । **तिष्ठन्तीत्यादि** । अत्र चत्वारो लोकात्मका ब्रह्मपादाः सेत्स्यन्ति । **स्थितिपदेत्यादि** स्था इत्यत्राधिकरणे घञ् । स्थितिशब्दश्च लोकेषु रूढ इति भावः । **जनस्तप इत्यादि** अत्र सान्तः । **अमृतमित्यादि अमृतं** तु जनलोके सुखम् । तस्य स्वरूपतः स्थानतश्च नाशाभावात् । तथा च न विद्यते मृतं नाशो यस्येत्यमृतम् । तपोलोके तु क्षेममक्षेमदर्शनाभावात् । जनलोके तु महर्लोकात् पलाय्यागतानां दुःखितानां दर्शनरूपमक्षेमदर्शनमस्ति तपोलोके तु नैवमिति तत्सुखस्य क्षेमत्वम् । सत्यलोके तु सुखमभयरूपं मोक्षप्रत्यासन्नत्वादित्येवममृतादिभेदो ज्ञेयः । **आयातीति** 'यान्त्युष्मणा महर्लोकाज्जनं भृग्वादयोर्दिताः' इतिवाक्यात् महर्लोकेपि स्थानत्यागलक्षणस्य दुःखस्य विद्यमानत्वेनानित्यप्रायमेव सुखमिति भावः । श्रुत्येकवाक्यत्वायाहुः **अस्मिन्नित्यादि** । **सुप इति** सप्तमीबहुवचनस्येत्यर्थः । तथा च पादोस्य विश्वा भूतानीत्यस्य पादेषु स्थितिपदः पुंसो विश्वा भूतानि इत्यर्थः । **जन आदीति** जनपदं सकारान्तमत्र कश्चिच्च ग्रीवायां जनलोकोस्य इत्यादावकारान्तं पदमिति बोध्यम् । अमृतपदेन तात्पर्यानुपपत्त्यनुसंधानात्तदीयोपरितनत्वादिधर्मैः सादृश्याद्गौणी सारोपा । अत्र द्योतनाद्यतिशय एव प्रयोजनम् । गौर्वाहीक इतिवत् । द्यौर्जनःतपःसत्यानि हीति । **सुखत्रयेत्यादि** त्रिपादित्यस्य त्रिभिः पद्यते प्राप्यते इति त्रिपादिति विग्रहः । अत्रापि गौणी सारोपा । मृतममृताभयक्षेममिति ।

विद्यमानस्य दिवि विद्यमानत्वं न विरुध्यते । अतःशब्देन न तत्राविद्यमानत्वं किं तु ततोऽप्यन्यत्र सत्त्वं बोध्यते । तस्मात् सप्तमीपञ्चमीनिर्देशो न विरुद्धः । द्वितीये तु । ननु मन्त्रे अमृतपदमत्र ज्योतिःपदमत उपदेशभेदाच्चतुर्थश्च पादो

भाष्यप्रकाशः ।

एव ग्राह्य इति शङ्कायामाहुः पुरुषेत्यादि । एवकारोऽप्यर्थे । पूर्वस्यापि पादास्त्रय इत्युक्तरीत्या पुरुषसूक्तानुसारित्वात् । एवमभिप्रेत्य सूत्रं द्वेधा व्याकरिष्यन्त आहुः प्रथमे तावदित्यादि । प्रथम इति पुरःस्फूर्तिके तृतीये । पूर्वोक्तपरामर्शाभावादिति विभक्तिभेदेन मन्त्रोक्तस्य दिवृशब्दस्यास्मिन् प्रत्यभिज्ञाभावात् । सिद्धान्तग्रन्थे पञ्चम्याः कथं सर्वत्र विद्यमानताबोधकत्वमत आहुः अत इत्यादि । अतो दिव इत्युक्त्वा, सर्वतः पृष्ठेष्वित्यादिश्रावणेन पञ्चम्या ल्यब्लोपीयत्वे, इमं द्युलोकमारभ्येत्यर्थात् तथेत्यर्थः । अत्र सर्वे, वृक्षाग्रे श्येनो वृक्षाग्रात् परतः श्येन इति विभक्तिभेदेऽपि यथैकार्थ्यप्रत्यभिज्ञा तथात्रेति दृष्टान्तमात्रमाहुः । अत्र तु विभक्तिभेदस्य प्रयोजनमप्युक्तमिति विशेषः । द्वितीयपक्षेण व्याकर्तुं पूर्वपक्षमाहुः ननु मन्त्र इत्यादि । अन्यमप्युपदेशभेदमाहुः चतुर्थश्च पादो हृदयमिति । मन्त्रे लोकात्मकः पादः । ब्राह्मणस्य तु हृदयमुपक्रम्य पठितत्वाद् हृदयं पादत्वेन तत्र सिध्यतीत्युपदेशभेद इत्यर्थः ।

रश्मिः ।

पादास्त्रय इत्यादि । श्लोकस्तु ।

'पादास्त्रयो बहिश्चासन्नप्रजानां य आश्रमाः ।
अन्तस्त्रिलोक्यास्त्वपरो गृहमेधोऽबृहद्व्रतः' ॥ इति ।

श्लोकार्थस्तु चत्वारश्चाश्रमाः भगवतश्चत्वारः पादाः यतो भगवान् तानधितिष्ठति तत्र त्रयः पादाः ब्रह्मचारी वानप्रस्थः संन्यासी च ते त्रयोपि त्रिलोक्या बहिश्चासन् चकारेण स्वेच्छयान्तरेपि । न जायन्ते प्रजादिरूपेणेत्यप्रजाः गृहस्थव्यतिरिक्ताः । अपरो हीनः गृह एव मेधा बुद्धिर्यस्येति गृहमेधः । बृहत् स्थूलमूर्ध्वरेतोरूपं व्रतं यस्य नास्ति सोऽबृहद्व्रत इति । अस्मिन् पक्षे त्रिपादाश्रमत्रयात्मकः पुरुषः ऊर्ध्वे उपरितनामृतसुखार्थमुदैत् । उपरितनेषु जनस्तपःसत्येषु लोकेषु गतवान् । अस्य पादो गृहस्थाश्रमीह त्रिलोकीसुखार्थं पुनरभवात् पुनः पुनरुत्पन्न इति त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः इति श्रुत्यर्थः । एवमिति उपबृंहणेनैवं द्वेधा मन्त्रार्थमभिप्रेत्येत्यर्थः । प्रत्यभिज्ञेत्यादि अयं चोपदेशभेदादित्यस्यार्थः । उभयस्मिन् विभक्तिभेदादिना भिन्नविधेप्युपदेशे ब्रह्मवाक्यत्वस्याविरोधादिति सूत्रशेषार्थः । ल्यबित्यादि । ज्ञापित इति शेषः । सर्वे इति शंकराचार्यादयः । प्रयोजनमिति सप्तम्या तत्रैव विद्यमानत्वमुच्यते पञ्चम्या तु सर्वत्र तदिति अन्यत्र सत्त्वं प्रयोजनमित्यर्थः । लोकात्मक इति तावानिति मन्त्र उपष्टम्भकेन पुराणेन लोकात्मको लोकस्थिताश्रमस्थजीवात्मको वा पाद इत्यर्थः । लोकात्मकपदस्योपलक्षकत्वात् । ब्राह्मणस्येति तस्य ह वा एतस्य हृदयस्येति । हृदयमुपक्रम्याथ यदतः पर इति ब्राह्मणस्य पादस्य पठितत्वादित्यर्थः ।

हृदयम् । अतःशब्दाच सर्वस्मान्भेदः प्रतिपाद्यते । अत उपदेशभेदान्नैकवाक्यता अस्मिंश्च वाक्ये चरणाभावात् । स्वरूपासिद्धो हेतुरिति चेन्नैष दोषः उभयस्मिन् ज्योतिःपदे अमृतपदे च प्रयुज्यमाने एकार्थत्वान्न विरोधः । पाद-

भाष्यप्रकाशः ।

अन्यमपि भेदकमाहुः अतःशब्दादित्यादि । अत इत्यस्य पूर्वपरामर्शित्वात् पूर्वस्माद् भेदे प्रत्यायिते पूर्वोक्ताद् ब्रह्मणोऽपि सकाशाज्ज्योतिषो भिन्नत्वसिद्धिरित्यर्थः । अत इत्यादि एवं प्रकारत्रयेणैकदेशभेदान्मन्त्रब्राह्मणयोर्भिन्नार्थत्वेनोपदेशभेदादित्यर्थः । तेन सिद्धमाहुः अस्मिन्नि-त्यादि । ब्राह्मणवाक्ये तदभावादेकवाक्यत्वाभावेन मन्त्रतः प्राप्त्यभावाच्चेत्यर्थः । सिद्धान्तं व्याचक्षते नैष इत्यादि । एकार्थत्वादिति उभयोर्ब्रह्मवाचकत्वेनैकार्थत्वान्नैकवाक्यताविरोधः । ननु तथापि पादभेदेन विभागे साकाङ्क्षत्वाभावात् कथमेकवाक्यतेत्यत आहुः पादेत्यादि । आश्रमचतुष्टयस्थजीवानां पादत्वपक्षे लोकानां च पादत्वपक्षे यथायथं हृदयरूपं चरणस्थानं, पादान्तर्वर्ति ब्रह्म च ज्योतीरूपं सर्वत्रेति पादभेदेऽपि तदुपलक्षकस्य तदन्तःस्थितस्य च सार्वत्रिकत्वेनोभयत्रापेक्षणाद्विभागे साकाङ्क्षतायाः सत्त्वान्नैकवाक्यत्वभङ्ग इत्यर्थः । ननु

रश्मिः ।

पूर्वोक्तादिति गायत्री वा इदं सर्वमिति गायत्रीरूपादित्यर्थः । तेनेति एकवाक्यताभावसाधनेन । नचेति स्वरूपासिद्धत्वप्रकारेण हेतुरित्यर्थः । पादभेदेनेति मन्त्रब्राह्मणयोरिति शेषः । पादेत्यादीति अत्र मन्त्रब्राह्मणयोः पादत्रयमुपरितनलोकेषु जनस्तपःसत्येषु समानमेकवाक्यत्वादुभयोः पादान्त-र्ज्योतिः सर्वत्र ब्रह्मत्वात् न तु हृदयं न वा पञ्च स्वर्लोकपा न वा जीवाः नापि लोकाः अतश्चतुर्थत्वेन ज्योतिषो ह्युपादानं व्यर्थं सज्ज्ञापयति चतुर्थं सर्वत्रेति तत्कथमुपपद्यते । उच्यते । उभयस्मिन्नपि पक्षे चरणयोः बहुत्वविशिष्टजीवलोकयोः स्थानं हृदयं वाच्यं पदं यथायोग्यम् । जीवानां स्थानं हृदयं स्पष्टम् । लोकानां लोकृ दर्शन इति धातुपाठात् ज्ञानात्मकत्वे हृदयं योग्यं स्थानं च हृदयं स्वाभिन्नपञ्चसुष्यात्मकं ते च तेजोमनआकाशात्मानः इति चतुर्थं सर्वत्रेति सुष्ठूपपन्नम् । तेजआदीनां व्यापकत्वात् । पादानां विश्वामृतक्षेमाभयानां ब्राह्मणोदितानां मन्त्रोदितानां सर्वभूतपृथिवीशरीरहृदयानां च भेदेपि तदुपलक्षकस्य सुखत्रयोपलक्षकस्यामृतस्यामृतान्तःस्थित-स्यामृतत्वस्य सार्वत्रिकत्वात्त्रिपादस्यामृतं दिवीत्युभयत्र श्रवणात् । सार्वत्रिकपदं ज्ञापयति चान्यत्र पादेष्वप्येवम् । तथाहि पूर्वोक्तानि चतुश्चतुरंशकानि चत्वारि पादानि छान्दोग्यपाठानि । तत्र प्राचीदिक्कलादिष्वमृतत्वं परेण मृत्यतिक्रान्ता इति बृहदारण्यकश्रुतेः । पृथिवीकलादिषु अमृहद्रतः[1] 'भारतभूजयो वरम्' इति वाक्यात् । अग्निकलादिषु क्षेमं तुरीयचन्द्रप्रवेशात् । निरुक्ते वाय्वग्नि-सूर्येन्दूनां चन्द्रस्य तुरीयत्वात् । प्राणकलादिष्वभयम् । मनःप्रवेशात् । मनोमयो वेदः 'मनोमयं रूपमुपेत्य' इति वाक्यात् । वेदार्थस्तु 'यश्छन्दसामृषभो विश्वरूप' इति विश्वरूपपदसाहचर्या-च्छ्रेष्ठार्थं ऋषभः पूर्वं गौरुक्तो धर्मात्मा स्मृतस्तत्रापि छन्दोभ्योऽध्यमृतात्संबभूव समेन्द्रो मेधया स्पृणोतु अमृतस्य देवधारणो भूयासं इत्यमृतपदमुपलक्षकमिति तथा । वाक्सुषिर्नोक्तः पञ्चमः । तस्य व्यापकत्वं प्रसिद्धमिति तुरीयप्रतिपादिका वाक्सर्वत्र । तथा च मुण्डके चतुर्थं पादं ब्रह्मेति सर्वत्र । अथर्वशिखायां नादश्चतुर्थः पादः । सर्वत्रैवमिति । नूनमुभयस्मिन्मन्त्रब्राह्मणयोरविरोधचिन्ता

१. अमृहद्रता ।

त्रयमुपरितनलोकेषु चतुर्थं सर्वत्रेति । अन्यथा वैजात्यं पादानामापद्येत । परिच्छेद-विरोधश्च । अतोऽमृतज्योतिःशब्दयोरेकार्थत्वेन विरोधाभावादेकवाक्यत्वम् । अतोऽत्र चरणसद्भावात्तस्य च ब्रह्मधर्मत्वाज्ज्योतिर्ब्रह्मैव ॥ २६ ॥

इति प्रथमाध्याये प्रथमपादे नवमं ज्योतिश्चरणाधिकरणम् ॥ ९ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

स्पष्टस्य ब्रह्मधर्मस्यात्राभावेऽपि निर्बन्धेनैवं व्याख्याने का वोपपत्तिरित्यत आहुः अन्यथे-त्यादि । गायत्रीपरतया व्याख्याने गायत्र्याः छन्दस्त्वेन पादानां चार्थत्वेनांशांशिभावाङ्गीकारे वैजात्यं पादानामापद्येत । किंच । गायत्री परिच्छिन्ना । अत्र तु, सर्वतःपृष्ठेष्वित्यादिना परिच्छेदराहित्यं प्रतिपाद्यतेऽतः परिच्छेदविरोधश्च । तथाच गायत्रीपक्षे दोषद्वयसत्त्वं ब्रह्मपक्षे तदभावश्च व्याख्यानिर्बन्ध उपपत्तिरित्यर्थः । एवं सर्वमुपपाद्य सिद्धमाहुः अत इत्यादि । अत इति पक्षान्तरस्याघटमानत्वात् । अत इति एकवाक्यत्वस्य सिद्धत्वात् । तथाच प्रकरणस्य ब्राह्मत्वे सिद्धे ब्रह्मधर्मस्य तत्र सिद्धत्वादुपसंहारगतमपि ज्योतिःपदं ब्रह्मवाचकत्वेनैव सिद्धमतस्तथेत्यर्थः । अत्र पादवतीनां विद्यानां ब्रह्मस्वरूपपरत्वप्रतिपादनादध्यायसंगतिः । आश्रमचतुष्टयस्य जीवस्थितितद्भोग्यसुखरूपकार्यद्वारा तत्प्रतिपादनात् पादसंगतिः । ज्योतिषः स्थितिकार्यकत्वेन ब्रह्मलक्षणेऽतिव्याप्तौ प्राप्तायां तन्निवृत्त्यर्थं ज्योतिःपदे संदेहवारणादवसरोऽधि-

रश्मिः ।

अत्र तु न्यायप्राप्ता विपुलीकृता तेन सार्वत्रिकत्वेनोभयत्र मन्त्रब्राह्मणयोश्चतुर्थपादस्य ब्रह्मत्वेनैकरस-त्वादपेक्षणादित्यर्थः । वा इति वै निश्चयेनेत्यर्थे । शब्दात्मकं जगदिति पक्षे दोषाभावादाहुः किं चेति । गायत्रीत्यादि । परिच्छिन्नत्वमस्याः पर्यविद्ददशायाम् । सर्वत इत्यादिस्थले यद्यपि प्रथमत्यागे मानाभावाद्विश्वतःपृष्ठेष्वित्यादिनेति पाठ्यं तथापि विश्वशब्दस्य संकोचसहिष्णुत्वमत्र नास्तीति सर्वतःपृष्ठेष्विति व्याख्यातमतोऽसंदिग्धत्वादिदमेवोक्तम् । भाष्ये । एकवचनस्त्वमिति एकवाक्यत्वमित्यत्र पाठः एकब्रह्मवाचकत्वम् । प्रकृते । अत्राध्यायपादाधिकरणानां संगतयो न स्फुटा इति ता उपपादयन्ति स्म अत्र पादेत्यादिना अध्यायसंगतिः । पादवतीनां प्रणवादिविद्यानां मध्ये चतुर्थस्य पादस्य ब्रह्मत्वेन तत्प्रतिपादकवाक्यस्य ब्रह्मणि समन्वयात् समन्वयाध्यायसाधिकरणेन संगतिर्निर्वाहकत्वलक्षणा संगतिः समन्वयाध्यायस्याधिकरणस्य वचनं संगतमित्यर्थः । तत्प्रति-पादनात् कार्यप्रतिपादनात् । पादसमिति तथा चात्रापि कार्यप्रतिपादकस्य ब्रह्मणि समन्वयात् न कार्यसमन्वयरूपपादार्थ संगतिरित्यर्थः । ज्योतिष इत्यादि । अयमाशयः । जन्माद्यधिकरणे यद्यप्याकाशजन्मकर्तृत्वं ब्रह्मलक्षणत्वेन निष्कृष्टम् । तस्यापि ब्रह्मासाधारणधर्मत्वात् । तथाप्युप-लक्षणविधया तत्स्थितिकर्तृत्वं तल्लयकर्तृत्वं च सिध्यति तथा चैतन्मिलितं सदेव लक्षणमिति न । किं तु पृथक् पृथक् । किं चाधिकरणानां न्यायरूपत्वेन यतो वा इमानि भूतानीत्यत्राप्ययं न्यायः प्रवर्तेत इति स्थितिकर्तृत्वस्य ब्रह्मलक्षणस्य ज्योतिष्यतिव्याप्तौ प्राप्तायामिति । संदेहेत्यादि ब्रह्मपरत्वव्यवस्थापनेनान्यपरत्वसंदेहवारणात् । अथेत्यादि धर्मिनिरूपकाधिकरणैः प्रतिबन्धकी-भूतजिज्ञासानिवृत्तौ धर्मेऽतिव्याप्तिवारणावसरः । वृत्तौ त्वत्र ज्योतिषोऽन्तःपुरुष उपसंहृतत्वेन स यश्चायं पुरुषे इत्यानन्दमयाधिकरणे विषयवाक्ये श्रावितस्य पुरुषान्तःस्थस्यात्र निर्णयादुपोद्घात

प्राणस्तथाऽनुगमात् ॥ २७ ॥ (१-१-१०)

अस्ति कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदि इन्द्रप्रतर्दनसंवादः । प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरित्यादिना, एष लोकपाल एष लोकाधिपतिरेष लोकेशः स म आत्मेति विद्यात् स म आत्मेति विद्यादित्येतदन्तम् । तत्र वरदाने मामेव विजानीह्येतदेवाहं मनुष्याय हिततमं मन्य इत्युपक्रम्य त्वाष्ट्रवधादिनात्मानं प्रशस्य स्वोपासनायाः पापाभावं फलत्वेन प्रतिपाद्य कस्त्वमिति विवक्षायां, प्राणो वा अहमस्मि प्रज्ञात्मानं मामायुरमृतमित्युपास्स्वेत्युक्त्वा आयुषः प्राणत्वमुपपाद्यामृतत्वं च प्राणस्योपपाद्य, प्राणेन ह्येवामुष्मिँल्लोके अमृतत्वमाप्नोतीति, अमृतत्वं योगेन प्रतिपादयति । तत्र संदेहः । प्राणः किमाासन्यो ब्रह्म वेति ।

भाष्यप्रकाशः ।

करणसंगतिः । तेनापो वा इदृ१ सर्वमित्यादावप्ययं न्यायो बोध्यत इति न न्यूनता ।

माध्वास्त्वत्राधिकरणद्वयमङ्गीकुर्वन्ति । तत्र प्रथमसूत्रस्याभिसूक्तं विषयवाक्यम् । ‘वि मे कर्णा पतयतो विचक्षुर्वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत् । वि मे मनश्चरति आ धीः किंस्विद् वक्ष्यामि किमनूमनिष्ये’ इति । अत्र विशब्दो विरुद्धार्थकः । पतयत इति पततो विरुद्धं चरत इत्यर्थः । इदं चरणं हेतुः । शेषं समानम् । वस्तुतस्त्वत्र विचरणमुक्तं न तु चरणमतश्चिन्त्यम् । छन्दोऽभिधानादिति त्रिसूत्रमधिकरणान्तरम् । तत्र छान्दोग्यस्थमुक्तमेव विषयवाक्यम् । समानमितरत् । अत्रापि सूत्रे साध्यानुल्लेखात् सूत्रकृदाशयगोचरत्वं संदिग्धम् ॥ २६ ॥ ९ ॥

इति नवमं ज्योतिश्चरणाधिकरणम् ॥ ९ ॥

प्राणस्तथाऽनुगमात् ॥ २७ ॥ विषयवाक्यमुदाहरन्ति अस्तीत्यादि । तथाच संपूर्णः पञ्चमाध्यायोऽत्र विषयवाक्यमित्यर्थः । कथमस्य विषयत्वमित्याकाङ्क्षायामेतदर्थं वदन्तो मतान्तरीयाः सर्वेऽपि, मुख्यः प्राणो वा देवतात्मा वा, जीवो वा, ब्रह्म वेति चतुष्कोटिके संशयं वदन्तीति ततो वैलक्षण्यबोधनाय व्युत्पाद्याहुः तत्र वरेत्यादि । योगेनेति प्राण-

रश्मिः ।

एव संगतिरित्युक्तम् । न न्यूनतेति न्यूनतारूपनिग्रहस्थानं नेत्यर्थः । अतिदेशाधिकरणोपान्ते इदं रश्मौ प्रोक्तम् । अत्र त्वत्रेति । श्रुताविदं परिदृश्यमानं जगत् । अत एव सुबोधिन्यां अपात्मा नारायण इति निरुक्तम् । वि म इत्यादि मे मम कर्णो । आवोडा कर्णावित्यर्थः । चक्षुर्विचरति इदं ज्योतिर्विचरति मे मम मनश्च विचरति । आ तन्मर्यादीकृत्य धीश्चरति तदप्राप्य किं स्विद्वक्ष्यामि मया ‘नु’ इति वितर्के किमनुमनिष्ये अवबोधं करिष्ये इति श्रुत्यर्थः । माध्वाचार्यमते इदं ज्योतिर्हृदये व्याहितं यत्तल्लक्ष्मीकृत्येति विशेषः । विष्णुरेव ज्योतिः कर्णादीनां विचरणाभिधानादिति भाष्यात् । उक्तमिति सर्वोद्धृतम् । साध्यानुल्लेखादिति छन्दोभिधानादित्यस्य हेतुत्वादिति भावः । संदिग्धमिति । सर्वत्राधिकरणारम्भे साध्यशून्यस्य सूत्रस्यादर्शनादधिकरणत्वांशे संदिग्धमित्यर्थः ॥ २६ ॥

इति नवमं ज्योतिश्चरणाधिकरणम् ॥ ९ ॥

प्राणस्तथानुगमात् ॥ २७ ॥ प्राणपदस्य बहुवचनान्तता प्रायशः । प्राणा इति भाष्यपुस्तकान्तरे बहुवचनान्तप्राणशब्दप्रयोगात् । पञ्चमेत्यादि पञ्चमाध्यायो द्रष्टव्यः । तत्र वरे-त्यादीति श्रुत्यर्थशेषेण समम् । श्रुत्यर्थस्तु दिवोदासस्यापत्यं दैवोदासिः स इन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम

१. अत्र प्रकाशे; अत्राधिकरणोपान्ते ।

‘अत एव प्राण’ इत्यत्र प्राणशब्दमात्रे संदेहः । अत्रार्थेऽपि संदेहः । बाधकं च वर्तत इति पृथगधिकरणारम्भः । तत्र साधकासाधारणधर्मस्याभावाद् बाधकानां विद्यमानत्वान्न ब्रह्मत्वमिति पूर्वः पक्षः । सिद्धान्तस्तु चतुर्भिः सूत्रैः प्रतिपाद्यते । तत्र प्रथमं साधकधर्ममाहैकेन । त्रिभिर्बाधकनिराकरणम् । प्राणः परमात्मा भवितुमर्हति । कुतः । तथाऽनुगमात् । तथाहि । पौर्वापर्येण पर्यालोच्यमाने वाक्ये पदार्थानां समन्वयो ब्रह्मप्रतिपादनपर उपलभ्यते ।

भाष्यप्रकाशः ।

संयोगेन । तथा चेन्द्रेण स्वस्मिन् प्राणत्वस्यैवोपपादितत्वेन प्रज्ञापदस्य बुद्धिवाचकतया चेतनधर्मार्णा तत्रोपचरितत्वाद् द्विकोटिक एव युक्त इत्यर्थः । ननु चतुष्कोटिक एव युक्तोऽन्यथा पूर्वाधिकरणेनास्य गतार्थत्वं स्यादित्यत आहुः अत एवेत्यादि । उक्ताधिकरणे विषयवाक्ये ब्रह्मलिङ्गस्य विद्यमानत्वात् प्राणशब्दः कथं प्रयुक्त इति प्राणशब्दमात्रे संदेहः । अत्र तु प्राणे प्रज्ञात्मत्वकथनादायुष्ट्वोपपादनाच्चासन्यो वा, जीवो वेति प्राणशब्दार्थे संदेहः । किंच जीवमुख्यप्राणलिङ्गादिकं बाधकं वर्तत इत्यतस्तथेत्यर्थः । युक्तिपूर्वकं पूर्वपक्षमाहुः तत्र साधके-त्यादि । कथमेवमित्यत आहुः तत्र प्रथममित्यादि । सूत्रं व्याकुर्वन्ति प्राण इत्यादि ।

रश्मिः ।

युद्धेन च पौरुषेण युद्धकारणपुरुषार्थप्रदर्शनेनेत्यर्थः । तमवलोक्येन्द्रो वक्ति प्रतर्दन ते वरं दास्यामीति तदा सहोवाच प्रतर्दनः हे इन्द्र त्वमेव वरं वृणीष्व यत्त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे इति । एवमुक्त इन्द्रो वरदाने ‘मामेव विजानीहि एतदेवाहं मनुष्याय हिततमं मन्ये’ इति स्वोपासनमुक्तवान् । ततश्च त्वाष्ट्रवधादिनात्मानं प्रशस्य स्वोपासनाफलं पापाभावं भणितवान् । एवमैन्द्रगुणविशिष्टोपासनोक्ता । ततः कस्त्वमित्यपेक्षायां प्राणो वेत्यादिना प्राणगुणकां द्वितीयोपासनामुक्तवान् । प्राणस्यायुष्ट्वं तु प्राणो हि भूतानामायुरिति तैत्तिरीयश्रुतेः । स्फुटमग्रिमम् । संयोगेनेति यद्यपि प्राणितीति प्राणः न मृतं येन तदमृतमिति योगेनेत्यर्थः । तथापि सम्यग् योगेन ब्रह्मत्वादित्यर्थः । त्रयाणामेककोटिपातित्वेन द्विकोटिकत्वमित्याहुः तथा चेति । एवकारेण प्राणव्यवच्छेदः । उपपादितत्वेनेति अयं प्रज्ञेत्यादौ हेतुः तथा च धर्मोपपादनं प्रसङ्गः सिद्ध इति भावः । प्रज्ञा ब्रह्मरूपा धर्मिरूपापि कोशात्तस्याः प्रसङ्गो वारितः । प्रज्ञा देवतात्मन्यस्येत्येवं सति संभवति न प्रज्ञात्मेति भावः । किंत्वात्मधर्मः प्रज्ञा वेदार्थं इन्द्रे वेदान्तार्थः । तत्रेति इन्द्रजीवे प्राणरूपे । उपचरितत्वादिति तथा च मनोधर्मरूपायाः प्रज्ञाया एकार्थप्रत्यासत्त्या जीवेन्द्रधर्मरूपत्वम् । प्रज्ञापदेन जीवो गृहीत इति भावः । जीवो वेति अत्र त्रिकोटिकः संशयः फलति । एवं च भाष्ये प्राणपदं जीवस्याप्युपलक्षकमिति भावः । यद्वा । प्राणे प्रज्ञात्मत्वोक्तेर्जीवप्राणयोरैक्याद् द्विकोटिकः संशयः इति भावः । एवं च भाष्य इन्द्रः प्राण इति लक्षणया प्रतीत्या प्रज्ञापदं च जीवधर्मवाचकमित्युक्तरीत्या द्विकोटिक एवेति भाष्याशयः । प्राणपदस्य जीवे देवतायां च शक्त्यभावादाहुः एवेति । तत्र साधकेत्यादि । अत्र भाष्ये अमृतत्वपापाभावरूपसाधारणधर्मदर्शनादसाधारणेति धर्मविशेषणम् । बाधकानि प्राणप्रशंसारूपाणि

उपक्रमे तावद् वरं वृणीष्वेति इन्द्रः प्रतर्दनोक्तः परमपुरुषार्थं वरमुपचिक्षेप। त्वमेव मे वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यस इति। तस्मै हिततमत्वेनोपदिश्यमानः प्राणः कथं परमात्मा न स्यात्। न हि परमात्मनोऽन्यद्धिततममस्ति। परमानन्दस्वरूपत्वात्। पापाभावश्च ब्रह्मविज्ञान एव। 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' इति श्रुतेः। प्रज्ञात्मत्वं च तस्यैव संभवति। उपसंहारेऽप्यानन्दोऽजरोऽमृत इति, एष लोकाधिपतिरित्यादि च। तस्मात् सर्वत्रानुगमात् प्राणो ब्रह्म ॥ २७ ॥

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसंबन्धभूमा ह्यस्मिन् ॥ २८ ॥

बाधकमाह। यदुच्यते प्राणो ब्रह्मेति, तन्न। कुतः। वक्तुरात्मोपदेशात्। वक्ता हीन्द्र आत्मानमुपदिशति। मामेव विजानीहीत्युपक्रम्य प्राणो वा अहमस्मि प्रज्ञात्मानं मामायुरमृतमित्युपास्वेति। स एष प्राणो वक्तुरात्मत्वेनोपदिश्यमानः कथं ब्रह्म स्यात्। तथाच वाचो धेनुत्वोपासनवद्देवतायाः प्राणत्वोपासना बोध्यते।

अन्ये च ब्रह्मधर्माः प्राणस्तावका इति कथमस्य ब्रह्मोपाख्यानत्वमिति

भाष्यप्रकाशः।

तथा ब्रह्मपरत्वेऽनुगमात् पदार्थानां समन्वयादिति सूत्रार्थ इति तमुपपादयन्ति उपक्रम इत्यादि। संभवतीति चिद्रूपत्वात् संभवति। सर्वत्रानुगमादिति आद्यन्तं पदार्थानां ब्रह्मधर्मत्वेनैव समन्वयात्। एवं साधकधर्मो व्याख्यातः ॥ २७ ॥

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसंबन्धभूमा ह्यस्मिन् ॥ २८ ॥ बाधकमाहेति सूत्रांशेनाहेत्यर्थः। उपदिशतीति मामित्यहंकारवादेनोपदिशति। ब्रह्मधर्मा इति

रश्मिः।

ज्ञेयानि। उपक्रम इत्यादि। अत्र भाष्ये नहीत्यादि वाक्यान्वयाधिकरणे स्फुटमिदम्। कर्मक्षयः पापक्षयः कारणनाशे कार्यनाशात् ॥ २७ ॥

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसंबन्धभूमा ह्यस्मिन् ॥ २८ ॥ अयमाभासो न सूत्रस्येत्याहुः सूत्रांशेनेति वस्तुतस्तु बाधस्य पूर्वपक्षान्तर्गतार्थमात्रवृत्तित्वेन सूत्रे च बाधांशश्च तयोः समाहारः सूत्रांशं तेनेत्यर्थः। अहमित्यादि। [अस्मत्प्रत्ययगोचरोऽथवा सुवर्णघनवत् विज्ञानचिन्मात्रस्वभाव आत्मा यदावभासते तदा त्वंपदार्थप्रत्यगात्मा] अयं वादो न भवति अनात्मनो देहादीनभिमन्यते सोभिमानः। आत्मनो बन्ध इति बन्धे पर्यवसानात् वादस्य मोक्षे पर्यवसानात् इति चेन्नैवम्। अहंनामाभवदिति पुरुषविधब्राह्मणात्। अहमिति ब्रह्मणि सति यौगिकं सत्तार्थस्यास्तेर्मदिक्। रूढमिति माध्वाः तथा च स्मृतिः 'अहं सर्वस्य प्रभवः' 'अहमेवासमेवाग्रे' इति च। तं करोतीत्यहंकारः। पुरुषविधः तस्य वादो मोक्षपर्यवसायीति अहंकारवादः। स यत्पूर्वोऽस्मात्सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मनः औषत् तस्मात् पुरुष इति श्रुतिः। आत्मवादः। ब्रह्मवादः पूर्वमुक्तः। द्वन्द्वप्रयोगादुभयं युक्तम्। शीतोष्णसुखदुःखादिवत्। तथा च श्रुती 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' इति च। पुरुषविधब्राह्मणे।

चेन्न। अध्यात्मसंबन्धभूमा ह्यस्मिन्। अस्मिन् प्रकरणे अध्यात्मसंबन्धः। आत्मानमधिकृत्य यः संबन्धः। आत्मशब्दो ब्रह्मवाची। वस्तुतो जीवस्य ब्रह्मत्वाय तथा वचः। तस्य संबन्धः। तद्धर्माः। तेषां बाहुल्यं प्रतीयते। एष लोकपाल इत्यादि। यावद् यथाकथंचिदपि ब्रह्मप्रकरणत्वं सिध्यति, तावदन्यप्रकरणत्वमयुक्तमिति हिशब्दार्थः। प्राणस्य प्रज्ञात्मत्वम्। स्वातन्त्र्येणायु-

---

भाष्यप्रकाशः।

पूर्वसूत्रव्याख्यान उक्ताः। निराकरणांशं व्याकुर्वन्ति अस्मिन्नित्यादि। अधिकृत्येति अधिराधिषये। अधिकं कृत्वा। आत्मपदार्थस्य संदिग्धत्वादाहुः आत्मेत्यादि। ननु तर्हि ब्रह्मपदमेवास्मिन् सूत्रे कुतो नोक्तमत आहुः वस्तुत इत्यादि। ऐकात्म्यवादेन जीवस्य ब्रह्मत्वं बोधयितुमात्मपदम्। अत एव सूत्रे परिहारांशप्रयोगो नकारस्य न कृतः। संबन्ध इति सम्यग् बन्धोऽस्याऽसौ संबन्धः। तथाच जीवात्मनः सकाशात् परमात्मानमधिकं कृत्वा तद्धर्मबाहुल्यमस्मिन् प्रकरणे प्रतीयते। अतोऽत्र बहूनामनुग्रहस्य न्याय्यत्वात् प्राणः परमात्मेत्यर्थः। ननु किमित्येवं निर्बन्ध इत्यत आहुः यावदित्यादि। तथाच पूर्वसूत्रे साधकहेतुमुक्त्वाऽत्र हिशब्दकथनात्, सर्वे वेदा यत् पदमिति श्रुत्यनुरोधेन निर्बन्ध इत्यर्थः। तदुपपादयन्ति प्राणस्येरश्मिः।

'निर्धर्मको वा भिन्नो वा निरोधं कुरुते यदि।
तदा निरोधो व्यर्थः स्यादित्येवं षड्गुणाभिधा' ॥

इति गुणप्रकरणकारिका। अहंकारस्तु

'ततो विकुर्वतो जातो योऽहंकारो विमोहनः।
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिवृत् ॥
तन्मात्रेन्द्रियमनसां कारणं चिदचिन्मयः'। इति।

ततो महतो विकुर्वतः कालेन क्षुब्धगुणात्त्रिवृत् त्रिव्यूहः चिदचिन्मयः चिदाभासत्वाच्चिदचिद्ग्रन्थिरूप इति भेदः। ऐकात्म्येत्यादि वस्तुत इत्यस्यार्थः। यतो वस्त्वैकात्म्यं श्रुत्युक्तत्वात् विभक्तिस्तु तृतीया प्रत्ययस्य सार्वविभक्तिकत्वात्। यागाय याति इत्यस्य यष्टुं यातीति विवरणवत्। अत्राहुः ब्रह्मत्वमित्यादि। वादशब्देन भक्त्यर्थमैकात्म्यं यत्तन्निवर्त्यते द्वितीयाध्याये भोक्त्रापत्तिसूत्रे ब्रह्मणो निर्विशेषस्य कारणत्वादिति भाष्येण सिद्धं गृह्यते। स च शारीरब्राह्मणे अणुः पन्थाः विततः पुराणो मांस्पृष्टो वित्तो मयैव तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः उत्क्रम्य स्वर्गं लोकमितो विमुक्ताः। अग्रे यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्मा अस्मिन् संदेहे गहने प्रविष्टः स विश्वकृत् स हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोकः स उ लोक एवेति प्रोक्तः। दहराधिकरणे जीवब्रह्मवादः स तु तत्रैव दूषितः। अत एवेति ब्रह्मजीवयोरंशांशिभावेनैक्यात् तद्धर्माणां ब्रह्मधर्मत्वादेव वक्तुरात्मोपदेशादिति चेन्नाध्यात्मसंबन्धभूमा ह्यस्मिन्निति न सूत्रितमित्यर्थः। तथा सति ब्रह्मजीवैक्यं सर्वथा व्यासचरणैर्निषिद्धं स्यादिति भावः। संबन्धशब्दस्यासाधारणधर्मवाचकत्वं वक्तुं योगमाहुः सम्यगित्यादि। बन्ध इति बन्ध संयमन इति धातोर्घञि निष्पन्नः। तथा च सम्यक् बन्धो नियम आधेयत्वेन यस्य स धर्मः संबन्धपदवाच्य इत्यर्थः। एतेन सिद्धमाहुः तथाचेत्यादि। प्रतीयत इति ते च धर्माः परमहितत्वभ्रूणहत्यादिरूपमहापापनिवर्तकत्वलोकपालत्वादिरूपा बोध्याः। हिशब्देत्यादि

वीतृत्वम्। न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यादिति चोपक्रम्य, तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता, नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः, प्रज्ञामात्राः प्राणे अर्पिताः। स एष (प्राण एव) प्रज्ञात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृतो न साधुना कर्मणेत्यादिविषयेन्द्रियव्यवहारे अरनाभिभूतं प्रत्यगात्मानमेवोपसंहरति। स म आत्मेति विद्यादिति चोपसंहारः। तस्मादध्यात्मसंबन्धबाहुल्याद् ब्रह्मोपदेश एवायम्॥ २८॥

तर्हि बाधकस्य का गतिरित्यत आह।

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्॥ २९॥

पूर्वसूत्रेणापरिहृतमत्र परिहरति तुशब्दः। अयं दोषो व्यवहारदृष्ट्योपदेशे। अहं ब्रह्मेत्यार्षेण दर्शनेन तूपदेशः। ननु, तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्मेति वाक्येषु जीवस्य ब्रह्मत्वं बोध्यते। तत्र प्रत्यधिकारं शास्त्रप्रवृत्तिरिति न्यायेन स्वात्मन एव ब्रह्मत्वावगतिर्मुख्या। न प्रतर्दनस्येन्द्रजीवब्रह्मत्वावगतिरुपासनं वा पुरुषार्थाय। अतः शास्त्रदृष्टिरपि नैवंविधा। केवलस्य चैतन्यमात्रस्य

भाष्यप्रकाशः।

त्यादि। भूतमात्राः शब्दादयः। प्रज्ञामात्रा ज्ञानेन्द्रियांशाः। तस्मादिति प्रज्ञात्मत्वाद्युपदेशात्॥ २८॥

तर्हीत्यादि प्रकरणस्य ब्रह्मपरत्वाङ्गीकारे। वक्त्रा इन्द्रेण यः स्वात्मोपदेशः कृतस्तस्य बाधकस्य क उद्धरणप्रकार इत्यर्थः।

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्॥ २९॥ व्याकुर्वन्ति पूर्वेत्यादि। अयं दोष इति स्वात्मोपदेशरूपो दोषः। तथाचार्षज्ञानेन स्वात्मानं ब्रह्मात्मकमवगत्येन्द्रेणैवमुपदिष्टमतोऽत्रैवं प्रकारभेदे भासमानेऽपि ब्रह्मण एवोपदेशाज्ञानेनान्यथा संभावयितुं शक्यमित्यर्थः। कथमेवमवगम्यत इत्यपेक्षायां दृष्टान्तमवतारयन्ति नन्वित्यादि। प्रत्यधिकारमिति अधिकारं लक्षीकृत्य। नैवंविधेति। नेन्द्रजीवस्य ब्रह्मत्वबोधनपरा। तर्हि, न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यादित्यग्रे श्रावणाज्जीवसामान्य एव शास्त्रदृष्टिरस्त्वित्याशङ्क्याह केवलस्येत्यादि। सर्वज्ञत्वाज्ञत्वादीनां धर्माणां परस्परविरोधाद्भागत्यागलक्षणया निर्विशेषस्य

रश्मिः।

अस्यार्थस्य युक्तत्वं हिशब्दस्य वाच्योर्थः। आसन्यपक्षे सर्वत्र गौणाद्यापत्तिरिति सूचितोर्थः भाष्ये ज्ञेयः। विशिष्यार्थस्याधिकरणसमासौ वक्तव्यत्वात्। अर्थसंक्षेपमाहुः भूतमात्रेति। यथा रथस्यारेष्विति 'आरं शीघ्रे च चक्राङ्गे शीघ्रगे पुनरन्यवत्' इति विश्वाच्चक्राङ्गेषु। नेमिरिति 'नेमिस्त्रिकायां कूपस्य चक्रान्ते तिनिशद्रुमे' इति विश्वाच्चक्रान्तम्। नाभाविति 'नाभिः प्रभावे कस्तूरीमदे च क्वचिदीरितः' इति विश्वाच्चक्रप्रधानेऽङ्गे। विषयेन्द्रियेति विषया भूतमात्राः। इन्द्रियाणि प्रज्ञामात्राः॥ २८॥

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्॥ २९॥ पूर्वेत्यादीति पूर्वसूत्रेणापरिहृतमिति द्वितीयः पाठः प्रथमे भाष्ये न परिहृतमित्यत्र नैकधेत्यादिवत् नशब्देन सह सुप्सुपेतिसमासात् 'न लोपो नञः' इत्यनेन न नलोपः। एवमिति मामेव जानीहीत्येवम्। अन्यथेत्यादि यद्यत्र ब्रह्मण्येवाभिप्रायः स्यात् नाहंकारवादेनोपदिशेदतोऽत्र ब्रह्मातिरिक्तं किंचिदुपदिष्टमित्येवमन्यथा संभावयितुमित्यर्थः। लक्षीकृत्येति यथाधिकारमिति यावत्। वक्तारमिति जीवम्। विरोधादिति

तादृशो ब्रह्मण्यैक्यावगतिर्विरोधात्तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थोऽध्यवसीयते। न तु ब्रह्मधर्मा जीवे वक्तुं शक्यन्त इत्याशङ्क्य परिहरति। वामदेववत्। तद्धैतत् पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्चेति। य एव प्रत्यबुध्यत स सर्वं भवति। तत्र सर्वेषां सर्वभावे सर्वानन्त्यप्रसङ्गात् सर्वमेकमेवेति वक्तव्यम्।

ततः कारणलय एव सर्वभाव इति मनुरभवं सूर्यश्चेत्यवयुत्यानुवादोऽ-

भाष्यप्रकाशः।

चैतन्यमात्रस्य जीवस्य निर्विशेषे चैतन्यमात्रे ब्रह्मण्यैक्यावगतिस्तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थ इति निश्चीयते। न स्वानन्दाऽजराऽमरत्वादयो ब्रह्मधर्मा ऐक्यावगतिविरोधिनस्तत्र जीवे वक्तुं शक्यन्ते। अतोऽत्र वक्तृत्वादिवैशिष्ट्यस्योक्त्या केवलस्यात्राविवक्षितत्वाद् ब्रह्मणोऽपि तादृशत्वेनात्राविवक्षितत्वाज्जीवसामान्ये शास्त्रदृष्टिरपि न वक्तुं शक्येति नायं समाधिरुपपन्न इत्यर्थः। परिहारं व्याकर्तुं दृष्टान्तं व्याकुर्वन्ति तद्धैतदित्यादि। इदं बृहदारण्यके पुरुषविधब्राह्मणस्थं वाक्यम्। तत्रेति अस्मिन् वाक्ये। एकमेवेति ब्रह्मात्मकतयैकमेव। कारणलय इति कारणे ब्रह्मणि लये। अवयुत्यानुवादोऽनुपपन्न इति। स्वसर्वत्वविध्वंसं पृथक्कृत्य मन्वाद्यनुवादः स्वस्य

रश्मिः।

भाष्यानुवादः। भागत्याग इत्यारभ्य निश्चीयत इत्यन्तम्। सर्वोपनिषदि 'सर्वोपाधिविनिर्मुक्तः सुवर्णघनवद्विज्ञानचिन्मात्रस्वभाव आत्मा यदावभासते तदा त्वंपदार्थः प्रत्यगात्मेत्युच्यते'। 'त्वंपदार्थादौपाधिकाद्विलक्षण आकाशवत्सूक्ष्मः केवलः सत्तामात्रस्तत्पदार्थश्चात्मेत्युच्यते' इति श्रुत्योर्निर्विशेषस्येत्यादिरर्थः। 'कर्मानुसारी भूत्वा प्राप्तशरीरसंबन्धवियोगमप्राप्तशरीरसंबन्धमिव कुर्वाणो यदा दृश्यते तदोपहितत्वाज्जीव इत्युच्यते'। अत्र भागत्यागस्तथा 'ब्रह्मादिपिपीलिकापर्यन्तसर्वप्राणिबुद्धिरष्टविशिष्टतयोपलभ्यमानः सर्वप्राणिबुद्धिस्थो यदा तदा कूटस्थ इत्युच्यते'। 'कूटस्थाद्युपरहिताभेदानां स्वरूपलाभहेतुर्भूत्वा मणिगणं सूत्रमिव सर्वक्षेत्रेष्वनुस्यूतत्वेन यदा प्रकाशते आत्मा तदान्तर्यामीत्युच्यते' अत्र भागत्यागश्च यथा गङ्गायां घोष इत्यत्र यथावद्भागत्यागेन लक्षणा भागत्यागलक्षणा भागस्य त्यागो यस्यां सा चासौ लक्षणा चेत्यत्र गौरवम्। वरानेकपदलक्षणातो ह्येकपदलक्षणेति। आत्मा द्वितीयैकवचनान्तयुष्मत्पदार्थोऽणुः 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश' इति श्रुतेः। भाष्यं व्याख्याय फलितमाहुः अतोऽत्रेत्यादिना। तादृशत्वेनेति केवलत्वेन। न वक्तुमित्यादि तथा च यद्यत्र भागत्यागलक्षणया केवलस्य चैतन्यमात्रस्य ज्ञापनादिकं विवक्षितं स्याद् ब्रह्मधर्मा अत्र नोक्ताः स्युरिति भावः। भाष्ये वामदेववदिति इतिकरणमन्तरापि सूत्रप्रतीकत्वं 'सर्वं विष्णुमयम्' इत्यस्य प्रक्षिप्ताध्यायसुबोधिन्या विष्णुपुराणवाक्यप्रतीकत्ववत्। प्रकृते। कारण इत्यादि साकारब्रह्मत्वात् कृतकानुरोधेन तादृशताऽक्षरब्रह्मणि लयो बोध्यः। स्वसर्वत्वेत्यादि स्वसर्वत्वप्रयोजकविध्वंसं कथं नु मात्मन एव जनयित्वा संभवाति हन्त तिरोभावीतीति पूर्वोक्तप्रकारस्यात्राप्यनुकर्षात्तत्र संभवातीति लेटोक्तं विध्वंसं यद्वा स सर्वं भवतीत्यत्र लेडाश्रयणात् भवातीति पाठाद् वा विध्वंसं पृथक्कृत्य यद्यपि सारस्वतीयधातुपाठे ष्णु मिश्रण इत्येव तथापि धातुतरङ्गिण्यां तट्टीकायाममिश्रणे च सिद्धान्तकौमुद्याममिश्रण इत्यन्य इति निरुक्तेः साधुः। संभवातीत्यस्य

१. प्रकृतबोधे यद्वा रेषु अव्यक्तवाची भ्वादिरात्मनेपदी सेट्। यद्वा रिषु हिंसायां भ्वादिः परस्मैपदी सेट्। यद्वा रूष रोषे दिवादिस्तुदादिश्च परस्मैपदिनौ सेटौ। वर्णविकारः सर्वत्र बोध्यः।

नुपपन्नः। तत्र यथा ज्ञानावेशात् सर्वधर्मस्फूर्तिरेवमत्रापि ब्रह्मावेशादुपदेश इति।

भाष्यप्रकाशः।

ब्रह्मणि लीनत्वादनुपपन्नः। न प्रेत्य संज्ञास्तीति श्रुत्यन्तरे ब्रह्मभूतानां भिन्नतया स्वानुसंधानाभावबोधनात्। तर्हि कथमेवमुक्तं तत्राहुः तत्र यथेत्यादि। ब्रह्मावेशादिति शास्त्राभ्यास-

रश्मिः।

संभोगं कुरुतादिति पूर्वत्रार्थः। प्रकृते तु मा मामात्मन एव जनयित्वा कथं नु संभवाति सम्यक् प्रकारेणैक्यप्रकारेणाभक्तिमार्गीयेण भवाति भवतात् सत्तां कुरुतादित्यर्थः। हन्तेति खेदे। तिरोसानि रूपान्तरेण तिरोभूतो भविष्यामीति अथवा स्वसर्वेत्यत्रेयं प्रक्रिया। भू सत्तायां लेट् 'लिङर्थे लेट्' इति सूत्रात् लेटस्तिप् भूति इति स्थिते 'सिब्बहुलं लेटी'त्यतः सिप इल्लोपे कृते भूसति इति स्थिते 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' इत्यनेनेतो लोपे भूसत् इति स्थिते 'लेटोडाटौ' इति सूत्रेणाट् टित्वादाद्यः भूस् अत् 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इत्यनेन सिब्बहुलं णिद्वक्तव्यः इति वार्तिकेन सिपि णिति वृद्धौ चेट्। भाव इस् अत्। अज्भीनं परेण संयोज्यमिति भाविसत्। षत्वे भाविषत्। प्रण आयूंषि तारिषत् इतिवत्। सिप् इलोपस्य चाभावे पताति विद्युत् प्रियः सूर्ये प्रियो अग्ना भवातीतिवत्। सिप इलोपस्याटश्चाभावे सर्वं भवतीति। ननु यत्र सिबिलोपौ तत्रैव ह्याट्। तारिषत् ज्योषिषदासाविषत् इत्यत्र यथा यत्र तु सिबिलोपौ न स्तस्तत्र ह्याट् यथा पताति भवातीति ह्यत्र तु सिबिलोपाभावेन कथमट् किंत्वाटा भाव्यमिति चेत्सत्यम् उदाहरणापेक्षया सूत्रमतस्य प्राबल्यं चुरादिगणे मनोरमायां मानन्दित्यत्रोक्तत्वात्। 'लेटोडाटौ' इति सूत्रे वृत्तौ वास्य विशेषस्यानुपलम्भात्। वृत्तिस्तु लेटः अट् आट् एतावागमौ स्तस्तौ च पिताविति। भक्तिमार्गीयांशस्य पृथक्कृतत्वात्, ज्ञानिवेलायां द्वितीयपक्षे ज्ञानमार्गीयांशस्य पृथक्कृतत्वात्, मुक्तोपसृप्यव्यपदेशादिति सूत्रेणाधिकारवेलायां सत्तामाहुः स्वस्येत्यादिना। तत्र हेतुमाहुः न प्रेत्येत्यादिना। शास्त्रेत्यादि शास्त्राणामभ्यासः पौनःपुन्यं कीर्तनं स्मरणं वा स्वनिर्वाहकस्मरणोपलक्षकं तेषां यद् दार्ढ्यं शतधापि व्यसनसंपातेनुच्छेदो बाहुल्यं च तयोः समाहारो दार्ढ्यबाहुल्यं तेन। तथा चास्य योहंकारवादः स ब्रह्मात्मभावेनैव न स्वात्मभावेनेत्यतस्तत्र यथा स न मायिकस्वेपि ब्रह्मवाक्यबाधकः तथात्रायमपीति भावः। नन्वत्र ज्ञानावेशादिति भाष्यं पूर्वत्र तु स्वसर्वत्वेत्यादिना भक्तिरपि कैश्चिद्व्याख्यातेति चेत् सत्यम् तदाहुः यद्ब्रह्मविषया सर्वं भविष्यन्त इत्यादिना ब्रह्मविषया सिद्धदेवर्षिमनुष्याणामुक्त्वा वामदेवर्षिप्रतिपत्तावहं मनुरभवं सूर्यश्चेति साकारब्रह्मवादो निष्कृष्टः तद्वक्ष्यमाणं नित्यनिरतिशयं श्रेयःप्रतिवित्सव आहुरिति तदाहुरित्यस्यार्थः। अथ योन्यां देवतामुपास्तेन्योसावन्योहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानामिति ह्यभेदोपासनाया ज्ञानमार्गीयायाः समर्थनार्थं भेददृक् पशुरिति निन्दितः। 'अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः' इत्यत्रान्तरायभूताभेदज्ञानं भक्ताय न ददाति इति तृतीये साधनाध्याये निर्णीतम्। तत्राभेदवान् निन्दितस्ततोत्र ज्ञानमार्गे भेदज्ञानवतो निन्दायां पशुशब्दस्य रूढिः पश बन्धे चुरादिपरस्मैपदी सेट् योगो वा योगरूढिर्वा निरुक्ता तस्य भेददर्शि पुरुषे गौणी उपासकत्वादिगुणयोगात्। तस्य तात्पर्यवृत्त्या देवादिप्रियोर्थो हि काकां कृतायां विरुध्यतेतो भक्तिमार्गानुसारेणाहुः श्रुतयस्तात्पर्यवृत्तिं पशोः। यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान् भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किं तु बहुषु तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युरिति। भुञ्ज्युर्दोहनादिना पाल्येयुः भुनक्ति पालयति

१. कन परिहाणे। २. भवयुरित्यत्र अवोपसर्गार्थे।

त्वाष्ट्रवधादयो ब्रह्मधर्मा एव। तदावेशेन क्रियमाणत्वात्। 'नन्वेष मघवंस्तव शक्र तेजसा हरेर्दधीचेस्तपसा च तेजितः। तेनैव शत्रुं जहि विष्णुयन्त्रितः' इतिवृत्रवचनं श्रीभागवते। तस्माद्युक्तं ब्रह्मधर्मवचनम्। ननु 'स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि' इति सूत्रे सुषुप्तौ ब्रह्मसंपत्तौ च ब्रह्मधर्माविर्भावो न त्वन्यदेति कथमेवमिति चेन्नैवम्। उपदेशभावनादिष्वपि कदाचिदुत्तमाधिकारिविषये ब्रह्मप्राकट्यमित्यङ्गीकर्तव्यम्। 'मय्येव सकलं जातम्' इत्यादिवाक्यानुरोधात्।

भाष्यप्रकाशः।

दार्ढ्यबाहुल्येन तदावेशात्। ननु यदि शास्त्रदृष्ट्योपदेशः स्यात् तदा जगल्लयादय उक्ताः स्युर्न तु त्वाष्ट्रवधादय इन्द्रकर्तृका इत्यत आहुः त्वाष्ट्रेत्यादि धर्मवचनमित्यन्तम्। अग्रागामिसूत्रविरोधमाशङ्कते नन्वित्यादि। परिहरन्ति नैवमित्यादि। नान्यदेति नियमरूपः सूत्रार्थो नाङ्गीकर्तव्यः। किन्तूभयत्र नियतोऽन्यत्र त्वनियत इत्यङ्गीकर्तव्यः। तत्र हेतुः उपदेशेत्यादि। तथा चैवंविधवाक्यानि पश्यन् व्यासः कथमेवं नियमयेदतो नैवं सूत्रार्थः। आदिपदेन 'एतत्साम गायन्नास्ते' इत्यादिश्रुतीनां, 'कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः' इत्यादिवाक्यानां

रश्मिः।

अप्रियमिति छेदः। किंत्वित्यस्य किंपुनरित्यर्थः। पशुभावाद् व्युत्थानसाधनं तत्त्वज्ञानं कुर्युरिति विद्युरित्यस्यार्थः। अत्रैतट्टीकाकृत् पशुभावाद्व्युत्थानं देवा विद्विषन्तीत्याहेत्येकस्मिन् एव पशावादीयमाने इत्याद्या आभासयांचकार पशुभावाद् व्युत्थानसाधनं तत्त्वज्ञानमपि देवा द्विषन्ति इत्याहेति तस्मादेषामित्याद्या आभासयांबभूव देवाश्च नाभूत्या ईशते इत्यत्रोक्तान् देवान्देवपदार्थत्वेन ग्राहयामास तदन्यथा यथाकथंचिन्नेयम्। अथाह वै बहव इत्यत्र सोपपत्तिकविद्याकथनानन्तरमित्यथशब्दार्थात् ते देवा नात्र ग्रहीतुं शक्याः किं तु त्यदादीनामुत्सर्गतः प्रधानपरामर्शित्वाच्चैवं स देवानामित्यत्रोक्तान् देवान् ग्राहयाम इति को भेद उभयेषाम्। तेषामभेदद्विषामेषामित्यस्यार्थः। अस्माकं तु भेदद्विषामेषामित्यस्यार्थः। यमर्थमिच्छामः। काका तु संभवति। अन्यथा प्रकृतापरामर्शे तु पूर्वविद्याकथनविच्छेदकाथश्रौतपदविरोधापत्तेः। काकुस्तु ह्यप्रियं भवति किमपि तु न किं तु बहुषु ह्यपि तु न, न प्रियमपि तु प्रियमिति। एवमपि वेदोक्षरमात्रमपि नान्यथा वदतीति भाष्यविरोधः। तदा काकां विनापि भेदद्विषां भेददृश उपादाने सिंहादिकर्तृकेऽप्रियत्वं विरोधाभासेनालंकृतमिति भेदकदृशो भक्तत्वं गमयति। भक्तास्तु ह्यभेदद्विषोपि वेदान्तकृदादेः सकाशात्प्राप्तभेदकवन्त इव चकासतीति तदुपादानान्य प्रियाण्येव 'अहं भक्तपराधीन' इति स्मृतेः। 'अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः' इत्यत्र स्फुटम्। जगल्लयेत्यादि स्थितावियमानत्वाल्लय उक्तः। तथा च ब्रह्मावेशोत्रेति न लयादय उक्तास्ते तु ब्रह्मत्वे सतीति भावः। इत्यादीत्यादि हावु हावु हावु अहमन्नमहमन्नमहमन्नं अहं विश्वं भुवनमभ्यभवां सुवर्णज्योतिरित्यादयो ब्रह्मावेशबोधकाः आदिपदार्थाः। हाव्वित्यादीनि त्रीणि पदानि आश्चर्ये अन्यत्र त्रिरुक्तिराश्चर्ये यथा आत्मबोधोपनिषदि अमृते लोकेऽक्षितेऽमृते लोके अक्षिते अमृते लोके अक्षिते अमृतत्वं गच्छत्यमृतत्वं च गच्छत्यमृतत्वं च गच्छत्यों नम इति अमृतबिन्दूपनिषदि। न स भूयोभिजायते

१. वेदान्तकृत्तदनुयायिनाम्।
५१ अ० सू० २०,

इहैव समवनीयन्ते प्राणाः । ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येतीत्यप्याविर्भावापेक्षम् । तस्य

भाष्यप्रकाशः ।

च संग्रहः । तथाच वाक्यानां सूत्रोपजीव्यत्वेनोक्तसूत्रस्थे संपत्तिपदे उपलक्षणविधयोत्तमाधिकारोऽपि संग्रहीतुं शक्यत इति न तद्विरोध इत्यर्थः । ननु तद्धैतदिति, भव्येवेति श्रौतं वाक्यद्वयं पूर्णज्ञानिन इति तस्याहंकारवादेन तथा कथनं युज्यते, न त्वावेशिनः । इन्द्रस्त्वावेशीति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकवैषम्यम् । न चेन्द्रस्यापि पूर्णज्ञानित्वं शक्यवचनम् । तथा सति वामदेवादेरिवेन्द्रस्यापि मुक्तत्वात् तद्वदेवमुपदेशस्यापि फलत्वमुक्तं स्यादित्यत आहुः इहैवेत्यादि । अस्तु तस्य पूर्णज्ञानिवाक्यत्वं तेषां मुक्तत्वं च । तथापि ज्ञानमुक्त्योराविर्भावापेक्षत्वं तु निर्विवादम् । इहैवेति श्रुतौ ब्रह्मैव सन्निति ब्रह्मभावे सत्येव मोक्षकथनात्, 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इति श्रुत्यन्तरे ज्ञानेन ब्रह्मभावश्रावणाच्च । ब्रह्मभावश्च स्वस्मिन् ब्रह्मधर्माविर्भावपूर्वकब्रह्मस्फूर्तिरूप एव । न तु तद्व्याप्तिरूपो, न वा तादात्म्यरूपः । तस्य सार्वदिकत्वेन सर्वावस्थासाधारणतया ज्ञानित्वाद्यप्रयोजकत्वात् । नापि निष्प्रपञ्चतत्स्फूर्तिरूपः । सर्वभावस्फूर्त्यादि-

रश्मिः ।

न स भूयोभिजायते न स भूयोभिजायत इति । **वाक्यानामिति** ब्रह्मावेशबोधकानाम् । **उपजीव्यत्वं** कारणत्वं तेन । **उत्तमेत्यादि** उत्तमाधिकारो ज्ञानम् ।

'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ' ॥
'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतः' इति गीतायाः ।

अत एव ज्ञानी चेद्भजते कृष्णमिति निबन्धे प्रोक्तं श्रीमदाचार्यैः । उत्तमाधिकारो ब्रह्मवरणसहितप्रेमापि 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः', 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' इति श्रुतिभ्याम् । भावनादीनां साधनत्वं तृतीयाध्यायचतुर्थपादे सहकार्यन्तराधिकरणे वक्ष्यते । श्रीभागवते त्रिभिरध्यायैर्हीनाधिकारस्त्रिभिर्मध्यमस्त्रयोदशभिरुत्तम इति प्रथमस्कन्धोऽधिकारस्कन्धः । एतादृशाधिकारस्योपलक्षणविधया सूत्र उपादाने हेतुमाहुः **तस्येत्यादिना** । **अहंकारवादेनेति** प्रारब्धशेषरूपाविद्यारूपेणेत्यर्थः । सिद्धान्ते तु चिक्रीडिषया रुद्ररूपाहंकारेण नित्यक्रीडाप्रविष्टांशेन । गुणिरुद्रभिन्नगुणिरुद्रसदृशेन । **आवेशीति** प्रथमस्य तृतीयाध्यायसुबोधिन्यामस्ति । कार्यकाले संक्रमणमावेशः । **तद्धैतमिति** तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवतीति सर्वभावरूपफलत्ववदित्यर्थः । **एवमुपदेशस्येत्यस्य** स्वात्मनः परमात्मत्वेनोपदेशस्येत्यर्थः । इदानीं ब्रह्मभावस्वरूपं निश्चिन्वन्ति **ब्रह्मभाव इत्यादिना** । **एवेति** पञ्चाध्याय्यां तथोपपादनात् । **साकारब्रह्मवादायैवेति** **व्याप्तिरूप इति** स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं व्याप्तिरत्र तिलेषु तैलस्य दधनि सर्पिष इव तादात्म्यं तदात्मनोभावस्तद्रूपत्वमिति यावद् आत्मसृष्टौ । **तस्येति** ब्रह्मव्यापनरूपस्य तदितरस्य च । **ज्ञानित्वादीत्यत्रादिनाधिकारः** । नन्वस्तु ब्रह्मधर्मः सत्यत्वाद्यभावाभावलक्षणस्तत्पूर्वकनिष्प्र-

च प्रायिकत्वान्न सूत्रे फलत्वमाह । जीवन्मुक्तानामपि परममुक्तेर्वक्तव्यत्वाच्च । असंप्रज्ञातसमाधाविवाविर्भावदशायामेव शरीरवियोगे वियोजकाभावात्

भाष्यप्रकाशः ।

विरुद्धत्वात् । अतः प्रकृते उपदेशरूपकार्यदर्शनेन तत्कारणरूपे ज्ञाने ब्रह्मधर्माविर्भावपूर्वकब्रह्मभावे चेन्द्रस्य सिद्धे तथा वाक्यकथनस्य युक्तत्वान्न दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकवैषम्यम् । एतावान् परं विशेषो यन्मुक्तस्योक्तविधब्रह्मभावः सार्वदिक आवेशिनस्तु कादाचित्कः । अतस्तस्य प्रायिकत्वाद् वामदेवादिसर्वत्ववन्न सूत्रे तस्य फलत्वमाह । किंच । सर्वभावस्यापि साधनत्वेनावान्तरफलत्वमेव, न परमफलत्वम् । परममुक्तिश्च जीवन्मुक्तानामप्यग्रे वक्तव्या, सुतरामावेशिन इत्यतोऽपि नाहातो न तदनुक्तिर्दोष इत्यर्थः । ननूक्तस्थले ब्रह्माविर्भावाङ्गीकारो न युक्तः । तस्मिन् सति वागादिविलयस्येहैवेति श्रुतौ कथनाद् वक्तुस्तदापत्त्योपदेशनासंभवापत्तेः । तस्य मुक्तिपूर्वावस्थारूपत्वेनार्चिरादिगतिकथनापत्तेश्चेत्यत आहुः **असंप्रज्ञातेत्यादि** । सत्यमस्ति तत्र तथात्वं पुराणे दधीच्यादिषु प्रसिद्धं च । तथाप्युक्तश्रुतौ, अथाकामयमान इति प्रतिज्ञाय लयकथनात् कामाभावे सत्येव प्राणानां लयो न तु तदभावे । प्रकृते तु दधीचिवदसंप्रज्ञातसमाधेरभावादधिकारित्वेन तदानीमिन्द्रियवियोजकस्य कामाभावस्य चाभावान्न वागादिलय इति नोपदेशानुपपत्तिः । ब्रह्मभावस्य प्राप्तत्वान्नार्चिरादिगत्युक्तिश्चेत्यर्थः ।

यद्वा । ननूपदेशभावनादिषु ब्रह्माविर्भावो न युक्तः । यदि तत्र स स्यात्तदोपदेष्टुः सद्यो मुक्तिः स्यात् 'इहैव समवनीयन्ते प्राणाः' इत्यादिश्रुतौ तथैव सिद्धेः । तथा सति तस्याविर्भावस्य फलत्वमपि व्यासैरुच्येतेत्यत आहुः **इहैवेत्यादि** । सत्यं सद्योमुक्तिराविर्भावापेक्षा । परंतु ब्रह्मैव सन्निति श्रुताववधारणकथनाद् यत्र सर्वथा ब्रह्मभावस्तत्रैव सद्योमुक्तिः । उपदेशभावनादौ तु न तथा । बहिःस्फूर्तेरपि सत्त्वेन केषुचिदेव तद्भवनेन तस्याविर्भावस्य प्रायिकत्वा-

रश्मिः ।

पञ्चस्य दृशिमात्रस्य ब्रह्मणः स्फूर्तिरूपः । अत इति कार्येण कारणानुमानात् । **प्रायिकत्वादिति** उत्तमाधिकारजन्यत्वेन प्रायिकत्वात् 'कश्याश्चित्पूतनायन्त्याः' इत्यादौ तादृशभक्तिसाध्यत्वेन दुर्लभत्वप्रयुक्तात्तथात्वादित्यर्थः । सूत्र इति स्वाप्ययसूत्रे । **दधीच्यादिष्विति** ।

'एवं व्यवसितो दध्यङ्ङाथर्वणमुनिस्तनुम् ।
परे भगवति ब्रह्मण्यात्मानं संनयन् जहौ' ॥

इतिवाक्यात्प्रसिद्धम् । असंप्रज्ञातसमाधिः निर्बीजसमाधिः यत्रेति नेतीति वाक्यसंवादी । यत्र भगवतो रूपस्य न भानम् । 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' इत्यत्र प्रपञ्चोऽस्य । असंप्रज्ञातसमाधिः शमीकस्याग्रे वक्ष्यते । **अधिकारित्वेनेति** स्वलोकपालत्वात् । **ब्रह्मेत्यादि** ब्रह्म चासौ भावश्चेत्यपि समासः । ब्रह्मावेशानन्तरं ब्रह्मभाव इति पक्षे षष्ठीतत्पुरुष एव । भाष्ये तु वागादिमात्रं लीयते इति तल्लयकथनात् भाष्यविरोध इत्याशङ्क्य पक्षान्तरमाहुः **यद्वेत्यादि** । **उपदेशेत्यादि** उपदेशोऽत्रत्यः : भावनास्मदादिकर्तृका तस्याम् । आदिपदेन संयोगे वियोगवृत्तिरूपे प्रेम्णि । **न तथेति** न सर्वथा ब्रह्मभाव इत्यर्थः । तत्र **हेतुर्बहिःस्फूर्तेरित्यादि** । तथा चोत्कटविरहे ब्रह्मभावस्तत्र बहिःस्फूर्तेरभावादिति भावः । यथान्तर्गृहगतानाम् । ननु तदतिरिक्तानां सर्वथा ब्रह्मभावस्मरणात् सद्योमुक्तिप्रसङ्ग इति चेन्न ।

वागादिमात्रं लीयते। तस्य च प्राप्तत्वादेव नार्चिरादिगतिः। तथापि प्रायिकत्वात् सूत्रगीतादिषु तद्बन्धनम्। सगुणनिर्गुणभेदेन नियमवचनं त्वप्रामाणिकमेव।

भाष्यप्रकाशः।

भगवान् व्यासस्तस्य फलत्वं नाह। न तु तावता सर्वत्र नाविर्भाव इति वक्तुं शक्यमित्यर्थः। यदि तादृशाविर्भावस्य न फलत्वं तदा तस्य वैयर्थ्यमेव स्यादित्यत आहुः जीवन्नित्यादि। तथाच पारम्याभावात् फलत्वानुक्तावपि नाफलत्वमित्यदोष इत्यर्थः। ननु यदि तादृशस्याविर्भावस्य जीवन्मुक्तिसंपादकत्वं तदा तस्यार्चिरादिगतिरुच्येत। सा च नोच्यतेऽतो नैवमित्यत आहुः असंप्रज्ञातेत्यादि। शरीरवियोग इति। अर्चिरादिगतिरिति शेषः। वियोजकाभावादिति तादृशादृष्टाभावात्। भावनादौ वागादिमात्रं लीयते। तस्य ब्रह्मणश्च प्राप्तत्वात् तत्प्राप्त्यर्थार्चिरादिगतिरत्र नोक्ताऽतो न दोष इत्यर्थः। ननु मुख्याधिकारस्यैवंविधत्वे सूत्रादिषु कुतस्तदनुक्तिरित्यत आहुः तथापीत्यादि। प्रायिकत्वं संभावितत्वमनियतत्वमिति यावत्। तथाचातोऽनुक्तिरित्यर्थः। ननु सगुणोपासकस्यार्चिरादिगतिर्निर्गुणपरस्य तु 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' इति श्रुत्या केचिदेकदेशिनः सगुणनिर्गुणोपासनाभेदेनाधिकारिभेदमङ्गीकुर्वन्ति तत् कुतो नाद्रियत इत्यत आहुः सगुणेत्यादि।

रश्मिः।

'मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्' 'न स्त्रियो व्रजसुन्दर्यः पुत्र ताः श्रुतयः किल' इति सूत्रस्मृतिभ्यां मुक्तत्वेपि मध्ये वरप्राप्तानन्दभुजो भूत्वोक्तकालं समासाद्य गोप्यो हरिं गता इति। न चेहैवेति श्रुत्यानन्दभोगप्रतिपादकस्मृतिबाधः इति वाच्यम्। अत्र स्मृतीनामुपबृंहणत्वस्वीकारात्। 'इतिहासपुराणैस्तु वेदं समुपबृंहयेत्' इति वाक्यात्। यथा 'भस्मान्तो देहः' इति श्रुतेः। 'कृमिविड्भस्मसंज्ञितः' इति पुराणमुपबृंहणम्। न तु बाध्यं प्रत्यक्षविरोधात्। अर्चिरादीत्यादि दृष्टान्तानुरोधोत्र द्रष्टव्यः।

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे'॥

इति परब्रह्माविर्भावे तद्दर्शनेन हृदयग्रन्थ्यादिभेदादौ वागादिमात्रं लीयते इत्यसंगतं मुक्तौ प्रतिबन्धकाभावादित्याशङ्कायामिच्छाविषयादृष्टाभावान्न मुक्तिः किं तु वागादिमात्रस्य लय इति नासंगतमित्याशयेन व्याकुर्वन्ति तादृशादृष्टेत्यादिना। अस्य देहवियोगो अनेन भवत्वित्याकारिकेच्छाविषयधर्माधर्माभावादित्यर्थः। इच्छायाः फलबलकल्प्यत्वादिति भावः। वागादिमात्रं लीयते परमाविर्भावदशायामेव पश्चात्तु ह्युपदेशनसंभवोस्त्येवेति। एवं चात्र वियोगान्तं संपूर्णमनुवर्तते। असंप्रज्ञातसमाधिः शमीकस्य भगवतः। प्रकृते। प्रथमस्कन्धे परीक्षित्प्रसङ्गे 'उन्मील्य शनकैर्नेत्रे दृष्ट्वा स्वांसे मृतोरगम्। विसृज्य पुत्रं पप्रच्छ' इति वाक्यात्। तस्येति भाष्यानुवादः। प्राप्त्यर्था ब्रह्मप्राप्त्यर्था। नोक्ता, निष्प्रयोजनत्वादिति भावः। दोषः अर्चिरादिगत्यनुक्तिरूपः। निर्गुणेत्यादि निर्गुणोपासकस्य। श्रुत्यर्थस्तु तस्याचार्यवतः पण्डितस्य मेधाविनो मुक्ताविद्याबन्धस्य आचार्यवान् पुरुषो वेदेति पण्डितो मेधावीति च पूर्वं श्रुतत्वात् तावदेव तावान् काल एव चिरं विलम्बः सत्संपत्ताविति शेषः। यावत्कालपर्यन्तं न विमोक्ष्ये न विमोक्ष्यते। प्रारब्धकर्मणां भोगादिनाशेन यावद्देहपातो न भवतीत्यर्थः। अथ तदा प्रारब्धक्षयाद्देहपातसमकालमेव संपत्स्ये संपत्स्यते मुक्तो भवतीति। एकदेशिनः शांकराः। सगुणेत्यादि विद्वन्मण्डने स्फुटमुपपादितमेतत्।

ब्रह्मवादे गुणानङ्गीकाराच। तस्मायुक्तमुक्तं शास्त्रदृष्ट्यातूपदेश इति॥ २९॥

भाष्यप्रकाशः।

ब्रह्मवादे ब्रह्मणः सगुणनिर्गुणभावाभावेनाधिकारिभेदाभावात् तथागत्यादिनियमकथनमप्रामाणिकमेव। सांख्यप्रतिपन्नानां गुणानां व्यासेनानङ्गीकारादपि तथेत्यसंगतत्वान्नाद्रियत इत्यर्थः। सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि। तस्मादिति अभ्यासबाहुल्येन ब्रह्मावेशात्॥ २९॥

रश्मिः।

'अभेदादनुपाधित्वाज्जगद्प्रत्ययासितः।
सर्वाधारत्वतस्त्वावच्छक्तित्वान्नास्य बाधनम्'॥ इति।

न चाथ मायाशबलितं ब्रह्मासीदिति श्रुतिविरोध इति शक्यं मायाशब्दस्येन्द्रियपरत्वस्य निबन्धे व्यवस्थापनात्। अनङ्गीकारादिति ब्रह्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय केवलादेव जन्माद्यस्य यतः इति वदता रचनानुपपत्तेश्च नानुमानमिति गुणसाम्यावस्थां खण्डयता व्यासेन भगवता गौणश्चेन्नात्मशब्दादिति सूत्रे तथेत्यर्थः। अभ्यासेत्यादि व्याकृतम्। इदानीं पूर्वोक्तोर्थः पुनरुच्यते। यत्र वामदेवस्याहंकारवाद उक्तस्तत्रैव तदाहुर्यद् ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते किमु तद्ब्रह्मावेद्यस्मात्तत्सर्वमभवत्', 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्', 'तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति', 'तस्मात्तत्सर्वमभवत्', 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्' इति सर्वभावो युक्तः। मध्यमपदलोपी समासः तेन सर्वात्मभावोप्यर्थः। य एव प्रत्यबुध्यतेति सामान्यनिर्देशात्। तदतिश्रयं श्रेयोजिज्ञासवः आहुरिति तदाहुरित्यस्यार्थः। भविष्यन्त इत्यस्य भविष्याम इत्यर्थः। मन्यन्त इत्यस्य संभावयन्तीत्यर्थः। इति पुनरुक्तं संबन्धार्थं पृच्छति किमुतेति। यस्माद्विज्ञानात्तद्ब्रह्म सर्वमभवत् तद् ब्रह्म किमु किमात्मस्वरूपमतिरिक्तं वाऽवेत् स्वरूपं तदतिरिक्तं वा यस्मात् तत्सर्वमभवत् तदपि किमिति ब्रह्मविद्याधिकारिप्रमेयप्रमाणप्रश्न इत्यर्थः। क्रमेणोत्तराणि। ब्रह्मेति। अग्रेवबोधात्प्राक्। इदं जीवरूपं चैतन्यं शरीरस्थमंशत्वेन ब्रह्मैवासीत्। तज्जीवरूपं चैतन्यमात्मानमेवमहं ब्रह्माक्षरात्मकं पुरुषोत्तमाधिष्ठानमस्मीत्यवेत्। सेवनादिरूपसाधनसंपत्त्या इति शेषः। तस्मादेव विज्ञानात्तज्जीवरूपं चैतन्यं परब्रह्माविर्भावे इहैव समवनीयन्ते इति श्रुत्यन्तरेण तत्र प्राणादिलयेन तद्रूपत्वे जाते सर्वं सर्वरूपमभवदिति। तदाहुराचार्याः 'ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम्' इति। तत इति सेवातः इति तदर्थः। अधिकारिणमाह यो यो देवानामिति। देवानामिति निर्धारणे षष्ठी तेषां यो यो देवः प्रत्यबुध्यतात्मानमक्षरब्रह्मत्वेन यथावद्बोधितवान् स एव देवस्तत्परब्रह्माभवत् व्यापकत्वादिप्रादुर्भावेन विरुद्धधर्माधारोऽभवदित्यर्थः। 'आनन्द आत्मा ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इति श्रुत्योः परब्रह्माक्षरब्रह्मणोराश्रयाश्रयिभावः सिद्धः। ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येतीत्यत्र कर्तृकर्मभावोप्युपपन्नतरः। अक्षरस्यापि परब्रह्मत्वेनाथ योऽन्यां देवतामुपास्तेन्योसौ अन्योहमस्मीति न स वेदेत्यग्रेतनश्रुतेरपि न विरोधः। भक्तस्याक्षरात्मकत्वेन स्वज्ञानं भवतीति तृतीयाध्याये तृतीयपादे व्युत्पाद्यम्। इदानीं प्रकृतमुच्यते॥ २९॥

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ॥ ३० ॥

अन्यद् बाधकद्वयमाशङ्कते। ननु यद्यपि ब्रह्मधर्मा भूयांसः प्रकरणे श्रूयन्ते। तद्वज्जीवधर्मा मुख्यप्राणधर्माश्च बाधकाः सन्ति। न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यादित्यादि। अत्र हि वागादिकरणाध्यक्षस्य जीवस्य विज्ञेयत्वमभिधीयते। अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्येति शरीरधारणं मुख्यप्राणधर्मः। मा मोहमापद्यथा, अहमेवैतत् पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति श्रवणात्।

यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या प्रज्ञा स प्राण इति जीवमुख्यप्राणवाच्यत्वे प्रज्ञाप्राणयोः सहवृत्तित्वादुपचारो युज्यते। उत्क्रान्तिश्च। ननु सर्वथा विलक्षणस्य ब्रह्मणः। तस्माज्जीवमुख्यप्राणलिङ्गयोर्विद्यमानत्वान्न ब्रह्मप्रकरणमिति चेन्न।

भाष्यप्रकाशः।

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ॥ ३० ॥ व्याचक्षते अन्यदित्यादि। एतद्बाणमिति एतच्छरीरम्। तथाच वागादिकरणाध्यक्षत्वस्य जीवलिङ्गस्य शरीरधारणस्य मुख्यप्राणलिङ्गस्य च ब्रह्मवाक्यत्वबाधकस्य विद्यमानत्वान्नेदं ब्रह्मवाक्यमित्यर्थः। ननु यथैते लिङ्गे ब्रह्मवाक्यत्वबाधके तथा अमृतत्वादिकं ब्रह्मलिङ्गमेतद्बाधकमिति नात्र कस्यापि निर्णय इत्यतः स्वपक्षे गुणमाह यो वा इत्यादि। इति जीवमुख्यप्राणवाच्यत्व इति अस्मिन् प्रकरणेऽङ्गीकार्यत्वे। उत्क्रान्तिरिति। सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामतीत्यनेनोक्तोत्क्रान्तिः। सर्वथा विलक्षणस्येति। उत्क्रान्तिविरोधिन्या व्यापकतया जीवात्, तथा चेतनतया च मुख्यप्राणाद् विरुद्धधर्मणः। तस्मादिति। उक्तरूपस्य महाबाधकस्य सत्त्वात्। तथाचैतेन बाधकेन ब्रह्मलिङ्गानामुपासनार्थत्वस्य शक्यवचनत्वान्नेदं

रश्मिः।

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ॥ ३० ॥ भाष्ये। 'मा मोहमापद्यथाः' इत्यादि वागादीन् प्रति प्राणवाक्यम्। पञ्चधेति प्राणापानादिभेदेन। प्रकृते। अङ्गीत्यादि अत्र त्वप्रत्ययरहितः पाठः प्रतिभाति। इदं प्रकरणाधिकरणकाङ्गीकार्यत्व इत्यर्थो वा। भाष्ये। उपचारो अमृतत्वादिब्रह्मलिङ्गानाम्। प्रकृते। एतैरित्यादि समीपतरवर्तिभिः प्राणैः। उत्क्रान्तिरित्यस्य युज्येत इति पूर्वेण समं संबन्धः। तथेति उत्क्रान्तिविरोधिन्या व्यापकतयेत्यर्थः। महेति पूर्वपक्षांशे विपरीतलक्षणया स्वरेण वापाततो बाधकं तन्न तु परमार्थत इत्यर्थो बोध्यः। वीत्यादि 'मामेव विजानीहि' इति श्रुतावित्यर्थः। अर्थत्रयं ब्रह्मजीवमुख्यप्राणरूपं घटादीनां प्रसक्त्यभावात्। प्रसक्तानां त्रयाणां च व्यवच्छेदायोगात् व्यवच्छेद्याभावेन तथेत्यर्थः। ननु शिवस्य व्यवच्छेद्यत्वं ब्रह्मणो ब्राह्मणत्वात् विष्णोर्ब्रह्मगुणगणगणंगुणितां गणितानन्दगुणकस्यातिरेकादिति चेन्न। भेदकस्य तमसो मायिकत्वेनतैर्थं प्रतीतेः। पूर्वत्राप्येवम्। 'एकतिङ् वाक्यम्' 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्यात्' इति प्रोक्तलक्षणकं वाक्यं तस्य भेदः। आश्रितत्वादिति भाष्याग्रे अत एव 'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं

१. गण संख्याने।

उपसात्रैविध्यात्। अयमर्थः। किमत्र चोद्यते। जीवमुख्यप्राणलिङ्गाद् ब्रह्मधर्माणां जीवपरत्वं, त्रयाणामपि स्वतन्त्रत्वं वा, लिङ्गद्वयस्यापि ब्रह्मधर्मत्वमुच्यतामिति वा। आद्यः पूर्वमेव परिहृतः। न हि ब्रह्मधर्मा अन्यपरत्वेन परिणेतुं शक्या इति। द्वितीये दूषणमाह। उपासात्रैविध्यात्। तथा सत्युपासनं त्रिविधं स्यात्। तद्वाक्यभेदप्रसङ्गान्न युक्तम्। तृतीये तूपपत्तिरुच्यते। जीवधर्मा ब्रह्मणि न विरुध्यन्ते। आश्रितत्वात्। जीवस्यापि ब्रह्माधारत्वात् तद्धर्मा अपि भगवदाश्रिता एव। इहेत्युभयत्र संबन्धो ब्रह्मवादे। मुख्यप्राणे तु तद्योगात्।

भाष्यप्रकाशः।

ब्रह्मप्रकरणमिति पूर्वपक्षाशय इत्यर्थः। समाधानांशं व्याकुर्वन्ति अयमर्थ इत्यादि। उच्यतामिति। उपपाद्यताम्। पूर्वमेव परिहृत इति। न वक्तुरिति सूत्रे ब्रह्मधर्मबाहुल्यप्रतिपादनेन बहूनामनुग्रहस्य न्याय्यत्वालम्बनात् परिहृतः। परिहारस्याकारमाहुः न हीत्यादि। अत्राशक्यत्वं बहुषु लक्षणाया आपत्त्या ज्ञेयम्। द्वितीय इति लक्षणादोषराहित्यात् त्रयाणां स्वातन्त्र्येण प्रतिपाद्यत्वाङ्गीकार इत्यर्थः। वाक्यभेदप्रसङ्गादिति। विजानीहीत्यस्यावर्तनेन, मामिति पदस्यार्थत्रयकल्पनेनैवकारार्थविरोधेन च वाक्यभेदप्रसङ्गात्। तृतीय इति ब्रह्मधर्मत्वोपपादनचोदनापक्षे। ब्रह्माधारत्वादिति। 'अस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्' इति श्रुत्या जीवस्यावयवत्वबोधनेन तस्य ब्रह्माधारत्वात्। नच वैपरीत्यं शङ्क्यम्। संयोगादुत्पत्तिरिति पक्षे तथात्वे, विभागादुत्पत्तिरिति पक्षे तदभावादिति। इहेत्युभयत्र संबन्ध इति। इहाऽऽश्रितत्वादिह तद्योगादित्येवं संबन्धः। ब्रह्मवादपदं माया-

रश्मिः।

जातो भवसि विश्वतोमुखः' इत्यादिश्रुतिरित्याकाशवाणीपाठः। वञ्चसि गच्छसि। तस्येत्यादि शरीरे करादय इति प्रतीत्या करादीनां शरीराधारत्ववत् तस्य जीवस्य ब्रह्माधारत्वात्। वैपरीत्यं तन्त्वधिकरणकपटनिरूपितेत्यादिविद्वन्मण्डने कपालेषु घट इति प्रतीत्यावयविभूतब्रह्मणोवयवभूतजीवस्याधारत्वं शङ्क्यमित्यर्थः। संयोगादुत्पत्तिरित्यादि ईश्वरचिकीर्षावशात्परमाणुषु जायमानया क्रियया परमाणुद्वयसंयोगादुत्पत्तिः। तथात्वे अवयविनोवयवस्याधारत्वे। विभागेत्यादि अयमर्थः। सिद्धान्ते प्रथमस्यान्तिमस्य च कार्यस्य विभागादुत्पत्तिः अवान्तरस्य तु यथासंभवं संयोगविभागाभ्यां सा 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति एवमेवास्मादात्मनः' इति पञ्चमीश्रवणात्। परमाणुकारणवादस्य तर्कपादे दूषणीयत्वात्। इदं यथा तथा सृष्टिभेदवादे व्युत्पादितम्। तदभावात् अवयवानामवयव्याधारत्वाभावात्। संबन्ध इति देहलीदीपकन्यायेनेति भावः। इहेत्यस्य सर्वात्मभाववति जीवे इह ब्रह्मणि आश्रितत्वात् तद्योगादित्येवमर्थसमर्थनार्थम्। न चैवं स्वे महिम्नि ह्याश्रितत्वव्याख्याने।

'मन्त्रोपासनवैदिकतान्त्रिकदीक्षार्चनादिविधिभिर्यः।
अस्पृष्टो रमते निजभक्तेषु स मेस्तु सर्वस्वम्' ॥

इति ह्युपासाऽविषयत्वं विरुद्धमिति वाच्यं मन्त्राणामुपासनेति व्याख्यानात्। अत एव मुक्तिस्कन्धे उपासना उप समीपे स्थित्वा यथायोग्यकरणमिति सुबोधिनी। भाष्यप्रकाशसमाप्तौ चोपासनाघटितसाधनपरंपरा। मायावादव्यवच्छेदसूचकब्रह्मवादपदकथनतात्पर्यमाहुः ब्रह्मवादेत्यादिना।

तेन योगस्तद्योगस्तस्मात् । प्राणधर्मा भगवति न विरुध्यन्ते । प्राणस्य भगवत्संबन्धात् तद्धर्माणामपि भगवत्संबन्धात् । अथवा वक्तृत्वादयो न जीवधर्माः किं तु ब्रह्मधर्मा एव । जीवे आश्रितत्वाद्भासन्ते । परात्तु तच्छ्रुतेरिति न्यायात् । प्राणेऽपि तथा । स्वाप्ययसंपत्त्योर्जीवस्य ब्रह्माश्रितत्वम् । आध्यात्मिकाधिदैविकरूपत्वान्न संयोगः । प्राणस्य तु संयोग एव । तस्मात् सर्वे धर्मा ब्रह्मणि युज्यन्ते ।

भाष्यप्रकाशः ।

वादिमते जीवब्रह्मणोरभेदादाश्रयाश्रयिभावानङ्गीकारेण तस्य विरुद्धत्वबोधनार्थम् । भगवत्संबन्धादिति । भगवतो नियामकतया तन्नियम्यत्वरूपात् संबन्धात् । तथाच,

'न प्राणेन, नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ' ॥ इति ।

तत्सामर्थ्यस्य भगवदधीनत्वात् तद्धर्माणामपि परंपरया भगवद्धर्मत्वमित्यर्थः । अस्मिन् पक्षे जीवप्राणधर्माणां न साक्षाद् भगवद्धर्मत्वमिति लक्षणेवाऽऽपद्येतेत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः अथवेत्यादि । ब्रह्मधर्मा इति साक्षाद्ब्रह्मधर्माः । ननु यद्येवं प्राणे स्यात् तदाऽऽश्रितत्वमेव हेतुत्वेनोक्तं स्यान्न तु तद्योगोऽपीत्यत उपपादयन्ति स्वाप्ययेत्यादि । तथाच स्वाप्ययादौ जीवस्य ब्रह्माश्रितत्वम् । अवस्थाभेदकृतात् तादात्म्यान्न संयोगः । उभयप्रवेशपक्षे तु स्वाप्यये संपरिष्वङ्गश्रुतेः संयोगः कादाचित्कः । प्राणे तु संयोग एव सार्वदिक इति हेतुद्वयकथनं युक्तमित्यर्थः । सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि । तस्मादिति अनया रीत्या ब्रह्मणः प्रयोजकत्वेन लक्षणादोषासंसर्गात् । नन्वस्त्वेवमन्येषां भगवद्धर्मत्वं तथापि सहोत्क्रमस्यैकत्वव्यापकत्व-

रश्मिः ।

तस्येति प्रत्यक्षाधिकरणवाचकस्येहेतिपदस्येत्यर्थः । न प्राणेनेत्यादिश्रुतिः पञ्चमवल्लीस्था । तत्सामर्थ्यस्य प्राणसामर्थ्यस्य । परंपरयेति हस्तपुस्तकसंयोगस्य कायधर्मत्ववदित्यर्थः । लक्षणेवेति शक्यसंबन्धो लक्षणा । संबद्धसंबन्धः परंपरेति सादृश्यार्थकस्येवेत्यस्य प्रयोगः । जीवप्राणधर्मवाचकपदवाक्यानां जीवप्राणयोर्धर्मत्वावच्छिन्नेषु शक्तिस्तदाधारयोर्लक्षणा ब्रह्मणो योगात्संबद्धसंबन्धः जीव आश्रयाश्रयिभावः । प्राणे योगमात्रमित्युभयमुपात्तम् । भाष्ये । परादित्यादि द्वितीयस्य तृतीयचरणे पराद्ब्रह्मणः सकाशात् जीवानां कर्तृत्वं तच्छ्रुतेः 'यमधो निनीषति तमसाधु कारयति' इत्यादिश्रुतेरित्यर्थको न्यायोस्ति तस्मादित्यर्थः । प्रकृते । अत्र पक्षे तद्योगादित्यंशवैयर्थ्यमाशङ्क्य समादधति स्म ननु यदीत्यादिना । स्वाप्ययः सुषुप्तिः संपत्तिर्ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येतीति श्रुत्युक्तो लयः । कुतः संबन्धादित्यत आहुः अवस्थेत्यादि । तादात्म्यं च भेदसहिष्णुरभेदो न संयोग इति तयोरिति शेषः । उभयेत्यादि सह ह्येवास्मिन् शरीरे वसतः इति धर्मधर्मिणोः पृथक्त्वपक्षे देहे प्राणप्रज्ञयोरुभयोः प्रवेशस्तस्मिन् पक्ष इत्यर्थः । एतच्चात्रैवाग्रे स्फुटम् । कादाचित्क इति परिष्वङ्गस्य संयोगवाचकत्वादित्यर्थः । हेत्वित्यादि संबन्धद्वयबोधकहेतुद्वयकथनमित्यर्थः । भाष्ये । न संयोग इति किं त्वभेदः 'यस्तु आध्यात्मिकः प्रोक्तः सोऽसावेवाधिदैविकः' इति वचनात् । प्रकृते । प्रयोजकत्वेनेति परात्तु तच्छ्रुतेरिति न्याये कारयतीत्यत्र 'तत्प्रयोजको हेतुश्च' कर्तृप्रयोजको हेतुसंज्ञः स्यात् कर्तृसंज्ञश्चेति सूत्रवृत्तिभ्यां णिचोर्थः प्रयोजकस्तस्य भावेनेत्यर्थः ।

सहोत्क्रमस्तु क्रियाज्ञानशक्त्योर्भगवदीययोर्देहे सहैव स्थानं सहोत्क्रमणमिति भगवदधीनत्वं सर्वस्यापि बोध्यते । ननु प्राणस्तथानुगमादिति प्राणशब्देन ब्रह्मैव प्रतिपादितं तत्कथं धर्मयोरुत्क्रमणमिति चेत् । अत्र धर्मधर्मिणोरेकत्वपृथक्त्वनिर्देशयोर्विद्यमानत्वात् । प्राणो वा अहमस्मिन् प्रज्ञात्मेति । अत्र

भाष्यप्रकाशः ।

विरुद्धतया तस्य तु तथात्वं न युज्यत इति तस्य का गतिरित्यत आहुः सहोत्क्रमस्त्विति । तथाच व्यापकत्वादसंभवन्नपि शक्तिशक्तिमतोरभेदाद्धस्तोत्क्षेपणवत् सोऽपि भगवद्धर्म एवेत्यर्थः । एवं बोधनस्य फलमाहुः देह इत्यादि । अत्र पूर्वविरोधमाशङ्कते नन्वित्यादि । तत् कथमिति पूर्वोक्तविरोधेन धर्मधर्मिभावस्य वक्तुमशक्यत्वात् कथम् । एतत्समाधानाय हेतुं गृह्णन्ति अत्र धर्मेत्यादि । तथाच यदि पृथक्त्वनिर्देशो न स्यादुत्क्रमणं विरुध्येत । अत्र तूभयोः सत्त्वान्न पूर्वापरविरोध इत्यर्थः । उक्तं व्याख्यातुमुपपादयन्ति प्राण इत्यादि । अत्र विषयवाक्ये पाठभेदो देशभेदाद् बोध्यः । यथा बृहदारण्यकोपनिषदि तैलङ्गद्राविडपाठभेदात् । यथा चैतद्बाणमवष्टभ्येति प्रश्नोपनिषद्वाक्ये ये त्विमं शरीरं परिगृह्येति पठन्तीति पाठान्तरं शंकराचार्यैरुपन्यस्तम् । तथाऽत्रैवोदूहमित्यत्रादुदुहदिति पठितम् । तद्वत् शंकरानन्दकृतटीकायामप्येवमेव पाठ इति । अत्र क्रियाशक्त्यनुग्राहकः प्राण इति ज्ञानशक्त्यनुग्राहकश्च चेतन इति तदुभयवाचकयोः प्राणप्रज्ञात्मशब्दयोरिदमा सामानाधिकरण्यात् तदुभयवानेको निर्दिष्टः । ततस्तं मामायुरमृतमित्युपास्स्वेत्यनेन तस्योपासनं विधाय तस्य फलं चोक्त्वा तदनु तद्धैक आहुरित्यारभ्यास्तित्वेव प्राणानां निःश्रेयसमित्यन्तेन क्रियाशक्तिप्रशंसा । जीवति वागपेत इत्यारभ्य प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयतीत्यन्तेन ज्ञानशक्तिप्रशंसा । ततस्तस्योक्थोपासनां विधाय प्राणे सर्वाप्तिमुक्त्वा यो वै प्राणः

रश्मिः ।

तथात्वमिति भगवद्धर्मत्वम् । हस्तेत्यादि हस्तोत्क्षेपणस्य पुरुषधर्मत्ववदित्यर्थः । तथा च 'अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्' इति गीतायां भगवदीययोरित्यर्थः । ननु प्राण इत्यादिसूत्रे प्रज्ञात्मेति पठ्यतेऽत्र तु प्रज्ञानात्मेति पाठभेदेऽपि किंचिदाहुः अत्र विषयेत्यादिना पाठभेदस्तु स्वयमग्रे वक्तव्यः । तैलङ्गेत्यादि अयं द्रष्टव्यः क्वचित्स्थले । इति पठितमिति शंकराचार्यैरित्यर्थः । तथा च तद्भाष्यम् । ये त्विमं शरीरं परिगृह्येति पठन्ति तेषामिमं जीवमिन्द्रियग्रामं वा परिगृह्य शरीरमुत्थापयन्तीति व्याख्येयमिति । तथा अथ यथास्यै प्रज्ञायै सर्वाणि भूतान्येकं भवन्ति तद्व्याख्यास्याम इत्युपक्रम्य वागेवास्या एकमङ्गमदूदुहत् तस्यै नाम परस्तात् प्रतिविहिता भूतमात्रा प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति इत्यादि प्रज्ञाधर्म इति । इत आरभ्य प्राणगुणविशिष्टोपासना प्राणोऽहमस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्वेति श्रुत्यर्थमाहुः अत्र क्रियेत्यादिना । उपासनाद्यप्रतिपादकश्रुत्यर्थस्तु ह्यधिकरणारम्भ उक्तः । तदन्वित्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म तदन्वित्यादिना । प्राण एवेति अथ खलु प्राण एवेत्यादितृतीयोपासनाप्रज्ञागुणविशिष्टस्य । तस्योक्थेति तस्मादेतदेवोक्थमुपासीतेति श्रुत्योक्थमित्यस्य देहाद्युत्थापकमित्यर्थः । पुनर्ज्ञानशक्तेरुत्कर्षं वक्तुमिति

क्रियाज्ञानशक्तिमान् निर्दिष्टः । तदन्वेकैकस्य धर्मस्य प्रशंसा, यो वै प्राणः सा प्रज्ञा, या प्रज्ञा स प्राण इत्युपसंहारान्तम् । पुनस्तयोरेवोत्क्रमणप्रवेशाभ्यां सह ह्येवास्मिन् शरीरे वसतः सहोत्क्रामत इत्युपक्रम्य सुषुप्तिमूर्च्छामरणेषु प्राणाधीनत्वं सर्वेषामिन्द्रियाणामुक्त्वा आसन्यव्यावृत्त्यर्थं प्रज्ञयैक्यं प्रतिपाद्योपसंहरति । पुनर्ज्ञानशक्तेरुत्कर्षं वक्तुम्, अथ खलु यथा प्रज्ञायामित्यारभ्य, न हि प्रज्ञापेतोऽर्थः कश्चन सिद्ध्येतेत्यन्तेन ज्ञानशक्त्युत्कर्षं प्रतिपाद्य धर्ममात्रत्वनिराकरणाय ज्ञानशक्तिमन्तं भगवन्तं निर्दिशति, न हि प्रज्ञातव्यमित्यारभ्य, मन्तारं विद्यादित्यन्तेन । तदनु ज्ञानक्रियाशक्त्योर्विषयभूतभूतमात्रारूपजगतो भगव-

भाष्यप्रकाशः ।

सा प्रज्ञा, या वा प्रज्ञा स प्राण इत्युपसंहृतेत्येतदन्ता उभयप्रशंसा । तदग्रिमसंदर्भे तूत्क्रमणप्रवेशाभ्यां पुनस्तयोरेव प्रशंसा । सा च तस्मिन् पाठे, सह ह्येवासिन्नित्युपक्रम्य सुषुप्त्यादिषु सर्वेन्द्रियाणां प्राणाधीनत्वमुक्त्वा ततः प्राणस्य प्रज्ञयैक्यं प्रतिपाद्योपसंहृता । प्रसिद्धपाठे तु, तस्यैषैव दृष्टिरेतद्विज्ञानमित्युपक्रमः । सह ह्येवासिन्नित्युपसंहारः । वाक्यार्थस्तूभयत्राप्येक एव । तस्य प्रयोजनं तु क्रियाशक्त्यपेक्षया ज्ञानशक्तेरुत्कर्षप्रतिपादनमतस्तमुत्कर्षं वक्तुमेतावान् संदर्भः । ततोऽथ खलु प्रज्ञायामित्यादिनोत्कर्षप्रतिपादनम् । तत्रापि पाठभेदः । प्रसिद्धपाठे, अथ यथास्यै प्रज्ञायै, इत्युपक्रमान्न हि प्रज्ञापेता धीः काचन सिद्ध्येदित्युपसंहारात् । अर्थस्त्वेक एव । तदग्रे तु पाठोऽपि समानः । तदर्थस्तु, धर्ममात्रत्वनिराकरणायेत्यादिना प्रतिपाद्यते । तत्र ज्ञानशक्तिमन्निर्देशो जीवसाधारण इति जीवं वारयितुं, ता वा एता दशैव भूतमात्रा इत्यारभ्य, न ह्यन्यतरतो रूपं किंचन सिद्ध्येदित्यन्तेन क्रियाज्ञानशक्त्योः परस्परसापेक्षतया स्वविषयभूतरूपात्मकजगत्साधकत्वं प्रतिपाद्य, ततो, नो एत-

रश्मिः ।

भाष्यं विवृण्वन्ति स्म तस्य प्रयोजनमित्यादि । एक एवेत्यादि । अथ बुद्धिप्राणयोः सहस्थित्योत्क्रान्तिकथनानन्तरं प्रज्ञायै प्रज्ञायाः संबन्धीनि सर्वाणि भूतानि एकीभवन्ति भगवता तथा व्याख्यास्यामः । तदेकीभावमेवाह वागेवास्या इति । अस्या भगवद्रूपायाः प्रज्ञायाः एकमङ्गमंशं वाक् पूरयामास । तस्यै नाम तस्याः भगवद्रूपायाः प्रज्ञाया नाम इत्यव्ययं प्रकाश्यार्थकं परस्तात् द्वितीयमंशं चक्षुरादिना प्रतिविहिता विषयीकृता रूपादिरूपा भूतमात्राः पूरयांबभूवुरित्यर्थः । नामरूपात्मकजगदुक्तम् । तत्र क्रीडामाह प्रज्ञयेत्यादि । तया वाचं समारुह्यानुप्रविश्य तया करणभूतया सर्वाणि नामानि वक्तव्यत्वेनाप्नोति चक्षुषा सर्वाणि रूपाणि पश्यतीत्येवंरूपोऽर्थ इत्यर्थः । श्रुतयस्तु शंकरानन्दभाष्योपन्यास उक्ताः । प्रकृतमनुसरामः । ता वा एता इति ता वा एता दशैव भूतमात्राः अधिप्रज्ञं दश प्रज्ञामात्राः अधिभूतं यदि भूतमात्रा न स्युः न प्रज्ञामात्राः स्युः । यद्वा प्रज्ञामात्रा न स्युर्न भूतमात्राः स्युर्न ह्यन्यतरतो रूपं किंचन सिद्ध्येदिति । प्रतिपाद्येति । एतावता त्रेधोपासनमुक्तममीमांसायाम् । श्रुत्यर्थस्तु अधिप्रज्ञं प्रज्ञामात्रास्वित्यर्थः । एवं भूतमात्रासु दश प्रज्ञामात्रा इत्यर्थः । एवमुक्तमुभयोः

दमेवं प्रतिपादयन्, 'स एष प्रज्ञात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृतः' इत्युपसंहरति ब्रह्मधर्मैः । अतः क्रियाज्ञानविषयरूपो भगवानेवेति प्रतिपाद्य, न तावन्मात्रं ततोऽप्यधिक इत्येकोपासनैव विहिता । तस्माज्जडजीवरूपत्वात् सर्वात्मकं ब्रह्मैवेति महावाक्यार्थः सिद्धः ॥ ३० ॥ १० ॥

इति प्रथमाध्याये प्रथमपादे दशममनुगमाधिकरणम् ॥ १० ॥

इति श्रीवेदव्यासमतवर्तिश्रीवल्लभाचार्यविरचिते ब्रह्मसूत्राणुभाष्ये प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥ १ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

मानेति तासां प्रज्ञायाः सकाशादभेदं प्रतिज्ञायोपपादयति । 'तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः स एष इति । तथाच, यद् यज्जनकं तत् तद्धर्मकं, यद् यद्धर्मकं तद् तदविनाभूतमिति व्याप्त्या भूतमात्राप्रज्ञामात्रात्मकस्य सर्वस्य जगतः प्रज्ञाऽविनाभावेन तदात्मकत्वे सिद्धे तस्या अपि स्वरूपं निर्णेतुम्, आनन्दोऽजरोऽमृत इति ब्रह्मधर्मैरुपसंहरति । अतोऽत्र प्रज्ञात्मकजीवस्वरूपादधिकस्य ब्रह्मणः सर्वात्मकत्वसर्वाधिकत्वज्ञानार्थमेकैवोपासना विहिता । तस्मात् साध्वसाधुकारकतया प्राप्तस्य वैषम्यादिदोषस्यापि परिहाराद् ब्रह्म जडजीवात्मकतया सर्वोपादानत्वेन सर्वात्मकमित्येष महावाक्यार्थः सिद्ध इत्यर्थः । तेनेदमधिकरणं पूर्वोक्तस्य सर्वस्य निगमनार्थमिति बोधितम् । तथाहि । पूर्वं शास्त्रारम्भे जिज्ञासोक्ता । सा सर्वदा कर्तव्या । अन्यथा अरुन्मुखयत्यादिवद्विनाशः स्यादिति विषयवाक्यारम्भे बोधितम् । ततो जन्मादिसूत्रसिद्धं सर्वकर्तृत्वं समन्वयसूत्रसिद्धं सर्वोपादानत्वं चोपपादितम् । तत उपसंहारे, ईक्षत्यानन्दमयाधिकरणसिद्धोऽर्थः प्रज्ञात्मानन्दपदाभ्यां संगृह्य बोधितः । ब्रह्मधर्मोपदेशेन, लोकपालत्वादिबोधनेन, प्राणशब्दोक्त्या, स म आत्मेत्युपसंहारेण च यथायथं तद्धर्मोपदेशाद्यधिकरणार्थः

रश्मिः ।

सापेक्षत्वं प्रपञ्चयन्ति यदीत्यादि । ग्राह्यव्यतिरेकेण ग्राहकं न सिद्ध्यति ग्राहकव्यतिरेकेण ग्राह्यं न सिद्ध्यतीत्यर्थः । ग्राह्यग्राहकयोरभेदमाह नो इति । प्रज्ञामात्राभूतमात्रारूपमित्यर्थः । तासां भूतमात्राणाम् । तद्यथेत्यादि रथस्य स्यन्दनस्यारेषु मध्यवर्तिशलाकासु चक्रोपान्ते नेमिरर्पिता नाभौ चक्रपिण्डिकायामरा अर्पिताः यथा तथा भूतमात्राः शब्दादयः प्रज्ञामात्रास्विन्द्रियेष्वर्पिताः प्रज्ञामात्राश्च प्राणे ब्रह्मण्यर्पिताः । प्राणस्य ब्रह्मत्वमाह स एष इति । तथा चानेन दृष्टान्तेन नानात्वं नेत्यर्थः । अतः क्रियेत्यादिभाष्यं व्याकुर्वन्ति स्म अतोऽत्रेत्यादिना । महावाक्येत्यादि अवान्तरवाक्यार्थसमूहो महावाक्यार्थः । तथा च जडविशिष्टजीवेतिव्याप्तिवारणायेदमनुगमाधिकरणमिति भावः । जीव प्राणधारणे इति धातुपाठात् । प्राणरूपजडाधारो जीवः । औपाधिकब्रह्मणोऽभिन्नः इति । अन्यदपि प्रयोजनमाहुः तेनेत्यादि । विषयेत्यादि अरुन्मुखान् यतीन् शालावृकेभ्यः प्रायच्छमित्यनेन । श्रुत्यर्थस्तु न रुत् रुक् मुखे येषां तान् । शालावृका अरण्यश्वानः । तथा चावेदान्तमुखानां निन्दाश्रावणेन सर्वदा वेदान्तमुखत्वे प्राप्ते ब्रह्मजिज्ञासापि सर्वदा प्राप्तेति भावः । उपपादितमिति ता वा एता दशेत्यादिना निरूपितम् । तद्धर्मेत्यादि तद्धर्मोपदेशाद्यधि-

भाष्यप्रकाशः ।

संगृहीतः । तेन तथेति । अत्रोपासात्रैविध्यादिति पदं शंकरभास्कराचार्यभिक्षुभिः स्वस्वमतेनैव-भेवापत्तिमादाय व्याख्यातम् ।

रामानुजाचार्यैस्तु प्राचीनवृत्तिकारानुसारेणोपासात्रैविध्यपदमेकवाक्यत्वे हेतुत्वेन व्याख्यातम् ।

रश्मिः ।

करणचतुष्टयार्थः । ब्रह्मधर्मोपदेशस्तद्धर्मोपदेशः तस्मादन्तः परमात्मा लोकपालत्वादिरूपहृदयरूप-चरणाभिधानाज्ज्योतिर्ब्रह्म प्राणशब्दोक्त्या ब्रह्म ग्राह्यं लिङ्गात् । तल्लिङ्गाधिकरणे योर्थस्त आत्मेति लिङ्गात् ब्रह्मैव भवितुमर्हति प्रकृते इति तल्लिङ्गाधिकरणे अतिदेशाधिकरणे च तल्लिङ्गानां हेतुत्वात् । तथेति अनुगमत्वमुपलक्षणं चैतत् । प्रतिज्ञा प्रथमाधिकरणे अप्रतिज्ञातार्थस्य निग्रहस्थानत्वात् । प्रतिज्ञातार्थस्य लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुज्ञानमिति द्वितीयाधिकरणे प्रतिज्ञातार्थविशेषलक्षणं विशिष्ट-ज्ञानस्य विशेषणरूपब्रह्मज्ञानाधीनत्वाद् दण्डीति ज्ञानवत् । ततस्तृतीयाधिकरणे सामान्यप्रकारक-जिज्ञासाया ब्रह्म कारणमित्यस्याविशेषप्रकारकजिज्ञासाजनकत्वात् ब्रह्माभिन्ननिमित्तोपादानकारणमिति जिज्ञासितम् । ततश्चतुर्थाधिकरणे ब्रह्मलक्षणस्य चित्यतिव्याप्तिः परिहृता । ईक्षत्याश्रयस्य चित्त्वात् । शब्दप्रवृत्तिसाधनेन लक्षणस्याभिधादिव्यापारश्च विचारितः । ततः पञ्चमाधिकरणे आनन्देतिव्याप्तिः परिहृता । आनन्दस्य ब्रह्मत्वप्रसाधनेन । तेन स्वरूपलक्षणस्य असंभवः परिहृतः । कार्यलक्षणलक्षिते । षष्ठे तद्धर्मोपदेशाधिकरणे बृहदारण्यके चक्षुर्हि वै सत्यं तस्माद्यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयाता-महमद्राक्षमहमश्रौषमिति य एव ब्रूयादहमद्राक्षमिति तस्मा एव श्रद्दध्यामेत्यत्र प्रत्यक्षस्य शब्दापेक्षया श्रद्धेयत्वोक्त्या स्मृत्यादिसिद्धप्रमेयस्य ब्रह्मत्वमुक्तम् । भाष्ये परमात्मपदात् स्मृतौ परमवस्तुनि परमात्मपदात् तदुक्तमारणे ।

'स्मृतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानश्चतुष्टयम् ।
एतैरादित्यमण्डलं सर्वैरेव विधास्यते' ॥ इति ।

ततः सप्तमे तल्लिङ्गाधिकरणे आकाशेतिव्याप्तिः परिहृता । आकाशपदस्य ब्रह्मार्थत्वात् । अष्टमेतिदेशाधिकरणे न्यायो नियमार्थम् । यथान्यत्र ब्रह्मनिरूपणं न स्यात् भ्रमेण । नवमे ज्योतिश्चरणा-धिकरणे ब्रह्मधर्माणां मुख्यत्वसाधनेन प्रकाशाश्रयसूत्रादौ न द्वैतवारणं कृतमिति धर्मविषयत्वम् । दशमेनुगमाधिकरणे जडजीवरूपत्वाद् ब्रह्मणो जडे कार्येतिव्याप्तिः परिहृता । जीवे तु द्वितीयाध्याय-भोक्त्रापत्तिसूत्रीयाणुवादेन कार्येतिव्याप्तिः परिहृता । मय्येव सकलं जातमित्यादि निरूपितं कार्यमिति तेनाणुभाष्यमिति समाख्या 'ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः' इति गीताया इति । आपत्ति-मित्यादि उपासात्रैविध्यमापाद्य यदि जीवमुख्यप्राणलिङ्गानि स्युः तर्ह्युपासात्रैविध्यं स्यात् इत्येवमि-ह्याश्रितत्वात् इह तद्योगादेकैव ब्रह्मोपासनेति समाधानसूत्रं व्याख्यातम् । मायावादिभिर्मायापुरस्कारेण बुद्धिप्राणौ ह्युपाधी स्वीकृत्य प्रत्यगात्मनः स्वरूपेणाभेद इत्यतः प्राण एव प्रज्ञात्मेत्येकीकरणमविरुद्धम् । तत्त्वमस्यादिवाक्येभ्यो जीवस्यात्यन्तभिन्नत्वाभावाद् ब्रह्मणः । इहेति विषयवाक्ये । अतो न ब्रह्मवादे प्राणप्रज्ञात्मनो भेददर्शनविरोधः । एवं स्वमतेन । भास्कराचार्यैः भेदाभेदेन । विज्ञानेन्द्रभिक्षुभिः अविभागाद्वैतेनेति । विशिष्टाद्वैते चिदचिद्विशिष्टं ब्रह्मेत्यापत्तिर्न संभवतीति पृथक् रामानुजमतोपन्यासः ।

भाष्यप्रकाशः ।

न ह्यत्र जीवमुख्यप्राणब्रह्मणां त्रयाणामुपासनमुच्यते, येन वाक्यं भिद्येत । किंतु भोक्तुर्जीवस्य धर्मैर्भोग्यस्य मुख्यप्राणस्य धर्मैः स्वधर्मैश्चेत्येवं त्रैविध्यादेकोपासनैव विधीयत इति, संभवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदश्च नेष्यते इत्यभियुक्तोक्तेः पूर्वपक्षो न युक्त इति । तेन चोर-शैवोऽप्येवमाह ।

तच्च वाचस्पतिमिश्रैरेवं दूषितम् । एतदालोचनीयम् । कथं न वाक्यभेद इति । युक्तं सोमेन यजेतेत्यादौ सोमादिगुणविशिष्टयागविधानम् । तत्र ह्रगुणविशिष्टस्यापूर्वस्य कर्म-णोऽप्राप्तस्य विधिविषयत्वात् । इह तु सिद्धरूपं ब्रह्म न विधिविषयो भवितुमर्हति । अभा-वार्थत्वात् । भावार्थस्य विधिविषयत्वनियमात् । वाक्यान्तरेभ्यश्च ब्रह्मावगतेः प्राप्तत्वाच्चदव-द्याप्राप्तोपासाभावार्थो विधेयस्तस्य च भेदाद्विध्यावृत्तिलक्षणो वाक्यभेदोऽतिस्फुट इति भाष्य-कृता नोद्घाटित इति ।

अत्रेदं बोध्यम् । तथाहि । अत्र हि मामेव विजानीहीत्यारभ्य, नीलं चेतीत्यन्ता ऐन्द्रगुणविशिष्टैकोपासना । तदनु सहोवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपा-स्स्वेत्यारभ्यैवं हि पश्याम इत्यन्ता द्वितीया प्राणगुणविशिष्टस्य । तदन्वथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति तस्मादेतदेवोक्थमुपासीतेत्यारभ्य सिध्येदित्यन्ता प्रज्ञागु-णविशिष्टस्य । तत्र पृथगुपासनाङ्गीकारे, मामेव विजानीहि स म आत्मेति विद्यादित्युपक्र-मोपसंहारगतस्य वक्त्रात्मोपदेशस्य विरोध इति तदभावायैकवाक्यत्वस्यावश्यकत्वादुपासनात्र-यपक्षस्त्वसंगतः । अथोपक्रमाद्यनुरोधेनावान्तरोपासनावाक्यानां तदनुवादेन प्रकारविधायक-त्वमङ्गीकृत्यैन्द्रवाक्यत्वं चेदङ्गीक्रियते, तदा तत्रोक्तानां प्राणधर्माणां ब्रह्मधर्माणां च काल्प-निकत्वापत्तिः पूर्वोक्तरीत्या प्रतर्दनस्य पुरुषार्थासिद्धिश्चेति तदुभयं विहायात्र ब्रह्मवाक्यत्वं

रश्मिः ।

कथमेकवाक्यत्वे हेतुत्वमित्यपेक्षायामाहुः न ह्यत्रेत्यादिना । विशिष्टाद्वैतार्थमाहुः किं तु भोक्तु-रित्यादि । चोर इति उपासात्रैविध्यापत्त्यादिना भावस्य यद्यप्युक्तं तथापि दूष्यत्वेनेष्ट-विषयत्वाद्युक्तमपि विशेषणमिदं भगवतः शैवाचार्यस्य लाघवात् । सोमादीत्यादि सोमपदस्य मतुबन्ते लक्षणयेत्यर्थः । अप्राप्तस्येतिपदेनापूर्वविधित्वं सूच्यते उपासनाया विधिविषयत्वेन तद्विशेषणस्यापि विधिविषयत्वं मत्वा निषेधस्य । यद्वा 'प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः' इति बृहदारण्यके प्रज्ञारूपब्रह्मणस्तथात्वं मत्वा निषेधमाह इहेत्यादिना । निषेधशेषत्वेनाभावार्थत्वात् । विधिभक्षणस्य गतिं नियमविधिरूपामाह वाक्यान्तरेत्यादि । तस्येत्यादि प्राणादिधर्मैरुपासारूपस्य भावार्थस्य भेदाज्जानीहीति विध्यावृत्ति-लक्षणनियमविधिरित्यर्थः । अत्रेदमित्यादि । दूषणे वाक्यभेदरूपे वक्ष्यमाणव्याख्यानप्रतिसामञ्ज-स्यरूपं इदं दूषणं बोध्यम् । विरोध इति प्राणस्य जडत्वादिति भावः । तदनुवादेनेति प्राणप्रज्ञागुणानुवादेन । प्राणप्रज्ञागुणैः प्रकारौ तद्विधायकत्वं प्राणप्रज्ञागुणरूपप्रकारत्वेनेन्द्रगुणविशिष्टो-पासनाविधायकत्वमङ्गीकृत्येत्यर्थः । पूर्वोक्तेत्यादि प्राण इति सूत्रभाष्ये न हि परमात्मनोऽन्यद्धित-तममस्ति परमानन्दरूपत्वात् । पापाभावश्च ब्रह्मविज्ञान एवेत्यादिना मोक्तरीत्या प्रतर्दनस्येन्द्रात्मैक्ये ब्रह्मैक्यरूपपुरुषार्थासिद्धेस्तथा । तदुभयमिति इन्द्रवाक्यत्वं प्रतर्दनवाक्यत्वं चेत्युभयम् । यद्वा

१. इन्द्र आत्मा ।

भाष्यप्रकाशः ।

सिद्धान्तितम् । तथा सति त्रितयपक्षस्य प्रागेव निरस्तत्वात् विध्यानुपस्वीकारे विधोल्लेखवैयर्थ्यप्रसंगाच्च प्रकारत्रयविशिष्टैकोपासाविधिरेव सिध्यतीति वाक्यभेदस्फुटत्वं कथमित्येवालोचनीयं, न तु तदभावसमर्थनमालोचनीयम् । किंच । भाष्यकृतापि ब्रह्मण एवैतदुपाधिद्वयधर्मेण स्वधर्मेण चैकमुपासनं त्रिविधं विवक्षितमिति तन्मतसिद्धमुक्तमतो व्याख्येयविरोधोऽपीति।

नन्वेवमस्य प्राचीनपक्षस्य निर्दुष्टत्वे सिद्धान्तिना कुतोऽयं नादृत आपत्त्या च कुतो व्याख्यातमिति चेन्न । त्रैविध्यादित्यस्या ल्यब्लोपपञ्चमीत्वेनापत्तेरार्थिकतयाऽव्याहार्यत्वाभावेन व्याख्याने दोषाभावात् । सिद्धान्ते तेषां धर्माणां जीवीयत्वादिना भानस्यैव भ्रान्तित्वबोधनेन ब्रह्मधर्मत्वस्यैव निर्णीततया प्राचीनप्रतिपन्नत्रैविध्यस्याप्यभावादिति बुध्यस्व ।

माध्वास्तु, ऐतरयोक्तं विश्वामित्रेन्द्रसंवादं विषयवाक्यत्वेनोदाहरन्ति ॥ ३० ॥ १० ॥

इति दशममनुगमाधिकरणम् ॥ १० ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणनखचन्द्रकिरणनिवारितहृदयध्वान्तेन
पुरुषोत्तमेन कृते भाष्यप्रकाशे प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥ १ ॥

रश्मिः ।

जीवं प्राणं चेत्युभयम् । यदुक्तम् ।

'युक्तिभिरतिशिथिलाभिः समादधानो दृढान् दोषान् ।
वाचस्पतिरपि भाष्ये व्याख्याव्याजेन दूषणं ब्रूते' ॥ इति ।

तत्स्फुटं दर्शयन्ति किं चेत्यादि । तन्मतेत्यादि अणुभाष्ये द्वितीयव्याख्यानेऽथ चेत्यादिना वृत्तिकृन्मतानुसारेण व्याख्यातमिति रामानुजमतसिद्धमुक्तम् । अर्थात्तैर्वृत्तिकृन्मतानुसारेण व्याख्यानादिदमपि तदेवेति भावः । विरोध इति । यद्यपि वृत्तिकृन्मतानुसारेणाथवा नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगादित्यस्यायमन्योर्थ इत्यादिना वृत्तिकृन्मतेन व्याख्यानान्तरमचीक्लृपन् शंकराचार्यास्तट्टीकाकारा इदमेकदेशिमतमप्रामाणिकमित्युक्त्वा नात्रोपासात्रयविशिष्टब्रह्मविधिः । आरुण्याद्यनेकगुणविशिष्टाप्राप्तक्रयणवत् सिद्धस्य ब्रह्मणो विध्ययोगात् वाक्यभेदप्रसङ्गाच्च । न च नानाधर्मविशिष्टमेकमुपासनं विधीयते । एवंविधवाक्यस्यात्राश्रवणात् । नापि मामायुरमृतमित्युपास्स्वेत्यत्र मामिति जीवः, आयुरिति प्राणः, अमृतमिति ब्रह्म, इति स्वस्वधर्मविशिष्टमुपासनं विधीयते इति शङ्क्यम् । ब्रह्माश्रुतेः । प्राणो वामृतमिति प्राणस्यैवामृतत्वकथनाच्चेति प्रथमव्याख्यानमेवमश्रुतमिति दूषितम् । तथापि द्वितीयस्य पूर्वापेक्षयाऽस्वरसराहित्याद्भाष्ये चास्य पक्षस्य नैर्बल्यासूचनाच्च टीकाकारोक्तमेवासंगतमित्याशयः । ल्यब्लोपेत्यादि तथा चोपासात्रैविध्यादित्यस्योपासात्रैविध्यमापद्येत्यर्थः । यथा प्रासादात्प्रेक्षते इत्यत्र प्रासादमारुह्येत्यर्थः । एवं च यदि ब्रह्मजीवमुख्यप्राणानां त्रयाणामपि स्वतन्त्रत्वं त्वयोच्येत तदोपासात्रैविध्यमापाद्य वाक्यभेदो दूषणत्वेनोच्येत इत्यर्थः । ननु तथापि वाक्यभेदप्रसङ्गस्य त्वध्याहार्यत्वमेवेति दोषतादवस्थ्यं तत्राहुः सिद्धान्त इत्यादिना । प्राचीनप्रतिपन्नेति तथाव्याख्याने समन्वयस्य अध्यायार्थस्य जीवप्राणयोः सत्त्वेनातिव्याप्तिरतोयमर्थ इति भावः । उदाहरन्तीति ते देवाः प्राणयन्तः स एषोसुः स एष प्राणः प्राणकृत्व इत्येव विधात्तदयं

१. यत्र प्राणकृत्वः 'यस्मिन् प्राणः प्रजया संविवेश' इति श्रुत्यन्तरात् ।

रश्मिः ।

प्राणोधितिष्ठतीत्याद्यनुगमादत्रापि प्राणो विष्णुरेव ।

'विष्णुमेवानयन् देवा विष्णुर्मूर्तिमुपासते ।
स एव सर्वं वेदोक्तसारथो देह उच्यते' ॥ इति स्कान्दे ।

इतिश्रीति । अणुभाष्येति अणुभ्यो द्वा सुपर्णेति श्रुत्युक्तेभ्यो भाष्यमिति चतुर्थीसमासः तस्य प्रकाश इत्यर्थः ।

'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञमिति तद्विदः ॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥
तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥
ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितम्' ॥

इतिगीतात्रयोदशाध्यायवाक्येभ्यः ॥ ३० ॥ १० ॥

इति दशमाधिकरणम् ॥ १० ॥

इति श्रीविट्ठलेश्वरैश्वर्यनिरस्तसमस्तान्तरायेण श्रीगोविन्दरायपौत्रेण
संपूर्णवेत्रा विट्ठलरायभ्रात्रीयगोकुलोत्सवात्मजगोपेश्वरेण कृते
भाष्यप्रकाशरश्मौ प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः
संपूर्णतामगमत् ।

१. स एव प्राण इत्युक्तः । २. आत्मम् ।